श्रीमदखण्डभूमण्डलाचार्यवर्यश्रीकृष्णवदनविरहवैश्वानरावतार-

श्रीमद्वल्लभाचार्यप्रादुर्भावितायां

श्रीमद्भागवतदशमस्कन्ध-

सुबोधिन्यां

तृतीयचतुर्थे प्रमेयसाधनप्रकरणे

श्रीटिप्पण्यादिसकलसामग्रीसमेते

स्वतन्त्रलेखयुते च

प्रकाशक :
श्रीवल्लभविद्यापीठ-श्रीविट्ठलेशप्रभुचरणाश्रम ट्रस्ट
वैभव को-ऑपरेटिव्ह सोसायटी
पुना बेंगलोर रोड, कोल्हापूर
महाराष्ट्र

प्रथम संस्करण : वि. सं. १९८३-८५
द्वितीय संस्करण : वि. सं. २०५०
श्रीवल्लभाब्द : ५१६

मुद्रक :
फाँटसी
३०५, महडकर चेंबर्स,
१२७/३ए, कर्वे रोड,
पुणे ४११ ०२९

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥
॥ श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ॥

भूमिका तथा सम्पादकीय

तामस प्रमेय प्रकरणका औपनिषद सन्दर्भ

उसने चाहा: मैं एक अनेक बन जाऊं — अनेक रूप धारण करनेको पैदा हो जाऊं!...यह सब कुछ उसने बनाया. यह जो कुछ है उसे बना कर वह उसीमें प्रविष्ट हो गया. सबमें प्रविष्ट होकर वह सत्=प्रत्यक्ष और त्यत्=परोक्ष बन गया, वह निरुक्त=निर्वचनीय और अनिरुक्त=अनिर्वचनीय बन गया, निलयन=आधार और अनिलयन=आधारनिरपेक्ष बन गया, विज्ञान और अविज्ञान बन गया, सत्य और अनृत भी सत्य बन गया. यह जो कुछ है उसे 'सत्य' कहा जाता है...उसने अपने आपको बनाया; इसलिये इसे 'सुकृत' कहा जाता है. जो कुछ है वह सुकृत ही है. रस ही वह है. इसी रसको पाकर यह आनन्दी बन पाता है. इस आकाशमें आनन्द भरा हुवा न होता तो कौन जीना या सांस भी लेना चाहता! यही तो सबको आनन्द्रित करता है. जब भी इस अदृश्य अनात्म्य अनिरुक्त अनिलयन में जो भयरहित प्रतिष्ठाको पा लेता है तो वह अभयपदको पा लेता है. जब भी इसमें कुछ तनिक भी अन्तर कोई करने लगता है तो उसे भय लगना शुरु हो जाता है. वही भय इसे न माननेवालेको भी सताता है... पवन इससे डरकर चलता है, सूरज इससे डरकर उगता है, अग्नि और इन्द्र भी इससे डरते हैं, मृत्यु तो इस(अमृत)को अपनी मृत्यु मान कर भग जाती है. ऐसे इस आनन्दकी यह मीमांसा हो रही है...इस आनन्दमय आत्माकी ओर जानेपर...जहांसे मनके साथ-साथ वाणी भी लोट आती है. ब्रह्मके आनन्दको

जाननेके बाद किसीसे डरनेकी कोई बात रह नहीं जाती. उसे जाननेवालेको कभी चिन्ता नहीं होती—"मैं कौन सा भला काम कर नहीं पाया अथवा मैं कैसा पाप कर बैठा हूं!" जो इन्हें इस तरह जान लेता है, वह अपनी आत्माका सच्चा पालन-पोषण-प्रीणन करता है... यह ऐसी उपनिषद् है (तैत्तिरीयोपनिषत्).

केवलद्वैतवादकी धारणाके द्वारा प्रस्तुत ब्रह्मस्वरूप कि वह सकल नामोंका एकमात्र वाच्य या धारक सृष्टिकर्ता है, ऐसे रूपमें ही केवल ब्रह्मका स्वरूप उपनिषदोंमें वर्णित नहीं हुवा है; अपितु अन्तर्यामितया शरीर-शरीरिभावसे सकल रूपोंका भी एकमात्र धारक सृष्टिभर्ता भी वही है ऐसा भी वर्णित हुवा ही है. जगत्में जगदीश, विशिष्टाद्वैतवादकी धारणाके द्वारा प्रस्तुत, केवल अन्तर्यामितया ही व्याप्त नहीं है; अपितु अशेष नामरूपकर्मोंके उत्पत्ति-स्थिति-लयके एकमात्र उपादानके रूपमें भी उसे व्याप्त माना गया है. ब्रह्माण्डमें प्रकट अनेकानेक नामरूपकर्मोंकी विक्रियामें, विशेषाद्वैतवादकी धारणा जैसे विकृतिभावापन्न ब्रह्मको प्रस्तुत करती है, वैसा ही केवल वह हो नहीं जाता; अपितु स्वयं अविकृत रहते हुवे ही वह इन नामरूपकर्मोंको प्रकट करता है. अनेकानेक प्रापञ्चिक नामरूपकर्मोंका एकमात्र अविकृत आश्रय ब्रह्म, अविभागाद्वैतवादकी धारणाके द्वारा प्रस्तुत गगनोपम आधारकारणकी तरह, स्वयं नीरूप निराकार या निष्क्रिय ही रहता हो ऐसा भी कहा नहीं जा सकता; क्योंकि इस प्रपञ्चमें अपने पारमार्थिक दिव्य रूप आकार एवं कर्मों को भी आत्ममायया अथवा आत्मीयभक्तभावनया वह धारण तो करता ही है. स्वमायाके अनुरूप अथवा स्वकीय भक्तजनोंकी भक्तिमयी भावनाके अनुरूप धारण किये गये नामरूपकर्मोंके कारण, केवलाद्वैतवादकी धारणा—'ब्रह्म नामरूपकर्मोंके अत्यन्ताभावसे उपलक्षित निर्विशेष ही होता है' स्वीकारी नहीं जा सकती है. इसी तरह इन नामरूपकर्मोंको भी 'स्वप्रतिपन्नोपाधिमें त्रैकालिक-निषेधके प्रतियोगी' मायिक भी नहीं माना जा सकता है; क्योंकि अक्षरब्रह्मतया जैसे वह निराकार व्यापक सच्चिदानन्द है, वैसे ही परब्रह्म पुरुषोत्तमतया दिव्य आकारवान् भी वह है ही.

उल्लिखित वेदान्तके अनेक संप्रदाय ब्रह्मका जैसा निरूपण करते

हैं, उनमें कोई त्रुटि नहीं है, परन्तु उन-उन वर्णनोंकी परिधिमें ब्रह्मको परिच्छिन्न नहीं माना जा सकता है!

श्रुतिके—"त्रयं वा इदं नाम रूपं कर्म... ब्रह्मैतद्धि सर्वाणि नामानि... सर्वाणि रूपाणि... सर्वाणि कर्माणि बिभर्ति. तदेतत् त्रयं सद् एकम् अयमात्मा; आत्मो एकः सन् एतत् त्रयम्. तदेतद् अमृतं सत्येन छन्नम्. प्राणो वा अमृतं नामरूपे सत्यं ताभ्यामयं प्राणश्छन्नः."(बृह. उप. १।६।१-३) इस वचनमें व्यष्टीभूत नामरूपकर्मोंकी वाक्प्राणकर्मरूप समष्टिको न केवल 'ब्रह्म' कहा गया है; अपितु नामादि त्रयीकी एकात्मता और एकात्माकी त्रिरूपताके निरूपणप्रसंगमें अमृतस्वरूप प्राणको (त्रैकालिक-निषेध-प्रतियोगी असत्य नामरूपोंसे नहीं प्रत्युत) सत्य नामरूपोंसे छन्न माना गया है. इसलिये ब्रह्मसूत्र—"अतएव प्राणः"(१।१।२२)की नीतिके अनुसार यहां भी ब्रह्मका या ब्रह्मके विभूतिरूप सामर्थ्यका निरूपण ही अभिप्रेत मानना उचित है. वैसे श्रीशंकराचार्य इस उपनिषद्वचनके भाष्यमें एक अतीव मननीय विधान करते हैं—"यस्यच यस्माद् आत्मलाभो भवति स तेन अप्रविभक्तो दृष्टो, यथा घटादीनां मृदा". ऐसी स्थितिमें जिज्ञास्य ब्रह्मसे आत्मलाभ पानेवाले नामरूपकर्मोंको भी जिज्ञास्य ब्रह्मसे अप्रविभक्त ही मानना चाहिये. फलतः मायी ब्रह्ममें मायिक नामरूपकर्मोंका अत्यन्ताभाव स्वीकारा नहीं जा सकता है. इस तरह ब्रह्मसे अप्रविभक्त=अनारोपित होनेसे इन नामरूपकर्मोंका ब्रह्ममें त्रैकालिक निषेध भी सम्भव नहीं.

वैसे तो जिस या जिन मायारूप शक्तिओंके कारण एकमेवाद्वितीय ब्रह्म अनेकविध नामरूपकर्मोंको धारण करता है वे स्वयं यदि ब्रह्मसे अप्रविभक्त हों तो नामरूपकर्मोंके मायिक होनेपर भी उनका ब्रह्ममें अत्यन्ताभाव स्वीकारना वदतोव्याघात ही होगा! "रूपं-रूपं प्रतिरूपो बभूव तदस्य रूपं प्रतिचक्षणाय इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते युक्ता ह्यस्य हरयः शता दशेति. अयं वै हरयो अयं वै दश च सहस्राणि बहूनि च अनन्तानि च. तदेतद् ब्रह्म अपूर्वम् अनपरम् अनन्तरम् अबाह्यम्. अयम् आत्मा ब्रह्म सर्वानुभूः इति अनुशासनम्"(बृह.उप. २।५।१९)के भाष्यमें श्रीशंकराचार्य एक महत्त्वपूर्ण शंका-समाधान यों भी करते हैं: "एवं तर्हि अयम् अन्यः परमेश्वरो अन्ये हरयः इत्येवं प्राप्ते, उच्यते—अयं

वै हरयो अयं वै दश च सहस्राणि च बहूनि च अनन्तानि च''. इससे सिद्ध होता है कि ब्रह्मैक्यके अन्तर्भूत होनेसे मायाओंकी अनेकताकी तरह ब्रह्मैक्य भी मायाओंकी अनेकतामें तादात्म्येन व्याप्त है. अनेकता एकात्मिका है तथा एकता अनेकात्मिका! इसे द्वैताद्वैत नहीं किन्तु शुद्धाद्वैत समझना चाहिये, क्योंकि ये एकता और अनेकता पारस्परिक अत्यन्ताभावरूप नहीं हैं.

महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य, अतएव, निबन्धके शास्त्रार्थ प्रकरणमें कहते हैं कि अखंडाद्वैतके भान होनेपर सब कुछ ब्रह्मतया ही प्रतीत होने लग जाता है. अतः ब्रह्मज्ञान होनेपर (नाम-रूप-कर्मोंके द्वैतसे घटित)विकल्पमात्रावगाहिनी बुद्धि बाधित हो जाती है—स्वयं विकल्पोंका स्वरूपतः बाध हो नहीं सकता.

क्योंकि सर्वभवनसमर्थ सत्यसंकल्प सच्चिदानन्दैकरस ब्रह्मकी अभिन्ननिमित्तोपादानताके बिना नामरूपकर्मोंके विकल्प आत्मलाभ पा नहीं सकते, अतः उन्हें ब्रह्मसे अप्रविभक्त ही स्वीकारना पड़ता है. अतएव ''अजोऽपि सन्नव्ययात्मा...सम्भवाम्यात्ममायया''(भ.गी. ४।६)के भाष्यमें श्रीशंकराचार्य—'' 'आत्ममायया'=आत्मनो मायया, न परमार्थतो लोकवत्'' जो कहते हैं उसे; और ''ऋते ज्ञानात् न मुक्तिः''की मूलधारणाको, लक्ष्यमें रखनेपर श्रीशंकराचार्यके—'' 'जन्म'=मायारूपं, 'कर्म च'=साधुपरित्राणादि, 'मे'=मम, 'दिव्यम्'=अप्राकृतमैश्वरम्, 'एवं'=यथोक्तं, 'यो वेत्ति, तत्त्वतः'=तत्त्वेन यथावत्, 'त्यक्त्वा देहम्'=इमं, 'पुनर्जन्म'=पुनरुत्पत्तिं, 'नैति'=न प्राप्नोति, 'मामेति'=आगच्छति, स मुच्यते''(गी.भा. ४।९)इस वचनको भी सावधानीसे विचारें तो बात एकदम स्पष्ट हो जाती है कि भूतलपर प्रकट भगवद्रूप या भगवत्कर्म ''स्वप्रतिपन्नोपाधिमें त्रैकालिक निषेधके प्रतियोगी'' हो नहीं सकते; अन्यथा हमारे जन्मकर्मोंकी तरह वे हों तो हमारे जन्मकर्मोंके ज्ञानसे भी मुक्ति सुलभ माननी पड़ेगी!

यहां श्रीमधुसूदन सरस्वतीने भाष्यकार श्रीशंकराचार्यके मतका उपन्यास करनेके बाद ''अन्येतु...केचित्तु...ते 'निर्युक्तिकं ब्रुवाणस्तु नास्माभिः निवार्यते' इति न्यायेन नापवाद्याः. यदि सम्भवेत् तत् तथैव अस्तु...'' कहकर सम्भवतः वाल्लभ मतको ही जो 'निर्युक्तिक' कहा है, वह तो स्वयं उनकी व्याख्यानशैली तथा स्वभाष्यकाराभिमत व्याख्यानशैली के बीच

रहे विरोधाभास, जिसे श्रीधनपतिने सुस्पष्टतया उजागर कर ही दिया है, के अवलोकन करनेपर निजनिरूपणकी निर्युक्तिकताका ही निदर्शन बन जाता है. रही बात वाल्लभ मतके निर्युक्तिक होनेकी तो ब्रह्म यदि यौक्तिक प्रमेय होता तो आरोप भी युक्तिसंगत माना जा सकता था. ब्रह्म तो, परन्तु, जैसा कि श्रीशंकराचार्य—''तस्मात् तार्किक-चाटभट-राजाप्रवेश्यम् अभयं दुर्गम् इदम्, अल्पबुद्ध्यगम्यं शास्त्रगुरुप्रसादरहितैः च, 'कस्तं मदामदं देवं मदन्यो ज्ञातुमर्हति'—'देवैरत्रापि विचिकित्सितं पुरा'—'नैषा तर्केण मतिरापनेया' वरप्रसादलभ्यत्व-श्रुतिस्मृतिवादेभ्यः च, 'तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके'इत्यादि-विरुद्धधर्मसमवायित्व-प्रकाशकमन्त्रवर्णेभ्यः च.'' (बृह.भा. २।१।२०) वचनमें कहते हैं कि तर्कागोचर विरुद्धधर्माश्रय शास्त्रैकगम्य प्रमेय है, सो ब्रह्मनिरूपणमें निर्युक्तिकताका आरोप तो स्वयं ही निर्युक्तिक सिद्ध हो जाता है!

नामरूपकर्मोंके ब्रह्मतादात्म्य तथा सर्वभवनसमर्थ-सत्यसंकल्प ब्रह्मकी पारमार्थिक नामरूपकर्मधारकताके विचारार्थ प्रवृत्त होनेकी दिशामें अग्रसर होनेपर यहां हम एक खास मोड़पर पहुंच जाते हैं. यह वह मोड़ है कि जहांसे 'निगमकल्पतरुफल'रूप भागवतमें वर्णित सर्गादि दशविध लीलाओंके अनन्य कर्ता श्रीकृष्णकी दशमस्कन्धके १२=१५से लेकर २५=२८ अध्यायोंमें वर्णित प्रमेयरूपताका तथा साधनरूपताका उपनिषद्वर्णित प्रमेय एवं साधन के साथ जो घनिष्ठ सम्बन्ध है उसे दृष्टिगोचर बना पाना सुलभ हो जाता है.

लौकिक विषयोंकी अनुभूति सर्वदा सुख-दुःखके द्वन्द्वमें जकड़ी हुई रहती है. उन्हीं विषयोंकी या घटनाओंकी अनुभूति, परन्तु, साहित्य संगीत चित्रकला मूर्तिकला अथवा नाटक आदि कलात्मक माध्यमोंके द्वारा जब संपन्न होती है तो अनुभूयमान सुख-दुःख भी एक विलक्षण आनन्दको प्रकट करने लग जाते हैं. कोई व्यक्ति वस्तु या घटना वास्तविक हो या अवास्तविक, प्रकट वर्तमान कालकी हो अप्रकट भूत-भविष्यत्कालकी, जाति-गुण-धर्म-रूप-रंग-गंध इत्यादिके आधारपर हम लक्षण दे पाते हों या नहीं, मूर्त हो या अमूर्त, जीवन-मरण स्वप्न-जागरण ज्ञानाज्ञान जड़-चेतन शुभाशुभ सुन्दरासुन्दर के क्रिया-कलापोंको एक सक्षम अभिनेता अपने कुशल अभिनयद्वारा प्रकट करके रसिकजनोंके

हृदयको रसानुभूतिसे परिपूर्ण कर सकता है. इसी तरह ब्रह्म भी, यदि इस जगत्में प्रकट हुवे सारेके सारे सत्-त्यत् निरुक्त-अनिरुक्त निलयन-अनिलयन विज्ञान-अविज्ञान मूर्त-अमूर्त मर्त्य-अमृत नित्य-अनित्य चल-कूटस्थ आदि रूपोंको धारण करनेवाला एक अभिनेता जैसा ही हो तो, इस ब्रह्मकी लीलाके रूपमें जगत्को जाननेवाला जागतिक सुख-दुःख शोक-मोह ज्ञानाज्ञान के सकल द्वन्द्वोंमे भी एक निर्द्वन्द्व आनन्दकी रसानुभूति कर पानेको समर्थ बन सकता है. अतएव तामस प्रकरणकी विवेचनामें श्रीमहाप्रभु यह बात भारपूर्वक कह दी थी कि दिव्य चतुर्भुज आकारवाले श्रीकृष्णका द्विभुज प्राकृत शिशुरूप बन जाना एक दिव्य नाटन है. इस नाटनमें उनके तात्त्विक लीलास्वरूपको जान पानेके साधन/प्रमाण स्नेहभक्तिमूलक अज्ञान और अन्यथाज्ञान ही हो सकते हैं, वैराग्य सांख्य योग तप जप ध्यान व्रत होम यज्ञादि नहीं. यहां भागवतशास्त्रीय सावधानी एक यह अपेक्षित है: अवतारकालमें प्रकट प्रमेयबलके कारण तो अज्ञानमूलक या अन्यथाज्ञानमूलक वैराग्यादि विहित साधनोंकी तरह ही अविहित स्नेह या भक्ति या ईर्ष्या-मात्सर्यादि भी कारगर हो सकते हैं. अनवतारकालमें, परन्तु, अज्ञानमूलक या अन्यथाज्ञानमूलक भक्तिभाव भी कारगर हो नहीं पाता. अर्थात् अज्ञानमूलक भक्तिभाव भी निर्बल होता है और भक्तिमूलक हों तो अज्ञान या अन्यथाज्ञान भी प्रबल भागवतोपायतया अभिनन्दनीय ही माने गये हैं— "विज्ञानं च अविज्ञानं च सत्यं च अनृतं च सत्यम् अभवत्! यदिदं किञ्च तत् 'सत्यम्' इति आचक्षते!"

इस श्रुति-स्मृति-सूत्रसारभूत भागवत रहस्यको भलीभांति समझनेकेलिये इस एक सुबोधिनी(१०।१४।४३)वचनका अवगाहन अतीव उपकारी होगा:—

> भगवान् जैसे अर्थसृष्टिरूप हैं, वैसे ही शब्दसृष्टिरूप भी भगवान् ही हैं. रूपसृष्टिकी तुलनामें, परन्तु, नामसृष्टि विलक्षण है: देशतः कालतः और स्वरूपतः रूपसृष्टिमें परिच्छेद प्रकट हुवा है; जबकि नामसृष्टिमें ऐसा परिच्छेद नहीं होता. रूपसृष्टि स्थूल होती है; जबकि नामसृष्टि सूक्ष्म होती है. रूपसृष्टि परिवर्तनशील प्रतीत होती है; जबकि नामसृष्टि कूटस्थ होती है. रूपसृष्टिके बारेमें

> जड़-विषय होनेका भास होता है; जबकि नामसृष्टि चेतन-प्रत्ययरूपा प्रतीत होती है. यदि नामसृष्टि ऐसी ही हो तो, रूपसृष्टिको ("ये-ये प्रत्ययाः ते-ते निरालम्बनाः, प्रत्ययत्वात् स्वप्नप्रत्ययवत्" न्यायवश) नामसृष्टिमें लीन या नामान्तर्भूत मान लेना उचित नहीं है. क्योंकि सिद्धान्त सिद्धान्ताभास या पाषंड रूप जो नाना वाद प्रकट हुवे हैं उनके अनुरोधवश भगवान्, नामबाह्यतया यथेच्छ, तत्तद् रूपोंमें भी प्रकट हो सकते हैं. अनेक रूपोंमें वाच्य तथा वाचक बन पानेकी भगवान्में अनेकविध स्वाभाविक शक्तियां हैं. अतएव वक्ता किसी बातको जैसे भी बोलना चाहता हो वह बात वैसे बोली जा सकती है. जिस किसी शब्दसे जो बात हमें कहनी हो हम कह पाते हैं (अन्यथा इतने मतमतान्तर प्रकट कैसे हो पाते?).

इस उद्धरणके अवलोकन करनेसे जो धारणा उभर कर सामने आती है वह यह है कि तत्त्वनिर्धारणार्थ जो कतिपय निकष दर्शनशास्त्रोंद्वारा प्रस्तावित किये गये हैं, यथा:—

(१) अनुभूतिके यथार्थ अर्थात् अपने विषयके अनुरूप होनेपर, अनुभूतिको 'प्रमाण' और उसके विषयको 'प्रमेय' कहा जा सकता है.

(२) फलाविसंवादिनी प्रवृत्तिकी जनक होनेपर, अनुभूतिको 'प्रमाण' और उसके विषयको 'प्रमेय' कहा जा सकता है.

(३) अनधिगत एवं अबाधित अर्थरूप विषयके बारेमें पैदा होनेपर, अनुभूतिको 'प्रमाण' और उसके विषयको 'प्रमेय' कहा जा सकता है.

(४) स्वतो अविसंवादी होनेपर, अनुभूतिको 'प्रमाण' और उसके विषयको 'प्रमेय' कहा जा सकता है.

(५) सकल धारणाओंसे संकलित अनेकान्त दृष्टि ही प्रमाण होती होनेसे ऐसी अनेकान्त धारणाका विषय

ही प्रमेय होता है. तत्तद् धारणाओंके विषय व्यवहारमें प्रमाणिक होनेपर भी परमार्थतः प्रामाणिक नहीं होते.

इनमें शुरुआतके दो निकषोंमें अनुभूतिमें प्रामाण्यका आधान अनुभूतिसे बाह्य उसके विषयके गुणोंपर निर्भर दिखलायी देता है; अतः जो विषय इन गुणोंसे रहित हों वे स्वविषयिणी अनुभूतिमें प्रामाण्यके आधानार्थ सक्षम नहीं हो पाते. क्योंकि अनुभूतिमें उसके विषयका भास जिस तरहका हो रहा हो, वस्तुतः विषयके वैसे न होनेपर, अनुभूतिको 'प्रमाण' कह पाना शक्य नहीं. बीचके दो निकषोंमें अनुभूतिमें प्रामाण्यका आधान स्वयं अनुभूतिमें रहे गुणोंपर निर्भर होता है; अतः स्वयं अनुभूतिके इन गुणोंसे रहित होनेपर वह अपने आपमें प्रामाण्यके प्रकटनार्थ सक्षम नहीं हो पाती. क्योंकि अपना विषय अनधिगत एवं अबाधित है या नहीं यह बात अनुभूतिको स्वयंसे पूछनी पड़ती है विषयसे नहीं. इसी तरह स्वयंमें कहीं-कोई स्वतोविसंवादिता है या नहीं इस शंकाका समाधान भी अपने विषयसे पूछ कर नहीं किन्तु अपने-आपसे पूछ कर ही पाना पड़ता है. अन्तिम निकषके बारेमें यह उल्लेखनीय हो जाता है कि सकल धारणाओंके अन्तर्गत अनेकान्तदृष्टिको ही अप्रामाणिक माननेवाली धारणाका अन्तर्भाव तो अनेकान्तदृष्टिमें स्वीकार्य हो नहीं पाता. फलतः अनेकान्तदृष्टिका एकान्तिक प्रामाण्य सर्वमान्य नहीं हो पाता.

इस सन्दर्भमें यह जान लेना आवश्यक है कि लोकव्यवहारके सन्दर्भमें श्रीमहाप्रभुके मतमें प्रथम निकषको मान्यता प्रदान की गई है—"निश्चयो यथार्थानुभवः. अर्थो हि ज्ञानस्य अर्धम् अङ्गम्; अतएव स्मृतिः न निश्चयात्मिका, अर्थाभावात्. अनुमितिरपि सम्बन्धिव्यवधानेन अर्थजनितैव" (सुबो. ३।२६।३०) अर्थात् यथार्थ अनुभव निश्चयरूप होता है. क्योंकि अनुभूतिका विषय = अर्थ ज्ञानका आधा अंग होता है; अतएव स्मृति निश्चयरूपा नहीं होती, स्मर्यमाण अर्थके अविद्यमान होनेके कारण. यद्यपि स्वयं अपने विषय अग्निसे अनुमितिरूप अनुभूति भी उत्पन्न नहीं होती; फिरभी विद्यमान अग्निसे पैदा होनेवाली विद्यमान धुंआसे पैदा होनेके कारण अनुमितिको विद्यमान अर्थपरंपराजनित मानना पड़ता है. इस विवरणसे सिद्ध होता है कि लोकव्यवहारसंबन्धी प्रामाण्यव्यवस्थाके

बारेमें श्रीमहाप्रभुने प्रथम निकषको मान्य रखा है. तृतीयस्कन्धके पंदरहवें अध्यायके ४६वें श्लोकमें श्रीमहाप्रभुने एक उल्लेखनीय बात जो इस सम्बन्धमें कही है वह यह है कि ब्रह्मके बारेमें किसी भी तरहका कोई निर्णय लेना हो तो दोमेंसे कोई एक आधार हमारे पास अवश्य होना चाहिये: या तो शास्त्रोंका भलीभांति बोध अथवा ब्रह्मसाक्षात्काररूप स्वानुभव. शास्त्र भी "तं त्वौपनिषदं पुरुषम्" एवं "मनसैवानुद्रष्टव्यम्"जैसे दो तरहके वचनोंद्वारा यही बात कहना चाहता है. जब शास्त्रोंमें यह कहा जाता है कि "न चक्षुषा पश्यति कश्चनैनम्" या "न तं विदाथ" तो उसका तात्पर्य अनधिकारी दुष्टजनोंको ब्रह्मसाक्षात्कार नहीं होता इतना ही केवल होता है. कथमपि एतावता यह विवक्षित नहीं मान लेना चाहिये सदधिकारिओंको भी कभी ब्रह्मसाक्षात्कार हो ही नहीं सकता. यह बात और है कि ब्रह्मसाक्षात्कार, केवल निजसत्त्वके कारण, सदधिकारिओंको भी नहीं हो पाता. वह तो जीवसत्त्व जब भगवत्कृत जीववरणरूप साधनका अवान्तरव्यापार हो तभी सम्भव हो पाता है. "यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः"सदृश वचनोंका यही आशय है.

अतः अलौकिक प्रमेय ब्रह्मके बारेमें श्रीमहाप्रभुको व्यवस्थित विकल्प मान्य है:—

(१) प्रमाणबलमूलक व्यवस्था

इस (१) कल्पमें पुनः दो अवान्तर कल्प श्रीमहाप्रभुने दिखलाये हैं: (क) पूर्ण ज्ञानके उदयसे पूर्वभावी प्रामाण्य-व्यवस्था (ख) पूर्ण ज्ञानके उदयसे उत्तरभावी प्रामाण्य-व्यवस्था.

अतः (१/क) कल्पके बारेमें श्रीमहाप्रभुने अपना मत "वेदाः श्रीकृष्णवाक्यानि...न तन्मानं कथंचन"(शास्त्रा.प्रक. ७-८)में श्रुति गीता सूत्र और भागवत की एकवाक्यतापन्न वचनराशिको प्रमाण मान कर निरूपित किया है. (१/ख) कल्पके बारेमें भी यहां स्पष्टता कर दी गई है कि "वाङ्मात्रमेव प्रमाणम्, अर्थस्य भगवद्रूपत्वात्" (शास्त्रा.प्रक. ९). यहां 'पूर्णज्ञान' पदप्रयोग ब्रह्मके अपरोक्ष ज्ञानके अभिप्रायवश नहीं हुवा है किन्तु "मान्य सकल शास्त्रोंके सुव्यवस्थित बोध" के अभिप्रायवश हुवा है. इस पूर्णज्ञानोदयवाले कल्पका निरूपण श्रीमहाप्रभुने—"अर्थोऽयमेव

निखिलैरपि वेदवाक्यैः रामायणैः सहितभारतपञ्चरात्रैः अन्यैश्च शास्त्रवचनैः सह तत्त्वसूत्रैः'' (शास्त्रा.प्रक. १०४) वचनमें किया है.

जिज्ञासा या शिष्योपदेश की अवस्थामें श्रुत्यादि प्रमाणचतुष्टयीके, अन्यथा प्राप्तबोधावस्थामें सकल शास्त्रोंके भी, आधारपर ''एकमेवाद्वितीय ब्रह्मके अनेकविध परस्परविरुद्ध गुण-धर्म-रूपोंको धारण'' करनेके तथ्यको दृष्टिगत रखकर प्रमाणबलावलम्बिनी व्यवस्था स्वीकार करके ब्रह्मनिरूपणमें सकल विरोधाभासोंका उपशमन किया जा सकता है.

प्रमाणबलके उभयविध कल्पोंमें यह नितान्त अवधारणीय है कि इनमें याथार्थ्यावगति स्वयं दुष्परीक्ष्य होनेसे—'' 'वेदाः'इति शब्दएव प्रमाणं, तत्रापि अलौकिकज्ञापकमेव. तत् स्वतःसिद्धप्रमाणभावं प्रमाणम्'' (शास्त्रा.प्रक. ७). अर्थात् अलौकिक प्रमेयके ज्ञापक होनेसे वेदादि शास्त्रोंके शब्द ही प्रमाणतया मान्य हुवे हैं; और इनका प्रमाण होना भी स्वतःप्रामाण्यके रूपमें अभिप्रेत माना गया है. इससे सिद्ध होता है कि यहां तृतीय निकष श्रीमहाप्रभुको अभिमत है.

(२) प्रमेयबलमूलक व्यवस्था

श्रीमहाप्रभुने यह स्पष्टीकरण भी दिया है कि विचारकों अथवा भक्तों की धारणाओंके या भावनाओंके अनुरूप स्वरूपधारण करनेकी भगवत्सामर्थ्य अर्थात् प्रमेयबलके आधारपर भी ब्रह्मनिरूपणमें सकल विरोधाभासोंका उपशमन किया जा सकता है.

ऐसी स्थितिमें प्रमेयबलके कल्पमें यह अवधारणीय है कि निजेच्छया या निजभक्तोंके भावोंके अनुरोधवश वह प्रमेय जिस रूपमें प्रकट हुवा हो उससे विपरीत रूप, चाहे शास्त्रप्रमाणसिद्ध ही क्यों न हो, का दुराग्रह प्रामाण्यव्यवस्थाके प्रथम निकषका अनादर है. कमसे कम यह तत्तत् स्वरूपधारणलीलाके प्रसंगमें होती भगवत्स्वरूपानुभूतिके सन्दर्भमें तो अपरिहार्य है ही.

अर्थात् प्रमाणबलवाली व्यवस्थामें, प्रथम निकषरूप याथार्थ्यके दुष्परीक्ष्य होनेसे, प्रमाणके अनुसार, अर्थात् तृतीय निकषके अनुसार, प्रमेयस्वरूपका निर्धारण किया जाना चाहिये. इसी तरह प्रमेयबलवाली व्यवस्थामें, याथार्थ्यके सर्वथा सुपरीक्ष्य होनेसे, स्वतःप्रकट प्रमेयके अनुसार, अर्थात् प्रथम निकषके अनुसार, किसी एक अनुभूतिके, अथवा दो

अनुभूतिओंके परस्पर विरुद्ध होनेपर भी, प्रमाण या अप्रमाण होनेका निर्धारण किया जाना चाहिये.

परब्रह्म परमात्मा भगवान् श्रीकृष्णने, 'कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं' निजसामर्थ्यवश शिशुरूप बालरूप कुमाररूप किशोररूप या युवारूप अथवा पुत्र अनुज सखा प्रियतम शिष्य सारथी गुरु आदि बननेके जो-जो रूप-गुण-स्वभाव-सम्बन्ध-कर्म तत्तद् लीलाओंमें प्रकट किये उन्हें व्यावहारिक-सत्य मायिक मिथ्या या आरोपित मान लेनेपर :—

एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं-रूपं प्रतिरूपो बहिश्च...एको वशी सर्वभूतान्तरात्मा एकं रूपं बहुधा यः करोति. (कठोप. २।२।९-१२).

यदेकमव्यक्तमनन्तरूपं विश्वं पुराणं तमसः परस्ताद्...तदेवाग्निस्तद्वायुस्तत्सूर्यस्तदु चन्द्रमाः तदेव शुक्रममृतं तद्ब्रह्म तदापः स प्रजापतिः. (महाना.उप. १।५-७).

सर्वाणि रूपाणि विचित्य धीरः नामानि कृत्वाभिवदन् यदास्ते. (चित्युप. १२।७).

स विश्वकृद् विश्वविद् आत्मयोनिः ज्ञः कालकारो गुणी सर्वविद् यः, प्रधानक्षेत्रज्ञपतिर्गुणेशः संसारमोक्षस्थितिबन्धहेतुः...य ईशे अस्य जगतो नित्यमेव नान्यो हेतुर्विद्यते ईशनाय. (श्वेता.उप. ६।१६-१७).

सर्ववेदान्तप्रत्ययं चोदनाद्यविशेषात्. (ब्र.सू. ३।३।१).

वायुर्यमोऽग्निर्वरुणः शशांकः प्रजापतिस्त्वं प्रपितामह—श्च. (गीता ११।३९).

जैसे अनेकानेक शास्त्रवचनोंके डिंडिमघोषको अनसुना बनाना पड़ेगा. अन्यथा यह स्वीकारना बहुत कठिन है कि एकमेवाद्वितीय ब्रह्म, मायारूप उपाधिके बिना, स्वतः अनेक रूप धारण कर नहीं सकता! ऐसी स्थितिमें महाभारत-भागवतादिमें वर्णित अवतीर्ण श्रीकृष्णके स्वरूप या लीला को मायिक या केवल व्यावहारिक-सत्य मानना श्रीकृष्णके आत्ममायापरिगृहीत जन्म-कर्मोंकी दिव्यताका प्रत्याख्यान है. अतएव उपनिषद् गीता ब्रह्मसूत्र भागवतादि शास्त्रोंके आधारपर श्रीमहाप्रभुने मायाके भी त्रिविध रूप स्वीकारें हैं :—

(१) सर्वभवनसामर्थ्यरूपा माया
(२) योगमाया
(३) व्यामोहिका माया

(१) उल्लिखित शास्त्रोंमें सर्वभवनसामर्थ्यरूपा मायाका निरूपण इन वचनोंमें हुवा है : "...मायी सृजते विश्वमेतत्...मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्"(श्वेता.उप. ४।९-१०) "इन्द्रो मायाभिः पुरुरूपः ईयते"(बृह.उप. २।५।१९) "भिन्ना प्रकृतिरष्टधा...प्रकृतिं विद्धि मे पराम्...दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया...मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते..."(गीता ७।४-५-१४, ९।१०) "...प्रत्यग्धामा स्वयंज्योतिर्विश्वं येन समन्वितं स एष प्रकृतिं सूक्ष्मां दैवीं गुणमयीं विभुः...अभ्यपद्यत लीलया गुणैर्विचित्राः सृजतीं सरूपाः प्रकृतिं प्रजाः"—"प्रकृतिर्ह्यस्योपादानमाधारः पुरुषः परः सतोऽभिव्यञ्जकः कालो ब्रह्म तत् त्रितयं त्वहम्"(भाग. ३।२६।३-५—११।२४।१९).

(२) शास्त्रोंमें योगमायाका निरूपण इन वचनोंमें देखा जा सकता है : "मायाविग्रहधारणः"(कृष्णोप. ११) "सम्भवाम्यात्ममायया"—"रूपं परं दर्शितमात्मयोगात्"(गीता ४।६—११।४७) "यन्मर्त्यलीलौपयिकं स्वयोगमायाबलम्"(भाग. ३।२।१२).

(३) शास्त्रोंमें व्यामोहिका मायाका निरूपण भी अनेक स्थलोंपर मिलता ही है : "तस्मिंश्चान्यो मायया संनिरुद्धः"(श्वेता.उप. ४।६) "न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः माययापहृतज्ञानाः"(गीता ७।१५) "ऋतेऽर्थं यत्प्रतीयेत न प्रतीयेत चात्मनि तद्विद्यादात्मनो मायाम्"(भाग. २।९।३३).

वैसे तर्कलाघवके विचारसे तो एक सर्वभवनसामर्थ्यरूपा मायाके निरूपणसे ही सभी विराधाभासोंका परिहार शक्य है, फिरभी न तो भगवत्स्वरूप तर्कोत्प्रेक्षित माना गया है और न तर्कके लाघव-गौरवकी आपत्तिके बलपर कुछ सिद्ध या असिद्ध ही हो जाता है. बृहदारण्यकोपनिषद्के पूर्वोद्धृत वचनमें 'मायाभिः'पदमें बहुवचनका प्रयोग, इसी तरह गीता-भागवतादिमें मायाजन्य मोहकी कहीं प्रशंसा और कहीं निन्दा, योगमाया और व्यामोहकमाया के भेदके कण्ठोक्त प्रमाण बन जाती हैं. वैसे 'ब्राह्मण-परिव्राजक' अथवा 'उपस्थित सज्जनो! सन्नारिओ! एवं सभाध्यक्ष महोदय!' न्यायकी तरह ही सर्वभवनसामर्थ्यरूपा माया और योगमाया/व्यामोहकमाया के

बीच भेद समझना चाहिये. अर्थात् सभाध्यक्ष 'सज्जन-सन्नारी'में अन्तर्भूत होनेपर भी जैसे पृथक्कृत्य उल्लेखनीय होता है वैसे ही सर्वभवनसामर्थ्यके अन्तर्गत ही भक्ति/मुक्ति का प्रदायक आनन्दात्मक स्वलीलाविहारौपयिक साधु योगमायाबल; तथा संसृति/दुर्गति का प्रदायक दुःखात्मक जीवमोहौपयिक असाधु व्यामोहकमायाबल, यों दोनों ही बलोंका उल्लेखनीय कुछ न कुछ स्वरूपवैलक्षण्य है ही. संक्षेपमें जड़-जीव-ईश्वररूपको प्रकट करनेवाले बलको 'सर्वभवनसामर्थ्य' कहा जाता है; और प्रकट हुवे जड़-जीव-ईश्वररूपोंके साथ क्रीड़ामें प्रकट बलको 'योगमाया' या 'व्यामोहकमाया' कहा जाता है.

द्वितीयस्कन्धके नवमाध्यायके प्रारम्भमें इनका सुविशद निरूपण श्रीमहाप्रभुने किया है. वहां यह दिखलाया गया है :—

> सच्चिदानन्द ब्रह्मके सदंशकी शक्ति क्रियारूपा माया होती है. चिदंशकी शक्ति व्यामोहिकारूपा माया होती है. आनन्दांशकी शक्ति सर्वभवन-सामर्थ्यरूपा माया होती है. ये तीन तरहकी शक्तियां सच्चिदानन्दांशोंके धर्मोंके बोधक 'सत्ता'/'सत्त्व', 'चैतन्य'/'चित्त्व' एवं 'आनन्दत्व' रूप पदोंद्वारा अभिधेय बनती हैं. अखण्डैकरस सच्चिदानन्दमें जब ये धर्म पृथक्-पृथक अर्थक्रिया प्रकट करना शुरु करते हैं तो धर्मीभूत सदंश चिदंश एवं आनन्दांश भी परस्पर पृथक्-पृथक् रूप प्रकट करने लग जाते हैं. श्रुतिमें 'प्रजायेय' पदद्वारा ब्रह्मके सृष्टिसंकल्पका निरूपण किया गया है. अतएव आनन्दांश जब इतरद्वयापेक्षया उत्कृष्ट बन जाता है, तब इतर दोनों अर्थात् सदंश और चिदंश अपनेसे उत्कृष्ट आनन्दांशके अनुषंगी एवं अनुसेवी बन जाते हैं. परिणामस्वरूप सदंशकी क्रियाशक्ति एवं चिदंशकी व्यामोहकशक्ति आनन्दांशमें पर्यवसित हो जाती हैं. इसी तरह क्रिया एवं ज्ञान की शक्तिओंका धर्मी या आश्रय आनन्दांश बन जाता है. मूलमें ज्ञानरूप धर्मवाले चिदंशकी ज्ञानशक्ति जब आनन्दांशमें पर्यवसित हो जाती है, तब स्वयंकी

ही शक्ति स्वयं चिदंशको व्यामोहित करने लग जाती है. और इस तरह उस चिदंशको जीव बनना पड़ता है. क्रियाशक्तिके जानेके कारण सदंश जड़ अव्यक्त = प्रकृति बन जाता है. बादमें आनन्दांशमें पर्यवसित हुई क्रियाशक्तिके यथायथ उद्गम या तिरोगम के कारण महदहंकारादिक्रमसे घट-पटपर्यन्त व्यष्टि/समष्टि जड़रूपोंके यथायथ आविर्भाव या तिरोभाव होते रहते हैं. इसी तरह चिदंश भी आनन्दांशमें पर्यवसित स्वकीय ज्ञानशक्तिके अंशभूत अनेकानेक ज्ञानोंसे अनेकानेक जीवोंके रूपमें अभिव्यक्त या तिरोहित होते रहते हैं. मूलमें स्वयंकी परन्तु आनन्दांशमें जा कर पर्यवसित हुई चिदंशशक्ति व्यामोहिका माया, जब जीवको मोहित करने लगती है, तब वह जीव बोधरूप होनेके बावजूद आनन्दांशसे पृथक् हो जानेके कारण आनन्दांशकी खोजमें निकटमें उपलब्ध प्राणका संगी बन जाता है. ऐसे प्राणसंगी चिदंशको 'जीव' कहा जाता है, ''जीव प्राणधारणे''धातुसे शब्दनिष्पत्तिके आधारपर भी यह सिद्ध हो सकता है. स्वयं चिदंशकी मायासे मोहित जीवको भगवान् जबतक पूर्ण ज्ञानशक्ति प्रदान नहीं करते, तबतक वह प्राणधारणके प्रयत्नोंको छोड़ नहीं पाता. पूर्णज्ञान पा लेनेपर प्राणसंगके व्यसनको छोड़ कर वह पुनः शुद्ध चिद्रूपतामें अवस्थित हो जाता है. इस शुद्धावस्थामें प्राकृत सत्त्वादि गुणत्रयी, बुद्धि, अहंकार, मन से शुरु करके रूपरसादि गुणवाले जड़देहके घटक पृथिव्यादि विषयोंकी आधीनतासे भी चिदंश छुटकारा पा लेता है. एतावता चिदंशमें जगत्कर्तृत्वकी सामर्थ्य तो आ नहीं पाती, क्योंकि वह शक्ति तो केवल आनन्दांशमें ही रहती है...आनन्दांशके साथ मिलन होनेपर ही जीवको आनन्दानुभूति हो पाती है...यह प्रक्रिया सर्वश्रुतिवचनोंके अनुरोधवश श्रुतार्थापत्ति-सिद्ध है; और शास्त्रवचनाशयनिर्धारणार्थ सर्वत्र उपयुक्त

भी. अन्य प्रक्रिया शास्त्राभिप्रायको कुण्ठित बनाती हैं.

योगमायाका निरूपण श्रीमहाप्रभुने दशमस्कन्ध (१०।३।४७ तथा १०।२६।१) में इन शब्दोंमें प्रस्तुत की है:—

> यह योगार्थ ही होती है. भगवान्की दिव्य लीलामें जब लीलोपयोगी लोकव्यामोहन या चमत्कार दिखाना अभीष्ट होता है, तब इसे व्यापारित किया जाता है. योगमाया यथास्थित वस्तुका भी अन्यत्र स्थापन कर देती है. इस शक्तिका उपयोग प्रभु लीलार्थ करते हैं. प्रमाण और रक्षण की लीलामें जैसे बलभद्रको साथ रखा जाता है वैसे ही लोकमें अलौकिक लीलारूप कार्यको सिद्ध करनेको योगमायाको साथ रखा जाता है. बलभद्र और योगमाया के बीच योगमाया अन्तरंगतर होती है. इसके कारण प्रमाण और फल(= आनन्द) का अपने प्रमेय = विषय या साधन से अन्यत्र भी योजन(उपलम्भकत्व/उपलम्भ) सम्भव हो जाता है(इसी तरह विदित प्रमेयका अश्रुतपूर्व प्रमाणसे होते अनुभवके साथ योजन या विहित साधनकी श्रुतपूर्व फलकी अप्रापकताके साथ योजन भी शक्य हो जाता है).

यहां संक्षेपमें पुनः इतना जान लेना आवश्यक है कि तैत्तिरीयोपनिषद्का जो वचन इस भूमिकाके उपक्रममें दिया गया है, उसमें उपलक्षणविधया परिगणित सत्-त्यद् आदिके द्वन्द्वोंको, जो सच्चिदानन्द ब्रह्मने अपने चिदंश या आनन्दांश के निगूहनद्वारा इस जगत्में प्रकट किया गया है, उसे सर्वभवनसामर्थ्यरूपा मायाद्वारा ही किया हुवा कार्य जानना चाहिये. ऐसे द्वन्द्वात्मक जगत्में अपने आनन्दांश या चिदंश को तिरोहित किये बिना जब सच्चिदानन्द भगवान् स्वयं लीलार्थ प्रकट होते हैं तो, पूर्वोक्तविध द्वन्द्व अपनी योगमायाद्वारा प्रकट करते हैं. जब भक्ति या मुक्ति में से कोई भी एक फल जीवात्माको देना अभीष्ट न हो, तब व्यामोहकमायाद्वारा उस जीवात्माको मोहित बना दिया जाता है.

इस प्रसंगमें तामसफलप्रकरणके प्रारम्भमें श्रीमहाप्रभुने एक निरतिशय

मननीय निरूपण किया है, जिसे यहां उद्धृत करनेके लोभका संवरण दुर्वार है:—

> भक्तिप्रतिपादक एवं ज्ञानप्रतिपादक यों दो तरहके शास्त्रोंके आधारपर भगवान्के वास्तविक स्वरूपका जैसे बोध होता है; वैसे ही कभी-कभी स्वयं भगवत्स्वरूप स्वयमेव स्वबोधजनक बन जाता है. व्रजमें भगवान् अपने सच्चिदानन्दरूपमें अवतीर्ण या प्रकट हुवे हैं, मुक्ति(या भक्ति)के प्रदानार्थ ही. अतः जिस-किसीका जिस-किसी उपायद्वारा भगवान्के साथ सम्बन्ध जुड़ जाता है, उसे उसी उपायसे मुक्ति(या भक्ति) मिल जाती है. भूतलपर भगवान्को प्रकट करने हेतु ज्ञान या भक्ति उपयोगी उपाय हैं; परन्तु भगवान् यदि स्वेच्छया स्वतःप्रकट हो गये हों तो फिर ज्ञान या भक्ति की कोई उपयोगिता रह नहीं जाती! यहां तो भगवान् स्वतएव सर्वजनोंके नयनगोचरतया प्रकट हो गये हैं, मुक्ति(/भक्ति)दानार्थ. क्योंकि ईश्वरेच्छाको शास्त्रनियमोंमें जकड़ा नहीं जा सकता! अतः भगवान्के आविर्भावके तीन उपाय सिद्ध होते हैं: १.स्वेच्छा २.भक्ति अथवा ३.ज्ञान. अनवतारकालमें ज्ञान या भक्ति दो ही औत्सर्गिक हेतु बनते हैं; परन्तु अवतारदशामें ज्ञान-भक्ति प्रयोजक नहीं रह जाते. (वैसे) बरसातमें तो जल सर्वत्र सुलभ रह सकता है, एतावता क्या कूप या नदी आदिको कोई अनुपयोगी मान सकता है?

अस्तु, अब हमें यह देखना है कि जन्मप्रकरणके बाद प्रमाणप्रकरणमें निरूपित भक्तिहेतुक अज्ञान एवं अन्यथाज्ञान रूप प्रमाणोंके प्रमेय बने भगवत्स्वरूपका वर्णन इस प्रमेयप्रकरणमें कैसे हुवा है. ये अज्ञान और अन्यथाज्ञान व्यामोहिका मायाके कार्य नहीं हैं प्रत्युत योगमायाके कारण प्रकट हुवे हैं. अर्थात् स्वयं भगवान्के द्वारा अपनी दिव्य योगमायाके बलसे परिगृहीत रूपके वश ये अज्ञान और अन्यथाज्ञान पनपे हैं. जैसे कोई शिल्पी अपनी छेनीसे तराश-तराश कर किसी शिलामें सौन्दर्यको

प्रकट कर देता है, वैसे भगवत्स्नेहोद्भूत दिव्य अज्ञान और अन्यथाज्ञान के वश प्रमाणलीला ही शनैः-शनैः घनीभूत हो कर प्रमेयलीलामें साकार होती हुई इस अवस्थाको प्राप्त हुई है!

भक्तिकी विभिन्न अवस्थाओंको बीजभाव=वरण रुचि स्नेह आसक्ति और व्यसन के रूपमें निरूपित किया गया है. व्रजमें प्रकट होनेका प्रभुका संकल्प वरणस्थानीय भावांकुरणकी प्रक्रिया है. प्राकृत शिशुकी तरह मनोहर शिशुवपुःधारण उस अंकुरित रुचिको प्रेमकन्दलित बनानेकी प्रक्रिया है. यह जन्मप्रकरणका वर्ण्यविषय है. अपनी मनोहारिणी बालक्रीड़ाओंसे उस कन्दलित प्रेमको भगवान् प्रणय-स्नेहोद्भूत अनेकविध मनोरथोंकी शाखाप्रशाखाओंसे सम्भृत तथा पल्लवित करते हैं. यह प्रमाणप्रकरणका वर्ण्य-विषय है. इस प्रमेयप्रकरणमें उस पल्लवित प्रणय-स्नेहको रागात्मिका आसक्तिमें कलिकायित किया जाना है कि जिसे अग्रिम साधनप्रकरणमें अनुरागात्मिका प्रत्याशाओंके कुसुमके रूपमें खिलाना है. इसी तरह अन्तिम फलप्रकरणमें इसे प्रपञ्चविस्मृतिपूर्वक भगवद्व्यसनमें फलित हो जाना है.

प्राकृत बालकके रूपमें अवस्थित भगवान् ही प्रमेयभावापन्न भी हैं. अतएव प्राकृत बालककी तरह तो भगवान् असमर्थ नहीं हैं. भगवान् अपने अप्राकृत या अलौकिक सामर्थ्यको यदा-कदा सकलजन-नयन-गोचरतया प्रकट भी कर देतें हैं; तब भी व्रजके गोप-गोपीजन अपना वात्सल्य या स्नेहभाव भगवान्के बारेमें छोड़ नहीं पाते. श्रीमहाप्रभु, अतएव, कहते हैं—"अण्वपि ब्रह्म व्यापकं भवति. यथा कृष्णः, यशोदाक्रोडे स्थितोऽपि, सर्वजगदाधारो भवति" (शास्त्रा. प्रक. ५४) अर्थात् अणुपरिमाण होनेपर भी ब्रह्म व्यापक हो सकता है. जैसे श्रीकृष्ण, माता यशोदाकी गोदमें लेटे हुवे होनेपर भी, अखिल ब्रह्माण्डके आधार होते हैं. अपनी यह विरुद्धधर्माश्रयता भगवान्ने बाललीलामें प्रकट न की हो ऐसा भी नहीं कहा जा सकता है. स्तनपानरत भगवान्ने अपने मुखारविन्दमें ही समग्र ब्रह्माण्डके दर्शन अपनी माताको करा दिये; और इसे साक्षात् स्वनेत्रोंसे निरखनेके बाद भी माता यशोदा स्वीकार न सकी! इससे पता चलता है कि वह बालरूप कितना मनोहारी रूप रहा होगा!!

"सर्वं खलु इदं ब्रह्म" या "ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्" जैसे वचनोंमें

वर्णित आत्मतत्त्वके साक्षात्कारकेलिये उपनिषदोंमें कहा गया है—"तद् एतत् प्रेयः पुत्रात्"—"एतं वै तम् आत्मानं विदित्वा ब्राह्मणाः पुत्रैषणायाश्च...व्युत्थाय अथ भिक्षाचर्यं चरन्ति" तो यह ज्ञानिओंकेलिये तो अवश्य ही सच बात है. उस सर्वात्माकी सर्वरूपता ज्ञानिओंकेलिये अवश्य ही सर्वाधिक स्पृहणीय होती होगी; परन्तु माता यशोदाकेलिये वह सर्वरूपता नहीं किन्तु पुत्ररूपता ही नितान्त स्पृहणीय है. अतएव ऐसी तत्त्वसाक्षात्कारैषणासे 'व्युत्थित' होनेके कारण, माता यशोदा श्रीकृष्णको अपने आत्मज होनेके अलावा और कुछ मानने तैयार ही नहीं है! सर्वात्माके पुत्ररूपेण प्रमेय बननेपर पुत्रत्वसे अधिक प्रिय सर्वात्मत्व हो नहीं पाता—सर्वात्मत्वसे भी कहीं अधिक प्रेम पुत्रत्वके बारेमें ही प्रकट हो जाता है. इस लीलाचमत्कृतिका वर्णन प्रमाणप्रकरणकी सुबोधिनी(१०।८।४५)में इस तरह किया गया था :—

> क्रियाशक्तिके निरूपणद्वारा भगवन्माहात्म्यकी प्रतिपादिका वेदत्रयीने, ज्ञानशक्तिके निरूपणद्वारा उसी माहात्म्यकी प्रतिपादिका उपनिषदोंने, नित्यानित्य वस्तुकी विवेचनाद्वारा अनित्य वस्तुके मोहसे छुड़ा कर नित्य वस्तु भगवान्की ओर ले जानेवाले सांख्यशास्त्रने, भगवदितर विषयोंकी चिन्तासे चित्तको छुड़ा कर केवल भगवान्में उसे निरुद्ध करनेवाले योगशास्त्रने, भगवन्माहात्म्यनिरूपक पाशुपत एवं वैष्णव तन्त्रशास्त्रोंने, इसी तरह तत्तद् दर्शनशास्त्रोंने भी तत्तत् प्रमेयोंके रूपमें जिन श्रीकृष्णका माहात्म्य गाया है, ऐसे श्रीकृष्णके माहात्म्यको निजनेत्रोंसे निहार कर भी, माता यशोदा, सर्वात्मा माननेके बजाय अपना आत्मज ही मानना चाहती हों तो पुत्रभाववाली अविहित भक्तिमें माता यशोदा सुप्रतिष्ठित हो गयी हैं, यह सिद्ध हो जाता है (फिरभी इसे अज्ञानजन्य मोह माननेसे बड़ा अज्ञान या मोह, और क्या हो सकता है?).

भगवान्के जन्म लेनेके साथ शुरु हुई उत्सवोंकी परम्पराद्वारा, अनेकविध असुरोंके उपद्रवोंसे पैदा होते भयद्वारा, उन सभीसे भगवान्के

उबर जानेके कौतुकद्वारा, गर्गमुनिके विस्मयजनक वचनद्वारा, यमलार्जुनभंगद्वारा; और बकासुरवधादिके अनेकविध उपद्रवोंकेद्वारा भी भगवान्ने मुख्यतया नन्द-यशोदाके; और वैसे तो सभी व्रजजनोंके हृदयोंको अपनेमें निरुद्ध=निरतिशयासक्त बना लिया था. अतः बाल्यावस्थामें भी प्रमेयरूपता सम्पन्न हो जानेसे, इन सात अध्यायोंवाले प्रकरणमें स्नेहोत्तरभाविनी भक्तिकी तृतीय अवस्था आसक्तिका ही सप्तविध निरूपण अभिप्रेत है. इसमें मुख्यता गोप-गोपिकाओंकी है.

जैसा कि पहले भी कहा जा चुका है कि ऐश्वर्य वीर्य यश श्री ज्ञान वैराग्य ये छह भगवद्धर्मोके अलावा सातवें धर्मी स्वयं भगवान्के निरूपणार्थ ही ये क्रमशः सात अध्याय हैं.

तदनुसार :—

प्रमेयप्रकरणके प्रथम (आदितः १२=१५) अध्यायमें: व्रजलीलामें अपने असाधारण अलौकिक सौन्दर्यवश सभीका मन अपने वशमें, अर्थात् अपनेमें निरुद्ध, कर लेनेके कारण भगवान्का ऐश्वर्य गुण निरूपित हुवा है. 'निरोध'का अर्थ, जैसा कि हम देख ही चुके हैं, प्रपञ्चको भूलभाल कर भगवान्में मनका लग जाना है. अतः प्रपञ्चासक्तिको तोड़नेका अनुभाव भगवान्ने व्रजमें बसनेवाले दुष्टजनोंके निग्रहद्वारा प्रकट किया. इसमें सर्वप्रथम प्रमेयरूप भगवान्ने अपने समग्र लीलापरिकरकी दिव्यता अपने अग्रज श्रीबलभद्र, जो प्रमाणरूप हैं, उन्हें समझायी है. इससे उनमें निजावेश इंगित हुवा है. अतएव भगवदाविष्ट श्रीबलरामद्वारा धेनुकासुरके वधका वर्णन भी श्रीकृष्णके ही चरित्रनिरूपणतया किया गया समझना चाहिये. इस लीलाकेद्वारा प्रमेयरूप भगवान्ने प्रमाणाविष्ट हो कर निजासक्तिमें व्रजवासिओंकेलिये अनुपयोगी ऐसे देहाध्यासके निवारणका अनुभाव प्रकट किया है. क्योंकि भगवदासक्तिमें अनुपयोगी देहाध्यास तो अज्ञानजन्य ही होता है, जबकि उपयोगी तो योगमायाजन्य ही होता है, यही तो भागवतका गूढ़ रहस्य है. इस तरह "प्रपपञ्चविस्मृति + भगवदासक्ति = निरोध"के समीकरणमें पूर्वदल - 'प्रपपञ्चविस्मृति'के अन्तर्गत देहाध्यासके निर्वतनके बाद जो उत्तरदल - 'भगवदासक्ति' है उसके अन्तर्गत भगवद्रूपासक्तिका निरूपण—"तं गोरजश्छुरितकुन्तल... यद-पांगमोक्षम्" (१०।१२।४२-४३) श्लोकोंमें हुवा है.

इस लोकातिशायी सौन्दर्यके कारण मुख्यतया यहां गोपिकाओंके, और आनुषंगिकतया अन्योंके भी, मानसिक निरोधका निरूपण हुवा है. इसी तरह इस प्रकरणके वेणुगीतवाले अन्तिमाध्यायमें वाचिक निरोधका; तथा आगे चलकर फलप्रकरणमें कायिक निरोधका भी निरूपण किया जायेगा.

द्वितीय (आदितः १३=१६) अध्यायमें: कालीयनागके दमनके वर्णनद्वारा भगवान्के वीर्य गुणका निरूपण अभिप्रेत है. भगवदासक्त जीवकेलिये तत्तद् इन्द्रियोंकी तत्तद् विषयोंमें रही आसक्ति कालीयनागके फनोंमें रहे विषकी तरह अनिष्टकारिणी होती हैं. कालीयनागके फनोंकी जैसी हमारी इन्द्रियोंपर, यदि भगवच्चरणरूपा भक्ति नाचने लग जाये तो, भगवदासक्तिमें अनुपयोगी विषोपम विषयोंमेंसे इन्द्रियोंकी आसक्ति निवृत्त हो सकती है. यों देहाध्यासके निवर्तनके बाद गो-गोप-गोपिकाओंका भगवदासक्तिमें अनुपयोगी जो इन्द्रियाध्यास था, उसका निवर्तन यहां निरोधांगतया वर्णित हुवा है. यह कालीयदमन व्रजभक्तोंकी भगवदासक्तिकी दृढ़ताकी ही परीक्षा थी.

तृतीय (आदितः १४=१७) अध्यायमें: "कृष्णं ह्रदाद् विनिष्क्रान्तं... उपलभ्योत्थिताः सर्वे लब्धप्राणा इव प्रजाः"(१०।१४।१३-१४) श्लोकोंमें अपने दर्शनके दानकेद्वारा व्रजजनोंके प्राणोपम अभीष्ट श्रीकृष्णने सकल व्रजवासिओंको जो प्राणदान किया, उसके वर्णनद्वारा सुस्पष्टतया भगवान्के यश गुणका निरूपण हुवा है. व्रजभक्तोंको भगवान्में साधारण लौकिक स्नेह नहीं था प्रत्युत भगवान् उन्हें निरतिशय प्राणप्रिय थे, यही प्राणदानके वर्णनका अभिप्राय है.

प्रथमाध्यायके अन्तमें, वृन्दावनमें विचरनेवाले तृषार्त गो-गोपबालकोंके विषदूषित जलपानसे निष्प्राण होनेका तथा भगवान्की अमृतवर्षिणी दृष्टिसे पुनुरुज्जीवित होनेका उल्लेख हुवा है. यह उल्लेख भी अज्ञानप्रयुक्त प्राणाध्यासके निवर्तनद्वारा गो-गोपबालकोंको, भगवदासक्तिहेतु उपयोगी प्राणाध्यासके प्रदानकी ही लीला थी. स्वनिरूपक अध्यायसे पूर्ववर्णनका हेतु—वे स्वयं जा कर व्रजस्थित सभी व्रजजनोंको भगवान्के जलह्रदमें कूदनेके वृत्तान्तसे अवगत करें, यही प्रतीत होता है.

जलह्रदसे सकुशल बाहर निकलते भगवान्के दर्शनमें मिलते आनन्दको,

केवल नेत्रेन्द्रियोंके सुखतया वर्णित न कर, व्रजवासिओंके तनमें लौट आये प्राणकी तरह वर्णन करना भी, व्यामोहिका मायासे जन्य प्राणाध्यास व्रजवासिओंमें अब रह नहीं गया था, इस तथ्यके सूचनार्थ है. सभी व्रजजन योगमायासे जन्य अलौकिक प्राणाध्याससे सम्पन्न हो गये थे.

पुनश्च इसी तरह दावाग्निपानके वर्णनद्वारा भगवन्माहात्म्यका जो निरूपण हुवा है, वह भी व्रजवासिओंके चित्त भगवान्में भक्तिभावपूर्ण हो कर निरुद्ध हो गये थे—केवल लौकिक आसक्तिके रूपमें नहीं; क्योंकि असाधारण भगवन्माहात्यको स्वयं निजनेत्रोंसे निरखनेके बाद भी व्रजजनोंकी आसक्तिमें लेशमात्र अन्तर नहीं पड़ा. यह यशोरूप माहात्म्यका ज्ञान, जो भक्तिका पूर्वांग माना गया है, उसकी ही विवक्षासे हुवा निरूपण है.

यहां तक सभी व्रजजनोंकी दृढ़ भगवदासक्तिका सामान्यतया निरूपण किया गया. अब इसके बाद गोपबालकों, गायों, गोकुलस्थ अन्य भी सभी व्रजजनों; तथा गोपिकाओं की भी आसक्तिका विभागशः पृथक्-पृथक् वर्णन किया जाना अभिप्रेत है.

चतुर्थ (आदितः १५=१८) अध्यायमें: प्रलम्बवधका वर्णन तथा कालदुःख-निवारणका वर्णन भगवान्के श्री गुणके निरूपणार्थ है. इनमें प्रलम्बके वधद्वारा मुख्यतया भगवान्ने व्रजके गोपबालकोंके, वैसे अन्य भी सभी व्रजजनोंके, अन्तःकरणाध्यासके निवारणका अनुभाव प्रकट किया है. यहां वृन्दावनलीला तथा गोष्ठलीला यों उभयविधलीलाओंका वर्णन हुवा है.

पञ्चम (आदितः १६=१९) अध्यायमें: जीवात्माके साथ जो अज्ञानरूप दोष होता है उसे, निजासक्तिमें दावाग्निरूप जान कर, भगवान्ने शान्त किया. अतः द्वितीय दावाग्निपानद्वारा भगवान्ने अपना माहात्म्य प्रकट करके निरोधांगभूत भगवदासक्तिकी भक्तिस्वरूपताको दृढ़ करनेको अपने ज्ञान गुणको ही अपनी गायोंकेलिये प्रकट किया है.

षष्ठ (आदितः १७=२०) अध्यायमें: वर्षा और शरद् ऋतुओंके वर्णनमें, वैसे तो स्वयं श्रीहरिको तटस्थ सा दरसाते हुवे, भगवल्लीलासामयिक कालका ही निरूपण मुख्यतया हुवा है. अन्ततः इस तरह भगवल्लीलार्थ अभीष्ट कालमें सभी बातोंके दोषरहित हो जानेके वर्णनसे भी भगवान्का

माहात्म्य ही यहां भी निरूपित हुवा जान लेना चाहिये. इस अध्यायके उपक्रममें ही—"गोपवृद्धाश्च गोप्यश्च तदुपाकर्ण्य विस्मिताः, मेनिरे देवप्रवरौ कृष्णरामौ व्रजं गतौ"(१०।१७।२) वचनमें भी यही बात स्पष्ट कर दी गयी है. दृढ़ आसक्तिवाले निरुद्ध भक्तोंके ही बीचमें सम्पन्न की गयी क्रीड़ाद्वारा भगवान्‌का वैराग्य गुण यहां सूचित हुवा है.

सप्तम (आदितः १८=२१) अध्यायमें: इन छह गुणधर्मोंवाले धर्मिस्वरूप स्वयं परब्रह्मका "रसो वै सः. रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति"श्रुतिवचनके अनुसार रसात्मक वर्णन यहां अभिप्रेत है.

निष्पाद्य रसानुभूतिके किसी भी प्रकारमें एक तो प्रमुख अंगी स्थायिभाव होता है, जो आभ्यन्तर होनसे रसिकजनकेलिये हृदयैकगम्य होता है; और दूसरा अंगभूत निष्पादक आलम्बनविभाव होता है, जो बाह्य होनेसे सर्वजनोंके नयनगम्य होता है. रसशास्त्रीय मर्यादाके सन्दर्भमें—"विभावानुभाव-सञ्चारिभावैः निष्पन्नः स्थायिभावो रसः स्मृतः" वचनके अनुसार विभावादि सकल उपादान निष्पादक कोटिमें आते हैं तथा स्थायिभाव निष्पाद्य कोटिमें.

रसानुभूति न तो केवल सुखानुभूति होती है और न केवल दुःखानुभूति ही. सुख या दुःख सभी कुछ जिसमें अनुकूलतया आस्वाद्य बन जायें ऐसी आनन्दानुभूतिको ही 'रसानुभूति' कहा जाता है. सामान्यतया, अतएव, आलम्बनविभाव आनन्दजनक होता है; और स्थायिभाव आनन्दरूप. प्रकृत प्रसंगमें भगवान्‌को आलम्बनविभाव तथा भगवदासक्तिको स्थायिभाव समझना चाहिये. "आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्"(तैत्ति.उप. ३।६।१) वचनके आधारपर भगवत्स्वरूपानन्द हो अथवा भगवदासक्तिरूप आनन्द हो दोनों ही मूलमें आनन्द होनेसे साक्षात् परब्रह्मात्मक ही हैं. अतएव "बर्हापीडं नटवरवपुः..." (भा. १०।१८।५) वचनकी सुबोधिनीमें श्रीमहाप्रभुने भगवान्‌का दो रूपोंमें आलम्बनविभाव होना समझाया है :—

(१) निष्पाद्य रसानुभूतिके बाह्य आलम्बनतया निष्पादक भगवान्, प्रत्यग्र भोक्तृभावापन्न होनेके कारण, प्रत्यक्ष सन्निधिमें 'वर' पदसे अभिधेय होते हैं.

(२) निष्पाद्य स्थायिभाव जहां स्वयं ही 'आसक्तिभ्रम'न्यायेन घनीभूत हो जानेके कारण निष्पादक सकल आभ्यन्तर सामग्रीतया जब

आलम्बनविभावादिको भी भोग्यभावापन्न बना देता है तब भगवान् 'नट'पदसे अभिधेय बन जाते हैं.

ब्रह्मको 'आनन्द' जैसे कहा गया है, वैसे ही 'आनन्दमय'(तैत्ति. उप. ३।६।१ तथा २।५।१) भी कहा गया है. "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म"(तैत्ति. उप. २।१।१) वचनके आधारपर आनन्दको देशकृत कालकृत तथा स्वरूपकृत त्रिविध परिच्छेदोंसे रहित भी माना गया है. अतः जब आनन्द सर्वतः अनन्त ही हो तो,. न तो प्राचुर्य और न विकार ही अर्थ उपपन्न हो पाते हैं. क्योंकि अनन्तका अनन्तसे गुणाकार करनेपर गुणनफल भी अनन्त ही तो मिलता है—प्रचुर अनन्त नहीं; और 'मयट्'को विकारके अर्थमें तो स्वयं ब्रह्मसूत्रकारने मान्य नहीं रखा है. फिरभी "अजायमानो बहुधा विजायते"(तैत्ति.आर. ३।१३।४०-४१) वचनद्वारा निर्दिष्ट नीतिका अनुसरण करनेपर आत्मरमणशील ब्रह्मको यदि आनन्दरूप मान लें तो आत्मभावित भक्तोंके हृदयमें भगवदासक्ति या स्थायिभाव को परमानन्दतया रसरूप मानना चाहिये. ऐसे ही भक्तोंके हृदयमें विद्यमान भगवदासक्तिरूप आनन्दको स्थायिभावात्मक रस मान लें तो नयनोंके सामने स्नेहके आलम्बनविभावतया रममाण भगवान्‌को आनन्दमय भी माना जा सकता है. संक्षेपमें परब्रह्म, केवल स्वरूपतया अगणितानन्द होनेपर भी, लीलाविशिष्टतया आनन्दमय बन जाता है. अगणित आनन्दमें भी यह विलक्षण प्राचुर्य भगवत्स्वरूप या भगवल्लीला की अपेक्षासे न होकर, रसिक भक्तके स्वरूपासक्त या लीलासक्त हृदयकी अपेक्षासे ही होता है.

प्रकृतमें भगवान् भी नटवरवपु बन कर प्रकट हुवे हैं. इस नटवरवपुद्वारा किये गये वेणुवादनने ही व्रजस्थित गोपीजनोंके हृदयमें विद्यमान निरुपधिक भगवदासक्तिको शृंगारात्मिका बनाया है. तदनुरूप शृंगारात्मिका रतिका आलम्बनविभावोचित नयनगोचर अलौकिक रूप भी भगवान्‌ने धारण किया है. अवशिष्ट उद्दीपनविभाव शरदृतुसामयिक वनश्री हरिणी अप्सरायें गाय पक्षिगण नदी गोवर्धन आदि हैं. अनुभाव तो स्वयं भगवान्‌की विचित्र वेषभूषा है ही.

इस तरह वेणुवादनरत स्वयं भगवान्‌का दर्शन एवं वेणुनादश्रवण भी व्रजमें ही हो जानेकी अलौकिक घटना लौकिक प्रक्रियासे तो

सम्भव नहीं! इसे 'आसक्तिजन्य भ्रम' मानना पूर्वप्रतिपादित भगवद्रूप-भगवल्लीलाकी अलौकिकताके बारेमें नितान्त अनभिज्ञताका प्रकाशन ही होगा. अतएव इस अलौकिक अनुभावको समझानेको उदाहरणतया तो 'आसक्तिभ्रम'न्याय उपयोगमें लाया जा सकता है, एतावता भ्रम ही मान लेना 'गोमयं-पायसं' न्याय होगा! "अपने दुर्बोध स्वरूपका बोध प्रदान करनेको भगवान् भूतलपर प्रकट होते हैं. भगवान्‌की उन दिव्य लीलाओंके अमृतसागरकी लहरिओंमे हिलोरें लेनेके प्रेमी जन तो, ब्रह्मसायुज्यकी अभिलाषासे भी विरत हो कर, निरन्तर भगवान्‌के चरणकमलोंको घेर कर रहनेवाले परम हंसोंके संगकी कामनासे अपना घरबार आदि सभी कुछ छोड़ बैठते हैं!" (भा. १०।८७।२१) इस वचनके भी आशयका शान्त चित्तसे विचार करनेपर यह तो स्पष्ट है ही. अतः जैसे ऋषियोंको ब्रह्मविद्योपदेशके कारण परमतत्त्वकी अपरोक्षानुभूति हो जाती थी, वैसे ही इस वेणुनादामृतपायनरूप विद्योपदेशद्वारा भगवान्‌ने व्रजमें स्थित गोपिकाओंको, वहीं व्रजमें बैठे-बैठे, वृन्दावनलीलाके अपरोक्षदर्शनकी सामर्थ्य प्रदान कर दी थी! इस वेणुनादको ऐसे दिव्य सामर्थ्यवाला नादामृत श्रीमहाप्रभु मानते हैं. यह भगवदासक्ति उस भगवत्स्नेहके कारण पनपी है कि जिसे स्वयं भगवान्‌ने ही अपने वेणुकूजनद्वारा उद्बुद्ध किया है.

इस प्रसंगमें व्रजस्थ गोपीजनोंकेद्वारा वृन्दावनलीलाका वर्णन, जैसी दिव्य भगवदासक्तिके कारण एवं भगवदनुभावकी जैसी दिव्यानुभूतिके कारण हुवा है, भगवान्‌के अन्तरंग गोपसखाओंकी भी वैसी ही दिव्य भगवदासक्ति एवं भगवदनुभावकी वैसी ही दिव्यानुभूतिकी सामर्थ्य, उपलक्षणविधिसे यहां भी अभिप्रेत समझ लेनी चाहिये. पूर्वाध्यायमें जिस कालका वर्णन हुवा था, वह तो द्वादशमासात्मक होता है, उस कालसे अधिक उत्तमता द्योतित करनेको यहां तेरह श्लोकोंमें भगवान्‌का वर्णन किया गया है. इस विवेचनासे यह सिद्ध होता है कि निरूप्यमाण अति अद्भुत वेणुवादनमें भगवान्‌ने प्रकृत लीलामें परिगृहीत प्रमेयरूपके बोधदायी ब्रह्मविद्योपदेशका अनुभाव प्रकट किया है.

इस तरह प्रमेय-प्रकरणमें प्रतिपाद्य विषयका संक्षेपमें अनुशीलन करनेके बाद अब हमें साधन-प्रकरणमें प्रतिपाद्य विषयके अनुशीलनार्थ प्रवृत्त होना है.

तामस साधन प्रकरणका औपनिषद सन्दर्भ

अणुसे अणुतर और महान्‌से महत्तर इस जन्तुकी आत्मा गुहामें निहित है...बैठे-बैठे वह दूर-दूर पहुंच जाती है; और लेटे-लेटे भी वह सब जगह जा सकती है...यह आत्मा न तो प्रवचनसे न मेधासे और न बहुत श्रवण करनेसे ही मिल पाती है. यह स्वयं जिसका वरण करती है, वही उसे पा सकता है. उसीकेलिये यह अपने स्वरूपको प्रकट करती है. जो दुश्चरितसे विरत न हो, जो शान्त न हो, जो समाहित न हो; अथवा जिसका मन ही शान्त न हो, ऐसा कोई केवल प्रज्ञानसे इसे पा नहीं सकता...सभी लोगोंके नेत्रोंके जैसा होनेपर भी सूर्य हमारे नेत्रोंके बाह्य दोषोंसे कभी लिप्त नहीं होता; उसी तरह प्राणिमात्रकी वह एक अन्तरात्मा, सभी प्राणिओंसे बाह्य होनेके कारण, किसी भी प्राणीके लौकिक दुःखोंसे लिप्त नहीं हो पाती. वह एक वशी सर्वभूतान्तरात्मा अपने एक रूपमेंसे बहुरूप प्रकट करता है, जो धीर पुरुष उसे अपनी आत्माके भीतर अवस्थित समझ पाते हैं, उन्हें ही शाश्वत शान्ति मिलती है दूसरोंको नहीं. वह नित्योंमें नित्य है, चेतनोंमें चेतन है, वही अकेला बहुतोंकी कामनाओंको पूर्ण करनेवाला है, जो धीर पुरुष उसे अपनी आत्माके भीतर अवस्थित समझ पाते हैं, उन्हें ही शाश्वत शान्ति मिलती है दूसरोंको नहीं. (कठोपनिषत्).

विभिन्न धर्म-सम्प्रदायोंमें पारमात्मिक उपलब्धिके अथवा पारमात्मिक जीवन जीनेके तत्तत् शास्त्रोंद्वारा विहित उपायोंके अनुष्ठानोंके साथ ही साथ भगवत्कृपाका भी कुछ न कुछ असाधारण महत्त्व स्वीकारा ही गया है. ईश्वरवादी कोई भी धर्म-सम्प्रदाय ऐसा तो हो ही नहीं सकता कि कायिक वाचिक या मानसिक यों तीनों ही अथवा तीनमेंसे किसी एकाद साधनके भी अनुष्ठानकी आवश्यकता स्वीकारता न हो. याग होम पूजन यात्रा प्रणिपात व्रत जागरण आदि कायिक साधनानुष्ठानके

उदाहरण गिनाये जा सकते हैं. नाम/मन्त्र का जप स्तुति प्रार्थना कीर्तन ग्रन्थपारायण आदि वाचिक साधनानुष्ठानके उदाहरण हैं. इसी तरह श्रवण मनन धारणा ध्यान भावन आदि मानसिक साधनानुष्ठानके उदाहरण माने जा सकते हैं.

साधनानुष्ठानकी तरह परमेश्वरके अनुग्रहकी आवश्यकताका भी अस्वीकार अशक्य ही है. इससे कुछ अन्तर नहीं पड़ता कि परमात्माका स्वरूप कोई धर्म-सम्प्रदाय किस प्रकारका स्वीकारता है: कोई परमेश्वरका स्वरूप निर्गुण-निराकार स्वीकारता है, तो कोई सगुण-निराकार; तो अन्य कोई उसे सगुण-साकार भी मानता है. कोई नराकार तो कोई नार्याकार या कोई उभयविलक्षणाकार भी मानता है. कोई जगदन्वित-जगदतीत अर्थात् परमात्माको जगत्‌का उपादानकारण भी एवं कर्ता भी मानता है. तो कोई जगदतीत अर्थात् केवल कर्ता ही मानता है. कोई उसे अनुपादान-अकर्ता गुरु या कूटस्थ साक्षी ही मानता है.

इन अनेक प्रकारोंमेंसे यथारुचि अभिमत प्रकारवाले परमतत्त्वके अनुग्रहकी कुछ न कुछ आवश्यकता तो स्वीकारी ही गयी है.

इसे "साधनानुष्ठान और/अथवा अनुग्रह" के सरल समीकरणद्वारा निरूपित नहीं किया जा सकता है. अतः कई विचारणीय मुद्दे सामने आते हैं, यथा :—

(१) क्या साधनानुष्ठान एक ऐसा सहायक उपाय है कि जिसके बिना केवल भगवत्कृपा फलजननार्थ स्वतःसमर्थ नहीं हो पाती है?

(२) क्या साधनानुष्ठान तो केवल लोकसंग्रहार्थ ही अनुष्ठेय होता है; अर्थात् वास्तविक उपाय तो केवल भगवत्कृपा ही होती है?

(३) क्या साधनानुष्ठान कोई ऐसा प्रमुख उपाय है कि जिसका सहायक उपाय भगवत्कृपा है?

(४) क्या साधनानुष्ठान केवल प्राथमिक उपायारम्भमात्र है कि जिसकी पूर्णता भगवत्कृपाके बिना शक्य नहीं?

(५) क्या साधनानुष्ठान, साक्षात् स्वयं फलजनक न होनेपर भी, फलजनक जो भगवत्कृपा होती है उसे उत्पन्न या उद्बुद्ध करनेका कोई उपाय है?

(६) क्या साधनानुष्ठान ही वास्तविक उपाय होता है; अर्थात् भगवत्कृपा तो केवल साधनानुष्ठानके साथ हमारे भीतर गर्व-मद जैसे दुर्गुण कहीं पनप न जायें, एतदर्थ शास्त्रोंद्वारा सूचित एक मधुर-मंगल कैतवमात्र है?

श्रीशंकराचार्य जीवात्माके प्रमातृत्व-कर्तृत्व-भोक्तृत्वादि धर्मोंको पारमार्थिक नहीं मानते हैं. इन मायिक धर्मोंके कारण अनुष्ठित साधनाओंका भी, अतएव, अपारमार्थिक होना तो अनुक्तसिद्ध ही है. फिरभी "जीव ईशो विशुद्धा चिद् विभागस्त्वनयोर्द्वयोः अविद्या तत्कृतो बन्धः षडस्माकमनादयः"की सुनिर्धारित नीतिके अनुसार जीवात्माके इन प्रमातृत्वादि धर्मोंको अनादिव्यवहारसिद्ध तो माना ही गया है. अतः निर्विशेष ब्रह्मको, जैसे, निरुक्त्यर्ह-विशेष-शून्यताके अर्थमें अनिर्वचनीय माना जाता है, उससे वैपरीत्येन केवल सत्त्वासत्त्वान्यतर-निरुक्ति-शून्यताके अर्थमें ही इन प्रमातृत्वादि धर्मोंको अनिर्वचनीय मिथ्या माना गया है— स्वरूपविशेषशून्यतया नहीं. अतः व्यवहारमें इनका स्वरूप क्या-कैसा है यह अवलोकनीय बन ही जाता है.

शांकर भाष्य (ब्र.सू. २।३।४१)में इस विषयकी मीमांसा की गयी है. यथा :—

> तस्मात् स्वतएव अस्य कर्तृत्वम् इति एतां प्राप्तिं 'तु'शब्देन व्यावर्त्य प्रतिजानीते—'पराद्'इति. अविद्यावस्थायां कार्य-कारण-संघाताविवेक-दर्शिनो जीवस्य अविद्यातिमिरान्धस्य सतः परस्माद् आत्मनः कर्माध्यक्षात् सर्वभूताधिवासात् साक्षिणः चेतयितुः ईश्वरात् तदनुज्ञया कर्तृत्व-भोक्तृत्व-लक्षणस्य संसारस्य सिद्धिः; तदनुग्रहहेतुकेनैव च विज्ञानेन मोक्षसिद्धिः भवितुम् अर्हति...यद्यपि च लोके कृष्यादिषु कर्मसु न ईश्वरकारणत्वं प्रसिद्धं; तथापि सर्वास्वेव प्रवृत्तिषु ईश्वरो हेतुकर्ता इति श्रुतेः अवसीयते. तथाहि श्रुतिः भवति— "एष ह्येव साधु कर्म कारयति तं यमेभ्यो लोकेभ्य उन्निनीषते एष ह्येवासाधु कर्म कारयति तं यमधो निनीषते" इति. "य आत्मनि तिष्ठन् आत्मानमन्तरो यमयति" इति च एवंजातीयका.

अर्थात् "परात्तु तच्छ्रुतेः"सूत्रमें 'तु'पदद्वारा जीवात्मा स्वतएव भी कर्ता हो सकती है, ऐसी धारणाका

व्यावर्तन किया गया है. कर्माध्यक्ष सर्वभूताधिवास साक्षी चेतयिता ईश्वर परमात्माकी अनुज्ञासे ही, कार्य-कारणसंघातमें विवेकदर्शन नहीं कर पानेके कारण, अज्ञानतिमिरान्ध जीवको कर्तृत्व-भोक्तृत्वकी भ्रान्तिवाला संसार हो जाता है. इसी तरह परमात्माके अनुग्रहवशात् ही प्रकट होनेवाले विज्ञानके कारण मोक्ष भी हो सकता है... लोकमें कृषि आदि कर्मोंमें ईश्वरकी कारणता दिखलायी नहीं देती, फिरभी जीवात्माद्वारा सम्पन्न की जाती सभी प्रवृत्तिओंको करानेवाला तो ईश्वर ही होता है, ऐसा श्रुतिके आधारपर समझमें आता है. वह श्रुति है: "जिसे वह उठाना चाहता है उससे अच्छे काम करवा लेता है—जिसे वह गिराना चाहता है उससे बुरे काम करवा लेता है"; और "जो हमारी आत्माके भीतर रह कर भीतर ही से आत्माका नियमन करता है" ऐसी श्रुतियां भी कुछ हैं ही.

ईश्वरानुज्ञासे कर्तृत्वादिलक्षण सांसारिक बन्धन एवं ईश्वरानुग्रहसे ब्रह्मात्मैक्यविज्ञानलक्षण मोक्ष की बात करनेपर ईश्वरमें वैषम्य-नैर्घृण्यदोषोंकी जो आपत्ति सामने आती है, उसका परिहार यों दिया गया है कि जीवात्माके प्रयत्नोंके अनुसार परमात्मा कर्म करवाता है तथा किये हुवे कर्मोंके ही अनुसार फल भी देता है. परन्तु जीवात्माका कर्तृत्व ही, यदि ईश्वरायत्त हो तो, दुष्कर्म करवा कर अशुभ फल देनेवाले ईश्वरको शुभशक्ति कैसे कोई मान पायेगा? श्रीशंकराचार्य इस आपत्तिका समाधान यों देते हैं कि यदि ईश्वरको, कर्मोंके अनुसार फलदान करनेवाला, नहीं मानते तो विधि-निषेध या तो अर्थहीन बन जायेंगे या फिर जीवके सर्वथा पराधीन होनेके कारण स्वयं ईश्वरपर ही वे विधि-निषेध लागू होंगे. दोनों ही बातें स्वीकार्य हो नहीं सकती. इसी तरह ईश्वरको जीवात्माके प्रयत्नोंके अनुसार कर्म करानेवाला नहीं मानते तो, ईश्वरके सर्वथा निरपेक्ष होनेके कारण या तो शुभ कर्मोंका अशुभ फल एवं अशुभ कर्मोंका शुभ फल भी वह दे सकता है, ऐसी घोर अव्यवस्था स्वीकारनी पड़ेगी या फिर शुभाशुभ कर्मोंके बोधक वेदका प्रामाण्य ही अनावश्यक हो जायेगा. लौकिक पुरुषकारका तथा देशकालादिरूप निमित्तोंका भी कोई अर्थ नहीं रह जायेगा. अतः अपने

पूर्वजन्मोंकी वासनाओंके अनुसार जीवात्मा, जैसे प्रयत्न करना चाह रही हो, वैसे कर्म जीवात्मासे करवा कर कर्मानुसारी फलदान करनेवाला परमात्माको स्वीकार लेना चाहिये. परमात्मा और जीवात्मा के बीच केवल प्रेरक-प्रेरित या स्वामि-भृत्य होनेका केवलद्वैतघटित सम्बन्ध होता तो ऐसी आपत्ति गम्भीर मानी जा सकती थी; परन्तु परमात्मा और जीवात्मा के बीच 'अग्निविस्फुलिंग'न्यायेन व्यावहारिक द्वैताद्वैतघटित अंशी तथा अंश होनेका सम्बन्ध है. अर्थात् विशुद्धचित्के विचारसे ही ब्रह्मात्म्यैक्य=केवलाद्वैत उपदेष्टव्य होता है (द्रष्टव्य: ब्र.सू.भा. २।३।४२-५३). अतएव "फलमत उपपत्तेः" (ब्र.सू.भा. ३।२।३८-४१) अधिकरणमें श्रीशंकराचार्य यों प्रतिपादन करते हैं: कर्मसापेक्षतया अथवा अपूर्वसापेक्षतया जैसे भी स्वीकारना हो स्वीकार कर, हर सूरतमें प्राक्कर्मवासनाओंकी अपेक्षा रख कर ही ईश्वर धर्माधर्मोंका कारयिता बनता है. इस तरह स्वप्रेरित कर्मोंकी अपेक्षा रख कर ईश्वर फलदाता भी होता है, इन तथ्योंका अस्वीकार वेदान्तमें शक्य नहीं है.

इससे सिद्ध होता है कि निर्गुण-निराकार अनुपादान-अकर्ता कूटस्थ साक्षी रूप ब्रह्मके उपदेशक केवलाद्वैतवादको भी, "अहं ब्रह्मास्मि"की अद्वैतभावनामें सम्प्रतिष्ठ होनेके आदर्शके बावजूद, परमेश्वरके प्रसादकी आवश्यकता तो स्वीकारनी ही पड़ी है.

न केवल इतना अपितु भगवदनुग्रहका एक असाधारण महत्त्व यह भी दिखलाया है:—

> 'सर्वकर्माणि'=प्रतिषिद्धानि अपि, 'सदा कुर्वाणो' = अनुतिष्ठन् 'मद्व्यपाश्रयः' = अहं वासुदेवः ईश्वरो व्यपाश्रयः यस्य स मद्व्यपाश्रयः, मय्यर्पित-सर्वात्मभावः इत्यर्थः. सोऽपि 'मत्प्रसादात्' = मम ईश्वरस्य प्रसादाद् 'अवाप्नोति शाश्वतं'=नित्यं वैष्णवं 'पदम् अव्ययम्'.
>
> (गी.शां.भा. १८।५६).

> अर्थात् निष्काम/सकाम या विहित/निषिद्ध कर्म करनेवाला जो भी वासुदेवका आसरा ले लेता है—भगवान्में सर्वात्मभावके साथ अर्पित हो जाता है तो भगवान्के प्रसादसे ऐसा भी जीव शाश्वत = नित्य अव्यय विष्णुपदको प्राप्त कर लेता है.

वैसे यह हकीकत है कि निर्गुण-निराकारवादमें बन्ध, उससे मुक्ति

पानेको किये जाते साधनानुष्ठान, उसकी सफलताकेलिये अपेक्षित ईश्वरानुग्रह; और अन्ततः स्वयं ईश्वर भी निर्विशेष चिन्मात्र अधिष्ठानके अद्वैतमें मायाद्वारा आरोपित केवल द्वैतविक्षेप ही हैं. अतएव इस विषयमें श्रीशंकराचार्यके प्रस्तुत विधान मननीय हैं:—

> "ईश्वरस्यापि अनपेक्ष्य किञ्चित् प्रयोजनान्तरं स्वभावादेव केवलं लीलारूपा प्रवृत्तिः भविष्यति. नहि ईश्वरस्य प्रयोजनान्तरं निरूप्यमाणं न्यायतः श्रुतितो वा सम्भवति; नच स्वभावः पर्यनुयोक्तुं शक्यते. यद्यपि अस्माकम् इयं जगद्बिम्बरचना गुरुतरसंरम्भेव आभाति तथापि परमेश्वरस्य लीलैव केवला इयम्, अपरिमितशक्तित्वात्. यदि नाम लोके लीलास्वपि किञ्चित् सूक्ष्मं प्रयोजनम् उत्प्रेक्ष्येत, तथापि नैव अत्र किञ्चित् प्रयोजनम् उत्प्रेक्षितुमपि शक्यते, 'आप्तकाम'त्वश्रुतेः. नापि अप्रवृत्तिः उन्मत्तप्रवृत्तिः वा सृष्टिश्रुतेः सर्वज्ञश्रुतेः च. नच इयं परमार्थविषया सृष्टिश्रुतिः, अविद्याकल्पितनामरूपव्यवहारगोचरत्वात्..."
>
> अर्थात् किसी भी प्रयोजनान्तरकी अपेक्षा रखे बिना स्वभावसे ही केवल लीलारूपा प्रवृत्ति ईश्वर करता है. श्रुतिवचन या न्याय के आधारपर भी ईश्वरके लिये प्रयोजनान्तर बात सोची नहीं जा सकती; और न स्वभावके बारेमें कुछ पूछा ही जा सकता है. यह तो ठीक है कि हमारेलिये सृष्टिका निर्माण बहोत बड़ी बात लगती है परन्तु अपरिमित शक्तिवाले ईश्वरकेलिये तो यह केवल लीला ही है. हो सकता है कि लोकमें लीलामें भी कोई सूक्ष्म प्रयोजन काम कर रहा हो पर आप्तकाम ईश्वरकेलिये तो प्रयोजनकी बात ही सोची भी नहीं जा सकती है. न तो अप्रवृत्तिकी और न उन्मत्तजनवत् प्रवृत्तिकी बात ही परमेश्वरके बारेमें सोची जा सकती है, क्योंकि उसके प्रवृत्त न होनेपर सृष्टि कैसे प्रकट हुई और उन्मत्तजनकी तरह प्रवृत्त होनेपर कोई उसे सर्वज्ञ कैसे मान पायेगा? वैसे यह बात भूलनी नहीं चाहिये कि ब्रह्मके पारमार्थिक स्वरूपका निरूपण यहां अभिप्रेत नहीं है प्रत्युत

> अविद्याकल्पित नामरूपात्मक व्यवहारसिद्ध परमेश्वरके रूपका निरूपण ही यहां अभिप्रेत है.

अतः जैसे व्यवहारसिद्ध बन्धकी निवृत्तिकेलिये "अहं ब्रह्मास्मि" इत्याकारिका चित्तकी व्यवहारसिद्ध प्रमाणवृत्ति भी आवश्यक होती है, वैसे ही, व्यावहारिक सत्य ईश्वरानुग्रहकी भी कुछ न कुछ आवश्यकता तो स्वीकारनी ही पड़ेगी. क्योंकि प्रस्तुत सन्दर्भमें ही भगवदर्पित सर्वात्मभावको "अहं ब्रह्मास्मि" ज्ञानवृत्तिसे पृथक् माननेपर "ऋते ज्ञानाद् न मुक्ति"की नीतिके साथ विसंवाद खड़ा होगा. तादृश ज्ञानरूप स्वीकारनेपर तो परमात्माके प्रसादसे ही उसकी उपलब्धि होती है—परमात्माका प्रसाद उससे उपपलब्ध नहीं होता, स्वयं बाधित हो जानेके कारण. अतः व्यवहारमें परमात्माके अनुग्रहकी व्यावहारिक आवश्यकता भी ठीक उतनी ही है कि जितनी आवश्यकता व्यावहारिक साधन "अहं ब्रह्मास्मि" वृत्तिकी होती है.

इस विषयमें श्रीशंकराचार्यने अपना उल्लेखनीय अभिप्राय इन शब्दोंमें दिया है:—

> यत्तु उक्तं 'हिरण्यश्मश्रुत्वादिरूपश्रवणं परमेश्वरे न उपपद्यते' इति, अत्र ब्रूमः—स्यात् परमेश्वरस्यापि इच्छावशाद् मायामयं रूपं साधकानुग्रहार्थम्... अपिच यत्र निरस्तसर्वविशेषं पारमेश्वरं रूपम् उपदिश्यते, भवति तत्र शास्त्रम्—"अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययम्" इत्यादि. सर्वकारणत्वात्तु विकारधर्मैरपि कैश्चिद् विशिष्टः परमेश्वरः उपास्यत्वेन निर्दिश्यते—"सर्वकर्मा सर्वकामः सर्वगन्धः सर्वरसः" इत्यादिना (ब्र.सू.भा. १।१।२०).
>
> अर्थात् "वह सुनहरी मूंछोंवाला है" आदि वचनोंमें निरूपित रूप परमेश्वरके सम्भव नहीं लगते; परन्तु हम इस विषयमें यह कहना चाहेंगे कि साधकोंपर अनुग्रह करनेकी स्वयंकी इच्छावश परमेश्वर भी मायामय रूप धारण कर सकता है. जहां निर्विशेष परमेश्वरका निरूपण करना हो वहां शास्त्र "अशब्द अस्पर्श अरूप अव्यय" आदि रूपमें उसका निरूपण करते हैं. वह सर्वकारण भी तो है ही अतः कहीं-कभी उसे कुछ विकारधर्मोंवाला मान कर उसकी उपासना भी उपदिष्ट

हुई हैं. जैसे "वह सर्वकर्मा सर्वकाम सर्वगन्ध सर्वरस है" इत्यादि.

उत्तरकालिक शांकरोंके—"ईश्वरानुग्रहादेव पुंसामद्वैतवासना महाभयकृतत्राणा द्वित्राणामेव जायते"(खण्डनखण्डखाद्य) जैसे वचनोंका आशय भी इस नीतिके अनुसार ही लेना चाहिये.

श्रीभास्कराचार्य, वैसे तो वैष्णव वेदान्ती रहे होंगे यह उनके—"तदेतत् सर्वं श्रुतिप्रसिद्धमेव तस्माद् न अत्र निराकरणीयं पश्यामः...अवान्तरं तु तन्त्रान्तरे विरुद्धं किञ्चिद् लक्ष्यते तत् निरस्यते"(ब्र.सू.भा. २।२।४१) इन उद्गारोंसे स्पष्ट होता है. फिरभी इतर वैष्णव वेदान्तिओंकी तुलनामें इनका पार्थक्य ये सगुण-निराकारवादी हैं, अतः श्रीशंकराचार्यकी तरह लीलार्थ या उपासकानुग्रहार्थ परिगृहीत रूपको मायिक/मिथ्या माननेको समुद्यत नहीं हैं. वे कहते हैं:—

> ...परमेश्वरस्यापि सर्वशक्तित्वाद् उपासकानुग्रहाय रूपोपादानसम्भवात्. किं मायामयं रूपं? 'न'इति ब्रूमः! पारमार्थिकमेव एतत् (ब्र.सू.भा.१।१।२०).
>
> अर्थात् परमेश्वरके सर्वशक्ति होनेके कारण उपासकोंपर अनुग्रह करनेकेलिये वह रूपधारण भी कर सकता है. क्या इसे मायामय रूप मान लेना चाहिये? हमारा उत्तर है: नहीं! यह तो पारमार्थिक रूप ही होता है.

शांकर मतकी समालोचना करते हुवे श्रीभास्कराचार्य यह भी कहते हैं कि अविद्याके कारण अन्तर्यामिसर्गको तथा प्राक्तन कर्मोंके कारण मनुष्यादि जीवसर्गको स्वीकारनेकी विचाररीति उचित नहीं है, क्योंकि अन्तर्यामी परमात्माकी नियन्तृरूपा शक्ति पारमार्थिक ही होती है. परमेश्वरकी कल्पना करनेवाला परमेश्वरसे भी पूर्वभावी ऐसा कौन हो सकता है कि जिसकी कल्पना होनेके कारण इस अन्तर्यामीको किसीके अज्ञानसे पनपी भ्रान्ति कहा जा सके! और परमात्माका सर्वज्ञ-सर्वशक्ति होना तो उपनिषदोंका घोषित सिद्धान्त ही है (द्रष्टव्य: ब्र.सू.भा. २।१।३४). श्रीभास्कराचार्य तो परमात्मा और जीवात्मा के बीच महाकाश-घटाकाशकी तरह स्वाभाविक अभेद एवं औपाधिक भेद, यों पारमार्थिक भेदाभेदघटित अंशांशिभाव स्वीकारते हैं. अतएव, निरायास ही, जीवके कर्तृत्वादि धर्मोंको पारमार्थिक, अन्तःकरणोपाधिक एवं परमेश्वराधीन भी मान लेते हैं. इनके अनुसार कर्तृत्वादि धर्मोंके औपाधिक होनेके कारण उन्हें अपारमार्थिक नहीं मान लेना चाहिये. क्योंकि जैसे करवत आदि औज़ारोंके साथ होनेपर सुतार काष्ठछेदनादि कर्मोंका कर्ता बन पाता है अन्यथा नहीं, ऐसे ही अन्तःकरणरूप उपाधिके कारण ही जीव भी कर्ता बन पाता है अन्यथा नहीं. आगके समीप होनेपर उसकी उष्णता एवं दाह हमारे शरीरमें भी संक्रान्त हो जाते हैं, इस औपाधिक उष्णता एवं दाह को कौन अपारमार्थिक मान सकता है? साथ ही साथ श्रीभास्कराचार्य यह खुलासा भी देते हैं कि विभिन्न जातिके बीजोंके अनेकविध पुष्प फल या धान्य के प्ररोहणमें वर्षाकी तरह, जीवोंके भी स्व-स्वकर्मानुसारी विभिन्न शुभाशुभ फलोंके भोगके प्रदानमें, ईश्वर भी सामान्य कारण ही होता है, विशेष नहीं. इस तरह अंशरूप जीवकर्तृत्वके ईश्वराधीन होनेपर भी जीवके शुभाशुभ कर्मोंसे अंशी ईश्वर लिप्त नहीं होता. एतावता ऐसी आपत्ति भी उठायी नहीं जा सकती कि ईश्वर अपने सभी अंशोके साथ पक्षपातरहित समान व्यवहार नहीं निभाता है; अर्थात् किसीपर अकारण प्रसन्न हो कर शुभफल प्रदान कर देता है तो किसीके प्रति अति निष्ठुर हो कर अशुभफल दे देता है.

इस अंशांशिभावकी विवेचना करते हुवे श्रीभास्कराचार्य यह भी कहते हैं कि 'अंश'पदके अनेक अर्थ होते हैं, यथा, एक तो पटके कारण होनेके अर्थमें तन्तुओंको अंश तथा पटको अंशी माना जाता है, दूसरे किसी द्रव्यराशीके विभाज्य अंशोंमें तत्तद् भागोंको लेनेवाले अधिकारिओंको भी 'अंशी' कहा जाता है. वैसे अर्थोंकी विवक्षावश यहां 'अंश'पद प्रयुक्त नहीं हुवा है; परन्तु, उल्लिखित घटाकाश-महाकाश या अग्नि-विस्फुलिंग के उदाहरणोंमें प्रयुक्त 'अंश'पदके जैसे अर्थकी विवक्षावश ही यहां 'अंश'पद प्रयुक्त हुवा है (अर्थात् घटोपाधिवश आकाशके चल पानेकी क्रिया महाकाशमें स्वीकारी नहीं जा सकती दोनोंमें रहे स्वाभाविक अभेदके बावजूद).

इस विवेचनासे यह स्पष्ट हो जाता है कि श्रीभास्कराचार्यके मतके अनुसार लीलार्थ प्रादुर्भावित सृष्टिमें अंशरूप जीवात्माके साधनानुष्ठानके साथ-साथ अंशी परमात्माके प्रकट/अप्रकट पारमार्थिक रूपके अनुग्रहकी भी आवश्यकता तो है ही.

इसके बाद, वैसे ब्रह्मसूत्रपर या श्रौत उपनिषदोंपर काश्मीरी शैव

सम्प्रदायवालोंके ग्रन्थ लिखे गये हों या नहीं; परन्तु सर्वोपनिषत्सार भगवद्गीतापर काश्मीरी शैवाचार्योंने जो व्याख्याएं लिखी हैं उनमें सम्भवतः प्राचीनतम व्याख्या शैव शुद्धाद्वैती राजानक श्रीरामकवि (वि.सं. १००६) तथा महामाहेश्वर राजानक श्रीअभिनवगुप्ताचार्य (वि.सं. ११२४) द्वारा लिखित हैं. ये क्रमशः 'सर्वतोभद्रा' तथा 'गीतार्थसंग्रह' नाम्ना प्रसिद्ध हुई हैं. अतः साधनानुष्ठान तथा परमेश्वरानुग्रह के बारेमें इनके दृष्टिकोणको भी एक बार देख लेना प्रासंगिक ही होगा.

भेदमात्रको मिथ्या माननेवाले ये दोनों विचारक परमेश्वरके लोकानुग्रहार्थ प्रकटित रूपको, जागतिक जड़जीवभेदकी तरह ही, मायिक माननेपर भी मिथ्या मानते हों ऐसा प्रतीत नहीं होता. एतदर्थ दोनोंके दो-दो वचनोंको दृष्टिगत करना पर्याप्त होगा :—

> (१) 'अजोऽव्ययात्मा' = नित्य होनेके कारण जन्मरहित होनेपर भी; तथा 'भूतानां' = सभी स्थावरजंगमोंके सर्ग-स्थिति-विनाशादिका यथेष्ट कर्ता होनेसे भी 'ईश्वरः' = समर्थ होनेपर भी. 'स्वां-प्रकृतिम्' = अद्वय चिन्मात्रलक्षण जो निज परम स्वभाव है 'अधिष्ठाय' = उसी स्वभावमें रहते हुवे, अर्थात् अपने स्वभावसे विचलित हुवे बिना, 'स्वमायया' = स्वात्माधीन माया कि जिसका प्राणभूत धर्म द्वैतका अवभासनमात्र है, ऐसी वह परमेश्वरकी हेतुभूत शक्तिविशेष है, उसके द्वारा 'संभवामि' = जन्मादिका परिग्रहण करता हूं. अतः...अपनी सर्वज्ञता या सर्वशक्तिमत्ता को खोये बिना ही... (सर्वतो. ४।६).
>
> (१) श्रीभगवान्का तो किसी भी प्रकारके शरीरसे कोई सम्पर्क हो ही नहीं सकता, क्योंकि पूर्ण ऐश्वर्य वीर्य यश श्री ज्ञान वैराग्य गुणोंसे युक्त ही सदा रहते हैं. फिरभी स्थितिकारी होनेके कारण भगवान् करुणा करके अपने अंशको सिरजते हैं...अतएव भगवान्के जन्म-कर्म दिव्य ही होते हैं, क्योंकि आत्ममायासे अर्थात् योगप्रज्ञारूप अपनी स्वतन्त्र शक्तिसे ही ये सम्पादित होते हैं कर्मसे नहीं (गी.सं. ४।६-९) .
>
> (२) अचिन्त्य निजशक्तिके माहात्म्यवश भगवान् अपने सतत चिन्मात्रस्वरूपसे प्रच्युत हुवे बिना ही जड़ और चेतन के विभागशः मानों दो रूपोंमें आभासित होते हैं. जगत्क्रीड़ाको सम्पन्न करते हैं...वस्तुतः तो परमकारणरूप परमात्मा परमेश्वरसे अभिन्न होनेपर भी भगवान्की मायाके वश मानों भिन्न हों ऐसे लगते हैं...ये दोनों जड़ और अजड़ प्रकृतियां, क्योंकि 'प्रकृति'का अर्थ स्वभाव होता है अतः, जड़ होनेके कारण विनश्वर होनेका तथा परस्पर भिन्न चेतन होनेका भी नाना रूप स्वभाव अद्वय चिन्मात्रस्वरूपका कैसे उपपन्न हो सकता है? ...संवेद्यमान होनेपर ही कोई भी भाव तत्तदात्मक हो पाते हैं. क्योंकि संवेद्यमानताके अलावा और किसी भी प्रकारान्तरसे किसी भी अवस्थामें कोई भी भाव उपलब्ध नहीं होते. इस तरह एकमात्र संवेदिता अपने संवेदनमें भावोंको सिरजता है. अतः सारे ही भाव संवेदिताके ही शक्तिरूप हैं—संवेदितासे भिन्न अन्य कुछ भी नहीं...इस तरह क्रीड़ा करनेकी इच्छावश ही, असत्यको भी सत्यकी तरह आभासित करनेवाली स्वयं देवकी मायारूपा कोई एक पारमार्थिकी परा शक्ति होती है, उसे ही जब उसके कारण 'शिवोऽहम्'का परामर्श होने लग जाये तब 'विद्या' कहा जाता है (सर्वतो. ७।४-६-१०-१४).
>
> (२) 'अहम्' पदके प्रयोगके कारण प्रकृति-पुरुष-पुरुषोत्तमसे अभिन्न होनेपर भी ईश्वर सर्वथा सर्वानुगत होकर रहता है...अतः सत्त्वरजस्तमोरूप प्राकृत गुण वस्तुतः संविन्मात्र परब्रह्मसे अतिरिक्त नहीं हैं, फिरभी जो अतिरिक्त होनेका भान होता है, वह तो गुणोंका भोक्ताके आधीन होना, अर्थात् भोग्य होना ही सिद्ध करता है. संसारी जन उस भेदात्मक रूपका निर्वचन नहीं कर पाते. अतः उन्हें वह मायारूप लगता है. जो परमार्थब्रह्मप्रकाशके वेत्ता होते हैं, उन्हें तो ब्रह्मसे अतिरिक्त विश्व दिखलायी ही नहीं देता. अतएव वे सत्त्वादि गुणोंके भेदको भासित करनेवाली मायाके उस पार पहुंच पाते हैं. 'मामेव' पदमें 'एव'कार

इसी आशयसे जोड़ा गया है (गी.सं. ७।६-१४).

यह तो इनके शुद्धाद्वैतवादी होनेके निदर्शनार्थ ही प्रमाणतया वचन उद्धृत किये हैं. प्रकृत विषय — साधनानुष्ठान तथा भगवदनुग्रह — के बारेमें राजानक श्रीरामकवि कहते हैं :—

अद्वय चिन्मात्रस्वभाव परमात्मा तत्तद् जीवात्माओंकी तत्तत् पुण्यपापात्मिका क्रियाओंका अनुष्ठाता स्वयं नहीं बनता; और न उन क्रियाओंके सुखदुःखात्मक तत्तत् फलोंका स्वयं भोक्ता ही. ऐसी स्थितिमें उस अद्वय परमात्माके न कर्ता और न कारयिता होनेपर यह जगद्व्यवहार आखिर कैसे चल पायेगा? स्वभाववश! 'स्वभाव'का अर्थ है: अचिन्त्यस्वरूपा परमात्माकी मायाशक्ति. वह नित्य है फिरभी अपना सामर्थ्य तभी तक दिखाती है, जब तक सर्वभावोंके पारमार्थिक अभेदका ज्ञान जीवात्माको हो नहीं हो पाता. स्वयं परमेश्वर अपनी मायासे मोहित हो नहीं सकता, अतः मायामूलक भेददृष्टिप्रयुक्त लौकिक कर्तृत्व-भोक्तृत्वसे परमात्मा कभी दूषित भी नहीं होता (सर्वतो. ५। १४).

इस निरूपणसे ऐसी भ्रान्ति सहज ही सम्भव है कि राजानक परमात्माको सर्वथा अकर्ता-अभोक्ता ही मानते होंगे; परन्तु वस्तुतः ऐसी बात है नहीं. क्योंकि इसी अध्यायके अन्तिम श्लोकमें इसका स्पष्टीकरण भी उपलब्ध है ही. वहां यह कहा गया है :—

यज्ञ तप आदि शास्त्रविहित अनुष्ठेय क्रियाओंके करनेवाले तत्तत् साधक अज्ञानमोहित होनेके कारण अपने-आपको इतरजीवोंसे भिन्न कर्ता मान कर तत्तत् फलोंके भोगोंकी कामनावश अपने-आपको भोक्ता भी मान लेते हैं. परमार्थविद्, परन्तु, यह अच्छी तरह जानते हैं कि वस्तुतः भिन्न-भिन्न कर्ता जब हो ही नहीं सकते, तब सभी क्रियाओंका तथा उनके फलोंका कर्ता-भोक्ता तो एकमात्र सर्वलोकमहेश्वर ही हो सकता है. यह जो कर्तृ-भोक्तृभेद दिखलायी देता है, वह तो केवल क्रीड़ा करनेकी अपनी ही इच्छाके

कारण प्रकट सर्वलोकमहेश्वरकी क्रीड़ा है. यहां किसी भी प्रकारका भेद परमार्थतः तो है ही नहीं; क्योंकि निसर्गनिर्दोष निजात्मप्रतिष्ठित परमेश्वर न तो किसीका द्वेषी और न किसीका अनुरागी ही हो सकता है.

(सर्वतो. ५।२८).

यह तो हुई साधनानुष्ठानके मूलमें विद्यमान कर्तृत्व-भोक्तृत्व धर्मोंके तात्त्विक स्वरूपकी मीमांसा, इसके बाद परमात्माके अनुग्रहका तात्त्विक स्वरूप समझनेको राजानक श्रीअभिनवगुप्ताचार्यके निरतिशय महत्त्वपूर्ण वचनोंका आशय भी हृदयंगम करने लायक है :—

पशु पक्षी सरीसृप आदि, अबोध स्त्रियां, कृषि-वाणिज्य आदि कर्मान्तरमें रत वैश्य; अथवा किसी भी प्रकारके वैदिक कर्मोंकेलिये अनधिकारी परतन्त्रवृत्ति शूद्र भी भगवान्‌का आश्रय लेकर भगवान्‌का ही यजन करते हैं. अतएव परमकारुणिक भगवान्‌के गजेन्द्रमोक्षण आदि सहस्रशः चरित्र मिलते हैं...कुछ लोग आशंका करते हैं कि "मां हि पार्थ...किं पुनर्ब्राह्मणा पुण्या" वचन ब्राह्मणोंकी प्रशंसाकेलिये कहा गया है नकि स्त्रीशूद्रादिके मोक्षाधिकारकी विवक्षावश. ये लोग परमेश्वरकी इस सर्वानुग्राहिका शक्तिको मितविषयिणी बना कर उसका खंडन करना चाहते हैं. "न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः" — "अपि चेत् सुदुराचारो" आदि अनेक इस प्रकारके स्फुटार्थ वचनोंका विरोध करते हैं, क्योंकि परमेश्वरके परमकृपालु होनेकी बात ये लोग सह नहीं पाते! किसी भी प्रकारके भेदकी सम्भावनासे रहित ऐसे भगवान्‌में हठात् भेद खड़ा करना चाहते हैं, "ऐसा कैसे हो सकता है—ऐसा तो हो ही नहीं सकता"के प्रश्नारोपोंके द्वारा! इन्हें अन्य भी अनेक आगमोंके विरोधकी परवाह ही नहीं है!! अनेकविध मात्सर्य अहंकार लज्जा और पाषंड के कारण अपने सिर-आंखोंको नीचे झुका कर सारे जगत्‌के सामने असत्प्रलाप करते रहनेवाले सचमुचमें अपनेको हास्यरसका विषय बना देते हैं!!!

इस तरह हमने देखा कि काश्मीर शैव आचार्योंके अनुसार साधनानुष्ठान तथा भगवत्कृपा का वास्तविक स्वरूप क्या है.

इसके बाद श्रीरामानुजाचार्यके मतका अवगाहन क्रमप्राप्त होता है. इनके मतके अनुसार जैसे ज्ञातृत्व धर्म जीवात्मामें स्वभाविक होता है वैसे ही कर्तृत्व धर्म भी स्वाभाविक ही होता है. कर्तृत्वको स्वाभाविक नहीं मानते तो 'कुर्यात्'-'न कुर्यात्'के शास्त्रीय विधि-निषेध अर्थहीन सिद्ध हो जायेंगे. अस्वाभाविक कर्तृत्वकी धारणाका प्रत्याख्यान करनेकेलिये श्रीरामानुजाचार्य कई शास्त्रवचनोंके उद्धरणद्वारा शंका-समाधान प्रस्तुत करते हैं. उनमें प्रमुख वचन इस तरह हैं:—

(१) प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।
अहंकारविमूढात्मा 'कर्ताहम्'इति मन्यते॥
(भ.गी. ३।२७).

(२) कार्यकारणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते।
पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते॥
(भ.गी. १३।२१).

(३) नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति।
(भ.गी. १४।१९).

(४) अधिष्ठानं तथा कर्ता करणञ्च पृथग्विधम्।
विविधा च पृथक् चेष्टा दैवं चैवात्र पञ्चमम्॥
तत्रैवं सति कर्तारमात्मानं केवलं तु यः।
पश्यत्यकृतबुद्धित्वान्न स पश्यति दुर्मतिः॥
(भ.गी. १८।१४-१६).

इनमें प्रथम वचनका आशय श्रीरामानुजाचार्यके अनुसार यों है: प्रकृतिके सत्त्व-रजस्-तमोगुणोंके साथ जुड़े संसर्गके कारण जीवात्मा सांसारिक प्रवृत्तिओंमें कर्तृतया लिप्त होती है—अपने स्वरूपगत किसी हेतुके वश नहीं (द्रष्टव्य: ब्र.सू. भा. २।३।३३-३९). द्वितीय वचनमें विवक्षित आशय यह है: पुरुषाधिष्ठित प्रकृतिके बनाये हुवे 'कार्य'=शरीर तथा 'कारण'=समनस्क-ज्ञानेन्द्रिय-कर्मेन्द्रिय ही तत्तद् अर्थक्रियाओंको निभा पाते हैं. एतावता जीवात्मा/पुरुष स्वरूपतः अकर्ता है कहना अभिप्रेत नहीं है. प्रकृतिसंसृष्ट पुरुष सुखदुःखोंके अनुभवका आश्रय बनता है. एतावता जीवात्मा/पुरुष स्वरूपतः अनुभूतिधर्मा नहीं यह कहना अभिप्रेत नहीं है (स्पष्ट है कि प्रस्तुत वचनको पुरुषके कर्ता न होनेमें प्रमाणतया

उद्धृत करनेपर इसी वचनवशाद् भोक्तृत्वधर्मको पुरुषका स्वाभावनियत धर्म स्वीकारना पड़ेगा, वह भी ऐसा कि जिसका मुक्तिमें भी अभाव सिद्ध न हो. द्रष्टव्य: भ.गी.भा. १३।२१). तृतीय वचनका अभिप्राय यह है कि स्वभावतः वैसे तो जीवात्मा परिशुद्ध ही होती है फिरभी पूर्वजन्मोंमें अनुष्ठित कर्मोंके कारण उसे प्राकृत सत्त्वादि गुणोंका संग होता है, जिसके कारण विविध शुभाशुभ कर्मोंमें उसे लिप्त होना पड़ता है. इन कर्मोंका कर्ता जब जीवात्मा अकेले अपने-आपको नहीं मानती तब जीवात्मा परमात्माके समान हो पाती है (भ.गी.भा. १४।१९). चतुर्थ वचनके आद्य श्लोकपरके गीताभाष्यमें श्रीरामानुजाचार्य कहते हैं: कर्महेतुओंके कलापमें पांचवां स्वयं परमात्मा है. वही कर्मको निष्पन्न करनेमें प्रधान हेतु बनता है. जैसा कि कहा गया है—"सभीके हृदयमें मैं संनिविष्ट हूं और मेरे ही कारण स्मृति, प्रत्यक्ष अनुमिति शाब्दानुभूति, ज्ञाननिवृत्ति या प्रमाणानुग्राहक ऊह भी कोई कर पाता है."—"सभी प्राणियोंके हृदयमें बिराजनेवाला ईश्वर अपनी मायासे उन यन्त्रारूढसे प्राणियोंको चलाता रहता है". सुस्पष्टतया स्वयंको ही केवल कर्ता मान लेनेकी जीवात्माकी मतिका ही यहां भ्रान्तिके रूपमें निरूपण किया गया है (पांच लोगोंने आपसी मेलजोलसे कोई काम किया हो उसके बनने या बिगड़ने पर उस कार्यका श्रेय या अपराध कोई अकेले अपना या किसी दूसरेका मान बैठे, वैसी ही कुछ गड़बड़ यहां भी मानी गयी है). ऐसी स्थितिमें अधिष्ठानसे शुरु करके दैव पर्यन्त समूहावलम्बी कार्यकारित्व है, उसे केवल आत्मनिष्ठ मान लेना निरा भ्रम नहीं तो और क्या माना जा सकता है? (द्रष्टव्य: ब्र.सू.भा. २।३।३३).

अन्तःकरणोपहित या अविद्योपहित चैतन्यके ही कर्ता बन सकनेकी शांकर धारणाका प्रत्याख्यान करनेको "समाध्यभावाच्च" (ब्र.सू.भा. २।३।३८)में श्रीरामानुजाचार्य कहते हैं कि जीवात्माके कर्तृत्वको स्वाभाविक न माननेपर मोक्षोपायोंका कर्ता भी जीवात्मा न होकर अन्तःकरण या अज्ञान रूप उपाधि ही कर्ता बनेंगी. फिरतो मुक्त भी वे उपाधि ही होंगी जीवात्मा नहीं.

जीवके मायोपाधिक कर्तृत्व धर्मकी विवेचनाकेलिये श्रीशंकराचार्यने जो एक स्वतन्त्र अधिकरण रचा वहां यह कहा गया था:—

यदि जीवात्मामें स्वाभाविक कर्तृत्व हो तो फिर

उसका मुक्त हो पाना अशक्य हो जायेगा. क्योंकि अग्निका उष्ण होना जैसे स्वभावनियत है, वैसे ही कर्ता होना जीवका भी यदि स्वभावनियत ही हो तो, वह कर्तृत्व जीवके मुक्त होनेपर भी कायम रहेगा. ऐसी स्थितिमें यह भी तो कहा नहीं जा सकता कि अग्निकी स्वाभाविक दाहकशक्तिके रहनेपर भी दाह्य वस्तु तृण-काष्ठादि निमित्तोंके उपलब्ध न रहनेपर अग्निद्वारा जैसे दहनक्रिया सम्पन्न नहीं हो पाती, वैसे ही स्वाभाविक कर्तृत्वके बचे रहनेपर भी ब्रह्मज्ञानसहित कर्तृत्वके कारण शुभाशुभ कर्मोंके परिहारद्वारा शुभाशुभ फलोंके भोगसे मुक्तात्मा भी ग्रस्त नहीं हो पायेगी. क्योंकि कर्तृत्वरूप शक्तिमान् निमित्तके रहनेपर उसकेलिये कार्यरूप शक्य भी अवश्य ही प्रकट होगा. अतएव मोक्षोपायोंके अनुष्ठानकेलिये भी कर्तृत्वकी अपेक्षा स्वीकारी नहीं जा सकती, क्योंकि स्वयं अनित्य कर्मोंको यदि मोक्षोपाय मानते हैं तो "अनित्यसे नित्यकी उत्पत्ति होती है" ऐसा वदतोव्याघात प्रकट होगा. इससे सिद्ध होता है कि शास्त्रविधिकी सार्थकताकेलिये जिस कर्तृत्वको स्वीकारना पड़ता है, वह चेतनाका स्वभावनियत धर्म न होकर अज्ञानप्रयुक्त धर्म है; और इसी अज्ञानप्रयुक्त धर्मको लेकर ही शास्त्र भी विधि-निषेध करते रहते हैं: "तस्माद् अविद्याकृतं कर्तृत्वम् उपादाय विधिशास्त्रं प्रवर्तिष्यते" (ब्र.सू.भा. २।३।४०).

इसका प्रत्युत्तर देते हुवे श्रीरामानुजाचार्य कहते हैं कि यह आवश्यक नहीं कि अनौपाधिक कर्तृत्व स्वीकारनेपर मुक्तावस्थामें भी कर्तृत्वप्रयुक्त शुभाशुभ कर्म और उनके फलोंका उपशमन ही न हो पायेगा. वाक् चक्षु कर चरण आदि करणोंसे सम्पन्न होनेपर भी जीवात्मा जब इच्छा हो तभी बोलने देखने लेने चलने आदिकी क्रियाओंको अपनाती है. सुतार भी करवत आदि उपकरणोंके उपलब्ध होनेपर भी इच्छानुसार ही काष्ठछेदनादि व्यापार करता है, अन्यथा नहीं. यह इच्छारूप व्यापार कोई भी अचेतन उपाधिद्वारा तो सोचा ही नहीं जा सकता.

इस कर्तृत्वको जीवका स्वाभाविक धर्म माननेपर भी परानिर्भर

धर्म नहीं माना गया है, क्योंकि कर्तृत्वके मूलमें रहे स्मृति-अनुभव-अज्ञानादि सभी कुछ जब जीवके भीतर विद्यमान अन्तर्यामीके आधीन हैं तो केवल कर्तृत्व स्वतन्त्र धर्म कैसे रह पायेगा? एतावता विधि-निषेधोंके उपदेशक शास्त्रोंके व्यर्थताकी आशंका भी उठायी नहीं जा सकती. उदाहरणतया किन्हीं दो जनोंकी साझीदारीवाले द्रव्यको कोई एक व्यक्ति दूसरे व्यक्तिकी अनुमति बिना किसी तीसरे व्यक्तिको दानके रूपमें दे नहीं सकता है. फिरभी दूसरेकी अनुमतिको पाकर भी किये हुवे दानका फल तो धनदाताको ही मिलता है अनुमतिदाताको नहीं. उन्निनीषा या अधोनिनीषा के वश साधु या असाधु कर्म करानेवाले परमात्माको पक्षपाती या निर्दय मान लेना भी अविचारितरमणीय है, क्योंकि इस वचनमें सर्वजीवसाधारणी उन्निनीषा या अधोनिनीषा विवक्षित नहीं है. इस वचनमें उन असाधारण जीवात्माओंके उन्निनीषा या अधोनिनीषा की बात कही जा रही है जो या तो परमात्माके अतिशय अनुकूल हैं या अतिशय प्रतिकूल. अतिशय अनुकूल जीवोंपर अनुग्रह करके परमात्मा उन्हें अपनी प्राप्तिके अतिकल्याणकारी उपायोंमें ही रुचि जगाता है. इसी तरह अतिशय प्रतिकूल जीवोंमें अपनी प्राप्तिके विरोधी अधोगतिकी ओर ले जानेवाले कर्मोंमें रुचि पैदा कर देता है. यही बात भगवान्ने गीताके इन श्लोकोंमें कही है:—

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते।
इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः॥
तेषां सतत-युक्तानां भजतां प्रीति-पूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥
तेषामेवानुकम्पार्थम् अहमज्ञानजं तमः।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता॥
(भ.गी. १०।८-११).

असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम्।
ममात्मपरदेहेषु प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयकाः॥
तानहं द्विषतो क्रूरान् संसारेषु नराधमान्।
क्षिपाम्यजस्रमशुभामासुरीष्वेव योनिषु॥
(भ.गी. १६।८-१८-१९).

इस ईश्वराधीन स्वाभाविक जीवकर्तृत्वद्वारा प्रयुक्त कर्मोंको कर लेनेपर केवल उन क्षणप्रध्वंसी कर्मोंके वश ही फलप्राप्ति हो जाती

हो, ऐसा श्रीरामानुजाचार्यका अभिप्राय नहीं है. वे कहते हैं कि न केवल परमात्माके उपासकोंको स्वप्राप्तिरूप विशिष्ट फल; अपितु सामान्य ऐहिक या आमुष्मिक फल भी, परमात्माद्वारा ही मिलता है (द्रष्टव्य : ब्र.सू.भा. ३।२।३७).

शैव विशिष्टाद्वैतवादी श्रीकण्ठ शिवाचार्य तथा शैव विशेषाद्वैतवादी श्रीपति भगवत्पादाचार्य दोनों ही, ब्रह्मसूत्रके इन अधिकरणोंमें , थोड़े-बहुत अन्तरसे श्रीरामानुजाचार्यकी निरूपणशैलीको ही अपना कर चले हैं. इनके मतकी, अतः, पृथक् विवेचना आवश्यक नहीं है. इस तरह रामानुजीय वेदान्तके अनुसार साधनानुष्ठान तथा भगवदनुग्रह का स्वरूप क्या है, यह समझ लेनेके बाद, अब श्रीमध्वाचार्यका इस विषयमें क्या अभिप्राय है, यह देखनेकेलिये उद्यत होना चाहिये.

श्रीमध्वाचार्याभिमत द्वैतवादके अनुसार सर्वप्रथम दो प्रकारके प्रमेय होते हैं: स्वतन्त्र और परतन्त्र. निर्दोष अखिलसद्गुण भगवान् विष्णु स्वतन्त्र प्रमेय हैं. परतन्त्र प्रमेय पुनः दो प्रकारोंका होता है: द्विविध भाव और त्रिविध अभाव. इनमें भाव पुनः चेतन और अचेतन के भेदवशात् द्विविध होता है. इसी तरह दुःखस्पृष्ट और दुःखास्पृष्ट के भेदवश चेतनके भी दो प्रकार होते हैं. रमा सर्वथा दुःखोंसे असंस्पृष्ट ही रहती हैं. अन्य दुःखस्पृष्ट चेतनोंके दुःखविमुक्त और दुःखसंस्थ ऐसे दो प्रकार होते हैं. दुःखसंस्थोंके पुनः दो प्रकार होते हैं: मुक्तिके योग्य अथवा अयोग्य. मुक्तियोग्योंके पांच प्रकार होते हैं: देव ऋषि पितर चक्रवर्ती और सत्पुरुष. इन विषयोंका सांगोपांग विचार 'तत्त्वसंख्यान' एवं 'तत्त्वविवेक' नामक ग्रन्थोंके अवलोकन करनेपर स्फुट हो सकता है.

इन परिसंख्यात तत्त्वोंमें पञ्चविध भेदोंका अपलाप सृष्टि मुक्ति या प्रलय किसी भी कालमें शक्य नहीं है. ये पञ्चविध भेद इस तरह माने गये हैं:—

(१) एक अचेतन वस्तु का दूसरी अचेतन वस्तु से भेद
(२) एक चेतन जीव का दूसरे चेतन जीव से भेद
(३) सकल अचेतन वस्तुओंका सकल चेतन जीवोंसे भेद
(४) सकल अचेतन वस्तुओं का नारायण से भेद
(५) सकल चेतन जीवों का नारायण से भेद

इस तरह पञ्चविध भेदात्मिका इस सृष्टिमें परमात्मा और जीवात्मा

के बीच स्वरूपतः अभेद या भेदाभेद भी हो ही नहीं सकता (द्रष्टव्य : अनुव्या. २।३।४३). अतएव जीवको जो 'अंश' कहा जाता है वहां भी यह ज्ञातव्य है कि स्वांश और विभिन्नांश के भेदवशात् भगवदवतारोंको स्वांश समझना चाहिये; परन्तु जीवात्मा तो विभिन्नांश ही होती हैं. कतिपय गुणोंके साम्यवश कहीं अभेद दिखलाया भी गया हो तो भी कदापि स्वरूपैक्य तो सम्भव ही नहीं है (द्रष्टव्य : ब्र.सू.भा. २।३।४७). ऐसी सृष्टिकी रचना परमात्मा किसी भी तरहके प्रयोजनकी पूर्तिकेलिये नहीं करता है. यह सृष्टि तो परमात्माकी केवल लीला ही है. अतएव परमात्माने इस सृष्टिको लीलारूप प्रयोजनकी पूर्तिकेलिये प्रकट किया है, ऐसी धारणा भी अप्रामाणिक ही है. मुक्त होनेपर, यदि, जीवात्मा भी आप्तकाम बन जाती हों तो परमात्मामें किस तरहकी न्यूनता सोची जा सकती है कि जिसे पूर्ण करनेको उसे सृष्टि रचनी पड़े! अतः जैसे लोकमें आनन्दके आवेशातिरेकमें व्यक्ति नाचने-गाने लग जाता है, ठीक वैसे ही पूर्णानन्दस्वरूप परमात्मा भी अपने स्वभाववश ही सृष्टिकी रचना करता है (द्रष्टव्य : ब्र.सू.भा. २।१।३३-३४). पूर्णानन्दके निजस्वभाववश प्रकट इस जगत्में पूर्ण आनन्दके बजाय जो सुख-दुःख राग-द्वेष शोक-मोह जन्म-मरण के अनेकविध द्वन्द्व दिखलायी देते हैं, उन्हें भी परमात्मा अनादि कालसे चलते आ रहे कर्मक्रमवशात् प्रकट करता है. इस सृष्टिके अन्तर्गत देवताओंमें आनन्द ज्ञान एवं बल नित्य होते हैं, दानवोंमें अज्ञान एवं दुःख नित्यनियत होते हैं; तथा मनुष्योंमें आनन्द ज्ञान एवं बल कभी होते हैं और कभी नहीं. इन तीनोंमें यदा-कदा अन्यथा जो कुछ दिखलायी देता है, उसे औपाधिक समझ लेना चाहिये. जीव अपने सदसत् कर्मोंसे परमात्माको प्रसन्न करके ज्ञानी-अज्ञानी आनन्दी-निरानन्दी या बलवान्-निर्बल बन पाता है. यह कर्मसामर्थ्य जीवात्माके भीतर मुक्तावस्थामें भी विद्यमान रहती है. सुरूप सुगन्ध सुस्वर के ही देखने सूंघने सुनने की कामना रखनेवाला जीव परतन्त्र होनेके कारण जैसे सर्वदा निजकामानुसारी सफल भोक्ता नहीं बन पाता, वैसे ही कर्ता भी नहीं बन पाता है. उसके भीतर बैठा अन्तर्यामी उसे यथाधिकार फल देता रहता है. जैसे सुतार आदि कारीगरोंसे धनवान् व्यक्ति धन दे कर अपना काम करवाते हैं, इस उदाहरणमें सुतार आदि कारीगर कर्ता माने जाते हैं तथा धनिक व्यक्ति कारयिता, इसी तरह जीव भी एक ऐसा पराधीन

कर्ता है कि जिसका अपराधीन कारयिता परमात्मा होता है. सुतार आदि कारीगरों और धनिकों के लौकिक उदाहरण तथा जीवात्मा और परमात्मा के वास्तविक सम्बन्धमें एक उल्लेखनीय अन्तर यह तो है ही कि एक धनिक निजधनसे कारीगरके कर्तृत्वका परिक्रय करता है — कारीगरको कर्तृत्व प्रदान नहीं करता, क्योंकि वह तो कारीगरका पूर्वसिद्ध ही होता है. वह परिक्रेता धनिकसे अतिरिक्त भी किसीके आधीन होकर या स्वतन्त्रतया भी अपने कर्तृत्वको प्रयोगान्वित कर सकता है. ईश्वरसे अपराधीन जीवका कर्तृत्व, जबकि, सम्भव ही नहीं, क्योंकि शास्त्रमें कहा गया है कि कर्तृत्व करणत्व स्वभाव चेतना धृति परमात्माके प्रसादसे ही सम्भव हैं अन्यथा नहीं (द्रष्टव्य : ब्र.सू.भा. २।३।३२-४२).

कर्मफलमीमांसामें श्रीमध्वाचार्यका कहना है कि कर्म तो अचेतन होनेके कारण स्वतः तो फलदान कर नहीं सकता, अतः ईश्वरको ही कर्मफलोंका दाता स्वीकारना चाहिये. यों तो परमात्मा और कर्म दोनों फलप्राप्तिके कारण हैं, फिरभी कर्म स्वयं कर्ताको प्रवर्तित नहीं कर सकता, जबकि परमात्मा तो प्रवर्तक भी होता है और कारण भी (द्रष्टव्य : ब्र.सू.भा. ३।२।३९-४२).

परमात्माके साक्षात्कारके बारेमें यह समझ लेना आवश्यक है कि वह तो जीवकी साधनशक्तिसे शक्य उपलब्धि ही नहीं है, क्योंकि परमात्माका साक्षात्कार तो स्वयं उसके प्रसादके कारण ही सम्भव है (द्रष्टव्य : ब्र.सू.भा. ३।२।२३).

इस तरह हमने देखा कि श्रीमध्वाचार्यके द्वैतवादी वेदान्ती होनेके कारण भगवत्कृपाकी आवश्यकतापर भार देना तो आवश्यक था ही; परन्तु जीवात्माके कर्तृत्व और तन्मूलक साधनानुष्ठानकी सफलताको भी ईश्वराधीन मानना द्वैतवादमें उल्लेखनीय महत्त्वकी बात है.

वेदान्तके अनेकविध सम्प्रदायोंमें श्रीविज्ञान भिक्षुद्वारा प्रवर्तित विचाररीतिकी असाधारण महत्ताको यदि एक शब्दमें प्रकट करनेको कोई कहे तो, मेरी समझके अनुसार, वह शब्द है : 'आधार-कारण'. श्रीविज्ञानभिक्षुपूर्व ईश्वरवादी दर्शनोंमें कार्य-कारण-भावके स्वरूपके बारेमें अनेकविध धारणायें प्रचलित थी. ब्रह्मको अभिन्ननिमित्तोपादान कारण एवं जगत्को ब्रह्मपरिणाम-ब्रह्मकृतिजन्य माना गया था, चित्रपट या चित्रभित्ति की तरह अद्वय चिन्मात्र परमशिवपर स्वयं शिवकी ही संकल्पशक्तिकी

तूलिकासे जगत्को चित्रितवत् भी माना गया, ब्रह्मको उपादान-कारण एवं जगत्को जीवके प्राक्कर्मोंका विपाक भी माना गया, ईश्वरको जगत्का केवल निमित्त-कारण या कर्ता भी माना गया था; अथवा कार्य-कारण-भावरहित केवल मिथ्या कार्यारोपका पारमार्थिक अधिष्ठान भी माना ही गया था.

वैसे तो सामान्य कार्य-कारण-भावोंकी विवेचनाके प्रसंगमें योगसूत्रभाष्यकारका प्रस्तुत श्लोक भी दर्शनशास्त्रके इतिहासमें एक अपना अलग महत्त्व रखता ही है :—

उत्पत्ति-स्थित्य-ऽभिव्यक्ति-विकार-प्रत्यया-ऽप्तयः।
वियोगा-ऽन्यत्व-धृतयः कारणं नवधा स्मृतम्॥
(पा.सू.भा. २।२८)

इन सभी प्रकारोंको सोदाहरण समझना हो तो भाष्यावलोकन ही उपयुक्त रहेगा. प्रस्तुत सन्दर्भमें, हमारेलिये तो, यही केवल अवधेय है कि द्वितीय स्थाप्य-स्थापक-भावरूप एवं अन्तिम विधार्य-विधारक-भावरूप जो कार्य-कारण-भाव स्वीकारे गये हैं, श्रीविज्ञान भिक्षु, वैसे स्थितिकारण या धृतिकारण होनेके रूपमें ब्रह्मको 'आधारकारण' नहीं कह रहे हैं.

उदाहरणतया : स्वस्थितिकारण भोगापवर्गरूप पुरुषार्थोंके हमारे साथ विद्यमान रहते, मन भी विद्यमान रहता ही है, अन्यथा नहीं. अथवा जैसे हमारी इन्द्रियोंको शरीर धारण करता है; एवं स्वयं उस शरीरको पञ्चमहाभूत धारण करते हैं, ब्रह्म जगत्का वैसा आधार नहीं है. क्योंकि स्थितिकारणका अधिकरण होना आवश्यक नहीं है, जबकि आधारकारणका अधिकरण होना आवश्यक है ही. इसी तरह धृतिकारणका अविकारी होना आवश्यक नहीं है, जबकि आधारकारणकेलिये तो वह आवश्यक है ही. वैसे तो नैयायिकोंने भी समवायी और असमवायी से विलक्षण कार्यमात्रके प्रति एक साधारण निमित्त-कारणके रूपमें ईश्वरको स्वीकारा तो अवश्य था, फिरभी दण्डचक्रादिसाधारण निमित्तकारणतासे भी इस आधारकारणताको पृथक्तया समझना आवश्यक है.

क्योंकि भिक्षुवेदान्तने ही, इदंप्रथमतया, इन सारी धारणाओंसे अलग हट कर इस आधार-कारणकी धारणा प्रस्तावित की है, अतः स्वयं उनके ही शब्दोंमें इस सुपरिभाषित आधार-कारणको जान लेना उचित होगा : "जैसे आकाशमें आश्रित मृत्तिका घटाकारेण परिणत होती है वैसे ही, किसी भी कार्यका उपादान-कारण जहां संयोग स्वरूप

या आधेयता सम्बन्धवशात् अविभक्त एवं आश्रित होकर कार्याकारेण परिणत होता हो उसे 'अधिष्ठानकारण' या 'आधारकारण' कहते हैं" (द्रष्टव्य : ब्र.सू.भा. १।१।२). श्रीविज्ञानभिक्षुके अनुसार ऐसा आधारकारणरूप ब्रह्म निरुपाधिकतया न तो जगत्का परिणाम्युपादान है, न कर्ता; और न विवर्तोपादान ही. अन्यथा मायोपाधिके वश तो वह सभी कुछ बन सकता है और बना भी है ही. पुनश्च यहां मायाको उपाधि माननेके कारण जड़-चेतन सृष्टिका मिथ्यात्व श्रीविज्ञान भिक्षुको अभिप्रेत है, ऐसी वैचारिक धांधली नहीं करनी चाहिये. समवायसम्बन्धसे जहां कार्य-कारणका अविभाग हो वहां उसे विकारी कारण समझा जाता है. ऐसे समवायसम्बन्धसे जो एक विकारी कारण होकर जिस किसी दूसरे अविकारी आधारमें अविभक्ततया आश्रित हो तो उस दूसरे अविकारीको 'आधारकारण' कहा जाता है. सृष्टिसे पूर्व और बादमें भी नित्य अविकारी ब्रह्ममें प्रकृति-पुरुष इसी तरह अविभक्ततया आश्रित रहते हैं. अतः अविकारी ब्रह्म जगत्का आधारकारण है तथा विकारी प्रकृति समवायी कारण. इस विषयमें श्रीविज्ञानभिक्षुके ये वचन अवलोकनीय हैं :—

> अस्य जगतो नामरूपाभ्यां व्याकृतस्य चेतनाचेतनरूपस्य प्रतिनियत-देशकाल-संस्थान-व्यापारादि-मतो अचिन्त्य-रचनात्मकस्य जायते अस्ति वर्धते विपरिणमते अपक्षीयते विनश्यति इत्येवंरूपं जन्मादिषट्कं यतः परमेश्वराद् अन्तर्लीन-प्रकृतिपुरुषाद्यखिल-शक्तिकात् स्वतः चिन्मात्राद् विशुद्ध-सत्त्वाख्य-मायोपाधिकात् क्लेशकर्मविपाकाशयैः अपरामृष्टात् चेतनविशेषाद् भवति आकाशादिव च वायुः, महाजलादिव च पृथिवी, पृथिव्या इव स्थावरजङ्गमादिकं तद् ब्रह्म (ब्र.सू.भा. १।१।२).

साथ ही साथ भिक्षुवेदान्तमें प्रतिशरीरमें भिन्न-भिन्न जीवात्मा मानी गयी हैं. जीवात्माको विभुपरिमाण स्वीकारनेके बावजूद परमात्माका अंश भी स्वीकारा गया है. यह अंशत्व 'महाकाश-घटाकाश'न्यायसे औपाधिक नहीं; प्रत्युत 'अग्नि-विस्फुलिंग'न्यायसे वास्तविक ही स्वीकारा गया है. विभुत्व तथा अंशत्व जैसे धर्मोंके परस्पर विरोधाभासके उपशमनकी भी भिक्षुशैली विलक्षण ही है. श्रीविज्ञान भिक्षु कहते हैं : जीवात्माको परमात्माका अंश माने बिना "नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानाम् एको बहूनां यो विदधाति कामान्"—"द्वा सुपर्णा सयुजा"—"ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः" जैसे श्रुति-स्मृति-वचनोंमें निरूपित भेद; अथवा "स ब्रह्मा स शिवः"— "मनसैवानुद्रष्टव्यम्"—"एकधैवानुद्रष्टव्यम्" जैसे श्रुतिवचनोंमें निरूपित अभेद यों दोमेंसे किसी एकके साथ तो अन्याय हो ही जाता है. अतः जीवात्मा और परमात्मा के बीच भेदाभेदको स्वीकारना श्रुत्याशयके प्रति सच्ची निष्ठाका निर्वाह है (द्रष्टव्य : ब्र.सू.भा. २।३।४३).

परस्पर विरुद्ध होनेसे भेदाभेदके समुच्चयके स्वतोव्याहत होनेकी शंका भी उचित नहीं है, क्योंकि अन्योन्याभावरूप भेदका अविभागरूप अभेदके साथ किसी भी तरहका विरोध हो ही नहीं सकता. इसी तरह विभाग-अविभागरूप भेदाभेदका भी परस्पर विरोध होता नहीं है.

भगवान् विष्णुके अंशावतारोंमे भी शास्त्रनिरूपित अंशत्व-विभुत्व दोनों ही जैसे होते हैं, जीवात्माके भेदाभेदप्रयुक्त अंशत्व और विभुत्व वैसे नहीं होते, क्योंकि भगवान् विष्णु और उनके अवतारों में तो अखण्ड स्वरूपैक्य होता है. अतः अवतारोंमें अंशत्व लीलार्थ परिगृहीत तनुत्वोपाधिक ही 'घटाकाश-महाकाश'न्यायेन होता है. जीवात्मा और परमात्मा के बीच अंशांशिभाव वैसा गौण नहीं प्रत्युत मुख्य ही होता है. आकाश, जैसे, अंश होनेपर भी विभु सर्वगत ही होता है वैसे ही जीवात्माके बारेमें भी समझ लेना चाहिये. यह अंशत्व, शरीरके अवयव करचरणमस्तककी तरह, परमात्माका अवयव होना नहीं है प्रत्युत "परमात्माके सजातीय होनेके साथ-साथ सृष्टिसे पूर्व परमात्मासे अविभक्त होना है" (द्रष्टव्य : ब्र.सू.भा. २।३।४३).

भिक्षुवेदान्तप्रक्रियाकी इन सर्वथा मौलिक एवं अवश्यज्ञातव्य धारणाओंको जान लेनेके बाद अब साधनानुष्ठान एवं भगवदनुग्रह के तुलनात्मक स्वरूपकी मीमांसा सुखेन शक्य बन पायेगी.

"रथ जा रहा है" शब्दप्रयोगमें जैसे गमनक्रियामें रथके कर्ता होनेकी अर्थप्रतीति होती है, क्या वैसी ही अर्थकल्पना शास्त्रके भी उन सभी वचनोंमें स्वीकार लेनी चाहिये जिन वचनोंमें जीवका कर्ता होना वर्णित है? श्रीविज्ञान भिक्षुका उत्तर है : नहीं! क्योंकि रथ तो जड़ होता है परन्तु जीव तो चेतन होनेके कारण स्वयं भी कर्ता बन सकता है. यह और बात है कि उसका कर्तृत्व सर्वथा अपराधीन

नहीं होता. उदाहरणतया रथमें जुतनेवाले घोड़ेको सारथीके हाथोंमें रही लगाम और चाबुक द्वारा दिये जाते निर्देशोंके आधीन होकर ही चलना पड़ता है; परन्तु कोई पालतु घोड़ा जब रथमें जुता हुवा नहीं होता तब स्वेच्छया भी चल तो सकता ही है. इसी तरह परमात्माकी अनुज्ञासे जीव भी अपनी कर्तृत्वशक्तिको प्रयोगमें लाता ही है. "ज्ञानतः या अज्ञानतः मानव जो कुछ करता है वह सब मूलमें तो अपनी योगमाया शक्तिद्वारा भगवान्का ही किया हुवा होता है" ऐसे अनेक शास्त्रवचनोंका वास्तविक अभिप्राय यही है कि जीव स्वतन्त्र कर्ता नहीं है—ईश्वराधीन कर्तृत्ववान् ही है. अन्यथा सारे के सारे शास्त्रीय विधि-निषेध निरर्थक सिद्ध हों जायेंगे. जीवको कुछ भी करनेकी आवश्यकता न हो अर्थात् सब कुछ परमात्मा ही करता हो तो ऐसे अनावश्यक कर्मोंके विधान करनेवाले शास्त्रका प्रामाण्य भी सिद्ध नहीं हो पायेगा. निष्ठुर और पक्षपाती होनेका आरोप भी परमात्मापर लग जायेगा. यथाशास्त्र कर्मके अनुष्ठान करनेपर भी कभी कर्मफलके दृष्टिगत न होनेपर ईश्वरके अननुग्रहकी बात या कर्मवैगुण्यकी बात तो सोची जा सकती है परन्तु जीवके सर्वथा अकर्ता होनेकी नहीं. अतः जीव कर्ता तो है परन्तु अपराधीन कर्ता नहीं (द्रष्टव्य : ब्र.सू.भा. २।३।३३).

जैसे चैतन्य जीवका, या उष्णता अग्निका, नित्यसिद्ध स्वाभाविक धर्म है, कर्तृत्व वैसा धर्म नहीं है. विषयके अभावमें, क्योंकि, चैतन्यस्वभाव होनेपर भी ज्ञानका पैदा न होना एक बात है; और विषयके सद्भावमें भी कर्तृत्व प्रकट न करना दूसरी बात है. इससे सिद्ध होता है कर्तृत्व जीवका अन्तःकरणोपाधिक धर्म है. यह बुद्धिरूप लगाम ईश्वरके हाथोंमें रहती होनसे जीवका कर्तृत्व सर्वदा ईश्वराधीन ही होता है. इस अर्थमें जैसे जीव देहेन्द्रियादिकेलिये आत्मा होता है वैसे ही ईश्वर जीवकेलिये आत्मा होता है—जीवका चेतयिता कारयिता और अध्यक्ष (द्रष्टव्य : ब्र.सू.भा. २।२।३६-४१). ब्रह्म, जैसे, जगत्के जन्मादिका हेतु है, वैसे ही जीवात्माओंको भोग-अपवर्गरूप फलका भी प्रदाता वही है. लोकमें भी जैसे किसी सेवककी सेवासे रुष्ट या तुष्ट राजा ही दण्ड या फल देता है—सेवारूप क्रिया नहीं. वैसे ही ईश्वर ही हमारे कर्मोंसे रुष्ट या तुष्ट होकर हमें तत्तत् फल देता है—हमारे सदसत् कर्म स्वयमेव नहीं. शास्त्रोंमें जो विभिन्न देवोंका विभिन्न कर्मोंके

फलदाताके रूपमें निरूपण हुवा है, वह भी अन्तर्यामी परमेश्वरद्वारा उन्हें प्रदत्त तत्तद् अधिकार और प्रेरणा के अनुसार केवल नियतफलदानके सामर्थ्यकी विवक्षासे ही किया गया जानना चाहिये. अतः हमारे कर्मकर्तृत्वकी तरह देवताओंका फलदातृत्व भी परमेश्वराधीन ही होता है.

कर्मोंसे रुष्ट या तुष्ट होकर जो फलदान परमेश्वर करता है उसमें घटोत्पत्तिके उदाहरणमें दण्ड-चक्रकी तरह कर्म और परमेश्वर क्या परस्पर सहकारी कारण हैं या एक मुख्य कारण और दूसरा गौण? श्रीविज्ञान भिक्षुका कहना है कि क्षेत्रज्ञकी तरह कर्म भी परमेश्वरकी एक शक्ति है. अतः परमेश्वरकी तुलनामें कर्मको प्रमुख फलदाता माना नहीं जा सकता है (द्रष्टव्य : ब्र.सू.भा. ३।२।३८).

"लोकवत्तु लीलाकैवल्यम्" (ब्र.सू. २।१।३२)में यह कहा गया है कि जैसे विशुद्धसत्त्ववाले जीवोंकेलिये दुःखाभाव तथा सुख का सम्पादन पुरुषार्थरूप होता है वैसे ही निजभक्तोंपर अनुग्रहरूपा केवल क्रीड़ा भी स्वतःपुरुषार्थरूपा हो सकती है, अर्थात् निज किसी भी प्रयोजनकी पूर्तिकी अपेक्षासे सर्वथा रहित, परमेश्वरने इस समग्र सृष्टिका निर्माण जीवोंके प्राक्तन कर्मोंके अनुसार किया है. इस तरह कर्मानुसारी सृष्टिनिर्माणके कारण परमेश्वरके स्वातन्त्र्यकी हानि इसलिये नहीं होती क्योंकि कर्म स्वयं परमेश्वरकी एक अन्यतम शक्ति है और कर्मानुसारी यह सृष्टि भी निजकार्य ही है, अर्थात् परकार्य नहीं. लोकमें भी एक स्वतन्त्र राजा अपने बनाये नियमोंके अनुसार किसीपर रुष्ट या तुष्ट होता हो एतावता उसका स्वातन्त्र्य नष्ट नहीं हो जाता. ऐसा भी भिक्षुवेदान्तने मान्य रखा ही है:—

> ब्रह्म न स्रष्टृ, लोके स्रष्टुः प्रयोजनवत्त्वदर्शनाद्, ब्रह्मणश्च पूर्णकामत्वात् प्रयोजनं नास्तीत्यर्थः. समाधत्ते—"लोकवत्तु लीलाकैवल्यम्", यथा लोकानाम् आनन्दविशेषजन्येषु क्रीडाविहारादिषु अनपेक्ष्यैव प्रयोजनं केवललीलारूपा चेष्टा भवति...भूतानुग्रहएव ईश्वरस्य प्रयोजनम् उक्तं, सुखदुःखाभावयोरिव विशुद्धसत्त्वानां, भक्तानुग्रहस्यापि स्वतःपुरुषार्थत्वं फलत्वेन कल्पनीयं...ननु एवम् ईश्वरस्य कर्मसापेक्षत्वे स्वातन्त्र्यहानिः इति चेत्, न, स्वकार्यतया स्वशक्तितया च कर्मणः स्वातन्त्र्याविघातकत्वात्. स्वतन्त्रस्यापि राज्ञः सेवापराधापेक्षया फलदातृत्वदर्शनात्.
>
> (ब्र.सू.भा. २।१।३१-३२-३३).

इस तरह हमने देखा कि जगत्को भगवल्लीला मानना, साधनानुष्ठानके मूल उत्स कर्तृत्वको परमेश्वराधीन मानना, परमेश्वरको कर्मप्रेरक कर्मकारयिता मानना, कर्मानुसारिणी फलनियतिको जड़नियम न मान कर परमेश्वरेच्छाधीन या परमेश्वरानुग्रहनिग्रहाधीन मानना; और परमेश्वरके स्वातन्त्र्यको निरंकुश मानना ये कुछ ऐसी धारणायें हैं कि जिनके बारेमें परस्पर विरोधी वेदान्त भी निर्विरोध एकमति प्रदर्शित करते हैं.

वेदान्तदर्शनकी इस ऐतिहासिक पृष्ठभूमिपर महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यकी साधनानुष्ठान तथा भगवदनुग्रह के स्वरूपकी विवेचनाको परखनेका प्रयास करनेपर, जो एक अधिकरणसिद्धान्त उभर कर सामने आता है, वह यह कि साधनानुष्ठान तथा भगवदनुग्रह दोनोंकी ही सरस एवं लचीली, अर्थात् भगवदभिप्रेत लीलात्मिका, उपयोगिता तो अवश्य है; परन्तु नीरस एवं कठोर, अर्थात् गणितशास्त्राभिप्रेत निरपवादात्मिका, कोई अनिवार्यता नहीं. अतः वैसे तो प्रतितन्त्रसिद्ध सिद्धान्तकी उपपत्तियां प्रस्तुत करना निरर्थक कालक्षेप ही होता है, फिरभी अधिकरणसिद्धान्तता दरसानेकेलिये हमने जो विभिन्न वेदान्तसम्प्रदायोंके पूर्वोदाहृत वचनोंका विस्तार किया वह क्षम्य माना जाना चाहिये. इस सन्दर्भमें महाप्रभुका यह विधान प्रकृत विषयके उपक्रमार्थ अवधेय है:—

> "स वै नैव रेमे. तस्मादेकाकी न रमते. स द्वितीयमैच्छत्. स हैतावानास." इत्यादिश्रुतिभिः "एष उ ह्येव..." इति श्रुतेश्च तानि-तानि साधनानि कारयित्वा तानि-तानि फलानि ददद् भगवान् स्वक्रीडार्थमेव जगद्रूपेण आविर्भूय क्रीडति इति वैदिकैः निर्णीयते. एतदेव काण्डद्वयेऽपि प्रतिपाद्यते. अन्यथा जीवस्य साधनफले निरूपयन्त्याः श्रुतेः जीवपरत्वमेव स्याद् न ब्रह्मपरत्वम्. कर्म-ब्रह्मणोरपि जीवशेषत्वं न अपेयात् (ब्र.सू.भा. १।१।११).
>
> अर्थात् "वह एकाकी रमण नहीं करता. अतएव कोई भी एकाकितामें रत नहीं हो पाता. उसने चाहा कि कोई दूसरा भी हो. अतः वही यह सब कुछ बन गया" ऐसे श्रुतिवचनोंके आधारपर तथा "वही साधु कर्म करवाता है उससे कि जिसे वह ऊपर उठाना चाहता है..."श्रुतिवचनके आधारपर तत्तत् साधनोंको करवा कर तत्तत् फलोंको देते हुवे भगवान् निजक्रीड़ार्थ

> ही जगत्के रूपमें आविर्भूत होते हैं, ऐसा वैदिक निर्णय है. वेदके कर्मकाण्ड और ज्ञानकाण्ड दोनोंका प्रतिपाद्य विषय यही है. अन्यथा केवल जीवके ही साधन-फलोंके निरूपणार्थ शास्त्र प्रवृत्त हुवे हैं ऐसा स्वीकारनेपर शास्त्रका मुख्य प्रतिपाद्य विषय जीवके कर्तव्य और ज्ञातव्य का निरूपण ही रह जायेगा. फिर तो कर्म और ब्रह्म भी जीवशेष बन जायेंगे!

इस क्रीड़ामें क्रमशः १.योगमाया २.सर्वभवनसामर्थ्यरूपमाया तथा ३.व्यामोहकमाया रूपी त्रिविध निजशक्तिओंको उपयोगमें लानेके कारण भगवत्क्रीड़ाके भी त्रिविध रूप स्वीकारे गये हैं. अखण्ड सच्चिदानन्द ब्रह्मके स्वरूपान्तःपाती आनन्द चित् तथा सत् यों त्रिविध गुणधर्मोंमेंसे एक गुणधर्म या दो गुणधर्मों के निगूहनद्वारा यह लीलात्रैविध्य सम्पन्न होता है. अतएव मूलरूपमें की जाती लीला या अवतारलीला में योगमाया शक्तिद्वारा जो नाम-रूप-कर्म भगवान् प्रकट करते हैं, वे दिव्य अर्थात् सच्चिदानन्दात्मक ही रहते हैं. इसे "यः क्रीडति" कल्प कहा जाता है. द्वितीय "यः जगद् भूत्वा क्रीडति" कल्पमें भगवान् अपना आनन्द रूप गुणधर्म तिरोहित करके सर्वभवनसामर्थ्यरूपा मायाशक्तिद्वारा आंशिक ज्ञान-क्रियारूप उभयविधशक्तिमान जीव तत्त्वको; अथवा आनन्द तथा चित् दोनों ही तिरोहित करके नामरूपात्मक जड़ तत्त्वको प्रकट करते हैं. तृतीय "यतो जगत् क्रीडति" कल्पमें आनन्द चित् तथा सत् तीनों ही गुणधर्मोंको तिरोहित करके व्यामोहिका मायाशक्तिद्वारा नाम-रूप-कर्मोंका केवल आभास या अध्यास ही प्रकट करते हैं (द्रष्टव्य : शा.प्र.प्रका. १).

इस तरह स्वाभाविकी ज्ञानशक्ति एवं क्रियाशक्ति से सम्पन्न सच्चिदानन्द ब्रह्मके सच्चिदंश होनेके कारण ज्ञानशक्ति एवं क्रियाशक्ति भी अंशतः तो स्वाभाविक ही जीवात्माके भीतर विद्यमान रहती ही हैं. इनका यथावद् उद्गम, परन्तु, देह इन्द्रिय प्राण एवं अन्तःकरण से जुड़ जानेके कारण कृत्रिमतया ही होता है: जीवको कर्ताके रूपमें मान्य करना चाहिये, क्योंकि जीवकेलिये ही वेदमें अभ्युदय-निश्रेयस् रूप फलोंको देनेवाले कर्मोंका विधान किया गया है, अन्यथा ब्रह्म या जड़ केलिये तो ये विधान निरर्थक या अप्रासंगिक ही सिद्ध होंगे. देह इन्द्रिय प्राण या अन्तःकरण को तो कर्ता माना नहीं जा

सकता, क्योंकि वे तो स्वयं करणरूप ही होते हैं. जो यह कहते हैं कि बुद्धिगत कर्तृत्वकी ही जीवमें आभासिक या औपाधिक प्रतीति होती है, उन्हें यह खुलासा देना पड़ेगा कि बुद्धिका कर्तृत्व जीवमें संक्रान्त होता है, या जीवका कर्तृत्व बुद्धिवशाद् उद्गत होता है, या इन दोनोंमें अविद्यमान कर्तृत्व इन दोनोंके जुड़ जानेके कारण पूर्वमें असत् होनेपर भी पश्चाद् उत्पन्न हो जाता है; अथवा अन्यत्र कहींसे आकर उभयाश्रित हो जाता है? प्रथम इसलिये सम्भव नहीं, क्योंकि बुद्धि स्वयं जड़ होनेसे कर्ता मानी नहीं जा सकती. द्वितीय कल्पमें इष्टापत्तिके साथ-साथ इतना और विवक्षित है कि स्वयं बुद्धिरूप करणका संग्रह भी तो जीवात्मा अपने स्वाभाविक कर्तृत्वरूप सामर्थ्यवशाद् ही करता है. तृतीय कल्पमें असत्कार्यवादका अवलम्बन लेना पड़ेगा जो श्रुतिको अनभिप्रेत ही है. चतुर्थ कल्पमें भी इष्टापत्तिके साथ-साथ यह तो खुलासा देना ही पड़ेगा कि ब्रह्मगत कर्तृत्व, श्रुति-प्रत्यक्षोभय-व्याहत होनेसे, सर्वात्मना तो असंभव ही है; फिरभी स्वाभाविकी क्रियाशक्ति और ज्ञानशक्ति से सम्पन्न ब्रह्मके अंशभूत जीवात्मामें ब्रह्मांशभूत स्वाभाविक कर्तृत्व भी यथेच्छा प्रकट हो ही सकता है (द्रष्टव्य: ब्र.सू.भा. २।३।३३-३५).

स्वाभाविक कर्तृत्व स्वीकारनेपर मुक्तावस्थामें भी शुभाशुभ कर्मोंके कर्तृत्वके विद्यमान रहनेपर मुक्ति ही सम्भव नहीं रह जायेगी, ऐसी आपत्तिके निरसनार्थ श्रीमहाप्रभु कहते हैं कि यह तो विशुद्ध भ्रमणा ही है. ऐसी अनुपपत्तिको प्रामाणिक माननेपर तो अतिबालक अतिवृद्ध अथवा नपुंसक के भीतर ही कामवासनाका अभाव स्वीकार्य हो पायेगा, किसी युवक ब्रह्मचारी या संन्यासी के भीतर नहीं. क्योंकि कर्तृत्वके रहते जैसे नैष्कर्म्य सम्भव नहीं, वैसे कामेन्द्रियके रहते निष्कामता सम्भव नहीं रह जायेगी! फिर तो समाधि भी निरिन्द्रिय व्यक्तिको ही सिद्ध होनी चाहिये!!(द्रष्टव्य: ब्र.सू.भा. २।३।३९-४०).

''परात्तु तच्छ्रुतेः''(ब्र.सू. २।३।४१-४२) अधिकरणमें, जैसा कि कह ही चुके हैं, जीवके कर्तृत्वरूप धर्मको अन्य भी सत्ता चैतन्य ऐश्वर्यादि धर्मोंकी तरह अंशी ब्रह्मकर्तृत्वका अंशरूप ही स्वीकारा गया है.

श्रीमहाप्रभु 'पुष्टिप्रवाहमर्यादा' नामक ग्रन्थमें तथा अणुभाष्यमें जो स्पष्टीकरण इस बारेमें देते हैं उसका सार इस तरह है कि इस सृष्टिमें भगवत्क्रीड़ाके सामान्य नियम वेदादि शास्त्रोंमें प्रकट किये गये हैं. क्रीड़ार्थ प्रकट जीवात्माएं मूलमें द्विविध हैं: दैवी तथा आसुरी. दैवी जीवोंके पुनः दो प्रकार होते हैं: पुष्टिमार्गीय जीव तथा मर्यादामार्गीय जीव. पुष्टिमार्गीय जीवोंके पुनः चार प्रकार होते हैं: शुद्धपुष्टिके अधिकारी, पुष्टिपुष्टिके अधिकारी, मर्यादापुष्टिके अधिकारी; तथा प्रवाहपुष्टिके अधिकारी. इन सभी पुष्टि मर्यादा तथा प्रवाह के भेदोपभेदवश दैवी तथा आसुरी जीवोंकी साधन-फल-व्यवस्था इस तरह है: भगवान् फल प्रदान करते हैं कर्मके अनुसार, जीवसे कर्म करवाते हैं उसके प्रयत्नोंके अनुसार, जीव प्रयत्न करता है कामके अनुसार, जीव कामना करता है लोकप्रवाहके अनुसार, इन सभी सोपानोंपर भगवान् अंशदृष्टिसे कर्ता बनते हैं तथा अंशिदृष्टिसे कारयिता. परमात्मा और जीवात्मा के बीच तादात्म्यरूप अभेद होनेसे न तो वैषम्य या नैर्घृण्य दोषका कोई प्रसंग है; और न जो कुछ अंशके साथ घटित हो रहा है उससे अंशीके दूषित होनेका ही. वेदादि सभी शास्त्र इस लीलाके लीलात्मक नियमोंका ही वर्णन कर रहे हैं. अन्यथा जैसा कि प्रारम्भमें निरूपित किया गया कि कर्म-ब्रह्म दोनों ही जीवात्माके अभ्युदय-निःश्रेयसके साधनोंके उपदेशार्थ ही केवल हों तो अभ्युदय-निःश्रेयससाधन ही प्रमुख प्रतिपाद्य विषयवस्तु सिद्ध होंगे, ब्रह्म नहीं. अतः कर्मानुसारी फलप्रदानकी वेदादि शास्त्रोंद्वारा निरूपित मर्यादाका बन्धन जैसे लीलात्मक है, वैसे ही भगवान् जब जहां जिस जीवके सन्दर्भमें उन बन्धनोंको तोड़ना चाहें, वह भी लीलात्मक ही होता है. शास्त्रमर्यादाके बन्धनोंको तोड़ कर जब भगवान् किसी जीवको केवल मुक्ति ही प्रदान करते हैं, उदाहरणतया व्रजमें भगवान्को मारनेकी कामनासे आनेवाले असुरोंको या ऐसे आसुरभाववाले अन्योंको भी मुक्तिदान किया गया, तो यह शास्त्रानुसारी प्रमाणबलसे उद्धारकी कथा नहीं है. यह तो प्रमेयबलसे उद्धारकी कथा है. इसी तरह जहां यथाशास्त्र साधनानुष्ठान करनेपर किसी जीवात्मामें परमात्माके प्रति भक्तिभाव प्रकट होता है तो ऐसी भगवद्भक्तिको प्रमाणबलसे प्रकट होनेके कारण 'मर्यादा-भक्ति' कहा जाता है. अन्यथा प्रमेयबलसे प्रकट हुई भक्तिको 'पुष्टिभक्ति' कहा जाता है.

एतदर्थ श्रीमहाप्रभुके इन वचनोका अवगाहन अतीव उपकारक होगा :—

> मर्यादामार्गका तो निर्माण ही शास्त्रविहित कर्मोंके अनुसार फलदानार्थ किया गया है; अतः शास्त्रनियमोंके

वैपरीत्यसे भगवान् निज स्वरूपानन्दरूप फलका दान किसी जीवको करते हैं तो ऐसे जीवको पुष्टिमध्यपाती समझना चाहिये (ब्र.सू.भा. २।३।४२).

प्रवाहमार्गीय जीवको किस या कैसे साधनसे कौन सा फल मिलेगा यह तो भगवान्ने स्वेच्छया निज मनमें ही निर्धारित कर रखा है, मर्यादामार्गीय जीवको किस या कैसे साधनसे कौन सा फल मिलेगा यह भगवान्ने वेदद्वारा निर्धारित-ज्ञापित कर दिया है; इसी तरह पुष्टिमार्गीय जीवको किस या कैसे साधनसे कौन सा फल मिलेगा यह भगवान्के उस जीवके समक्ष प्रकट किये निज स्वरूपसे निर्धारित करते हैं. "तानहं द्विषतो क्रूरान् संसारेषु नराधमान् क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु. आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम्"(गीता १६।१९-२०) इस भगवद्वचनके आधारपर इस लीलामें मुक्ति या भगवद्भक्ति न पानेवाले आसुरी जीवोंको 'प्रवाही जीव' कहा जाता है. इनसे भिन्न अर्थात् जन्ममरणके चक्रसे शास्त्रविहित साधनोंके अनुष्ठान(=प्रमाणबल)द्वारा मुक्ति पानेके अधिकारी जीव 'मर्यादामार्गीय जीव' कहलाते हैं. कुछ दैवी जीवोंमें शास्त्रविहित साधनानुष्ठानके बिना भी मुक्तात्माओंको भी दुर्लभ ऐसी संसारासक्तिरहित भगवदासक्ति केवल भगवत्स्वरूप(=प्रमेयबल)से ही सिद्ध होती दिखलायी देती है, ऐसे जीवोंको प्रवाहमार्गीय तथा मर्यादामार्गी जीवोंसे भिन्न 'पुष्टिमार्गीय जीव' कहा जाता है. इस पुष्टिसृष्टिके जीवका प्राकट्य ही भगवत्स्वरूपाक्तिपूर्विका भगवत्सेवाकेलिये किया गया है.

प्रवाहमार्गीय या मर्यादामार्गीय जीवोंके स्वरूप=आत्मा देह गुण या व्यवहार से इन पुष्टिमार्गीय जीवोंके स्वरूप=आत्मा देह गुण या व्यवहार में वैसे तो कोई तारतम्य होता नहीं है, फिरभी भगवान् जब जो तारतम्य प्रकट करना चाहें तब कर देते हैं. भगवल्लीलाके भेदके अनुसार इन पुष्टिजीवोंके दो भेद

होते हैं: शुद्ध और मिश्र. शुद्धपुष्टिवाली कक्षाके जीव अति दुर्लभ होते हैं. इसी तरह मिश्रपुष्टिके पुनः तीन भेद होते हैं: पुष्टिपुष्टि मर्यादापुष्टि तथा प्रवाहपुष्टि. पुष्टिपुष्टिवाली कक्षाके जीवोंके भीतर भगवन्माहात्म्यज्ञान भगवद्रति और तदनुसारी भगवदनुकूलकृति यों सभी तरहका समन्वय होता है. मर्यादापुष्टिवाली कक्षाके जीवोंके भीतर भगवन्माहात्म्यज्ञान और भगवद्रति की प्रधानता होनेपर भी तदनुसारी कृति भलीभांति निभ नहीं पाती. प्रवाहपुष्टिवाली कक्षाके जीवोंके भीतर भगवन्माहात्म्यज्ञान या भगवद्रति की अनुसारिणी कृति तो निभ पाती है परन्तु ज्ञान या रति मेंसे कोई एक या दोनों ही कभी स्फुटतया प्रकट नहीं हो पाते. पुष्टिजीवोंके इन सभी प्रकारोंमें फल तो केवल भगवान् ही होते हैं. यह भगवदनुभूति इन विभिन्न कक्षावाले पुष्टिजीवोंको यहां भूतलपर ही भगवद्गुणानुभूति या भगवत्स्वरूपानुभूति के रूपमें जैसी भी हो भगवदिच्छावश होती है. न तो ये कभी पाषंडी हो पाते हैं और न, अतएव, इन पुष्टिजीवोंमें लौकिकता अर्थात् संसारासक्ति; या वैदिकता अर्थात् मुक्तिप्रापक साधनोंमें ही आसक्ति, वास्तविक हो सकती है. वह तो केवल लोकसंग्रहार्थ ही होती है—वास्तविक स्वरूप तो इनका भगवदीय होना ही होता है (पु.प्र.म. ९-२१).

इस तरह भगवल्लीलारूपा सृष्टिमें पुष्टि-मर्यादा-प्रवाहके भेदवश जीवत्रैविध्य तथा प्रमाण-प्रमेयबलके भेदवश भगवदनुग्रहद्वैविध्य के कारण साधनानुष्ठान तथा अनुग्रह का स्वरूप वाल्लभ वेदान्तमें बहुत ही लचीला बन गया है. और तो और किन्तु सर्वथा विलक्षण एक स्पष्टीकरण महाप्रभुने यह भी दिया है कि जीवात्माका देहेन्द्रियप्रणांतःकरणसे सम्बन्ध भी दो तरहका होता है: भगवत्कृत और आध्यासिक. आध्यासिक सम्बन्ध तो ज्ञानसे निवृत्त हो सकता है परन्तु भगवत्कृत सम्बन्धको जब भगवान् स्वयं ही निवृत्त करना चाहें तभी निवृत्त हो सकता है अन्यथा नहीं. अतएव जीवन्मुक्तोंके भी देहादि बने रहते हैं, अज्ञानकी सर्वांशमें निवृत्तिके बावजूद. शास्त्रोंमें वर्णाश्रमसहित देहादिवाले जीवात्माओंको

लक्ष्यमें रख कर जो धर्मोपदेश किये गये हैं, वे आध्यासिक सम्बन्धको निमित्त बना कर नहीं प्रत्युत भगवत्कृत देहादिसम्बन्धको निमित्त बना कर ही (द्रष्टव्य : ब्र.सू.भा. ३।२।४८).

इस सन्दर्भमें सुबोधिनीमें श्रीमहाप्रभुद्वारा किया हुवा प्रस्तुत विधान अतीव उपकारी हो सकता है :—

> यावद्देहोऽयं तावद्वर्णाश्रमधर्माएव स्वधर्माः, भगवद्धर्मादयोऽपि विधर्माः परधर्माः वा. यदा पुनरात्मानं जीवं मन्यते, संघातव्यतिरिक्तं, तदा दास्यं स्वधर्मोऽन्ये वर्णाश्रमादयोऽपि परधर्माः. यदा पुनर्भगवद्भावं प्राप्ताः तदा अलौकिकधर्माएव, ऋषभादिष्विव गोचर्यादयः, स्वधर्माः अन्ये परधर्माः.
>
> भावार्थ : जबतक यह देह है तबतक वर्णाश्रमधर्म ही स्वधर्म होता है अतः भगवद्धर्मको भी विधर्म या परधर्म तब समझना चाहिये. जब अपने-आपके बारेमें देहादि संघातसे अतिरिक्त जीवात्मा होनेकी बात चित्तमें निरूढ़ हो जाये तब भगवद्दास्य ही स्वधर्म बन जाता होनेसे अन्य वर्णाश्रमादिके नियम परधर्म बन जाते हैं. इससे आगे बढ़ कर जब भगवद्भाव प्राप्त हो जाये तब तो अलौकिकधर्म, जैसे ऋषभदेवजीके गोचर्यादिरूप थे, वैसे ही स्वधर्म बन जाते हैं अन्य सारे नियम परधर्म बन जाते हैं.

इस वचनमें यह उल्लेखनीय है कि वर्णाश्रमधर्मकी अनुष्ठाननियतिके द्योतनार्थ महाप्रभुने—"जबतक यह देह है" शब्दावली प्रस्तुत की है न कि "जबतक देहाभिमान है". इसी तरह भगवद्दास्यके आचरणार्थ देहाभिमानरहित होना निमित्त माना है. इससे कुछ 'अर्धजरतीय'न्याय प्रकट हुवा लगता है! परन्तु महाप्रभुका अभिप्राय कुछ ऐसा लगता है कि भगवदंशत्वभावनारहित देहाभिमाननिवृत्तिके सिद्ध होनेपर भी यावद्देहस्थिति वर्णाश्रमधर्मका त्याग अनभिष्ट है; तथा भगवदंशत्वभावनाके चित्तमें निरूढ़ होनेपर देहाभिमानका शैथिल्य भगवद्दास्यको स्वधर्मतया अनुसरणीय बनाता है. भगवद्भावके सुदृढ़ होनेपर तो जीव विधिपराधीन न रह कर सर्वथा भगवद्भावाधीन ही हो जाता है इस विषयमें तो कुछ विवेचनीय नहीं है. अस्तु.

प्रकृत सन्दर्भमें : यहां सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण तथ्य यही लक्ष्यमें रखने

लायक है कि जीवोंके कर्मानुरोधवश भगवान् सुखदुःख प्रदान करते हैं इसे, श्रीमहाप्रभु, प्रतिवादिबोधनार्थ किया गया विधान मानते हैं—सिद्धान्तनिरूपणार्थ नहीं. क्योंकि आत्मसृष्टिमें यह आशंका या आरोप उठ ही नहीं सकते (द्रष्टव्य : ब्र.सू.भा. २।१।३४). जैसे सच्चिदानन्द ब्रह्मगत ही 'अस्ति' 'भाति' और 'प्रियत्व' रूप धर्म जड़जीवात्मक जगत्में अनुगततया प्रतीत होते हैं, वैसे ही कर्तृत्व-भोक्तृत्वादि धर्मोंका मूल भी ब्रह्ममें क्यों नहीं खोजना चाहिये? इस प्रश्नके उत्तरतया "इन धर्मोंका सांसारिक भ्रान्तिका जनक होना" तो कोई उपपन्न हेतु नहीं है. क्योंकि सत्ता चैतन्य और आनन्द को भी जगद्भ्रान्तिके मूलाधिष्ठानतया शांकर दर्शनने स्वीकारा तो है ही, सो उन्हें भी ब्रह्मगत नहीं मानना चाहिये (द्रष्टव्य : ब्र.सू.भा. १।१।५).

यदि आत्मरमणशील हो तो इस सच्चिदानन्द ब्रह्मको सृष्टि प्रकट करनेकी क्या आवश्यकता; और निर्लेप रमणार्थ यदि आत्मभिन्न सृष्टिको रच कर जीवात्मासे शुभाशुभ कर्मोंको करवा कर इष्टानिष्ट फलोंका प्रदाता ब्रह्म बनता हो तो ऐसे ब्रह्मको आप्तकाम कैसे मानना? इन प्रश्नोंका उत्तर वाल्लभ वेदान्तके अनुसार यों दिया जा सकता है कि यह सृष्टि ब्रह्मके आत्मरमणका ही विस्तार है—"स वै नैव रेमे...स इममेवात्मानं द्वेधापातयत्...तद्धेदं तर्ह्यव्याकृतमासीत् तन्नामरूपाभ्या-मेव व्याक्रियत...ब्रह्म वा इदमग्र आसीत् तदात्मानमेवावेद् 'अहं ब्रह्मास्मी'ति. तस्मात् तत् सर्वमभवत्. तद्यो देवानां प्रत्यबुध्यत सएव तदभवत्. तथर्षीणां तथा मनुष्याणाम्" (छां.उ. १।४।१-१०). अतएव वाल्लभ वेदान्तका कहना है कि सृष्टिनिर्माणसे पूर्वकालिक अरमण ब्रह्मके स्वाभाविक ऐश्वर्य वीर्य यश श्री ज्ञान वैराग्यादि अनन्त दिव्य गुणोंकी निर्विषयता दूर करनेकेलिये ही था. सृष्टिरूप रमण, अतएव, आत्मरमणका ही विस्तार है. उत्तरकालिक रमणेच्छया स्वयंमेंसे भिन्नतया प्रकट नामरूपवान् जड़के साथ रमणके कारण या ज्ञानक्रियावान् जीवके साथ रमणके कारण भी ब्रह्मकी आप्तकामतामें कोई व्याघात नहीं उभरता, क्योंकि देव ऋषि या मनुष्यों में भी जो भी कोई, एक ही ब्रह्मके अनेक बन जानेके, इस गूढ़ रहस्यको जान लेता है, वह स्वयं वस्तुमात्रकी ब्रह्मात्मकताका अनुभव करने लग जाता है. ऐसी स्थितिमें ज्ञानवैराग्यैश्वर्यादि दिव्यानन्दात्मक निखिल-गुणशाली परमेश्वरमें निज अंशरूप जीवोंकी तरह किसी तरहके पररमणप्रयुक्त अज्ञान या भ्रान्ति से पनपे क्षुद्र सुख-दुःखोंकी व्यवसायात्मिका

अनुभूति तो सम्भव ही नहीं है. जीवात्माके भी भीतर विद्यमान होनेके कारण, परन्तु, अन्तर्यामी परमात्माको भी सर्वज्ञ होनेके कारण अनुव्यवसायात्मिका अनुभूति तो हो ही सकती है.

अतएव भाष्यकार कहते हैं—''भगवान्की लीलाविहारकी इच्छाके कारण पहले निज अंशोंमें आनन्दात्मक भगवद्धर्मोंका तिरोभाव होता है. फलतः वह अंश जीवभावापन्न होकर सकाम बन जाता है—अन्यथा आनन्द कभी सकाम नहीं हो सकता है, पूर्णकामता ही आनन्दका असाधारण लक्षण है. इन आनन्दात्मक धर्मोके तिरोभावके बिना भगवान्के ऐश्वर्यादि दिव्य गुण निर्विषय बन जायेंगे.'' (द्रष्टव्य : ब्र.सू.भा. ३।२।५). अतएव ''परमतः सेतून्मान''—''फलमत उपपत्तेः'' अधिकरणों(ब्र.सू. ३।२।३१-४१)में यह कहा गया है कि जो उत्तम निष्काम अधिकारी होते हैं, उनकेलिये तो परमात्मा फलदाता नहीं प्रत्युत फलरूप ही होता है; परन्तु सकाम मन्द-मध्यमाधिकारियोंको उनके कर्मोके अनुसार ऐहिक या पारलौकिक फल परमेश्वर ही प्रदान करता है.

जैसे एक परमात्मा पुष्टिमर्यादाप्रवाहके भेदोपभेदोंसे अनेकविध जीवात्मा बन जाता है, श्रीमहाप्रभुके अनुसार, वैसे ही एक ही भगवदनुग्रह न केवल भक्ति अपितु ज्ञान कर्म तप वैराग्य तीर्थ व्रत आदि अनेकविध आध्यात्मिक या आधिदैविक जीवव्यापारोंके रूपमें स्वयंके विविध रूपोंको प्रकट करता है. यह तो जब ये उपाय मुक्ति या भक्ति के प्रापक हो पाते हों, तब इनके स्वरूपका विवक्षित विवरण है. श्रीमहाप्रभुके अनुसार, अन्यथा, अन्य आधिभौतिक उपायोंकी तरह ही इन कर्मोकी सफलता या विफलता भी ईश्वरेच्छाधीन ही होती है.

जैसा कि हम देख गये सजातीय विजातीय एवं स्वगत द्वैतसे रहित आत्मामें क्रीड़ार्थ जो ऐच्छिक द्वैत प्रादुर्भावित हुवा है, उसमें परमेश्वरके कर्मानुसारी फलदाता होनेकी दुहाई तो लोकदृष्ट्यनुरोधी ही समाधान है; अन्यथा परमात्माका निरंकुश ऐश्वर्य सिद्ध नहीं होगा. कर्मनियम स्वयंनिर्धारित है अन्यनिर्धारित नहीं, ऐसा स्वीकारनेपर भी, इतनी असमर्थ जीवात्माओंकेलिये शास्त्रोपदिष्ट कितने कठोर एवं क्रूर कर्मनियमके निर्धारक होनेके कारण ईश्वरकी निरवधिक दयालुता ही अविश्वसनीय बन जाती है. कर्मसापेक्ष फलदानके सिद्धान्तको, अतएव, लोकदृष्ट्यनुरोधी समाधान स्वीकारना ही उचित है (द्रष्टव्य : त.दी.नि. १।७६). सर्वनिर्णयमें भी इसका सुविशद निरूपण जो श्रीमहाप्रभुने किया है

उसका सार कुछ इस तरह है :—

''दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते'' वचनमें 'माम्'के साथ 'एव'कारको जोड़ कर भगवान्ने स्वेतर सभी साधनोंकी अनुपायता दिखलायी है. क्योंकि ज्ञान कर्म तप आदि सभी उपायोंकी फलप्रापकता भगवदधीन ही है, अतः आवश्यकता साधननिष्ठाके बजाय भगवत्स्वरूपनिष्ठाकी ही श्रेष्ठ होती है. जो यह सोचते हैं कि भक्तोंको भी अन्तमें कभी ज्ञान प्राप्त होनेपर ही मुक्ति मिल पायेगी, उनका यह दृष्टिकोण, 'माम्'पदवाच्य जो ज्ञानप्राप्य स्वरूप है उसके साथ जुड़े 'एव'कारको स्वसहोच्चारित पदसे हठात् छुड़ा कर असहोच्चारित ज्ञानादि साधनोंसे जोड़नेकी असंजसतामें पर्यवसित होता है. अतएव ''तमेव विदित्वा'' या ''ज्ञानी त्वात्मैव मे'' सदृश वचनोंमें कहीं ब्रह्मेतर विषयके व्यावर्तनार्थ तो कहीं ''नहि निन्दा निन्द्यं निन्दति किन्तु स्तुत्यं स्तौति'' न्यायसे किसी एक उपायकी स्तुतिकेलिये इतर उपायोंका व्यावर्तन सा दिखलाया गया है. उल्लिखित 'तमेव'में जुड़े 'एव'कारको भी, इसलिये, कोई स्तुत्यर्थ मानना चाहे तो वह इसलिये सम्भव नहीं, क्योंकि अनेक अज्ञानी या द्वेषादि भावोंको रखनेवाले सरी-सर्प-पशु-पक्षी-देव-मानव-दानव जीवोंको भी मुक्ति प्रदान करनेके अनेक पौराणिक उपाख्यानोंको या तो अर्थवाद मानना पड़ेगा या फिर ज्ञान या अन्य किसी अभीष्ट उपायोंके पूर्वजन्ममें अनुष्ठानकी अश्रुत कल्पना करनी पड़ेगी. वह कर लेनेके बावजूद ''फलमत उपपत्तेः'' सूत्रोक्त फलदानमें श्रुत परमेश्वरका स्वातन्त्र्य तो कुण्ठित होगा ही. भागवतके एकादशस्कन्धमें स्वप्राप्तिके साधनतया योग सांख्य दान व्रत तप होम-यज्ञ व्याख्या स्वाध्याय या संन्यास के बारेकी सभी विधि-निषेध-मूलक प्रवृत्ति-निवृत्ति या श्रोतव्य-श्रुत की परवाह छोड़ कर सर्वदेही जीवात्माओंके भी आत्मरूप ऐसे एकमात्र

परमात्माके शरणमें आनेकी बात स्वयमेव भगवान्ने कही है. स्वयं कैसे मिलेंगे इसे स्वयंसे अधिक भलीभांति अन्य कौन जान सकता है!

इससे सिद्ध होता है कि कर्म-ज्ञान-भक्ति आदि सभी साधनोंकी शास्त्रनिरूपित साधनता या उपायता केवल लोकप्ररोचनार्थ ही उपदिष्ट हुई हैं. एतावता इन वचनोंको बाधितार्थ मान लेनेकी धांधल नहीं करनी चाहिये, क्योंकि शास्त्रीय प्रमाणबलके आधारपर भगवत्कृपाके प्रकट होनेके औत्सर्गिक प्रकार तो ये ही दिखलायी देते हैं. विशेषकृपाका साथ मिलनेपर ये शास्त्रोपदिष्ट उपाय जीवके उद्धारके साधन भी बनते ही हैं. अपवादरूपेण, परन्तु, अपने प्रमेयबलको प्रकट करके इन शास्त्रोपदिष्ट साधनोंकी अपेक्षा रखे बिना भी जिस-किसी विहित या निषिद्ध व्यवहार या मनोभाव को भी अपने अनुग्रहके प्राकट्यका निमित्त भगवान् बना ही सकते हैं.

फिरभी भक्ति और भक्तीतर साधनों के बीचमें एक तारतम्य, श्रीमहाप्रभु भारपूर्वक, यह दिखलाना चाहते हैं कि यथायथ उपायों या साधनों के द्वारा प्रकट हुवे परमात्माके स्वरूप भी अनेकविध हो सकते हैं. उदारणतया कृपा होनेपर, कर्मसे कर्मफलरूप स्वर्गतया या आत्मसुखतया उस आनन्दका प्राकट्य होता है. ज्ञान या उपासना से तदनुरूप ज्ञेय या उपास्य का ब्रह्मानन्दतया प्राकट्य होता है. इसी तरह भक्तिसे, उदासीनरूपमें नहीं प्रत्युत भजनीयरूपमें ही, परमात्माके भजनानन्दका प्राकट्य होता है.

अतः हमारे ऊपर भगवान्की वैसी कृपावृष्टिका द्योतक हो या न हो, प्रेमात्मिका भक्तिसे भगवद्भजनका कुछ असाधारण वैशिष्ट्य तो होता ही है. अतः (१) प्राणिमात्रपर दयाभाव रखते हुवे (२) यदृच्छालब्धमें सन्तोष रखते हुवे (३) सभी इन्द्रियोंकी वृत्तिओंका उपशम करते हुवे (४) निष्कपट एवं निष्काम प्रेमसहित भगवत्सेवामें

तत्पर रहना हर स्थितिमें उचित ही होता है. क्योंकि जो अज्ञान काम द्वेष मात्सर्य या भय जैसे असाधनोंको भी निजप्राप्तिका साधन बनानेको समर्थ है, वह उल्लिखित प्रकारसे भगवन्निष्ठ होकर जीवनयापन करनेवालेके प्रति निष्ठुर क्यों-कैसे हो पायेगा? (द्रष्टव्य: त.दी.नि. २।३०४-३१७).

पञ्चपर्वा विद्या(= १.वैराग्य २.सांख्य ३.योग ४.तप ५.भक्ति); एवं पञ्चपर्वा अविद्या(= १.अन्तःकरणाध्यास २.प्राणाध्यास ३.इन्द्रियाध्यास ४.देहाध्यास ५.स्वरूपविस्मृति) ये भगवान्की ही द्वादशविध शक्तिओंमेंकी दो शक्तियां हैं (द्रष्टव्य: तैत्ति.उप. २।६—भाग. १०।३९।५५). इन दशविध पर्वोंमेंसे जब विद्याशक्तिके जिस मोक्षोपायरूप पर्वको असाधन या अविद्याशक्तिके जिस मोक्षविघातक पर्वको भगवान् जब साधन बनना चाहें तब भगवान्का वैसा निरंकुश स्वातन्त्र्य न केवल स्वीकारना ही चाहिये प्रत्युत साधनोपदेशक शास्त्रोंद्वारा वह निरूपित है ही. अतएव श्रीमहाप्रभु कहते हैं:—

> ऐसा वह परमकाष्ठापन्न कभी अपनी अखण्डता तथा पूर्णता को लिये हुवे जगदुद्धारार्थ प्रादुर्भूत हो जाये, तब उसे 'कृष्ण' कहा जाता है. भगवान्के अवतीर्ण होनेसे पूर्व भी उद्धारके अनेक साधन तो विद्यमान थे ही; और उन साधनोंको जो अपनाने जो जीव समर्थ न हों ऐसे अनधिकारिओंके बीच प्रकट होकर भी भगवान् क्या करेंगे? ऐसी आशंकायें अद्भुतकर्मा भगवान्के बारेमें अप्रासंगिक हैं. क्योंकि भगवान् तो ऐसे अद्भुतकर्मा हैं कि असाधनको भी साधन बना सकते हैं (त.दी.नि. १।१).

लौकिक प्रमाणोंसे अप्रमेय होनेपर भी निजेच्छावश भगवान् सर्वजननयनगोचर प्रमेय बन सकते हैं. ऐसे ही कर्म-ज्ञान-भक्तियोगोंसे अथवा विद्याके वैराग्य सांख्य योग तप और भक्ति रूप पांच पर्वोसे भी, प्रकट होनेकी इच्छा न होनेपर अप्रकट रह सकते हैं. स्वयंकी इच्छा होनेपर भगवान्, अविद्याके पांच पर्वोको; या काम क्रोध लोभ मोह मद मात्सर्य को भी, साधन या निमित्त बना कर प्रकट हो सकते हैं. विद्यासे मुक्तिका नियम या अविद्यासे संसृतिका नियम

जीवात्माओंकेलिये विद्योपदेशक शास्त्रीय प्रमाणमर्यादाके अनुसार बन्धनकारी हो सकता है—स्वयं परमात्माकेलिये बन्धनकारी नहीं. अतएव प्रमेयप्रकरणमें हमने देखा कि लोकरीत्या वृन्दावनस्थित श्रीकृष्णका व्रजमें स्थित भक्तोंकी अनुभूतिका प्रमेय बन पाना शक्य नहीं, फिरभी अपने दिव्य वेणुवादनको श्रवण करा कर शृंगाररसभावात्मक प्रमेय भी भगवान् बने. इसी तरह भगवान्को अपने पति बनानेकी कामनावश किये जाते कात्यायनीव्रतरूप साधनको भगवान्ने असाधन बना कर, असाधन चीरहरण और चीरदान की निजकेलिको साधन बना लिया: शरद् ऋतुमें रासक्रीड़ाका वचन देकर! ''अहं क्रतुरहं यज्ञः...अहमग्निरहं हुतम्'' वचनसिद्ध श्रौत साधनरूप यज्ञयागमें देवताओंकेलिये सम्पादित हव्यान्नकी आहुतिको असाधन बनाकर गोपबालकरूप निजसखाओंको खिला देनेरूप असाधनको भगवान्ने साधन बना दिया! जिसे वेदमें ''मुखादिन्द्रश्चाग्निश्च''वचनद्वारा मुखरूप; एवं भागवतमें ''इन्द्रादयो बाहव आहुरुस्राः'' वचनद्वारा बाहुरूप कहा गया है, ऐसे इन्द्रको चढ़ायी जानेवाली बलि रूपी जो साधन उसे असाधन बना कर, अश्रुतपूर्व गोवर्धनपर्वतके अर्चनको निजार्चनका साधन बना लिया! असाधनरूप वरुणापराधको भगवान्ने निजमाहात्म्यज्ञानके प्रदानार्थ साधन बना दिया! ऐसी विलक्षण साधनलीलाके सात अध्यायोंके सात अर्थोंके अनुसन्धानार्थ अब हमें प्रवृत्त होना चाहिये.

ऐश्वर्य वीर्य यश श्री ज्ञान और वैराग्य इन छह गुणधर्मोंके; तथा इनसे युक्त सातवें स्वयं भगवान् धर्मीके, निरूपणार्थ इस साधनप्रकरणमें सात अध्याय योजित किये गये हैं. स्नेहकी आसक्ति-दशाका वर्णन जैसे प्रमेयप्रकरणमें अभिप्रेत है; वैसे ही स्नेहकी व्यसनावस्थाका वर्णन इस साधनप्रकरणमें अभिप्रेत है. भगवत्स्नेहकी इस व्यसनावस्थामें अनुष्ठित साधनरूपा कृतिद्वारा व्रजभक्तोंका चित्त भगवान्में कितना अधिक लग गया था यही यहां निरूपणीय है. सकल दैहिक धर्मोंका त्याग करके भगवत्प्राप्त्यर्थ लौकिक या वैदिक कर्तव्योंके निर्वाहकी जीवनशैलीमें भगवत्स्नेह व्यसनदशापन्न हो गया है. इस तरह सातों अध्यायोंद्वारा व्रजभक्तोंके निरोधका अर्थात् प्रपञ्चविस्मृतिपूर्वक भगवदासक्तिका ही वर्णन यहां अभिप्रेत माना गया है.

वैराग्य सांख्य योग तप और भक्ति रूप विद्याके पांचों पर्वोंकी अनुष्ठानात्मिका सिद्धि तो नहीं परन्तु स्वरूपसिद्धि या फलसिद्धि तो यहां भी विवक्षित है ही.

तदनुसार :—

साधनप्रकरणके प्रथम (आदितः १९=२२) अध्यायमें: भगवान्के ऐश्वर्य गुणका वर्णन अभिप्रेत है. कुमारिकाओंकेद्वारा भगवद्व्यसनवशात् किये गये कात्यायनीव्रतके प्रसंगमें भगवान्ने उनके वस्त्रोंको हर कर उनके लौकिकभावको दूर किया और बादमें स्वयं ही रासक्रीड़ाके वरदानका ऐश्वर्य प्रकट किया.

साक्षात् सम्भव न होनेपर परम्परया भी भगवान् ही सेवनीय होते हैं और एतदर्थ देहेन्द्रियादिका स्वार्थपूर्ण विनियोग करनेके बजाय भगवदर्थ विनियोग करनेकी भावना रखनी उचित होती है. प्रकृत लीलासन्दर्भमें गोपिकाओंद्वारा अनुष्ठित वैराग्यसाधनाके इसी अभीष्ट स्वरूपको सिद्ध करनेकी बात समझानेकेलिये कात्यायनीव्रतद्वारा भगवद्भजनकी कथा निरूपित हुयी है. वृक्षके उदाहरणद्वारा परार्थ जीवनयापनका उपदेश भी इसी वैराग्यसाधनाके निरूपणार्थ है.

साधनप्रकरणके द्वितीय (आदितः २०=२३) अध्यायमें: वीर्य गुणका वर्णन अभिप्रेत है. यज्ञभोक्ता यज्ञात्मा भगवान् एवं उनके साथी गोपबालकों को भोजन कराने आयी ब्राह्मणोंकी पत्निओंपर उनके यज्ञपरायण पतिओंका मत्सरग्रस्त न होना भगवान्के असाधारण वीर्य गुणका निरूपण है.

इसी तरह क्षुधापीड़ित गोपबालकोंने क्षुधापीड़ाकी निवृत्तिकेलिये भगवान्की ही प्रार्थना की अन्य किसीकी नहीं, यह विद्याके द्वितीय पर्व सांख्य-विवेकका प्रकृत लीलोपयोगी सन्दर्भ है.

साधनप्रकरणके तृतीय (आदितः २१=२४) अध्यायमें: यश गुणका वर्णन अभिप्रेत है. जिन हेतुओंके वश इन्द्रपूजन किया जाता था, उन हेतुओंका निरसन करके वैष्णवयागरूप गोवर्धनपूजन भगवान्ने करवाया, वह भगवान्का स्वधर्मयोजनरूप यशोरूप गुण है.

इन्द्रदेवकेलिये परम्पराप्राप्त बलि-उपहार पूजन रूप अन्याश्रयार्थ उत्सुक चित्तोंके चाञ्चल्यका निराकरण करके गोवर्धनपूजनार्थ सभी व्रजवासिओंके चित्तको अपनेमें निरुद्ध करना, प्रकृत लीलोपयोगी सन्दर्भमें विद्याके तृतीय पर्वरूप योगका अभीष्ट स्वरूप है.

साधनप्रकरणके चतुर्थ (आदितः २२=२५) अध्यायमें: श्री गुणका वर्णन अभिप्रेत है. गोवर्धन पर्वत धारण करके इन्द्रकृत उपद्रवोंसे निजभक्तोंका त्राण करनेके निरूपणमें भगवान्की श्री वर्णित हुयी है.

सह्यासह्य सुख-दुःखादि सभी अवस्थाओंमें भगवान् ही आश्रयणीय

होते हैं. भगवान् भी अक्लिष्टकर्मा होनेसे किसी तरहके क्लेशके बिना ही गोवर्धनधारणद्वारा निजभक्तोंकी रक्षा करते ही हैं, यह प्रकृत लीलोपयोगी सन्दर्भमें विद्याके चतुर्थ पर्वरूप तपका अभीष्ट स्वरूप है.

साधनप्रकरणके पञ्चम (आदितः २३=२६) अध्यायमें: ज्ञान गुणका वर्णन अभिप्रेत है. एक बार ही नहीं परन्तु आनेवाले वर्षोंमें भी अन्याश्रयार्थ कोई व्रजभक्त प्रवृत्त न हो एतदर्थ गर्गाचार्यके वचनोंसे भगवन्माहात्म्यका निरूपण जो किया गया है, वह भगवान्के ज्ञान गुणका ही निरूपण है.

गर्गाचार्यद्वारा निरूपित भगवन्माहात्म्यके ज्ञानके साथ-साथ भगवान्में परमस्नेहरूपा भक्ति ही, प्रकृत लीलोपयोगी सन्दर्भमें, विद्याके पञ्चम पर्वरूप भक्तिका अभीष्ट स्वरूप है.

साधनप्रकरणके षष्ठ (आदितः २४=२७) अध्यायमें: वैराग्य गुणका वर्णन अभिप्रेत है. इन्द्रकेद्वारा अपराध किये जानेके बावजूद इन्द्रको निरस्त करनेके बजाय उसके केवल मदको निरस्त करनेकी लीलामें भगवान्का वैराग्य गुण निरूपित हुवा है.

साधनप्रकरणके सप्तम (आदितः २५=२८) अध्यायमें: षड्गुणोपेत धर्मीका वर्णन अभिप्रेत है. व्रजवासियोंको वैकुण्ठकी साक्षात् अनुभूति करा कर पुनः भजनानन्दके दानार्थ गोकुलमें लाना, यह भगवान्की अपने धर्मी स्वरूपको भलीभांति जतानेकी ही लीला है.

इस तरह दशम स्कन्धका प्रतिपाद्य विषय—अपनी समग्रताके साथ परमात्माका जीवात्माओंके बीचमें प्रकट होकर ऐसी लीला करना कि जीवात्मा प्रापञ्चिक विषयासक्तिके चंगुलसे छूट कर भगवान्में निरतिशय आसक्त बन जाये—के सन्दर्भमें तामस प्रकरणमें ऐसे तामस अधिकारिओंके अर्थात् शास्त्रीय साधनाओंकी सिद्धिसे रहित अधिकारिओंके साथ भगवल्लीला विवक्षित है. इस तामस प्रकरणके अन्तर्गत प्रमेय-प्रकरणमें उन तामस अधिकारिओंके अधिकार स्वभाव और भाव के अनुरूप कैसा प्रमेय स्वरूप भगवान्ने प्रकट किया यह दिखलाना अभीष्ट है. इसी तरह उन भक्तोंने ऐसे प्रकट प्रमेयमें समासक्त हो कर क्या-कैसे साधन किये इसका निरूपण साधन-प्रकरणमें किया गया है.

स्पष्ट है कि यहां जो कुछ लीला वर्णित हुई है उसके आधिदैविक लीलापक्षमें तो भगवान्का प्रमेयबल अर्थात् शास्त्रप्रमाणानुरोधी सामर्थ्य ही प्रकट हुवा है. साथ ही साथ उस लीलाकी कथाको प्रकट करनेमें प्रमेयबलके अन्तर्निहित प्रमाणबलवाले आध्यात्मिक भाव भी विवक्षित हैं ही.

इससे यह सिद्ध होता है कि जहां जीवकेलिये ज्ञातव्यबोधकतया या कर्तव्यसाधकतया आध्यात्मिक प्रमाणबलका निरूपण किया जाता है, वहां प्रमाणान्तर्निहित आधिदैविक प्रमेयबलको भुला नहीं देना चाहिये, "फलमत उपपत्तेः" न्यायानुसार. इसी तरह जहां परमात्माके लीलाविहारकेलिये आधिदैविक प्रमेयबलका निरूपण किया गया हो, वहां उसके प्रमाणबलानुकूल आध्यात्मिक भावोंको भुला कर लीलानिरूपण नहीं करना चाहिये. आत्मभिन्न किसी तत्त्वके प्रमाता प्रमाण प्रमिति या प्रमेय होनेके प्रभेदोंसे रहित एकमात्र अखण्ड सच्चिदानन्द परब्रह्म परमात्मा भगवान् स्वयंको ही लीलार्थ उक्त चतुर्विध प्रभेदोंमें प्रविभक्त कर प्रकट होते हैं. इसी तरह आत्मभिन्न किसी तत्त्वके कर्ता करण कृति या कार्य होनेके प्रभेदोंकी अपेक्षासे रहित ही वह स्वयंको इन चतुर्विध प्रभेदोंमें भी प्रविभक्त कर प्रकट होते हैं. ब्रह्मजिज्ञासार्थ प्रवृत्त वेदान्तसूत्रोंमें ब्रह्मतत्त्वके श्रवण मनन एवं निदिध्यासन केलिये उसकी स्वाभाविक ज्ञानशक्ति एवं क्रियाशक्ति के बारेमें उठते सन्देहोंका वारण अपेक्षित है. भगवल्लीलाके श्रवण कीर्तन एवं चिन्तन केलिये, तन्मूलक पादसेवन अर्चन एवं वन्दन केलिये; तथा इन भक्तिमार्गीय क्रियाकलापोंको दास्य सख्य एवं आत्मनिवेदन रूप लीलात्मक भाव-भावनाओंसे मण्डित करनेकेलिये भगवान्की क्रिया-ज्ञान-रूप उभयविध शक्तिओंके कारण ऐश्वर्यादि षड्गुणोंके द्विगुणित हो जानेसे, जो द्वादशविध शक्तियां अनुभूत होती हैं, उनके साथ भूतलके ऊपर प्रकट भगवान्के लीलागानकी उत्कण्ठाओंको सन्तुष्ट करना, वस्तुतः तो उस सच्चिदानन्दरूप औपनिषद् ब्रह्मका एवं गीतोक्त आत्मानन्दरूप परमात्माका ही भगवदानन्दके रूपमें एक मधुर-मंगल-मृदुल रसास्वादन श्रीमद्भागवत है.

अतएव जैसे वेदान्तसूत्रके बारेमें श्रीमहाप्रभु कहते हैं:—

सन्देहवारकं शास्त्रं वेदप्रामाण्यवादिनाम्।
क्रियाशक्तिज्ञानशक्ती सन्दिह्येते परस्थिते॥

वैसे ही श्रीमद्भागवतके बारेमें भी कहा जा सकता है:—

आनन्दस्य हरेर्लीला शास्त्रार्थो नैकधा हि सा।
नैकधा हि भवेत्तोषः लीलौत्कण्ठ्यवतामिह॥

सम्पादकीय

पृथक्-पृथक् प्रकाशित मूल सुबोधिनी और टीकाओंको जन्मप्रकरणसुबोधिनीकी तरह एककायतया पुनःप्रकाशित करनेके प्रयासमें प्रमाणप्रकरणके बाद यह अब दूसरा ग्रंथ है. श्रीमगनलाल शास्त्रीद्वारा सम्पादित प्रमेय-साधन-प्रकरण-सुबोधिनीजी; एवं प्रकाशव्याख्या श्रीवाडीलाल न. शाहने वि.सं. १९८७-८८में प्रकाशित की थी. श्रीमूलचन्द्र तेलीवाला तथा श्रीधीरजलाल सांकलिया ने टिप्पणीजीकी प्रथमावृत्ति वि.सं. १९७७में तथा द्वितीयावृत्ति वि.सं. २००७में गो.श्रीव्रजरत्नलालजी महाराजश्री (सूरत)के सर्वविध सहयोगसे प्रकाशित की थी. लेख-योजना-कारिकार्थविवरण श्रीधीरजलाल सांकलियाने वि.सं. १९९३में छपवाये थे. श्रीमगनलाल शास्त्रीद्वारा सम्पादित सर्वटीकोपेत स्वतन्त्रलेखयुत वेणुगीतसुबोधिनीजी श्रीवाडीलाल न. शाहने वि.सं. १९८६में प्रकाशित की थी. इन संस्करणोंकी प्रस्तावनायें हम प्रमाणप्रकरणसुबोधिनीमें प्रकाशित कर ही चुके हैं. इन सभी महानुभावोंके हम ऋणी एवं चिरकृतज्ञ हैं.

साधनप्रकरणपर प्रकाश न तो उपलब्ध है और न मुद्रित ही — लिखा गया था या नहीं, यह कह पानेमें भी हम असमर्थ हैं. वेणुगीतप्रकाशके दो संस्करण लघुप्रकाश और बृहत्प्रकाश श्रीमगनलाल शास्त्रीने प्रकाशित किये थे. बृहत्प्रकाश लघुप्रकाशका ही परिवर्धित एवं परिमार्जित रूप होनेसे लघुप्रकाश बृहत्प्रकाशसे गतार्थ है. अतः हमने उसे परिशिष्टतया प्रकाशित किया है. साथमें प्रमेय-साधनप्रकरणसंबंधी स्वतन्त्रलेख भी हमने परिशिष्टमें समाविष्ट किये हैं. जन्म-प्रमाणादि प्रकरणोंसे सम्बन्धी स्वतन्त्रलेखोंको हम फलप्रकरणसुबोधिनीके साथ प्रकाशित करनेवाले हैं.

प्रमाणप्रकरणकी हमारी शैलीको यथावत् निभाते हुए हमने हमारे द्वारा प्रस्तावित पाठ (!) रूपमें दिये हैं; तथा सुबोधिनीपाठके अनुसार श्रीभागवतके श्लोकोंके भी संशोधनका प्रयास किया है. परिशिष्टमें हमने प्रमाणप्रकरणसुबोधिनीका शोधपत्र भी समाविष्ट किया है, जो हमें सहसा ही प्राप्त हो गया.

इस खंडके मुद्रणकार्यमें फॉन्टॅसी टाईपसॅटर्स् (पूना)के श्रीप्रशान्त धवलीकर तथा हमारे सहयोगी श्रीरसिकभाई शाह एवं श्रीमधु ओ. भाटिया के भी हम कृतज्ञ हैं. हस्तलिखित ग्रन्थसंग्राहकोंके प्रति हमारा

यह सविनय अनुरोध है कि सुबोधिनीसे सम्बद्ध अप्रकाशित साहित्यकी झेरॉक्स ही हमें प्रदान करके भी लुप्तप्रायः वाङ्मयके संरक्षणमें सहयोगद्वारा हमें चिरकृतज्ञ बनायेंगे. किमधिकं सुज्ञेषु!

जयति श्रीवल्लभार्यो जयति च विट्ठलेश्वरः प्रभुः श्रीमान्।
पुरुषोत्तमश्च तैश्च निर्दिष्टा पुष्टिपद्धतिर्जयति॥

श्रीवल्लभाब्द ५१६ — *गोस्वामी श्याममनोहर*
अक्षयतृतीया — *असित ज. शाह*

श्रीमद्भागवतदशमस्कन्धान्तर्गत–तामसप्रमेयसाधनप्रकरण–विषयानुक्रमणिका

विषयाः	पृष्ठानि
(१) तामसप्रमेयप्रकरणम्	१—३४१
१. भगवदैश्वर्यधर्मनिरूपकः प्रथमोऽध्यायः (आदितः द्वादशः)	१–७२
पौगण्डवयःश्रितयोः रामकृष्णयोः गोचारण-रूपायां महाक्रीडायां भगवत्कृता बलराम-स्तुतिः	१–४६
खररूपधारिधेनुकासुरादेः बलदेवेन मारणं, सायंकाले व्रजे आगमनं, कृष्णस्य गोपीनेत्रमहोत्सवत्वम्	४७–६८
कालियविषदूषिताम्बुपानात् गतप्राणानां गवां गोपानां च पुनः उज्जीवनम्	६९–७२
२. भगवद्वीर्यधर्मनिरूपको द्वितीयोऽध्यायः (आदितः त्रयोदशः)	७३–१२९
कालियदमनं, नागतत्पत्नीकृतं च भगवतः स्तवनं, नागस्य ह्रदपरित्यागश्च	
३. भगवद्यशोधर्मनिरूपकः तृतीयोऽध्यायः (आदितः चतुर्दशः)	१३०–१४३
यमुनाह्रदे कालियनिवासस्य हेतुवर्णनम्	१३०–१३७
ह्रदनिर्गतेन श्रीकृष्णेन व्रजौकसां दावानलात् रक्षणम्	१३८–१४३
४. भगवच्छ्रीधर्मनिरूपकः चतुर्थोऽध्यायः (आदितः पञ्चदशः)	१४४–१६४
प्रलम्बासुरवधः.	
५. भगवज्ज्ञानधर्मनिरूपकः पञ्चमोऽध्यायः (आदितः षोडशः)	१६५–१७८
मुञ्जाटव्यां गवां गोपानां च दावानलात् रक्षणम्.	
६. भगवद्वैराग्यधर्मनिरूपकः षष्ठोऽध्यायः (आदितः सप्तदशः)	१७९–२४४
प्रावृड्वर्णनं शरद्वर्णनं च	
७. धर्मिरूपभगवन्निरूपकः सप्तमोऽध्यायः (आदितः अष्टादशः)	२४५–३४१
भगवत्कृतवेणुवादनमाकर्ण्य व्रजस्थित-गोपिकाभिः कृतं तद्वर्णनरूपं वेणुगीतम्	
(२) तामससाधनप्रकरणम्	३४३—५८३
१. भगवदैश्वर्यधर्मनिरूपकः प्रथमोऽध्यायः (आदितः एकोनविंशः)	३४३–४०७
कुमारिकाभिरनुष्ठितकात्यायनीव्रतप्रसङ्गे तच्चीरहरणम्	३४३–३९६
गोपबालकेभ्यः परार्थताज्ञानोपदेशः	३९७–४०७
२. भगवद्वीर्यधर्मनिरूपको द्वितीयोऽध्यायः (आदितः विंशः)	४०८–४६३
गोपप्रार्थना, मखे प्रेषणं, विप्रभार्याप्रसादः, द्विजन्मनां पश्चात्तापश्च	
३. भगवद्यशोधर्मनिरूपकः तृतीयोऽध्यायः (आदितः एकविंशः)	४६४–४८५
महेन्द्रयागभङ्गपूर्वकं गोवर्धनयागकारणम्	
४. भगवच्छ्रीधर्मनिरूपकः चतुर्थोऽध्यायः (आदितः द्वाविंशः)	४८६–५१३
गोवर्धनोद्धरणेन सुरेन्द्रगर्वहरणम्	

५. भगवज्ज्ञानधर्मनिरूपकः पञ्चमोऽध्यायः (आदितः त्रयोविंशः) ५१४–५२६
श्रीकृष्णस्य अलौकिकसामर्थ्यदर्शनेन विस्मितान् गोपान् प्रति नन्दकृतं गर्गोक्तिनिरूपणम्
६. भगवद्वैराग्यधर्मनिरूपकः षष्ठोऽध्यायः (आदितः चतुर्विंशः) ५२७–५५३
इन्द्रस्य क्षमाप्रार्थनं कामधेन्विन्द्राभ्यां भगवतः अभिषेकश्च.
७. धर्मिरूपभगवन्निरूपकः सप्तमोऽध्याय-: (आदितः पञ्चविंशः) ५५४–५७६
वरुणलोके नीतस्य नन्दस्य भगवता पुनरानयनम्, ५५४–५६५
व्रजौकसेभ्यः वैकुण्ठप्रदर्शनं ततो उद्धृतिश्च. ५६६–५७६
साधनप्रकरणसुबोधिनीकारिकानुक्रमणी ५७७–५७८
साधनप्रकरणश्लोकपादानुक्रमणी ५७९–५८३
(३) परिशिष्टम् ५८४–६२१
१. स्वतन्त्रलेखाः ५८५–६०४
२. वेणुगीतसुबोधिन्युपरि लघुप्रकाशः ६०५–६१५
३. तामसप्रमाणप्रकरणसुबोधिनीशोधपत्रम् ६१६–६२१

❋ ❋ ❋

॥श्रीकृष्णाय नमः॥

॥श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः॥

॥श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः॥

श्रीमद्भागवतदशमस्कन्धसुबोधिन्यां द्वितीये तामसप्रकरणे अवान्तरप्रमेयप्रकरणे प्रथमः स्कन्धादितः द्वादशोध्यायः

❀ ❀ ❀

यशोदानन्दयोरेवं निरोधः सुनिरूपितः ।
गोपालानां निरोधोत्र सस्त्रीकाणां निरूप्यते ॥(१)॥

टिप्पणी

द्वादशेध्याये प्रकरणार्थोक्तौ **गोपालानां निरोध** इत्यादि– एतयोर्निरोधो

प्रकाशः

लोकप्रसिद्ध्या प्राप्तं प्रक्षिप्ताध्यायत्रयं सङ्क्षेपतो व्याख्यायाथैकादशाध्यायान्त-प्रमाणप्रकरणानन्तरं प्रमेयप्रकरणं व्याचिख्यासवः पूर्वोक्तैतत्प्रकरणयोः सङ्गतिं निरूपयितुं द्वयोरर्थमाहुर्**यशोदे**त्यादि. **एवं** बाल्यभावेन **यशोदानन्दयोर्निरोधः** पूर्वप्रकरणे **सुष्ठु** मुख्यत्वेन **निरूपितः, अत्रास्मिन्** प्रकरणे **सस्त्रीकाणां गोपालानां निरूप्यते.** तथा च प्रतिबन्धकीभूतबाल्यभावकृतनिरोधजिज्ञासानिवृत्ताववश्य-वक्तव्यत्वादवसरसङ्गत्याऽस्मिन् प्रकरणे पौगण्डभावकृतनिरोधो निरूप्यत इत्यर्थः. ननु पूर्वप्रकरण एव सस्त्रीकाणां गोपालानां निरोधस्य श्रीयशोदानन्दनिरोधेन सहोक्तत्वात् किं पुनरत्र तन्निरूपणेनेत्याकाङ्क्षायां टिप्पण्यामाहु**रेतयोरि**त्यादि. तथा च निरोध एषां मुख्यताज्ञापनमेव प्रयोजनमिति पूर्वोक्तनिरोधवैलक्षण्यार्थं निरूप्यत इत्यर्थः (१).

लेखः

द्वादशेऽध्याये **यशोदानन्दयोरि**ति– प्रसङ्गात् सर्वेषामेव निरूपित-स्तथाप्येतयोः **सुष्ठु** मुख्यतया **निरूपित** इत्यर्थः (१).

कारिकार्थः

द्वादशेध्याये **यशोदे**ति. प्रसङ्गात् सर्वेषामेव निरोधः पूर्वप्रकरणे निरूपितः, तथाप्येतयोः **सुष्ठु** मुख्यतया **निरूपित** इत्यर्थः. **अत्रास्मिन्** प्रकरणे **सस्त्रीकाणां गोपालानां निरोधो** मुख्यतयोच्यत इत्यर्थः (१).

नन्वत्र प्रमेयप्रकरण एव मुख्यनिरोधसिद्धावग्रिमप्रकरणवैयर्थ्यमित्याश-ङ्क्याहु**र्मध्यम** इति. यद्यपि वयस्यानां स्वामिनीनां च पूर्वप्रकरणोक्तनिरोधापेक्ष-

मध्यमोयं समस्तानां निरोधः परिकीर्त्यते ।
पञ्चधैवानुभावोत्र दुष्टनिग्रहरूपवान् ॥(२)॥

टिप्पणी

मुख्यतयोच्यत इत्यर्थः(१). **मध्यमोयमिति**. वयस्यानां स्वामिनीनां चाग्रेऽस्मान्निरोधादधिकस्य तस्य वक्ष्यमाणत्वादेतत्प्रकरणोक्तस्तमपेक्ष्य स तयोरपि मध्यम एवेत्यर्थः. **पञ्चधेवेति**— धेनुककालीयदावाग्निद्वयप्रलम्ब**निग्रहा**त्मक इत्यर्थः (२).

प्रकाशः

सुबोधिन्यां नन्वध्यायद्वयेनैव निरोधवैशिष्ट्यसिद्धौ पुनः प्रकरणद्वयं व्यर्थं स्यादित्यत आहु**र्मध्यम** इत्यादि. तथा चोत्तमस्याग्रे साधनप्रकरणे निरूप्यत्वान्न वैयर्थ्यमित्यर्थः. ननु किमत्र मध्यमत्वमित्याकाङ्क्षायां टिप्पण्यामाहु**र्वयस्याना-मि**त्यादि. सुबोधिन्यां ननु भवत्वेवं तथापि धेनुकादिवधोक्तेरत्र किं प्रयोजनमत आहुः **पञ्चधे**त्यादि. कथं पञ्चधेत्यतष्टिप्पण्यामाहु**र्धेनुके**त्यादि. तथा च भगवदनुभावनिरूपणार्थं तन्निरूपणं, भक्तौ माहात्म्यज्ञानस्य पूर्वाङ्गत्वेनावश्यकत्वादिति (२).

सुबोधिन्यां ननु दुष्टनिवारणस्य पूर्वं कृतत्वादत्रापि तेनैवैतदुपकारसिद्धेः पुनः प्रकटीकरणेपि कस्यचिदेकस्य दुष्टस्य निवारणेपि तत्सिद्धेः पञ्चानां निवारणस्य किं

योजना

द्वादशाध्यायविवृतौ **पञ्चधैवानुभावोत्रे**ति. अविद्यायाः पञ्च पर्वाणि— देहेन्द्रियप्राणान्तःकरणाध्यासाः स्वरूपविस्मृतिरूपश्चेति. तन्निवारको भगवदनुभावोत्र निरूपित इत्यर्थः. **दुष्टनिग्रहरूपवानि**ति. देहाद्यध्यासाः स्वरूपविस्मृतिसंज्ञकश्चेति पञ्चपर्वाणि यानि निरूपितानि तान्यत्र धेनुकादयो दैत्या मूर्तिमन्तः, "लोभक्रोधादयो दैत्या" इति कृष्णोपनिषद्भ्यः. तन्निग्रहरूपवान् भगवदनुभाव इत्यर्थः. आध्या-

कारिकार्थः

यस्मिन् प्रकरण अधिको निरोध उच्यते तथापि वक्ष्यमाणनिरोधमपेक्ष्य एतत्प्रकरणोक्तो निरोधो गोपालानां स्वामिनीनां च द्वयोरपि मध्यम एवेत्यर्थः. **पञ्चधे**ति— धेनुककालिय-प्रथमदावाग्निप्रलम्बद्वितीयदावाग्निनिग्रहात्मकः पञ्चधा भगव**दनुभावोत्र** प्रकरणे निरूप्यत इत्यर्थः. एते पञ्च देहेन्द्रियप्राणान्तःकरणाध्यासस्वरूपविस्मृतिरूपाः पञ्चभिरध्यायैः निरूप्यन्ते. तत्र प्रथमो दावाग्निः प्राणाध्यासरूपः, प्रलम्बः अन्तःकरणाध्यासः, द्वितीयदावाग्निः स्वरूपविस्मरणात्मक इति तत्र तत्र स्फुटम्(२).

आध्यात्मिकीमविद्यां वै दूरीकर्तुं तथाकृतिः ।
तदर्थं क्रमतोध्याया उभयेषां तथा द्वयम् ॥(३)॥

टिप्पणी

साधारणानां व्रजस्थानामेतेनान्तःकरणनिरोधप्रतिबन्धकापगम उक्तः, वयस्यानां सखीनां तु मुख्यत्वेन निरोध एकैकेनाध्यायेनोक्त इत्याहुः **उभयेषामि**ति. तत्र निमित्तमाहुः **स्नेहाधिक्ये**ति— साधारणापेक्षयाधिकस्नेहज्ञापनार्थमित्यर्थः. **प्रथमं द्वादशेध्याय** इति श्लोकः. अत्र अयमाशयः. अत्र ह्यादौ लीलासम्बन्धिवस्तुस्वरूपज्ञानं

प्रकाशः

प्रयोजनमत आहु**राध्यात्मिकी**मित्यादि. **तथा कृतिरि**ति पञ्चनिग्रहकृतिः. अत्र किञ्चिद् विशेषं टिप्पण्यामाहुः **साधारणानामि**त्यादि. शिष्टाध्यायद्वयप्रयोजनमाहु**र्वयस्याना**मित्यादि (३).

सुबोधिन्यामेवंविभागस्य प्रयोजनमाहुः **स्नेहे**त्यादि. तदवतार्य तदर्थं टिप्पण्यामाहु**स्तत्रे**त्यादि. सुबोधिन्यां मध्यमत्वं निगमयितुमाहुः **स्नेहान्त** इत्यादि. **स्नेह एवान्तः** फलं यत्र तादृशत्वादयं निरोधो **मध्यम** इत्यर्थः. एवं प्रकरणार्थ उक्तः. एतस्य च प्रमेयप्रकरणत्वं निबन्ध एवमुक्तम्— "अतः प्रमेयसम्पत्त्या कृष्णासक्तिर्हि वर्ण्यत" इति. अर्थस्तु— पूर्वप्रकरणोक्तलीलाभिर्मनः कृष्णासक्तमभू**दतो** हेतोः

लेखः

आध्यात्मिकीमिति. स्थूलदेहाद्यध्यासरूपाधिभौतिकी, लिङ्गदेहाद्यध्यासरूपाध्यात्मिकी, अलौकिकदेहाद्यध्यासरूपाधिदैविकी. इयं तु भगवत्सेवोपयोगित्वात् न निवर्तनीयेति भावः. **उभयेषामि**ति निरोधार्थमिति शेषः (३).

योजना

त्मिकीमविद्यां वा इति. एतानि पञ्चपर्वाणि निवर्तितानीत्यनेनाध्यात्मिकी अविद्यैव निवर्तिता. भौतिकी तु पूतना पूर्वं नाशिता. आधिदैविकी तु लीलोपयोगिदेहाद्यध्यासरूपा तादृग्लीलोपयोगिस्वरूपाज्ञानरूपा चेति सा न निवर्तनीयेति भावः (२-३).

कारिकार्थः

आध्यात्मिकीमित्यादि लिङ्गशरीराद्यध्यासरूपा**मविद्यां दूरीकर्तुम**विद्यापर्वरूपधेनुकादिवधकरणम्. आधिभौतिक्यविद्या पूतनारूपा पूर्वं नाशिता, आधिदैविकी तु लीलासाधकत्वात् न निवर्तनीयेति भावः. **तदर्थं** धेनुकादिवधार्थं **क्रमतः पञ्चाध्यायाः, उभयेषां** वयस्यानां स्वामिनीनां च निरोधार्थं क्रमेण सप्तदशाष्टादशात्मकमध्यायद्वयमित्यर्थः (३).

स्नेहाधिक्यसुसिद्ध्यर्थं स्नेहान्तो[1] मध्यमः स्मृतः ।
प्रथमं द्वादशेध्याये देहाध्यासो हि धेनुकः ॥(४)॥

टिप्पणी

निरूप्यते, तदनन्तरं दशरसात्मकलीलानुभवश्च. तथाच एवं[2]भावोक्त्यनन्तरं देहादिसर्वविस्मृतिरेव वक्तुं युक्ता. सापि न तात्कालिकी किन्तु सार्वदिकीति स्थितौ सत्यां यदेतदग्रे धेनुकवधनिरूपणं तत्तादृग्रूपमित्येव ज्ञेयम्. धेनुकातिरिक्ततदध्यासाभावश्चेत्यपि, अध्यासनिवृतौ [3]तत्स्मृत्यसंभवात्. किञ्च अध्यासस्य अविद्याजन्यत्वनियम इति ग्रहिलवादिनं प्रति "तुष्यतु दुर्जन" इति न्यायेनाहुः –यद्याग्रहस्तदैतमेव धेनुकं तथा मानयेति. आवश्यकदैहिककर्मप्रवृत्तिनिमित्तत्वेन भगवद्भजनप्रतिबन्धकत्वं हि देहाध्यासे; अयमपि स्वाभीष्टभजनप्रकारविशेषानुकूलतद्वनगमनप्रतिबन्धक इति तथा. अत एव मूले "प्रेम्णेदमब्रुवन्नि"त्युक्तम्. गोपेष्टप्रकारस्य भगवदभिमतत्वमपि ज्ञापयितुं सखित्वमप्युक्तम्, अन्यथा 'सोतिवीर्य' इत्यादेः कृतनराहारत्वस्य चोक्तत्वा-

प्रकाशः

प्रमेयस्य भगवतो या **सम्पत्तिर्हार्दी** प्राप्तिस्तया **कृत्वा हि** यतो हेतोः **कृष्णासक्तिर्वर्ण्यते**तः प्रमेयप्रकरणमिति. तेन प्रमेयबलादत्र निरोध इति सिध्यति (३$\frac{१}{२}$).

निरोधश्च प्रपञ्चविस्मृतिपूर्विकासक्तिरतः पूर्वाङ्गस्य पूर्वं वक्तव्यत्वादध्यायार्थमाहुः **प्रथमं द्वादशेध्याय** इत्यादि सार्धद्वयेन. तत् कथमित्याकाङ्क्षा तदर्थं टिप्पण्यामाहु**रत्रायमि**त्यादि. **तादृग्रूपमि**ति देहादिसर्वविस्मृतिनिरूपणरूपमित्यर्थः. **धेनुके**त्यादि. वधस्य विस्मृतिरूपत्वे प्रतियोगिनः स्मृतिरूपता सिध्यति. सैव चात्र **देहाध्यास** इति **धेनुकातिरिक्तो** यो **देहाध्यासस्तदभाव इत्यपि** सिध्यतीत्यर्थः. तत्र हेतुमाहु**रध्यासे**त्यादि. आनन्तर्यमात्रेण स्मृत्यसम्भवमात्रेण च न देहाध्यासरूपत्वमस्योच्यते किन्तु प्रकारान्तरेणापि मूलतो निश्चीयत इत्याशयेनाहुः **किञ्चे**त्यादि **तथे**त्यन्तम्. तथा च कार्यादपि तस्य देहाध्यासत्वनिश्चय इत्यर्थः. **अत एवे**ति भजनप्रतिबन्धकताज्ञापनस्यावश्यकत्वादेव. **उक्तमि**ति "रामकेशवयोः सखे"त्यनेनोक्तम्. तथा च तन्निवृत्तेः **प्रेम्णा** विज्ञापनादपि तस्य तथात्वमित्यर्थः. एवं प्रतिबन्धकत्वं निर्णीय देहाध्यासत्वपरिचायकं भजनप्रतिबन्धकतावच्छेदकं रूपं धेनुके विवृण्व**न्त्यन्यथे**त्यादि. तथा च तद्वनगमनाभावानुकूलं **यदावश्यकं दैहिकं कर्म**

१. स्नेहार्थ इति श्रीहस्ताक्षरपाठः. २. भावोत्पत्त्यनन्तरमिति पाठः. ३. स्मृत्यभावादिति पाठः.

टिप्पणी

त्सम्भावितानिष्टदेशे गमनविज्ञापनं प्रेमविरुद्धमिति तदुक्तिर्विरुद्धा स्यात्. यथा तत्त्वज्ञानस्वभावादेव तदध्यासनिवृत्तिरावश्यकी, तथात्रोक्तरसानुभवस्वभावजनिततत्प्रकारविशेषोत्कटरागतः स्वेष्टलीलाप्रतिबन्धकत्वातिरिक्तस्तद्धर्मो भासमानोपि न बाधकस्तेषां विज्ञप्तावभूदतस्तन्निवृत्तिः, आवश्यकत्वात्. अन्यथा सा न स्यादेव. अत एवाग्रेऽत्युच्चाधिकारवत्प्राप्यं फलं प्राप्तवन्तः (३-४).

प्रकाशः

तत्प्रवृत्तिनिमित्तत्वं चातिवीर्यत्वकृतनराहारत्वाभ्यां भीतिजनकत्वेन धेनुके निश्चीयत इति स देहाध्यासरूपः परिचेय इत्यर्थः. एवं देहाध्यासकार्यजनकत्वेनास्य देहाध्यासत्वं निश्चित्य देहाध्यासनाशकनाश्यत्वेनापि देहाध्यासत्वमस्याहु**र्यथे**त्यादि. **तन्निवृत्तिरि**ति धेनुकनिवृत्तिः. **अन्यथा सा न स्यादेवे**ति, देहाध्यासरूपत्वाभावे निवृत्तिर्न स्यादेव. तथा च यथात्मविषयकनिरुपध्यनुरागद्वारा तत्त्वज्ञाननाश्यत्वं देहाध्यासस्य तथा भगवद्विषयकानुरागद्वारोक्तरसानुभवनाश्यत्वमस्येत्यतोप्ययं देहाध्यासरूप इति भावः. भगवतो रसरूपत्वमात्मत्वं चाविवादमतो न कोपि शङ्कालेश इति दिक्. **अत एवे**त्यादि– देहाध्यासनिवृत्तेरेव देहसम्बन्धिषु स्वकीयत्वबुद्धेर्निवृत्तत्वा**दत्युच्चाधिकारवद्भि**र्यत् **फलं प्राप्यते** सेवकत्वरूपं तत् **प्राप्तवन्त** इत्यर्थः. पुरःस्फूर्तिकं तु तालफलरूपं गतसाध्वसरूपं वा बोध्यम्. एतेन **प्रथममि**तिकारिकोत्तरार्धं पूर्वार्धे हेतुत्वेनान्वेतीति बोधितम् (४).

लेखः

देहाध्यासो हीति. धेनुकपदस्य देहाध्यासवाचकत्वं योगरूढ्योरभावेपि कल्पनया टिप्पण्यां व्याख्यातम्. परोक्षवादस्थले कल्पनाया अपि प्रवृत्तिनिमित्तत्वं

कारिकार्थः

उभयेषां निरोधस्य पृथङ्निरूपणे निमित्तमाहुः **स्नेहाधिक्ये**ति, साधारणापेक्षया अधिकस्नेहज्ञापनार्थं पृथङ्निरूपणमित्यर्थः. एतत्प्रकरणीयनिरोधस्य मध्यमत्वोक्तौ हेतुमाहुः **स्नेहान्त** इति– स्नेह एवान्तः फलं यस्य तादृशो निरोधो **मध्यम** इत्यर्थः. अत्र **स्नेह**पदेनासक्तिर्ज्ञेया, स्नेहान्तनिरोधस्य प्रमाणप्रकरण एव सिद्धत्वात्. व्यसनसिद्धिश्च साधनप्रकरणे, तथा चोक्तं दशमस्कन्धनिबन्धे "सर्वतस्त्वधिकः स्नेहः पूर्वत्र विनिरूपितः आसक्तिस्तु द्वितीये हि तृतीये व्यसनं मतं फलप्राप्तिश्चतुर्थे हि सिद्धो रोधश्चतुर्विध" इति (३$\frac{१}{२}$).

तद्वधो ज्ञानपूर्वो हि फलावधि निरूप्यते ।
कालीय इन्द्रियाण्याहुर्विषयास्तद्विषं मतम् ॥(५)॥
ततः सर्वविनाशः स्यादित्यन्ते मरणाभिधा ।
ततश्चेद् जीविताः सर्वे पुनर्देहान्तरस्थितिः ॥(६)॥

टिप्पणी

एतदेवाहुः **फलावधीति** क्रियाविशेषणेन. **कालीय इन्द्रियाण्याहुरिति**; **इत्याहुरिति** सम्बन्धः, **इति मतमिति** च. **आध्यात्मिकीमविद्यामि**त्युक्तत्वात्तादृशस्यैव देहादेरध्यासनिवृत्तिरत्र कार्या. स च लिङ्गशरीरात्मक इति प्राकृततन्निवृत्तिरेव वाच्या. सैवाध्यायान्ते निरूपिता. अत एव 'दैवोपहतचेतस' इति वक्ष्यति— लीलास्थभक्तजीवनादिकमपि नादृष्टजन्यम्, अलौकिकत्वादिति ज्ञापनाय. एतदेवोक्तमाचार्यैः **ततश्चेज्जीविता** इत्यनेन. देहस्य प्रारब्धजन्यत्वनियमेन तस्य च नष्टत्वेन न तज्जन्योग्रिमो देह इति पूर्वस्माद्भिन्न एवेत्याहुः **पुनर्देहान्तरे**ति. "मृत्युरत्यन्तविस्मृतिरि"ति वाक्यात् हरिविस्मृतेरेव तथात्वम्. तथा च विषयोन्मुखेन्द्रियाणां तद्धेतुत्वात्तथात्वमित्याशयेनोक्तं **कालीय इन्द्रियाण्याहुरि**त्यादि. एतेनैतेषां भगवद्भावातिरिक्तभावाभावः सार्वदिक इति सूचितम्. यद्यपि पूर्वमप्येतेषां तथात्वमेवासीत्तथापि यथा वाचा लीलास्थतर्वादिस्वरूपं ज्ञापितं तथा स्वकृत्यैतेषां स्वरूपमाधुनिकान् ज्ञापयितुं लौकिकमपि भावं स्थापयित्वा तथा कृतवान्. अन्यथा 'दैवोपहतचेतस' इति न वदेद्, अलौकिकत्वात्, लौकिकेष्वेव तथात्वसम्भवादिति भावः (५-६).

प्रकाशः

निवृत्ते देहाध्यास इन्द्रियाध्यासनिवृत्तितः पूर्वमेव विषयाणां '[1]बन्धकत्वं निवर्तत इत्यतोपि तस्य देहाध्यासत्वं निश्चाय्यत इति सुबोधिन्याशयोऽग्रिमकारिकातो ज्ञायते. तथा चायं कारिकार्थ**स्तद्वधो** धेनुकवधो **ज्ञानपूर्वो** धेनुकस्वरूपलीलास्थानस्वरूपज्ञानपूर्वः **फलावधि** यथा स्यात् तथा **निरूप्यत** इति ज्ञेयः. **कालीय इन्द्रियाण्याहुरि**त्यादेरर्थं विवृण्व**न्तीत्याहुरि**त्यादि. **तादृशस्यैवे**त्याध्यात्मिकस्यैव. **तन्निवृत्तिरि**ति लिङ्गशरीरनिवृत्तिः (५).

योजना

ततः सर्वविनाशः स्यादिति— विषरूपविषयसम्बन्धात् सर्वपारमार्थिकहानिः स्यादित्यर्थः (६).

१. बाध".

तत्र प्रथमं ज्ञानं निरूपयन् भगवान् देशशुद्धिं, वनप्रवेशं, वनक्रीडायां मनश्च कृतवानित्याह त्रिभिः **ततश्चे**ति.

वन एव ज्ञानं, सात्त्विकत्वात् तत्रोद्वेगो न भवतीति. तत्र क्रीडायां मनो

प्रकाशः

ततश्चेत्यत्र ज्ञाने निरूपणीये देशशुद्ध्यादिनिरूपणस्य किं प्रयोजनमित्या-

लेखः

"कल्पनोपदेशात् चे"ति सूत्रे व्यवस्थापितम्. धेनुकमारणं देहाध्यासनिवारणं चैकपदवाच्यत्वादैक्येनैत्र भगवता सम्पादितमिति भावः. **ज्ञानपूर्व** इति. अत्र **ज्ञान**पदेन तर्वादिस्वरूपज्ञानं दशरसानुभवश्चेति टिप्पण्यामुक्तम्. यद्यपि बलभद्रं प्रति बोधयति तथापि प्रसङ्गादन्येषामपि श्रवणमिति ज्ञेयम्. **ततश्चेदि**ति ल्यब्लोपे पञ्चमी; तं मरणं प्राप्य पुनर्जीविता इत्यर्थः (४-६).

ततश्च इत्यस्याभासे **तत्रे**ति ज्ञानपूर्वधेनुकवधे निरूपणीये; तस्य वनलीलात्वात् प्रथममिदं त्रयमाहेत्यर्थः. तत् च त्रयं **ज्ञानं निरूपयन्नाह** "सत्त्वप्रधानैव लीले"तिवक्ष्यमाणत्वाद् रसस्वरूपज्ञानं निरूपयन्नित्यर्थः. तादृशलीलार्थं वनप्रवेशे हेतुमाहु**र्वन एवे**ति. वनस्य तत्तद्रसस्वरूपज्ञापकस्तम्भादिसात्त्विकभावहेतुत्वात्

कारिकार्थः

अध्यायार्थमाहुः **प्रथममि**ति. अत्र **ज्ञान**पदेन लीलासम्बन्धितर्वादिस्वरूपज्ञानं दशरसात्मकलीलानुभवश्चेति टिप्पण्यामुक्तम्. फलं चात्र विषाम्भःपानेन परेतानाममृतवर्षिण्या ईक्षया पुनर्जीवनसम्पत्त्या ज्ञानपूर्णालौकिकदेहप्राप्तिः. **फलावधीति** नपुंसकप्रयोगात् क्रियाविशेषणमिति टिप्पण्यां व्याख्यातं, क्रियाविशेषणे द्वितीया क्लीबत्वं चेति वैयाकरणसिद्धान्तात् (४$\frac{1}{2}$).

कालीय इति. अत्र **इति**शब्दमध्याहृत्य **इत्याहुरि**ति व्याख्यातं टिप्पण्यां, तत्रायमाशयः— **आहुरि**तिकर्तरि प्रयोगेण **कालीय**शब्दादनभिहिते कर्मणि द्वितीया स्यात्. **इति**शब्दाध्याहारे तु आख्यातादिभिरिव निपातेनाप्यभिधाने प्रथमानुशासनात् न काप्यनुपपत्तिः. तथा च **इन्द्रियाणी**तिपदमपि प्रथमान्तमेव, **इती**ति निपातेनाभिधानात्. एतदेव हृदि कृत्वा तथा व्याख्यातं प्रभुभिः (५).

तत इति. **तत** इन्द्रियेभ्यो विषयेभ्यश्च **सर्वविनाशः स्यादि**ति बोधयितु**मन्ते** अध्यायान्ते **मरणाभिधा** विषाम्भःपानेन मरणोक्तिः. **ततो** मरणानन्तरमपि **सर्वे जीविताश्चेत्** तदा **पुनः अलौकिकदेहान्तरस्थितिरि**त्यर्थः (६).

निरूपणीयं, प्रवेशश्च ग्रामाद् भिन्नप्रक्रमार्थो वक्तव्यः. तत्र प्रथमं भगवतो मध्यमलीलायां वृन्दावनस्य दैत्यभूयिष्ठत्वात् शुद्धिमाह **तत** इति.

॥ श्रीशुक उवाच ॥

ततश्च पौगण्डवयः श्रितौ व्रजे बभूवतुस्तौ पशुपालसम्मतौ ।
गाश्चारयन्तौ सखिभिः समं पदैर्वृन्दावनं पुण्यमतीव चक्रतुः ॥१॥

पौगण्डं वयः षष्ठवर्षमारभ्य नववर्षपर्यन्तं; पुरुषार्थचतुष्टयसाधककाला-

प्रकाशः

काङ्क्षायामाहुर्**वन एवे**त्यादि. "वनं तु सात्त्विको वास" इतिवाक्येन वनस्य तथात्वात्[1] "सत्त्वात् सञ्जायते ज्ञानमि"तिवाक्याद् ज्ञानस्य तथात्वेन [2]तथेत्यर्थः. अत्र हि कौमारत्यागानन्तरं पौगण्डाश्रय उच्यते; तत्र कौमारे को दोषः कश्च तस्य भाव

लेखः

तत्रैव तद्ज्ञानं भवतीत्यर्थः. मध्ये मार्गमेवं न भवतीति तद्व्यावर्तनायैवकारः. वनस्य तादृशत्वे हेतुमाहुः **तत्रोद्वेगो न भवती**ति. मध्ये मार्गं वक्ष्यमाणसत्कृतिमात्रसम्भवेप्यन्यदर्शनसम्भावनयोद्वेगो भवतीति तेन न तावती लीला यया स्तम्भादिभावा भवन्ति. वने तादृशोद्वेगो न भवतीति वनस्यैव सात्त्विकत्वमित्यर्थः. इदमेव "सत्त्वप्रधानैव लीले"त्यनेन वक्ष्यते. तथा च 'विहर्तुकाम' इतिपदस्य 'वन'पदसमभिव्याहारात् सत्त्वप्रधानलीलाकाम इत्यर्थ इतिभावः. **तत्रे**ति– तादृशवने **क्रीडायां** तस्या मनोजन्यत्वात् **मनो निरूपणीयम**तोग्रिमश्लोकेन तदुक्तमित्यर्थः. ननु "तन्निरीक्ष्य मनो दधे" इतिकथनात् प्रवेशः प्राप्त एवेति भिन्नतयैकेन प्रवेशः कथमुक्त इत्यत आहुः **प्रवेशश्चे**ति. पूर्वाध्यायेपि वनलीलोक्ता, तथा"प्यविदूरे व्रजभुव" इतिवाक्याद् ग्रामसम्बन्धिन्येव. अत्र ततो भिन्नप्रक्रमेण केवलवनलीलाबोधनार्थं प्रवेशश्च वक्तव्य इत्यर्थः. **मनो निरूपणीयमयं च वक्तव्य** इत्यन्वाचयः. **दैत्ये**ति– दैत्यस्य मधोर्भूमौ मधुवने तत्पुत्र्या वृन्दाया वनमस्तीत्यर्थः.

दोषाभाव इति. पौगण्डलीलाभक्तेषु पुरुषार्थान् स्थापितवानिति वक्ष्यते

योजना

ततश्च पौगण्डवय इत्यस्याभासे **भगवतो मध्यमलीलायामि**ति. प्रेमासक्तिव्यसनानि क्रमेण प्रमाणप्रमेयसाधनप्रकरणैर्व्रजजनानां [3]सिध्यन्तीति निबन्धे उक्तम्, अतः प्रमेयप्रकरणे अस्मिन् आसक्तिसाधकलीला मध्यमलीलेत्यर्थः. पशुपालने

१. सात्त्विकत्वादित्यर्थः. २. सत्त्वोद्भवत्वेन देशशुद्धिरपेक्षिता. ३. सिद्धानीति पाठः.

भिमानिन्यो देवता भगवन्तं सेवितुमागताः **पौगण्डशब्देनोच्यन्ते**. दोषाभावः प्रथमं निरूपणीय इति पञ्चात्मकः कालः पूर्वं निरूपितः. **ततस्त**दनन्तरं **पौगण्डमेव वय**स्तारुण्यमिव **श्रितौ व्रजे पशुपालानां सम्मतौ बभूवतुः,** पशूनां पालने वा

टिप्पणी

ततश्च पौगण्डवय इत्यत्र, **दोषाभावः प्रथमम**मित्यादि. पुरुषे हि देहेन्द्रियप्राणान्तःकरणजीवात्मकः सङ्घः. तथात्वं भगवत्यपि भासत इति तदभावनिरूपणेन दोषाभाव उक्तः, प्रमाणप्रकरणत्वात्. तेन भक्तानामपि तथात्वं सिध्यति, अन्यथा सख्यदानं न स्याद्. स चोक्तलीलयैवोक्तः. तथा हि– न हि जीवस्य तादृगुत्सवहेतुत्वं पूतनान्तकत्वं मुक्तिदत्वं वा सम्भवति, न वा स्वापकारकर्त्र्यामपि ब्रह्मादिदुरापपुरुषार्थहेतुकृपायुक्तमन्तःकरणमन्यस्य भवति. "यत्राप्यतिशयो दृष्टः स स्वार्थानतिलङ्घनादि"ति न्यायः सर्वत्र द्रष्टव्यः. न वा पूतनास्तन्यसम्बन्धे प्राणरक्षा सम्भवति. अत एव 'दुर्जरवीर्यमि'त्युक्तम्. अतितोकस्य प्राणधर्मरूपस्तनार्थित्वदशायां प्रवालमृद्वङ्घ्रिस्पर्शमात्रेण शकटे तथात्वोक्त्या चावस्थाविरुद्ध-

प्रकाशः

इत्याकाङ्क्षायां **दोषाभाव** इत्यादेरर्थं टिप्पण्यामाहुः **पुरुषे ही**त्यादि. **स चोक्तलीलयैवोक्त** इति, दोषाभावः प्रमाणप्रकरणोक्तलीलयैवोक्तः. कथमुक्त इत्याकाङ्क्षायां तद् व्युत्पादयन्ति **तथा ही**त्यादि. तत्र पूर्वं जीवत्तां निराकुर्वन्ति **न ही**त्यादि **सम्भवती**त्यन्तम्. अन्तःकरणवत्तां निराकुर्वन्ति **न वे**त्यारभ्य **द्रष्टव्य** इत्यन्तम्. प्राणवत्तां निराकुर्वन्ति **न वे**त्यारभ्य **प्रवेशेपी**त्यन्तम्. इन्द्रियवत्तां (अ!)शुद्धतां च निराकुर्वन्ति

लेखः

एवं वृन्दावने इतिचतुर्भिः. ते च चत्वार इति चतुर्वर्षात्मकत्वं तस्य. कौमारलीलाया भगवति दोषाभावनिरूपणेन भक्तेषु दोषाभावो निरूपितस्ते च पञ्चेति पञ्चवर्षात्मकत्वं तस्येत्यर्थः. **तदनन्तरमि**ति, भगवति दोषाभावेन भक्तेष्वपि दोषाभावसाधकलीलाकालानन्तरं पुरुषार्थसाधकलीलाकालमाश्रितावित्यर्थः. भगवति दोषाभावेन भक्तेष्वपि दोषाभावः सिद्ध इति टिप्पण्यां व्युत्पादितम् **अन्यथा सख्यदानं न स्या**दित्यनेन. **ततश्चे**ति चकारस्यार्थमाहुः **तारुण्यमिवे**ति. **पशूनामि**ति.

योजना

वेति. अस्मिन् पक्षे पालनं पालः, पशूनां पालः पशुपालः, तत्र सम्मतौ योग्यावित्यर्थः. **समं वे**ति. अस्मिन् पक्षे **समं** तुल्यमित्यर्थः ॥१॥

योग्यौ, **तौ** रामकृष्णौ, साधारणं चरित्रमुभयोरिति. अतो **गाश्चारयन्तौ सखिभिः** सख्यपर्यन्तमागतैर्बालकैर्गोरक्षा धर्मः स तैः कार्यते, ऽन्यथा सख्यपर्यन्तं गता यदि विक्षिप्ता भवेयुस्तदा वैकुण्ठे नयनलक्षणमात्मसमर्पणं नोपपद्येरन्. **सखिभिः समं,**

टिप्पणी

कार्यकरणेन भौतिकप्राणराहित्यमेवोक्तं भवति. तृणावर्तगलग्रहणेपि तथा. बकमुखान्तःप्रवेशेपि. स्वमुखकमलेऽखिलप्रदर्शनेनैकदैव लघुत्वगुरुत्वप्राकट्येन रज्जुन्यूनतया चेन्द्रियदेहराहित्यं ज्ञाप्यते. न हि "यः पृथिव्यां तिष्ठन्नि"त्यादि-श्रुत्युक्तधर्मवतीन्द्रियं देहो वा सम्भवति. न हि देहे लघुत्वगुरुत्वे एकदैव सम्भवतः, तावद्रज्ज्वमानं वा. उक्तन्यायोनुसन्धातव्यः. एवं सति देहाद्यभावेन तदध्यासादेरप्य-भावादुक्तगुणैश्च निर्दोषपूर्णगुणविग्रहरूपत्वं सिद्धम्. तेन दोषाभावज्ञापककालाभि-मानिन्यस्ता इति पूर्वं ता एव निरूपिताः. अत्रैव श्लोके **सखिभिः सममि**त्यत्र, **गोरक्षा धर्म** इत्यारभ्य **नोपपद्येरन्नि**त्यन्तम्. ननु गोरक्षा हि वर्णधर्मः, तथा च भगवत्सख्यं प्राप्तानां तदपेक्षाविक्षेपावसम्भावितावित्यनुपपन्नमिति चेद्, अत्रायं भावः– "अधिकं तत्रानुप्रविष्टं न तु तद्धानिरि"तिन्यायेन स्वाभाविकधर्मान् स्थापयित्वैव सख्यं दत्तवान्प्रभुरिति मन्तव्यम्. अन्यथाग्रे दैवोपहतचित्तत्वं विषपानेन चान्यथाभावो नोपपद्यते. अत एव स्वाभाविकपूर्वसर्वधर्मनिवृत्तिर्विषपानकार्य-व्याजेन भगवता कृतेत्युक्तम्. एवं सति सख्यस्य फलपर्यवसायित्वार्थं स्वकर्तव्यं गोरक्षणं तैः कारयति प्रभुः, सख्यं प्राप्तानां प्रभुकर्तव्यकरणस्यैव स्वधर्मत्वात्. अन्यथा तदकरणेन स्वाभाविकधर्मैश्च चित्तमितस्ततो भ्रमद्भगवन्माहात्म्यग्रहणा-क्षमं सद्भगवल्लोकदिदृक्षामपि न जनयेदिति तद्दर्शनमपि न स्यात्. समर्पणे कृतेपि

प्रकाशः

स्वमुखेत्यारभ्य **सन्धातव्य** इत्यन्तम्. सिद्धमाहु**रेवं सती**त्यादि. एवं दोषाभावं साधयित्वा **पञ्चात्मकः काल** इत्यादेस्तात्पर्यमाहु**स्तेने**त्यादि. **ता** इति देवताः. अयमर्थः– यदि हि कालपरिच्छेद्यत्वं स्यात् तदा दोषवत्त्वं सम्भाव्येतापि. तत् तु नास्ति, देशपरिच्छेदस्येव कालपरिच्छेदस्यापि लीलार्थमिच्छयैव प्रकटनादतो न कोपि शङ्कालेश इतिदिक्. सुबोधिन्यां **गोरक्षा धर्म** इत्यादि. तदर्थं टिप्पण्यामाहुर्**ननु गोरक्षा ही**त्यादि. **अन्यथे**त्यादि स्वाभाविकधर्माभावे. अयमेवाचार्याशय इति ज्ञापयितुमाहु**रत एवे**त्यादि. सुबोधिन्या**मन्यथा सख्ये**त्यादिफक्किकां विवृण्व**न्त्यन्यथे-**

समं वा **वृन्दावनमतीव पुण्यं चक्रतुः. समत्**वाद् यागभूमिरेषा, इदानीं **पुण्य**रूपैव जाता. **पदैः** पादन्यासैः; पादयोः पुण्यनिकायोस्तीति पूर्वमवोचाम. पुण्यं ह्यैहिकपारलौकिकसाधनं कामानुरूपफलदं च. इदमपि निःसाधनानां स्वयमेव भगवत्प्राप्तिसाधनरूपं लीलाविशिष्टं सत् स्वतःफलरूपम्– अयमेवातिशयो ज्ञेयः. कामाभावेपि भगवत्प्रापकं च ॥१॥

ततो भगवान् विशेषाकारेण वृन्दावनप्रवेशं कृतवानित्याह **तन्माधव** इति.

तन्माधवो वेणुमुदीरयन् वृतो गोपैर्गृणद्भिः स्वयशो बलान्वितः ।
पशून् पुरस्कृत्य पशव्यमाविशद् विहर्तुकामः कुसुमाकरं वनम् ॥२॥

सामान्यलीलैकेनैवोक्ता. **तत्** तत्र **माधवो** लक्ष्मीपतिर्लक्ष्म्या सह क्रीडां कर्तुं

टिप्पणी

प्रभुश्चेन्न मनुते तदा न तत् सम्पद्यत इत्यात्मीयत्वेनाङ्गीकारे सत्येव तत्सम्पत्तिः. इह तु तदर्थं स्वगृहप्रकटनेनात्मत्वमेव भगवानेतेषु मनुत इति ज्ञायते. तेन अस्य आत्मसमर्पणरूपत्वम्. इदं तु साधनरूपम् अतः साधनप्रकरणे निरूपितम्. फलरूपं तु फलप्रकरणे निरूपयिष्यते. साधनरूपनवविधभक्त्यनन्तरं हि फलरूपाणि तानि नवापि भवन्ति; अतः साधनप्रकरणान्ते निरूपितम्. **पुण्यमतीवे**त्यत्र, **पूर्वमवो-चामे**ति– "या वै लसच्छ्रीतुलसी"ति श्लोक इत्यर्थः ॥१॥

तन्माधवो वेणुमित्यत्र, **लक्ष्म्या सह क्रीडां कर्तुमि**ति, व्रजसीमन्तिन्य एवात्र

प्रकाशः

त्यादि. **अन्यथे**ति भगवता तैस्तदकारणे. **न तत् सम्पद्यत** इति, **नोपपद्येरन्नि**त्य-स्यायमर्थः. **स्वगृहप्रकटनेने**ति वैकुण्ठप्रकटनेन. **अस्यात्मसमर्पणरूपत्वमि**ति वैकुण्ठप्रकटनस्यात्मसमर्पणरूपत्वम्. अत्र मूले **गाश्चारयन्तावि**त्यनेन गोचारणमात्रमुक्तं, पाद्मोत्तरखण्डे तु तत्र दिनादिविशेष उच्यते– "कार्तिकामलपक्षे तौ रामकृष्णौ बुधाष्टमीदिने गोपालतामाप्तौ कृष्णौ षट्सप्तहायनावि"ति ॥१॥

तन्माधव इत्यत्र **लक्ष्म्या सहे**त्यादेरर्थं **शब्दब्रह्मे**त्यादेरर्थं च टिप्पण्यामाहु-

लेखः

अस्मिन् पक्षे पालनं पालः, पशूनां पाले पालने सम्मतौ योग्यावित्यर्थः. **स्वयमेवे**ति. पुण्यं साधितं तत्साधनं भवति; इदं स्वयमेवेत्यतिशयः. **स्वत** इति. पुण्यं फलदमिदं स्वयं फलरूपमिति चातिशयः ॥१॥

शब्दब्रह्म च संवादार्थ**मुदीरयन्. वेणुरि**ति– वश्चेश्च वयौ स्वरूपानन्दविषयानन्दावणू यस्मात् स वेणुरुभयविस्मारकस्तद्वादने विषयिणो मुक्ताश्च सर्वे समायान्त्याध्यात्मिका आधिदैविकाश्चोद्‌बुद्धा भवन्ति. ततो **वृतो गोपै**राधि-

टिप्पणी

लक्ष्मीपदेनोच्यन्ते. एकवचनं तु दिवा कथञ्चित्तथैव सम्भवतीत्याशयेनोक्तम्. अत्रैव **शब्दब्रह्म च संवादार्थ**मिति. अत्र हि स्वच्छन्दविहारार्थं वनप्रवेश उच्यते. स चामर्यादारूप इति मर्यादानिरूपकशब्दब्रह्मणा विसंवादादप्रामाण्यं स्यात्तन्निरासाय तल्लीलास्वरूपनिरूपकं शब्दब्रह्म प्रकटयति. एवं सति यत्र प्रवर्तकशब्दस्यैव मोक्षादिविस्मारकत्वं तत्र तद्विषयस्य कीदृशत्वं वाच्यमिति कैमुतिकन्यायप्रदर्शनार्थं **वेणु**पदव्युत्पत्तिकथनम्. वेदे चातथात्वं स्फुटम्. इदं च

प्रकाशः

व्रजेत्याद्यत्र हीत्यादि च. **स** इति स्वच्छन्दविहारः. **अप्रामाण्यमि**ति प्रमाणागोचरत्वम्. **तद्विषयस्ये**ति प्रवर्तनाविषयस्य भक्तागमनादेरित्यर्थः. **अतथात्वमि**ति वेणुतुल्यत्वाभावः, तदेव विशदय**न्तीदमि**त्यादिना. **फलाविसंवादि चे**ति, भगवत्स्वरूपात्मक[1]फलाविसंवादि चेत्यर्थः. सुबोधिन्यां **विषयिणो मुक्ताश्चे**तिपरोक्षवादो; लौकिकभावयुक्ताः सर्वात्मभावयुक्ताश्चेत्यर्थः. **आध्यात्मिका**

लेखः

विशेषाकारेणेति, सामान्यतस्तु प्रथमश्लोकेप्युक्त एवेति भावः.. **तन्माधव** इत्यत्र **लक्ष्म्या सहे**ति. **माधव**पदसमभिव्याहाराद् **विहर्तुकाम** इत्यस्य **लक्ष्म्या सह विहर्तुकाम** इत्यर्थो, ऽग्रिमश्लोके 'रन्तुमि'त्यस्य "सर्वाभिरेव देवताभिः सह रन्तुमि"-त्यर्थ इतिविशेष इति भावः. **संवादार्थमि**ति, वेणुनादस्य लीलास्वरूपनिरूपकत्वं **वेणु**पदव्युत्पत्त्या निरूपितं; टिप्पण्युक्तकैमुत्येन लीलायास्तदुभयविस्मारकत्वबोधनेन सर्वोत्तमत्वबोधनाय वेणुवादनमित्यर्थः. **स्वरूपानन्दे**ति मोक्षानन्दस्वर्गाद्यानन्दावित्यर्थः. वेणोस्तादृशत्वं साधयन्ति **तद्वादने** इति, यत इति शेषः; यतो वेणु**वादने** सति **विषयिणो** भोगपरा **मुक्ता** निवृत्तिमार्गीयाः शक्रशर्वपुरोगाः **समायान्ति** तद् विहायैतद्विचारपरा एव भवन्तीत्यर्थः. प्रयोजनान्तरमाहुः **आध्यात्मिका** इति. आत्मानं जीवमधिकृत्य वर्तन्ते ते **आध्यात्मिकाः**, देवं भगवन्तमधिकृत्य वर्तन्ते ते **आधिदैविकाः**; उभयानुगुणकर्तारोपि स्वामिनीः समानीय

१. स्वरूपानुभवा°.

देविकैरत एव **स्वयशो गृणद्भिः** भगवद्यशस्तैर्निरन्तरं गीयते. सामर्थ्यार्थं **बलान्वितः,** बलभद्रो हि बलात्मा. क्रियायां पशूनां विनियोग इति **पशून् पुरस्कृत्य** तानादौ क्रियाशक्त्या शुद्धान् कर्तुं **वनमाविशत्.** स्थानमपि **पशव्यं** पशूनां हितं, भगवता पूर्वं तथाकृतत्वात्. **विहर्तुकाम** इति तत्र विहारेच्छया प्रविष्टः, विहारे हि

टिप्पणी

स्वतःपुरुषार्थरूपं फलाविसंवादि च; तेन प्रमाणोत्तमत्वं सूचितम्. तथा चायं मार्गः पुष्टिरूप इति मर्यादामार्गीयप्रमाणाविषयत्वं युक्तमिति भावः. **कुसुमाकरं वनमि**त्यत्र, **रजसैव विहार** इति. रसोद्दीपिका सामग्री **रजः**शब्देनोच्यते. यथा

प्रकाशः

इत्यादि तत्तद्रता धर्मा इत्यर्थः. **रजसैव विहार** इत्यादेरर्थमाहुष्टिप्पण्यां **रसे**त्यादि. अत्रैवं बोध्यं– सर्वस्य मूलं सच्चिदानन्दो भगवान्, गुणाश्च सत्त्वादयो भगवत एवोत्पन्ना इति द्वितीयस्कन्धसुबोधिन्यां स्थितम्. रजसश्च "काम ईहा" इत्येकादश वृत्तय उक्तास्तज्जनकत्वं यथा लौकिकस्य रजसस्तथा भगवद्धर्मरूपस्याप्यतो लोकसदृशी रससामग्र्यलौकिकी वाच्या. किञ्च यद् यज्जनकं तत् तदात्मकमितिव्याप्तिः समन्वयसूत्रे दर्शितेतीह "रसो वै स" इतिश्रुत्युक्तभगवद्रसात्मिकैव सर्वापि सामग्री **रज**आदिशब्दैराचार्यैरुच्यते रसशास्त्ररीतिकलीलाबोधनायेति न कोपि शङ्कालेशः. **सत्त्वप्रधाने**त्यादेरर्थमाहुः **सत्त्वादि**त्यादि ॥२॥

लेखः

भगवन्तं प्रतीक्षन्ते नादश्रवणे भगवानागत इतिज्ञानादुद्बुद्धा भवन्ति. तत आधिदैविका आगत्य स्वामिन्यागमनं भगवते सूचयन्ति इति तैर्वृतो भवतीत्यर्थः. सौन्दर्यं वेशः अमर्यादलीला इत्यादिरूपं यशस्तैर्निरन्तरं गीयते. **सामर्थ्यार्थमि**ति प्रतिबन्धकागमनाभावार्थमित्यर्थः. **बलात्मे**ति बलं प्रतिबन्धकनिरसनसामर्थ्यमात्मनि यस्येत्यर्थः. **क्रियायामि**ति गोचारणलीलायामित्यर्थः. **क्रियाशक्त्ये**ति वनप्रवेशनेनेत्यर्थः. **शुद्धानि**ति, यथा वत्सासुरमारणेन वत्सानां कण्टकशर्कराक्षेत्रप्रवेशहेतुभूतं भावं निवर्तितवानित्युक्तं, तथा वनप्रवेशनेन गवां तं भावं निवर्तितवान्. तथा च **शुद्धां**स्तादृशभावरहितानित्यर्थः. वृन्दावनस्य निर्दुष्टतृणादिमत्त्वमनुपदमेव वक्ष्यतेऽतस्तत्सम्बन्धाद् गवामपि निर्दुष्टत्वं भविष्यतीति भावेन **पशव्य**पदमुक्तमित्याहुः **स्थानमपी**ति. **विहारे हीति– क्रिया** अन्तरङ्गलीला **पूर्णा**स्तम्भादिभावावधिका **विहारे हि** सति **भवती**त्यर्थो ज्ञेयः. **रजोविकासानामि**ति

क्रिया पूर्णा भवति. रजसैव विहार इति स्थानस्य रजस उद्रेकमाह **कुसुमाकरमिति**, **कुसुमानां** रजोविकासाना**माकरं** स्थानभूतम्. **वनमिति**, वनलीला सात्त्विकीति सत्त्वप्रधानैव रजोलीला ॥२॥

पश्चाद् भगवांस्तत्र स्थिताभिः सर्वाभिरेव देवताभिरलौकिकीभिः सह रन्तुं मनः कृतवानित्याह **तदिति**.

तन्मञ्जुघोषालिमृगद्विजाकुलं महन्मनःप्रख्यपयःसरस्वता ।
वातेन जुष्टं शतपत्रगन्धिना निरीक्ष्य रन्तुं भगवान् मनो दधे ॥३॥

मञ्जुर्घोषो येषा**मलीनां मृगाणां द्विजानां** च **कुलैरा**कुलं दृष्ट्वा **रन्तुं मनो दध** इतिसम्बन्धः. यत्र त्रिविधा अपि मञ्जुघोषास्तत्र भूदोषो नास्तीति ज्ञातव्यं;

टिप्पणी

रसशास्त्रसिद्धा लौकिकीरीतिः, तथात्रापीति ज्ञापनाय. अत्रैव **सत्त्वप्रधानैवे**ति, "सत्त्वात् संजायते ज्ञानमि"ति वाक्याद्रसस्वरूपज्ञानपूर्विकैव लीलेत्यर्थः ॥२॥

लेखः

रजोरूप उद्दीपको विकासो येषामित्यर्थः. **सत्त्वप्रधानैवे**ति. स्तम्भादिपर्यन्ता रसस्वरूपज्ञानहेतुत्वात् सात्त्विकी लीला. उद्बोधकोद्बुद्धरसस्य सत्कृतिरूपा लीला रसे लोभजननाद् राजसी. अमर्यादलीला प्रमादमोहनीवीप्रतीतिप्रकारकाज्ञानसम्पादकत्वात् तामसी. इयं त्वधुना वने गृह इव निर्भयतया स्थित्यभावात् न सम्भवतीति **एवकारेण** व्यावर्त्यते. **रजोलीले**ति रसोद्दीपकसामग्रीविशिष्टा लीलेत्यर्थः ॥२॥

तदित्यस्याभासे **पश्चादि**ति तदागमनसूचनानन्तरमित्यर्थः. **सर्वाभिरेवे**ति, पूर्वं त्वेकत्रैव सङ्केतस्य कृतत्वात् तत्रैव रिरंसासीत्, तदुक्तं **लक्ष्म्ये**त्येकवचनेन. सर्वागमनज्ञानानन्तरं तु सर्वत्रैव रिरंसा जातेत्यर्थः. **देवताभिः** क्रीडायोग्याभिः. **अलौकिकीभिः** लोकावेद्यतया स्थिताभिरित्यर्थः. व्याख्याने **तत्र भूदोष** इति नीरसत्वमित्यर्थः. तथा सति तृणपुष्पफलाभावादेते त्रयो न तिष्ठेयुरित्यर्थः. तृणादीनामपि निर्दुष्टत्वात् तदात्मकवनस्य लीलोपयोगित्वमाहुः **तृणे**ति. तत्सम्बन्धिनां वक्ष्यमाणस्वरूपमञ्जुघोषत्वेन तृणपुष्पफलानामप्यास्तरणकुसुमग्रथनफलभोगादिरूपलीलोपयोगित्वमेव. इदमेव निर्दुष्टत्वं, भगवतस्तत्तदाकाङ्क्षायामकालेप्या-

योजना

तन्मञ्जुघोषालीत्यस्याभासे **तत्र स्थिताभिरि**ति वृन्दावनगोवर्धननिकटवर्तिग्रामस्थिताभिरित्यर्थः. **देवताभिरि**ति व्रजवरनितम्बिनीभिरित्यर्थः, परोक्षवादेन

तृणपुष्पफलात्मकं च वनं भवति, तत्सम्बन्धिनश्चेत् निर्दुष्टास्तदा तृणादयोपि निर्दुष्टा एव. अत्राल्यादीनां मञ्जुघोषत्वस्यानुक्तिसिद्धत्वेपि यत् कथनं तेन लोकप्रसिद्धातिरिक्तो भगवत्स्वरूपनादानुभवानन्दजत्वलक्षणो मञ्जुत्वविशेषो यः स उच्यतेऽतो नानर्थक्यम्. अत एव मृगाणामप्युक्तिः, अन्यथा रसोद्दीपकत्वं तेषां लोके न सिद्धमिति तदुक्तिरयुक्ता स्यात्. स्वस्थितिदेशे प्रियस्थितिज्ञापकत्वमपि मञ्जुत्वं तेषां ज्ञेयम्. किञ्च न केवलं दोषाभावस्तत्र किन्तु गुणपूर्णतापीत्याह **महन्मनःप्रख्यपयःसरस्वता वातेन जुष्टमि**ति. अन्तरिक्षदैवत्या हि पशवोऽरण्यप्रतिष्ठाः, तत्र वायुरुभयाधिपतिर्गवामरण्यस्य च. स चेत् सर्वथादोषरहितो गुणवांश्च भवति तदैव लीला सङ्गच्छते, श्रमापनोदनार्थं च तस्यापेक्षा लोकसिद्धा. वृन्दावने सामान्यतः सर्वदोषनिवृत्तेरुक्तत्वाद्

प्रकाशः

तन्मञ्ज्वित्यत्रान्तरिक्षदैवत्या इत्यादेरयमाशयः प्रतिभाति– "वायुर्वा अन्तरिक्षस्याध्यक्षोन्तरिक्षदैवत्याः खलु वै पशव" [1]इतितैत्तिरीयब्राह्मणश्रुतेस्तादृशाः पशवो यदान्तरिक्षप्रधानेऽरण्ये प्रविष्टास्तत्र वायुरन्तरिक्षाध्यक्षत्वादुभयाधिपतिस्तदीयाश्चेत् तद्देशे यान्ति तदा तदधिष्ठातुरानुगुण्यमावश्यकं, यदि सोन्यथा प्रेरयेद् देशं वा शोषयेत् तदा सा लीला तत्र न सङ्गच्छत, इति तस्य निर्दोषत्वं

लेखः

विर्भावात्, तदाकाङ्क्षाभावे कालेप्यनाविर्भावात्. **प्रियस्थितिज्ञापकत्वमि**ति, तेषां निर्जन एव देशे यथेच्छं क्रीडया घोषसम्भवेन तत्रैव ता इति ज्ञानजनकत्वमित्यर्थः. **गुणपूर्णतापी**ति निर्दुष्टगुणवद्वातसेवितत्वमित्यर्थः. **अन्तरिक्षदैवत्या**[2] इति वायवस्येत्याह "वायुर्वा अन्तरिक्षस्याध्यक्षः अन्तरिक्षदेवत्याः खलु वै पशवः वायव एवैनान् परिददाती"तिश्रुतेः. तथा च गावोन्तरिक्षदैवत्या अन्तरिक्षं च वायुदेवत्यमतो वायुर्गवाधिपतिरित्यर्थः. रुद्रदेवत्यपक्षेपि त्रिदेवतापक्षे रुद्रस्यापि वायुभेदत्वाद् गवाधिपतित्वं वायोः. **तदैव लीले**ति, वायोर्दोषराहित्ये गवाधिपतित्वादरण्यस्यान्तरङ्गनिकुञ्जाधिपतित्वात् चान्तरङ्गनिकुञ्जेषु ता न गमयेदितिभावः. [3](**आगन्तुके**ति,

योजना

"देवता"पदवाच्यत्वात् तासाम्. **अन्तरिक्षदेवत्याः पशव** इति, "वायुर्वा अन्तरिक्षस्याध्यक्षः अन्तरिक्षदैवत्याः खलु पशवो वायव एवैतान् परिदधाती"-तिश्रुतेर्वायुरन्तरिक्षस्याध्यक्षः, अन्तरिक्षं पशुदैवतमतो वायोरुभयाधिपतित्वम्.

१. 'स'. २. देवत्या इतिसर्वादर्शेषु. ३. एतदधिकमेकस्मिन्नादर्शे.

वायोरागन्तुकदोष एव परिहर्तव्यः. जलं पुष्पाणि च तत्सम्बन्धीनि शैत्यमान्द्यसौरभ्याणि च गुणाः, तथा सति वायुराधिदैविको भवति. **महतां मनोवद् यत् सरः;** सर्वदोषाभावपूर्वकगुणेषु निदर्शनं महतां मनः, ततोपि **प्रकर्षेण ख्यातिर्यस्य**, भगवल्लीलौपयिकत्वात्. एतादृशं **पयस्तद्युक्तं सरो** लयविक्षेपशून्यं शान्तं तरङ्गादिरहितम्, अनेन शैत्यमान्द्ये निरूपिते. सदादिपदेषु सत्स्वपि **यन्महत्**पददानं तेन सरस्स्वपि नाल्पत्वं महत्परिमाणवत्त्वमेतल्लीलामध्यपात्यतिरिक्ताज्ञातत्वं च ज्ञाप्यते. **शतपत्राणि** कमलानि कुशेशयानि पुष्पविशेषा वा, तेषां **गन्धोस्यास्तीति** सौरभ्यं निरूपितं,

---

प्रकाशः

गुणवत्त्वं च वाच्यमिति. **तत्तत्सम्बन्धिनी**ति वृन्दावनसम्बन्धिनी, तेन निर्दोषत्वबोधनाद् वायोरागन्तुको दोषः[1] परिहृतो; गुणास्तु स्पष्टाः. निर्दुष्टत्वगुणवत्त्वे सामान्यस्यापि वायोः सम्भवत इत्याधिदैविकत्वं बोधयितुं **महन्मन** इत्यादिविशेषणं व्याकुर्वन्ति **महतामि**त्यादि. **महन्मनसो**पि सकाशात् **प्रकर्षेण ख्यातिर्यस्य** तत् **महन्मनःप्रख्यं** तादृशं यत् **पयस्तद्युक्तं** यत् **सरस्त**दस्यास्तीत्येतत्सम्बन्ध्यस्तीति तादृशो यो वायुः. तथा च महन्मनोदृष्टान्तेन लयविक्षेपशून्यताशान्तीनां बोधनादाधिदैविकत्वं बोध्यमित्यर्थः. पुरःस्फूर्तिकं तात्पर्यमाहु**रनेने**त्यादि. अत्र यद्यपि वायोः सरःसम्बन्धिपयःकणयोगेन शैत्यमान्द्ये निरूपिते भवतस्तथापि तादृशपयोयुक्तसरस एतत्सम्बन्धित्वकथनेन शैत्यमान्द्ययोः कश्चिद् विशेषः सूच्यते; स च लौकिकरीतिभिन्नत्वरूप इति तथा. तदेतत् स्फुटीकुर्वन्ति **सदे**त्यादि. **तेनापी**ति वायुना ॥३॥

लेखः

औष्ण्यचण्डतानिकृष्टगन्धश्च वक्ष्यमाणगुणैरेव परिहृतो भवतीति भावः. **जलं पुष्पाणि च** विशेषणान्युक्तानीति शेषः, तेनैते **गुणाः** उक्ता इति शेषः). अग्रे **लयविक्षेपे**ति **लयः** शोषः **विक्षेपः** प्रवाहः; तडागे नद्यां च तत्सम्भवात् **सरः**पदमित्यर्थः. **सदादी**ति, पयसि महन्मनःप्रख्यत्वकथनेन पयस्वति सरसि महत्प्रख्यत्वमुक्तं जातमिति भावः. पयसो मनस्त्वं तत्सम्बन्धेन सरसो महत्त्वं च सादृश्येन कल्पनया; यथा ज्योतिषोऽल्पदोग्धृत्वादिसादृश्येनाजात्वं "ज्योतिरुप-क्रमादि"तिसूत्रे व्युत्पादितं तथात्रापि ज्ञेयं, भागवतेपि वेदफलरूपत्वात् तथा व्याख्यानं कर्तव्यमिति भावः. **पुष्पविशेषा वे**ति, कुशेशयानां रात्रिविकासित्वादिदमुक्तम्. **गन्धोस्यास्ती**ति अस्तिविवक्षायां मत्वर्थीय इन्. **तेनापी**ति, आभासे **मनो दधे** इत्यत्र धातोर्धारणार्थ-

---

१. °कदोषः.

तेनापि चेत् सेवितं तदा **भगवान्** षड्गुणैः सह तत्र रमणार्थं प्रवृत्तः. भृङ्गादिषु त्रयो गुणा वाते च त्रयः, अतो वृन्दावनं षड्गुणैर्युक्तं; स्वसमाने च रमणं भवति ॥३॥

कदाचित् प्राकृतरतिं भगवान् करोतीति कस्यचिच्छङ्का स्यात् तत्परिहारार्थं वृक्षाणां भ्रमराणां मृगपक्षिणां भूमेश्च स्वरूपं वक्तव्यम्. वनं हि भूमिवृक्षात्मकं, तत्स्था अपि यदि दुष्टा भवेयुः स्वरूपतोपि तदापि वनं त्याज्यमिति दोषाभावो

लेखः

मादाय वाक्यार्थ उपक्रान्तः, अत्र पोषणार्थमादाय **प्रवृत्त** इत्यनेनोपसंहृतः— आगमनज्ञानानन्तरं मनः कृतवान्, तादृशवायुसेवितवनदर्शने तूद्बुद्धभावः सन् **प्रवृत्त** एवेत्यर्थः, तथा च (डु!)धाञर्थतावच्छेदकावच्छिन्नो वाक्यार्थ इत्युपक्रमोपसंहाराविरोध इत्याकलनीयम्. तथा च **प्रवृत्त** इत्यस्य मनः पोषितवानित्यर्थः. दर्शनेन प्रवृत्तौ मनःपोषस्यावान्तरव्यापारत्वेपि फलरूपप्रवृत्तिनान्तरीयत्वात् प्रवृत्तित्वेनोक्तः. व्यापारान्तरमाहुः **भृङ्गादिष्वि**ति, साम्यज्ञानं चावान्तरव्यापार इत्यर्थः ॥३॥

"रन्तुं मनो दध" इत्यनन्तर"मेवं वृन्दावने" इत्येव वक्तुमुचितं तथापि मध्ये श्लोकपञ्चकमुपोद्घातार्थमित्याहुः **कदाचिदि**त्यारभ्य **बोधयती**त्यन्तेन. **प्राकृते**ति प्राकृतैः पदार्थैः रतिमित्यर्थः. प्राकृतसामग्र्या रतिं करोतीतिशङ्कायां लीलासामग्री भावनीया न भवेदिति विवरिष्यते. **स्वरूपमि**ति दोषाभावो गुणाश्चेत्यर्थो विवरिष्यते. **भूमेश्चे**ति **चकारेण** तच्छ्लोकोक्तास्तृणवीरुधादयो ज्ञेयाः. भूमिवृक्षयोर्वनस्वरूपत्वमाहुः **वनं ही**ति. **तत्स्था** इति अलयो मृगपक्षिणश्चेत्यर्थः. **स्वरूपतोपी**ति **यदि दुष्टं भवे**दिति पूर्वेणान्वयः. अलीनां मृगपक्षिणां च दोषस्तत्स्थदोषः भूमेर्वृक्षाणां च दोषः स्वरूपदोषः, एवं चतुर्विधदोषे भावनया त्याज्यं स्यादियमविशेषात् सर्वैव च लीलासामग्री भगवद्भावनायां भावनीया न भवेत्. तथा सति मुक्तिरेव सिध्येत् न तु निरोध इत्यवतारप्रयोजनं विरुध्येतेत्येतन्न्यायेन सर्वस्या अपि निर्दोषत्वेनाप्राकृतत्वं निर्धारितं भविष्यतीतिभावेन भगवता रमणारम्भे **दोषाभावो** वक्तव्य इत्यर्थः. तर्हि गोपैरन्योन्यं वक्तव्यं, किं भगवद्बलभद्रसंवादेनेत्याशङ्क्याहु**स्तानि**ति;

योजना

भृङ्गादिष्विति अलिभृङ्गद्विजादिष्वित्यर्थः. **त्रयो गुणा** इति **मञ्जु**पदवाच्यास्त्रयो गुणास्तत्र निर्दुष्टत्वमेको गुणः भगवत्स्वरूपनादानुभवानन्दजत्वलक्षणो द्वितीयः स्वस्थितिदेशे भगवत्स्थितिज्ञापकत्वरूपस्तृतीयः ॥३॥

गुणाश्च वक्तव्याः. तान् भगवानेव जानाति बुध्यते च बलभद्र एव, अतोग्रे प्रत्यक्षतो लीलां कर्तुं तेषां स्वरूपं बलभद्रं बोधयति **स तत्र तत्रे**ति.

स तत्र तत्रारुणपल्लवश्रिया फलप्रसूनोरुभरेण पादयोः ।
स्पृशच्छिखान् वीक्ष्य वनस्पतीन् मुदा स्मयन्निवाहाग्रजमादिपूरुषः ॥४॥

यदि वनस्था न स्वभावं प्रकटयेयुस्तूष्णीं वा तिष्ठेयुस्तदा भगवांस्तेषां स्वरूपं न वदेत् किन्तु त एव नम्रा इत्याह **स तत्र तत्र** सर्वत्र वने**ऽरुणपल्लवानां श्रियो**पलक्षितान् **फलप्रसूनयोरुरुभरेण** स्व**पादयोः स्पृशच्छिखान् वनस्पतीन् वीक्ष्ये**ति. **पल्लवा** अङ्गुलिस्थानीयाः, तेन हस्ताभ्यां नमस्कारः सूच्यते. **फलानि पुष्पाणि** च निवेदयन्ति. साष्टाङ्गश्च नमस्कारः **पादयोः शिखा**स्पर्शेन यथासम्भवं सूचितः.

प्रकाशः

स तत्रेत्यत्र **तूष्णीं वे**ति **वा**शब्द एवकारार्थो वाक्यालङ्कारे. **नम्रा इत्याहे**ति, वैकुण्ठस्था इव प्रकटसच्चिदानन्दा **इति** [1]हेतोराहेत्यर्थः. नम्रत्वमेव स्फुटीकुर्वन्ति **तत्रे**त्यादि **सूचित** इत्यन्तं, तथा च वैकुण्ठस्थैर्यथा तुलसीतपोबहुमानेन[2] स्वस्मिन् सच्चिदानन्दप्राकट्यं बोध्यते तथैतैर्नम्रतेत्यर्थः. तेभ्योप्येतेष्वाधिक्यं बोधयितुं **तानि-**

लेखः

बलभद्र एव च बुध्यत इत्यन्वयः. **अत** इति यतस्तयोरेव बोध इत्यर्थः. **प्रत्यक्षत** इति, प्रतिबन्धकागमनार्थं बलभद्रं ज्ञापयित्वैव लीलाकरणात् तन्मानसप्रत्यक्षविषयत्वेन **लीलां कर्तुं** बलभद्रबोधनमित्यर्थः. **स तत्रे**त्यस्याभासमाहुः **यदि वनस्था** इति. **इत्याहे**ति **इति** "स तत्र तत्रे"तिश्लोकेन **आहे**त्यन्वयः. **उपलक्षितानि**ति "लक्ष दर्शनाङ्कनयोः"; तादृशश्रियाङ्कितान् तत्सहितानित्यर्थः. तथा च सहार्थे तृतीयेति

योजना

भगवानेव जानाति बुध्यते च बलभद्र एवेति. "स्वयमेवात्मनात्मानं वेत्थ त्वं पुरुषोत्तमे"तिवाक्याद् भगवत्स्वरूपं भगवानेव जानाति. वृन्दावनं च साक्षात्पुरुषोत्तमात्मकमेवेति तत्रस्थतरुलतालिमृगपक्षिपश्वादिरूपं भगवदितरो न जानात्यतः प्रभुरेव निरूपयति. बलभद्रस्य वेदात्मकत्वात् स एव बुध्यते. अनेन वृन्दावनस्वरूपं वेदेनापि स्वतो न बुध्यते भगवदुपदेशेन ज्ञायते इति सूचितमिति यत्र सर्वज्ञस्य वेदस्यापीयं व्यवस्था तत्रान्यस्य कथं बोध इति कैमुत्यं दर्शितम्. **स्मयन्नि-**

---

१. [1]हेतोरित्यर्थः. २. [2]माननेन.

तानुद्धतान् (ताननुद्धतान्!) दृष्ट्वा भगवतो हर्षः. **स्मयन्निवे**ति, मन्दहासो मुखप्रसादहेतुः, बलभद्रस्य तदज्ञानाद् विस्मयः, आश्चर्याभावा**दिवे**ति. बलभद्रोप्यावेशित्वेन बोधनीयः, अन्यथा देवताचिन्तनाभावे सा देवता नाविष्टा स्यात्. नन्वावेशापेक्षयावतारो मुख्य इति कथं बलभद्रपरत्वेन तेषां निरूपणमित्याशङ्क्या**हाग्रजमि**ति, अग्रे स एवाविर्भूत इति. तर्हि बोधनमनुचित-

---

टिप्पणी

स्पृशच्छिखान्वीक्ष्येत्यत्र, **तान् उद्धतान्** (ताननुद्धतान्!) **दृष्ट्वे**ति निरुद्धान् दृष्ट्वेत्यर्थः ॥४॥

प्रकाशः

त्यादेरर्थं टिप्पण्यामाहु**र्निरुद्धान् दृष्ट्वेत्यर्थ** इति. तथा च तान् दृष्ट्वा भगवतो न हर्ष एतान् **दृष्ट्वा** तु हर्ष इति महदेवाधिक्यमित्यर्थः. ननु **स्मयन्नि**त्यनेन मायामोहबोधनात् कथं हर्षोवगन्तव्य इत्याकाङ्क्षायां तस्यार्थमाहुः सुबोधिन्यां **स्मयन्निवे**त्यादि. तथा च मन्दहासस्यान्यार्थत्वाद्धर्षो निर्बाधः सुखेनावगन्तव्य इत्यर्थः. ननु भवतु भगवतो हर्षस्तथापि बलभद्रे तेषां स्वरूपबोधनस्य किं प्रयोजनमित्यत आहु**र्बलभद्रोपी**त्यादि. **अन्यथे**त्येवम्भङ्ग्या स्वस्वरूपबोधनाभावे **नाविष्टा स्या**दिति बलभद्रे तिरोहितैव तिष्ठेन्न तु प्रकटा स्यात्. अत्रायं भावः– एते हि साक्षात्पुरुषोत्तमसेवका एवेति तेषामन्यनमस्कारादिकमनुचितं, तथा चात्र साधारण्येन नमस्कारकृतावनन्यत्वभङ्गशङ्का स्यात्. तन्निवृत्त्यर्थं बलभद्रे प्रविष्टं स्वस्वरूपं तदानीं बलभद्राय बोधनीयं येन तस्यापि स्वाभिमानः पृथक्तया

लेखः

बोध्यम्. बलभद्रे सिद्धं बोधनप्रयोजनमाहुः **आवेशित्वेने**ति, चतुर्व्यूहविशिष्टभगवदावेशवत्त्वेन हेतुनेत्यर्थः; तादृशावेशसिद्ध्यर्थं बोधनमित्यर्थः. **अन्यथे**ति, एवम्बोधनाभावे सदोषत्वेन प्राकृतत्वं मत्वा तच्चिन्तनं न कुर्यात् तदा तदावेशो न भवेदित्यर्थः. बलभद्रपरत्वेन निरूपणे हेतुरधुनैवावेशस्य शैघ्र्यमित्यग्रे वदिष्य"न्त्यावेशिनः सर्वभावेने"त्यादिना. [1](अतस्तत्पराणीमानि वाक्यानि न

योजना

वाहाग्रजमादिपूरुष इत्यस्य विवृतौ **अग्रे स एवाविर्भूत** इति. यद्यप्यावेशावतारयो-

---

१. इत्यधिकमेकस्मिन्नादर्शे.

मिति चेत् तत्राहादिपूरुष इति, पुरुषोत्तमः ॥४॥

प्रथमं वनस्पतीनां वैष्णवत्वात् स्वरूपमाहाहो इति.

॥ श्रीभगवानुवाच ॥

अहो अमी देववरामरार्चितं पादाम्बुजं ते सुमनःफलार्हणम् ।
नमन्त्युपादाय शिखाभिरात्मनस्तमोपहत्यै तरुजन्म यत्कृतम् ॥५॥

अहो इत्याश्चर्ये, तेषामवान्तरभेददर्शनं स्मृत्वाश्चर्यमाह **हे देववर! अमी** वृक्षा **अमरार्चितं ते पादाम्बुजं शिखाभिर्नमन्ती**ति सम्बन्धः. प्रदर्शनेन तेषां चेतनत्वं सूचितमाधिदैविकत्वं च. यद्यप्येते देवास्तथापि भवान् **देववरः.** तरतमभावेपि देवानां देवभजनं न युक्तमित्याशङ्क्याहा**मरार्चितमि**ति, **अमरा** ये मुख्यदेवास्तैरप्यर्चितम्. स हि सङ्कर्षणो देवकार्यसाधकोतो भूभारहरणार्थं प्रार्थितोतो यथा तेषां खेदं दूरीकरोष्ये(त्ये!)वं वनस्पतीनामपि तमो दूरीकर्तव्यं, दूरीकरणार्थं प्रवृत्तेः, अतो

प्रकाशः

निवर्तेतेत्येतत् प्रयोजनमित्यर्थः. अयं च सर्वोप्यर्थः स्वरूपबोधनान्यथानुपपत्त्या समर्थितो ज्ञेयः. **पुरुषोत्तम** इति, तथा च महत इदमेव कृत्यं यत् स्वसेवार्थमागतमुत्कृष्टं करोति, यथैकादशस्कन्धे "निरपेक्षं मुनिं शान्तं निर्वैरं समदर्शिनमनुव्रजाम्यहं नित्यं पूयेयेत्यङ्घ्रिरेणुभिरि"ति. तथा च न दोष इत्यर्थः॥४॥

लेखः

त्वावेशाधिकरणशेषपराणीत्यर्थः). तथापि तदपेक्षया अवतारस्य मुख्यत्वात् तत्परत्वेनैव कथनमुचितमित्याहुः **नन्विति** ॥४॥

अहो इत्यत्र **अवान्तरभेददर्शनमि**ति, दोषाभावार्थं सजातीयत्वात् सङ्कर्षण एव नमस्य इति भगवदंशावतारभेदज्ञानं वृक्षाणामित्यर्थः. **प्रदर्शनेने**ति 'अमी नमन्ती'तिप्रदर्शनेनेत्यर्थः. **चेतनत्वमि**ति, नमना**च्चेतनत्वम्** 'असौ लोक' इत्यादिष्वदस्शब्दस्य पारलौकिकपदार्थवाचकत्वेन **अमीपदादाधिदैविकत्वं च सूचितमि**त्यर्थः. **देवकार्यसाधक** इति यज्ञप्रतिबन्धकासुरनिवारणेन यज्ञसाधक इत्यर्थः. **अत एवे**ति

योजना

र्मध्येऽवतारस्य मुख्यत्वात् तत्परत्वं वृक्षादीनां वक्तव्यं न तु बलदेवपरत्वं, तथापि ज्येष्ठभ्रातुरभ्यर्हितत्वस्य वेदे निरूपितत्वाद् धर्ममार्गसरणिमादाय ज्येष्ठभ्रातुरुत्कर्षकथनार्थं तत्परत्वं वृक्षादीनां वर्णितमित्याहुः **अग्रे स एवाविर्भूत इति. तर्हि बोधनमि**ति ज्येष्ठभ्रात्रे उपदेशस्यानुचितत्वादाशङ्क्य. समाधानं तु **आदिपूरुष** इत्यनेन पुरुषोत्तमत्वमादाय, पुरुषोत्तमस्य सर्वगुरुत्वात् ॥४॥

नमन्ति. तमोपहत्या इति, **येन** तमसा **तरुजन्म कृतं;** सजातीयेनैव सजातीयनिराकरणं भवतीत्याधिदैविकतमोनियामकमेव नमस्यन्ति. अत एव भगवता स्वनमस्कारो नोक्तः. मूलभूतं च तमो न कर्मणा ज्ञानेन च गच्छति किन्तु देवतयैव. तरुत्वदोषनिवृत्त्यर्थं त्वां ज्ञापयितुं तरुरूपेणैव नमस्कारं कुर्वन्ति दयासिद्ध्यर्थं च. गुणाधिकारोस्मै दत्त इति मर्यादार्थं तन्निराकरणाय निवेदनं, शिष्टं स्वयमेव करिष्यति. तदर्थं लीला क्रियत एव. यद्वा केनचिद् भगवत्स्थितिमज्ञात्वा तत्प्रश्ने कृते सुज्ञस्तं प्रत्याह– तस्य कदम्बस्य प्रियालस्य पनसस्य वा तले क्रीडतीति. तदा तदज्ञाननिवृत्तिः स्वस्माद् भवत्येतच्च तरुत्व एव सम्भवति नान्यथेति तादृक् **तरुजन्म यत्कृतं, येन** भवता **कृतं, तमोपहत्यै** उक्तरीत्या सर्वेषां तमोज्ञानं तदपहत्यर्थमित्यर्थः. **आत्म**पदस्य **शिखाभिरि**त्यनेन **तरुजन्मे**त्यनेन वा सम्बन्धः. हरौ स्वतले क्रीडत्यन्यदेशीयतरुवन्न मौढ्यं किन्तु तत्सर्वपरिज्ञानमानन्दश्च भवती-

टिप्पणी

अत्रैव **तमोपहत्यै तरुजन्मे**त्यत्र, **तरुत्वदोषनिवृत्त्यर्थमि**ति. अत्रायं भावः– तमसोऽज्ञानहेतुत्वेन ज्ञानविरोधित्वाच्च कदाचित् स्वसमीपे भगवत्यागते स्वसम्बन्धिपत्रपुष्पफलाद्यपेक्षायां च सत्यां पूर्वोक्तदोषेणेदमज्ञात्वा न प्रकटयेयुः स्वजातिस्वभावेन स्वस्वकाले एव च प्रकटयेयुस्तदापराधः स्यात् अत्र तादृक्तरुजन्मवैयर्थ्यं च. अतस्तमोनिवृत्तावज्ञानस्यापि निवृत्तेर्यथोचिता सेवा भवतीति तन्निवृत्तिः प्रार्थनीया, न तु तरुत्वस्यापि, परमेष्टत्वादिति ॥५॥

प्रकाशः

अहो इत्यत्र**ावान्तरभेददर्शनमि**ति, गोपालेषु सत्स्वप्यसमच्चरणयोरनि(योर्नि!)पातेनावेशावतारादिविषयकभेददर्शनम्. **तरुत्वदोषनिवृत्त्यर्थमि**ति तरुत्वसमानाधिकरणदोषनिवृत्त्यर्थम्. तं दोषं टिप्पण्यां स्फुटीकुर्वन्ति **तमस** इत्यादि **परमेष्टत्वादि**त्यन्तम्. सुबोधिन्यां **गुणाधिकार** इत्यादि, तमो**गुणाधिकारोऽस्मै** सङ्कर्षणाय भगवता **दत्त** इति मर्यादारक्षणार्थं तमोनिराकरणाय बलभद्रे कथनमित्यर्थः. **तदर्थमि**ति तरुकृतसेवार्थम्. प्रकारान्तरेण व्याकुर्वन्ति **यद्वे**त्यादि,

लेखः

तमोपहत्यर्थं नमनकथनादित्यर्थः. **नोक्त** इति, कृतस्तु चतुर्व्यूहविशिष्टपुरुषोत्तमनमस्कारः, तन्मध्ये सङ्कर्षणमात्रनमस्कारोत्र भगवता उक्त इत्यर्थः. **मूलभूतं चे**ति, देहकारणीभूतं तमो यावद्देहं न गच्छतीत्यर्थः. **शिष्टमि**ति रसानुभावनमित्यर्थः.

त्यात्मनस्तमोपहत्या इत्यत्रैव सम्बन्धः, अतस्तमुपकारं स्मृत्वा **नमन्ती**ति वार्थः. यद्वा **यद्** यस्माद्धेतो**रात्मन** आत्मीयं, स्वीयत्वेन परिगृहीतमिति यावत्, तादृक् **तरुजन्म कृतम**र्थात् त्वयैवातो **नमन्ती**ति सम्बन्धः. वृन्दावनभूमावुत्पत्तिमात्रेणैव हरिरात्मीयत्वं मनुत इति तथा. यत्रोत्पत्त्यादिरूपधर्माणामेतादृशत्वं तत्र धर्मिणां किं वाच्यमिति भावः. वक्ष्यति चाग्रे " न नः पुरो जनपदा" इत्यारभ्य "नित्यं वनौकस" इति "तस्मात् मच्छरणं गोष्ठमि"त्यादि. **तमः**पदं गुणत्रयोपलक्षकं, विशेषाकथनात् सम्बन्धमात्रेण सर्वेषां तथात्वायेति ज्ञेयं, "मन्निकेतं तु निर्गुणमि"तिवाक्यात् ||५||

एवं वृक्षाणां विज्ञापनमुक्त्वा भ्रमराणां विज्ञापनमा**हैतेलिन** इति.

एतेलिनस्तव यशोखिललोकतीर्थं गायन्त आदिपुरुषानुपथं भजन्ते ।
प्रायो अमी मुनिगणा भवदीयमुख्या गूढं वनेपि न जहत्यनघात्मदैवम् ॥६॥

लोकप्रतीत्या यद्यप्येते झङ्कारमिव कुर्वन्ति तथापि वस्तुत**स्ते यश** एव **गायन्ति.** एतेपि तामसाः परं वृक्षापेक्षया किञ्चित्समीचीनाः– ते तु फलपुष्पाढ्या

टिप्पणी

एतेऽलिन इत्यत्र, **वृक्षापेक्षया किञ्चित्समीचीना** इति, देवापेक्षया मुनीनां तथात्वं स्पष्टम्. वाचनिकं भजनमनुपथं च भजनं रसविशेषोद्दीपकत्वं चाधिकमेतेषु, तेन तथा ||६||

प्रकाशः

पुनस्ततोपि प्रकारान्तरेण व्याकुर्वन्ति **यद्वा यदि**त्यादि –एतेषां पक्षाणां समुच्चय एवेति ज्ञेयम्. **तमः**पदस्य गुणत्रयोपलक्षकत्वे मानमाहु**र्विशेषे**त्यादि, तथा च गुणदूरीकरणे प्रकारविशेषप्रार्थनाभावाद् यथाकथञ्चित् [1]स्वसम्बन्धसम्पादनेन **तथात्वाय** सम्पादितस्वकीयत्वसाफल्याय च नतिरिति ज्ञेयमिति भावः[2] ||५||

एतेलिन इत्यत्र **परं वृक्षापेक्षये**त्यादेस्तात्पर्यं टिप्पण्यामाहु**र्देवापेक्षये**त्यादिना.

लेखः

तदर्थमिति रसानुभावनार्थमित्यर्थः. **वृन्दावने**ति, मूले जन्मन आत्मीयत्वमुक्तं तदनेन साधितम्– उत्पत्तिमत आत्मीयत्वे उत्पत्तेर्हेतुत्वात् जन्मन आत्मीयत्वमुक्तं, तथा च वृन्दावनस्वरूपभूतानामात्मीयत्वे किं वाच्यमितिभाव इत्यर्थः. **वक्ष्यति चे**ति, भगवदीयत्वमत्र सूचितम् अग्रिमवाक्याभ्यां वक्ष्यति चेत्यर्थः ||५||

एतेलिन इत्यस्याभासे **विज्ञापनमि**ति, भगवते स्वदोषाभावगुणविज्ञापन-

१. सम्ब°. २. नतिर्ज्ञेयेतिभावः.

इति **सुमनांसि फलानि चार्हणरूपाणि** पूजारूपाण्यग्रे स्थापयित्वा कायिकं नमनं कृतवन्तः, एते तु राजसा इति फलाद्यभावाच्च वाचनिकीमेव सेवां कुर्वन्ति. ते सङ्गे मुखामोदार्थमायान्तीति न मन्तव्यं यतो **यश एव गायन्तोनुपथं भजन्ति.** प्रार्थना त्वेतेषां नापेक्ष्यते यतो**ऽखिललोकतीर्थं यशो गायन्ति.** सर्वेषामेव यत् शोधकं तदात्मानं शोधयत्येवेत्यविवादम्. प्रभूणां गायका अपि सेवका भवन्ति. कदा वा कृपां करिष्यती**त्यनुपथं** भजनम्. नन्वेते भ्रमरा हीनाः कथं यशो ज्ञास्यन्तीत्याशङ्क्याह **प्राय** इति, **अमी** सर्वे **मुनिगणा** एव **भवदीयेषु** भवत्सेवकेषु **मुख्याः.** ननु ब्रह्मविदो भक्ताः कथं नीचयोनिं प्राप्तवन्त इत्याह **गूढं वनेपि न जहत्यनघात्मदैवमि**ति– भवान् गूढस्तेपि गूढाः, यथा भवान् मनुष्यभावं प्राप्त एवमेतेपि भ्रमरभावं, भवदीयमुख्यत्वादनुपथं भजनं, मुनिगणत्वाद् गानम्. ननु किमिति गूढं भजन्ते? प्रकटमेव देवान्तरं महादेवादिरूपं कथं न भजन्ति? तत्रा**हानघात्मदैवमि**ति, **अनघ**श्चासा**वात्मा दैवं** च. निर्दोषो हि त्यक्तुं न शक्यः, तत्राप्यात्मनः, तत्रापि दैवं, तामसा एव हि सेव्याः. तत्र महादेवादयः स्वसम्बन्धिनोपि देवता अपि भूतगणावृता इति न

प्रकाशः

सुबोधिन्या**मेते राजसा** इति विक्षेपधर्मकत्वाद् राजसाः. यत् पुनः पूर्वं तामसत्वमुक्तं तत् तामसराजसत्वमभिप्रेत्येति न विरोधः. प्रार्थनानपेक्षायां हेतुमाहु**र्यत** इत्याद्य**विवादमि**त्यन्तम्. अनुपथभजनप्रयोजनमाहुः **प्रभूणामि**त्यादि. **एवमेतेपि भ्रमरभावमिति,** तथा च "न कर्मबन्धनं जन्म वैष्णवानां च युज्यते विष्णोरनुचरत्वं हि मोक्षमाहुर्मनीषिण" इतिगारुडवाक्यान्नैषां कर्मबन्धनत्वं भ्रमरत्वं किन्तूक्तहेतुकमिति न दोष इत्यर्थः. **गूढमि**ति "मनुष्यभावेन गूढं मां", **तामसा एव ही**त्यादि, अत्रैवं भाति– "यजन्ते सात्त्विका देवानि"तिगीतावाक्ये तत्तद्गुणवतां तत्तद्गुणकदेवभजनमुक्तं, पञ्चमस्कन्धे च शिवस्य सङ्कर्षणभजनमेवं सति यद्यपि महादेवादिभजनं प्राप्नोति तथापि त एतत्समा इति दुःसङ्गविशिष्टा इति नैतेषां सेव्या ब्रह्मादयस्तु विजातीयत्वान्न सेव्या अन्ये सजातीयास्तु निकृष्टा; अतो मुनित्वात् सर्वमिदमवग-

लेखः

मित्यर्थः. व्याख्याने **तामसा** इति, वृक्षवदेतेषामपि स्वरूपाज्ञानसम्भवादितिभावः. **राजसा** इति रसोद्दीपका इत्यर्थः. **प्रार्थना त्वि**ति, स एव तमोपहतिरूपो दोषाभावो गुणश्च सेवारूपः सर्वत्रानुसन्धेयः, परन्त्वत्र यशसः स्वत एव दोषनिवारकत्वात् प्रार्थना नापेक्ष्यत इत्यर्थः. गानस्य सेवारूपगुणत्वं विवृण्वन्ति **प्रभूणामि**ति. अग्रे **वने**

सेवितुं शक्याः. ब्रह्मादयस्तु स्वसम्बन्धिन एव न भवन्ति, अन्ये तामसा देवता एव न. अत एवानन्यगत्या **गूढमपि भजन्ते, वने** वा **गूढं** यथा भवति तथा, अन्यथा भगवान् रोषं वा कुर्यात्. अत एतेष्वप्यनुग्रहः कर्तव्य इति ॥६॥

मृगपक्षिणां विज्ञापनामाह **नृत्यन्तीति**.

नृत्यन्त्यमी शिखिन ईड्य मुदा हरिण्यः ।
कुर्वन्ति गोप्य इव ते प्रियमीक्षणेन ॥
सूक्तैश्च कोकिलगणा गृहमागताय ।
धन्या वनौकस इयान् हि सतां निसर्गः ॥७॥

हे **ईड्य, अमी शिखिन**स्त्वामागतं ज्ञात्वा नृत्यन्ति, **ईड्ये**ति सम्बोधनादन्ये गायन्ति स्वयं नृत्यन्ति. शिखिनां नृत्यमेव प्रशस्तम् आगमने यो नृत्यति स महान् भक्तः, आगमनमेव तस्याभीष्टं, यतो **हरिण्योपि त ईक्षणेन प्रियं कुर्वन्ति.** कथञ्चित् प्रीतिरुत्पादनीया, ता अपि **मुदा** भवन्तं पश्यन्ति स्वस्य **च** चक्षूंषि भवते प्रदर्शयन्त्यो गोपिकादिस्मारकत्वेन सुखं जनयन्ति. **गोप्य इवेति**, गोप्यो यथा स्वरूपतः सुखजनिका एवं तत्स्मारिका अपि, नाट्यकाव्येषु तथानिरूपणात्. **कोकिलगणास्तु सूक्तैः** स्तोत्ररूपैः **प्रियं कुर्वन्ति**, तासां शब्देन **च** महानानन्दो भवति. एते वनस्था गृहस्था इव **धन्याः**, यत **इयानेव सतां निसर्गः** स्वभावः –

आगते परमस्तोषः प्रियार्थस्योपनायनम् ।
वाक्यैः स्तुतिश्च परमा महत्येतावदेव हि ॥(७)॥

प्रकाशः

त्यानन्यगत्या गूढमपि त्वामेव भजन्त इत्यर्थः. पक्षान्तरमाहु**रन्यथे**त्यादि, **अन्यथे**ति योग्यत्वेपि भजनाकरणे[1] ॥६॥

लेखः

वेति सात्त्विकभावहेतौ रहःस्थले इत्यर्थः. **अन्यथे**ति उच्चैः शब्दे सर्वेषां ज्ञानसम्भवादिति भावः. **अनुग्रह** इति, आत्मीयत्वं माननीयमित्यर्थः ॥६॥

नृत्यन्तीत्यत्र **तासां शब्देन चे**ति, हरिणीनां स्वरूपेण तासां शब्देन च महानानन्द इत्यर्थः ॥७॥

कारिकार्थः

नृत्यन्त्यमीत्यत्र **आगत** इति. अत्र शिखिनां हरिणीनां कोकिलानां च क्रमेण तोषः प्रियार्थनिवेदनं स्तुतिश्चोक्ता (७).

---

१. °का°.

तृणानि भूमिरुदकं सामान्ये गृहमागते॥
अत **आहेयानेव सतां निसर्ग** इति ॥७॥

वृन्दावनभूम्यादीन् स्तौति **धन्येति**.

धन्येयमद्य धरणी तृणवीरुधस्त्वत्पादस्पृशो द्रुमलताः करजाभिमृष्टाः ।
नद्योद्रयः खगमृगाः सदयावलोकैर्गोप्योन्तरेण भुजयोरपि यत्स्पृहा श्रीः ॥८॥

इयं धरणी भूमिर्**धन्या**, तव पादस्पर्शात्, **तृणवीरुधोपि धन्याः. त्वत्पादस्पृशो द्रुमलता अपि धन्याः. करजै**र्नखै**रभिमृष्टा नद्योद्रयः खगा मृगाश्च धन्याः. दयासहितावलोकनैर्गोप्योपि धन्यास्तव भुजयोरन्तरेण** कृत्वा तत्रालिङ्गनं प्राप्य. ननु कथमस्य दुर्लभत्वम्? तत्राह **यत्स्पृहा श्रीरि**ति. भूम्यादीनां विज्ञापनं न किञ्चित् कर्तव्यं यतस्त्वया यथाकथञ्चित् सर्व एव तत्तत्प्रकारेण प्रीणिताः. आवेशिनः सर्वभावेन निरूपणे आवेशाधिकरणभूतः सम्यग् भावयति, ततः शीघ्रमेवाविष्टा सा देवता भवति. अन्यथोभयेषामप्यनिष्टं स्यात् वृन्दावनस्थानां सङ्कर्षणस्य च भजनेऽभजनेपि– देवतान्तरभजनेन तेषां नाशो भगवद्भोग्यानां स्वीकारेणेतरस्य चाभजने तु सर्वदैवाभजनेऽतिक्रमः स्यादन्यस्य च क्रोधः. अतो नित्यस्वावेशसिद्ध्यर्थं बलभद्रस्य प्रबोधनम् ॥८॥

प्रकाशः

धन्येयमित्यत्र. नन्वन्यनिरूपणं बलभद्रबोधनाय भवतु नाम तथापि "गोप्योन्तरेणे"त्यादि त्वसम्भावितमेवेति तत् किमिति वदतीत्याशङ्क्य तन्निरूपण-तात्पर्यमाहु**रावेशिन** इत्यादि. **सम्यग् भावयती**त्यात्मानं तत्त्वेन भावयति. **तेषामि**ति भजनकर्तॄणाम्. **भगवद्भोग्यानामि**ति गोप्यतिरिक्तानामिति ज्ञातव्यम्, "अक्षण्वतामि"त्याद्यग्रिमेण "कृष्णो रेमे" इत्यत्र भगवत एव कर्तृत्वोक्त्या चान्यथा विरोधः स्यात्. **भगवद्भोग्या**पदेन तदतिरिक्ताः सुखेन स्वीकरोतु. भगवदावेशाच्च पुष्पादिग्रहणदोषः परिहृत इति न काप्यनुपपत्तिरत एवाग्रिमाभासे **तत्रत्याना-**

लेखः

धन्येत्यस्याभासे **स्तौती**ति, स्तुतिरुत्कर्षाधायकगुणवर्णनं, तथा चोत्कर्षार्थं दोषाभावं गुणांश्च वर्णयतीत्यर्थः. व्याख्याने, धनं भगवांस्तत्सम्बन्धो यथाधिकारं सर्वत्र ज्ञेयः. **ननु कथमस्ये**ति, आलिङ्गनस्यापि शब्दसूचितं दुर्लभत्वं कथमित्यर्थः. **प्रीणिता** इति, धनयोग्यताकथने तत्सम्बन्धेन धनधर्मप्रीतिजननं सूचितमिति भावः. **अन्यथे**ति अधुनावेशाभावे इत्यर्थः ॥८॥

एवं वृन्दावनस्वरूपं निरूप्यात्रत्यानां च स्वरूपमर्थाद् बलभद्रबोधनं च कृत्वा तादृशे वृन्दावने भगवान् क्रीडां कृतवानित्याहैवमिति दशभिः.

॥ श्रीशुक उवाच ॥

एवं वृन्दावने श्रीमान् कृष्णः प्रीतमनाः पशून् ।
रेमे सञ्चारयन्नद्रेः सरिद्रोधस्सु सानुगः ॥९॥

पौगण्डवयसः पुरुषार्थचतुष्टयसाधककालरूपत्वादादौ पुरुषार्थचतुष्टयप्रतिपादनं क्रमेण, ततो दशरसोद्भावनेन क्रीडा, परमानन्दस्य दशधा रसो लोकेऽनुभूयत इति ब्रह्मानन्दापेक्षया भजनानन्दस्योत्तमत्वप्रतिपादनार्थम्. तथा प्रथमं धर्ममावि-

---

टिप्पणी

एवं वृन्दावन इत्यस्यावतारिकायां, **तत्र प्रथमं धर्ममाविष्कुर्वन्निति**. अत्र हि

प्रकाशः

माधिदैविकवृन्दावनस्थानां स्वरूपं मदुपभोग्यमेवेदमितिरूप**मर्थान्निरूप्य तादृशे** स्वयं **क्रीडां कृतवानित्युक्तम्**. अन्यथा वृन्दावनस्वरूपनिरूपण एव तत्प्राप्तेरस्य निरूपितत्वात् पुनस्तदुक्तिरार्थिकत्वोक्तिश्च निरर्था स्यात्. नित्यस्वावेशेन चान्यभावोत्पत्त्यभावात् तदस्वीकारेणापराधसम्भव[1] इति तथा. "क्वचित् क्रीडापरिश्रान्तमि"त्यत्र या क्रीडा सा तु मल्लयुद्धरूपा तथैव विवृतौ दृश्यमानत्वादिति सर्वमवदातम् ॥८॥

एवं वृन्दावनमित्यत्र श्लोकचतुष्टये पुरुषार्थचतुष्टयप्रतिपादनमुक्तं तत्र धर्मः

लेखः

अर्थादिति 'आवेशिनः सर्वभावेने'त्यादिनोक्तप्रयोजनाद्धेतोस्तत्सिद्ध्यर्थमित्यर्थः, **बलभद्रबोधनं** बलभद्रपरत्वेन बोधनमित्यर्थः. **इत्याहेति**, इदं निरूप्य इदं कृत्वा क्रीडां कृतवा**निति**हेतोस्तदनन्तरं **रमणमाहे**त्यर्थः. तथा च व्याख्याने अध्याहारनिषेधेप्यार्थिकमानन्तर्यमिति भावः.

योजना

एवंवृन्दावने इत्यस्य विवरणे **दशधा रस** इति, शृङ्गारादिभक्त्यन्तै रसै**र्दशधा रस इति** स्वरूपानन्दो **लोके** लीलासृष्टौ **अनुभूयते** इत्यर्थः. **ब्रह्मानन्दापेक्षये**त्यादि— ब्रह्मानन्दे हि एकरूपत्वेन सुखानुभवः भजनानन्दे दशधा रसानुभव इत्याधिक्यम्.

---

१ 'सम्भाव, 'सम्भावनाभाव.

ष्कुर्वन् रतिं कृतवानित्याहै**वंरूपे वृन्दावने कृष्णः पशून् सञ्चारयन् रेम** इति सम्बन्धः. वृन्दावनगुणनिरूपणार्थमेव वचनानामुपयोगा**देवमि**त्यनेनैव सम्बध्यते, अतो निरूप्योक्त्वेत्यादिक्रिया नाध्याहर्तव्या, शाब्दी च सङ्गति**रेवमि**त्यत्रैव योजनीया. यत्र **रन्तुं मनो दधे** यत्र **चोवाच रेमे**न्यानि च कृतवानिति महावाक्ये सर्वेषां सम्बन्धः. यदा पुनस्तत्तदभिमानिदेवताभिः सह रतिं कर्तुमारम्भं कृतवांस्तदा

टिप्पणी

भगवद्दास्यमेव मुख्यो धर्मः, स च वृक्षाणां भगवता निरूपितः. तथा "चैवं वृन्दावने पशून्संचारयन् रेम" इति वाक्येन पूर्ववाक्यानां सम्बन्ध इति तादृशधर्मप्रकटनपूर्वकं रमणं महावाक्यार्थो भवति. स्वयं पशुचारणे क्रीडायां प्रतिबन्धः स्यादिति तदभावाय भगवत्कार्यं स्वयं गोपाः कुर्वन्तीति पशुचारणमपि सेवैवेति स्वधर्म एव. वैश्यानां चायं धर्मो भवत्येवेत्यर्थः समाज इति भावः ॥९॥

प्रकाशः

को वेत्याकाङ्क्षायां तत्र **प्रथमं धर्ममाविष्कुर्वन्नि**त्यनेन यो धर्मोभिसंहितस्तं टिप्पण्यां स्फुटीकुर्व**न्त्यत्र ही**त्यादिना. तथा च भगवद्दास्यरूपो वृक्षधर्मः सेवारूपो गोपधर्मो गोचारणरूपो वैश्यधर्म इति त्रयमप्यभिसंहितमित्यर्थः. सुबोधिन्यां ननु पूर्वं वृन्दावने प्रवेशस्य रन्तुकामताया वृन्दावनवर्णनस्य चोक्तत्वात् प्रकारवाचिन **एवं**पदस्य पूर्वोक्तक्रियाभिः सम्बन्धे वाक्यभेदप्रसङ्गाद् **रेम** इत्यनेन सम्बन्धाङ्गीकारे च क्रीडानामनुक्तत्वेन तदनन्वयात् तदन्वयाय सन्निहितपरामर्शार्थं 'निरूप्ये'त्यादिक्रियाध्याहार्येत्याशङ्कानिवृत्त्यर्थं तद्योजनप्रकारमाहु**र्वृन्दावने**त्यादि, **एवमित्यनेनैवेति**. **एवमि**तिपदं **वृन्दावन**पदेनैव सम्बध्यतेतो नाध्याहार इत्यर्थः. तर्हि कथं शाब्दी सङ्गतिरित्यत आहुः **शाब्दी चे**त्यादि. **एवमित्यत्रे**त्यस्मिन् श्लोके, **अन्यानि चेति** श्लोकान्तरे वक्ष्यमाणानि. **महावाक्य** इति "रेमे रमालालितपादपल्लव"[1] इत्यन्ते वाक्ये. **रेमे-सञ्चारयन्नि**तिसमभिव्याहारसूचितमर्थमाहू **रमणमि**त्यादि. **उभयो-**

लेखः

एवं वृन्दावन इत्यत्र **स्वत एव समागतेति**, आज्ञामनपेक्ष्येच्छामेव ज्ञात्वा सर्वास्वाविष्टेत्यर्थः. **अत** इति, **श्रीम**त्पदसूचितलक्ष्म्यावेशाद्धेतोरालम्बनवाचकैस्ताभिरित्यादिपदैरनुक्तमपि ताभिः सह **रमणं सिद्धमेवेति** हेतोस्त्रयोपि **निरूप्यन्ते** इत्यन्वयः. **अनुभावा** इति, गवां स्मरणे तासामागमनसम्भावनया रसे शङ्का भवती-

---

१. भा. १०।१२।१९.

लक्ष्मीः स्वत एव समागतातो रमणमनुक्तसिद्धमेवेत्यनुभावा उद्दीपनविभावा व्यभिचारिणश्च निरूप्यन्ते. आलम्बनं तु लक्ष्मीरेव. नायकोत्कर्षमाह **कृष्ण** इति, सदानन्दो हि पुरुषोत्तमो. मनश्च करणं, तस्यापि दोषनिवृत्तिपूर्वकं गुणा वक्तव्याः. तदाह **प्रीतमना** इति– **प्रीतं** निर्दुष्टं सन्तुष्टं **मनो** यस्य. **पशून् सञ्चारयन्नि**ति धर्मः. सम्यक् **चारणं** देशविशेषे गह्वरादिवने वक्तव्ये स्वरमणं बाध्येतेत्युभयोरुपयोगार्थं देशविशेषान् निर्दिशत्य**द्रेः सरिद्रोधस्स्वि**ति– पर्वतसम्बन्धिन्यो याः **सरित**स्तासां **रोधस्सु** कूलेषु. तत्र हि हरिततृणानि भवन्ति प्ररूढानि च. पर्वते स्थित्वाधस्तात् स्थित्वा वा तासामन्यत्र गमनशङ्काभावाच्चारयन्नेव रमणं सम्भवति, अत एव सम्यक्

प्रकाशः

रिति भगवतो गवां च. **अनुभाव** इत्यादि, तत्र ये रसाननुभावयन्त्यनुभवगोचरतां नयन्तीतियावत् तेऽनुभावा, ये रसमुद्दीपयन्त्युत्पादयन्तीतियावद् ये बाह्यास्त उद्दीपनविभावा, य इतस्ततो रसेषु सञ्चरन्त्यनेकरसव्याप्या भवन्तीतियावत् ते व्यभिचारिणस्तेऽत्र निरूप्यन्त इत्यर्थः. ते रसतरङ्गिण्यादिभ्योवगन्तव्याः॥९॥

लेखः

ति शङ्कारूपव्यभिचारिभावहेतुत्वाद् धर्मस्य व्यभिचारित्वं, तथा चैते त्रयो मनोदेशधर्मा इति ज्ञेयम्. आलम्बनाकथने हेतुमाहुः **लक्ष्मीरेवे**ति, अनाविष्टाः नालम्बनमित्ये**वका**रः, सा तु **श्रीम**त्पदेन सूचितैवेति भावः. **तस्यापी**ति, नायकेपि **कृष्ण**पदेन सत्त्वं दोषाभाव आनन्दो गुण उक्त **इत्यपि**शब्दः. **कृष्ण**पदसमभिव्याहारात् मनस्यपि सत्त्वं सूचितमित्याशयेनाहुः **निर्दुष्टमि**ति. **उभयोरि**ति चारणरमणयोरित्यर्थः. **रमणमि**ति करोतीति शेषः ॥९॥

योजना

आलम्बनं तु लक्ष्म्येवेति **लक्ष्म्ये**ति तृतीया; **लक्ष्म्या इव** गोपिकाभिः सह क्रीडां कुर्वाणो भगवानेवालम्बनविभावरूप इत्यर्थः, यमालम्ब्य रस उत्पद्यते स आलम्बनविभाव इति रसशास्त्रराद्धान्तात्. **अन्यत्र गमनशङ्काभावात् चारयन्नेव रमणं सम्भवती**ति. इह **चारयन्नेवे**त्यन्तं भिन्ना फक्किका, तथा च **चारयन्नेव रेमे** इति मूले विद्यमानेन **रेमे** इतिपदेनान्वयो बोधितः. ततो **रमणं सम्भवती**तिभिन्ना फक्किका, यत एवं रमणं सम्भवति ततो रेमे इत्यर्थः. न ह्यत्र गोचारणक्रियाव्यापृतस्य भगवतः आनन्दतिरोभावः किन्तु गोचारणं कुर्वत एव रमणसम्भवात् परमानन्दानुभव

चारणम्. धर्मरतौ रक्षायां स्वाभिनिवेशे धर्मरमणयोर्हीनता स्यादिति तद्व्यावृत्त्यर्थमाह **सानुग** इति– अनु पश्चाद्गच्छन्तीत्यनुगाः सेवकास्तैः सहितः ॥९॥

एवं धर्मोद्भावनेन क्रीडामुक्त्वार्थोद्भावनेनापि क्रीडामाह **क्वचिदि**ति.

क्वचिद् गायति गायत्सु मदान्धालिष्वनुव्रतैः ।
उपगीयमानचरितः सखिसङ्कर्षणान्वितः ॥१०॥

मदान्धालिषु गायत्सु क्वचिद् भगवानपि **गायति, अनुव्रतै**र्निजभक्तै**रुपगीयमानचरित**श्च **सखिसङ्कर्षणाभ्यां चान्वितः**. "यदा खलु वै पुरुषः श्रियमश्नुते वीणास्मै वाद्यत" इतिश्रुतेर्वीणानुरणनस्थानीया भ्रमरा भवन्ति. अर्थभोगेनैव गीतमपि गायति, अन्यथा तद्रसोद्रेको न ज्ञापितः स्यात्. सर्वतश्च स एव स्तूयमानोपि

प्रकाशः

क्वचिद् गायतीत्यत्रैवं धर्मोद्भावनेनेत्यादि– धर्मस्य स्वदास्यरूपस्य गोचारणादेश्चोच्चैः प्रकटीकरणेन लीलामुक्त्वार्थस्य स्वस्वरूपस्य स्वप्रसादरूपस्य स्रक्पुष्पफलान्नादेश्च दानादुच्चैः प्रकटीकरणेनेत्यर्थः. **चरितश्चेति**[1] भवतीतिशेषः. ननु कथमत्रार्थोद्भावनमित्याकाङ्क्षायां तदुपपादयन्ति **यदे**त्यादि **युक्तश्चे**त्यन्तम्. **अर्थभोगेने**ति, मातृप्रभृतिप्रेषितवस्तूनां भोगेन वन्यवस्तूनां भोगेन च मदान्धालिसाधर्म्यात् तेषां च मधुगन्धग्राहित्वादिति. किञ्चा**त्रार्थ**पदेन श्रीरपि ज्ञातव्योक्तश्रुत्युपन्यासात्. **स एवे**ति

लेखः

क्वचिदित्यत्र **निजभक्तैरि**ति वेण्वादिकं सङ्गे नयन्ति तादृशैरित्यर्थः. **स**

योजना

इति हार्दम्, अत एतत्सूचनार्थं **सानुग**पदं मूले. अनुगा गाश्चारयन्ति स्वयं तु रमत इति भावः ॥९॥

क्वचिद् गायतीत्यस्याभासे **एवं धर्मोद्भावनेने**ति, "रेमे सञ्चारयन्नद्रेरि"त्यनेन गोचारणाख्यक्रीडानिरूपणेन धर्मोद्भावनमुक्त्वेत्यर्थः. निबन्धे "मोक्षः कामश्चेतिसाक्षात्पुरुषार्थद्वयं मतं तत्साधकत्वं धर्मस्ये"ति व्यवस्थापितं, प्रकृतेपि व्रजसीमन्तिनीभिः सह तृतीयपुरुषार्थरूपरमणस्य साधकं गोचारणमिति धर्मत्वं ज्ञेयम्. साक्षात्पुरुषार्थत्वं शृङ्गाररमणस्य, तत्साधकत्वं गोचारणस्य –एवं व्रजसुन्दरीविचारेपि धर्मत्वं; तासामपि शृङ्गाररमणरूपपुरुषार्थं गोचारणलीलैव साधयति ॥१०॥

---

१. 'त्यन्तं.

भवति परिकरयुक्तश्च. परिकरो द्विविध इति **सखिसङ्कर्षणौ** निरूपितौ स्वसम्बन्धिनः कुलसम्बन्धिनश्चेति. "बन्धुभिर्या न भुज्यत" इत्यर्थे तेषां सहभाव आवश्यकः. समीपे गानं स्तोत्रं वार्थभोग एव; मुनीनां भ्रमरत्वनिरूपणात् समीपे धाष्ट्यार्द् गानं न भविष्यतीति **मदान्धता** निरूपिता. मदोऽत्र भगवत्सान्निध्यानन्दो भक्तिरसोन्मादो वा, वृन्दावने पुष्पेषु मकरन्दश्चरणसमर्पितेषु भक्तिरूप एवेति. **अनु व्रतं** येषामिति तेषामपि स्वसाम्यकरणम्. सर्वे सखायः सङ्कर्षणश्च सम्यगन्वयस्तेषामप्यर्थभोगः सम्यक् सम्पाद्यत इति. **एवं वृन्दावने श्रीमान् कृष्णः प्रीतमना** इति पञ्चपदानि सर्वत्रानुवर्तन्ते ॥१०॥

एवमर्थलीलामुक्त्वा कामलीलामाह **क्वचिच्चेति**.

क्वचिच्च कलहंसानामनुकूजति कूजितम् ।
अभिनृत्यति नृत्यन्तं बर्हिणं हासयन् क्वचित् ॥११॥

प्रकाशः

श्रीयुक्त एव. कोत्र परिकर इत्याकाङ्क्षायां तं स्फुटीकुर्वन्ति **परिकर** इत्यादि. **स्तोत्रं वार्थभोग एवे**त्यर्थस्य प्रसादस्य प्राप्तावेव, अन्यथा गानस्तोत्रयोः स्फूर्तिरिव न स्यात्. मदान्ध्ये तूष्णींस्थितिरेव स्यान्न तु गानमित्याशङ्क्य मदस्वरूपमाहु**र्मदोत्रे**त्यादि. **स्वसाम्यकरणमि**ति स्रगादिदानेन [1]मुख्यभक्ततुल्यभावसम्पादनम्. **अनुव्रत**पदेन भक्ता ग्राह्या, **अनुव्रत**पदव्याख्यानरूपत्वात्, स्वतुल्यभोगसम्पादनं वा. सङ्कर्षणाय तु स्रगादिकमनुच्छिष्टमेव ददातीति ज्ञातव्यम्. एवमर्थोद्भावनमुपपाद्यैतच्छ्लोकोक्तपदानां सर्वत्रावश्यकत्वं बोधय**न्त्येवमि**त्यादि. **सर्वत्रे**त्यग्रिमश्लोकेषु ॥१०॥

लेखः

एवेति अर्थभोगवानेवेत्यर्थः. भक्तेष्वर्थोद्भावनमाहुः **तेषामप्यर्थभोग** इति ॥१०॥

कामलीलामाहेति, भगवत्कूजितबन्धस्वरूपज्ञाने भगवत्कामो भवतीति भावः.

क्वचिच्चेत्यत्र **रसार्थमि**ति कूजितोद्गतरसानुभवार्थमित्यर्थः. **सम्बद्धस्येति**

योजना

क्वचिच्चेत्यस्याभासे **एवमर्थलीलामुक्त्वे**ति "क्वचिद् गायति गायत्स्वि"ति पूर्वश्लोकेनेत्यर्थः. भगवत्कर्तृको गानादिसम्पत्तिभोगो भगवतोर्थलीला. तादृगर्थलीलामनुभवन् भगवानेवार्थरूपपुरुषार्थस्वरूपो भक्तानाम् ॥११॥

---

१ मुख°.

कलहंसानां कूजितमनुकूजति, कामे हि द्वयं कर्तव्यं– कूजितं रसोद्गमनार्थं बन्धाश्च रसार्थम्. तत्र मयूरस्य मयूर्या सह सम्बद्धस्यैव मत्तस्य गात्रविक्षेपे सर्वतो रस एकीभूय नेत्राभ्यां निर्गतो मयूर्या मुखे प्रविशत्यूर्ध्वं च रेतो निर्गच्छति ज्ञानद्वारा च. अन्ये सर्वे कामे प्राकृता एव रसाः, अत एव विचित्रं तत्र कार्यमुत्पद्यते. शब्दो हि मनःपूर्वक इति रसारसयोर्भेदकस्य हंसस्य मानसैकशरणस्य तादृशं भवति **कूजितम्**, अत एव सर्वविलक्षणत्वं हंसे वक्तुं **कलहंस** उक्तः, स हि कलानां हंसः,

---

प्रकाशः

क्वचिच्च कलहंसेत्यत्र. भगवान् स्वकामलीलामलौकिकीं ज्ञापयितुं तद्धेतुभूतं रसमलौकिकमेव प्रकटयति तादृशं च मयूर इति तमभिनृत्यतीति शुकाशयं प्रकटीकर्तुमाहु**स्तत्र मयूरस्ये**त्यादि **द्वारा चे**त्यन्तं, तथा चात्र **गात्रविक्षेप** एव बन्धस्थानीय इत्यर्थः, केवले रसे तथैव सिद्धत्वादिति. ननु तथापि बन्धाभावान्न्यूनतेवेत्यत आहु**रन्य** इत्यादि, बन्धवन्तः. **प्राकृत** इति सप्तमी उपयोगिन इत्यर्थात्. अप्राकृतत्वे गमकमाहु**रत एवे**त्यादि, तथा चात्र नृत्यमात्रेणैव सा लीलेत्यर्थः, तेनात्र "हरेर्दिदृक्षैव काम" इति स्फुटीभविष्यति. यथाऽलौकिके रसे मयूरस्तथाऽलौकिके कूजिते कलहंस इत्याशयेनाहुः **शब्दो ही**त्यादि. **कलानां हंस**

लेखः

सहितस्येत्यर्थः. **अन्ये सर्वे** इति जीवनिष्ठा आश्लेषादय [1](स्तत्स्वभावाद् जायन्ते मुख्यो भोगस्तु रसनिर्गमनमेवातोनुकरणं तस्यैव) इत्यर्थः. **अत एवे**ति कामस्य विलक्षणत्वादेवेत्यर्थः. **शब्द** इति, शब्दस्य मनःपूर्वकत्वात् तज्जनकं मनःसम्बन्ध्येव किञ्चिद् वाच्यमतो **मानसैकशरणस्यै**व **कूजितं** [2]**तादृशं** भगवत्कूजितजनकं **भवती**त्यर्थः. **मानस**पदे श्लेषो ज्ञेयः– कूजितस्य भगवदीयत्वात् तज्जनककूजितवति रसारसयोर्भेदकत्वमुक्तं, तथा च तदनुकरणेन भगवता स्वकूजितस्य यत्र यथोचितं तत्र तथा श्रवणमश्रवणमन्यथाश्रवणं वा भवतीति रसारसभेदपूर्वकत्वं बोधितं स्वस्य मानसैकशरणत्वं च; **मानसमेवैकं शरणं** गृहं यस्य तत्त्वम्, अन्तःकरणसम्बन्धित्वमित्यर्थः. उपलक्षणेन सर्वस्यैवेन्द्रियकार्यस्य रसारसभेदपूर्वकत्वं बोधितमिति भावः. **अत एवे**ति भगवत्कूजितजनककूजितवत्त्वादेवेत्यर्थः. **सर्वे**ति जीवान्तरविलक्षणत्वमित्यर्थः. **कलानामि**ति अव्यक्तमधुरशब्दानां **हंसः** प्रकाशक इत्यर्थः. **हंसानां कूजितमि**ति बहुवचनैकवचन-

---

१. इत्यधिकमेकस्मिन्नादर्शे. २. 'तादृशमिति भगवत्कूजितरूपशब्दजनकमित्यर्थ' इत्येकस्मिन्नादर्शे.

बहूनामेकविधप्रतिपादकत्वे तदर्थनिष्णातत्वं भवति. भगवांस्तु सर्वेषामेव **कूजितं** रसावान्तरभेदाविर्भावार्थम**नुकूजति. अमितश्च नृत्यन्तं बर्हिणं नृत्यति** यदि मयूरो मयूर्या सह रसेन नृत्यति, अन्यथा मेघादिदर्शनेन स्वभावतो वा यदि नृत्यति, तदापि भगवान् नृत्यति रसाभासभावाभासनिरूपणार्थेऽन्यथा रसः पुष्टो न भवेत्. तदाह **हासयन् क्वचिदिति**, कदाचिद् **बर्हिणं हासयन् नृत्यति--** बाला बर्हिणं हसन्ति नायं सम्यक् नृत्यतीति. सर्वदैवमिति निषेधार्थमाह पुनः **क्वचिदिति** ॥११॥

मोक्षलीलामाह **मेघगम्भीरयेति**.

मेघगम्भीरया वाचा नामभिर्दूरगान् पशून् ।
क्वचिदाह्वयति प्रीत्या गोगोपालमनोज्ञया ॥१२॥

वाचा दूरगान् पशून् नामभिर्भगवान् क्वचिदाह्वयतीति सम्बन्धः. भगव-

---

प्रकाशः

इत्यव्यक्तमधुरशब्दानां विवेचको **भवती**ति ज्ञापितं भवति. एवं रसं निश्चित्य **क्वचिच्चे**तिमूलस्थपदद्वयस्यार्थमाहु**र्भगवांस्त्वि**त्यादि ॥११॥

मेघगम्भीरेत्यत्र मोक्षलीलां व्युत्पादयन्ति **भगवत्सायुज्यमि**त्यादि. मोक्षस्य मार्गद्वयभेदभिन्नत्वादुभयपरत्वेन व्याख्येति ज्ञेयम्. तत्र सह युनक्तीति सयुक् तस्य भावः सायुज्यं, तथा च भगवता सह प्राथमिकसंयोग इति फलति. मुक्तिश्च दुःखाभावरूपा. मार्गान्तरे तु सायुज्यं स्वरूपप्रवेशात्मकं मुक्तिश्च स्वरूपेण व्यवस्थानम्.

लेखः

योस्तात्पर्यमाहुः **बहूनामिति**, बहुप्रतिपादितस्यैकस्य श्रवणे श्रोता तन्निष्णातो भवतीति भगवति कूजितनिष्णातत्वं सूचितमित्यर्थः. **भगवांस्त्वि**ति, हंसस्त्वेक एकविधं कूजितं करोति भगवांस्तु सर्वेषामेवेति **तु**शब्दः. [1](**हासयन् क्वचिदि**त्यस्याभासमाहु**रन्यथा मेघादी**ति. क्रीडायामेतद् द्वयमप्यस्तीति ज्ञापयितुमेवं नृत्यन्तमभिनृत्यतीत्यर्थः. आद्यनृत्यपक्षे तु रस एवास्तीति तत्र **रसेने**त्युक्तम्.) **तदाहे**ति रसपोषकोभयनिरूपणार्थमिदं नृत्यमिति शृङ्गारोद्बोधकनृत्ययुक्तस्य हासविषयत्वकथनेन भावस्य पक्षिनिष्ठत्वकथनेन चाहेत्यर्थः ॥११॥

मेघगम्भीरयेत्यत्र **मुक्तिश्चे**ति संसारात् मोचनमित्यर्थः. अत्रापि स्वस्य सहयोगस्तृणादिविषयात् मोचनं च सम्पादनीयमिति भावः. **तत्तद्धर्मे**ति-- श्रवण-

---

१. इत्यधिकमेकस्मिन्नादर्शे.

त्सायुज्यं मुक्तिश्च भगवद्दत्तैव भवति, सर्वशास्त्रनिरूपितानां साधनानां भगवति तत्तद्धर्मसम्बन्धजनकानां ततः प्रतिफलितानां भगवत्कृतानामेव साधकत्वमिति सिद्धान्तः, "यदनुस्मर्यते काले स्वबुद्ध्या भद्ररन्धन येनोपशान्तिर्भूतानामि"त्यत्र विशेषतो निरूपणात्. अतो भगवन्नामस्मरणं कीर्तनं च भगवता नामग्रहणार्थम्. तदपि ग्रहणं सर्वेषां तापनिवर्तकरूपेण, तदपि कृपयावसरे, यदा ते दूरं गता भवन्ति.

प्रकाशः

सोभयविधापि **भगवद्दत्तैव भवति,** "मोक्षमिच्छेत् जनार्दनादि"तिवाक्यात्. ननु तयोर्भगवद्दानैकप्राप्यत्वे शास्त्रोक्तसाधनानां का गतिरित्याकाङ्क्षायां तेषां गतिमुपपादयन्ति **सर्वे**त्यादि. **सर्वेषु शास्त्रेषु** मोक्षप्रतिपादकेषु श्रुतिपुराणयोगसाङ्ख्यादिषु **निरूपितानां साधनानां** ज्ञानोपासनाचित्तनिरोधसन्न्यासादीनां स्वनुष्ठितत्वे सति साधनस्योत्कृष्टतासम्पादको यो मनोधर्मस्तदेकतानतारूपस्तेन स्वस्य भगव**त्सम्बन्धजनकानां ततो** भगवद्बुद्धौ **प्रतिफलितानां** ततो भगवानपि तानि करोति. यथा शरतल्पे गते भीष्मे भगवन्तं ध्यायति भगवानपि तं ध्यातवानिति राजधर्म उक्तं "शरतल्पगतो भीष्मः शाम्यन्निव हुताशनो मां ध्याति पुरुषव्याघ्रस्ततो मे तद्गतं मन" इत्यादिभिः कतिपयैः श्लोकैर्यथा च ध्रुवे भगवति सङ्गतात्मनि सति भगवांस्तत्र गत्वा तस्मा आत्मानं प्रदर्शितवानिति चतुर्थस्कन्ध उक्तं तथा **भगवत्कृतानामेव** मोक्ष**साधकत्वमिति सिद्धान्तः.** तथा चैवं शास्त्रोक्तसाधनानां गतिरित्यर्थः. ननु निदर्शनस्य क्वाचित्कत्वेन सर्वत्रैवं शास्त्रार्थाङ्गीकारे किं मानमत आहु**र्यदन्वि**त्यादि. इदं हि चतुर्थस्कन्धे प्रचेतोभिर्भगवन्तं प्रत्युक्तम्. एतस्य पूर्व"मेतावदेव प्रभुभिर्भाव्यं दीनेषु वत्सलैरि"त्यर्धमस्ति, एतस्याग्रे "क्षुल्लकानामपीहतामि"तिचतुर्थः पादोस्ति. तथा चात्रैवं विशेषतो निरूपणादिदमेव मानमतो महतां क्षुल्लकानां च भगवता तदनुस्मरणे कृत एव कार्यसिद्धिरिति निर्विवादमित्यर्थः. एवं साधनगतिमुपपाद्य सिद्धमाहु**रत** इत्यादि. एवं प्रकृतोपयोगशास्त्रार्थं निरूप्य **मेघगम्भीरये**त्यादि व्याकुर्वन्ति **तदपि ग्रहणमि**त्यादि, **ग्रहणमि**ति नामग्रहणम्. दूरगतावेवाह्वाने हेतु-

लेखः

कीर्तनादि**धर्मद्वारा सम्बन्धजनकानां** श्रवणादीनामित्यर्थः. **भगवत्कृतानामि**ति, "श्रोतव्यः कीर्तितव्यश्च स्मर्तव्यश्चेच्छताभयमि"तिवाक्योक्तानां त्रयाणां **भगवत्कृतानामेव साधकत्वम्.** भक्ता एतत्साधनं भगवते विज्ञापयन्तीति श्रवणम्, अयं मोचनीय इतिचिन्तनं स्मरणम्, आतिवाहिकेभ्यस्तादृशाज्ञादानं च कीर्तनमित्यर्थः.

यथा ते साक्षात्कृतस्य भगवतो नाम न गृह्णन्ति तथा भगवानपि **दूरगानेवाह्वयति.** पशवः सर्वथा गत्यन्तररहिताः स्वतो बुद्धिरहिताश्च. तदपि नामग्रहणं **प्रीत्यैव,** अन्यथान्यस्य विषयनिवारकत्वं न सम्भवति, प्रत्यक्षापेक्षया शब्दस्य दुर्बलत्वात्. सापि चेद् वाण्यलौकिकी न भवेत् तदाऽलौकिकं फलं न प्रयच्छेदिति ज्ञापयितुं **गोगोपालमनोज्ञयेत्**युक्तं, गवां गोपालानां च मनोज्ञा भवति साक्षाद्वाणी. गोपाला गुरव इव, गावोऽधिकारिण्य इव, उभयेषां मनोज्ञता पूर्वं ततः फलानुभवात्. इमामेव हि लीलां भगवान् मुक्तौ करोति. केवलवाचा समाह्वाने स्वाधिकारो न भात इति

प्रकाशः

यथेत्यादि. **त** इति भक्ताः, **न गृह्णन्ती**ति युष्मदस्मद्भ्यामेव व्यवहारसम्भवान्न गृह्णन्ति. **तथे**ति वैधर्म्ये दृष्टान्तः. साधर्म्येपि वा, तथा चोपानीतभोजन-सामग्र्यादिसहिता दूरत एव भगवन्तमाह्वयन्ति, न तु निकट आगत्य, तथा भगवानपि दूरगत एवाह्वयतीत्यर्थः. पशुपदसूचितमर्थमाहुः **पशव** इत्यादि, तथा चानन्यचित्ता भीरवो रसानभिज्ञाश्च सङ्गृहीताः. **प्रीत्ये**तिपदकृत्यमाहु**रन्यथे**त्यादि. **विषयो** लज्जादिर्भयं वा. अवशिष्टविशेषणकृत्यमाहुः **सापी**त्यादि. **अलौकिकी**ति गुप्ता. **गोपाला गुरव** इति शिक्षका इत्यर्थः. **पूर्वं ततः फलानुभावादि**ति– वाणीतः **फलानुभावात् पूर्व**मित्यन्वयः. पुष्टिमुक्तिप्रकारं विवृत्य मर्यादायामतिदिश**न्तीमामि**ति. अस्मिन् पक्षे स्वतो बुद्धिराहित्यज्ञानस्य स्वदत्तत्वा-भिप्रायेणालौकिकत्वं च मुक्तिदानेच्छया प्रकटितत्वम्, अन्यद् यथायथं योज्यम्.

लेखः

यथा ते इति भक्ता इत्यर्थः. साक्षात्कारानन्तरं तु पादसेवनादिकमेव भवतीतिभावः. तथा चासाक्षात्कृतस्य नाम गृह्णन्तीति पर्यवसितं, **दूरगानेवे**ति असाक्षात्कृता-नित्यर्थः. **पशव** इति, पूर्वोत्तरकाण्डसाधनाभावोऽनेन विवृतः पशुत्वेनायोग्यत्वाद् बुद्धिविरहाच्च. **गोपाला गुरव इवे**ति, गा भगवत्समीपमानयन्तीति भगवत्प्रापक-त्वाद् गुरुत्वम्. **पूर्वं तत** इति, दर्शनात् पूर्वमेव **ततो** वाणीत एव रसानुभवस्तथा च साधनदशायामेव फलानुभव इत्यर्थः – इदमेवालौकिकत्वम्. **इमामेवे**ति, अयं मां प्रापणीय इत्यातिवाहिकमाज्ञापयतीत्यर्थः; श्रवणस्मरणे तु तस्यापि पूर्वाङ्ग **इत्येव**कारः. अत्र तु साक्षादेव मोक्षदानार्थं प्रकट इति नातिवाहिकापेक्षेति भावः. **तदवान्तरे**ति कीर्तनस्यावान्तरसाधनानि रूपध्यानादीनीत्यर्थः. अत्र तत्तद्धर्म-सम्बन्धजनकमपि साधनं नास्ति तथापि मुक्तिदाने हेतुमाहुः **प्रथमत एवे**ति ॥१२॥

न निवर्तेतातो भिन्नभिन्नाधिकारिनिरूपणार्थं **नामभिरि**ति बहुवचनं तदवान्तरसाधनपरिग्रहार्थं च. प्रथमत एव पशवस्ततोपि दूरगास्ते चेद् भगवता स्वतो न मुच्यन्तेऽमुक्ता एव तिष्ठन्ति ॥१२॥

एवं पुरुषार्थचतुष्टयलीलामुपपाद्य दशरसप्रकारेण भगवतो लीलां वदन् प्रथमं षड्रसलीलामाह **चकोरे**ति.

चकोरक्रौञ्चचक्राह्वभारद्वाजांश्च बर्हिणः ।
अनुरौति स्म सत्त्वानां भीतवद् व्याघ्रसिंहयोः ॥१३॥

चकोरा हि चन्द्रकिरणभोक्तारोऽलौकिकभोगाः, न ह्यन्येन चन्द्रकिरणा भूमौ स्थिता भोक्तुं शक्यन्ते. त एव परं भोक्तारः सूर्यकिरणा इव, अन्यथा ततः शैत्यादिकं न स्यात्. तथैव सर्वे पुरुषाः स्त्रीभिर्भुज्यन्ते तद्दास्यं चानुभवन्ति, तथैव लोकप्रतीतिः.

प्रकाशः

केवलेत्याद्युभयत्र योज्यं, **बहुवचनमि**ति **चे**त्येवं योज्यम्. **अवान्तरसाधनं** योगमाया. नन्वेतावत्करणे को हेतुस्तत्राहुः **प्रथममि**[1]त्यादि. पश्यतोन्वेषयत-[2]श्चातोपि **दूरगा**स्तत्स्थानाज्ञातारः. **मुच्यन्त** इत्यन्तर्भावितण्यर्थः ॥१२॥

चकोरेत्यत्रान्येन न भोक्तुं शक्यन्त इत्यत्र दृष्टान्तः **सूर्यकिरणा इवे**ति. चन्द्रकिरणानां भोज्यत्वे युक्तिमाहु**रन्यथे**त्यादि, तथा च तत्स्पर्शस्य त्वचा बहिरनु-भवेपि तद्द्वारा ते शरीरान्तर्न प्रविशेयुस्तदान्तः शैत्यादिकं नानुभूयेतातः कार्यबलात् तेषां भोज्यत्वं, श्रुतिश्च "तेजोशितं त्रेधा भवती"ति. चकोरेषु तु भूमिष्ठभोक्तृत्वं विशेषः. ननु पुरुषेषु भोग्यत्वं नोपपन्नं तेषां भोक्तृत्वेनैव प्रसिद्धेरित्याकाङ्क्षायां किरणदृष्टान्तेन तेषामपि तथात्वं व्युत्पादयन्ति **तथैवे**त्यादि. **अनुभवन्ती**ति स्त्रिय

लेखः

चकोरेत्यत्र चकोरभोगं दृष्टान्तेन साधयन्ति **सूर्यकिरणा इवे**ति. आप्य-मण्डलजलांशाश्चन्द्रकिरणास्तद्भोक्तारः सूर्यकिरणाः, अन्यथा किरणद्वारा जला-ग्रहणे पर्जन्यो न वर्षेत्, "याभिरादित्य" इतिश्रुतेः. तथा चकोरा अपि. ननु तादृश-किरणदर्शनेनास्मदादेरिव नेत्रयोस्तापो निवर्तत इत्येव वाच्यं, न तु भोक्तृत्वमित्यत आहु**रन्यथे**ति, भोगाभावे अन्तःशैत्याभावेनाङ्गारभक्षणजनिततापनिवृत्तिर्न स्यादित्यर्थः. **तथैवे**ति चन्द्रकिरणवदित्यर्थः. **स्त्रीभिर्भुज्यन्त** इति गतसाराः क्रियन्त इत्यर्थः. स्त्रीभिः पुरुषा भुज्यन्ते पुरुषाश्च दास्यमेवानुभवन्ति न तु रसमिति. ननु

१. **प्रथमत**इत्यादि. २. °श्च ततोपि.

तद्वदयं भगवान् न रसानुभवं करोतीति ज्ञापयितुं शृङ्गाररसे चकोरवद् भगवतो वाग्व्यापारो निरूप्यते; **क्रौञ्चो** वीरे, चक्रवाकः करुणायां, स हि वियुक्त**श्चक्र**पद आवर्तनेन मारणमभिप्रेतमिति **तेनाह्व** आह्वानं यस्येति तस्यावश्यं करुणा युक्तैव.

प्रकाशः

इतिशेषः. प्रकृतेऽतिदिशन्ति **तद्वदि**त्यादि. रसान्तरमाहुः **क्रौञ्चो वीर** इति. क्रौञ्चा हि काश्मीरादौ महाहिमसंहतिदेशेऽण्डानि दत्वा तानि हिमसंहतिपिहितान्यपि स्वयं देशान्तरे वर्तमाना अप्याकाशे उड्डीयमाना वाण्या सेवन्ते तेनाण्डानि जीवन्तीति तेषां वीर्यं प्रसिद्धं तद्वदत्रापि बोध्यम्. कि"ञ्चोत्साहवर्धनो वीर" इति हेमन्ते क्रौञ्चरुतमेव रसोद्बोधकत्वेन वर्ण्यत इत्यतोपि तथा. तृतीयं रसमाहु**श्चक्रवाक** इत्यादि. शोकस्य करुणास्थायित्वाच्चक्रवाके तदभावमाशङ्क्य तत्र स्थायिनं सङ्गमयन्ति **चक्रपदे-**

लेखः

प्रतीयते भोक्तृत्वमित्यत आहु**स्तथैवे**ति, प्रतीतिस्तथैव. वस्तुतस्तूक्तहेतोस्तथैव क्रियन्ते परन्तु गतविवेकत्वाद् भोक्तृत्वं मन्यन्त इत्यर्थः. इदं "कामिनां दर्शयन् दैन्यमि"त्यत्र विवरिष्यते. तथा च चन्द्रकिरणस्थानीयाः पुरुषाः चकोरस्थानीयाः स्त्रिय इति पर्यवसन्नम्. भगवति वैलक्षण्यमाहु**स्तद्वदयमि**ति– चन्द्रकिरणस्थानीयाः

योजना

चकोरक्रौञ्चेत्यस्य व्याख्याने **सर्वे पुरुषाः स्त्रीभिर्भुज्यन्त** इति. कामशास्त्रोक्तलक्षणानां कस्मिन्नपि पुरुषेऽसम्भवात् पुरुषस्य भोक्तृत्वं भाक्तं, वस्तुतः कामिन्य एव भोक्त्र्यः. भगवति तु तच्छास्त्रोक्तलक्षणानां सर्वेषां सत्त्वात् जागरुकं भोक्तृत्वमित्याहुः **तद्वदयं भगवान्** नेत्यारभ्य **वाग्व्यापारो निरूप्यत** इत्यन्तेन. चकोरो हि परमरसिकोत्यन्तालौकिकप्रकारेण चन्द्रकिरणान् भुङ्क्ते तदेकरतश्च, तद्वद् भगवानपि दूरस्थितचन्द्रमुखीमुखचन्द्रिकां भुङ्क्ते तन्मात्रासक्तश्च. अतिदुरापनायिकाभोगस्त्वतिचातुर्येण भवतीति तादृक्चातुर्यचमत्कारसूचनाय चकोरवद् वक्तीति शृङ्गाररसोऽनेन निरूपितः. **क्रौञ्चो वीर** इति, क्रौञ्चस्य युद्धाद्युत्साहवत्त्वात् उत्साहस्य वीररसस्थायिभावत्वाद् वीररसः क्रौञ्चवद् वाग्व्यापारेणोक्तः. **चक्रवाकः करुणायामि**ति. करुणारसो दुःखिते भवति, शोकस्थायिभावकत्वात्. चक्रवाको ह्यत्यन्तं दुःखितः चक्रवाकीवियोगव्याकुलः, अतस्तत्र करुणारसः स्फुट एवेति तदेतदाहुः **स हि वियुक्त** इति. **चक्रपदेन मारणमभिप्रेतमिती**ति. **चक्रे** जलचक्रे पतितः परमकष्टं प्राप्नोति; चक्रपतितपुरुषमारणाय चक्रं बहुप्रकारेण यतते. एवं चक्रवाको विरहचक्रे पतितः

भारद्वाजोऽद्भुते, क्रमस्य नियामकत्वाद्. **भारद्वाज** इत्याख्या यस्य, स हि द्विजन्मा, तन्नामसम्बन्धख्यापनमद्भुतरसेऽनुगुणं भवति. **बर्ही** हास्ये, तस्य तथात्वं पूर्वमेव निरूपितम्. एते पञ्चविधा नात्यन्तं विरुद्धा इत्येकीकृत्य निरूपिताः. भयानकरसस्तु सर्वोपमर्दकइति पृथङ् निरूपयति– **सत्त्वानां** मध्ये **व्याघ्रसिंहयोर्भीतवच्चानुरौती**ति.

प्रकाशः

त्यादिना. चतुर्थं रसमाहु**र्भारद्वाज** इत्यादि, तत्राद्भुतस्याङ्गीकारे नियामकमाहुः **क्रमस्ये**त्यादि. **व्याघ्रसिंहयोरि**तीवेत्युन्नेयमत एव **भीतवच्चे**त्यत्र **चकार** उक्तः. **अनु**पदात् स्वयं पश्चाद् व्याघ्रवद् रौति भक्तभयोपस्थितौ भक्तानां स्वरूपज्ञाने पश्चात्

लेखः

स्त्रियः, स्वयं **चकोरवत्** तद्वदोक्तेति तथा **अनुरौती**त्यर्थः. यस्य यस्य स्थायिभावो यत्र यत्र प्रसिद्धः स स तत्तद्रसेऽनुक्रियते. तत्र चन्द्रविषयिणी रतिश्चकोरे प्रसिद्धा, क्रौञ्चे युद्धोत्साहः, अग्रेप्यूह्यं; तत्तदनुकरणे तत्तद्धर्मस्मृत्या स्वस्य तत्तद्रसास्वादे तत्तद्रसाविष्टा भक्ताः सेवितुं शक्ता भवन्तीत्यर्थः. चक्रवाके करुणास्थायिभावं शोकमाहुः **स ही**ति. करुणाप्यस्तीत्याहुः **चक्रे**ति– **चक्र**पदश्रवणे प्रायेण कश्चित् मार-यिष्यतीतिज्ञानेन मार्योपरि करुणा चक्रवाकस्य भवतीत्यर्थः. **सत्त्वसम्बन्धि-**

योजना

परमपीडामनुभवति. तद्वद् वाग्व्यापारकरणात् स्वस्मिन् व्रजवामलोचनाविरह-व्याकुलत्वं चक्रभ्रमणगतपुरुषवद् दुःखितत्वं भगवान् सूचयतीति युक्तः करुणारसः. अत एव गीतगोविन्दे उक्तं "प्रहरन् हरभ्रान्त्यानङ्ग मुधा किमु धावसी"ति "सद्वृत्तः स्तनमण्डलः सखि कथं प्राणैर्मम क्रीडती"ति च. एवं करुणारसो विप्रलम्भशृङ्गारे स्पष्ट इति शृङ्गाररससम्बन्धित्वाद् रसत्वं करुणारसस्य. यत्र तु करुणायाः शृङ्गारसम्बन्धो नास्ति तत्र करुणामात्रत्वं न तु रसत्वम्; एवमेव हास्यादीनामपि शृङ्गाररसमध्यपातित्वे रसत्वं न त्वन्यथा, शृङ्गार एव सर्वे रसा इति नाट्य-शास्त्रसिद्धान्तात्. ननु वियोगेनैतादृशी व्याकुलतास्ति; चकोरवद् दुःप्रापपदार्थभोग-चातुर्यं चास्ति तर्हि भगवान् किमिति वियोगमनुभवतीत्याकाङ्क्षायां भयस्य प्रति-बन्धकत्वबोधनाय भयानकरसं निरूपयन् **व्याघ्रसिंहयोर्भीतवदनुरौति.** भयानक-रसोपि शृङ्गाररसेऽनुकूलः, अन्यथा निर्भीततया प्रवृत्तौ तु सर्वत्र प्रसिद्ध्यापत्त्या रसत्वमेव भज्येत, गुप्तो हि रसो रसत्वमापद्यत इतिराद्धान्तात्. अत एव शृङ्गार-रससम्बन्धित्वाद् भयानकरसस्य रसत्वम्, अन्यथा तु भयमात्रत्वमिति ॥१३॥

एवं रसाविर्भावे प्रमाणं प्रसिद्धमिति **स्मे**त्याह. भयं द्विविधं– स्वरूपनाशादभिमानादिधर्मनाशाद् वा. तत्र स्वरूपे व्याघ्रो ऽभिमानादिधर्मे सिंहः. बहुप्रकारं च भयं, प्रतीकारासमर्थानां सम्भावनायामप्यन्यथा अन्येषां चान्यथेति. तत्र **सत्त्वानि** शशादीनि प्रतीकारसम्भावनारहितानि; भये परमा काष्ठा सत्त्वसम्बन्धिन्यवस्था. रसाभिनये चेष्टापेक्षया वचनमतिसुन्दरमिति तदेव निरूपितम् ॥१३॥

बीभत्सरसलीलामाह **क्वचित् क्रीडापरिश्रान्तमि**ति.

क्वचित् क्रीडापरिश्रान्तं गोपोत्सङ्गोपबर्हणम् ।
स्वयं विश्रमयत्यार्यं पादसंवाहनादिभिः ॥१४॥

आर्यं बलभद्रं **स्वयं क्वचिद् विश्रमयति** विगतश्रमयुक्तं करोति **पादसंवाहनादिभिः**. पादे हि चलतः श्रमो भवति, अङ्गमर्दनं च तदुक्तकरणं च शय्या-

प्रकाशः

सिंहवत्. **एवमि**त्यनुकरणेन, **प्रसिद्धमि**ति रसशास्त्रे प्रसिद्धं; तेन विशेषतो नोच्यत इत्यर्थः. ननु व्याघ्रस्य सिंहस्य च भीतिजनकत्वाविशेषादेकेनापि भयोत्पत्तौ द्वयोः कथनस्य किं प्रयोजनमत आहु**र्भयं द्विविधमि**त्यादि. **स्वरूपनाशादि**ति स्वरूपनाशहेतुभूतम्, एवमग्रेपि. **स्वरूपे व्याघ्र** इति स्वरूपनाशहेतुभूतभयोद्दीपने व्याघ्रः, एवमग्रेपि. तथात्वं चात्र विप्रयोगाधैर्याभ्यां भक्तेषु प्रकटयत्यत एवोक्तं "सापि त्वद्विरहेण हन्त हरिणीरूपायते हा कथं कन्दर्पोपि यमायते विरचयन् शार्दूलविक्रीडितं", तथा च दशाविशेषे तद्वदपि करोतीत्यर्थः. तदेतदाहु**र्बहुप्रकारमि**त्यादिना **निरूपितमि**त्यन्तेन. **एवं वृन्दावन** इतिश्लोकेऽनुभावोद्दीपनविभावव्यभिचारिणां निरूपणस्योक्तत्वादत्र चकोरादिकथनेन षण्णां रसानामनुभावा अनुरावरूप उद्दीपनविभावो यथासम्भवं व्यभिचारिणश्च निरूपिता बोध्याः– एवमत्र षड् रसा निरूपिताः॥१३॥

क्वचित् क्रीडेत्यत्र **बीभत्सरसलीलामि**ति तद्रसानुभाविकां तद्रसोद्दीपिकां च लीलाम्. कथमत्र बीभत्सरसः प्रत्येतुं योग्य इत्यत आहु**र्हीनादि**त्यारभ्य **भक्ताना-**

लेखः

न्यवस्थेति शशादिसम्बन्धिनीत्यर्थः. अत्र **परन्त्वि**तिशेषः– मौनेन स्थितिरूपा शशाद्यवस्था **भये परमा काष्ठा** भवति **परन्तु** वचनस्यातिसुन्दरत्वात् **तदेव निरूपितमि**त्यर्थः ॥१३॥

क्वचित् क्रीडापरिश्रान्तमित्यत्र **विगतश्रमे**ति. **युक्तमि**ति भावे क्तः, योग इत्यर्थः, तथा च **विगतं श्रमयुक्तं** श्रमयोगो यस्मात् तादृशं करोतीत्यर्थः. अङ्गान्तरं विहाय पादयोरेव संवाहे हेतुमाहुः **पादे ही**ति. **बीभत्सो भवती**ति द्रष्टुर्जुगुप्साजनको

स्तरणादिकं **चादि**शब्देनोच्यते. हीनाद्धीनभावः उत्तमस्य बीभत्सो भवति. भक्तिमतामेव स बीभत्स इतिप्रतीतेरत्यन्तानुचितप्रतीतिस्तेषामेवेति. यथा "स्थपुटगतमपि क्रव्यमव्यग्रमत्ती"ति न पिशाचानां तादृशदर्शनेन बीभत्सरस उदेति किन्त्वस्मदादीनामेव तथेदमपि भक्तानाम्. एते हि सर्वे रसा भगवद्भजने

प्रकाशः

मित्यन्तम्. अत्र बीभत्सरसनिरूपणं परोक्षवादरूपं, वस्तुतस्त्वत्र भगवत एवाविष्टत्वान्न दोषरूपं किन्त्वापातत एव तथेति. एवं सप्तरसान् निरूप्य तदभिनयप्रयोजनमाहु**रेते ही**त्यादि **प्राप्नुवन्ती**त्यन्तम्. **तत्तदधिकारनिरूपका** इति दश-

योजना

क्वचित् क्रीडापरिश्रान्तमित्यस्याभासे **बीभत्सरसलीलामाहे**ति– अयमपि शृङ्गाररससम्बन्धं लब्ध्वैव रसतां प्राप्नोति, अन्यथा तु बीभत्सत्वमेव न तु रसत्वं, "स्युः शृङ्गारसंवलिता रसा हास्यादयो यदी"तिवाक्यात्. शृङ्गाररसे एतस्याप्यपेक्षास्ति, अन्यथा उभयोः आलम्बनविभावयोः परस्परात्यन्ताकाङ्क्षावशवर्तित्वात् मानखण्डितादिभावा नोद्भवेयुः. बीभत्सरसस्तु जुगुप्सास्थायिभावकत्वात् मनसः परावृत्तिमात्रजन्मा स्वल्पाया अपि स्नेहन्यूनताया दर्शनाद् भ्रमात्मकज्ञानाद् वा अयोग्यतादिदर्शनेन वा परमानन्दाकाङ्क्षां निवारयन् मानखण्डितादिभावसम्पादको भवति. अत एव शृङ्गाररसं पोषयन् रसत्वमाप्नोति. अत एव "वापीं स्नातुमितो गतासि न पुनस्तस्याधमस्यान्तिकमि"त्यादौ नायकेऽधमत्वोक्तिर्युज्यते, दूतिकासम्भोगवज्ज्ञानान्नायकतो मनसः परावृत्त्या बीभत्सरसोदयात्. श्रीगीतगोविन्देपि "याहि माधव याहि केशव मा वद कैतववादमि"त्यत्र "याही"त्युक्त्या बीभत्सरसोदयो दृश्यते. प्रकृते बलदेवपादसंवाहनं निरीक्ष्य किमयं भगवान् शृङ्गाररमणोद्योगं विहाय वृथाव्यापारं करोतीति सुदृशां मनसि बीभत्सरस उदेति. एतावदेव बीभत्सरसत्वं, यत्र तु कुत्सितपदार्थसत्तानिरूपणं तत्र बीभत्सरसो नास्तीतिज्ञेयं, रसस्वरूपाभावात्. रसत्वं ह्युत्तमजनोपादेयत्वं सुखजनकत्वं च. कुत्सितवस्तुनिरूपणे तूत्तमानां वमनाद्युत्पत्त्या दुःखजनकत्वेन सुखसंसर्गाभावात् न रसत्वम्, अत एव नोपादेयत्वम् अपि तु हेयत्वमेवेति तत्र रसतानिरूपणमाग्रहमात्रम्, अत एव श्रीमदाचार्यैर्भगवत्ययं रसो निरूपितः. एवं सति वीरकरुणाहास्यादिरसाः शृङ्गाररसस्यावयवास्तैः पुष्टः शृङ्गाररसो भवतीति "रसो वै स" इत्युपनिषत्सिद्धः शृङ्गाररसात्मा श्रीवृन्दावनविधुः श्रीकृष्णो निरूपित इति भाग्यभाजो विभावयन्तु ॥१४॥

तत्तदधिकारनिरूपकाः, सर्वरसाविष्टा अपि भगवति सायुज्यं प्राप्नुवन्तीति. पादसंवाहनादिकरणे हेतुः **क्रीडापरिश्रान्तमिति**. **क्रीडा** मल्लक्रीडा; भगवतैव सह बलिष्ठेन सह कृतश्रमो बलाधिक्यजनको भवति परं प्रथमं पीडां प्राप्नोति. तत्प्रतीकारं नान्यो जानाति, भगवद्बलेनैवातिमात्रं व्यापृतत्वात्, तदाह **परितः श्रान्तमिति**. अतिविह्वलतासूचनार्थं **गोपस्यैव** कस्यचि**दुत्सङ्ग उपबर्हणं** यस्य. अत एव विकलत्वात् स्वामिकृतमुपचारमपि सहते. **आर्यत्वादेव** भगवतस्तथाकरणम् ॥१४॥

रौद्ररसमाह **नृत्यत** इति.

नृत्यतो गायतः क्वापि वल्गतो युध्यतो मिथः ।
गृहीतहस्तौ गोपालान् हसन्तौ प्रशशंसतुः ॥१५॥

मल्लानामिव हि वीररसो रौद्रः. स चान्यत्रोत्पन्नोऽपि भगवतोपनिबध्यत इति भगवतो रसयुक्तलीला—

कायवाङ्मनोभिर्यद्युक्तमयुक्तं पीडकं च तत् ॥(८)॥
चतुर्विधा मल्ललीला स्तूयते हरिणा मुदा॥

प्रकाशः

श्लोकोक्तानां पशुपक्ष्यादीनां तत्तद्रसालम्बनानां चेत्यर्थः. **सर्वरसाविष्टा** इति तत्तद्रसाविष्टाः, तथा चैतज्ज्ञापनार्थं तत्तदभिनय इत्यर्थः ॥१४॥

नृत्यत इत्यत्र **रौद्ररसमाहे**ति गोपैरुद्दीपितमनुभावितं च तमाहेत्यर्थः. ननु

लेखः

भवतीत्यर्थः. अग्रे **अत एव विकलत्वादिति**, अधुना क्रियामात्रव्यापृतत्वेन स्वामित्वस्फूर्तिरूपज्ञानकलारहितत्वादित्यर्थः ॥१४॥

उपनिबध्यत इति, तेषूत्पन्नो रसो भगवतानूद्यत इत्यर्थः.

योजना

नृत्यतो गायत इत्यस्याभासे **रौद्ररसमाहे**ति, अयमपि शृङ्गाररससम्बन्धी. प्रकृतेऽपि मल्लयुद्धदर्शनासक्तिं दृष्ट्वा वृथाकालक्षेपकर्तरि नन्दनन्दने शृङ्गाररससम्बन्धिक्रोधजन्मा रौद्ररस उदेति वधूनां, अत एव रसत्वम्, अयं रौद्ररसः क्रोधस्थायिभावको मानिनीनां विप्रलब्धानां च बहुधा बोभवीति ॥१५॥

कारिकार्थः

नृत्यतो गायतः क्वापीत्यत्र कायवाङ्मनोभिरिति. **नृत्यतो गायतो वल्गत** इतिपदत्रयेणोक्तं कायवाङ्मनोभिर्यद्युद्धं **युक्तं** पीडारहितं, **युध्यत** इतिपदोक्तं **पीडकम्** अत एव **अयुक्तं** युद्धम्— एवं **चतुर्विधापि मल्ललीला हरिणा मुदा स्तूयते** ($८\frac{१}{२}$).

साधारणत्वादत्रोभयोर्ग्रहणम्, उभावुभौ मल्लयुद्धे, अन्यत्र बहवः. तत्र कायिकं नृत्यं गानं वाचिकं वल्गनं मानसं, स्वप्रौढिख्यापकत्वात्. **मिथश्च युध्यत** इति पीडारूपक्रिया कायिकीव. कांश्चिद्**हसन्तौ** कांश्चित् **प्रशशंसतुः**. **गृहीतहस्ताविति** न पक्षपातेन कस्यचित् क्रियाभिनिवेशः केनचित् कर्तव्य इतिज्ञापनार्थः. सापि लीला लोकप्रसिद्धा मुख्यत्वख्यापिका. **हसन्ताविति** प्रथमं सन्तोषः पश्चात् **प्रशंसतुरि**ति वा ॥१५॥

शान्तरसलीलामाह **क्वचित् पल्लवतल्पेष्विति**.

क्वचित् पल्लवतल्पेषु नियुद्धश्रमकर्षितः ।
वृक्षमूलाश्रयः शेते गोपोत्सङ्गोपबर्हणः ॥१६॥

शयानो हि शान्त इव भवति. **नियुद्धं** बाहुयुद्धं तत्र यः **श्रमः** स **कर्षितो** येन, जितश्रम इत्यर्थः. शान्तरसः प्रत्येकपर्यवसायीति निरूपयन् भगवाननेकरूपः सर्वत्र

प्रकाशः

भगवान् मल्ललीलां स्वयं कुतो न कृतवाननुपनिबन्धनमात्रमेव कुतः कृतवानित्यत्र हेतुमाहुः **कायवागि**त्यादिकारिकया. **कायवाङ्मनोभिर्य**न्नर्तनादिकं **तत्** सर्वं **युक्तमयुक्तं पीडकं च** भ्रमेणेत्युत्कृष्टत्वाभावात् **तत्** सा लीला **स्तूयत** एव न तु क्रियत इत्यर्थः. युक्तापीडिके तु मुख्यभक्तैः सह क्रियेत एवेति भावः. **तदि**ति नपुंसकप्रयोगेणैतस्याः फलपर्यवसायित्वं द्योत्यते ॥१५॥

क्वचित् पल्लवेत्यत्र **शान्तरसलीलामि**ति शान्तरसानुभाविकां लीलाम्. **वृक्ष-**

लेखः

क्वचित् पल्लवतल्पेष्वित्यत्र शान्त इवेति, निर्वेदः प्रयत्नशैथिल्यं तेन युक्त इवेत्यर्थः. यद्यप्यष्टावेव रसा मुख्यास्तथापि शृङ्गारव्यभिचारित्वेन निर्वेदस्य स्वीकृतत्वात् तस्यैव च शान्तस्थायिभावत्वात् शान्तरसोऽप्युक्तो जात इति **इव भवती-**त्युक्तम्. मूले शृङ्गाराङ्गत्वेनायं रस उक्तस्तत्तात्पर्यमिदमुक्तमिति ज्ञेयम्. **प्रत्येकपर्य-**

योजना

क्वचित् पल्लवतल्पेष्वित्यस्याभासे शान्तरसलीलामाहेति, अयमपि शृङ्गाररससम्बन्धीति भवत्येतस्य रसत्वम्. शृङ्गाररससम्बन्धस्तु सुबोधिन्यां परोक्षवादेनोक्तः टिप्पण्यां तु स्फुट एव. एवं नवरसाः शृङ्गाररससम्बन्धिनो भूत्वा रसतां लभन्ते. भक्तिरसस्तु शृङ्गाररसाङ्गभूतः कुत्रचित् स्वतन्त्रोऽपीति नास्मिन्नङ्गभावेनैव रसत्वमित्याग्रहो विदुषाम्. "शृङ्गार एव सर्वे रसा" इत्यत्र तु नवानामेवाङ्गत्वोक्तिः, भक्तिरसस्य तत्राप्रसिद्धत्वात् ॥१६॥

वृक्षमूलेषु सर्वैरेव गोपालैरहमहमिकतयास्तृता बहव एव तल्पास्तेषां सर्वेषामेव युगपत्सौख्यसिद्ध्यर्थं सर्वेष्वेव **तल्पेषु** भगवान् शयानो जातः, तदाह बहुवचनम्. ननु तथापि भगवान् किमिति तत्र शयनं कृतवानित्याह **वृक्षमूलाश्रय** इति, वृक्षस्य मूलमेवाश्रयत्वेन येषां ते वृक्षमूलाः परमहंसास्तानाश्रयतेऽतस्तत्र तत्रातीन्द्रियत्वेन स्थितान् परमर्षीन् कृतार्थीकर्तुं तथा करोतीत्यर्थः. लोकानामेव प्रतीतिस्तल्पे शेत

टिप्पणी

वृक्षमूलाश्रय इत्यत्र, **वृक्षस्य मूलमेवेत्यारभ्यातस्तेषु शेत** इत्यन्तम्. गोपोत्सङ्गोपबर्हणस्य तल्पेषु शयानस्य वृक्षमूलाश्रयत्वमनुपपन्नमित्येवं व्याख्या. न च तत्र तल्पस्थित्या तथात्वमुक्तमिति वाच्यं, भगवद्विशेषणत्वानुपपत्तेः. एवं सति विवक्षितार्थस्यातिगोप्यत्वेन **परोक्षवादेनैवोक्तिरियं** श्रीशुकस्येत्याचार्यैरपि तथैवोच्यते. तथा हि– इमानि वृक्षमूलानि स्वप्रियाभ्यः सङ्केतितानि, गोपाश्चान्तरङ्गा प्राप्तसख्या इत्युभयानुगुणकार्यकर्तारोऽत उक्तमूलेष्वेव तद्रचनां कृतवन्तः. तथा च सङ्केतानन्तरं नायिकान्तःकरणानि तत्रैव सन्तीति तेषु तथात्वेनोक्तिः. गुप्ततया स्थितिरि**त्यतीन्द्रिय**त्वम्, सर्वपरित्यागेन मानसोत्कटभावप्राधान्येन च **परमहंस**त्वम्. रहःसन्देशवाक्यानामतिगोप्यानामुक्त्या **चर्षि**त्वम्, अत एव **परम**त्वमुक्तम्. प्रिययोगवत्त्वेन **योगि**त्वम्. शयन उपबर्हणस्य प्राथमिकत्वेन तथैव वक्तुमुचितत्वेपि यदन्ते कथनं तेन रतिश्रान्त्या पश्चाद्यच्छयनं तदत्रोच्यत इति ज्ञायते, अन्यथोपबर्हणस्य तल्पान्तर्गतत्वेन तेनैव तत्प्राप्तेर्गोपोत्संगो नोच्येत. एवं सति तदुक्त्या तल्पान्तर्गततदभावः सूचितो भवति. स च विविधबन्धैरेव भवतीति तदन्ते श्रमापनोद-

लेखः

वसायीति, समुदाये निर्वेदावधिरमणासम्भवात् पूर्वोक्तरसवत् समुदाये पर्यवसन्नो न भवतीत्यर्थः **निरूपयन्. बहुवचनं तत्** तस्मादाहेत्यन्वयः. **भगवानिति**, अनेकरूपत्वे हेतुत्वार्थमुक्तम् अग्रे स्वरूपकथनार्थमुक्तमिति विभागः, तथा च भगवत्त्वा**दनेकरूपः** सन् **भगवांस्तत्र शयानो जात** इत्यन्वयः. **ननु तथापीति**, तल्पेषु स्थातव्यमेव शयनं किमर्थमित्यर्थः. **तानाश्रयत** इति तेषु पदकमलं स्थापयतीत्यर्थः. **कृतार्थीकर्तुमिति**, स्मरयुद्धानन्तरमपि तल्पे शयानो भवतु तदा वयं चरणसेवां कुर्म इति तासां मनोरथं पूरयितुमित्यर्थः. **लोकानामेवेति**, श्रान्तत्वादतिकोमल**तल्पे शेत इत्यन्त**रङ्गगोपानां **प्रतीति**र्भगवांस्तु योगिमनोरथपूरणार्थमेव शेते न तु श्रान्त इत्यर्थः. **स्वधर्मख्यापकमिति**, स्वकारणजातीयैः स्वावयवैः सेवा स्वधर्मः. मुखेनोपदेशेन सेवा ब्राह्मणधर्मः बाहुभ्यां रक्षया

इति; वस्तुतस्तानि योगिनामन्तःकरणान्यतस्तेषु शेते. **गोपानामुत्सङ्ग एवोपबर्हणं** यस्येति तेषु भगवतः प्राधान्यस्थापनमृषिष्वप्राधान्यस्थापनमिति ज्ञापयति. ते हि वैश्या अतः स्वधर्मख्यापक**मुत्सङ्ग**पदम्. **उपबर्हणं** शिरस उपधानम् ॥१६॥

भक्तिरसमाह **पादसंवाहनं चक्रुरिति**.

पादसंवाहनं चक्रुः केचिदस्य महात्मनः।
अपरे हतपाप्मानो व्यजनैः समवीजयन् ॥१७॥

केचिदिति दुर्लभाः. **अस्येति** शान्तरसाभिनयकर्तुः सर्वरसास्वादकस्य वा. **महात्मन** इति ततोप्यधिकस्य रसान्तरमुत्पादयितुं समर्थस्य. **पादसंवाहनमत्र**

टिप्पणी

नार्थमन्तरङ्गगोपास्तथा कृतवन्तः. तदा तेषामेव प्राधान्यम्, न नायिकानाम्. इदमेवाभिसन्धाय **तेषु भगवतः प्राधान्यस्थापनमि**त्याद्युक्तमाचार्यैः परोक्षवाद इति. स्मरयुद्धं **नियुद्ध**पदेनोक्तवान्, अन्यथा पूर्वोक्तरीत्या शान्तरसो नोक्तः स्यात् ॥१६॥

प्रकाशः

स्य मूलमित्यादेरर्थं टिप्पण्यामाहु**र्गोपोत्सङ्गे**त्यादि **स्यादि**त्यन्तम्. सुबोधिन्यां ननूत्सङ्गे कुतः प्राधान्यस्थापनमत आहु**स्ते हि वैश्या** इत्यादि– **ते हि वैश्या** भगवदूरुतो जाता **अतः स्वस्य यो धर्म** ऊरुजत्वं त**त्स्थापकमुत्सङ्गपदमि**त्यर्थः. शेषं स्फुटम् ॥१६॥

पादसंवाहनमित्यत्र **भक्तिरसमि**ति गोपानां भक्तिरसम्. **ततोप्यधिकस्ये**ति नवरसास्वादकापेक्षयाप्यधिकरसास्वादकस्य. कथं तदित्यत आहू **रसान्तरमि**त्यादि– नवभ्यो रसेभ्योन्यो रसो **रसान्तरं** भक्तिरसमन्य**त्रोत्पादयितुं समर्थस्य. दास्यम**त्र सख्यानन्तरभावि ज्ञेयम् ॥१७॥

लेखः

सेवा क्षत्रियधर्मः तथोरुभ्यां सेवैतेषां स्वधर्म इति तत्ख्यापकमित्यर्थः ॥१६॥

पादसंवाहनमित्यत्र **अत्र दास्यमि**ति. पूर्वश्लोकोक्तं चरणसंवाहनं योगिकृत-

योजना

प्रकृते तु **पादसंवाहनं चक्रुरि**त्यनेनोक्तस्य पादसंवाहनरूपभजनस्य दर्शनात् व्रजरमणीनामपि भक्तिरस उदेति– अयं भगवान् न लौकिकनायक इत्यस्माभिरप्येतस्य भजनमेव कार्यं भक्तिलभ्यत्वात् पुरुषोत्तमस्येति. एवमत्र भक्तिरसोपि शृङ्गाररसाङ्गभूत एव. मातृचरणानां तु स्वतन्त्र एव पुत्रभावरूपो भक्तिरसः, "ततो भक्तिर्भगवति पुत्रीभूते जनार्दन" इतिवाक्यात् ॥१७॥

दास्यम्; अन्ये पुनः कर्ममार्गानुसारेणापि भक्तिं कुर्वाणा **हतपाप्मानो** निष्कल्मषाः. कर्मिणां पापसम्भावना वर्तत इति तन्निराकरणार्थमुक्तं **हतपाप्मान** इति. ते ह्यासन्योपासकाः पूर्वं तेनैव तथाकृताः, अतो वायोः साम्यात् तदभिव्यक्तिहेतुभि**र्व्यजनैः सम्यगवीजयन्**. एवमुभयविधा अपि भगवत्सेवालक्षणं भक्तिरसं भगवत्सन्निधानाल्लभन्त इति भक्तिरससहिता भगवत एव लीला ॥१७॥

एवं रूपप्रपञ्चानुसारेण लीलामुक्त्वा नामप्रपञ्चानुसारेणापि तां लीलामा**हान्य** इति.

अन्ये तदनुरूपाणि मनोज्ञानि महात्मनः ।
गायन्ति स्म महाराज स्नेहक्लिन्नधियः शनैः ॥१८॥

भगवतो**ऽनुरूपाणि** योग्यानि न त्वननुरूपाणि. निरोधार्थं केवलं कृतानि **मनोज्ञानि** मनोहराणि भगवतो भक्तानां च. यद् भगवता गोप्यं तत्प्राकट्यं भगवतोऽमनोहरं भवति, भक्तानां तु भक्तिमार्गविरुद्धम्. **महात्मन** इति, भगवति सर्वं

टिप्पणी

अन्ये तदनुरूपाणीत्यत्र **भगवति सर्वं सम्भवती**ति. भक्तिमार्गे विरोधलीलाया अभावात्तत्कृतो मनोज्ञत्वपरिहारोनुपपन्न इत्यत आहुः **महात्मन** इत्यस्य तात्पर्यं **भगवती**त्यादिना. यथा रोदनं यथा वाग्रे सर्वज्ञत्वेन जानन्नपि भक्तपरीक्षार्थमसन्तमपि भक्तदुःखहेतुं कालीयह्रदे प्रदर्शितवान् तथाविधा लीला न गीतेत्यर्थः ॥१८॥

लेखः

त्वादात्मनिवेदनरूपम्, अत्रोक्तं गोपकृतत्वाद् योगिषु गतेषु गोपैः कृतं यद् दास्यं तादृशदास्यरूपम्. न त्विदं द्वयमपि पादसेवनभक्तिरूपं, तथा सत्यङ्गान्तरमर्दनादिकं न प्राप्येत. अत एव [1]'लक्ष्मीकृतजानुसंलालने 'करपल्लवरोचिषे'तिपदे तस्याः सभयत्वमेव व्याख्यातम्. **एवमुभयविधा** इति– हरिसेवयैव देहादीनां ब्रह्मभावं सम्पाद्य सायुज्यं प्राप्ता आसन्यस्य सेवया इन्द्रियाणां देवतात्वं सम्पाद्य हरिसेवया [2](ब्रह्मभावरूपं) सायुज्यं प्राप्ताश्चेत्यर्थः ॥१७॥

अन्य इत्यस्याभासे **तां लीलामाहे**ति भक्तिरसलीलामित्यर्थः. **अन्य** इत्यत्र **भक्तानां त्वि**ति, भक्तानां भक्तिमार्गविरुद्धं चरित्रममनोहरमित्यर्थः. तथा च **यत्प्राकट्यं** भगवतोनभीष्टं **तदन्तरङ्ग**चरित्रं भगवतोऽमनोहरं भक्तानाममनोहरं रोदनादिचरित्रं च न गीतमित्यर्थः. **अनुरूपाणी**त्यनेन बालभावाननुरूपपूतनामार-

१. भा.३।२८।२३. २. इत्यधिकमेकस्मिन्नादर्शे.

सम्भवति, अतो भगवन्माहात्म्यं ज्ञात्वा भगवान् कीर्तनीय इतिज्ञापनार्थं **महात्मन** इत्युक्तम्. **गानं** रागानुसारेण भगवद्गुणोपनिबन्धयुक्तानां कीर्तनम्. **स्मे**ति प्रसिद्धिः प्रमाणम्. **महाराजे**तिसम्बोधनं राजलीलात्वज्ञापनाय. तेषामपि प्रेमोद्गमो भगवत्सान्निध्यादभीष्टगुणाच्च जात इति सर्वलीलान्ते तेषां प्रेमोच्यते **स्नेहक्लिन्नधियः शनै**रिति, स्नेहेन क्लिन्ना धीर्येषाम्. आर्द्रवाससा स्पृष्टं सर्वमार्द्रमिव भवतीति ज्ञापयितुं तेषां गानमपि तथा जातमित्याह **शनै**रिति. एतदन्तैव भगवल्लीला ॥१८॥

अतः परं जीवा सायुज्यमेव प्राप्स्यन्तीति कैः सह लीला कर्तव्या स्यादत उपसंहर**त्येव**मिति.

एवं निगूढात्मगतिः स्वमायया गोपात्मजत्वं चरितैर्विडम्बयन् ।
रेमे रमालालितपादपल्लवो ग्राम्यैः समं ग्राम्यवदीशचेष्टितः ॥१९॥

एता एव दशविधलीला यत्र क्वचिद् भगवत उच्यन्ते. अग्रे भगवतो राजसीं सात्त्विकीं च लीलां वक्ष्यन् तामसीयं गोकुले **ग्राम्यैः** सह कृतेत्याह. ननु ज्ञानरूपे

प्रकाशः

अन्य इत्यत्र **भगवति सर्वं सम्भवती**त्येतस्यार्थं टिप्पण्यामाहु**र्भक्तिमार्गे**त्यादि. सुबोधिन्या**मभीष्टगुणा**दित्यभीष्टगुणप्राप्तेरित्यर्थः. **एतदन्तैवे**ति स्नेहान्तैव. **क्वचित् पल्लवे**त्यादिचतुर्षु पुष्टिप्रवाहमर्यादायां "पुष्ट्या विमिश्राः सर्वज्ञा" इतिकारिकोक्ताः पुष्टिमार्गीयाश्चतुर्विधा ज्ञातव्याः ॥१८॥

एवमित्यत्राभासे**ऽतःपरमि**ति लीलाजन्यस्नेहोत्तरं पुनर्लीलाकरणे.

लेखः

णादिचरित्रव्युदासो ज्ञेयः. **भगवत्सान्निध्यादभीष्टगुणाच्चे**ति रूपलीलातो नामलीलातश्च प्रेमोद्गमः **स्नेहक्लिन्नधियः शनै**रितिपदद्वयेनोक्त इत्यर्थः. गानस्य शनैष्ट्वे हेतुमाहुः **आर्द्रवाससे**ति, इति दृष्टान्तेन क्लिन्नधीकृतगानस्यापि क्लेदात् शनैष्ट्वमित्यर्थः ॥१८॥

सायुज्यमिति नित्यलीलास्थितिमित्यर्थः. **कैः सहे**ति नित्यलीलास्थितावेतेषां तु निवर्तनीयदेहाद्यध्यासाभावाद् धेनुकवधादिलीला कैः सह स्यादित्यर्थः.

एवमित्यत्र **तामसी**ति, यत्र भगवानपि स्वस्वरूपं धर्मांश्च विस्मृत्य रन्तुं प्रवृत्तस्तादृशीत्यर्थः. **ज्ञानस्ये**ति तद्धर्मरूपस्येति शेषः, तमो विरुणद्धि तादृशत्वात्

योजना

एवं **निगूढात्मगतिरि**त्यस्य व्याख्याने **एता एव लीला यत्र क्वचिदि**ति. एतासु दशविधलीलास्वेव सर्वशृङ्गाररससम्बन्धिलीलानामन्तर्भाव इति हार्दम्.

भगवति कथमियं लीला सम्भवति, ज्ञानस्य तमोविरोधित्वात्, तत्राह **निगूढात्म-गतिरि**ति, नितरां गूढा आत्मनो गतिर्ज्ञानलीला यस्य. **स्वमायये**त्युभयत्र सम्बध्यते, स्वाधीनमायया **गोपात्मजत्वम**पि **चरितैः** कृत्वा **विडम्बयत्य**नुकरोत्युपहसति वा. न हि गोपा एतादृशा भवन्ति, अतो महानल्पस्य नाम स्वस्मिन् स्थापयंस्तानुप-हसत्येव. चरितान्यलौकिकानि, विडम्बनं चालौकिकचरित्रैर्न भवतीति माया तेषु सहकारिणी क्रियते. बहूनामेव चरित्राणां बहुधा प्रदर्शितानां विडम्बनं सिध्यति, अतः स्वरूपं गोपयन् गोपानुकरणं चोपहसन् **रेमे.** लीलादावुक्ताया लक्ष्म्या उपसंहारे विनियोगमाह **रमालालितपादपल्लव** इति. क्रीडान्ते पादसंवाहनं पतिव्रताया धर्मः, अन्यथा समतया गता भक्तिर्न पुनरागच्छेत्. अतः प्रत्यापत्त्यर्थमन्तेऽवश्यं पाद-संवाहनं कर्तव्यम्. एतादृशोपि **ग्राम्यैः समं** ग्राम्यरसानुभवार्थं **ग्राम्यवदेव रेमे,** अन्यथा विजातीये रसो नोत्पद्येत. **ईशचेष्टित** इति भगवतोप्यन्ते प्रत्यापत्तिः.

टिप्पणी

एवं निगूढात्मगतिरित्यत्र स्वकार्याकरणमेवात्र निगूढत्वम्. तेन तद्विपरीतकार्यसम्भवोपि. अत एव पूर्णशृङ्गाररसात्मत्वं संगच्छत इति दिक् ॥१९॥

प्रकाशः

इत्याहेतीति हेतोः प्रकारभेदोपसंहार**माहे**त्यर्थः. नितरां गूढेति **निगूढ**पदतात्पर्यं टिप्पण्यामाहुः **स्वकार्याकरणमि**त्यादि. सुबोधिन्यां **सहकारिणी क्रियत** इति, तथा चालौकिकेष्वेव सा तथा प्रदर्शयतीति भावः ॥१९॥

लेखः

तस्येत्यर्थः. **ज्ञानलीले**ति धर्मरूपं ज्ञानमित्यर्थः. टिप्पण्यां **स्वकार्ये**ति, **स्वस्य** धर्मरूपज्ञानस्य **कार्यं** तमसो विरोधः कार्यप्रतिबन्धस्त**दकरणमि**त्यर्थः. **तेने**ति प्रतिबन्धाभावेन हेतुना **तद्विपरीतस्य** तमसः **कार्यसम्भव** इत्यर्थः. सुबोधिन्यां **चरितानी**ति, गवाह्वानादि**चरितान्यलौकिकानि** तेषु मोक्षदानरूपाणि. तथात्वज्ञानं मायया प्रतिबध्यते इति गोपात्मजत्वादेव करोतीत्येव ज्ञानं भवतीत्यर्थः. **चरितैरि**ति बहुवचनस्यार्थमाहुः **बहूनामेवे**ति ॥१९॥

योजना

रमालालितपादपल्लव इत्यत्र **समतया गते**ति. रमणे हि समत्वमपेक्षितं, तुल्यतायां तु न भक्तिरसोऽतो रमणसमये तुल्यतां कृत्वापि पुनर्भक्तिलाभार्थं श्रीलक्ष्मीः पादसंवाहनं करोति स्मेत्यर्थः ॥१९॥

ईशस्येव चेष्टितं यस्येति "लोकवत् तु लीलाकैवल्यमि"तिन्याय उपदर्शितः– ईश्वरा अप्याखेटकादिरूपां व्याधवल्लीलां कुर्वन्ति तथैतदपि भगवता कृतमिति ॥१९॥

एवं गोपानां संस्कारार्थं लीलां प्रदर्श्य तेषां दोषनिराकरणार्थं धेनुकवधलीलां प्रस्तावयति **श्रीदामा नामे**ति विंशत्या.

श्रीदामा नाम गोपालो रामकेशवयोः सखा ।
सुबलस्तोककृष्णाद्या गोपाः प्रेम्णेदमब्रुवन् ॥२०॥

श्रीदाम यस्य, लक्ष्म्याः सम्बन्धी कश्चित् तद्भ्रातेव. सोपि **गोपालो** नन्दवंशोद्भवो **रामकेशवयोः सखा** साधारणः सख्यपर्यन्तमागतः स्त्रीसम्बन्धी लीलासम्बन्धी भक्तिसम्बन्धी च. तादृशानन्यानपि गणयति **सुबले**ति. **स्तोको** भिन्नः, **कृष्णो** भिन्नः, **स्तोककृष्ण**श्चापरः. सुबलो बलभद्रानुसारी स्तोककृष्णो भगवदनुसारी. **सुबलस्तोककृष्णावेवाद्यौ** येषां ते सर्वे सम्भूय **प्रेम्णा** स्वाभिलषितं किञ्चित् प्रार्थयन्ति ॥२०॥

तदाहुः.

राम राम महासत्त्व कृष्ण दुष्टनिबर्हण ।

प्रकाशः

श्रीदामेत्यत्राभासे **संस्कारार्थमि**त्यलौकिकभावसिद्ध्यर्थम् ॥२०॥

लेखः

श्रीदामेत्यस्याभासे **संस्कारार्थमि**ति नित्यलीलायोग्यतार्थमित्यर्थः. **दोषनिराकरणार्थमि**ति तनुनवत्वसिद्ध्यर्थमित्यर्थः. **श्रीदाम यस्ये**ति सा सूत्रं यस्य; तत्सन्देशादिद्वारा सेवाकर्तेत्यर्थः ॥२०॥

तदाहुरिति, **तत्** तस्मात् प्रार्थनार्थ**माहुः** प्रथमश्लोकेन वनस्वरूपमिति शेषः ॥२१॥

योजना

श्रीदामा नामेत्यस्य विवृतौ **लक्ष्म्याः सम्बन्धी कश्चिद् तद्भ्रातेवे**ति. इह **लक्ष्मी**पदेन मुख्यस्वामिनी श्रीवृषभानुनन्दिनी ग्राह्या, "वैष्णवास्तां लक्ष्मीं परां राधां प्रचक्षते" इतिब्रह्मवैवर्ते 'लक्ष्मी'पदवाच्यतोक्तेः. तस्याः श्रीदामा भ्राता भवत्येवेति स्फुटं ब्रह्मवैवर्तादौ प्रसिद्धिश्च. **भ्रातेवे**त्यत्र **इव**पदोपादानं तु श्रीस्वामिन्या भगवद्रूपत्वादयोनिजनुस्त्वख्यापनार्थम्. **सोपि गोपालः नन्दवंशोद्भव** इति, श्रीनन्दस्य सम्बन्धी यो वंशः यदुवंशः तत्रोद्भवो यस्येत्यर्थः, पुराणे श्रीनन्दस्य श्रीवृषभानोश्च यदुवंशोद्भवत्वकथनात् ॥२०॥

इतोविदूरे सुमहद् वनं तालालिसङ्कुलम् ॥२१॥

सुबलः प्रथमं निरूपित इति **रामरामे**ति सम्बोधनं प्रथमं, कायिकश्चायं दोषस्तेनैव दूरीकर्तव्यः. **महासत्त्वे**ति तस्य स्तुतिः प्रकृतोपयोगिनी, मल्लयुद्धादिना च महाबलत्वं ज्ञातं, भगवतस्तु तद्रूपं माहात्म्यजनकं न भवतीति. धेनुकवधस्यावश्यकत्वाय **दुष्टनिबर्हणे**तिस्तुतिः. **इतः** क्रीडास्थाना**दविदूर** एव निकट एव **सुमहद**स्मादपि महत् **तालालिभि**स्तालपङ्क्तिभिर्व्याप्तमस्ति ॥२१॥

ततः किमत आह **फलानी**ति.

फलानि तत्र भूरीणि पतन्ति पतितानि च ।
सन्ति किन्त्ववरुद्धानि धेनुकेन दुरात्मना ॥२२॥

पातनप्रयासोपि नास्ति; **पतितानि सन्ति.** चिरपतितानां तथारसो न भवतीति **पतन्ति** चेत्युक्तम्. न च तानि पतितानि केनचित् नीयन्ते **किन्तु सन्त्ये**व, तत्र हेतु**र्धेनुकेनावरुद्धानि.** तर्हि प्रार्थनायां दास्यतीत्याशङ्क्याहु**र्दुरात्मने**ति, स हि दुष्टः प्रार्थितोपि न प्रयच्छति ॥२२॥

किञ्च न तं कोपि प्रार्थयत इत्याह **सोतिवीर्य** इति.

सोतिवीर्योऽसुरो राम हे कृष्ण खररूपधृक् ।
आत्मतुल्यबलैरन्यैर्ज्ञातिभिर्बहुभिर्वृतः ॥२३॥

अतिवीर्यत्वात् न कमपि गणयति, हीनभावाश्रये तु भक्षयत्येव यतोय**मसुरः.** तर्ह्यस्माकमप्यशक्य इतिशङ्कां वारयितुं पुनर्नाम गृह्णन्ति **राम हे कृष्णे**ति. स कथं परिज्ञातव्य इत्याशङ्क्याहुः **खररूपधृ**गिति. न चैकः सः बहवश्च भवन्तः अतः सम्भूय मारणीय इतिशङ्कां वारयन्ति **आत्मतुल्यबलै**रिति. बहूनां तादृशबलवत्त्वे कुलमेव हेतुरिति ज्ञापयितुमाहु**र्ज्ञातिभि**रिति. **अन्यै**रपि **बहुभिर्वृतः**, तेप्यन्ये सङ्घशो बहव एव सजातीयाः ॥२३॥

एवं तस्य वीर्यं प्रशस्तं यदर्थं तदाह **तस्मा**दिति.

तस्मात् कृतनराहाराद् भीतैर्नृभिरमित्रहन् ।
न सेव्यते पशुगणैः पक्षिसङ्घैर्विवर्जितम् ॥२४॥

प्रकाशः

राम रामेत्यत्र प्रथमरामसम्बोधने हेतुमाहुः **कायिकश्चे**त्यादि, अयमाध्यात्मिकः कायिकदोषो बलदेवेनैव दूरीकर्तव्य इतिभगवदिच्छाज्ञानात् तथेत्यर्थः. **तद्रूप**मिति भावप्रधानः ॥२१॥

कृतो नर एवाहारो येन, स हि मनुष्यानेव विशेषतो भक्षयत्यत एव **तस्माद् भीतैर्नृभिर्न सेव्यते** तद् वनम्. तर्ह्यस्माभिरपि न गन्तव्यमित्याशङ्क्याहु**रमित्रहन्नि**ति, हे कृष्ण भवानमित्रहन्ता सोप्यमित्र इति तद्धननं तव शक्यं कर्तव्यं च. अयं धर्मो भगवन्निष्ठो जागरुक एतेषां हृदि स्फुरतीत्युक्तदोषवतोपि स्थाने गमनं प्रार्थयन्ति, अन्यथैवम्प्रेरणस्य प्रेमविरुद्धत्वेन "प्रेम्णेदमब्रुवन्नि"तिवचनं विरुद्धं स्यात् प्रियस्यामित्रे च न स्थापयितुमुचितमिति च. किञ्च तद् वनं सर्वेषामेवासेव्यं ये भूचरा ये चान्तरिक्षचराः, अतः **पशुगणैः पक्षिसङ्घैश्च** विशेषेण **वर्जितम्.** अतो ये पशुपालका ये वा देवपरिपालकास्तैः सोऽवश्यं वध्यः ॥२४॥

विद्यन्तेऽभुक्तपूर्वाणि फलानि सुरभीणि च ।
एष वै सुरभिर्गन्धो विषूचीनोवगृह्यते ॥२५॥

किञ्च त**त्राभुक्तपूर्वाणि फलानि** दिव्यानि सन्ति. केचिद् **भुक्तपूर्वाणी**त्याहुरन्यथा कथं तेषां कामनेति. रक्षायां यद्यपि भोगो बाध्यते तथापि चौर्येण भक्षणं सम्भवति. तानि **च फलान्यत्यन्तसुरभीणि,** सौरभ्यं तु तेषां प्रत्यक्षसिद्धमेव, तदा**हैष वै सुरभिर्गन्ध** इति. **विषूचीनः** परितः प्रसरद्रूपः, अत एव सर्वतो **गृह्यते** ॥२५॥

एवं दुर्लभतां फलोत्तमत्वं चोक्त्वा तानि प्रार्थयन्ते **प्रयच्छे**ति.

प्रयच्छ तानि नः कृष्ण गन्धलोभितचेतसाम् ।
वाञ्छास्तीत् महती राम गम्यतां यदि रोचते ॥२६॥

दाने भगवानेव समर्थ इति **कृष्णे**त्युक्तं, तस्यैव सर्वत्र स्वत्वाद्, अन्येन

टिप्पणी

विद्यन्तेऽभुक्तपूर्वाणीत्यत्र **केचिदि**त्यस्वरसोद्भावनम्. तद्बीजं तु गन्धविशेषेणेष्टरसानुमानात्कामः सम्भवति, अत एव **गन्धलोभितचेतसा**मिति वक्ष्यन्ति. उक्ततद्धर्मैश्चौर्यसम्भावनापि नेति ॥२५॥

प्रकाशः

विद्यन्त इत्यत्र मतान्तरमनूद्य दूषयन्ति **केचिदि**त्यादि. तत् टिप्पण्यां स्फुटीकुर्वन्ति **केचिदि**त्यादि. ननु चौर्येण भक्षणसम्भवान्न दोष इत्यतस्तद् दूषय**न्त्युक्ते**त्यादि ॥२५॥

लेखः

तस्मादित्यत्र **हे कृष्णे**ति, **अमित्रहन्नि**त्येकवचनात् कृष्णे दुष्टनिबर्हणत्वस्य पूर्वमुक्तत्वाच्च **कृष्णे**त्यनेनैव सम्बध्यते इतिभावः ॥२४॥

प्रतिबन्धनिवृत्तावपि परस्वं न ग्रहीतुं शक्यम्. तत्र कामनायां हेतु**र्गन्धलोभितचेतसामि**ति– गन्धेन लोभितं चेतो येषाम्. न केवलमिदानीमेव चित्तलोभः किन्तु पूर्वमपि **वाञ्छासीत् महती.** उत्सुको राम इति **राम गम्यतामि**त्युक्तम्. अतिनिर्बन्धे कदाचित् कोपं कुर्याद् गते चानिष्टं भवेदित्याशङ्क्याहु**र्यदि रोचत** इति, यदि गन्तुं रोचते ॥२६॥

ततो गतावित्याह**ैवमि**ति.

एवं सुहृद्वचः श्रुत्वा सुहृत्प्रियचिकीर्षया ।
प्रहस्य जग्मतुर्गोपैर्वृतौ तालवनं प्रभू ॥२७॥

सुहृदां स्वभावत एव हितं कर्तव्यं, तत्रापि तेषां वचनं श्रुतम्, अतः **सुहृदामेव प्रियचिकीर्षया** तत्र गतौ, अन्यथाऽक्लिष्टकर्मा भगवान् निरपराधिनं कथं मारयेत्? अत एव भगवता न मारितोपि. मित्रहितं च कर्तव्यमतः **प्रहस्य,** तेषामाग्रहं दृष्ट्वा दोषनिवृत्तिं वाञ्छन्तीति वा. सामान्यकार्यमित्युभौ **जग्मतुः. गोपैर्वृतावि**ति कर्तव्यार्थनिर्धारः, अन्यथा तैः सह न गच्छेताम्. शङ्काभावार्थमाह **प्रभू** इति ॥२७॥

तत्र गत्वा यत् कृतवन्तौ तदाह **बल** इति.

बलः प्रविश्य बाहुभ्यां तालान् सम्परिकम्पयन् ।
फलानि पातयामास मतङ्गज इवौजसा ॥२८॥

अक्लिष्टकर्मा भगवान् बहिरेव स्थितो **बल**स्त्वन्तः **प्रविश्य बाहुभ्यां तालानि सम्परिकम्पयन् फलानि पातयामास.** यानि सुपक्वानि तानि चालनेन पतन्ति. ननु विद्यमानेषु फलेषु किमिति बहूनि पातयामास? **मतङ्गज इवे**ति– मतङ्गज सर्वाण्येवानुपयुक्तान्यपि पातयति बलजनितकण्डूनिवृत्त्यर्थम्. उपायेनापि पातनं सम्भवतीति तन्निवृत्त्यर्थमा**हौजसे**ति, स्वबाहुबलेनैव ॥२८॥

ततो यद् जातं तदाह.

फलानां पततां शब्दं निशम्यासुररासभः ।
अभ्यधावत् क्षितितलं सनगं परिकम्पयन् ॥२९॥

पततां फलानां शब्दं श्रुत्वासुरेष्**वपि रासभो**ऽधमः; असुरापेक्षया-सुरपशवोऽधमास्तत्रापि गर्दभाः. तस्य निर्भयागमने हेतुमिव सामर्थ्यमाह **सनगं परिकम्पयन्नि**ति– गोवर्धनसहितं सर्वमेव भूतलं परिकम्पयन् ॥२९॥

आगत्य बलभद्रं ताडितवानित्याह **समेत्ये**ति.

समेत्य तरसा प्रत्यग् द्वाभ्यां पद्भ्यां बलं बली ।
निहत्योरसि काशब्दं मुञ्चन् पर्यसरत् खलः ॥३०॥

समेत्य मिलित्वा निकटे समागत्य **तरसा प्रत्यग्**भूतो जातो विपरीतमुखस्ततो **द्वाभ्यां पद्भ्यां बलं** बलभद्र**मुरसि निहत्य** ताडयित्वा **काशब्दं** रासभशब्दं **मुञ्चन्नु**च्चारयन् **पर्यसरत्** परितो वेष्टनमिव प्रदक्षिणां कृतवान्– जातिस्वभावोऽयम्. ननु महान् फलार्थी स्वस्थाने समागतः स्वयमेव फलान्युत्पाट्य गृह्णाति तत्र कथमागत्य ताडनमनुचितं कृतवान्? तत्राह **खल** इति ॥३०॥

बलभद्रोपि स्वयमेवागतस्तत्स्थान इति सकृदपराधः सोढः, तावतापि स न निवृत्त इत्याह **पुनरासाद्ये**ति.

पुनरासाद्य संरब्ध उपक्रोष्टा पराक् स्थितः ।
चरणावपरौ राजन् बलाय प्राक्षिपद् रुषा ॥३१॥

पुनर्निकटे गत्वा क्रोध**संरब्ध उपक्रोष्टा** सृगालतुल्यो गर्दभः **पराक् स्थितः** पुनर्विमुखो भूत्वा**ऽपरौ चरणौ** पुन**र्बलाय प्राक्षिपत्.** समागत्य प्रक्षेपपर्यन्तं क्रोधोऽनुवृत्त इति ज्ञापयितुमन्ते **रुषे**त्युक्तम्. सम्बोधनं स्नेहादप्रतारणाय ॥३१॥

तदा द्वितीयापराधे बलभद्रो मारितवानित्याह **स तमि**ति.

स तं गृहीत्वा प्रपदोर्भ्रामयित्वैकपाणिना ।
चिक्षेप तृणराजाग्रे भ्रामणत्यक्तजीवितम् ॥३२॥

प्रपदोः पादाग्रयो**र्गृहीत्वैकपाणि**नैव **तं भ्रामयित्वा तृणराजस्य** तालवृक्षस्योपरि प्राहिणोद्, यथा वत्सो भगवता. अयमप्यन्तरिक्ष एव मृत इत्याह **त्यक्तजीवितमि**ति, त्यक्तं जीवितं येन ॥३२॥

पूर्वं तु फलान्येव पतन्तीदानीं तु वृक्षाः स्वयमपि पतिता इत्याह **तेनाहत** इति.

तेनाहतो महातालो वेपमानो बृहच्छिराः ।
पार्श्वस्थं कम्पयन् भग्नः स चान्यं सोपि चापरम् ॥३३॥

तेन बलभद्रेण रासभदेहेन वा आसमन्ता**द्धतो महातालोपि वेपमानो**

प्रकाशः

स तमित्यत्र मूले धेनुकवधमात्रमुक्तं, पाद्मोत्तरखण्डे तु दिनमप्युक्तं "कार्त्तिक्यां पूर्णमास्यां तु धेनुकानां वधः कृत" इति. अत्र बहुवचनो 'धेनुक'शब्दो जातिवाचीति ज्ञायते ॥३२॥

लेखः

पुनरासाद्येत्यस्याभासे **बलभद्रोपी**ति. **इती**त्यस्याग्रे **बलेने**ति शेषः; **इति** हेतो**र्बलेनापराधः सोढ** इत्यर्थः ॥३१॥

जातस्ततो **बृहच्छिराः** स्थूलाग्रिमभागः कम्पने स्थिरीभवितुमशक्तः स्व**पार्श्वस्थं** वृक्षं **कम्पयन्नेव** मध्ये **भग्नः, सोपि** पूर्ववद् वेपमानः पार्श्वस्थं कम्पयन् भग्नः, सोप्येव**मपरः** –एवं सा पङ्क्तिः सर्वापि पतितेत्यर्थः ॥३३॥

किञ्च न केवलमेका पङ्क्तिः पातिता किन्तु **सर्व** एव वृक्षा वेपमाना जाता इत्याह **बलस्ये**ति.

बलस्य लीलयोत्सृष्टखरदेहहताहताः ।
तालाश्चकम्पिरे सर्वे महावातेरिता इव ॥३४॥

साक्षाद्बलरूप एवायमतस्तेन **लीलयाप्युत्सृष्टखरदेहेन हतेन** वृक्षेण **आ** सर्वतो **हतास्ताला महावातेरिता इव चकम्पिरे.** अस्य क्रियाशक्तिरनेकपरम्परायामपि न शान्ता. सर्वात्मकत्वादस्य यत्रैवास्य क्रियाशक्तिर्व्याप्नोति तत्सम्बन्धात् तत्र स्थितापि क्रियाशक्तिरुद्गच्छति तया चान्यत्र स्पर्शे पुनरन्यत्र स्थिताप्युद्गच्छति, यथा काष्ठेषु वह्निः. वह्निराधारमपि न स्थापयतीति वह्निसमानधर्मा वायुरत्र दृष्टान्तीकृतः. महावातेन स्पृष्टो गुप्तोपि वायुरुद्गतो महानेव भूत्वान्यमप्येवमुद्बोधयतीत्यन्तं(न्ते!) महानेव भवति ॥३४॥

इदं बलभद्रचरित्रमाश्चर्यमिव मत्वा समाधत्ते **नैतच्चित्रमि**ति.

नैतच्चित्रं भगवति ह्यनन्ते जगदीश्वरे ।
ओतप्रोतमिदं यस्मिंस्तन्तुष्वङ्ग यथा पटः ॥३५॥

नेदं कर्म बलभद्रस्य किन्त्वाविष्टस्य भगवतः,तदाह **भगवति नैतच्चित्रमि**ति. किञ्चाय**मनन्तः** सर्वसंहर्ता सङ्कर्षणस्तस्य तालवृक्षमात्रकम्पनं किमाश्चर्यं यं कालं स्मृत्वा जगदेव कम्पते? किञ्च **जगदीश्वरः** अयं जगतो नियन्ता. ईश्वरस्याज्ञयैव सर्वे कम्पन्ते, "यद्भयाद् वाति वातोयमि"त्यादिवाक्यात्. प्रथमप्रहारपर्यन्तं बलभद्रः, ततो व्यथाप्रतीकारार्थमुपायान्वेषणे भगवदुपदेशे स्मृते सहसैवाविष्टो भगवांस्तथा कृतवान्, अन्यथा बाहुभ्यां कम्पन एव वृक्षभङ्गो भवेत्. किञ्च **यस्मिन्** सङ्कर्षणेऽहम्ममाभिमानाधिष्ठातरि सर्वमेव **जगदोतं प्रोतं** च, समवायरूपत्वान्निमित्तरूपत्वाच्च. **तन्तुभिः पट** ओतः प्रोतश्च; दीर्घतन्तव ओतास्तिर्यकृतन्तवः प्रोतास्तथा सर्वमेव जगद् भगवति समवेतत्वेन ग्रथितत्वेन च स्थितम्, अतो हस्तचालनेनापि सर्वजगत्कम्प उचितः, किमाश्चर्यं वृक्षाणां महाव्यापारे! ॥३५॥

एवं धेनुकवधं भगवत्सामर्थ्यं चोक्त्वा प्रसङ्गात् तत्सम्बन्धिनां सर्वेषां वधमाह **तत** इति.

ततः कृष्णं च रामं च ज्ञातयो धेनुकस्य ये ।
क्रोष्टारोभ्यद्रवन् सर्वे संरब्धा हतबान्धवाः ॥३६॥

ते तु बहवो मूर्खाः **कृष्णं रामं च धेनुकस्य ज्ञातयो ये** धेनुकवधेन क्लिष्टा **हतबान्धवाः** क्रोधसंरब्धाः सन्तः **क्रोष्टारो** गर्दभा आक्रोशयुक्ता **अभ्यद्रवन्.** **चकारद्वयेन** गोपानप्य**भ्यद्रवन्** तदा प्रतिगोपं कृष्णो रामश्चोपस्थितौ भवतः, अतो बहुधा कृष्णं बहुधा राममिति ज्ञापयति ॥३६॥

तदनु भक्तरक्षार्थं सर्वानेव मारितवन्तावित्याह **तांस्तानि**ति.

तांस्तानापततः कृष्णो रामश्च नृप लीलया ।
गृहीतपश्चाच्चरणान् प्राहिणोत् तृणराजसु ॥३७॥

य एवाग्र आगतास्त एवाग्रे मारिताः. **कृष्णो रामश्चे**ति यस्यैवाग्रे पतन्ति. **नृपे**ति सम्बोधनं पूर्ववत्. तेषां वधे न कोपि प्रयास इत्याह **लीलये**ति. **गृहीतौ पश्चाच्चरणौ** येषां, सर्वेषामेवान्तरिक्षमारणार्थं दुष्टारोपिततालवनदूरीकरणार्थं च **तृणराजस्वेव प्राहिणोत्. रामः कृष्णश्चै**क एवेत्येकवचनम् ॥३७॥

फलप्रकरसङ्कीर्णं दैत्यदेहैर्गतासुभिः ।
रराज भूः सतालाग्रैर्घनैरिव नभस्तलम् ॥३८॥

ततो यद् जातं तदाह– **फलप्रकरैः** फलसमूहैः **सङ्कीर्णं दैत्यदेहैर्गतासुभिश्च सङ्कीर्णं** ध्वस्ता भग्ना ये **तालाग्रा**स्तालशिरांसि तैरपि **सङ्कीर्णं तलं** भूतलं **रराज** शोभामेव प्राप्तवत्, न तु भूशोभा काचिन्नष्टा. तत्र दृष्टान्तो **घनैर्नभ इवे**ति– निर्मलं नभः सूर्यसहितं चन्द्रनक्षत्रसहितं यथा शोभते तथा **घनै**रपि सम्बद्धं शोभते, घनानां सर्वजनापेक्षाविषयत्वात्. त्रीण्यप्येतानि नीलावान्तरजातियुक्तानि– अतिनीलानि फलानि रासभास्तु धूसरास्तालाग्राश्च श्यामा; मेघा अपि तथैव ॥३८॥

तत् कर्म तयोः सर्वजगत्प्रसिद्धं जातमिति ज्ञापकमाह **तयोरि**ति.

तयोस्तत् सुमहत् कर्म निशम्य विबुधादयः ।

प्रकाशः

ततः कृष्णं च रामं चेत्यत्र **चकारद्वयेनेतीति ज्ञापयती**त्यनेन योज्यम् ॥३६॥

फलप्रकरेत्यत्र **सर्वजनापेक्षाविषयत्वा**दिति देहलीदीपन्यायेनोभयत्र योज्यं दृष्टान्तस्यांशिकत्वाभावाय ॥३८॥

लेखः

तांस्तानित्यत्र **तृणराजस्वि**ति समासान्तस्यानित्यत्वात् न टच् ॥३७॥

मुमुचुः पुष्पवर्षाणि चक्रुर्वाद्यानि तुष्टुवुः ॥३९॥

सुमहत् कर्म धेनुकवधलक्षणम्. **विबुधादयो** गन्धर्वादयः **पुष्पवर्षाणि मुमुचुर्वाद्यानि चक्रुस्तुष्टुवुश्च**. त्रिविधानां त्रयं हर्षनिधानम्, अनेन देवानां हितार्थं वध उक्तः ॥३९॥

एवं सपरिकरो धेनुकवधो निरूपितः. भगवता तु तालफलानि न दत्तानि परं स्वेच्छयैव सर्वैर्भक्षितमित्याहाथेति भिन्नप्रक्रमेण.

अथ तालफलान्यादन् मनुष्या गतसाध्वसाः ।
तृणं च पशवश्चेरुर्हतधेनुककानने ॥४०॥

तालफलान्यादन् सर्व एव **मनुष्या गतसाध्वसाश्च** जाताः, **तृणं च पशवश्चेरुः, हतो धेनुको** यत्र तादृशे **कानने,** तत्र छायया तृणं न शुष्कं भवतीति. **च**कारात् पक्षिणोपि सुखिनो जाताः ॥४०॥

एवं वनलीलामुक्त्वा पुनर्व्रजे भगवतः समागमनमाह **कृष्णः कमलपत्राक्ष** इति.

कृष्णः कमलपत्राक्षः पुण्यश्रवणकीर्तनः ।
स्तूयमानोऽनुगैर्गोपैः साग्रजो व्रजमाव्रजत् ॥४१॥

कृष्णो व्रजमाव्रजदिति व्रजस्थानां महानानन्दहेतुरुक्तः. तदेतावत्कालं विरहतप्तानां कथं तापं दूरीकरिष्यतीत्याशङ्क्याह **कमलपत्राक्ष** इति– कमलपत्रवदायतेऽतिविशाले परतापापनोदके अक्षिणी यस्य. अनेन दृष्ट्यैव तापहारित्वमुक्तम्. ननु कारणभूत आध्यात्मिके पापे विद्यमाने कथं तापनिवृत्तिः? तत्राह **पुण्यश्रवणकीर्तन** इति, पुण्ये श्रवणकीर्तने यस्य. अनेन पापं जलपूरेणेव नाश्यत इति

लेखः

कृष्ण इत्यत्र **तदि**दिति, कृष्णस्य व्रजागमनमागन्तुः कमलपत्राक्षत्वात् तापहारकमित्यर्थः, दृष्ट्यैव सङ्केतसूचनाद् भाव्यर्थनिश्चयेन तापनिवृत्तिरिति भावः. अग्रिमश्लोके तापान्तरस्य वक्ष्यमाणत्वादत्र **विरह**पदम्. **नन्विति**. **अध्यात्मम**न्तःकरणं तत्सम्बन्धिनि विरहकारणभूते मदमानादिरूपे इत्यर्थः. **अनेने**ति एतयोः पुण्यत्वकथनेनेत्यर्थः. पुण्यं हि प्रायश्चित्तं तात्कालिकपापभोगनिवर्तकं न तु स्वरूपतो नाशकमिति निबन्धे निरूपितं तत्सूचनाय जलपूरदृष्टान्तः. पूरो हि वस्तु देशान्तरे प्रक्षिपति न तु स्वरूपतो नाशयति, तथात्रापि तात्कालिकमदमाननिवृत्तिः, कालान्तरे तु रसोद्रेकाद् भविष्यत एवेति भावः. **श्रवणे** इति सतीति शेषः. **कथापूर** इति सुधासंवलितकथापूर इत्यर्थः. **शुद्ध** इति पूर्वोक्तपापरहित इत्यर्थः.

निरूपितं– श्रवणे प्रविशति कथापूरो हृदयं ततः सर्वमेव दोषमालोड्य मुखतो निःसरति, एवं कियत्कालपर्यावृत्त्या सर्वथैव शुद्धो भवति. नन्वेवमपि सति भगवत्कीर्तिः कथं प्राप्यते? तत्राह **स्तूयमानोनुगैरि**ति, **अनुगा** भक्ता गोपाश्च. तेन भगवच्चरित्रं सर्वथैव सुलभमुक्तम् अलौकिकेन लौकिकेनापि प्रकारेण. **साग्रज** इति– धेनुकवधस्तेन कृत इति तं पुरस्कृत्य सहैवागतो भगवान् न तु पृथक्पृथग् यथायथम् ॥४१॥

आगच्छन्तं भगवन्तं वर्णयति **तं गोरजश्छुरितकुन्तले**ति.

तं गोरजश्छुरितकुन्तलबद्धबर्हवन्यप्रसूनरुचिरेक्षणचारुहासम् ।
वेणुं क्वणन्तमनुगैरनुगीतकीर्तिं गोप्यो दिदृक्षितदृशोभ्यगमन् समेताः ॥४२॥

तं भगवन्तं **गोप्योभ्यगमन्नि**ति सम्बन्धः. पूर्वं पुरुषार्थचतुष्टयसहिता दशरसयुक्ता लीला च प्रदर्शिता. सा गोपिकाभिर्न दृष्टेति गोपिकानां भवति तापोऽतस्तन्निवृत्त्यर्थं चतुर्दशधर्मयुक्तो भगवानत्र निरूप्यते. तत्र **गोरजोभिश्छुरितानि** व्याप्तानि **कुन्तलानि** यस्येति पुरुषार्थलीला प्रतिपादिता– गावोत्र धर्मो रजोर्थो

टिप्पणी

तं गोरज इत्यत्र, **गावोत्र धर्म** इत्यादि. धर्मस्य वृषरूपत्वेन गोजातीयत्वाद्गो-

लेखः

नन्वेवमपीति, श्रवणकीर्तनाभ्यामाध्यात्मिकपापनिवृत्तावपि भगवत्यनित्यरतित्वादिदोषदर्शनलक्षणस्याधिदैविकपापस्य विद्यमानत्वात् तन्निवर्तकोत्कर्षाधायकगुणवर्णनरूपा **कीर्तिः कथं प्राप्यते** इत्यर्थः. **अनुगा** इति अन्तरङ्गा इत्यर्थः. **अलौकिकेने**ति, लोकावेद्येनैव भगवान् रतो यथापूर्वमेवेत्यादितद्वर्णनप्रकारेण भक्तस्तुत्या सुलभत्वमुक्तं, लोकवेद्येन प्रकारेण गोपस्तुत्या सुलभत्वमित्यर्थः ॥४१॥

तमित्यत्र **न दृष्टे**ति नानुभूतेत्यर्थः; तत्तद्धर्मदर्शनेन तत्तत्स्थायिभावोऽनुभूतो भवतीति ज्ञेयम्. **अत्र धर्म** इति पुरुषार्थपरत्वव्याख्याने इत्यर्थः, शृङ्गाररसपरत्वे

योजना

स्तूयमानोनुगैरित्यत्र **अलौकिकेन लौकिकेनापि प्रकारेणे**ति. रहस्यलीलाकथनं हि सर्वेषां लोकानां सन्निधौ न भवति किन्तु तादृशभक्तनिकटे रहस्येव भवति, तस्य वक्तारोपि विरला अतस्तेषां लोकावेद्यत्वादलौकिकप्रकारेणैव तेभ्यो लीलास्वरूपं लभ्यते. प्रकटलीलास्तु गोपैः सर्वसमक्षं गीयते, तल्लाभोपि सर्वप्रसिद्धलौकिकप्रकारेणैव भवतीत्यर्थः ॥४१॥

व्याप्तिः कामो अलका मोक्षस्थानीयाः सत्यावलम्बिनः; धर्मादिसहितानामेव मोक्ष इति चतुर्णामेकवाक्यता. कुन्तलाश्च कामरूपा रजो रजोगुण एव गावोत्रानुभावाः,

टिप्पणी

शब्देन **धर्मोत्रोक्तः**, धर्महेतुत्वेन वा. अर्थस्य धर्मसाध्यत्वेन तत्सम्बन्धित्वाद्विक्षेपहेतुत्वेन च रजोरूपत्वान्मदहेतुत्वाच्च **रजःपदेनार्थ** उक्तः. निष्कामस्यान्यसम्बन्धासम्भवात्कामे सत्येव तथात्वाद्**व्याप्तिः कामः.** "स नैव रेमे, तस्मादेकाकी न रमते, स द्वितीयमैच्छत्स हैतावानासे"ति श्रुतेः "तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशदि"ति श्रुतेश्च कामेनैव सर्वरूपेणाविर्भूय सर्वं व्याप्तवानिति च तथा. केशाः सदाः बद्धास्तिष्ठन्ति, अलकाः सदैव मुक्ता एवेति तथा. दूरमिव गतानां मानिनीमनसां स्वशोभातिशयेनाकार्येव स्वरूपानन्ददातार इति च मोक्षस्थानीया इति भावः. तत्तद्दर्शनेन सा सा लीला साक्षादनुभूतेव भवतीति निगर्वः. अत्रैव **कुन्तलाश्च कामरूपा** इत्यादि. उत्तमरसभोक्तृदर्शने स्वस्यापि तद्भोगेच्छा लोकसिद्धा. प्रकृते च भ्रमरतुल्या एते मुखाम्बुजस्य परितश्चकासत इति तद्द्रष्टुर्भावोद्दीपका इति कामरूपाः. गवां सदा भगवत्संगतत्वेन प्रियस्मारकत्वात् कदाचित् तासामन्यादर्शनसम्पादकत्वेन रसानुभवहेतुत्वाच्चानुभावकत्वम् ॥४२॥

प्रकाशः

तं गोरज इत्यत्र **गावोत्र धर्म** इत्यादेरर्थं टिप्पण्यामाहुर्**धर्मस्ये**त्यादि. **व्याप्तिरिति**च्छुरितपदोक्ता व्याप्तिः. **तथे**ति मोक्षस्थानीयाः. **सत्यावलम्बिन** इत्यस्यार्थं विवृण्वन्ति **दूरमिवे**त्यादि **भाव** इत्यन्तं, तथा च **सत्यं** वास्तवरूप**मवलम्बन्ते** दयया प्रकटीकुर्वन्ति तच्छीला इत्यर्थः सिध्यति. **सत्त्वावलम्बिन** इतिपाठे तु **सत्त्वं** ज्ञानजनकं **तदवलम्बिनो**ऽर्थात् तादृगिन्द्रियावलम्बिन इत्यर्थो बोध्यः. नन्वेतद्विशेषणकभगवद्दर्शनेन कथं गोपिकानां तापनिवृत्तिरित्यत आहु**स्तत्तदि**त्यादि. एतदेव **धर्मादिसहिते**ति फक्किकया सुबोधिन्यां सूचितम्. **कुन्तलाश्चे**त्यादिनोक्तं प्रकारान्तरं विवृण्वन्त्यु**त्तमे**त्यादि. **कामरूपा** इति कामनिरूपकाः. [1]**वीराद्भुतरसौ बोधयतीत्यु-**

लेखः

त्वनुभावत्वं वक्ष्यत इतिभावः. रजोदर्शनेन परम्परया तत्सम्बन्धिगोसम्बन्धिनी सर्वापि धर्मादि(विभावानुभाव)[2]लीला नित्यत्वाद् हृद्यनुभूता भवति साक्षात्त्वर्थलीलानुभूता भवतीत्यर्थः –एवं सर्वत्र ज्ञेयम्. **मोक्षस्थानीया** इति, टिप्पण्युक्तदिशा

१. 'लीलां'. २. इत्यधिकमेकस्मिन्नादर्शे.

तेन पुष्टः शृङ्गाररसो निरूपितः. **बद्धो बर्हः,** बर्हस्य मयूरपिच्छस्य बन्धनं वीराद्भुतरसौ बोधयति. **वनोद्भवानां प्रसूनानां** सम्बन्धो भयानकहास्ये जनयति, **रुचिरेक्षणं**

प्रकाशः

त्साहजनकत्वात् कथं बद्धमिति विस्मयजनकत्वाच्च तौ बोधयति. **भयहास्ये जनयतीति** दुर्गभूमौ दृष्टत्वात् कथञ्चिद् विकृतिरूपया भङ्ग्या स्थापितत्वाच्च ते

लेखः

अलकेषु सर्वापि मोक्षलीला अन्यत्र त्वंशतो धर्मादिलीलेति विशेषः. **'एकवाक्यते**ति, **गोरजश्छुरितकुन्तले**त्यस्य छुरणक्रियावत्त्वाद् वाक्यत्वं, तथा चैकस्मिन्नवान्तरवाक्ये सम्बन्ध इत्यर्थः. **कामरूपा** इति कामनिरूपकास्तदुद्बोधका इत्यर्थः. **रजोगुण** इति, रजसः कामदातृत्वस्य फलप्रकरणे "दिनपरिक्षये" इतिश्लोके वक्ष्यमाणत्वाद् रसोद्दीपका इत्यर्थः. **अत्रानुभावा** इति, पूर्वं व्यभिचारित्वेनोक्ता अप्यत्रानुभावा इत्यर्थः. टिप्पण्युक्तदिशा परिरम्भादिरूपानुभावसम्पादनेन प्रियस्मारणेन च रसं बहिरन्तश्चानुभावयन्तीति यौगिकोर्थो ज्ञेयः. **तेने**ति उद्दीपनानुभावसाहित्येनेत्यर्थः. शृङ्गारे चकोरदृष्टान्तस्योक्तत्वात् चन्द्रे चकोर इव भवतीष्वहं रत इति ज्ञापनेन भगवन्निष्ठा शृङ्गारस्थायिरूपा रतिः कुन्तलदर्शनादिना भावोद्बोधनादेताभिरनुभूतैतासामपि तेन रतिर्जातेति पर्यवसन्नोर्थः **निरूपित** इति भगवतैतासु स्थापित इत्यर्थः. **बर्हस्ये**ति, अनेन समयविशेषे स्वकृतबर्हबन्धस्मरणेन भगवतो

योजना

तं गोरजश्छुरितमित्यस्य विवृतौ **बर्हस्य मयूरपिच्छस्य बन्धनं वीराद्भुतरसौ बोधयती**ति. वीरा हि स्ववीरताख्यापकं लक्ष्मविशेषं बिभ्रति, भगवानपीह शृङ्गाररससम्बन्धिस्ववीरताबोधनार्थं उद्बुद्धशृङ्गाररसस्य मयूरस्य चिह्नं बर्हं धारयत्यतस्तद्दर्शने वीररसोनुभूयते. बर्हदर्शने मयूरस्य लोकविलक्षणायाः कामलीलायाः स्मरणे आश्चर्यं भवति. प्रकृते भगवानप्यप्राकृतीं लोकविलक्षणामेव कामलीलां करोतीति तस्या अनुभवादद्भुतरसो बोभूयते. **वनोद्भवानां प्रसूनानामिति**. बद्धबर्हतादर्शनेनाविर्भूतयोर्वीराद्भुतरसयोः प्राबल्यादस्मदर्थं भगवानेतावत् करोत्यस्मदेकरत इतिज्ञानादेतादृश्यार्तिरभूद् यया व्रीडादिपरित्यागेन बलात्कारेणायं ग्राह्यो यथास्मन्निकट एव तिष्ठेद् इति त्वरिता बभूवुः. परं वन्यप्रसूनदर्शने पुनरपि

१. "एवं व्याप्तिदर्शनेन साक्षात्कामलीलानुभवः परम्परया तदवान्तरानुभव इति ज्ञेयमि"त्येकस्मिन्नादर्शे अधिकम्.

करुणाख्यं, **चारुहासो** रौद्ररसं, महतस्तादृशो विशिष्टो वेषो नाट्यावशिष्टरसं जनयति. **वेणुं क्वणन्तमिति** शान्तरसः, ब्रह्मामृतं प्रकटीकुर्वन्. **अनुगैरनुगीता**

प्रकाशः

जनयति. **रुचिरेक्षणं** [1]**करुणामिति** हा वयमेतावत्पर्यन्त[2]स्थिता इतिशोकमूलानुकरुणां, **रौद्ररसमिति** क्वचिदधिकारिविशेषे, **अवशिष्टरसं** बीभत्सं क्वचिद् [3]भक्तविशेषे जनयतीत्यर्थः ॥४२॥

लेखः

लीलान्तरोत्साह आश्चर्यं चैताभिरनुभूतं भवतीत्यर्थः. एते त्रयो भगवन्निष्ठा एताभिरनुभूताः, अग्रिमास्त्वेतास्वेव जाता इति **जनयतीति** तत्रोक्तम्. वनसम्बन्धिपुष्पधारणेन वने रुचिज्ञापनाद् भगवान् पुनर्वनं गच्छेदिति भयं, रसक्षमा अस्मान् विहाय प्रकृष्य सूना येषां तैरक्षमैर्दिनं नीतवानिति हासः, एतादृशोस्मान् पूर्वोक्तपापवशात् त्यजतीति शोकः, त्यक्त्वा गत इति वयमेवं तप्ताः स्वयं च हसतीति क्रोधः, पूर्वार्धसमुदितधर्मदर्शनेन तत्रापि नयनसमर्थस्तदकृत्वा अनुनयनार्थं किमित्येवं करोतीत्याकारिका जुगुप्सा. **नाट्यावशिष्टेति** नाट्येष्ववशिष्ट इत्यर्थो ज्ञेयः. वेणुनादेन शान्तिरूपो निर्वेदो जनितः प्रयत्नशैथिल्यलक्षणः, येनान्तरेव नादरसानुभवो भवति. एतदेवोक्तं **ब्रह्मामृतमिति**, नादब्रह्मरसम् इत्यर्थः. अनुगत्वेन रूपात्मकभगवत्सेवालक्षणो गानेन नामात्मकभगवत्सेवालक्षणश्च भक्तिरसो जनितः. **बद्धबर्हो वन्यप्रसूनानि रुचिरेक्षणं** चेति द्वन्द्वः, ततस्तैः सहित**श्चारुहासो** यस्येति बहुव्रीहिस्ततो **गोरजश्छुरिते**त्यनेन कर्मधारयः. **दिदृक्षितदृष्टय** इति दिदृक्षा सञ्जाता आसामिति

योजना

वने गमिष्यतीति भयमुत्पद्यते ततश्च लज्जापरित्यागो न कर्तव्य इतिमतिरुदेति. युक्तं चैतत्, यदि भयानकरसो नोत्पद्येत तदा लज्जात्यागे रसप्राकट्याद् गुप्तो हि रसो रसत्वमापद्यत इति रसमर्यादाया अभावात् रसत्वमेव न स्यात्. अतो भयरसोपि शृङ्गाररसपोषक इति सिद्धं भयस्य रसत्वम्. किञ्च वन्यप्रसूनदर्शने भगवति चातुर्याभावमवगच्छन्ति— एतादृशीः सौन्दर्यचातुर्यस्नेहादिवतीरस्मान् विहाय "वनं तु सात्त्विको वास" इतिवाक्यात् कामलीलाप्रतिबन्धके वने पशुपालान् गृहीत्वा पशूनां पृष्ठभागे परिभ्रमतीति हास्यरसमुदयते. **रुचिरेक्षणं करुणारसमिति**. वन्यप्रसूनदर्शनेन प्रकटीभूतयोर्भयानकहास्यरसयोः प्राबल्येनोत्पन्नाया उदासीनतायाः

---

१. °ख्य°, °ख्यरस°. २. °न्ततमः°, °न्तमव°. ३. °क्ति°.

कीर्तिर्यस्येति भक्तिरसः. एवं सर्वरसयुक्तं भगवन्तं पश्यन्त्योपि **दिदृक्षितदृष्टय** एव

योजना

प्रशमनाय करुणारस उत्पादनीयः, स च रुचिरेक्षणदर्शनेन उत्पद्यते इत्याशयः. रुचिरेक्षणावलोकनेन एतादृशे मध्यनिविष्टरसनिमग्नचञ्चरीकसरसिजसदृशे ईक्षणे एतावत्कालमस्माभिः कुतो नानुभूते इतिशोकस्थायिभावकः करुणारस उद्भवति. तथा च येन केनापि प्रकारेण सरसिरुहनयने सततमवलोकनीये इति पुनरभिलाषसङ्घः परिस्फुरति —एवं शृङ्गाररसाङ्गता करुणारसस्य. एवं करुणारसे उत्पन्ने मानादिकं नोत्पत्स्यत इति तदुत्पत्त्यर्थं पुनर्मानादिबीजमुद्बोधयितुं क्रोध आवश्यक इति तं प्रकटयितुं **चारुहासं** करोति. ततश्च वयमेतादृशानुरागवत्यः एतावत्कालपर्यन्तमेतादृग् दुःखमनुबभूविम भगवांस्तु दुःखितानप्यवलोक्य हसतीति नायमस्मद्विषयकस्नेहवानतः क्रोधस्थायिभावको रौद्ररसः आविर्भवति, सोयमित्थं शृङ्गाररसपोषक इति बोद्धव्यम्. इत्थं कदाचिदुत्साहः कदाचिद् विस्मयः कदाचिद् भयं कदाचिद् हास्यं कदाचित् तापः कदाचित् क्रोध इति नानाविधपुरुषोत्तमभूषणावयवाद्यवलोकनैर्नानाप्रकारका भावाः समुज्जृम्भन्ते. एवं विविधभावोत्पत्त्या विलक्षणः कश्चिदास्वादः शृङ्गाररसे सर्वरसानामङ्गिभूते समुल्लसति, परं क्रमेण भवति, क्रमेणावलोकनात् क्रमेण तत्तत्तात्पर्यावधारणात्. यदा तु समूहावलम्बनवत् युगपदेव सर्वे धर्मा गोरजश्छुरितकुन्तलबद्धबर्हादयः परिस्फुरन्ति तदा बीभत्सरस उदेतीत्याहुः **महतस्तादृशो विशिष्टो वेषो नाट्यावशिष्टरसं जनयतीति**. नाट्ये अवशिष्टं नाट्यावशिष्टं बीभत्सरसं जनयतीत्यर्थः. "बीभत्साद्भुतसंज्ञौ चेत्यष्टौ नाट्ये रसाः स्मृता" इतिवाक्यादष्टौ रसा नाट्ये. तत्र शृङ्गारादिरौद्रान्ता रसा इह निरूपिता अतो बीभत्सरसोऽवशिष्टः, स तु गोरजश्छुरितकुन्तलबद्धबर्हादिसर्वधर्मविशिष्टवेशावलोकने सम्भवति— अयं तु भगवाननेकचरित्रचमत्कारयुक्तोस्त्यतः कुत्र कुत्रास्य स्नेहः कुत्र कुत्रास्य रमणं किं किं न कामकापट्यं करोतीतिबुद्धौ जुगुप्सास्थायिभावको बीभत्सरस उदेति. सोयं मनसः परावर्तको रसः शान्तरसेन शमनीय इति शान्तमुत्पादयितुं वेणुनादं करोतीत्याहुः **वेणुं क्वणन्तमिति**. **शान्तरस** इति, वश्च इश्च वयौ ब्रह्मानन्दविषयानन्दौ अणू यस्मादितिव्युत्पत्तिसिद्धो वेणुस्तत्क्वणने परमानन्दोत्पत्तौ घोषकामिनीनां भगवदितरविषयकनिर्वेदस्थायिभावकः शान्तरसो जायते. तदा सर्वप्रयत्नराहित्येऽग्रिमलीला न सम्भवतीति तदुत्पादनाय स्वस्य शृङ्गाररसोपयोगिकीर्तिश्रवणं कारयित्वा भक्तिमुत्पादयतीत्याहुः **अनुगैरनुगीता कीर्तिर्यस्येति भक्तिरस** इति. **अनुगा** अन्तरङ्गगोपास्तैर्गीयमानां

स्थिताः. न हि साधारण्येन दृष्टो भगवान् स्वस्य परमरसमुत्पादयति. एकान्ते समागतं भगवन्तं सर्वरससहितं द्रक्ष्याम इति दिदृक्षैव स्थिता, अत एव प्रथमं दर्शनं नोक्तं समागम एवोक्तः. समागमार्थं यद् दर्शनं तदन्यशेषभूतमिति न पृथङ्निरूपणमपेक्षते. **अभितः** समागता इति भगवतस्ताभिरेव वेष्टनं निरूपितम्. एकस्यास्तत्कार्यं न भवतीति **समेताः.** अग्रे गावो बलभद्रप्रमुखाश्च गताः पश्चादागच्छन्तो गोपिकाभिरेव व्यवहिताः, मध्ये गोपिकाभिर्भगवान् वेष्टित इत्यर्थः ॥४२॥

ततस्ता यत् कृतवत्यस्तदुक्त्वा पश्चाद् भगवतो व्रजे समागमनं निरूपयति **पीत्वे**ति.

लेखः

तद्धितान्तं ज्ञेयं, निष्ठान्तत्वे कर्मवाचकं 'दिदृक्षित'पदं स्याद्. **न ही**त्यादि रसानुभवे विशेषः, दर्शने तु सर्वसाधारण्यमेव. असाधारणं दर्शनमाहुः **एकान्त** इति. **अभि**पदार्थमाहुः **ताभिरेवे**ति. **एव**कारेण व्यावर्त्यानाहुः **अग्रे** इति, तथा च व्यावर्त्या गवादय इत्यर्थः. गोपिकागमनेनापि वेष्टनमेव निरूपितमिति भगवद्वर्णनलक्षण एव वाक्यार्थ आभासे उपक्रान्तोऽत्र **वेष्टित इत्यर्थः** इत्यनेनोपसंहृतः ॥४२॥

योजना

कामकीर्तिं भगवतः श्रुत्वा अयं भगवान् सर्वोत्तमः सकलरसिकशिरोमणिरित्येतस्मादानन्दानुभवः सर्वथा कर्तव्यो न मानादिकं कर्तव्यमित्यभिलाषेण दास्यादिरूपो भक्तिरसः प्रकटीभवति. सोयं शृङ्गाररसानुसंसृष्ट इति ज्ञेयम्. **एवं सर्वरसयुक्तं भगवन्तमिति**. इदमत्र ज्ञेयम्. अस्मिन् श्लोके ये दशरसा उक्तास्तेषु केचन भगवति जाताः शृङ्गारादयः, केचन भयादयो व्रजवामलोचनास्वेव जाता इति कथं सर्वरसयुक्तत्वं भगवतीति चेद्, इत्थं– यथा यशोदानन्दने वन्यप्रसूनाद्यासक्तिं दृष्ट्वा व्रजनारीणां भयहास्यादिरस उत्पद्यते एवमेतास्वपि गुरुजनपरतन्त्रतादिज्ञानेन तादृक्चातुर्याभावज्ञानेन च भयहास्यादयो रसा भगवत्यपि प्रादुर्भवन्ति, अतिमाने च क्रोधश्च. कदाचिदत्याग्रहेण भगवत्प्रार्थिताकरणे जुगुप्सास्थायिभावको रसोपि सम्भवति. रतिरम्भादिमदहरस्मितावलोकनमधुरभाषणादिसौष्ठवं व्रजवधूटीनामवलोक्य तदितरविषयकनिर्वेदस्थायिभावकः शान्तरसः प्रभावप्युदेति. मानापनोदनादौ भक्तिरसस्तु व्रजसुन्दरे स्फुट एव, अत एव दशमस्कन्धे बहुलाश्वश्रुतदेवप्रसङ्गे उक्तं "भगवान् भक्तभक्तिमानि"ति, "अहं भक्तपराधीनो ह्यस्वतन्त्र इव द्विजे"त्यादि भगवताप्युक्तम्. अतः सर्वरसयुक्तो भगवान् गोवर्धनधर इति **सर्वरसयुक्तं भगवन्तमि**त्युक्तिर्युक्तैव ॥४२॥

पीत्वा मुकुन्दमुखसारघमक्षिभृङ्गैस्तापं जहुर्विरहजं व्रजयोषितोह्नि ।
तत्सत्कृतिं समधिगम्य विवेश गोष्ठं सव्रीडहासविनयं यदपाङ्गमोक्षम् ॥४३॥

आदौ तापापनोदनार्थं गोपीजनवल्लभसरसः करुणावीचियुक्ताल्लावण्यामृतं पातव्यम्, अन्यथान्तस्तापो न गच्छेत्. गते हि तापे रसास्वादनम्. बहिस्तापो मिलनादेव गतः. स पेपीयमानो रसो यदि तापहारको मिष्टश्च भवति तदैव भूयान् पातुं शक्यः. तच्च लोके नास्ति, दुग्धादीनां तृषादिजनकत्वात्. जलं नीहारवत् पातुं न शक्यते. उभयात्मकमपि यदि परिणामे सुखदं न भवति तदापि न समीचीनम्, अतो भगवल्लावण्यामृतं सर्वगुणविशिष्टमित्याह– **मुकुन्दो** मोक्षदाता ज्ञानरूपः शान्तः, अतो नाग्रे दोषजनकः प्रत्युत मोक्षपर्यवसायी. **मुखं** हि भक्त्यात्मकं भवति, अतः स्नेहाद् बहुपानं सम्भवति. तत्र **सारघं– सरघा** मधुमक्षिका, तया सर्वेभ्यः पुष्पेभ्यो रसं समानीयैकत्र मधु क्रियते तत् कोटरादिषु तिष्ठति. अन्यजातीयं तु मधु न द्रवीभूतं भवति, घनीभूतं च पातुं न शक्यम्. ब्रह्मादयोत्र सर्वे श्रुतयश्च सर्वाः

लेखः

पीत्वेत्यस्याभासे **तत** इति, तत्कृतिकथनपूर्वकव्रजागमननिरूपणं वाक्यार्थ इत्यर्थः. व्याख्याने. **आदावि**ति– पानं तापत्यागः सत्कृतिश्च तत्कृतिः, तत्रादावित्यर्थः. **करुणे**ति, करुणया वीचियुक्तादित्यर्थः. **पेपीयमान** इति यङ्लुगन्तात् कर्मणि शानच्. **तच्चे**ति तादृशं वस्त्वित्यर्थः. दोषत्रयेण बहुपानासम्भवस्तत्र **दुग्धस्य** मिष्टत्वेपि **तृषाजनकत्वं** न तु तापहारकत्वम्, **आदि**पदाभ्यां निम्बादेस्तापहारकत्वेपि तिक्तत्वेन वैरस्य जनकत्वं न तु मिष्टत्वमित्यर्थः. जलं तादृशमपि बहु पातुं न शक्यते तत्र हेतुमाहु**र्यदी**ति, विकारजनकमित्यर्थः. **नीहारवदि**ति हिमवदित्यर्थः. **सर्वगुणे**ति– मुकुन्दसम्बन्धाद् दोषाजनकत्वं, मुखसम्बन्धात् तापहारकत्वं, मुखस्य दर्शनमात्रेणैव तापहारकत्वात्, सारघत्वात् मिष्टत्वम्; एभिस्त्रिभिर्गुणैर्बहु पानं सम्भवतीत्यर्थः. **भक्त्यात्मकमि**ति तापहारकमित्यर्थः. **तत्रे**ति मुखे इत्यर्थः. **मधु क्रियत** इति, यथा कुसुमजलमानीय सारो निष्काश्यते तथेत्यर्थः. दृष्टान्ते स्थापनमुक्तमित्यत्र

योजना

पीत्वा मुकुन्देत्यत्र **जलं नीहारवत् पातुं न शक्यते** इति बहु पातुं न शक्यत इत्यर्थः. तत्र दृष्टान्तः **नीहारवद्** इति– हिमं यथा बहु पातुं न शक्यते तथा तापहारकमपि जलं बहु पातुं न शक्यते, विकारोत्पादकत्वात्. मुकुन्दमुखसारघं तु तापहारकत्वात् मिष्टत्वात् तृषादिदोषाजनकत्वात् परिणामसुखदत्वाच्च भूयो भूयः

सरघास्थानीयाः; तैः सर्वैरेव सर्वप्रकरणेभ्यः परमानन्दं समुद्धृत्यैकत्रानन्दनिधिर्बोधितः. सर्वप्रकरणेषु प्रतिपादित आनन्द एकीभूयात्र स्थित इत्यर्थः. ब्रह्मादिभिः श्रुतिभिश्च प्रार्थनया भगवानत्रानीतः, रसस्तु गोपिकाभिरेव भुक्तः. त एव हि रसं जानन्ति ये तदेकोपजीविनो भवन्ति, ते भृङ्गाः. न तेषामन्यद्देहनिर्वाहकमप्यस्तीति

प्रकाशः

पीत्वेत्यत्र **गोपिकाभिरेव भुक्त** इत्यत्र हेतुमाहु**स्त एवे**त्यादि. **अनेने**त्यक्ष्णां

लेखः

बोधनस्य स्थापनत्वमाहुः **सर्वप्रकरणेष्विति**. सरघाभिः पुष्पेभ्यो रसः समानीयते, रसनिष्ठो यः सारः यथा कुसुमजलात् निष्काश्यते तन्मधुसारघं तथात्र सरघास्थानीयाः श्रुतयः रसस्थानीयो भगवान् सारघस्थानीयं लावण्यमिति ज्ञेयम्. **रसस्त्विति** लावण्यरूप इत्यर्थः. सरघाभिः पुष्परसो भुज्यते रसनिष्ठो रसस्त्वन्यैरेव भुज्यते तथात्र **गोपिकाभिरेव भुक्तः**. तत्र हेतुः **त एवेति**. **हि** यत इत्यर्थः. रसो हि ज्ञात्वा भोक्तव्यः, ज्ञानं तु भृङ्गत्वादेतच्चक्षुषामेव, तथा च रसज्ञचक्षुर्युक्तत्वादेताभिरेव ज्ञात्वा रसो भुक्तः. भृङ्गनिष्ठं रसज्ञानमेव दृष्टान्तार्थः, अत एव **जानन्ती-**

योजना.

पातुं शक्यत इति भावः. **ब्रह्मादयोत्र सर्वे श्रुतयश्च सर्वाः सरघास्थानीया** इति. सरघा यथा पुष्पेभ्यो रसं समानीय मधु करोति तथा ब्रह्मादिभिः श्रुतिभिश्च भगवानानन्दनिधिरत्र व्रजे समानीत इति सरघास्थानीयत्वं ब्रह्मादीनां श्रुतीनां चेत्यर्थः. तथापि सरघा तु बहुभ्यः पुष्पेभ्यो रसं समानीयैकत्र मधु करोति भगवांस्त्वेक एवात्रानीत इति न दृष्टान्तस्वारस्यमतो दृष्टान्तस्वारस्यायाहुः **तैः सर्वैरेवे**त्यारभ्य **बोधित** इत्यन्तेन. यथा सरघया बहुभ्यः पुष्पेभ्यो रसम् आनीय मधु क्रियते तथा ब्रह्मादिभिरपि निखिलवेदेषु उक्तो यः परमानन्दो भगवान् स श्रीकृष्ण एवेति बोधितं "वसुदेवगृहे साक्षाद्भगवान् पुरुषः परः" इत्यादिवाक्यैरित्यर्थः. श्रुतिभिरपि सर्वत्र प्रकरणेषु उक्तो यः परमात्मानन्दनिधिः स "रसो वै सः" "आनन्दमयमात्मानमुपसङ्क्रामति" "सच्चिदानन्दरूपाय कृष्णायाक्लिष्टकर्मणे नमो वेदान्तवेद्याय गुरवे बुद्धिसाक्षिणे" "कृषिर्भूवाचकः शब्दः णश्च निर्वृतिवाचकः तयोरैक्यं परं ब्रह्म कृष्ण इत्यभिधीयते" इत्यादिभिः श्रीकृष्ण एव परब्रह्मस्वरूप इति बोधितम्. एवं सति सरघया यथा बहुपुष्पनिष्ठरसस्यैकीकरणेनैकत्र मधुकरणं तथा ब्रह्मादीनां श्रुतीनामपि सर्वत्रोक्तस्य परमानन्दत्वस्यैकत्र श्रीकृष्णे एकीकरणम्. इह श्रीकृष्ण-

विषयान्तरसम्बन्धो नास्त्येव, केवलमन्यत्र परिभ्रमणमात्रं, तथा गोपिकानामपि चक्षूंषि परिभ्रमन्ति सर्वत्र, विषयीकुर्वन्ति भगवन्मुखलावण्यामृतमेव. अत **आहाक्षिभृङ्गैरि**ति, अनेन गोपिकानां श्रुत्यादिभिः सह साजात्यमपि निरूपितम्. पानं बहिःस्थितस्य द्रवद्रव्यस्यान्तर्निवेशनं, नेत्राणामपि स्वतो रसाभिज्ञत्वज्ञापनाय **भृङ्ग**पदं, तथा सति स्वतोपि प्रवृत्तिर्भवति अन्यत्र च न विनियोगः सिध्यति. गोपिकानामपि देवतात्वादन्येनापि पानं सम्भवति, अतोस्माभिरेतावत्कालं नानुभूत इति चिन्तया यस्तापः स लावण्यामृतरसेऽन्तःपूर्णे गच्छति. अन्यस्तु त्रिविधोपि तापः पूर्वमेव गत इति ज्ञापयितुं **विरहजमि**त्युक्तम्. ननु विरह एव किमिति सम्पाद्यते सन्निधान एव कथं न स्थीयत इत्याशङ्क्याह **व्रजयोषित** इति, व्रजस्य हि स्त्रियो

प्रकाशः

भृङ्गत्वनिरूपणेन. **साजात्यमि**ति, यथा श्रुत्यादयः सर्वं वदन्ति परमत्रैव तात्पर्ययुक्तास्तथैता अपि सर्वत्रभ्रमणयुक्तदृष्ट्योपि भगवदेकनिरीक्षका इति तथा. अक्ष्णां भृङ्गत्वोक्त्या व्यञ्जितमर्थमाहु**र्गोपिकानामि**त्यादिना **गच्छती**त्यन्तेन. **अन्येनापी**ति भावरूपेण प्रकारेणापि. **त्रिविध** इति देहेन्द्रियात्मनां सम्बन्धि.

लेखः

त्युक्तं न तु भुञ्जत इति. **अनेने**ति श्रुतिबोधितरसनिष्ठसारघपानकथनेन श्रुतिभिरादिपदेन ब्रह्मादिभिश्च **सह साजात्यमे**करससम्बन्धित्वं **निरूपितम्**. इयान् परं विशेषः— श्रुतीनां सरघादृष्टान्तेन रसभोग एतासां तु भोक्तृजनदृष्टान्तेन रसनिष्ठसारघभोग इति, अत ए**वापी**त्युक्तम्. अनुक्त्यापि चक्षुभिरेव रूपदर्शनसम्भवे**नाक्षि**पदं किमर्थमित्याशङ्क्याहुः **गोपिकानामि**ति. ब्रह्मादीनां देवतात्वात् चक्षुःसंयोगं विनैव योगजधर्मप्रत्यासत्त्या सर्वदर्शनं तथैतासामपि देवतात्वस्य वक्ष्यमाणत्वादुक्तत्वाच्च सम्भवती**त्यक्षिभृङ्गैरि**त्युक्तमित्यर्थः. **अत** इति, लावण्यामृतस्य गुणत्रययुक्तत्वेन बहुपानात् तस्मि**न्नन्तःपूर्णे** सति पूर्वश्लोकोक्त**स्तापो**नुपदोक्तचतुर्दशधर्मविरहजो **गच्छत्या**न्तर इत्यर्थः. **अन्यस्त्विति** 'कृष्ण' इति श्लोकोक्तो बाह्य इत्यर्थः. **त्रिविध** इति धर्मिविरहरूपाधिभौतिकपापजनितः आध्यात्मिकपापजनितः आधिदैविकपापजनितश्चेति. **सन्निधान एवे**ति, भगवता व्रजे एव कुतो न स्थीयते इत्यर्थः, तथा सति चतुर्दशापि धर्माः साक्षाद् दृष्टाः स्युरिति भावः. **व्रजस्य हीति**,

योजना

रूपपरमानन्दस्याजन्यत्वात् तद्बोधनमेव करणमिति ज्ञेयम्. फलितमाहुः **सर्वप्रकरणेष्वि**त्यादिना. **अतोस्माभिरेतावत्कालं नानुभूत इति चिन्तये**ति.

विवेकरहिताः पराधीनाश्च. **तत्राप्यह्नि**, अहनि स्त्रीस्वभावोपि बाधकः. अतः परं ताभिर्मिलिताभिर्मध्यस्थिते भगवति यत् कर्तव्यं तद् वक्तुमशक्यमिति सङ्क्षेपेणाह **तत्सत्कृतिमि**ति. तासां सत्कारमनुभूय; परितः समालिङ्गनादि यावद् वा भगवद्वैभवेनापि शक्यं तत् सर्वं तासां सत्कारत्वेनोच्यते, **सम्यगधिगम्य** प्रत्येकं भिन्नतया तत् सुखमनुभूय सम्यक्तया ताः कृतार्थीकृत्य **गोष्ठं विवेश.** ननु कोयं तत्कृतःसत्कारः? लौकिकभोजनादिरपि चेत् तत्कृत एव पुनर्गोष्ठे समागमनं व्यर्थमेव स्यात् लौकिकं च बाध्येत, अतो विशिनष्टि **सव्रीडहासविनयमि**ति. **यदि**ति

लेखः

व्रजसम्बन्धित्वेनास्मदर्थमेव भगवान् प्रकट इति ज्ञानेन सर्वत्रैव यथेच्छं क्रीडितुमुचित इति विवेकराहित्याद् व्रजस्थितौ स्वाधीनत्वेन लीला अन्यास्ताभिर्बाध्येरन् स्त्रीत्वेन पराधीनत्वात् तास्वपि सा न सम्भवति. **ह्नी**ति व्रजसम्बन्धिनीनां तादृशविवेकराहित्यं युक्तमेवेत्यर्थः. **तत्राप्यह्नी**ति, प्रतिबन्धकानां वनगमनादिना यथाकथञ्चित् समाधानसम्भवेपि मध्यमलीलात्वात् त्रपाद्यनुरोधेनैव सर्वं कर्तव्यं न तु निःशङ्कतयेति त्रपारूपः स्वभावोप्यह्नि बाधको भवति, निशि तु सर्वेषां शयानत्वेन स्वीयप्रतिबन्धकानां स्वपार्श्वस्थत्वमाननेन च सर्वं सम्पद्यत इतिभावः. **लौकिकभोजनादिरि**ति अग्रे मात्रा कर्तव्यं दुग्धान्नभोजनमित्यर्थः. **भोजनमि**ति हेतुमण्णिजन्ताद्भावे ल्युट्. सन्ध्याभोगसामग्रीभोजनानन्तरं तु पयःपानं सार्थकमेवेतिभावः. **पुनर्गोष्ठे** इति, गोष्ठे गत्वा गाः स्थापयित्वा गृहे गत्वा रात्रिकं स्वीकृत्य तं वेषमुत्तार्य तत्समयोचितलघुवेषं विधाय फेनभोगार्थं पुनर्गोष्ठे समागमनमित्यर्थः. **लौकिकं चे**ति, लावण्यपानोक्त्या तत्कृतः सत्कारोपि तत्सजातीय एव वाच्यः, अतो लौकिकभोजनादिकं पाकादिवैयग्र्यात् पूर्वोक्तेन **बाध्यते**, अतोपि न तथेत्यर्थः. **विशिनष्टी**ति, **समधिगम्ये**ति क्रियां विशिनष्टीत्यर्थः. **यादृशी**ति विभावानुभावरहिता मुख्यरसमात्रानुभवरूपेत्यर्थः. **अलसादय** इति **च**स्त्वर्थे– एते तु अनुद्बुद्धरसदशायामेव सम्भवन्ति,. तत्र च रसोद्बोधाय विभावानुभावा अपेक्षिताः, अतो

योजना

इदमनुशयानाया नायिकाया यद् लक्षणं रसशास्त्रे उक्तं तदत्र सिद्धं, पश्चात्तापकरणात्. **तत्सत्कृतिं समधिगम्ये**त्यत्र **लौकिकं च बाध्यते– लौकिकं** भोजनादि तु **बाध्यते** इह न सम्भवतीत्यर्थः, व्रजनागरीभिः शृङ्गाररससम्बन्धिसत्कारकरणस्यात्रोचितत्वात् ॥४३॥

विशेषतो वक्तुमशक्यम्. मुख एव रसः, तत्रान्धकारे यादृशी लीला सा व्यावर्त्यते **अपाङ्गानां मोक्षो** यत्रेति अलसादयश्च**अपाङ्गाः.** कं कं प्रकारमभिनेष्यतीति प्रथमप्रकारापन्नाया एव तस्याधिभूतांस्त्रिविधान् रसानाह **सव्रीडहासविनयमि**ति– आदौ **व्रीडा** मध्ये पुष्टे रसे **हासो** रसान्ते च **विनयः**, तै सह वर्तमानं, प्रत्येकं बहुधायं रस इति दिव्यो भगवत्प्रभाव उक्तः. अनौचित्यपरिहाराय **सत्कृति**शब्दः, जगत्पूज्यत्वाच्च. भगवतो यथाधिकारं च पूजा. नन्वत्राप्यागतस्य तद् भवेदिति कथं मार्ग एव सत्कारस्वीकारो जात इतिशङ्कापरिहारार्थमाह **गोष्ठमि**ति, गवां बन्धनस्थानं तत्, तथापि भगवत्प्रभावाद् यथोचितम् ॥४३॥

तत्रापि सत्कारो जात इत्याह **तयोरि**ति.

तयोर्यशोदारोहिण्यौ पुत्रयोः पुत्रवत्सले ।
यथाकामं यथाकालं व्यधत्तां परमाशिषः ॥४४॥

साधारण इतिज्ञापनार्थमुभयोर्ग्रहणं, **यशोदारोहिण्यावि**ति लोके ख्यातिरुक्ता. **पुत्रयोरि**ति लौकिक एव भावः. प्रेमरहितं न गृह्णातीत्याशङ्क्य **पुत्रवत्सले** इत्युक्तम्. इच्छामप्यनतिक्रम्य कालमप्यनतिक्रम्य **परमाशिषो व्यधत्ताम्. कामः** स्वनिष्ठः. सन्ध्याकाले च परोक्षतयैवाशिषो वक्तव्या इति कालापेक्षानिरूपणम्. नमस्कारे कृतेऽकृते वा स्वस्य महित्वं स्थापितवत्याविति ज्ञापयितुमाशिषां निरूपणम् ॥४४॥

प्रकाशः

बन्धनस्थानमिति, तथा च भगवान् मार्ग एव रसं ददाति न तु संसाररूपे गृह इतिवस्तुस्थितिर्व्यज्यते ॥४३॥

लेखः

व्यावर्त्यतेऽनेन विशेषणेन. **सव्रीडे**त्यादि तु तमस्यपि सम्भवति, चेष्टयैव त्रितयबोधनसम्भवात्. **तस्ये**ति मुख्यरसस्येत्यर्थः. **अधिभूतानि**ति शरीरभूतानित्यर्थः. **सव्रीडे**त्यत्र व्रीडनं व्रीडः. इयं व्रीडा न निषेधिका किन्तूत्साहसंवर्धनेन रसार्थं प्रेरिका, "व्रीड चोदने लज्जायां चे"ति धातुपाठात्. अतः स्त्रीत्वविशिष्टस्य रूढ्या लज्जामात्रवाचकत्वेन स्त्रीत्वस्यात्राविवक्षितत्वात् न टाबिति प्रतिभाति. **गवामि**ति, तत्र गवां बन्धनार्थमन्येषामागमनावश्यकत्वेन ताभिरेव वेष्टनासम्भवादित्यर्थः ॥४३॥

योजना

गताध्वानश्रमौ तत्रेत्यत्र **मज्जनान्युन्मर्दनादीनी**ति मज्जनान्येव उन्मर्दना-

तत उपचारा **गताध्वानश्रमाविति.**

गताध्वानश्रमौ तत्र मज्जनोन्मर्दनादिभिः ।
नीवीं वसित्वा रुचिरां दिव्यस्रग्गन्धमण्डितौ ॥४५॥

मज्जनान्युन्मर्दनादीनि, उन्मर्दनमादिर्येषां मज्जनानां, छान्दसः परनिपातः, मज्जनं वा पादयोः, मज्जने वोन्मर्दनादिना, रजोनिवृत्त्यर्थमादौ वा मज्जनं— प्रातीतिकोयं श्रमः. **नीवीं** मल्लानामिव **रुचिरां** पीताम्बरादिनिर्मितां **दिव्येन**

लेखः

गताध्वानेत्यत्र नीवीमिति कच्छपटं पीतमित्यर्थः. ग्रन्थिमत्त्वेन मल्लकच्छ-सादृश्यं, धौत्रपरिधाने गोदोहनादौ तत् मुक्तं भवेदिति भावः. **मध्ये त्विति.** एतत्

योजना

दिनीत्यभेदे कर्मधारयो बोद्धव्यः. तदुपपादयन्ति **उन्मर्दनमादिर्येषां मज्जनानामित्यनेन.** बहुव्रीहौ कृते मज्जनान्येव उन्मर्दनादिरूपाणि, अन्यथा पूर्वं मज्जनं पश्चादुन्मर्दनमित्युक्तिर्बाध्येत, लोकविरुद्धत्वात् अरुचिसम्पादकत्वाच्च. बहुव्रीहौ कृते तु पूर्वमुन्मर्दनं पश्चात् मज्जनं सिध्यतीति युक्तमेव, लोके तथैव क्रियमाणत्वात् सुखदायकत्वाच्च. द्वन्द्वसमासमाश्रित्य पक्षान्तरेण व्याकुर्वते **छान्दसः परनिपात** इति, **उन्मर्दन**शब्दस्येत्यर्थः— मज्जनं च उन्मर्दनं चेति द्वन्द्वे कृते अजाद्यन्त-मित्यनुशासनादु**न्मर्दन**शब्दस्य पूर्वनिपातोऽपेक्षितः, स छान्दसत्वाद् बाधितः किन्तु परनिपात एव जात इत्यर्थः. अस्मिन् पक्षे मज्जनोन्मर्दनयोः पूर्वापरभावो नास्ति किन्तु यथोचितं मज्जनोन्मर्दने इति उन्मर्दनमज्जनयोः (न!) पूर्वापरभाव इत्यर्थः. **मज्जनं वेति, मज्जन**शब्दस्य पूर्वं कथितत्वात् पूर्वं मज्जनमेव वाच्यमितिपक्षे तु चरणारविन्दमात्रमज्जनं **मज्जन**पदेन ग्राह्यं, तच्चोन्मर्दनात् पूर्वमेव, वनादागतस्य कृष्णस्य चरणारविन्देषु रजःसम्बन्धोस्ति तस्य दूरीकरणस्य पूर्वमेवोचितत्वात्. ततः पादयोर्मज्जनानन्तरं सर्वत्रानन्दमयविग्रहे उन्मर्दनं, ततः स्नानं त्वर्थात् प्राप्तमतो नोक्तम्, **आदि**शब्देन वा ग्राह्यम्. एवं सति बोधसौकर्याभावजन्मामरुचिं मत्वा पक्षान्तरेण व्याकुर्वते **मज्जने वा उन्मर्दनादिना** इति, सप्तमीतत्पुरुषः, सप्तमी निमित्ते, मज्जननिमित्तं यानि उन्मर्दनादीनीत्यर्थो भवति. एवं सति सौकर्यं शब्दसाधनेऽर्थबोधने चेति ज्ञातव्यम्. **रजोनिवृत्त्यर्थं आदौ वा मज्जनमिति.** आदौ मज्जनं सकलानन्दविग्रहस्य, तत उन्मर्दनं, ततः पुनर्मज्जनं **आदि**शब्देन ग्राह्यम्. पूर्वं चरणमात्रमज्जनमुक्तम्, अस्मिन् पक्षे सकलाङ्गस्य मज्जनं वारद्वयमिति विवेकः[1] ॥४५॥

१. अत्र 'प्रातीतिकोयं श्रम इति' इत्यधिकं आदर्शद्वये तथापि प्राचीनादर्शे तत् नास्ति.

स्रग्गन्धादिना च **मण्डितौ** जातौ मध्ये त्वधिकारिदेवैस्तथा कृतौ ॥४५॥

जनन्योपहृतं प्राश्य स्वाद्वन्नमुपलालितौ ।
संविश्य वरशय्यायां सुखं सुषुपतुर्व्रजे ॥४६॥

पश्चाज्**जनन्योपहृतं प्राश्ये**ति रोहिण्या समानीतं, प्रायशो भगवतो बलभद्रेणैव सह भोजनं, असमासाद् द्रव्यमेकमेवेति न यशोदाया वैलक्षण्यम्.

टिप्पणी

मध्ये त्वधिकारिदेवैरिति तु परोक्षकथनं वेदितव्यम् ॥४५॥

प्रकाशः

गताध्वानेत्यत्र **मध्ये त्वि**त्यादेरर्थं टिप्पण्यामाहु**र्मध्ये त्वधिकारी**त्यादि ॥४५॥

लेखः

कार्यं गोप्यत्वात् सर्वत्र सङ्क्षेपेणैवोच्यते, अतः स्वमार्गीयसेवारीतिसिद्धं फेनभोगादिकं तत्र नासाभूषणोत्तारणादिकं च सर्वमेवास्तीति ज्ञेयम्. पूर्वश्लोके जननीकृतत्वमुक्तमग्रिमश्लोकेपि तथा, मध्येऽस्मिन् श्लोके जननीकृतत्वानुक्त्या तैरेव **तथा कृतावि**त्यर्थः ॥४५॥

रोहिण्या समानयने हेतुः **प्रायश** इति. **बलभद्रेणैवेत्येव**कारेणान्ये बालका व्यावर्तिताः, तथा सति तज्जनन्योप्यानयेयुः. व्यावृत्तौ हेतुः **असमासा**दिति. समसनं समासः आवेशेन सम्यक्तया स्थितिरित्यर्थः, अन्यैः सह तदभावात्. अतो 'जननीभिरि'ति बहुवचनान्तेन न समासः. लीलार्थं कदाचिदन्यैरपि सह सम्भवतीति **प्रायश** इत्युक्तम्. तर्हि यशोदया समानीतमिति कुतो नोच्यत इत्याशङ्क्याहुः **द्रव्यमिति.**

योजना

जनन्योपहृतं प्राश्येत्यस्य विवरणे **रोहिण्या समानीतमिति. जननी**शब्दो रोहिणीवाचकः, तस्माद् इह **जननी**पदेन रोहिण्येवायाति, बलदेवनिरूपितजननकारणत्वं तत्रैव, यतः बलदेवस्य गृहीतजन्मत्वात्. अत एव "अयं वै रोहिणीपुत्र" इत्यत्र रोहिणीपुत्रत्वनिश्चयार्थं **वै**पदं, व्याख्यातं च सुबोधिन्यां तथैव. अतो बलदेवे जननधर्मस्य विद्यमानत्वात् तत्कारणीभूता रोहिणी **जननी**पदवाच्या. यशोदा तु न **जननी**पदग्राह्या, भगवति जननधर्मस्याभावेन तन्निरूपितजननीत्वस्य श्रीयशोदायामभावात्. अत एव "अयं वै रोहिणीपुत्र" इत्यस्य विवृतौ "यदि भगवान् केनाप्यंशेन प्राकृतो भवेद् याशोदेयः दैवकेय इति नाम भवेद्" इत्युक्तम्. अतो न यशोदा **जननी**पदवाच्येति **जननी**पदेन रोहिण्येव ग्राह्येत्याशयेन **रोहिण्या समानी-**

प्राश्येति कोमलदुग्धान्नादिकं सूचितम्. तत **उपलालितौ** पित्रादिभिः सर्वैरेव, सर्वेषामनुग्रहार्थमेवमुक्तम्. **वरशय्यायां संविश्येति** रात्रिकृत्यमुक्तं, जनन्यादिभिः सह शयननिषेधार्थमुक्तं **सुखं सुषुपतुरिति**. लीलाह्निकी सम्पूर्णा निरूपिता, व्रजे हि नात्यन्तं धर्मप्रधानता, अतो न रात्रिकृत्यं किञ्चिदुक्तम्. व्रजस्यानुक्तिसिद्धत्वेपि कथनेन सम्पूर्णे व्रजे स्वप्रियाभिः सह शयनं सूच्यते ॥४६॥

प्रकाशः

'**जनन्योपहृतमित्यत्र नात्यन्तं धर्मप्रधानतेति**, किन्त्वत्यन्तं धर्मिप्रधानतेति भावः ॥४६॥

लेखः

कोमलदुग्धान्नादिकमिति सुशृतं दुग्धमन्नादिकं चेत्यर्थः. **आदिपदेन** शाकः सन्धिता-म्रार्द्रादि चेति. **व्रजे हीति**, पूर्वनाडीचतुष्टयावधि न सुप्तव्यमिति **धर्मस्तत्प्रधानता न** किन्तु "निशि शयानमतिश्रमेणे"तिवाक्यात् शीघ्रमेव शयनम्. अतो दिवा सुखस्वापार्थं व्याजेन वनगमनवद् रात्रौ महत् चरित्रं नापेक्षितं किन्तु माययैव तदज्ञानेन पार्श्वस्थत्वमाननेन तत्सिद्धिः. अत **सुखं सुषुपतुरि**त्येवोक्तं **न** तु तदर्थमन्यत् **किञ्चिदुक्तमित्यर्थः** ॥४६॥

योजना

तमित्युक्तम्. प्रायशो भगवतो बलभद्रेणैव सह भोजनमसमासादिति, जनन्यो-पहृतं प्राश्येत्यत्र जनन्येत्यसमासादित्यर्थः. समासे हि जनन्या उपहृतं जनन्युपहृतं जननीभ्यां वा उपहृतं जनन्युपहृतं इति स्यात्, तथा च यशोदारोहिण्योरुभयोरपि ग्रहणं स्यात्. यद्यपि भगवति जननधर्माभावाद् यशोदायां जननीत्वांशो नास्ति ततश्च **जननी**पदेन यशोदाया ग्रहणं न भवेत्, तथापि जननप्रसिद्धिमादाय जननीत्वसिद्धे-र्जननीभ्यामुपहृतं जनन्युपहृतम्' इतिसमासे कृते यशोदाया अपि ग्रहणं स्यात्. परन्तु **जनन्योपहृतमि**ति पाठादसमासे एकया जनन्या उपहृतमित्यर्थो भवति. सा जननीत्ववती तु रोहिणी, तया उपहृतं उभाभ्यां रामकृष्णाभ्यां प्राशितम्. यदि उपहरणे यशोदाया अपि ग्रहणं स्यात् तदा यशोदया पृथक् भोजितो भगवानित्यर्थो भवेत्. प्रकृते तु **जनन्ये**कवचना, तेन असमस्तपदेन पूर्वोक्तरीत्या रोहिणीमात्र-ग्रहणात् तयैकया समानीतम् उभाभ्यां प्राशितमित्युक्तं भवति. ततश्च भगवतो बल-भद्रस्य चैकत्रैव भोजनमायातीति युक्तमुक्तं **सहैव भोजनमिति. अतो न रात्रिकृत्य-मुक्तमिति. सुखं सुषुपतुरि**ति वाक्यात् शयनमात्रमुक्तं भगवतस्तथैव गोपानामपि

---

१. जनन्यु°.

एवमाह्निकं भगवत्कृत्यं निरूप्य वैषयिकं भगवत्कृत्यं वक्तुं कालीयह्रदगमनार्थं प्रस्तावनामाह**ैवं स भगवानि**ति.

एवं स भगवान् कृष्णो वृन्दावनचरः क्वचित् ।
ययौ राममृते राजन् कालिन्दीं सखिभिर्वृतः ॥४७॥

एवं निरोधार्थं **वृन्दावनचरो** भगवान् जातः. तत्र हेतुः **स भगवानि**ति— **स** इति निरोधार्थमेवागतः, **भगवानि**ति सामर्थ्यम्. **कृष्ण**इति नाम्ना "ऽनेन सर्वदुर्गाणि यूयमञ्जस्तरिष्यथे"तिवाक्यार्थं बोधयितुं प्रवृत्तिरुचितेति. **क्वचित्** कदाचित् कस्मिंश्चिद्देशे वा तत्कार्यं स्वसाध्यमेवेति ज्ञात्वा **राममृते कालिन्दीं ययौ**. वनं ह्युभयत्रापि भवति— पर्वतसमीपे कालिन्दीसमीपे च. तत्र निदाघे प्रायशः कालिन्दीसमीप एव गोचारणम्. **सखिभिर्वृत** इति तेषां समानशीलतोक्ता, अपरिहार्यतापि, अन्यथा भगवान् स्वयमेव गच्छेत् ॥४७॥

एवं सम्भूय गतानां मध्ये भगवानन्यत्रैव स्थितः, भिन्नप्रक्रमेणैव गावो

लेखः

वैषयिकमिति— "विषयास्तद्विषमि"त्युक्तत्वाद् विषकार्यमरणनिवर्तक-मित्यर्थः. **एवमित्यत्र एवमि**त्यस्य विवरणं **निरोधार्थमिति**. **तत्कार्यमि**ति तनुनवत्वसम्पादनमित्यर्थः. **स्वसाध्यमेवे**ति, सङ्कर्षणस्य प्रलयकर्तृत्वात् तस्मिन् विद्यमाने तद्विरुद्धं नूतनदेहोत्पादनं न भवेदित्यर्थः ॥४७॥

अथेत्यस्याभासे **इत्याहे**ति **इति** हेतोर्जलपान**माह**, भगवता सह गमने तु तादृशं जलं न पिबेयुरित्यर्थः. **अथे**त्यनेनोक्तं भिन्नप्रक्रमं विवृण्वन्ति **क्वचिदि**त्यादिना ॥४८॥

योजना

कृत्यन्तरस्यानुक्तेः शयनमात्रमायाति. ततश्च **नास्ति धर्मप्रधानते**त्यवगम्यते. यदि धर्मप्रधानता स्यात् तदा दिवसे कार्यव्यापृत्या धर्मकरणाभावेपि रात्रौ कथाश्रवणादिकं स्यात्. तदपि नास्तीति केवलं धर्मिप्रधाना एवेति सर्वसाधनरहिता प्रमेयबलेनैव कृतार्था भविष्यन्तीति भावः. यद्यपि "वर्णकभेदेन गोपानामपि सोच्यते" इति वक्ष्यमाणत्वाद् गोपानां रात्रौ भगवत्कथाश्रवणकीर्तनादिकमस्ति तथापि तत् केषाञ्चिदन्तरङ्गानामेव गोपानां न तु सर्वेषामतः सर्वस्य व्रजस्य तु "अ-ह्न्यापृतं निशि शयानमतिश्रमेणे"तिवाक्याद् दिवा व्यवहारकार्यं रात्रौ शयनमिति **न धर्मप्रधानता** किन्तु सर्वसाधनराहित्येन केवलं भगवत्यविहितस्नेहेन धर्मिमात्रपरतेत्येतेषां कृतार्थता भगवत्प्रमेयबलेनैवेति सर्वं सुस्थम् ॥४६॥

गोपालाश्च गता इत्याहाथेति.

अथ गावश्च गोपाश्च निदाघातपपीडिताः ।
दुष्टं जलं पपुस्तस्यास्तृषार्ता विषदूषितम् ॥४८॥

क्वचिद् वृक्षच्छायायां भगवन्तं स्थापयित्वा "जलं पाययित्वा पीत्वा चागमिष्याम" इत्यभ्यनुज्ञाय दूरेऽगन्तव्यमिति बोधिता अपि विशेषतो न निषिद्धा **निदाघातपेना**त्यन्तं **पीडिता दुष्टं तस्या** यमुनाया **जलं पपुः**. सा हि यमभगिन्यतो दुष्टायापि स्थानं दत्तवती. स च दोषो न तस्याः किन्त्वन्यकृत इत्याह **विषदूषितमि**ति, विषेणात्यन्तं दूषितम्. उष्णस्पर्शादिनापि दूष्यते तदर्थं विशेषः ॥४८॥

पानफलमाह **विषाम्भ** इति.

विषाम्भस्तदुपस्पृश्य दैवोपहतचेतसः ।
निपेतुर्व्यसवः सर्वे सलिलान्ते कुरूद्वह ॥४९॥

उपस्पर्शनं पानस्नानादिकं स्पर्शमात्रं वा, तावतैव **सर्वे व्यसवः सलिलान्त** एव **निपेतुः**. ननु तेषां जीवनादृष्टस्य विद्यमानत्वात् कथं व्यसवो जाताः? तत्राह **दैवोपहतचेतस** इति– तेषां हि तावदेव जीवनादृष्टमतो दैवेनैवोपहतचेतसः सलिलसमीपेऽर्धजल एव निपेतुः. यद्यपि दोषो दूरीकृतो धेनुकवधेन तथापि पूर्वसन्ततिरपि दूरीकर्तव्या. दुष्टेनैव हि दोषाणां नाशो भवत्यलौकिकसुकृतेन च दिव्यभावोत्पत्तिः. विश्वासार्थं सम्बोधनम् ॥४९॥

ततो भगवत्कृत्यमाह **वीक्ष्ये**ति.

वीक्ष्य तान् वै तथाभूतान् कृष्णो योगेश्वरेश्वरः ।
ईक्षयामृतवर्षिण्या स्वनाथान् समजीवयत् ॥५०॥

स्वभावतोपि जानाति तथापि क्रीडायां साधनं वक्तव्यमिति **योगेश्वरेश्वर**

प्रकाशः

वीक्ष्य तानित्यत्र योगेश्वरश्चासावीश्वरश्चेति कर्मधारयो योगेश्वराणामीश्वर इति षष्ठीतत्पुरुषो वा. तत्र प्रथमपक्ष ईश्वरत्वेन सर्वहितकर्तृत्वं च. द्वितीयपक्षे योगेश्वराणां ब्रह्मसुखानुभवयोग्यतावत्त्वात् सुखस्य चैतदधीनत्वादीश्वरत्व-

लेखः

विषाम्भ इत्यत्र **पूर्वसन्ततिरि**ति. देहाध्यासस्य निवृत्तत्वाद् देहान्तरं तु नोत्पत्स्यते परन्तु पूर्वं जाता या स्थूलदेहरूपा लिङ्गशरीरस्य सन्ततिः सापीत्यर्थः. **अलौकिकसुकृतेने**ति ततः प्रतिफलितेन भगवत्कृतेनेत्यर्थः. तादृशानामेव साधकत्वं "मेघगम्भीरया वाचे"त्यत्र व्युत्पादितम् ॥४९॥

इत्युक्तम्. योगस्यापि नियन्ता, योगेन हि सर्वेषां ज्ञानं भवति, तत्राप्ययं नियामकः, किंपुनः स्वज्ञाने वक्तव्य इत्यर्थः. योगेश्वराणामपीश्वर इत्युपदेष्टॄणामप्ययं नियामक उक्तः, तत्र हेतुः **कृष्ण** इति, सदानन्दः. **तान्** निरोधार्थमानीतान् **वै** निश्चयेन **तथाभूतान्** न तु मूर्च्छितान् स्वयमागत्य **वीक्ष्य** वीक्षणेन नूतनदेहान् निर्माया**मृतवर्षिण्येक्षया समजीवयत्**. सर्वे हि प्राणा अमृता आधिदैविकाः, तान् दृष्ट्यैवानीय तेषु देहेषु वर्षति स्म. नन्वेतावत्करणे को हेतुः? तत्राह **स्वनाथानि**ति. **सम्यगजीवयदि**ति पुनर्विषसम्बन्धेपि न तेषां काचित् क्षतिः ॥५०॥

तेषां पूर्वस्माद् वैलक्षण्यं तद्रूपतां च प्रतिपादयति **त** इति.

ते सम्प्रतीतस्मृतयः समुत्थाय जलान्तिकात् ।
आसन् सुविस्मिताः सर्वे वीक्षमाणाः परस्परम् ॥५१॥

त एवैते जीवाः, **सम्यक् प्रतीता स्मृति**र्येषाम्– अनुसन्धानं प्राप्तमेव भवति परं सर्ववृत्तान्तपुरःसरं न भवतीत्याधिदैविकभावमापन्नाः सर्वे स्मृतियुक्ता जाताः. अतः **समुत्थाय** जलसमीपं परित्यज्य प्रदेशान्तरं गताः **सुविस्मिता** जाताः. एतावान् भावो भगवता विशेषः कारितोऽतो विस्मयो, भगवद्भावस्य निवृत्तत्वात्. ततः **सर्वे परस्परं वीक्षमाणा** प्रत्येकमुद्बोधका इव जाताः ॥५१॥

प्रकाशः

मित्यभिप्रायेणाहुस्तत्रेत्यादि ॥५०॥

त इत्यत्र **प्राप्तमेव भवती**ति, देहान्तरप्राप्तावपि स्तनपान इष्टसाधनत्वज्ञानव-

लेखः

वीक्ष्येत्यत्र **सर्वे हि प्राणा** इति, "जीव प्राणधारण" इति धातोरिति भावः. **आधिदैविका** इति आसन्यरूपा भगवदर्थकोद्गानकर्तार इत्यर्थः, इदं वेधाद्यर्थभेदादित्यधिकरणे सम्यग् व्युत्पादितम्. **तेषु देहेष्वि**ति नूतनलिङ्गकेष्वित्यर्थः ॥५०॥

त इत्यत्र **अत** इति सर्वस्मृतियुक्तत्वादित्यर्थः. एतस्य **सुविस्मिता** इत्यनेनान्वयः, मध्ये स्वरूपकथनम्. अत्र पञ्चम्युक्त्या **जलान्तिकात् समुत्थाय** अन्यत्र गत्वेत्येवमर्थ उक्तः. **एतावानि**ति तनुनवत्वरूपो **भाव** इत्यर्थः. **अत** इति, कार्यस्य दृष्टत्वात् कारणस्य चाज्ञानात् कुत इदं जातमिति विस्मय इत्यर्थः. कारणाज्ञाने हेतुमाहुः **भगवद्भावस्ये**ति. अलौकिकदेहाः सत्यज्ञानानन्दरूपा इति फलाध्याये निरूपितं; भगवता भक्तिमार्गीयलीलासिद्ध्यर्थं तेषां तत्त्वं निवर्तितं हस्तपिहितमिव कृतमतोऽज्ञानमित्यर्थः. अग्रिमश्लोके उत्प्रेक्षां वक्ष्यति तत् न याथार्थ्यज्ञानमिति भावः ॥५१॥

अत एवोद्बुद्धज्ञानाः पूर्वसिद्धं सर्वमेव ज्ञातवन्त इत्याहा**न्वमंसत**ेति.

अन्वमंसत तद् राजन् गोविन्दानुग्रहेक्षितम् ।
पीत्वा विषं परेतस्य पुनरुत्थानमात्मनः ॥५२॥

स्वयमेवानुमानं कृतवन्तः प्रायेणैवं भविष्यतीत्युत्प्रेक्षितवन्तः, भगवद्वैभवस्याप्रत्यक्षत्वात्. **राजन्नि**ति स्नेहसम्बोधनम्. **तद**ग्रे वक्ष्यमाणं; **गोविन्दस्यानुग्रहेणेक्षणं** यत्रेति तद् ज्ञातवन्तः. तदाह **विषं पीत्वा परेतस्यात्मनः** स्वस्य **पुनरुत्थान**मिति, भगवत्कृपावीक्षणेनैव जातमिति ज्ञातवन्तः. एवं ज्ञानपूर्णो देहस्तैः प्राप्त इति प्रथमो निरोधो निरूपितः ॥५२॥

॥ इति श्रीमद्भागवतसुबोधिन्यां श्रीमद्वल्लभदीक्षितविरचितायां दशमस्कन्धविवरणे द्वितीये तामसप्रकरणेऽवान्तरप्रमेयप्रकरण ऐश्वर्यनिरूपकप्रथमाध्यायस्य स्कन्धादितः द्वादशाध्यायविवरणम् ॥

प्रकाशः

दित्यर्थः. विस्मये हेतु**र्भगवदि**ति ॥५१॥

अयं चैश्वर्याध्याय इत्यस्मिन्नध्याय ऐश्वर्यलीला. तच्चैश्वर्यं प्रथमश्लोक एव कौमारपौगण्डादिकालाभिमानिनां भगवत्सेवार्थमागतत्वेन व्याख्यानाद् द्योतितमग्रे च भगवता बलदेवे स्वधर्मबोधनात् समाप्तौ च गोगोपानां स्वदृष्ट्या जीवनाच्च मूल एव स्फुटीकृतं बोध्यम्.

॥ इति श्रीमद्वल्लभनन्दनचरणैकतानश्रीयदुपतितनुजपीताम्बरविरचिते दशमस्कन्धश्रीसुबोधिनीटिप्पण्योः प्रकाशे द्वादशाध्यायविवरणम् ॥

लेखः

अन्वमंसतेत्यत्र **अन्वमंसते**त्यस्योत्प्रेक्षापरत्वेन व्याख्याने हेतुमाहुः **भगवद्वैभवस्ये**ति. भगवत्त्वस्य निवृत्तत्वेन 'नूतनदेहान् निर्माये'त्यादिनोक्तस्य **भगवद्वैभवस्याप्रत्यक्षत्वा**दनुग्रहेक्षणहेतुकत्वानुमितिर्न सम्भवतीत्युत्प्रेक्षाया एवानुमितित्वमुक्तं, "परोक्षज्ञानस्यैवानुमानत्वमिति ब्रह्मवाद" इत्युक्तत्वात् ॥५२॥

॥ इति द्वादशोध्यायः ॥

॥ द्वितीयः स्कन्धादितः त्रयोदशोध्यायः ॥

इन्द्रियाणि समस्तानां मृत्यवः समुदाहृताः ।
त एव विषपूर्णानि कालीयस्य शिरांसि हि ॥(१)॥
अतस्तदुपमर्दोत्र निरूप्यो हि त्रयोदशे ।

प्रकाशः

अथ त्रयोदशाध्यायं विवरिषवोस्मिन् प्रकरणे समस्तानां मध्यमनिरोधस्य वक्तव्यत्वात् तदङ्गत्वेन पूर्वाध्याये देहाध्यासात्मकधेनुकस्य वधो निरूपितोत्र तादृशस्येन्द्रियाध्यासस्य निष्कृतिं निरूपयतीत्याहु**रिन्द्रियाणी**तिसार्धेन. "अत्रात्र वै मृत्युर्जायत" इतिश्रुत्युक्ते नानामृत्युपक्षे **समस्तानामिन्द्रियाण्येव** "विषयेन्द्रियसंयोगादि"तिगीतावाक्योक्तविषतुल्यपरिणामक-राजससुखजनकत्वात् **मृत्यवः समुदाहृतास्ते मृत्यव एव हि** विषयाविष्टत्वाद्धेतो**र्विषपूर्णानि कालीयशिरांस्यतो** हेतो**स्तदुपमर्दोत्र** त्रयोदशेध्याये [1]**निरूप्यते.** तथा च हेतुतागर्भः प्रसङ्गः सङ्गतिरित्यर्थ. अत्र

लेखः

त्रयोदशेध्याये **समुदाहृता** इति, "शतायुः पुरुषः शतेन्द्रिय" इत्यत्रेन्द्रियत्वेन मृत्यव उक्ता इत्यर्थः. **त एवे**ति. पूर्वाध्याये गोपमृत्युजनकविषपूर्णत्वेन तन्मृत्युरूपेन्द्रियरूपत्वं कालीयस्योक्तम्, अत्र रोषेण विषमुच्चैः स्थापितवान्, अत एवाक्षिभिर्गरलोद्वमनम्. अतस्तेनैव हेतुना शिरसामिन्द्रियरूपत्वं, देहस्यालौकिकत्वसम्पत्त्या तत्र प्रवेष्टुमशक्नुवन्ति. सविषयेन्द्रियाणि मृत्युरूपत्वेन साजात्यात् कालीय-

योजना

त्रयोदशाध्यायार्थोक्तौ **कालियस्य शिरांसि ही**ति. कृष्णोपनिषत्सु कृष्णावतारे वध्यानां दोषरूपता निरूपिता तन्न्यायेन निगृह्याणामपि स्वरूपं किञ्चिद् विलक्षणं वाच्यमतो धर्मसाम्यात् चरित्रसाम्याच्च यस्य यद्दोषरूपत्वं तदवगम्यते. द्वादशाध्यायविवृतौ "कालीय इन्द्रियाण्याहुरि"त्यस्य टिप्पण्यां तदुपपत्तिर्निरूपिता.

कारिकार्थः

त्रयोदशेध्याये **इन्द्रियाणीत्यादि. समुदाहृता** इति "शतायुः पुरुष शतेन्द्रिय" इत्यत्र इन्द्रियत्वेन मृत्यव उक्ता इत्यर्थः. **त एवे**ति, **ते** इन्द्रियरूपा **मृत्यवः एव कालीयस्य विषपूर्णानि शिरांसि** ज्ञेयानि (१). **अत** इत्यादि. **अत** इन्द्रियरूपत्वा-

---

१. निरूप्यो हि.

सन्तुष्टो भगवांस्तेषु स्वलीलां चेत् करोति हि ॥(२)॥
भक्तिमार्गानुसारेण निस्तारो नान्यथा भवेत् ।

प्रकाशः

समस्तपदं गोपपरं ज्ञेयं, तेषामेव निरोधस्य चिकीर्षितत्वादिति. ननु कालीयशिरांसि चैतेषामिन्द्रियाणि तदा तदुपमर्दे भगवतस्तत्सम्बन्धो वक्तव्यः स च "पराञ्चि खानी"तिश्रुत्या विरुध्यत इत्युपमर्दो न सम्भवतीत्युपमर्दासम्भव इत्यत आहुः **सन्तुष्ट** इत्यादि. **हि** यतो हेतोः **सन्तुष्टो भगवांस्तेषु लीलां चेत् करोति** तदा **भक्तिमार्गानुसारेण** तेषां **निस्तारो भवेत् नान्यथा** न प्रकारान्तरेण. तथा च यथा ध्रुवस्य "तिरोहितं सहसैवोपलक्ष्य पुरःस्थितं तदवस्थं ददर्शे"तिवाक्यात् पराचा चक्षुषा दर्शनं तथात्र भक्तिमार्गानुसारेण संसारनिस्तारस्य चिकीर्षितत्वात् पराचामपीन्द्रियाणां सम्बन्ध उपमर्दश्चेति मार्गभेदान्न श्रुतिविरोध इत्यर्थः. ननूपमर्देपि स्वभावनाशाभावात् पुनश्चेद् विषयसम्बद्धानि स्युस्तदा कृतोपि स निष्फल इत्यत

लेखः

शिरःसु स्थितानि. सङ्घातस्य विषसम्बन्धे देहस्य पात इन्द्रियाणां विषद्वारा कालीये स्थितिरिति भावः. **अत** इति इन्द्रियरूपत्वादित्यर्थः. **उपमर्दो** दोषनिवृत्त्या नवत्वसम्पादनं, **हीति** तनुनवत्वानन्तरमिन्द्रियनवत्वमुचितमित्यर्थः. **सन्तुष्ट** इति. एवं **चेत् करोति** तदा **भक्तिमार्ग**रीत्या तनुनवत्वरूपो **निस्तारो भवेद्, अन्यथा**

योजना

अतस्तदुपमर्द इति. विषयरूपविषपूर्णानामिन्द्रियाणामुपमर्द एव कर्तव्यो न स्वरूपतो नाशः, स्वरूपनाशे भजनं न स्यात्. उपमर्दाभावे संसारासक्तिः स्याद्, अतः संसारासक्तिनिवारणाय कालियशिरसाम् उपमर्दः कृतः इति सारम्. **सन्तुष्ट** इत्यारभ्य **नान्यथा भवेदित्यन्तम्. तेषु** विषयासक्तेन्द्रियेषु **स्वलीलां** नृत्यादिरूपां **चेत् करोति** तदा इन्द्रियवतो **निस्तारो** भवति. **भक्तिमार्गानुसारेणे**ति अनुजिघृक्षया स्नेहेनेत्यर्थः. अत एव भगवता भक्तिमार्गरूपचरणारविन्दाभ्यां कालियशिरस्सुः नृत्यलीला कृतेति ज्ञेयम्. तथा चायमाध्यात्मिकः पक्षः सिद्धः— यदा जीवस्य विषयासक्तेन्द्रिये भगवद्रमणं भवेत् तदा जीवः कृतार्थो भवेदिति (१-३).

कारिकार्थः

दुपमर्द एव युक्तो न तु नाश इति भावः. शिरस्सु नृत्यप्रयोजनमाहुः **सन्तुष्ट** इत्यादि. अन्यथेन्द्रियाणामलौकिकत्वं न स्यात् किन्तु ज्ञानमार्गानुसारेण इन्द्रियादिसङ्घातराहित्य-

तेषां प्रपञ्चः कामिन्यस्ताश्चेत् कृष्णस्य सर्वथा ॥(३)॥
ततोञ्जसैवेन्द्रियाणि भवन्त्याज्ञावशे हरेः ।
तदैव विषयश्चापि हरेर्भवति सर्वथा ॥(४)॥
सर्वोपयोगरहितः पूर्वसम्बन्धहानतः ।

टिप्पणी

त्रयोदशेध्याये प्रकरणतात्पर्योक्तौ **परीक्षैवेन्द्रियाणामि**त्यादि. ननु कालीयस्य भक्तापराधित्वेन निग्रह उचितः, "तं नागभोगे"त्यादिनोक्तलीलात्वयुक्ता, उत्पाताश्चानुपपन्नाः, वस्तुतो हेत्वभावादित्याशङ्क्य तत्तात्पर्यमाहुः **परीक्षे**त्यादिना. कृतो

प्रकाशः

आहुस्**तेषामि**त्यादि द्वयम्. **तेषामिन्द्रियाणां प्रपञ्चो** वृत्तिरूपो विस्तारः **कामिन्यो** नागपत्न्य**स्ताश्चेत् सर्वथा कृष्णस्य** भवन्ति **तत एवेन्द्रियाण्यञ्जसा हरेराज्ञावशे भवन्ति तदैव विषयोपि सर्वथा**[1] **पूर्वसम्बन्धहानतः सर्वोपयोगरहितो हरेर्भवति.** तथा चेन्द्रियोपमर्दे तद्वृत्तीनां सर्वथा भगवदधीनत्वाद् विषयस्य चान्योपयोगराहित्यात् नोपमर्दवैयर्थ्यमित्यर्थः (१-४ $\frac{१}{२}$).

परीक्षेत्यारभ्य **प्रेरितवानि**त्यन्तस्यार्थं टिप्पण्यां व्युत्पाद्य विवृण्वन्ति **नन्वि**त्यादि. तथा च "तन्नागभोगे"त्यादीनां परीक्षाहेतुत्वान्नानुपपत्तिरित्यर्थः. **तादृश-**

लेखः

ज्ञानमार्गरीत्या **न भवेत्** सङ्घातराहित्यमेव स्यादित्यर्थः. **तेषामि**ति इन्द्रियाणां विषयरूपो विस्तरः **कामिन्यो,** विशेषतस्तास्वेव विषयानुभवात् (१-३).

इन्द्रियाणां हीति स्वेन्द्रियाणामित्यर्थः. **तत** इति स्वेन्द्रियाणां कार्यप्रकटन-

कारिकार्थः

मेव स्यादित्यर्थः. **तेषामि**त्यादि. **तेषामिन्द्रियाणां** विषयरूपो विस्तारः **कामिन्यो** नागपत्न्य**स्ताश्चेत् सर्वथा कृष्णस्य भवन्ति तत एवेन्द्रियाणि अञ्जसा हरेर्वशे भवन्ति, तदैव विषयोपि पूर्वसम्बन्धहानतः सर्वोपयोगरहितः हरेर्भवति.** तथा च इन्द्रियाणां विषयाणां च भगवदीयत्वसम्पादनमेव प्रकृतलीलाप्रयोजनमिति भावः. ननु कालीयस्य भक्तापराधित्वेन निग्रह उचितः, "तं नागभोगपरिवीतमदृष्टचेष्टमि"त्यादिनोक्तलीला त्वयुक्ता उत्पाताश्चानुपपन्नाः, वस्तुतः कालादिभयरहिते

---

१. सावस्थः.

परीक्षैवेन्द्रियाणां हि निग्रहं कुरुते हरिः ॥(५)॥
परीक्षार्थं ततो देवः कालं प्रेरितवांस्तथा ।
स्वासक्तिश्चापि कर्तव्या निरोधे मध्यमे महान् ॥(६)॥

टिप्पणी

निरोधः सम्पन्नो न वेति परीक्षैवास्मिन्नध्याये निरूप्यत इत्यर्थः. अत्रोपपत्तिं वदन्त एव "तं नागभोगे"त्यादितात्पर्यमाहुः **इन्द्रियाणां हीति**. **हि** यस्माद्धेतोस्त**न्निग्रहं परीक्षार्थं हरिः कुरुते** इति सम्बन्धः . मृत्योरप्यधिकपीडाजनको दण्डो **निग्रह**शब्देनोच्यते. भगवतः स्वेन्द्रियकार्याप्रकटनमात्रमेव गोकुलवासिनां तादृशं पूर्णे निरोधे भवेन्नान्यथेति तज्ज्ञापनार्थं तथात्मानं प्रदर्शितवानित्यर्थः. उत्पातोपपत्तिमाहुः **ततो देव** इति. **देव**पदेनाधिदेवरूपः काल उच्यते. स च भगवद्रूपः स्वयमाध्यात्मिकाधिभौतिकौ **प्रेरितवानि**त्यर्थः. अत एव "त्रिविधा" इत्युक्तम् (५-६).

प्रकाशः

मिति निग्रहरूपम्. सुबोधिन्यां नन्वन्यपरीक्षाकरणं भवतु नाम, मुख्यभक्तेन्द्रियपरीक्षाकरणं तु नोचितं, सर्वथा दोषराहित्यादनुभूतत्वाच्चेत्यत आहु**स्तथा स्वासक्तिश्चापि कर्तव्ये**ति. यथान्येषां साधारणानां परीक्षा कर्तव्या तथा मुख्यभक्ताना**मासक्तिश्चापि कर्तव्या,** पूर्वाध्यायोक्तनिरोधस्य स्नेह एव पर्यवसानादिति. किञ्च **मध्यमे निरोधे**

कारिकार्थः

भगवत्युत्पातहेत्वभावादित्याशङ्क्य तत्तात्पर्यमाहुः **परीक्षे**त्यादिना. **परीक्षे**त्यनन्तरं निरूप्यत इति शेषः, तथा च कृतो निरोधः सम्पन्नो न वेति परीक्षैवास्मिन्नध्याये निरूप्यत इत्यर्थः. तत्रोपपत्तिं वदन्त "स्तं नागभोगे"त्यादिनोक्तभक्तपीडाजनकलीलातात्पर्यमाहु**रिन्द्रियाणां हीति**. **हि** यतो हेतो**रिन्द्रियाणां निग्रहं परीक्षार्थं हरिः कुरुत** इति सम्बन्धः. अत्रे**न्द्रिय**पदं भगवदिन्द्रियपरं **निग्रह**पदं च भगवदिन्द्रियाणां स्वकार्याप्रकटनपरं, तथा च भगवान् "तं नागभोगपरिवीतमदृष्टचेष्टमि"त्याद्युक्तप्रकारेण स्वेन्द्रियाणां स्वकार्याप्रकटनरूपं निग्रहं यत् कृतवान् स निग्रहो भक्तानां पीडाजनकदण्डरूपो जात इति **निग्रह**पदं, तथा च भगवतः स्वेन्द्रियकार्याप्रकटनं मृत्योरप्यधिकपीडाजनकनिग्रहरूपं भक्तानां पूर्णे निरोधे सत्येव भवेत् नान्यथेति पूर्णनिरोधपरीक्षार्थमेव तथात्मानं दर्शितवानित्यर्थः. उत्पातोत्पत्तिमाहु**स्ततो देवः कालं प्रेरितवानि**ति. **देव**पदेनाधिदेवरूपः काल उच्यते, स च भगवद्रूपः स्वयमाध्यात्मिकाधिभौतिकौ प्रेरितवान्. अत एव "त्रिविधा" इत्युक्तं मूले. **स्वासक्तिरि**ति. केषाञ्चिद् भक्तानां

यत्नः कर्तव्य इत्येव मुग्धभावं चकार ह ।
कथामात्रत्वाभावाय सङ्क्षेपेणाह तां पुरा ॥(७)॥
अक्लिष्टकर्मा भगवान् ज्ञापयामास लीलया ।

प्रकाशः

महान् यत्नश्च कर्तव्य इतिहेतोर्हरि**रेव**[1] तु **मुग्धभावं चकार ह. ह**ेति हर्ष आश्चर्ये वा. तथा च मुख्यभक्तेषु परीक्षणीयत्वाभावेप्यासक्त्यर्थमन्येषु निरोधयत्नार्थं तथा करणमिति न दोष इत्यर्थः. नन्वियं कथा प्रासङ्गिक्युक्ता न तु निरोधसाधिका, मूले तदिन्द्रियनिरोधस्यानुक्तत्वादत आहुः **कथे**त्यादि. **कथामात्रत्वाभाव**ज्ञापनाय **तां** विशुद्धिं **पुरा सङ्क्षेपेणाह**, अर्थात् पश्चाद् विशेषेणातोत्रापीन्द्रियनिरोधोभिप्रेत इति विशेषकथनान्यथानुपपत्त्यावसीयतेऽतो न दोष इत्यर्थः (५-७).

ननु परीक्षायाः कर्तव्यत्वेप्यक्लिष्टतयैव कर्तव्या न तु क्लेशलेशेनापि, (अ!) किष्टकर्मत्वात्; तथा च कथं तथा कृतमित्यत आहु**र**[2]**क्लिष्टकर्मे**ति. **भगवानक्लिष्टकर्मैव**

लेखः

रूपनिग्रहादित्यर्थः. **अक्लिष्टे**ति, **अक्लिष्टकर्म**त्वात् **लीलयैव** स्वस्वरूपं कालियाय **ज्ञापयामासे**त्यर्थः. **कार्यमि**ति भगवत्कार्यं तन्निग्रह इत्यर्थः (५-८).

कारिकार्थः

परीक्षा कर्तव्या कृतपरीक्षाणां केषाञ्चिद् भक्ताना**मासक्तिश्चापि कर्तव्या.** किञ्च एतस्मिन् प्रमेयप्रकरणीये **मध्यमे निरोधे** भगवता प्रमेयबलेन **महान् यत्नः कर्तव्य इति** हेतो**र्मुग्धभावं चकारे**त्यर्थः. नन्वियं कथा प्रासङ्गिकी न तु निरोधसाधिकेत्याशङ्क्याहुः **कथामात्रत्वे**ति. एतत्कथायाः **कथामात्रत्वाभावाय** साधारणकथात्वाभावबोधनाय **पुरा** पूर्वं **सङ्क्षेपेण** "विलोक्य दूषितां कृष्णामि"त्येकेन शुक **आहे**त्यर्थः. ततः "कथमन्तर्जलेऽगाध" इति विशेषप्रश्ने सति शुको विस्तरेणाह, अतो ज्ञायते—एतत्कथायां कश्चिदभिप्रायो वर्तत इति. अभिप्रायस्तु कालीयदमनेन भक्तानामिन्द्रियदोषनिवर्तनेन निरोधसाधकत्वमेवेति. अभिप्रायविशेषाभावे तु प्रश्नं विनैव प्रसङ्गवशात् स्वयमेव वदेदिति भावः. तथा च भगवन्मार्गीयसिद्धान्तो विशेषप्रश्नं विना विस्तरेण न वक्तव्य इति सूचितं, तदुक्तं प्रथमस्कन्धनिबन्धे "ततो विशेषप्रश्नश्चेद् वाच्यं रीतिरियं सदे"ति. **अक्लिष्टे**ति. सदोषेन्द्रियरूपकालीयेन भगवदपराधकरणात् सदोषेन्द्रियाणां भगवदपराधकर्तृत्वमिति **लीलयैव** भगवान् **ज्ञापयामास**, अन्यथा

---

१. °रेवं. २. लुप्तम्.

उद्यमश्चापराधश्च परीक्षा कार्यमेव च॥(८)॥
स्तुतिः प्रसाद इत्यत्र षडर्थाः परिकीर्तिताः।

तत्र प्रथमं सङ्क्षेपेण कथामाह **विलोक्येति.**

॥ श्रीशुक उवाच ॥

विलोक्य दूषितां कृष्णां कृष्णः कृष्णाहिना विभुः।
तस्या विशुद्धिमन्विच्छन् सर्पं तमुदवासयत् ॥१॥

कृष्णां यमुनां **कृष्णाहिना** कालसर्पेण कालीयेन **दूषितां विलोक्य** समर्थो भगवांस्**तस्या विशुद्धिम**ग्रे क्रीडार्थ**मन्विच्छंस्तं सर्पमुदवासयत्** ततोन्यत्र प्रेषितवान्. सारूप्यं प्राप्तो हि भगवता निर्दुष्टः कर्तव्यः. सारूप्यं प्राप्तेन च दोषो नान्येन निवारणीयो रूपान्तरे च रूपान्तरदोषो न निवार्य इतिमर्यादा, अतः **कृष्ण**पदत्रयम्. **विभुरि**ति सामर्थ्यम्. प्रकृतोपयोगिसारूप्यादेव न मारणं, हृषीकेशत्वाच्च नर्तनम्, अत एव कलौ कृष्ण एव सर्वदोषनिवारको यदि सर्वेन्द्रियेषु नृत्यतीन्द्रियकृतमपराधं च सहते. अतो यमुना शुद्धा कर्तव्येति **तस्याः** प्रसिद्धायाः प्रसिद्धं **सर्पं** दूरीकृतवान् ॥१॥

राजा विशेषं पृच्छति **कथमिति.**

प्रकाशः

विषयासक्तानामिन्द्रियाणा[१]मपराधकर्तृत्वमनया **लीलया ज्ञापयामास.** तथा च तज्ज्ञापनं नान्यथा भवतीति तदर्थमेवंकृतिरित्यर्थः. शेषं स्फुटम् (८).

विलोक्येत्यत्र **सारूप्यं प्राप्तेने**ति कृत इतिशेषः. **प्रकृतोपयोगिसारूप्याद**िति परीक्षोपयोगीन्द्रियसारूप्यात्. **हृषीकेश** इत्यारभ्य **सहत** इत्यन्तं [२]वस्तुतोऽर्थकथनम् ॥१॥

लेखः

हृषीकेशत्वादिति, एतच्छिरसामिन्द्रियरूपत्वेन स्वस्य तदीशत्वादिति भावः ॥१॥

कारिकार्थः

अक्लिष्टकर्मत्वं न स्यादित्यर्थः. अत्र प्रकरणानि विभजन्त **उद्यमश्चेति. उद्यमः** कालीयदमनार्थो भगवदुद्यमः, **अपराधः** कालीयकर्तृकः, **परीक्षा** भक्तानां स्नेहपरीक्षा, **कार्यं** भगवत्कर्तृकं कालीयनिग्रहरूपं, **स्तुति**र्नागपत्नीनां, **प्रसादो** भगवतः —एवं षट् प्रकरणानीत्यर्थः (२-८).

---

१. °णां साप°, °णां स्वाप°. २. °सतोर्थ°.

॥ राजोवाच ॥

कथमन्तर्जलेऽगाधे न्यगृह्णाद् भगवानहिम्।
स वै बहुयुगावासं यथासीद् विप्र कथ्यताम् ॥२॥

स हि जानाति बडिशेन यथा मत्स्यो बध्यते तथा कालीयो बद्ध इति, अतस्तस्य महतः कीदृशं बडिशमिति साधनप्रकारप्रश्नः. यदि लोके तादृशमपि बन्धनं स्यात् तदा न प्रष्टव्यः स्यात्, स तु नास्ति, यतः **स बहुयुग**पर्यन्त**मावासो** यत्र तादृशं **यथा** भवति तथावात्सीत्. यदि तादृशं भवेद् बन्धनं पूर्वमेव निवृत्तः स्यात्. न चैतदसम्भावितं यतो **भगवान्,** अतः प्रकारं कथयेति प्रश्नः. **विप्रे**ति सम्बोधनं विशेषेण ज्ञानपूरणाय, **विशेषेण प्रकर्षेण** वा **कथ्यता**मिति ॥२॥

ब्रह्मन् भगवतस्तस्य भूम्नः स्वच्छन्दवर्तिनः।
गोपालोदारचरितं कस्तृप्येतामृतं जुषन् ॥३॥

जलचरसाधारणबन्धवदिदमपि भविष्यत्यतो न वक्ष्यतीत्याशङ्क्य साधारण्येन भगवत्कथां श्रोतव्यत्वेन स्तौति. **ब्रह्मन्नि**ति सम्बोधनं ज्ञानायानुद्वेगाय च. **भगवत** इति सर्वैव लीला षड्गुणयुक्ता भविष्यतीत्यप्रयोजकत्वं निवारितम्. **भूम्न** इति सर्वत्र लीलाधिक्यं, **स्वच्छन्दवर्तिन** इति लीलायां न कस्याप्यनुरोधः. तत्रापि **गोपालस्य** लौकिकानां बुद्धिपरिग्रहार्थं यतमानस्य, **उदारं** सर्वपुरुषार्थान् पात्रापात्रविवेकं परित्यज्य प्रयच्छतीति पुरुषार्थानामपेक्षितत्वात् सर्वथैतदेव वक्तव्यं श्रोतव्यं च, तदपि **चरितं** न तु कल्पितम्. तत्रापि सर्वदोषनिवारकं मृत्युनिवारकं च, तदाहा**मृत**मिति. किञ्च **अमृतं जुषन्** किं कश्चित् तत्र **तृप्येते**ति लौकिकोक्तिः ॥३॥

भगवतोऽतिसामर्थ्यं ख्यापयितुं ह्रदस्वरूपमाह द्वयेन **कालिन्द्यामिति.**

॥ श्रीशुक उवाच ॥

कालिन्द्यां कालियस्यासीद् ह्रदः कश्चिद् विषाग्निना।

प्रकाशः

कथमित्यत्र **स** इति बन्धनप्रकार इत्यर्थः. **विप्रकथ्यतामि**ति समभिव्याहारमङ्गीकृत्य पक्षान्तरमाहु**र्विशेषेणे**त्यादि ॥२॥

लेखः

ब्रह्मन्नित्यत्र **बुद्धी**ति, बुद्धेः स्वविषयत्वसम्पादनार्थमित्यर्थः. **यतमानस्ये**ति इन्द्रियविषयतां प्राप्नुवत इत्यर्थः, गवामिन्द्रियाणां रक्षक इत्यर्थः; विषयविषयकत्वे इन्द्रियाणि नष्टानि स्युः ॥३॥

श्रप्यमाणपयो यस्मिन् पतन्त्युपरिगाः खगाः ॥४॥

कालियः कालीय इत्युभयं; **कालीयस्य** सम्बन्धी **कश्चिद् ह्रद आसीत्,** सम्बन्धोग्रे वक्तव्यः. **विषाग्निना** तस्यैव **श्रप्यमाणमा**वर्त्यमानं विषेण व्याप्यमानं वा **पयो** यस्मिन्. **यस्मिन्** ह्रद आकाशमार्गे**णोपरि गच्छन्तो**पि **खगा** मध्ये **पतन्ती**त्युपरि दोषमर्यादा निरूपिता ॥४॥

परितो दोषमाह **विप्लुष्मते**ति.

विप्लुष्मता विषोदोर्मिमारुतेनाभिमर्शिताः ।
म्रियन्ते तीरगा यस्य प्राणिनः स्थिरजङ्गमाः ॥५॥

बिन्दुसहितेन **विषोद**सम्बन्धिना**मूर्मीणां** चलनेन जातेन **वायुनाऽभिमर्षिताः** स्पृष्टा एवोभयकूले विद्यमाना**स्तीरगा** भूमिष्ठा अपि **प्राणिनः स्थावरा** वृक्षा **जङ्गमा** मण्डूकादयोपि प्रमादादप्यागता **म्रियन्ते.** लतावृक्षशाखाश्च वर्धमानास्तत्रायान्तीति तथोक्तम् ॥५॥

एतादृशो दोषः परिहरणीय इति भगवानुद्यमं कृतवानित्याह **तमि**ति.

तं चण्डवेगविषवीर्यमवेक्ष्य तेन दुष्टां नदीं च खलसंयमनावतारः ।
कृष्णः कदम्बमधिरुह्य ततोतितुङ्गादास्फोट्य गाढरशनो न्यपतद् विषोदे ॥६॥

आदौ भगवान् स्वयं तत्र गत इत्याह. **तं** कालीयं प्रसिद्धमल्पेन न निराकार्यं **चण्डवेगं** कालवदतिवेगवत्तरम्, अत एव भगवतैव शक्यप्रतीकार **इत्यवेक्ष्य कदम्बमधिरुह्य ततोतितुङ्गात्** बाहुस्फोटनं कृत्वा मल्लभावाविष्करणेन **विषोदे न्यपतदि**ति सम्बन्धः. प्रथमत एव **चण्डवेगं** तत्रापि **विषं वीर्यं** यस्येत्युपासिता देवता तस्य प्रत्यक्षेति सूचितम्, अत एव भगवदतिक्रमोपि, "विषमिति सर्पा" इतिश्रुतेः "तद्धैनान् भूत्वावती"ति च. अत एव विषस्य चण्डवेगता गुण उक्तः, विषस्यापि पराक्रमः. **तेन दुष्टामि**ति विशेषणांशे भरः, अत एवाधिदैविकेन दुष्टा देवाधिदेवं विना नान्येन समीचीना कर्तुं शक्या. **च**कारात् तं चापि दुष्टं समीचीनं कर्तुम्. **खल-संयमनावतार** इत्यवतारप्रयोजनमपि तत्– **खलाः** परोपद्रवकारिणस्तेषां **संयमो**

प्रकाशः

तं चण्डवेगेत्यत्र **विषयस्य चण्डवेगते**ति व्याख्यान्तरम्. **खलसंयमनावतार** इत्यत्र खलानां संयमनं येन तादृशोऽवतार यस्येति खलसंयमनायावतारो यस्येति

लेखः

तमित्यस्याभासे **एतादृश** इति, उद्यमहेतुः पूर्ववाक्ययोः शक्योर्थः, भगव-

नियमनम्. जीवने दोषनिवृत्तौ दोषमेव दूरीकरोति न मारयतीत्यन्यदा मारयतीति नियमः, नियमनार्थमेवावतारः. **कृष्ण** इति सदानन्दो दोषनिवृत्त्यर्थम्. तज्जातीयश्च कदम्बो वृक्षः, स हि तुङ्ग उच्चे वर्तते. स हि कदम्बो भगवत्कृत एव गरुडस्थानभूतः, तत्रागत्य गरुडः कालीयनिर्गमनं मारणार्थं प्रतीक्षते. गरुडकृपयैव न शुष्यति. **विप्लु-ष्मते**ति विशेषणात् सजलवायुस्पर्श एव मरणस्योक्तत्वादूर्मिजनितस्यैव वायोस्तथा-त्वादुच्चैः स्थितोऽयं महान् वृक्षो न म्रियत इतिसिद्धान्तः. प्रथमतस्तस्यारोहणं कृत्वा **ततो** वृक्षाद**तितुङ्गा**दत्युच्चे रोधसि प्ररूढादत्युच्चात्राधिदैविकेन सह समानेन युद्धं कर्तु-मास्फोटनं कृत्वा मध्ये कालेन भूमौ मर्यादाभङ्गो मा भवत्विति **गाढा रशना** यस्य तादृशो भूत्वा नितरामास्फालनं कृतवान्. स्थानस्य क्रूरतानिर्देशो भगवन्माहात्म्य-ज्ञापनाय ॥६॥

ततो यद् जातं तदाह **सर्पह्रद** इति.

सर्पह्रदः पुरुषसारनिपातवेगसङ्क्षोभितोरगविषोच्छ्वसिताम्बुराशिः ।
पर्युत्प्लुतो विषकषायविभीषणोर्मिर्धावन् धनुःशतमनन्तबलस्य किं तत् ॥७॥

पुरुषसारस्य पुरुषोत्तमस्य **निपातवेगेन** सम्यक् **क्षोभितो** योऽय**मुरग**स्तस्य यद् **विषोच्छ्वसितं** विषोच्छ्वासस्तेनोच्छ्वसितोऽ**म्बुराशि**र्यस्य; **उच्छ्वसित**पदमावृत्त्या योजनीयम्. एतादृशो ह्रदः **परितः प्लुत उत् प्लुतः**, वर्षायामिवोच्छूनो जात उत्प्लुत्य गच्छन्निव जातो वा, भगवन्निपातेन जातक्षोभादितोऽन्यत्र गमिष्यामीति. **विषेण कषाया** वि**शे**षेण **भीषणा ऊर्मयो** यस्य तादृशश्च सः. एतादृशो **धावन्** जातः. अधावदिति वा, अडभावश्छान्दसः. **धनुःशतं** हस्तानां चतुःशतम्, **अनन्तबलं** यस्य तादृशस्य नैतदाश्चर्यम्. **अनन्ते** काले वा **बलं** यस्मात्, यस्तु जगदेवोत्प्लुतं करोति. **विषकषायविभीषणोर्मि**त्वकथनात् सर्वमारकत्वं तस्योक्तम्. उपासितभगवच्चरित्र-मेतत् ॥७॥

प्रकाशः

वा व्यधिकरणपदबहुव्रीहिर्ज्ञेयः. **दोषनिवृत्त्यर्थमि**ति तद्दोषनिवृत्त्यर्थम्. **गाढरशन**त्वकथनप्रयोजनमाहु**र्मध्य** इत्यादि. स्थितिकाल**मध्ये**नागन्तुक**कालेन भूमौ** स्थिति**मर्यादाभङ्गो मा भवत्वित्ये**तदर्थं तथेत्यर्थः ॥६॥

लेखः

त्सामर्थ्यं तात्पर्यार्थः. **अतितुङ्गा**दित्यत्र देवाधिदेवादन्यस्य विषदोषनिवारणाशक्ते-रुक्तत्वाद् गरुडस्य तन्निवारकत्वं न सम्भवतीत्यरुच्या सिद्धान्तमन्यमाहुः **विप्लुष्मतेती**ति ॥६॥

भगवत्समीपमागत इत्याह **तस्येति**.

तस्य ह्रदे विहरतो भुजदण्डघूर्णवार्घोषमङ्ग वरवारणविक्रमस्य ।
आश्रुत्य तत्स्वसदनाभिभवं निरीक्ष्य चक्षुःश्रवाः समसरत् तदमृष्यमाणः ॥८॥

ह्रदे विहरतो भगवतः **समसरत्** समीपं गतः. **भुजदण्डयोः** प्रहारेण **घूर्णाय**-मानं यद् **वार्जलं** तस्य **घोषमाश्रुत्य तदमृष्यमाणः** समागत इति सम्बध्यते. आदौ निपाते किं जातमित्याश्चर्याविष्टस्ततः कश्चिद् विहरतीति श्रुतवान्, ततोपि तस्य बाहुप्रहारेण जले शब्दः श्रुतः. शब्दे हेतु**र्वरवारणविक्रमस्येति**, **वर** उत्कृष्टो यो **वारणो** गजस्तद्वद् **विक्रमो** यस्येति. तस्य हि स्वभावो जले विहरणं, सर्वोपमत्वाद् भगवतोपि तथा. न श्रवणमात्रेण तस्यागमनं किन्तु **तेन** भगवता **स्वसदनस्याभिभवं** श्रुत्वा, **तेन** शब्देन वा. **चक्षुःश्रवा** इति श्रवणदर्शने एकत्रैव, अतः श्रुतमपि दृष्टमिव मन्यते. सम्यगागत इति स्वप्रौढिसहितः. तत्स्वसदनाभिभव**ममृष्यमाण** इत्यागमने हेतुः ॥८॥

ततोपराधं कृतवानित्याह **तमिति**.

तं प्रेक्षणीयसुकुमारघनावदातं श्रीवत्सपीतवसनं स्मितसुन्दरास्यम् ।
क्रीडन्तमप्रतिभयं कमलोदराङ्घ्रिं सन्दश्य मर्मसु रुषा भुजया चछाद ॥९॥

अयुक्तं कृतवानिति वक्तुं भगवन्तं वर्णयति **प्रेक्षणीयमिति**. **प्रेक्षणीयश्चासौ सुकुमारश्चासौ घनावदातश्च** सात्त्विकादित्रिविधानामप्यादरणीयः. अनेन लोकविरुद्धं तेन कृतमित्युक्तं भवति. परमार्थतोपि विरुद्धं कृतवानित्याह **श्रीवत्सेन** सहितं **पीतवसनं** यस्य– प्रमेयविरोधः प्रमाणविरोधश्चोक्तः. **स्मितयुक्तं सुन्दरमास्यं** यस्येति भक्तिमार्गविरोधश्च. **क्रीडन्तमिति** रसशास्त्रविरोधश्च. **अप्रतिभयमिति** नीतिशास्त्रविरोधश्च. **कमलोदराङ्घ्रिमिति** सर्वोपास्यत्वेन जगद्विरोधश्च. तत्रापराधं कृत्वा स्वस्थानं नेष्यामीति विचार्य **रोषेण भुजया** स्वकायेन फणेन वा आच्छादितवान् वेष्टितवान् वा ॥९॥

लेखः

तमित्यत्र. प्रेक्षणीयत्वेन ज्ञानयोग्यत्वात् "सत्त्वात् सञ्जायते ज्ञानमि"ति वाक्यात् सात्त्विकानामादरणीयः, **सुकुमारत्वात्** स्वरूपलोभेन "रजसो लोभ एवेति"वाक्याद् राजसानामादरणीयः, **घनावदातत्वेन** नीलश्वेतरूप इति वर्णतः साजात्यात् स्वदोषनिवृत्त्यर्थं तामसानामादरणीय इत्यर्थः. **प्रमेयेति**, श्रीवत्सस्याक्षरात्मकत्वात् पीताम्बरस्य च वेदरूपत्वात् प्रमेयत्वप्रमाणत्वे. **नीतिशास्त्रविरोध** इति, एतादृशदुष्टजले निर्भयश्चेत् किञ्चित् कारणं तत्र विचार्य कर्तव्यं न तु सहसेति नीतिस्तद्विरोध इति ॥९॥

ततो यद् जातं तदाह **तमिति**.

तं नागभोगपरिवीतमदृष्टचेष्टमालोक्य तत्प्रियसखाः पशुपा भृशार्ताः ।
कृष्णेर्पितात्मसुहृदर्थकलत्रकामा दुःखानुशोकभयमूढधियो निपेतुः ॥१०॥

नागशरीरेण **परिवीतं** शेषशयनाभिनयनकर्तारमत ए**वादृष्टचेष्टमालोक्य** प्रलयो भविष्यतीत्याशङ्क्य **तस्य** भगवतः **प्रियाः सखायश्च** तादृशा **भृशमार्ता** जाताः. ते ह्यात्मनिवेदिनः, आत्मनिवेदिनां न पृथक् स्थातुमुचितम्, अत एव व्याकुला जाताः. तदाह **कृष्णे** भगव**त्यर्पित आत्मा** सङ्घातः **सुहृदो** मित्रा**ण्यर्थो** धनं **कलत्रं** स्त्री **कामाः** पुत्रादयः; सर्व एवार्पिता यैः. अत एव **दुःखम्,** आत्मापि तत्र वर्तत इति, **अनु** पश्चात् **शोकश्च**. सुहृदोपि तत्र निवेदिता इत्युभाभ्यां **मूढा भयेन** च गुणत्रयकार्यैस्त्रिभिरपि **मूढा धीर्येषां** ते. पूर्वं जीविता अपि मूर्छिताः सन्तो **निपेतुः** ॥१०॥

गावोपि गोपालवद् जाता इत्याह **गाव** इति.

गावो वृषा वत्सतर्यः क्रन्दमानाः सुदुःखिताः ।
कृष्णे न्यस्तेक्षणप्राणा [1]क्रन्दन्त्य इव तस्थिरे ॥११॥

स्त्रियः पुरुषा बालाश्च **क्रन्दमानाः सुदुःखिता** जाताः. तेषां चित्ते सात्त्विकत्वाभावान्न मूर्छिताः किन्तु **कृष्णे न्यस्तानीक्षणानि प्राणाश्च** यस्य. ते सर्पादिभेदं न जानन्ति पश्यन्ति च कृष्णं किन्त्वगम्ये तिष्ठतीति **दुःखिताः. क्रन्दन्त्य** इति ग्राम्यपशुसङ्घत्वात् स्त्रीप्रयोगः, "ग्राम्यपशुसङ्घेष्वतरुणेषु स्त्री"त्यनुशासनात्. यथा वा विवेकयुक्ता स्त्रियो **रुदन्ति** तद्वदेव **तस्थिरे.** सर्व एव देवा लोका भूतानि

लेखः

तमित्यत्र आर्ता जाता इति, प्रलये आत्मरमणेन नास्माकं सेवा सेत्स्यतीति भावः. **प्रियसखा** इति प्रियाश्च ते सखायश्चेति कर्मधारयस्ततष्टच्. **ते** ह्**ीत्यारभ्य तदाहेत्यन्तं कृष्णेर्पितात्मेत्यस्याभासो** ज्ञेयः. **अत एव दुःखमिति**, अपराधकृतदुःखं भगवति सम्बद्धुमशक्तं सदेतदात्मनि सम्बद्धमित्यर्थः. **भयेन चेति**. दुःखानुशोकयो-स्तामसराजसत्वात् मोहजनकत्वं, भयस्य तु सात्त्विकत्वात् सहकारित्वमेवेति भिन्नतया कथनम्. **मूर्छिता** इति **नी**त्युपसर्गस्यार्थः ॥१०॥

गाव इत्यत्र सात्त्विकभावं विवृण्वन्ति **ते सर्पादिभेदं न जानन्तीति**. "रुदन्त्य" इत्यत्र रोदनस्य वक्तव्यत्वा**दिवे**त्यनुपपन्नमतः पक्षान्तरमाहु**र्यथा वेति**.

---

१. रुदन्त्य इत्यपि पाठः.

च कालादयोपि भगवान् शेषशायी प्रलयं करिष्यतीति ज्ञात्वा प्रलये यावन्त उत्पातास्तान् सर्वानेव कृतवन्तः ॥११॥

ततो गोकुलवासिनस्तान् दृष्ट्वा भीता जाता इति वक्तुं प्रकृतोपयोगित्वाच्च व्रज एवोत्पातान् वर्णय**त्यथे**ति.

अथ व्रजे महोत्पातास्त्रिविधा ह्यतिदारुणाः ।
उत्पेतुर्भुवि दिव्यात्मन्यासन्नभयशंसिनः ॥१२॥

सर्वकालविलक्षणार्थ**मथे**ति. **महोत्पाताः** प्रलयकालीना **दिवि भुव्यन्त**रिक्षे चेति **त्रिविधाः. हि** युक्तश्चायमर्थः– प्रलये हि ते कर्तव्या, अन्यथाधिकारिणो दण्ड्याः स्युः. किञ्च शीघ्रमेव प्रलयो भविष्यती**त्यासन्नभयशंसिनः.** सूचका अपि स्वरूपतोपि भयानका इत्या**हातिदारुणा** इति. **दिव्युत्पेतु**रुत्पन्नाः, **भुव्यात्मनि** शरीरे चोत्पन्नाः; एकदोत्पन्नत्वादतिशीघ्रानिष्टपर्यवसायित्वम् ॥१२॥

तानालक्ष्य भयोद्विग्ना गोपा नन्दपुरोगमाः ।
विना रामेण गाः कृष्णं ज्ञात्वा चारयितुं गतम् ॥१३॥

ते च व्रजस्था**स्तानालक्ष्यै**त उत्पाता भवन्तीति **ज्ञात्वा भयेनोद्विग्ना** जाता, यतो **गोपाः, नन्दः** कर्मसिद्धांतयुक्तः **पुरोगमो** मुख्यो येषां, कृतनिरोधाववेिवेकिनः. कृष्णे विद्यमानेऽस्माकंप्रलयोपि न भविष्यतीति निश्चित्य प्राकृतबुद्ध्या कल्पयन्ति स्म **विना रामेणे**ति. रामो हि बलिष्ठो, लोकप्रतीत्या धेनुकोपि तेनैव मारित इति **रामेण विना** भगवानेव **गाश्चारयितुं गत**स्तन्मध्य उत्पाताश्च जायन्ते ॥१३॥

लेखः

तस्थिरे इत्यात्मनेपदानुपपत्त्या **अवतस्थिर** इत्युक्तं; तदा 'समवप्रविभ्यः स्थ' इत्यात्मनेपदं, भागुरिमतेनाकारलोपः. सवर्णे वर्णलोपः. इ इति इवार्थे वा ॥११॥

अथेत्यत्र **दिवी**ति, एत एव क्रमेणाधिदैविकाधिभौतिकाध्यात्मिक**रूपा** ज्ञेयाः, अत एव टिप्पण्यां तथैवोक्तम्. **शरीरे चे**ति **च**कारादा**त्म**पदेनान्तरिक्षमपि गृह्यते. "सूर्य ते चक्षुरि"त्यनुवाके "अन्तरिक्षमात्मे"त्यनेन पश्वात्मत्वं मध्यवर्तित्वसाम्येनोपलक्षणेनोक्तमिति तेनैव हेतुना सर्वात्मत्वमपि ॥१२॥

ते चेति **च**कारोऽन्वाचये. **गोपा** इत्यस्य पूर्वव्याख्याने कर्मित्वमेव स्यात् न तु भक्तिमार्गीयत्वमित्यतः पक्षान्तरमाहुः **कृते**ति. सङ्गस्थेभ्यः सकाशादेतेषां भाववैलक्षण्यं विवृण्वन्ति **कृष्ण** इत्यादिना ॥१३॥

तैर्दुर्निमित्तैर्निधनं मत्वा प्राप्तमतद्विदः ।
तत्प्राणास्तन्मनस्कास्ते दुःखशोकभयातुराः ॥१४॥

अतो **दुर्निमित्तान्य**त्यनिष्टं सूचयन्तीति विपरीतं ज्ञात्वा **निर्जग्मु**रित्युत्तरेण सम्बन्धः. विपरीतज्ञाने हेतु**रतद्विद** इति, **तस्य** भगवतो माहात्म्यं न विदन्तीत्युचितमेव तेषाम्. लौकिका हि ते, लौकिकानां प्रियोऽनिष्टं भावयत्यप्रिय इष्टमिति स्थितिः. भवननिषेधविषयत्वेन सर्वदानिष्टमेव भावयति प्रियः, स्नेहस्य तथाभावकस्वभावत्वात्. अन्यस्य विपरीतम्. किञ्च **ते** आत्मानमेवानिष्टविषयं भावितवन्त इत्याह **तत्प्राणा** इति– **तस्मिन्ने**व **प्राणा** येषां, **तस्मिन्ने**व **मनो** येषाम्, अत एव **दुःखं शोकं भयं** च, त्रिभि**रातुराः** ॥१४॥

गोकुलं शून्यं विधाय **सर्व** एव निर्गता इत्या**हाबालवृद्धवनिता** इति.

आबालवृद्धवनिताः सर्वेऽङ्ग पशुवृत्तयः ।
निर्जग्मुर्गोकुलाद् दीनाः कृष्णदर्शनलालसाः ॥१५॥

अङ्गेति सम्बोधनं सर्वत्र स्नेहसूचकम्. **पशू**नामिव **वृत्ति**र्येषामिति न देहवस्त्रादिदृष्टिः. **गोकुलादेव निर्ग**ताः. तेषां कामनामाह **कृष्णदर्शने लालसाः,** दर्शनार्थमतिव्याकुलाः ॥१५॥

तेषां श्रीभगवत्समीपगमने भ्रमाभावाय हेतुमाह **तेन्वेषमाणा** इति.

तेऽन्वेषमाणा दयितं कृष्णं सूचितया पदैः ।
भगवल्लक्षणैर्जग्मुः पदव्या यमुनातटम् ॥१६॥

पतिरेवान्वेषणीयस्ततोपि सदानन्दः. ते भगवद्गतमार्गेणैव गताः, तदाह **पदव्या यमुनातटमि**ति. **पदवी** सूक्ष्मो मार्गः, तया यमुनातटमेव गताः. तेषां मार्गान्तरागमने तथैव च गमनेऽभिज्ञानमाह **भगवल्लक्षणैः पदैः सूचितये**ति– ध्वजवज्राङ्कुशाद्यसाधारणचिह्नैः, भगवच्चरणसम्बन्धे भूमेरार्द्रता भवतीति स्फुटसर्वलक्षणानि पदानि भूमावुद्गच्छन्ति तैः, सूचिता पदवी भवति ॥१६॥

तत्रापि भगवान्न केवलं गतः किन्तु गोगोपालसहित एव गत इत्यत्राभि-

---

लेखः

आबालेत्यस्याभासे **गोकुलं शून्यमित्याङ्गो**र्थः ॥१५॥

तेन्वेषमाणा इत्यस्याभासे. गमनस्य पूर्वश्लोके उक्तत्वादियं भावना पदव्यां पर्यवस्यति, "दध्ना जुहोती"तिवत्, तथा च भ्रमाभावहेतुपदव्येव वाक्यार्थः. **अभिज्ञानमाहे**ति, करणव्युत्पत्त्या अभिज्ञापकमित्यर्थः ॥१६॥

ज्ञानमाह ते तत्रेति.

ते तत्र तत्राब्जयवाङ्कुशाशनिध्वजोपपन्नानि पदानि विश्पतेः ।
मार्गे गवामन्यपदान्तरान्तरे निरीक्षमाणा ययुरङ्ग सत्वराः ॥१७॥

तत्र तत्र मार्गे विश्पतेर्वैश्याधिपतेर्गोकुलराजस्य भगवतः **पदानि** दृष्ट्वा तेनागतप्राणाः **सत्वरा ययुः**, अन्यथा गमनेप्यसामर्थ्यं स्यात्. **यवः** कीर्तिप्रतिपादकः, **अब्जा**काररेखा सुसेव्यत्वाय, भक्तानां मनोगजनिवारणा**याङ्कुश**रेखा, **अशनिः** पापपर्वतच्छेदाय, **ध्वजो** निर्भयवासदानाय —एवमनेकविधैश्चिह्नै**रुपपन्नानि पदानि.** अतः स्वस्यापि कृतार्थता भविष्यतीति शकुनमिव प्राप्येष्टदर्शनार्थं शीघ्रं गताः. **गवां मार्गेऽन्येषां** गोपालानां च **पदान्यन्तरा** यत्र, तेन सर्वैः सह तिष्ठतीति सन्तोषोपि. **अन्तरा** मध्ये ॥१७॥

ननु कथमत्र सर्वज्ञो बलभद्रो न तेषां निषेधं कृतवानित्याशङ्क्याह **तांस्तथे**ति.

तांस्तथा कातरान् वीक्ष्य भगवान् माधवो बलः ।
प्रहस्य किञ्चिद् नोवाच प्रभावज्ञोऽनुजस्य सः ॥१८॥

तथा कातराननतिदीनान् वीक्ष्य प्रहस्य भगवत्परीक्षां स्मृत्वा विधिनिषेधयोरन्यतरदपि **नोक्तवान्**, यतो**ऽनुजस्य** भगवतः **प्रभावज्ञः.** अयं श्लोकः पूर्वत्र[1] वा विगीतो वा ॥१८॥

प्रकाशः

तांस्तथेत्यत्रैतस्य श्लोकस्यासङ्गतत्वं स्फुटीकुर्व**न्त्ययं श्लोकः पूर्वत्र वा विगीतो** वेति. बलभद्रस्य पूर्वमेव भगवत्प्रभावज्ञत्वादुत्पातदर्शनसमय एव न कातर्यं, तत्रैवायं श्लोको वक्तुमुचितः. वस्तुतस्तु किञ्चित्कार्यस्यात्रानुक्तत्वात् केवलहासस्य तूष्णीम्भावस्यानुचितत्वाच्च **विगीतः** क्षेपको वेत्युभयथाप्यत्रासङ्गत इत्यर्थः ॥१८॥

लेखः

ते तत्रेत्यत्र पदवीविशेषणस्य भगवत्पदस्यापि[2] पूर्वं निरूपितत्वात् तत्राप्यनुपपन्ना तद्विशेषणे गोगोपसाहित्याभिज्ञापके तत्पदे पर्यवस्यति, दध्नेन्द्रियकामस्येतिवददतिपारार्थ्यम्. **अतः स्वस्यापी**ति, भूमिः पदैः कृतार्था स्वस्यापि तथे**त्यपि**शब्दः ॥१७॥

अन्तर्हृद इत्यस्याभासे **इति** हेतोराह आर्तिमिति शेषः, उपसंहारे आर्तेरेव वाक्यार्थत्वोक्तेः ॥१९॥

---

१. अपरे तु टीकाकारा इमं श्लोकं षोडशत्वेनैव पठन्ति. १. 'त्यस्यापि इति प्राचीनादर्शे.

गता भगवन्तं दृष्टवन्त इत्याह **अन्तर्हृद** इति.

अन्तर्ह्रदे भुजगभोगपरीतमारात् कृष्णं निरीहमुपलभ्य जलाशयान्ते ।
गोपांश्च मूढधिषणान् परितः पशूंश्च सङ्क्रन्दतः परमकश्मलमापुरार्ताः ॥१९॥

दूरादेव भगवन्तं यमुनाह्रदे, समुद्रे शेषशायिनमिव भगवन्तं, दृष्टवन्तः. तदाह ह्रदमध्ये **भुजगभोगेन** सर्पशरीरेण **परीतं** वेष्टित**मारादेवोपलभ्य** सुप्तत्वात् **निरीहं जलाशय**समीपे **च गोपानुपलभ्य,** वृत्तान्तप्रश्नाभावाय विशेषणमाह **मूढधिषणा**निति, **मूढा** लयं प्राप्ता **धिषणा** बुद्धिर्येषाम्. **परितः** सर्वतो विक्षिप्तान् **पशूंश्च सङ्क्रन्दन्त** इति तेषामनिष्टसूचकत्वम्. अतो मार्गे यथाकथञ्चिदप्यागता एतत् त्रितयं दृष्ट्वा **परमकश्मलं** मूर्छा**मापुः, आर्ता** विकलाः सन्तापयुक्ताश्च जाताः ॥१९॥

एवमार्त्यनन्तरं गोपिकानां यशोदासहितसाधारणस्त्रीणां नन्दादीनां च वृद्धगोपानामवस्था आह **गोप्य** इति त्रिभिः.

गोप्योनुरक्तमनसो भगवत्यनन्ते तत्सौहृदस्मितविलोकगिरः स्मरन्त्यः ।
ग्रस्तेहिना प्रियतमे भृशदुःखतप्ताः शून्यं प्रियव्यतिहृतं ददृशुस्त्रिलोकम् ॥२०॥

गोप्यस्तु भगवन्तं तादृशं दृष्ट्वा त्रैलोक्यमेव प्रियरहितं ज्ञातवत्यः. प्रिया एव हि रक्षणीयाः, अतः प्राणरक्षायामिहलोकरक्षायां परलोकरक्षायां च निवृत्तव्यापारास्तथैव लयं प्राप्तवत्य इति तामस्यवस्था. **अनुरक्तं मनो** यासाम्, अनेन तेषां प्राणवियोगाभावे हेतुरुक्तः. ननु भगवति साम्प्रतं मनः प्राणवियोजकमेव न तु प्राणरक्षकमित्याशङ्क्याह **भगवती**ति, सर्वकरणसमर्थो भगवान्, अतः षड्भिरपि गुणैस्तासां प्राणा रक्षिता इत्यर्थः. तथापि विषयस्यानिष्टरूपत्वे प्राणरक्षा भक्तिविरोधिनीत्याशङ्क्या**हानन्त** इति, न विद्यतेऽन्तो यस्येति. विषयश्च नानिष्टरूपः, अतो भगवता रक्षिताः सजीवा एवेतिकर्तव्यतामूढाः स्थिताः. किञ्च तासां जीवने हेत्वन्तरमपि जातमित्याह **तत्सौहृदे**ति, **तस्य** भगवतः **सौहृदं स्मितं विलोकं गिरश्च स्मरन्त्यः. सौहृद**स्मरणे शरीरस्थितिः, **स्मित**स्मरण इन्द्रियाणां, **विलोक**स्मरणे प्राणानां, वाक्यस्मरणेऽन्तःकरणस्य. साधकानुक्त्वा बाधकमाहा**हिना** सर्पेण वेष्टिते परमप्रीतिविषये **भृशं दुःखेन तप्ताश्च** जाताः. अत**स्त्रिलोकं प्रियेण व्यतिहृतं शून्यमेव ददृशु**रित्यर्धजरतीयम् ॥२०॥

यशोदासहितानामवस्थामाह **ता** इति.

ताः कृष्णमातरमपत्यमनुप्रविष्टां तुल्यव्यथाः समनुगृह्य शुचः स्रवन्त्यः ।
तास्ता व्रजप्रियकथाः कथयन्त्य आसन् कृष्णाननेर्पितदृशो मृतकप्रतीकाः ॥२१॥

कृष्णमातरं समनुगृह्य लोकन्यायेन **शुचः स्रवन्त्यो** जाताः. यशोदा **त्वपत्यं**

भगवन्तम**नुप्रविष्टा** तत्रैव गता. अन्यासां जीवने हेतुः— **तास्ता व्रजप्रियस्य** भगवतः **कथाः कथयन्त्यः;** किञ्च **कृष्णाननेर्पिता दृशः** भगवन्मुखारविन्दमपि पश्यन्ति. अतो **मृतकप्रतीका आसन्** मृतप्रायाः सजीवा एव स्थिताः. पूर्वा भगवता रक्षिता एता भगवद्गुणैर्दर्शनेन च ॥२१॥

अन्ये तु नन्दादयो बलभद्रेण रक्षिता इत्याह **कृष्णे**ति.

कृष्णप्राणान् निर्विशतो नन्दादीन् वीक्ष्य तं ह्रदम् ।
प्रत्यषेधत् स भगवान् रामः कृष्णानुभाववित् ॥२२॥

कृष्णे प्राणा येषां; प्राणस्थाने हि स्वेनापि स्थातव्यमिति **तमेव ह्रदं निर्विशन्तो** जाताः. तदा तान् बलः **प्रत्यषेधत्.** कथं तेन प्रतिषिद्धाः स्थिता इत्याशङ्क्याह **स भगवानिति, स रामो भगवान्** भगवत्सहितो वा. सोपि किमिति प्रत्यषेधत्? तत्राह **कृष्णानुभावविदिति**, कालीयदमनलक्षणं भगवदनुभावं जानातीति ॥२२॥

एवं सर्वेषां गोकुलवासिनां वैयग्र्यमुपपाद्य सर्वसमर्थस्य भगवत एवङ्करणमनुचितमित्याशङ्क्य तत्समाधानार्थं भगवान् परीक्षां कृतवानित्याह**ेत्थमि**ति.

इत्थं स्वगोकुलमनन्यपतिं निरीक्ष्य सस्त्रीकुमारमतिदुःखितमात्महेतोः ।
आज्ञाय मर्त्यपदवीमनुवर्तमानः स्थित्वा मुहूर्तमुदतिष्ठदुरङ्गबन्धात् ॥२३॥

प्रकाशः

ता इत्यत्र. नन्वेवं [1]मातृचरणतुल्यनिरोधः कस्यापि न सम्पन्न इति [2]पूर्ववाक्योक्तानां न परमोत्कर्षः सिध्यतीत्यत आहुः [3]**पूर्व** इति. [4]तास्तथैव स्युरेव, परं **भगवता रक्षिता** इति न तथा जातास्तासां तथाभवनं भगवतोऽत्यन्तं [5]दुःसहं तिरोधानस्यापि दुःसहत्वादिति रक्षणे हेतुः. एतच्च "नय मां यत्र ते मन" इत्यस्य द्वितीयव्याख्याने स्पष्टम्. तथा च स्वकृत्या तथात्वाद् भगवत्कृत्या वा तथात्वात् सर्वोत्कर्ष एतास्वेव ध्वन्यत इति भावः ॥२१॥

इत्थमित्यत्र**ानन्यपति**पदेनैता एव ज्ञातव्या, अन्येषां भिन्नत्वेन निरूपणात् ॥२३॥

लेखः

इत्थमित्यस्याभासे **परीक्षामि**ति परित ईक्षा येनेति, परीक्षाहेतुमित्यर्थः. अस्मिन् श्लोके इदं सूचितं, वाक्यार्थस्तूत्थानमेव, उपसंहारे तथैवोक्तत्वात्.

१. मातृचरणानामनुप्रविष्टात्वोक्तरीत्येत्यर्थः. २. विंशतिश्लोकोक्तामित्यर्थः. ३. पूर्वा. ४. अनुप्रविष्टा एव मातृचरणवदित्यर्थ. ५. गोपीतिरोधानं भगवतो दुःसहमतो गोपीतिरोधानस्य दुःसहत्वमित्यर्थः.

परीक्षायां हेतुः **स्वगोकुलमि**ति— स्वस्य गोकुलं परीक्षणीयमेव, अन्यथा कृतकरिष्यमाणयोर्निरोधयोर्वैयर्थ्यं स्याद्, यदि तेषु कृतकार्यं नोपलभ्येत. परीक्षया यत् सम्पन्नं तदाह**ानन्यपतिमि**ति, न विद्यतेऽन्यः पतिर्यस्य, जडत्वाद् गोकुलत्वेनान्यपत्यभाव एव निरूपितः. किञ्च **सस्त्रीकुमारमात्महेतोरतिदुःखितं निरीक्ष्य. स्त्रियः** साधारण्यः, **कुमारा** अतिबालाः. तद**न्वाज्ञाय** विचार्य, भवत्येवमेवैतदिति निश्चित्य. ननु स्वतःसर्वज्ञस्य किं परीक्षयेत्याशङ्क्याह **मर्त्यपदवीमनुवर्तमान** इति, यथा तेषु मानुषभावेनैव निरोधं करोति तथा परीक्षामपि कृतवान्. अतो **मुहूर्तं स्थित्वोरंगबन्धात्** सर्पबन्धनादुदतिष्ठदुत्थितः. निद्रापाये सृष्टिमिव कृतवानित्यर्थः ॥२३॥

तस्योत्थाने यदासीत् तदाह **तत्प्रथ्यमाने**ति.

[1]**तत्प्रथ्यमानवपुषा व्यथितात्मभोगस्त्यक्त्वोन्नमय्य कुपितः स्वफणान् भुजङ्गः ।**
तस्थौ श्वसन् श्वसनरन्ध्रविषाम्बरीषस्तब्धेक्षणोल्मुकमुखो हरिमीक्षमाणः ॥२४॥

अत्र भारतादौ बलभद्रस्तुतिप्रबोधादिकं निरूपितं तत् कल्पान्तरीयम्. तत्रांशावतारो मनुष्यभावापत्तिश्चेति केचित्, लीलयैव तथेत्यपरे. वस्तुतो यथा येन यत्र कारयति तथा स करोतीति व्यवस्था. पूर्वं भगवान् सूक्ष्मः स्थितः पश्चात् पुष्टो जातस्तेन स्वयमेव वेष्टनानि भग्नानीव जातानि. तदाह **तेन** भगवता **प्रथ्यमानं** यद् **वपु**स्तेन कृत्वा **व्यथित आत्माभोगो** यस्य. एतादृशः शीघ्रं भगवन्तं परित्यज्य **स्वफणानुन्नमय्य कुपितो भुजङ्गो** युद्धार्थं **तस्थौ,** क्रोधे हि बलमधिकं भवतीति. स्थितिसमयेपि **श्वसन्** विषवायुं विमुञ्चन् स्थितः. किञ्च **श्वसनरन्ध्रविषाम्बरीषस्तब्धेक्षणोल्मुकमुख**स्तस्य ह्युपरि पञ्च छिद्राणि नासे चक्षुषी मुखमिति. स्थानत्रयेपि स घोर इत्युच्यते. तत्र प्रथमं **श्वसनरन्ध्रे विषं** यस्य, **अम्बरीष**वद् भ्राष्ट्राग्निवत् **स्तब्धे ईक्षणे** यस्य, **उल्मुकयुक्तं मुखं** यस्य. एतादृशोपि **हरिमीक्षमाणो** भगवत्सान्निध्यात् स्वयमपि न ज्वलितः परं सम्मुखं स्थितः ॥२४॥

लेखः

व्याख्याने **जडत्वादि**ति. **गोकुलत्वेन** हेतुना मूढत्वादनन्यत्वमेव भगवदागतौ साधनमुक्तं, न तु धर्मादिकमन्यदित्यर्थः ॥२३॥

तत्प्रथ्यमानेत्यत्र **उल्मुकयुक्तमि**ति. यथा भ्राष्ट्राग्निरुल्मुकयुक्तस्तथा सर्वतो जाज्वल्यमानं मुखं यस्येत्यर्थः. तथा च मूले अम्बरीषदृष्टान्त उभयत्राप्यन्वेतव्यः. उल्मुकयुक्तमुल्मुकम्, अर्श आद्यच् ॥२४॥

१. आदर्शेष्वङ्कसङ्ख्या प्रायो विगीता सर्वत्रैव.

तदा भगवान् यत् कृतवान् तदाह **तं जिह्वयेति**.

तं जिह्वया द्विशिखया परिलेलिहानं द्वे सृक्किणी ह्यतिकरालविषाग्निदृष्टिम् ।
क्रीडन्नमुं परिससार यथा खगेन्द्रो बभ्राम सोऽप्यवसरं प्रसमीक्षमाणः ॥२५॥

द्विशिखया जिह्वया युगपदेव **द्वे सृक्किणी परिलेलिहानं तं** प्रसिद्धं कालीय**मतिकरालविषमेवाग्निर्दृष्टौ** यस्य तादृशं सर्वप्रकारेण क्रोधमूर्छितं कौतुकी भगवान् **क्रीडन्नेवामुं परिससार.** भगवतो निर्भयगमने दृष्टान्तं हेतुत्वेनाह **यथा खगेन्द्र** इति. न हि कस्यचिद् भक्ष्याद् भयमस्ति. दुष्टाश्च भगवतो दाह्याः, न हि काष्ठाद् वह्नेर्भयं भवति. अतः **स** एव भगवतो भीतः युद्धार्थमे**वावसरं प्रसमीक्षमाणो बभ्राम** प्रदक्षिणां बहुधा कृतवान् ॥२५॥

तदा भगवांस्तं निगृह्य तदुपरि नृत्यं कृतवानित्या**हैवमिति**.

एवं परिभ्रमहतौजसमुन्नतांसम् आनम्य तत्पृथुशिरःस्वधिरूढ आद्यः ।
तन्मूर्धरत्ननिकरस्पर्शातिताम्रपादाम्बुजोऽखिलकलादिगुरुर्ननर्त ॥२६॥

ननु दुष्टः; कथं नृत्यं कारितवान्? तत्राह **परिभ्रमहतौजसमिति**, सर्पो हि परिभ्रमे व्यथां प्राप्नोति अतो बहुधा परिभ्रमाद्धतौजा इव जातः. केवल**मुन्नता अंसा** यस्य तादृश**मानम्य** तमपि भागमधस्तात् कृत्वा तत्र द्वयोर्द्वौ पादौ निवेश्यान्यौ हस्ताभ्यां धृत्वानम्य **तत्पृथुशिरःस्वधिरूढो** जातः. ननु सर्पोऽयममङ्गलः कथं भगवता आरूढ इति चेत्, तत्रा**हाद्य** इति–.स हि सर्वकर्ता सर्वस्याप्याद्यस्तस्यापि पिता भवत्यतस्तमारूढवानथ वा शेषशायी स हि सर्वदा सर्पमेवारुह्य तिष्ठति. अतस्तस्य सर्पारोहणेऽभ्यासात् तत्र स्थितः **संस्तस्य मूर्धसु** यानि **रत्नानि** तेषां **निकरः** समूहस्तस्य **स्पर्शेनातिताम्रं पादाम्बुजं** यस्यैतादृशः पूजितचरण इव सन्तुष्ट**स्तत्पृथुशिरस्सु ननर्त.** ननु विषमशिरस्सु कथं नृत्यं कृतवान्? तत्रा**हाखिलकलादिगुरुरिति**– अखिलकलानामादिगुरुः, कलाकौशलानि यावन्ति लोके तानि सर्वाण्यनेनैव कृतान्युपदिष्टानि च. लोका रज्जौ पादुकासहिता नृत्यन्तो दृश्यन्ते, तत्र किमाश्चर्यं स्थूलेषु बहुषु शिरस्सु नृत्यतीति! ॥२६॥

लेखः

तं जिह्वयेत्यत्र भगवत्परिसरणं वाक्यार्थः. तद्भ्रमणं तु भगवति दृष्टान्तसूचितं भयाभावं दृढं कर्तुम्. तथा च मूले **सोपीत्यपि**शब्देन न भगवत्समुच्चयः किन्तु वाक्यार्थे भ्रमणस्यगौणत्वं बोधितम्, एतत्सूचनाय व्याख्याने **स एवेत्येव**कारः. **बहुधेति**, अवसरप्रतीक्षाया उक्तत्वादिदमागतम् ॥२५॥

नृत्ये गीतवाद्ययोरङ्गत्वात् तदभावे नृत्यं विगुणं स्यादित्याशङ्क्याह **तं नर्तुमुद्यतमिति**.

तं नर्तुमुद्यतमवेक्ष्य तदा तदीयगन्धर्वसिद्धमुनिचारणदेववध्वः ।
प्रीत्या मृदङ्गपणवानकवाद्यगीतपुष्पोपहारनुतिभिः सहसोपसेदुः ॥२७॥

सर्वत्र देवा भगवन्तं पश्यन्त एव तिष्ठन्ति. अत्रापि ते लौकिकानां सेवाऽसामर्थ्यात् स्वयमेव सेवां कृतवन्त इत्याह **नर्तुमुद्यतं** भगवन्त**मवेक्ष्य तदा** तस्मिन् समये **तदीया** ये **गन्धर्वादयस्ते प्रीत्या** स्वस्य सेवाविनियोगं ज्ञात्वा **मृदङ्गपणवानकानि वाद्यानि गीतानि पुष्पोपहाराः** पुष्पवृष्ट्यो **नुतिभिः** स्तोत्रैः **सहसा** शीघ्रमे**वोपसेदु**रुपसन्नाः. नृत्ये हि प्रथमतो नान्दी, तत्र देवतास्तुतिः पुष्पवृष्टिश्च कर्तव्या, तदनु वाद्यं गीतं च. तदत्रापि वाद्यगीतयोरारम्भं कृत्वा नान्दीप्रकटनार्थं पुष्पवृष्टिर्भवत्येव भगवन्तमेव च देवाधिदेवं स्तुवन्तः. अत्र क्रमो न विवक्षित इति ज्ञापयितुं **सहसा** शीघ्रमे**वोपसेदुरि**त्युक्तम्. **गन्धर्वा** गायकाः, **सिद्धाः** पुष्पवृष्टिकर्तारः, **मुनयः** स्तोत्रकर्तारः, **चारणा** वाद्य(द!)काः, **देववध्वोऽ**प्सरसः सहनर्तक्यः. क्वचिदभिनय उभयोर्बहूनां च नृत्यं भवति तदोपकारस्तासाम् ॥२७॥

एवं नृत्ये क्रियमाणे यदासीत् तदाह **यद्यदिति**.

यद्यच्छिरो न नमतेऽङ्ग शतैकशीर्ष्णस्तत्तन् ममर्द खलदण्डधरोऽङ्घ्रिपातैः ।
क्षीणायुषो रुधिरमुल्बणमास्यतोसृङ् नस्तो वमन् परमकश्मलमाप नागः ॥२८॥

यद्यदेव कालीयस्य **शिरो न नमते** तदेव **नामयन् दमयाम्बभूवे**ति सम्बन्धः. **शतं** शतसङ्ख्याका**न्येकानि** प्रधानानि **शीर्षाणि** यस्य. एतादृशस्य कालीयस्य सर्वाण्येव शिरांसि प्रधानानीत्येकनमनेपि नान्येषां नमनम्, अतः प्रत्येकं नामनम्. **अङ्गेति** सम्बोधनं स्नेहात्. आदौ यावत् नमनं न मन्यतेऽन्यत्र स्थित **एवाङ्घ्रिपातै**र्नृत्ये गतिविशेषैस्तालसमाप्तिस्थानेषु तस्मिन्नेवोच्चशिरसि पादप्रहारं करोति, ततः पाद-

---

लेखः

तं नर्तुमित्यत्र पुष्पवृष्टिर्नुतिश्च भगवत एव कृता निर्विघ्नार्थं, न तु ते नृत्याङ्गे. ततो भगवान् नृत्यं कृतवान्, अतस्तदङ्गत्वेन गीतवाद्यसम्पत्तिरेव वाक्यार्थः ॥२७॥

यद्यदित्यस्याभासे तदाहेति दमनमाह, श्लोकद्वयेनेति शेषः. अध्यायकारिकासु लीलया दमनमुक्तमिति मर्दनादिकमपि दमनप्रकारविवरणत्वेन व्याख्यायते. तथा च दमनप्रकारविवरणं प्रथमश्लोकार्थः, दमनं द्वितीयश्लोकार्थः, सप्रकारं दमनं श्लोक-

तदा भगवान् यत् कृतवान् तदाह **तं जिह्वयेति.**

तं जिह्वया द्विशिखया परिलेलिहानं द्वे सृक्किणी ह्यतिकरालविषाग्निदृष्टिम् ।
क्रीडन्नमुं परिससार यथा खगेन्द्रो बभ्राम सोप्यवसरं प्रसमीक्षमाणः ॥२५॥

द्विशिखया जिह्वया युगपदेव **द्वे सृक्किणी परिलेलिहानं तं** प्रसिद्धं कालीय**मतिकरालविषमेवाग्निर्दृष्टौ** यस्य तादृशं सर्वप्रकारेण क्रोधमूर्छितं कौतुकी भगवान् **क्रीडन्नेवामुं परिससार.** भगवतो निर्भयगमने दृष्टान्तं हेतुत्वेनाह **यथा खगेन्द्र** इति. न हि कस्यचिद् भक्ष्याद् भयमस्ति. दुष्टाश्च भगवतो दाह्याः, न हि काष्ठाद् वह्नेर्भयं भवति. अतः **स** एव भगवतो भीतः युद्धार्थमे**वावसरं प्रसमीक्षमाणो बभ्राम** प्रदक्षिणां बहुधा कृतवान् ॥२५॥

तदा भगवांस्तं निगृह्य तदुपरि नृत्यं कृतवानित्या**हैवमिति.**

एवं परिभ्रमहतौजसमुन्नतांसम् आनम्य तत्पृथुशिरःस्वधिरूढ आद्यः ।
तन्मूर्धरत्ननिकरस्पर्शातिताम्रपादाम्बुजोखिलकलादिगुरुर्ननर्त ॥२६॥

ननु दुष्टः; कथं नृत्यं कारितवान्? तत्राह **परिभ्रमहतौजसमिति**, सर्पो हि परिभ्रमे व्यथां प्राप्नोति अतो बहुधा परिभ्रमाद्धतौजा इव जातः. केवल**मुन्नता अंसा** यस्य तादृश**मानम्य** तमपि भागमधस्तात् कृत्वा तत्र द्वयोर्द्वौ पादौ निवेश्यान्यौ हस्ताभ्यां धृत्वानम्य **तत्पृथुशिरःस्वधिरूढो** जातः. ननु सर्पोऽयममङ्गलः कथं भगवता आरूढ इति चेत्, तत्रा**हाद्य** इति–.स हि सर्वकर्ता सर्वस्याप्याद्यस्तस्यापि पिता भवत्यतस्तमारूढवानथ वा शेषशायी स हि सर्वदा सर्पमेवारुह्य तिष्ठति. अतस्तस्य सर्पारोहणेऽभ्यासात् तत्र स्थितः सं**स्तस्य मूर्धसु** यानि **रत्नानि** तेषां **निकरः** समूहस्तस्य **स्पर्शेनातिताम्रं पादाम्बुजं** यस्यैतादृशः पूजितचरण इव सन्तुष्ट**स्तत्पृथुशिरस्सु ननर्त.** ननु विषमशिरस्सु कथं नृत्यं कृतवान्? तत्रा**हाखिलकलादिगुरुरिति**– अखिलकलानामादिगुरुः, कलाकौशलानि यावन्ति लोके तानि सर्वाण्यनेनैव कृतान्युपदिष्टानि च. लोका रज्जौ पादुकासहिता नृत्यन्तो दृश्यन्ते, तत्र किमाश्चर्यं स्थूलेषु बहुषु शिरस्सु नृत्यतीति! ॥२६॥

लेखः

तं जिह्वयेत्यत्र भगवत्परिसरणं वाक्यार्थः. तद्भ्रमणं तु भगवति दृष्टान्तसूचितं भयाभावं दृढं कर्तुम्. तथा च मूले **सोपीत्यपि**शब्देन न भगवत्समुच्चयः किन्तु वाक्यार्थे भ्रमणस्यगौणत्वं बोधितम्, एतत्सूचनाय व्याख्याने **स एवेत्येव**कारः. **बहुधेति**, अवसरप्रतीक्षाया उक्तत्वादिदमागतम् ॥२५॥

नृत्ये गीतवाद्ययोरङ्गत्वात् तदभावे नृत्यं विगुणं स्यादित्याशङ्क्याह **तं नर्तुमुद्यतमिति.**

तं नर्तुमुद्यतमवेक्ष्य तदा तदीयगन्धर्वसिद्धमुनिचारणदेववध्वः ।
प्रीत्या मृदङ्गपणवानकवाद्यगीतपुष्पोपहारनुतिभिः सहसोपसेदुः ॥२७॥

सर्वत्र देवा भगवन्तं पश्यन्त एव तिष्ठन्ति. अत्रापि ते लौकिकानां सेवाऽसामर्थ्यात् स्वयमेव सेवां कृतवन्त इत्याह **नर्तुमुद्यतं** भगवन्त**मवेक्ष्य तदा** तस्मिन् समये **तदीया** ये **गन्धर्वादय**स्ते **प्रीत्या** स्वस्य सेवाविनियोगं ज्ञात्वा **मृदङ्गपणवानकानि वाद्यानि गीतानि पुष्पोपहाराः** पुष्पवृष्टयो **नुतिभिः** स्तोत्रैः **सहसा** शीघ्रमे**वोपसेदुरु**पसन्नाः. नृत्ये हि प्रथमतो नान्दी, तत्र देवतास्तुतिः पुष्पवृष्टिश्च कर्तव्या, तदनु वाद्यं गीतं च. तदत्रापि वाद्यगीतयोरारम्भं कृत्वा नान्दीप्रकटनार्थं पुष्पवृष्टिर्भवत्येव भगवन्तमेव च देवाधिदेवं स्तुवन्तः. अत्र क्रमो न विवक्षित इति ज्ञापयितुं **सहसा** शीघ्रमे**वोपसेदु**रित्युक्तम्. **गन्धर्वा** गायकाः, **सिद्धाः** पुष्पवृष्टिकर्तारः, **मुनयः** स्तोत्रकर्तारः, **चारणा** वाद्य(द!)काः, **देववध्वो**प्सरसः सहनर्तक्यः. क्वचिदभिनय उभयोर्बहूनां च नृत्यं भवति तदोपकारस्तासाम् ॥२७॥

एवं नृत्ये क्रियमाणे यदासीत् तदाह **यद्यदिति.**

यद्यच्छिरो न नमतेऽङ्ग शतैकशीर्ष्णस्तत्तन् ममर्द खलदण्डधरोऽङ्घ्रिपातैः ।
क्षीणायुषो रुधिरमुल्बणमास्यतोसृङ् नस्तो वमन् परमकश्मलमाप नागः ॥२८॥

यद्यदेव कालीयस्य **शिरो न नमते** तदेव **नामयन् दमयाम्बभूवे**ति सम्बन्धः. **शतं** शतसङ्ख्याका**न्येकानि** प्रधानानि **शीर्षाणि** यस्य. एतादृशस्य कालीयस्य सर्वाण्येव शिरांसि प्रधानानीत्येकनमनेपि नान्येषां नमनम्, अतः प्रत्येकं नामनम्. **अङ्गेति** सम्बोधनं स्नेहात्. आदौ यावत् नमनं न मन्यतेऽन्यत्र स्थित **एवाङ्घ्रिपातै**र्नृत्ये गतिविशेषैस्तालसमाप्तिस्थानेषु तस्मिन्नेवोच्चशिरसि पादप्रहारं करोति, ततः पाद-

---

लेखः

तं नर्तुमित्यत्र पुष्पवृष्टिर्नुतिश्च 'भगवत एव कृता निर्विघ्नार्थं, न तु ते नृत्याङ्गे. ततो भगवान् नृत्यं कृतवान्, अतस्तदङ्गत्वेन गीतवाद्यसम्पत्तिरेव वाक्यार्थः ॥२७॥

यद्यदित्यस्याभासे तदाहेति दमनमाह, श्लोकद्वयेनेति शेषः. अध्यायकारिकासु लीलया दमनमुक्तमिति मर्दनादिकमपि दमनप्रकारविवरणत्वेन व्याख्यायते. तथा च दमनप्रकारविवरणं प्रथमश्लोकार्थः, दमनं द्वितीयश्लोकार्थः, सप्रकारं दमनं श्लोक-

प्रहारभिया तत् नतमेव तिष्ठति. किञ्च न प्रहारमात्रं करोति किन्तु **ममर्द** पादेन मर्दनमपि करोति यथोपरितनी त्वग् गच्छति द्वितीयप्रहारेऽधिकव्यथाजननार्थम्. नन्वक्लिष्टकर्मा किमित्येवं करोति? तत्राह **खलदण्डधर** इति– खलानां दण्डमयं बिभर्ति, अतो दण्डार्थमेवं करोतीत्यर्थः. ततः **क्षीणायुषः** क्षीणप्राणबलस्य मूर्छितस्य **रुधिरमुल्बणं** जातं, तदन्तःस्थापयितुमशक्यमिति मुखात् **नस्तो** नासिकातश्च **वमन् नागः परमकश्मलमाप** मूर्छां महतीं व्यथां वा. नागजातित्वान्न पलायते, शूरा हि ते. **क्षीणायुषो रुधिरमुल्बणमिति** भिन्नं वाक्यं सङ्घातपरं देहपरं वा. अन्यत् तु जीवपरम् ॥२८॥

पूर्वश्लोक आधिभौतिकस्याध्यात्मिकस्य च दण्डो निरूपितः. आधिदैविकस्य दण्डमाह **तस्याक्षिभिरिति**.

तस्याक्षिभिर्गरलमुद्वमतः शिरस्सु यद्यत् समुन्नमति निःश्वसतो रुषोच्चैः ।
नृत्यत्पदाऽनुनमयन् दमयाम्बभूव पुष्पैः सुपूजित इवेह पुमान् पुराणः ॥२९॥

नासिकामुखयो रुधिरमेव विषप्रतिबन्धकंजातम्, अक्ष्णोस्तु ज्ञानप्रधानत्वात् प्रतिबन्धकं न जातमिति **यदाक्षिभिर्गरलमुद्वमति** तादृशस्य **शिरस्सु** मध्ये **यद्यत् समुन्नमति** तत्तदेव **पदानुनमयन् दमयाम्बभूव.** आधिदैविकभावापन्नान्यपि कानिचित् शिरांसि, तान्येव वा पुनरुद्गतानि. **गरलं** स्वस्योपास्यं रूपं, तदग्रे करोति.

लेखः

द्वयमहावाक्यार्थः. तत्रैवमन्वयः– **यद्यच्छिरो न नमते** तत्तत् **नमयन् दमयाम्बभूव.** तत्र प्रकारः– **अङ्घ्रिपातैर्ममर्द,** ततस्तस्य **रुधिरम् उल्बणं** जातं तद् वक्त्रात् **नस्तो वमन्** स **परमकश्मलमाप,** ततोऽक्षिभिर्गरलमुद्वमतस्तस्य **शिरस्सु** मध्ये **यद्यत् समुन्नमति तत्तदनुनमयन्** जातः –एवं **दमयाम्बभूवेति**. प्रहारो नामनं, तस्य विवरणं **ममर्देति**. यत् न नमते तस्य नामनं, ततोपि यत् समुन्नमति तस्यानुनामनमिति विशेषः ॥२८॥

मर्दनस्य देहक्लेशजनकत्वादाधि**भौतिकस्य ममर्दे**त्यनेन दण्ड उक्तः, **कश्मलमापे**त्यनेन मूर्छाया इन्द्रियसामर्थ्यनाशकत्वात् तद्दण्ड **आध्यात्मिकस्य.** विषस्योपास्यदेवत्वादग्रिमश्लोके**नाधिदैविकस्य** दण्ड उक्तः. **तस्याक्षिभिरित्यत्र, ज्ञानप्रधानत्वादिति**, तादृशे उपास्यदेवप्रतिबन्धकं नायातीत्यर्थः. विषस्याधिदैविकत्वेन तद्वमकशिरोनुनामनेपि विषस्य दण्डो न जात इत्यरुच्या पक्षान्तरमाहु**राधिदैविकेति**. विषस्य सततस्थित्या तद्रूपाण्येव कानिचिद् जातानीत्यर्थः. **दमनं**

पश्चात् तस्मिन्नपि प्रतिहते **निःश्वसितिति** नातः परं निस्तार इति. तादृशं क्षीणमपि चेत् मारयति भगवांस्तदा मरणार्थं **रुषोच्चै**र्भवति. **सम्यगुन्नमती**त्यनेन देवताधिष्ठानं ज्ञापितम्. आधिदैविके क्षीणे मरणार्थमुपस्थिते साक्षान्मारणमनुचितमिति **नृत्यत्पदा** नृत्यं कुर्वतैव नृत्यकरणभूतेन पदा **अनुनमयन्** स्वसम्मुखतया नमनं कारयन् शिक्षयन्निव **दमयाम्बभूव** दमनं कारितवान्, स्वयमेव वा कृतवान्. एवं दमने कृत आधिदैविकस्योपास्यस्य भगवतो वाऽस्वारस्यं भवेत् तदा मर्यादाविरोधः स्यादित्याशङ्क्याह **पुष्पैः सुपूजित इवेह पुमान् पुराण** इति. **इहास्मिन्नवसरे पुष्पैः सुपूजित इव** जातः. आध्यात्मिको भगवता सन्मार्गे शिक्षित इति तयोः सन्तोष एवातस्ताभ्यां **पूजितो** भगवान् तौ ह्यलौकिकप्रकारेण दिव्यैः स्वतेजोभिः पूजां कृतवन्तौ. तानि पुष्पाणीव जातानि, तदाह **पुष्पैरिव सुपूजित** इति. उभयोः पूजायां प्रत्येकं हेतुमाह– पुरुष इति आधिदैविकपूजायां हेतुः, त्रयमपि प्राकृतमिवेति. **पुराण**स्तूपास्यः; पुरुषोत्तमो हि सर्वोपास्यरूपाणामप्युपास्यो, यथा व्यासकपिलादेः. एवं मूर्छापर्यन्तं दण्डं कृतवानद्भुतकर्मत्वान्नृत्येनाक्लिष्टकर्मत्वान्न मारितवान् ॥२९॥

प्रकाशः

तस्याक्षिभिरित्यत्र पुष्पैः सुपूजित इतिचतुर्थचरणस्याभास **आधिदैविकस्योपास्यस्य भगवतो** वेत्याधिदैविकः शेष उपास्यरूपो भगवांस्तस्येत्यर्थः. **मर्यादाविरोध** इत्याधिदैविकः सत्करणीय इतिमर्यादाविरोधः. परिहारं व्याकुर्वन्त्या**ध्यात्मिक इत्याध्यात्मिको** विषरूपः स **भगवता शिक्षित** ईदृशस्थल एवं न कर्तव्यमिति **तयोरा**धिदैविकरूपविषरूपयोः **सन्तोष एवातस्ताभ्यां** तथेत्यर्थः. **पुमानिति**, [1]तस्याधिदैविककर्तृकपूजाहेतुत्वं तमधिष्ठाय स्थितत्वाद् ज्ञातव्यम्. ननु सोपि महांस्तमधिष्ठाय पुरुषः कथमास्ते तत्राहु**स्त्रयमपि प्राकृतमिवे**ति. एकादशे द्वाविंशाध्याये

लेखः

कारितवानिति. इन्द्रियाणि दाम्यन्ति स चरणः, तानि दमयाम्बभूव. तेन भगवान् **दमयाम्बभूवे**ति णिजन्ताण्णिच्. तथा च तेन चरणेन प्रयोज्यकर्त्रेन्द्रियाणां दमनं कारितवानित्यर्थः. तथा सति चरणकर्तृकं दमनमायाति, अत्र तु भगवत्कर्तृकमेवेन्द्रियाणां दमनरूपवत्त्वमभिप्रेतमिति तावद्गौरवे प्रयोजनाभाव इति पक्षान्तरमाहुः **स्वयमेवे**ति. अस्मिन् पक्षे **नृत्यत्पदा** करणेन भगवानिन्द्रियाणि तच्छिरांसि तत्र **यद्यत् न नमते** तत्तद् **दमयाम्बभूवे**त्यन्वयः. प्रथमपक्षे चरणस्य प्रयोज्यकर्तृत्वमिति विशेषः. **आधिदैविकस्येति** विषभावापन्नस्य शिरस इत्यर्थः. **उपास्यस्येति** विषस्येत्यर्थः. **अस्वारस्यमिति** तत्कृतः शोभाभाव इत्यर्थः. शिरसापि मणितेजसा

---

१. अस्या°.

एवं सति भगवच्चरणारविन्दप्रसादात् तस्य ज्ञानभक्ती जाते इत्याह **तच्चित्रेति.**

तच्चित्रताण्डवविरुग्णफणातपत्रो रक्तं मुखैरुरु वमन् नृप भग्नगात्रः ।
स्मृत्वा चराचरगुरुं पुरुषं पुराणं नारायणं तमरणं मनसा जगाम ॥३०॥

नन्वभिमाने विद्यमाने कथं ज्ञानम्? तत्राह **चित्रताण्डवेन विरुग्णा फणातपत्रं** यस्येति. अभिमानस्य सूचकाः फणा एव श्वेतातपत्रस्थानीयाः, ते पुनर्विचित्रताण्डवेन विशेषेण भग्नाः. नृत्यं द्विविधं लास्यताण्डवभेदेन. लास्यं स्त्रीनृत्यं ताण्डवं पुरुषनृत्यम्. तयोरवान्तरभेदाः शतशः सन्ति. तत्र रसाभिनिविष्टः पुरुषः प्रलये महादेव इव विचित्रताण्डवं करोति. तद् भगवतात्र तच्छिक्षार्थं कृतं, तेन विशेषेण भग्नफणातपत्रो जातः. ननु शरीरदोषे विद्यमान आध्यात्मिके भौतिके च कथं ज्ञानभक्ती भवत इत्याह **रक्तं मुखैरुरु वमन्निति**. रुधिरमन्तर्दोषात्मकं, तद्वमनेऽन्तर्दोषो गतः, भग्नगात्रत्वाद् बहिर्दोषोपि. अतो निर्दुष्टो **नारायणं** स्मृतवान्. आधिदैविकेहि शेषे स्वसम्बन्धिनि स शेते. अत आधिदैविकेनोपकृतो नारायणं स्मृतवान्, उपास्येन च स एवायं नारायण इति ज्ञातवान्. तदा स्वस्य दासत्वमस्य

प्रकाशः

"ममाङ्ग माया गुणमय्यनेकधा विकल्पबुद्धीश्च गुणैर्विधत्ते वैकारिकस्त्रिविधोध्यात्ममेकमथाधिदैवमधिभूतमन्यदि"त्यत्र तथा निरूपणात् **त्रयमपि प्राकृतमिवा**तस्तदधिष्ठानमुचितमेवेत्यर्थः. **उपास्यस्ये**ति पूज्य इति शेषः ॥२९॥

तच्चित्रताण्डवेत्यत्र ननु दोषराहित्येपि न महत्कृपां विना स्मरणं सम्भवतीति तामाहु**राधिदैविके**त्यादि. आधिदैविकस्मरणे हेतुर्दोषराहित्यम्. मूलस्थतत्पदानर्थक्यं परिहरन्त्यु**पास्ये**त्यादिना. अत्र तंपदमावर्तते. **स्मृत्वे**ति प्रत्यभिज्ञाय. ननु

लेखः

रक्तोत्पलवत् स्थितेन शोभैव जाता, विषेणापि स्वतेजसा नीलोत्पलवत् स्थितेन- शोभैव जातेति भावः. इयमेव पूजा ज्ञेया. **त्रयमपीति**, आधिदैविकोपि प्राकृततुल्य इति प्रकृतिभर्तार पुरुषं नाभिभवितुं शक्नोत्यतस्तत्र शोभाजनक एव भवति. पुरुषत्वेपि विषस्य नीलकण्ठे "तस्यापि दर्शयामास स्ववीर्यमि"त्यनेनाभिभवस्योक्तत्वाद् विषेणाभिभवः शङ्क्येत; पुरुषोत्तमे तदपि तथेत्यर्थः. श्लोकद्वयमहावाक्यार्थमुपसंहरन्ति **एवमिति. मूर्छापर्यन्तमि**ति प्रकारः, दण्डदमनमित्यर्थः ॥२९॥

एवं सतीति त्रयाणामपि दण्डे जाते सतीत्यर्थः.

तच्चित्रेत्यत्र **आधिदैविके हीति**, आधिदैविकानि शिरांसि शेषरूपाणि अतस्तत्पूजादर्शने शेषद्वारा नारायणस्मृतिः, **हि** यतस्तत्र स शेत इत्यर्थः. **आधि-**

भगवतः स्वामित्वं चाद्यत्वेन ज्ञात्वा **तमेवारणं** शरणं **मनसा जगाम.** मनसा हि नारायणः शरणत्वेन भावनीयः. स ह्यन्तःकरणसाक्षी. शरणं गतो हि पश्चात् सेवया भक्तो भवति, ततः परं न प्रहार इति ज्ञातव्यम् ॥३०॥

अन्येन स एवं जात इत्यन्येनैव तस्य विमोचनं वक्तुं तस्य स्त्रियः समागता इत्याह **कृष्णस्येति.**

कृष्णस्य गर्भजगतोतिभरावसन्नं पार्ष्णिप्रहारपरिभग्नफणातपत्रम् ।
दृष्ट्वाऽहिमाद्यमुपसेदुरमुष्य पत्न्य आर्ताः श्लथद्वसनभूषणकेशबन्धाः ॥३१॥

ता हि भर्तारं द्रष्टुमागताः पतिव्रता नार्यः, अतः स्वधर्मेणैव तासां ज्ञानं— **कृष्णस्य भारेणावसन्नं** पीडितं **पार्ष्णिप्रहारेण च परितो भग्नं फणातपत्रं** यस्य. एवं

प्रकाशः

नारायणापेक्षया पुरुषोत्तम उत्कृष्ट इति तं परित्यज्य किमेतच्छरणगमनमित्याशङ्क्यैतमेव पुरुषोत्तमं ज्ञात्वा तथा कृतवानिति वदन्तो मूलस्थं **चराचरे**त्यादिविशेषणत्रयं व्याकुर्वन्ति **तदे**त्यादिना. **तदा** यदैव नारायणं ज्ञातवान् ॥३०॥

कृष्णस्येत्यस्याभासे. ननु तस्मिन् मनसा शरणागते सति भगवान् सर्वज्ञस्तं तदैव कुतो न मुक्तवानित्यत आहु**रन्येने**त्यादि. **अन्येने**त्याध्यात्मिकेन तस्योपास्येन विषेण सौभरिणा वा. तथा च यद्ययं स्वत एव तथा भवेत् तदा भगवांस्तदैवैनं त्यजेदयं त्वाध्यात्मिकबलेन तथा जात इत्यन्यप्रार्थनमपेक्षते, "ये यथा मामि"ति प्रतिज्ञानात् तयेत्यर्थः ॥३१॥

लेखः

दैविकेनेति, स्वमणितेजसा तत्कृतपूजासम्पादनमुपकारो ज्ञेयः. **उपास्येने**ति उपकृत इति शेषः. मणिप्रभायाः पुष्पायितत्वदर्शनेन "करपल्लवरोचिःसंलालित"स्मरणं, विषप्रभाया अपि पुष्पायितत्वे**नायमेव नारायण इति** ज्ञानमिति भावः. **पुरुष**त्वादाधिदैविकपूज्यत्वं, **नारायण**त्वादुपास्यपूज्यत्वं, **चराचरगुरु**त्वात् **स्वस्य दासत्वं, पुराण**त्वात् तस्य **स्वामित्वमे**वं ज्ञानं भक्त्युपयोगित्वेन निरूपितम्. **आद्यत्वेने**ति पुराणत्वेनेत्यर्थः. **आधिदैविके हीत्या**रभ्य **ज्ञात्वे**त्यन्तं ज्ञानविवरणं **मनसा हीत्या**रभ्य **भवती**त्यन्तं भक्तिविवरणमिति ज्ञेयम् ॥३०॥

अन्येनेति आधिदैविकेन उपास्येन **च** प्रपन्नो **जातः**, न तु स्वतः, अतः परिकरेण स्तुत्या **मोचनं**, न तु स्वस्य शरणागतिमात्रेण. स्वतः प्रपत्तौ तु शरणागतिमात्रेणैव मोचनं स्यादित्यर्थः.

स्वतोभिमानतश्च गतदोष**ममुष्यैव पत्न्यस्तं दृष्ट्वार्ताः** सत्यो भगवन्त**मुपसेदुरि**ति सम्बन्धः. ननु बालकस्य भगवतः को भारः, तत्रापि सच्चिदानन्दस्य, स्थूलकार्यस्यैव भारत्वात्! तत्राह **गर्भे जगद्** यस्येति; न ह्येकेन जगद्भारः सोढुं शक्यते. नन्वस्यैव भ्राता शेषः कथं सहते? तत्रोक्तं **परितो भग्नं फणातपत्रं यस्ये**ति. न केवलं भगवान् भाररूपः किन्तु मारयति च. नन्वन्यस्य स्त्रियः कथं भगवत्स्थाने समागताः? तत्रा**हाद्यमि**ति, स ह्यहेः स्वस्य च मूलभूतो भवति. कि**ञ्चामुष्य पत्न्यः** "पत्युर्नो यज्ञसंयोग" इति यज्ञसंयोग एवासां पत्नीत्वम्, अयं च भगवान् यज्ञः, तत्र पतिः संयुक्तः स्वयं चेदसंयुक्ताः स्युस्तदा पत्न्य एव न स्युः. कि**ञ्चार्ताः** पत्नीत्वादेव तस्यार्धशरीरं भवन्त्यतः स्वयमेव ताडिता अर्धमृता विज्ञापयन्ति. नन्वन्यस्य मारणे कथमन्यो मारित इव पीडितो भवेत्? शास्त्रं तूपचरितार्थमितिमतं दूरीकुर्वस्तत्राधिकारे तथैव भवतीति ताडितचिह्नान्याह **श्लथन्ति वसनानि भूषणानि केशबन्धाश्च** यासाम्. आदिमध्यावसानेषु संयुक्तपदार्थानामपगमस्ताडनव्यतिरेकेण न सम्भवति, तत्रापि मानवतीनां तासाम् ॥३१॥

भर्तृमोचनार्थं भर्तरि दयोत्पादनार्थं भर्तुर्बालकत्वं ज्ञापयन्त्यो भर्तृरूपान् बालकान् पुरस्कृत्योपायनमिव स्वसर्वस्वं भर्तृस्थापितं निवेद्य स्वयमपि भूमौ जल एवोद्गताधिदैविकभूमौ तीरस्थभूमौ वान्तर्ह्रदमध्ये प्रविष्टं भगवन्तं वात्मनिवेदनमिव कुर्वन्त्यो नमस्कारं कृत्वा भगवत्स्तोत्रं कृतवत्य इत्याह **तास्तमि**ति.

तास्तं विपन्नमनसोथ पुरस्कृतार्भाः कायं निधाय भुवि भूतपतिं प्रणेमुः ।
साध्व्यः कृताञ्जलिपुटाः शमलस्य भर्तुर्मोक्षेप्सवः शरणदं शरणं प्रपन्नाः ॥३२॥

नन्वागता एव कथं न प्रार्थितवत्यः? तदाह **विपन्नमनस** इति, विपन्नं मनो

प्रकाशः

तास्तमित्यस्याभासे **भगवन्तं वे**ति लक्षीकृत्येति शेषः. अस्मिन् पक्षे ह्रदभूमिर्ज्ञातव्या. तासां तादृगवस्थां दृष्ट्वा कृपालुस्तल्लज्जास्थापनार्थं तत्सहित एव

लेखः

कृष्णस्येत्यत्र **स्वत** इति देहत इत्यर्थः. अग्रे **मानवतीनामि**ति पातिव्रत्याभिमानेन शरीरे अभिमानवतीनामित्यर्थः. तथा च **पत्नी**पदस्यार्थोयं, तादृशीनां स्वभावत एवं न सम्भवतीति भावः ॥३१॥

अग्रिमश्लोकाभासमाहुः **भर्तृमोचनार्थमि**ति. **तीरस्थभूमौ वे**ति, **नमस्कारं**

यासां, भगवान् मोचयिष्यतीति गतविश्वासा, भर्तुरपराधित्वात्. अतस्तं प्रकारं परित्य**ज्याथ** भिन्नप्रकारेण स्तोत्रं कृतवत्यः. **पुरस्कृता अर्भा** बालका याभिः. संयुक्ता तु सामग्री पूर्वमेव गतातो भूमौ **कायं निधाय.** नन्वेतादृगवस्थायां कथं पुरुषान्तरे पतिताः? तत्राह **भूतपतिमि**ति, स हि भूतमात्रस्य पतिः साधारणः. तर्ह्येता एवानुगृहीताः स्युस्तत्राह **साध्व्य** इति, ता हि भर्तृरूपमेव भगवन्तं सेवितुं वाञ्छन्ति, नान्यप्रकारेण. अतः **कृताञ्जलिपुटा** अञ्जलिं बद्ध्वा देवतारूपत्वाद् दिव्यस्त्रीरूपा **भर्तुः शमलस्य** पापस्यापराधस्य च **मोक्षे** मोक्षण **इच्छा** यासां तादृश्यः सत्यो भगवान् **शरणद** इति **शरणं प्रपन्नाः.** स तु शरणागत इति भगवतैव न मारणीयस्तथापि तस्य पापं सहजं तमोरूपमपराधश्च न गच्छतीत्येतासामुद्योगः ॥३२॥

दण्डानुमोदनं षड्भिर्नमनं दशभिस्तथा ॥(९)॥
प्रार्थना पञ्चभिश्चेति त्रेधा स्तुतिरुदीर्यते।
द्विविधस्यापि पापस्य सापराधस्य नाशिका ॥(१०)॥

प्रकाशः

किञ्चिन्नीचैः प्रविष्ट इति तथा. **अथ**शब्दव्यञ्जितोर्थोयमुक्तो ज्ञेयः. **संयुक्ता सामग्री** वनादिरूपा ॥३२॥

न्याय्यो हीत्यादिस्तुतितात्पर्योक्तौ **त्रेधा** स्तुतौ हेतुमाहु**र्द्विविधस्यापीति**, भर्तुः

लेखः

कृत्वेत्यग्रिमेणैतस्यान्वयः. पक्षान्तरमाहुः **अन्तरि**ति, एतादृशं भगवन्तं वा, प्रणम्येति शेषः, प्रणम्य **भगवत्स्तोत्रं कृतवत्य** इत्यन्वयः. जले भूम्युद्गमस्यानुक्तत्वाद् द्वितीयः पक्षः, तीरेपि नन्दादिस्थित्या तथा न सम्भवतीति तृतीयः पक्षः. व्याख्यानान्ते **स त्विति** तुशब्दः **मारणीय** इत्यस्यानन्तरमन्वेति— **मारणीयस्तु न** परं पापापराधनिवृत्तिर्न भविष्यतीत्यर्थः. पापापराधयोर्निवारणमेव मोचनमिति "कृष्णस्ये"त्यस्याभासेन न विरोधः ॥३२॥

कारिकासु **द्विविधस्यापीति** सर्पयोनिकारणीभूतस्य सहजस्य तमो अज्ञानं तद्रूपस्य प्रत्यहं जायमानस्य चेत्यर्थः. **दण्डानुमोदने**न सहजपापस्य निवृत्तिः, **नमने**न तमोरूपस्य, **प्रार्थन**या अपराधस्येति. त्रयाणां सङ्ख्यातात्पर्यमाहु**र्भगवानिति.**

कारिकार्थः

नागपत्नीस्तुतौ **न्याय्यो हि दण्ड** इत्यत्र अध्यायविभागपूर्वकं स्तुतेस्त्रैविध्यमाहु**र्दण्डानुमोदनमि**त्यादि. **दण्डानुमोदनं षड्भिरि**ति. कारिकातः पूर्वोक्तं सर्प-

भगवान् षड्गुणस्तासु दशधा पञ्चधा पतिः ॥

तत्र प्रथमं भगवत्कृतस्य दण्डत्वं स्वीकृत्य तस्य न्याय्यत्वमाहुर्**न्याय्यो हि दण्ड** इति.

॥ नागपत्न्य ऊचुः ॥

न्याय्यो हि दण्डः कृतकिल्बिषेस्मिंस्तवावतारः खलनिग्रहाय ।
रिपोः सुतानामपि तुल्यदृष्टेर्धत्से दमं फलमेवानुशंसन् ॥३३॥

अयं मारणलक्षणो दण्डो न्यायादनपेतः. ईश्वरो हि त्रिविधदण्डं करोति– न्याय्यं न्यूनमधिकं च. प्रसादमर्यादेश्वरत्वधर्मास्तत्र प्रयोजकाः. तत्रायं **न्याय्यः. कृतं किल्बिषं** पापं येन, अनेन बहव एव विहिंसिता इत्येतद्धिंसाप्युचितैव. ननु पापे दण्डधरो यमोस्ति, मया कथं स कर्तव्य इति चेत्, तत्राहुस्**तवावतारः खलनिग्रहाये**ति.

प्रकाशः

स्वस्य चेत्यर्थः. तावत्तावच्छ्लोकैस्तत्तत्स्तुतिकरणे हेतुमाहुर्**भगवानि**त्यादि. **पतिः** कालीयः (१० $\frac{१}{२}$). **न्याय्य** इत्यत्र **प्रसादमर्या**देति. क्रमोत्र न विवक्षित इति यथासम्भवं योज्यम् ॥३३॥

लेखः

अवतारः खलनिग्रहायेत्युक्तत्वाद् दण्डे हेतुः स्वरूपमेव, तच्च **षड्गुणमि**ति **दण्डानुमोदनं षड्भिरुक्तम्. तासु दशधे**ति प्रकट इति शेषः; दशलीलाविशिष्टस्तासां हृदये प्रकट इति **नमनं दशभिः.** प्रार्थनीयः पतिः, भगवति पतित्वं पञ्चधा, पञ्चानां पतिरितियावत्– "श्रियः पतिर्यज्ञपतिः प्रजापतिर्धियां पतिर्लोकपतिरि"ति. धराया अपि लोकत्वमभिप्रेत्य पञ्चधैवोक्तः. अत एव सङ्ग्रहकारिकायां "स्त्रीभिश्च

कारिकार्थः

योनिकारणीभूतं सहजं पापमेकं, द्वितीयं च प्रत्यहं क्रियमाणमज्ञानरूपं, तृतीयो भगवद्विषयकोऽपराधः –एवं त्रयाणामपि **नाशिका** त्रिविधा **स्तुतिरि**ति सङ्ख्यातात्पर्यम्. **भगवानि**ति. "अवतारः खलनिग्रहाये"त्युक्तत्वाद् दण्डे हेतुः स्वरूपमेव, तच्च षड्गुणमिति **दण्डानुमोदनं षड्भिरुक्तम्. तासु दशधे**ति प्रकट इति शेषः; दशलीलाविशिष्टस्तासां हृदये प्रकट इति **नमनं दशभिः. पञ्चधा पतिरि**ति, तदुक्तं द्वितीयस्कन्धचतुर्थाध्याये– प्रार्थनीयः पतिः, भगवति पतित्वं पञ्चधा "श्रियः पतिर्यज्ञपतिः प्रजापतिर्धियां पतिर्लोकपतिरि"ति, धराया अपि लोकत्वमभिप्रेत्य पञ्चधैवोक्तः. अतः **प्रार्थना पञ्चभिः** कृतेत्यर्थः (९-१०).

खला हि निरन्तरं दोषकर्तारो बहुजीविनश्च. मरणानन्तरमेव यमोऽधिकारी; तावत्पर्यन्तमुपेक्षायां सर्वनाश एव स्यात्. अतः खलानां निग्रहार्थमेव भगवान् मध्येवतीर्णः. ननु तथापि कश्यपपुत्रोयं शेषभ्राता कथं दण्ड्य इति चेत्, तत्राहू **रिपोः सुतानामपि तुल्यदृष्टेरि**ति. न ह्यवतीर्णः सम्बन्धमपेक्षते, दण्डार्थमेव ह्यवताराद्. रिपोः सुतानां स्वसुतानां च सम्बन्धिनी तद्विषयिका भगवतस्तुल्यैव दृष्टिः, अन्यथाकरणे वैषम्यं स्यात्. रिपोः सम्बन्धिनी सुतसम्बन्धिनी वा सप्तम्यर्थे वा षष्ठी. किञ्च भगवान् दण्डं न पीडार्थं करोति, तथा सत्यात्मत्वं भज्येताद्यत्वं च, किन्तु भगवान् पुत्रमिव तस्याग्रे सत्फलमेवानुशंसन् दमं करोति. तदाह **धत्से दमं फलमेवानुशंसन्नि**ति. अतोस्याग्रे फलं भविष्यतीति दण्डेन विनिश्चितम् ॥३३॥

एवं भगवत्कृतस्य दण्डत्वमङ्गीकृत्येदानीं दण्ड एवायं न भवति किन्त्वनुग्रह एवेत्याहुर्**अनुग्रह** इति.

अनुग्रहोयं भवता कृतोहिनो दण्डोऽसतां ते खलु कल्मषापहः ।
यद् दन्दशूकत्वममुष्य देहिनः क्रोधोपि तेऽनुग्रह एव सम्मतः ॥३४॥

भवतायमनुग्रह एव **कृतः. अहिनो**ऽहेः, अप्रयोजकत्वान्नपुंसकत्वं, ततो नुम्. अतो वाऽ**नुग्रहः, अहीनो** वाऽ**नुग्रहः.** ननु दुःखात्मकस्यास्य कथमनुग्रहरूपत्वम्? तत्राहुर्**दण्डोऽसतां खलु कल्मषापह** इति. दण्डो भगवानिति भारते व्यवस्थापितम्, अतः क्लेशरूपोपि तपोवद् यागवद् दण्डोपि कल्मषनाशक इत्यनुग्रह एव. ननु पापस्य

प्रकाशः

अनुग्रहोयमित्यत्राङ्गीकृत्य उक्तमिति शेषः. **अतो वानुग्रह** इति नपुंसकत्वादनुग्रहः. यद्वान्यस्य दण्डो दुःखरूप एवैतस्य त्वहित्वान्निकृष्टदेहस्य दमनमनुग्रह एवेत्यर्थः. **अहिन** इत्यत्र वर्णविकृतिमङ्गीकृत्य पक्षान्तरमाहु**रहीनो वानुग्रह** इति. अहिनूशब्दस्याहीनवाचकत्वं शब्दभेदाख्यकोशे स्फुटमित्यपि. तथा च दण्ड्यस्य नानुग्रह

लेखः

याज्ञिकैर्लोकैर्बुद्धिमद्भिः स्थितैः क्वचिद् असाधनैरपि ह्येतैः प्रार्थनीयो हरिः पतिरि"ति पञ्चानामेव पतिरुक्तः, अतः **प्रार्थना पञ्चभिः** कृतेत्यर्थः. **न्याय्यो हीति** अस्य न्याय्यत्वसमर्थनाय दण्डत्रयं विवृण्वन्ति **ईश्वरो हि** इति, राजादिरित्यर्थः. **रिपोरि**त्यत्र प्रथमपक्षे स्वसुतानामित्यध्याहारो भवतीति द्वितीयः पक्षः, उभयत्रापि सम्बन्धमात्रप्रतीत्या विषयताबोधो न स्वारस्येन भवतीति तृतीयः पक्ष उक्तः ॥३३॥

अनुग्रह इत्यत्र **खल्वि**त्यस्यार्थमाहुः **दण्डो भगवानितीति. अतः क्लेशरूपोपीति,** दण्डस्य भगवत्त्वात् क्लेशजनकोपि दण्डः कल्मषनाशकः, यथा क्लेशजनकमपि तपः

प्रत्यहं जायमानस्य दीपेनान्धकारस्येव निवृत्तिरप्यप्रयोजिकान्यथा दुःखनिवारणार्थं कोपि पापं न कुर्याद्, दण्डापेक्षया पूर्वदुःखस्यैवाल्पत्वादत आह **यद् दन्दशूकत्वमि**ति. आदावसत्त्वप्रतिपादकत्वं तस्योक्तमेव, तद्गमनेन सत्त्वं भवतीति च सिद्धं, **दन्दशूकत्वं** सर्पत्वमपि जातं; तदपि गच्छति चेद् दन्दशूकत्वमपि गच्छेत्. ततो **देहिन** इतिशब्दाद् देहसम्बन्धस्तदभिमानश्च गच्छेत्. अतो बह्वर्थसाधकदण्डस्य हेतुभूतः **क्रोधोप्यनुग्रह एव.** न केवलं युक्तिमात्रं किन्तु **सम्मतः** सतां मतः सर्वाविप्रतिपन्नरूपः. अतो **दण्डो** दण्डहेतुः **क्रोधश्चानुग्रह एव** ॥३४॥

प्रकाशः

इति भावः. **आदावि**ति पूर्वार्धे. **दुःखस्यैवे**ति कामादिकृतदुःखस्यैव. श्रीधरीये **'हि न'** इतिपदद्वयं कृत्वा व्याख्यातं तच्चिन्त्यं, **न** इत्यस्य नागपत्नीवाचकत्वे तासु दण्डस्य तदनुग्रहताया वक्तुमशक्यत्वान्न इत्यस्य कालीयपरत्वे लक्षणापत्तेश्चेत्यादिदोषात्. पूर्वं **तस्योक्तमि**ति पापस्योक्तम्. दण्डस्य तद्धेतुभूतक्रोधस्य चानुग्रहत्वं व्युत्पादयन्ति **सिद्धमि**त्यादि. **तदपी**ति पापमिति ॥३४॥

लेखः

"तपो मे हृदयमि"तिवाक्येन भगवत्त्वात् कल्मषनाशकं तथेति. ननु दण्डनलक्षण-कर्मरूपस्यास्य कथं पापकर्मनाशकत्वं, कर्मणः कर्मानाशकत्वस्य निबन्धे व्यवस्थापितत्वाद्, अत आहु**र्दण्डोपी**ति, दण्डनलक्षणकर्मरूपोपीत्यर्थः. **यागवदि**ति, यथा यागः कर्मरूपोपि "तरति ब्रह्महत्यामि"तिश्रुत्युक्तत्वात् कर्मनाशकः तथायमपि भगवत्त्वात् तथेत्यर्थः. उत्तरार्धस्याभासमाहुः **नन्वि**ति. यथा **दीपेनान्धकार**निवृत्तावप्यन्धकारकारणीभूताया रात्रेर्विद्यमानत्वाद् दीपे निवृत्तेऽन्धकारस्तिष्ठेदेव तथा **प्रत्यहं जायमानस्य पापस्य** दण्डेन निवृत्तावपि तत्कारणीभूतस्य दन्दशूकत्वजनकपापस्य विद्यमानत्वाद् दण्डे निवृत्ते पापं तिष्ठेदेवेति तादृशी **निवृत्ति**र्मूलभूतपापस्याभावं **प्रत्यप्रयोजिके**त्यर्थः. **अन्यथे**ति तादृशनिवृत्त्यैव मूलभूतपापनिवृत्तौ **दण्डापेक्षया पूर्वदुःखस्याल्पत्वं** ज्ञात्वा कामादिजनितदुःखनिवृत्त्यर्थं **पापं न कुर्यात्.** अतस्तथा ज्ञात्वापि मूलभूतपापवशात् पापं करोतीति भावः. **यद् दन्दशूकत्वमि**ति– यस्मात् कल्मषाद् दन्दशूकत्वं जातं तादृशकल्मषापह इत्यर्थः. **आदावि**ति, पापस्यासद्योनि-जनकत्वं पूर्व**मुक्तमेव,** तदा **तद्गमनेन सत्त्वं भवतीति च सिद्धमे**व जातमित्यर्थः. **जातमि**ति यस्मात् कल्मषादिति शेषः. **तदपी**ति सर्पयोनिहेतुभूतकल्मषमपीत्यर्थः. अत्र सहेतुकदण्डस्यानुग्रहत्वं वाक्यार्थ इत्युपसंहाराद् ज्ञेयम्, आश्चर्यं वाक्यार्थोऽग्रिमश्लोके आभासेन निरूपितः ॥३४॥

किञ्चास्तां दण्डप्रसादवार्ता, एकमत्यन्तमाश्चर्यं प्रतिभाति यदस्मिन् नृत्यं कृतवानिति. तत्र हेतुं न जानीम इत्याहु**स्तपः सुतप्तमि**ति.

तपः सुतप्तं किमनेन पूर्वं निरस्तमानेन च मानदेन ।
धर्मोथ वा सर्वजनानुकम्पया यतो भवांस्तुष्यति सर्वजीवः ॥३५॥

धर्मो द्विविधः– प्रवृत्तिलक्षणो निवृत्तिलक्षणश्च. तत्र निवृत्तिलक्षणो धर्मस्तपो, विद्यमानस्यैवासत्सम्बन्धस्य त्याजकत्वात्. अत एव "यदा वै दीक्षितः कृशो भवत्यथ मेध्यो भवती"त्यादिवाक्यानि. सम्पादकस्तु प्रवृत्तिलक्षणो धर्म इत्युच्यते. एकस्तु दोषनिवृत्त्या विद्यमानमेव फलं प्रकटीकरोत्यपरस्तु दोषचिन्तां परित्यज्यागन्तुकं फलं साधयति. भगवांस्त्वात्मा ईश्वरश्च ज्ञानप्रसादो भक्तिप्रसादश्च. तत्राद्ये पक्षे

प्रकाशः

तपः सुतप्तमित्यत्र. ननु ज्ञायत एव नृत्यकरणे हेतुर्धर्म इत्याशङ्कायां धर्मस्वरूपं भगवत्स्वरूपं च विचारयन्ति **धर्म** इत्यादिना. **विद्यमानस्ये**ति शरीरे विद्यमानस्य. **सम्पादक** इति फलसम्पादकः. **विद्यमानम्** इत्यात्मलाभरूपम्. धर्मद्वयेनापि भगवत्तोषाभावे हेतुमाहु**र्भगवांस्त्वि**त्यादि. **भगवांस्त्वात्मा** व्यापक इति **ज्ञानेन प्रसादो** यस्य तादृशः, किञ्चे**श्वरो** नियामकश्चेति **भक्त्या प्रसादो** यस्य तादृशः. तथा च ज्ञानाभावे तपसा न तुष्यति, "न च प्रमादात् तपसो वाप्यलिङ्गादि"ति "ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्त्वस्ततस्तु तं पश्यते निष्कलं ध्यायमान" इत्यादिश्रुतेर्भक्त्यभावे धर्मान्तरेणापि न तुष्यति, "नाहं वेदैरि"ति "नालं द्विजत्वमि"त्याद्युपक्रम्य "प्रीयते-

लेखः

तपः सुतप्तमित्यत्र एतत्तपोधर्मयोर्लोकोत्तरत्वं निरूपयितुं लोकसिद्धे ते निरूपयन्ति **धर्मो द्विविध** इत्यादिना. **विद्यमानस्यैवे**ति, न त्वविद्यमानफलसम्पादक इत्येवकारः. **असत्सम्बन्धस्ये**ति स्त्रीपुत्रादिभिः सम्बन्धस्येत्यर्थः. **एकस्त्वि**ति निवृत्तिलक्षणो धर्मः असत्सम्बन्धं निवर्त्य **विद्यमानमेवा**त्मरूपं **फलं** प्रयच्छति. प्रवृत्तिलक्षणस्तु दोषमनिवर्त्यैवाविद्यमानं स्वर्गादिकं प्रयच्छति. अत्र जातस्य भगवत्तोषरूपफलस्योभयविधत्वं निरूपयन्ति **भगवांस्त्वि**ति. तुशब्देन फलान्तरस्योभयविधत्वं निवारितम्. **आत्म**त्वाद् विद्यमानफलरूपं **ज्ञानं प्रसादो** यस्य तादृशः, **ईश्वर**त्वादविद्यमानफलरूपा **भक्तिः प्रसादो** यस्य तादृशः. तथा च तपोधर्मयोर्भगवत्तोषं जनयित्वैव तदुभयजनकत्वात् तपोधर्माभ्यां तत्सम्बन्धः सम्भवति, तथापि लोकसिद्धतपसोऽभिमानरूपदोषसहितत्वात् तन्न सम्भवति, अतो लोकोत्तरं किं तप

तपसा ये दूरीकर्तुमशक्या दोषास्तेषु विद्यमानेषु तपसा न निवृत्तिः सम्पादयितुं शक्या. स दोषस्त्वहङ्कारात्मकः, यस्तपसा न गच्छति प्रत्यु'ताहं तपस्वी'त्यधिकएवाहङ्कारो भवति. तदर्थमाह **किंवानेन** लोकोत्तरं **तपस्तप्तमि**ति येन **भवान्** परमात्मा **तुष्यति?** तोषान्यथानुपपत्त्या तादृशमपि तपोऽस्तीति कल्प्यते. तत्रापि **सुतप्तं** देशकालादिसाधनानि सम्यग् जातानि प्रकारश्च, अन्यथा षड्गुणो भगवान् न तुष्येत्. **परं** दोषान्तरनिराकरणार्थं धर्मद्वयमपेक्षते, तदाह **निरस्तमानेन च मानदेने**ति. स्वयं निरभिमानो महानप्यन्यस्मै हीनायापि मानं प्रयच्छति. तदाह स्वकृतः परकृतश्चाभिमानौ गच्छतः. यद्यप्यस्य पक्षस्य तोषजनकत्वमस्ति तथापि यावता भगवान् नृत्यति तावत्तोषजनकत्वं न भवतीति पक्षान्तरमाह **धर्मोथ वे**ति. प्रथमपक्षे बहिस्तोषरूपनृत्यहेतुत्वं नोपपद्यतेऽत उभयमप्यपेक्षितं, वाशब्दः समुच्चये. **वा**शब्दप्रयोगाच्चैवं ज्ञायते– तपो निवृत्तिलक्षणो, धर्मोस्तु न वा, बहिस्तोषहेतुरवश्यमपेक्ष्यते. **अथे**ति भिन्नप्रक्रमे. तेन धर्मशास्त्रानुसारेण धर्मो नैतादृशं फलं साधयति किन्तु भगवच्छास्त्रा-

---

प्रकाशः

मलया भक्त्ये"त्यादिवाक्यैः. तदेतत् स्फुटीकुर्वन्ति **तत्राद्ये पक्ष** इत्यादि. **किमि**ति विकल्पे. **अन्यथे**ति देशादिषडङ्गाभावे. तत्रापि विशेषमाहुः **परमि**त्यादि. तथा च यद्यपेक्षितं धर्मद्वयमस्मिन् स्यात् तदेदानीमप्ययं तादृशस्वभावः स्यात्, तदभावाच्च तादृशं साधनमनेन न कृतमित्यवसीयत इत्यर्थः. एवं सामान्यतपःपक्षस्य तोषहेतुत्वं नृत्याहेतुत्वं च साधयित्वा द्वितीयपक्षस्य तथात्वं साधयन्ति **यद्यपी**त्यादि. **तत्रापी**ति

लेखः

इत्याश्चर्यम्. धर्मोपि. **योनिजीवस्वभावकर्मणां विरुद्धत्वात्** कथमस्य सम्पन्न **इत्याश्चर्यमु**पसंहारे वक्ष्यते. **तत्राद्ये पक्ष** इति तपसा भगवत्परितोषपक्ष इत्यर्थः. **न निवृत्तिरि**ति असत्सम्बन्धस्येत्यर्थः. **स दोष** इति तपसा दूरीकर्तुमशक्य इत्यर्थः. **प्रत्युते**ति तपसि जाते प्रवर्धतेऽपीत्यर्थः. **देशे**त्यादि– सुइत्यस्याक्षरार्थोयं, निर्दुष्टं षड्गुणं जातमित्यर्थः. **भवत्**पदस्य भागवते भगवानर्थः, तदर्थः **षड्गुण** इति तादृशो भगवान् षड्गुणेनैव तपसा तुष्यति. तपसः षड्गुणत्वं द्वितीयस्कन्धे विवृतम्. **दोषान्तरे**ति, विषयाभिलाषया चित्तवैयग्र्यस्यान्तरदोषस्येत्यर्थः. **निरभिमान** इति गतदेहाभिमान इत्यर्थः. तेन शीतादिकालधर्मैश्चित्तवैयग्र्यं न भवति. अन्यस्मै मानदानेन च तत्कृतप्रतिबन्धाभावात् चित्तवैयग्र्यं न भवति. पूर्वोक्तोहङ्कारस्तु 'अहं तपस्वी महानि'त्याकारको ज्ञेयः. **परकृत** इति 'अहं ब्राह्मणः कथमन्यस्य सन्मानन

नुसारेणैव. तत्राप्येको दोषः परिहरणीयः– द्रव्यमयश्चेत् परोपद्रवकारी क्रियामयश्चेदात्मोपद्रवकारी ज्ञानमयश्च तथा, अयमेवापरितोषस्तपसि. अतस्तद्दोषपरिहारार्थमाह **सर्वजनानुकम्पये**ति. सर्वजनेषु यानुकम्पा, यत्र स्वपरद्रोहसम्भावना नास्ति, भगवच्छ्रवणकीर्तनादौ, तत्रापि कीर्तने. ननु भगवत्तोषहेतुषु परिचर्यादिरूपेषु भगवद्धर्मेषु सत्सु कथमयमेव सर्वोपकारी धर्मस्तोषहेतुरिति चेत्, तत्राह **सर्वजीव** इति. सर्वान् जीवयतीति **सर्वजीवः**, सर्वे वा जीवा यस्मादिति वा, सर्वेषां जीवात्मरूपो वा. अतः सर्वोपकारिणि धर्मे तोष उचितः, **यतो** भगवान् **सर्वजीवः**. अनेनैवापराधाभावोपि सूचितः. योनिजीवस्वभावकर्मणां विरुद्धत्वादाश्चर्यम् ॥३५॥

किञ्चास्तामिदमाश्चर्यम्, इतोप्यधिकमाश्चर्यमस्तीत्याहुः **कस्ये**ति.

कस्यानुभावोस्य न देव विद्महे तवाङ्घ्रिरेणुस्पर्शाधिकारः ।
यद्वाञ्छया श्रीर्ललनाचरत् तपो विहाय कामान् सुचिरं धृतव्रता ॥३६॥

भगवच्चरणारविन्दरेणवो भगवदीयदेहसम्पादका इति पूर्वमवोचाम. तादृशानां सम्बन्धोऽस्य च जातस्तेन ज्ञायते भगवदीयदेहं प्राप्स्यतीति. परं येषामेव कोटिजन्मोपार्जितत्रिविधधर्मसंस्कृतभूतानि तेषामेव देहं सम्पादयन्तीति मर्यादया

प्रकाशः

भगवच्छास्त्रीये यज्ञादिरूपे धर्मे. **तत्रापि कीर्तनमि**त्यन्यापेक्षाराहित्याच्च स्वतोपेक्षाराहित्याच्च स्वपरद्रोहरहितमित्यर्थः. **अनेनैवे**त्यात्मत्वेनैव ॥३५॥

कस्यानुभाव इत्यत्राधिकारहेत्वज्ञानं व्युत्पादयन्ति **तादृशानामि**त्यादि. एवं फलानुमाने कुतो हेत्वज्ञानमित्यत आहुः **परमि**त्यादि. **तेषां** भगवदीयाना**मेव कोटिजन्मार्जित**श्रौतस्मार्तभगवदीय**धर्मसंस्कृतभूतानि** भगवदीयजीवानामेव **देहं सम्पादयन्तीति** मार्यादिकी **व्यवस्था.** तथा चैतस्य पूर्वं भगवदीयत्वं नावगतमिति

लेखः

करोमी'त्याकारको ब्राह्मण्यादिधर्मकृत इत्यर्थः. **धर्मोथवे**त्यत्र**थ वा** इत्यव्ययद्वयं ज्ञेयम्. **एको दोष** इति उपद्रवकारित्वरूपो दोष इत्यर्थः. **अयमेवे**ति, नृत्यावधितोषाजनकत्वरूपः पूर्वमुक्तोपि मुख्योऽ**यमेवे**त्ये**व**कारेण स व्यावर्त्यते. **तपसी**ति विषयसप्तमी, तपोविषयक इत्यर्थः. **तत्रापी**ति. द्रोहाभाव उभयत्रापि परन्तु कीर्तने लोकानुग्रहोपि सिध्येदिति भावः ॥३५॥

कस्येति श्लोकत्रयेपि पूर्वोक्तादधिकमाश्चर्यमेव वाक्यार्थ इति आभासे **किञ्चे**ति समुच्चय उक्तः. **कस्ये**त्यत्र **अनुभाव**पदार्थं विवृण्वन्ति **भगवच्चरणारविन्दरेणव**

व्यवस्था. साधारणसंस्कारपक्षे तूपपत्तिः सम्भवति. तत्रापि हेतुः कश्चन वक्तव्यः. स च क्रियारूपो न भवति, अधिकारिणामेव तथात्वसम्पादकत्वात्. अलौकिकस्तु भवति. स लोकेऽनुभावो न सिद्धः. ततो**ऽस्यापि कस्यचिदनुभावोस्ती**ति ज्ञायते, परं स सम्बन्धी न निर्णीतस्तस्यानुभावस्य प्रयोजनमाहु**स्तवाङ्घ्रिरेणुस्पर्शाधिकार** इति. तवाङ्घ्रिरेणूनां स्पर्शेऽधिकारो येन गुणातीता एव हि जीवास्तदधिकारिणो न तु

प्रकाशः

न मार्यादिक्या व्यवस्थया हेतुज्ञानम्. **साधारणसंस्कारपक्षे तु** त इच्छयैवाधिकार इत्यु**पपत्तिः सम्भवति** परमिच्छायामपि कश्चिद्धेतु**र्वक्तव्य**स्तत्र **क्रियारूप**स्य हेतोरुक्तरीत्यासम्भवा**दलौकिकोनुभावो** वा वक्तव्यः. **स लोके न सिद्ध** इति कार्यबला**दनुभावोस्तीति ज्ञायते परम**नुभाव**सम्बन्धी न निर्णीत** इत्यतो हेत्वज्ञानम्. तथा च चरणरेणुस्पर्शरूपकार्यदर्शनबलादस्याधिकारस्तद्धेतुश्च कश्चिदस्तीति सामान्यतो

लेखः

इत्यारभ्य **ज्ञायत** इत्यन्तेन. **अस्य चे**ति, भगवदीयानां जायत एव अस्यापि जात इति **च**कारः. **परमि**ति. सम्बन्धो जातस्तेन तत्प्राप्तिश्च भविष्यति **परमे**वं व्यवस्थापक्षे असम्भावितमित्यर्थः. **तेषामि**ति येषां रेणुसम्बन्धो जातः. **त्रिविधे**ति, अग्रिमश्लोके विवृतं सात्त्विकादित्रैविध्यमत्रापि ज्ञेयं; त्रिविधधर्मसंस्कृतरेणुसम्बन्धे त्रिविधधर्मफलं न वाञ्छन्तीति द्वयोः सङ्गतिः. **भूतानी**ति चरणस्थितानि रेण्वादीनीत्यर्थः. **साधारणे**ति. तदुपार्जितत्वं विशेषः पूर्वमुक्तः;[1] धर्ममात्रसंस्कृतानि रेण्वादीनि तादृशं देहं जनयन्तीति पक्षे इत्यर्थः. **तत्रापी**ति रेणुभिस्तादृशफलोपपत्तावपि रेणुसम्बन्धे **हेतुर्वक्तव्य** इत्यर्थः. धर्मे हेतुरुक्तः स त्वत्र तु न सम्भवतीत्याहुः **स चे**ति. **अलौकिकस्त्व**ति अनुभावस्तु हेतुर्भवतीत्यर्थः. अनुभावस्यालौकिकत्वं व्युत्पादयन्ति **स लोके** इति, लोकासिद्धत्वादलौकिक इत्यर्थः. **तत** इति अनुभावस्य हेतुत्वसम्भवादित्यर्थः[2]. **प्रयोजनमि**ति फलमित्यर्थः. समासमाहु**रङ्घ्री**ति. **येनाधिकारो** जातस्तादृशोनुभाव इत्यर्थः. अनधिकारिण्यधिकारसम्पादनमाश्चर्यमित्यर्थः. एतत्समर्थनार्थम् अधिकाराभावमुत्तरार्धाभासेनाहुः **गुणातीता एवे**ति. **हि** यत इत्यर्थः. **तस्याश्चे**दिति,

---

१. अत्र "अतोन्यापि ह्येकेषामुभयोरितिन्यायेन पुष्टिमार्गीयेषु सौहार्दकरणे तत्साधुकर्मणः प्राप्तौ तद्धर्मेणापि संस्कृतानि रेण्वादीनि" इत्यादिकं यदादर्शद्वयेपि दृश्यते तत् केनचित् प्रक्षिप्तमिति भाति.
२. "हेतुत्वसम्भवात् कस्मिंश्चिन्महापुरुषेनेन सौहार्दं कृतं तदनुभावोस्मिन् सम्प्राप्त इत्यर्थः" इति आदर्शद्वये अस्ति तत् पश्चात् प्रक्षिप्तमिति प्रतिभाति.

सगुणाः कथञ्चन, यतो महद्भिरपि सगुणैर्जीवैस्तन्न प्राप्यत इत्याह **यद्वाञ्छये**ति. **श्रीः** सात्त्विकी भगवच्छक्तिः, तस्याश्चेन्नाधिकारो ब्रह्मरुद्रयोस्तत्सम्बन्धिनां च सुतरामेव नाधिकारः. ब्रह्मानन्दरूपापि सा भवतीति तद्व्यावृत्त्यर्थमाह **ललने**ति, या श्रीः स्त्रीरूपा शक्तिरूपेति यावत्. अनेन भगवतोऽन्तरङ्गदासीभूता निरूपिता; सापि **तपः** करोति दास्यसिद्ध्यर्थं तथापि न प्राप्तवती. त्रितयमेवैतत्स्थानमिति सर्वप्रसिद्धिः, न तु चरणौ. न च वक्तव्यं स्त्रीभावेन भोगेच्छा तत्र प्रतिबन्धिकेतीत्याह **विहाय कामानि**ति– सर्वानेवान्तःकरणाभिलाषरूपान् धर्मान् परित्यज्य तपः करोति. न च वक्तव्यं दीर्घकालादरनैरन्तर्याभावस्तस्या इति, तत्राहुः **सुचिरं धृतव्रते**ति. आदरनैरन्तर्ये व्रताभिनिवेशात् जायेते. एवं साधनविचारेण रेणूनामुत्कृष्टत्वमुक्त्वा तत्स्पर्शायोग्यत्वमस्य समर्थितम् ॥३६॥

इदानीं फलविचारेणापि माहात्म्यं वदन्त्यस्तथात्वमाहु**र्न नाकपृष्ठमि**ति.

न नाकपृष्ठं न च सार्वभौमं न पारमेष्ठ्यं न रसाधिपत्यम् ।
न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा वाञ्छन्ति यत्पादरजःप्रपन्नाः ॥३७॥

लोके ह्येतावन्ति फलानि त्रिविधधर्मसाध्यानि. तत्र सात्त्विकधर्मसाध्यः स्वर्गो **नाकपृष्ठा**त्मको यत्रेन्द्रादयो निवसन्ति. राजसधर्मसाध्यं **सार्वभौमं** सर्वस्या

प्रकाशः

ज्ञायते, न तु विशेषतोऽयमेवेति निर्णेतुं शक्यत इतीदमाश्चर्यमेवेत्यर्थः. **त्रितयमि**ति गुणत्रयम् ॥३६॥

न नाकपृष्ठमित्यत्राभासे **तथात्वमि**ति चरणरेणुस्पर्शायोग्यत्वम्. **सर्वसाध्य**इति

लेखः

सगुणानां निरूपणीयत्वात् ब्रह्मरुद्रावपि निरूपणीयाविति कैमुतिकन्यायेन तन्निरूपणमुक्तम्. **ब्रह्मानन्दे**ति, सा तु गुणातीतैवेति भावः. **स्त्रीरूपे**ति विष्णोः सत्त्वाधिष्ठातुः स्त्रीत्यर्थः. **त्रितयमि**ति सगुणमित्यर्थः. **न तु चरणावि**ति, भगवच्चरणयोर्गुणातीतत्वादिति भावः. सगुणेषु कामकामेष्वेव सा तिष्ठति न तु गुणातीतचरणाश्रितेषु भक्तेषु, "तं भजन् निर्गुणो भवेदि"त्यादिवाक्यैरिति भावः. ब्रह्मानन्दरूपा तु व्यावृत्तैव. **दीर्घे**ति– दीर्घकालः आदरः नैरन्तर्यं च, तेषामभाव इत्यर्थः. **एवमि**ति. अस्मिन् श्लोके वाक्यार्थोयम्, आभासे तु श्लोकत्रयस्योक्त इति ज्ञेयम् ॥३६॥

यत्पादरज इत्यत्र **यदि**ति द्वितीयान्तं पादरजसो विशेषणं, न तु समासः. **प्रपत्तिः** शरणागतिः ॥३७॥

अपि भूमेराधिपत्यम्. ज्ञानसहितसात्त्विकराजसोभयधर्मसाध्यं **पारमेष्ठ्यं** ब्रह्मस्थानम्. तामसधर्मसाध्यं **रसाधिपत्यं,** निवृत्तिधर्मसाध्यो **योगः,** **सिद्धयश्चा**णिमादयो ध्यानादिसाध्याः, **अपुनर्भवो** मोक्षः स सर्वसाध्यः —एतावन्ति फलानि. **वा**शब्देनानुक्तसर्वसमुच्चयोऽनादरश्च सूच्यते. एतानि सर्वाण्येव फलानि **यत्पादरजःप्रपन्ना न वाञ्छन्ति—** रजःप्राप्तौ तु न वाञ्छन्तीति किं वाच्यम्, रजःप्रपन्ना एव यत्र न वाञ्छन्ति ॥३७॥

एवं रजसो महाफलत्वं निरूप्य तदनेन प्राप्तमित्यस्य भाग्यमभिनन्दन्ति **तदेष** इति.

तदेष नाथाप दुरापमन्यैस्तमोजनिः क्रोधवशोप्यहीशः ।
संसारचक्रे भ्रमतः शरीरिणो यदिच्छतः स्याद् विभवः समक्षः ॥३८॥

नाथेति सम्बोधनेनोपपत्तिरुक्ता. **अन्यैर्दुरापमप्ययमाप** प्राप्तवान्. अस्यानधिकारधर्मानाह **तमोजनिरि**त्यादिभिः. केवलतमसैव जनिर्जन्म यस्य, अनेन मूलाशुद्धिरुक्ता, **क्रोधवश** इति कार्याशुद्धिः. **अहीश** इति संसर्गाशुद्धिरुक्ता, **ईश**पदेनान्यकृतपापसम्बन्धोप्युक्तः. एवं सर्वदोषनिधानस्य सर्वोत्कृष्टदुर्लभफलप्राप्तिः केवलं भगवदिच्छयेत्याहुः **संसारचक्र** इति. यादृच्छिकमिदं फलं भगवदिच्छयैव भवतीति निर्णीयते. चक्रे हि पतितः सर्वत्र परिभ्रमति. स भगवच्चरणेप्यायाति भगवति समागतेऽतो न कोपि हेतुः कर्मादिः, किन्तु **यदिच्छतो** यस्य चरणारविन्दरेणोरिच्छत इच्छां कुर्वतः पुरुषस्य साधनरहितस्यापि **विभव** उत्कृष्टफलं कदाचित् **समक्षो** भवति प्रत्यक्षो भवति. **यदृच्छत** इतिपाठे यदृच्छातोऽकस्माद् भगवदिच्छया वा ॥३८॥

एवं चरणस्पर्शभगवत्तोषादिलक्षणं तस्य भाग्यमभिनन्द्य तत्सम्बन्धात् स्वयमपि भगवन्नमस्काराधिकारिण्य इति नमस्यन्ति **नमस्तुभ्यमि**ति दशभिः—

दशरूपाणि तु हरेर्मूलरूपः स्वशाश्वतः ॥(११)॥

प्रकाशः

सर्वभावसाध्यः सर्वत्र ब्रह्मबुद्ध्या सर्वहितकृत्या च साध्य इत्यर्थः ॥३७॥

नतितात्पर्योक्तौ. ननु वेदे ब्रह्मणः कर्मब्रह्मभेदेन द्विरूपत्वात् तन्त्रे च चतूरूपत्वाद् द्वयेन चतुर्भ्यो(र्भिः!) वा नमस्कार उचितो न तु दशभिस्तदधिकरूपानु-

लेखः

संसारचक्र इत्यत्र **यस्येति इच्छां कुर्वत** इत्यनेन सहान्वयात् षष्ठ्यन्तमुक्तं, मूले तु द्वितीयान्तमेव ॥३८॥

वेदान्तवेद्यरूपश्च जगद्रूपस्तथैव च ।
सङ्घातजीवरूपश्च नानारूपश्च शाश्वतः ॥(१२)॥
एवं प्रमेयरूपाणि पञ्चधोक्तानि वै हरेः ।
वेदार्थरूपस्तन्त्रार्थो गुणार्थो ह्यवतारकृत् ॥(१३)॥
अन्तर्यामी च भगवान् दशधोक्तः स्वलीलया ॥

प्रकाशः

पलम्भादितिशङ्कायां तत्करणतात्पर्यमाहु**र्दशरूपाणि त्वि**त्यादि. **तु**शब्दः पक्षं व्यावर्तयति. तथा च श्रीभागवतानुसारेण तच्छास्त्रानुसारेण च दशरूपाणां सत्त्वात् तथेति न दोष इति भावः. तत्तच्छ्लोकप्रतिपाद्यस्वरूपं क्रमेणाहु**र्मूलरूप** इत्यादि.

लेखः

एवमिति चरणस्पर्शस्तत्तोषश्चाश्चर्यमिति पूर्वमुपक्रान्तः श्लोकत्रयार्थोऽत्रोपसंहृतः. कारिकासु **वेदार्थरूप** इति वेदरूपोऽर्थरूपश्चेत्यर्थः. **तन्त्रार्थ** इति तन्त्रप्रतिपाद्य इत्यर्थः. **गुणार्थ** इति गुणानां वस्तुरूप इत्यर्थः. **अवतारकृ**दिति, "आद्योवतारः पुरुषः परस्ये"तिवाक्यात् तत्रावतरणकृदित्यर्थः. **अन्तर्यामी चे**ति **च**कारेण

योजना

नमस्तुभ्यमित्यादिदशश्लोकार्थनिरूपककारिकासु **मूलरूप** इति "नमस्तुभ्यमि"तिश्लोके **भगवत्**पदोपादानात् **परमात्म**पदोपादानाच्च. **वेदान्तवेद्य** इति "ज्ञानविज्ञाननिधये" इतिश्लोके **ब्रह्म**पदा**नन्तशक्ति**पदोपादानात्. **जगद्रूपे**ति "कालाये"ति श्लोके **विश्वाये**तिपदोपादानात्. **सङ्घातजीवरूप** इति "भूतमात्रेन्द्रिये"तिश्लोके **भूतमात्रेन्द्रिये**त्यादिपदोपादानात्. **नानारूप** इति "नमोऽनन्ताये"तिश्लोके **अनन्ताये**तिपदोपादानात्. **वेदार्थरूप** इति "नमः प्रमाणमूलाये"तिश्लोके **प्रमाणमूला**दिपदोपादानात्. **तन्त्रार्थ** इति "नमः कृष्णाये"तिश्लोके व्यूहसहितपुरुषोत्तमनिरूपणात्. तथा हि— 'रामाये'त्यनेन सङ्कर्षण उक्तः, 'वसुदेवसुताये'त्यनेन वासुदेवः, 'प्रद्युम्नानिरुद्ध'पदाभ्यां तावेव, 'कृष्ण'पदेन सच्चिदानन्दः पुरुषोत्तम उक्तः. **गुणार्थ** इति

कारिकार्थः

नमस्तुभ्यमित्यादिदशश्लोकप्रतिपाद्यानि रूपाण्याहु**र्दशरूपाणी**त्यादि. "कालाये"तिश्लोके **जगद्रूप** उक्तः. यद्यप्येतदाभासे **जगद्रूपतामुक्त्वा नमस्यन्ती**त्युक्तं तथा**प्युक्त्वे**ति न पूर्वानुवादः किन्तु 'कालाये'तिश्लोक एव जगद्रूपताकथनपूर्वकं नमनमेव वाक्यार्थ इति. **सङ्घाते**ति (११-१३).

ज्ञात्वा हि स्तोत्रं कर्तव्यं कोयमिति कियानिति कथङ्गुणक इति च. तत्र दशविधो भगवान् दशविधलीलाभिरेकस्यामेकस्यां लीलायां यावन्त्यवान्तररूपाणि तानि सर्वाण्युच्यन्ते. तत्र प्रथमं सृष्टिलीलां वदन्त्यः पुरुषोत्तमरूपं भगवन्तं निरूपयन्त्यो नमस्यन्ति **नमस्तुभ्यमिति**.

नमस्तुभ्यं भगवते पुरुषाय महात्मने ।
भूतावासाय भूताय पराय परमात्मने ॥३९॥

टिप्पणी

पुरुषाय महात्मन इत्यस्याभासे, **ततः सर्वोत्तमोपी**त्यादि. यद्यपि सर्वोत्तमस्तथाप्ययं नन्दगेहे जातो, न तु नृसिंहवत्स्वयमेव प्रकटः. तथा च जननं गर्भादिसापेक्षमिति पुरुषोत्तमत्वमनुपपन्नं स्यादिति तदभावाय **पुरुषोत्तमत्वं पदद्वयेनो**पपादयतीत्यर्थः ॥३९॥

प्रकाशः

तथैवेति वेदान्तप्रतिपाद्येन प्रकारेण. **सङ्घातजीवरूपश्चे**तीदमपि वेदान्तप्रतिपाद्य एव प्रकारे प्रविशति साङ्ख्योक्ते वेति ज्ञेयम्. ननु वेदार्थरूप एव कुतो न नमस्यते तत्राहु**र्ज्ञात्वे**ति. **हि** युक्तोयमर्थो, "योन्यथा सन्तमि"तिवाक्यात्. अयं च न केवलं

लेखः

"परावरगतिज्ञश्च" तत्रैवोक्तः (१३ $\frac{१}{२}$). कारिकाणामन्ते ननु दशश्लोकेषु नमनमेव वाक्यार्थ इति स्वरूपवर्णनं कुत्रोपयुज्यते इत्यत आहुः **ज्ञात्वा ही**ति. स्वरूपं ज्ञात्वा स्तोत्रमुचितं, **हि** युक्तोयमर्थः, अन्यथा स्तुतेरारोपितत्वं भगवान् मन्येत. अतः स्वज्ञानं भगवते बोधयितुं स्वरूपवर्णनमित्यर्थः. वाचिकनमनेन भगवतो नमस्यत्वगुणस्योक्तत्वात् नमनस्यापि स्तुतित्वमिति भावः ॥३९॥

योजना

"नमो गुणे"तिश्लोके 'गुणप्रदीपाये'त्यादिपदोपादानात्. **अवतारकृदि**ति "अव्याकृते"तिश्लोके 'अव्याकृतविहाराये'त्याद्युक्तेः. **अन्तर्यामी चे**ति "परावरे"तिश्लोके 'परावरगतिज्ञाये'तिपदोपादानात् . **तुभ्यं भगवते** इत्यस्य विवृतौ **आविर्भूतानाविर्भूत** इति. **तुभ्यमि**ति युष्मच्छब्देन पुरोवर्तिनिर्देशात् पुरोवर्तित्वस्याविर्भूत एव सत्त्वात्, **भगव**त्पदे अनाविर्भूत इति. "ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यत" इतिवाक्याद् भगवत्पदं परमकाष्ठापन्नवस्तुवाचकम्. परमकाष्ठापन्नत्वाविर्भूतानाविर्भूतत्वेन द्विविधं, तत्र **तुभ्यमि**त्यनेनाविर्भूतस्योक्तत्वाद् **भगवत्**पदेनानाविर्भूत उच्यत इत्यर्थः ॥३९॥

भगवान् मूलभूतः स एव भवान्, तदाह **तुभ्यं भगवते नम** इति. आविर्भूतानाविर्भूतरूपे एते एव, ततः सर्वोत्तमोप्ययं जात इतीतरसापेक्षत्वेन पुरुषोत्तमत्वं पदद्वयेन निरूपयन्ति **पुरुषाय महात्मने.** महांश्चासावात्मा चेति. **आत्मा** हि साक्षात् सर्वस्मृतिप्रतिपाद्यः, **पुरुषः** साङ्ख्यप्रतिपाद्यः, **महान्** वेदप्रतिपाद्यः; त्रितयमेकीकृतं महान् पुरुषरूप आत्मेत्युक्तं भवति. अनेनैव सच्चिदानन्दरूपताप्युक्ता– **पुरुषः** सद्रूपो **महाना**नन्दरूपश्चिद्रूप **आत्मे**ति. ततो मूलभूतस्य पञ्चात्मकत्वमाह **भूतावासाये**त्यादिपदैः. स एव मूलरूपो भवति यस्मिन् सर्वाणि भूतानि तिष्ठन्ति. एतदर्थमेव भगवता प्रदर्शितं मात्रे स्वस्मिन् जगत्. तदाह भूतानामावासो यस्मिन्निति. तानि चेद् भूतानि भिन्नानि भवेयुस्तदाऽसङ्गत्वं भगवतो भज्येतेति भूतरूपोपि भगवान्, तदाह **भूताय परायेति**. स एव च पुनर्मूलरूपो भवति यस्तु प्रशास्ति, अनियामकस्य मूलत्वं न सम्भवतीति. तदाह **परायेति**, "एतस्यैवाक्षरस्य प्रशासने गार्गि द्यावापृथिव्यौ विधृते तिष्ठत" इत्यादिश्रुतेः. यश्च पुनर्न सर्वोत्तमः स मूलभूतो न भवतीति **परम** उत्कृष्ट उक्तः. तथा न व्यापको योयं नात्मा स विभूतिमान् न भवतीति न तस्य मूलत्वं, तदा**हात्मन** इति; **परम**श्चासा**वात्मा** चेति. सर्गलीलायां तु प्रथमतो भगवान्, ततः पुरुषः, ततो महत्तत्त्वं, ततो भूतावासोऽहङ्कारः, ततो भूतानि, ततः सर्वं जगत्. तत्रापि **परो** विराड्रूपः **परमात्मा** नारायणश्चेति ब्रह्माण्डविग्रहान्ता सर्वकथा ॥३९॥

विसर्गसहितं ब्रह्मरूपं भगवन्तं नमस्यन्ति **ज्ञानविज्ञाननिधय** इति.

ज्ञानविज्ञाननिधये ब्रह्मणेऽनन्तशक्तये ।
अगुणायाविकाराय नमस्तेऽप्राकृताय च ॥४०॥

ज्ञानं शास्त्रीयं, **विज्ञानम**नुभवः, निर्विषयकं सविषयकं वा, आत्मभूतं गुणभूतं च, तयो**र्निधि**रुत्पत्तिस्थानं, ये केचन ज्ञानविज्ञानार्थिनस्ते सर्वे तत एव कृतार्था भवन्तीति. एवं साधनरूपतामुक्त्वा फलरूपतामाह **ब्रह्मण** इति. ननु ब्रह्मणः

प्रकाशः

वेदार्थरूप एव किन्तु श्रीभागवताद्यर्थरूपोपि, तेन तथेत्यर्थः. **नमस्तुभ्यमि**त्यत्र **ततः सर्वोत्तमोपी**त्यादेरर्थं टिप्पण्यामाहु**र्यद्यपी**त्यादि. सुबोधिन्यामेतदर्थं सर्गलीलायां योजयन्ति **सर्गे**त्यादि **कथे**त्यन्तम्. एवं भगवच्छास्त्ररीत्या मूलरूपत्वमुक्तम्. श्रीभागवते "भूतमात्रेन्द्रियधियां जन्म सर्ग" इतिलक्षणाद् ब्रह्मण एवोपादानत्वात् कार्यरूपत्वमिति **सा कथै**तदन्ता निरूपिता. गुणवैषम्यमत्र पूर्वं नोक्तं श्रौतमत[1]सङ्कीर्णत्वादिति ज्ञेयम् ॥३९॥

---

१. 'मस'.

फलरूपत्व जगत्कर्तृत्वं च कथमुपपद्यते? तत्राह**ानन्तशक्तय** इति, अनन्ताः शक्तयो यस्य, तेन सर्वरूपोपि भवितुं शक्नोति. अनन्तशक्तित्वं गुणसङ्गाद् भविष्यतीत्याशङ्क्याह**ागुणायेति**, न विद्यन्ते गुणा यस्य. गुणसम्बन्धाभावे हेतु**रविकाराये**ति. विकारेषु सत्सु कारणत्वेन गुणा मृग्यन्ते. विकारा अत्र जन्मादयो दोषाश्च. तत्रापि हेतु**रप्राकृताये**ति; प्राकृतो हि विकारी दोषवांश्च भवति. **च**कारादप्राकृतत्वेऽसङ्गित्वं हेतुरुक्तः. विसर्गे तु ज्ञानमधिकारिविशेषणं, ज्ञानपूर्णो ब्रह्मा भवति, विविधज्ञानं सृष्ट्युपयोगि. एवं स्वरूपकार्योपयोगिविशेषणद्वयमुक्त्वा विसर्गरूपमाह **ब्रह्मण** इति, ब्रह्मात्र चतुर्मुखः. ततः सर्वकार्योत्पत्त्यर्थ**मनन्तशक्तय** इति. बन्धाभावा**या-गुणाये**ति. दोषाभावा**याविकाराये**ति. स्वेच्छया सृष्टिव्यावृत्त्यर्थमा**हाप्राकृताये**ति. अनेन विसर्गे षड् गुणाप्युक्ता गुणत्रयं दोषत्रयाभावश्च. ज्ञानमहत्त्वसामर्थ्यानि गुणाः बन्धदोषजडता दोषा भवन्ति त्रिविधाः ॥४०॥

जगद्रूपतां सहेतुकामुक्त्वा नमस्यन्ति **कालाये**ति.

कालाय कालनाभाय कालावयवसाक्षिणे ।
विश्वाय तदुपद्रष्ट्रे तत्कर्त्रे तस्य हेतवे ॥४१॥

स्थानं हि द्विविधमुक्तं, शब्दमर्यादायां कालो नियामकः अर्थमर्यादायां भूमिरिति. तदप्याह– जगतो हि मूलकारणं कालः, भगवच्चेष्टारूपत्वात्. **कालो नाभौ** यस्येति सृष्टौ प्रयोजनमुक्तम्. मृत्युर्हि कालः, स स्वस्थाने तिष्ठति नाभिस्तस्य स्थानम्. मृत्युना भक्षिता हि मृत्योर्बहिःकृता मृत्युमन्तर्निवेश्य "मृत्युनैवेदमावृतमासीदि"त्यत्र विस्तरेण प्रपञ्चितम्. तेन **कालत्वेन** क्रियाशक्तिरुक्ता, **कालनाभत्वेन** सृष्टिप्रयोजनमुक्तं, सृष्टिप्रकारमाह **कालावयवसाक्षिण** इति. कालावयवानां सर्वोत्पत्तिनिमित्तानां साक्षिणे –अनेन विश्वसृष्टौ क्लेशाभावोप्युक्तः. शब्दमर्यादायां तु **कालः सूर्यः कालनाभाः** शब्दाः सर्व

प्रकाशः

ज्ञानेत्यत्र ब्रह्मरूपमिति वेदान्तवेद्यरूपं; तद् **विसर्गसहितं** पुरुषाद् ब्रह्मादीनामुत्पत्तिसहितम्. **तत्रापीति** दोषभावे. द्वितीयपक्षे विसर्गस्य निरूपणीयत्वात् तत्प्रकटनार्थं पुनर्व्याकुर्वन्ति **विसर्गे त्वित्यादि. स्वेच्छया सृष्टीति** स्वाभाविकी सृष्टीत्यर्थः. **अनेनेति** विशेषणषट्केन ॥४०॥

कालायेत्यत्रोक्त्वा नमस्यन्तीति वदन्तो नमस्यन्ति. **स्थानं हि द्विविधमिति**, **स्थानं** नियमनं **द्विविधं** शब्देनार्थेन च. यद्यपि निबन्धे त्रिविधमुक्तं देशकालात्मभेदेन तथापि प्रकृते द्विविधमेव स्फुटमिति द्विविधमुक्तम्. तत्र **शब्दमर्यादायां कालो नियामको** यथास्थानं स्थापको**ऽर्थमर्यादायां भूमिः** शेषात्मिका ब्रह्माण्डरूपा तत्तत्साधनवतां तत्तद्देशनियामिकेति तत्कृतं नियमनं सिध्यतीति **तत्** सर्वम**त्राप्याहे**त्यर्थः. प्रथमतो जगन्मूलकारणत्वं व्युत्पादयन्ति **जगत** इत्यादि. **भगवच्चेष्टारूपत्वादि**ति "योयं कालस्तस्य तेव्यक्तबन्धो चेष्टामाहुरि"ति "सतोभिव्यञ्जकः काल" इति "पुरुषस्तदुपादानमि"त्यादिवाक्येभ्यः ज्योतिर्विद्भिस्तत्तन्मुहूर्त उत्पन्नानां कालबलेनैव भाग्याकृतिप्रभृत्यङ्गीकाराच्च. प्रयोजनमुपपादयन्ति **मृत्युर्ही**त्यादि. **मृत्युना** कालेन **भक्षिता**श्चराचरात्मकाः पदार्था **मृत्योः** सकाशाद् **बहिः** प्रकटिता "अशनाया"रूपं **मृत्युमन्तर्निवेश्य** "तदेतन्मृत्युनैवे"तिश्रुतावुक्तम्. श्रुतिस्तु काण्वानां बृहदारण्यकारम्भेऽग्निब्राह्मणेस्ति. प्रयोजनं मृत्योरन्तःप्रवेशः. **कालावयवानामि**ति निमेषादिवत्सरान्तानाम्. **अनेनेति** साक्षित्वकथनेन, साक्षिण

लेखः

कालायेत्यस्याभासे **जगद्रूपतामि**ति. एतत्कथनपूर्वकं नमस्कारो वाक्यार्थः, न त्वयं पूर्वानुवादः. व्याख्याने, **स्थानं हीति, हि** यतः स्थितिरेव स्थानं स्थीयतेस्मिन्निति च स्थानमेवं **द्विविधं स्थानं** पञ्चमस्कन्धे **उक्तमि**त्यर्थः. **शब्दे**ति, वेदोक्तकर्मप्रकारेण स्थितावित्यर्थः. **अर्थानां** शब्दप्रतिपाद्यानां पुरुषार्थानां **मर्यादा** जम्बूद्वीपतीर्थादिस्थानमित्यर्थः. **तदपीत्यपि**शब्देनैतस्य प्रासङ्गिकत्वं सूचितं; मुख्यतया वाक्यार्थस्त्वाभासोक्त एवेतिभावः. **मृत्युने**ति, कालस्य स्वस्थानस्थितिः

योजना

ज्ञानविज्ञाननिधय इत्यस्य विवृतौ **ज्ञानमहत्त्वसामर्थ्यानी**ति– **ज्ञानविज्ञाने**त्यनेन ज्ञानं, **ब्रह्म**पदेन महत्त्वम्, **अनन्तशक्ति**पदेन सामर्थ्यमित्यर्थः. **बन्धदोषजडता** इति– **अगुण**पदेन बन्धाभावः, **अविकार**पदेन दोषाभावः, **अप्राकृत**पदेन जडत्वाभावः. एवं दोषत्रयाभावः पदत्रयेण निरूपितः ॥४०॥

कालायेत्यस्य विवृतौ **शब्दमर्यादायामि**ति वेदोक्तमर्यादायां कालस्य नियामकत्वं, काले कर्मविधानादित्यर्थः. **शब्दमर्यादायामि**ति वेदमर्यादायामित्यर्थः. **कालः सूर्यः** इति– **कालाये**त्यनेन सूर्य उच्यते, कालभौतिकरूपत्वात् सूर्यस्येत्यर्थः. तत्रोपपत्तिस्तु **सूर्यस्य कालात्मत्वं तृतीये प्रपञ्चितमि**त्यनेन वक्ष्यत्यनुपदम्, अत एव

एव वेदाः **कालावयवसाक्षिणः** कर्माणि. सूर्यस्य कालात्मत्वं तृतीये प्रपञ्चितम्. वर्णा हि मात्रात्मकाः, तेन **काल** एव **नाभौ** येषामिति सर्वथा कालापेक्षा तेषामेव. "काले कर्म हि चोद्यत" इति **कालावयवसाक्षित्वं**; कर्मणां नित्यत्वाय कालावयवस्य साक्षित्वमुक्तम्. विश्वकारणरूपत्वमुक्त्वा विश्वरूपत्वमाह **विश्वायेति**. तस्य विश्वस्य त्रैविध्यं निरूपयन्नादावाधिदैविकरूपमाह **तदुपद्रष्ट्र** इति, तस्य विश्वस्योपद्रष्टा, आधिदैविकव्यतिरेकेण तस्य स्वरूपेणैवासम्भवात्. **तत्कर्त्र** इत्याध्यात्मिकरूपं; स हि सर्वकर्ता. आधिभौतिकमाह **तस्य हेतव** इति. **हेतुः** कारणं भूतादि. अनेनार्थमर्यादापि निरूपिता– विश्वमेवार्थरूपः, तदुपद्रष्टा मोक्षरूपः, तत्कर्ता कामरूपः, तद्धेतुर्धर्मः ॥४१॥

प्रकाशः

उदासीनत्वात्. एवं जगद्धेतुत्वमुक्तम्, अतः परं स्थानं व्युत्पादयन्तस्तत्र शब्दमर्यादायां कालस्य कथं नियामकत्वमित्यतस्तदुपपादयन्ति **शब्देत्यादि**. **तृतीय** इति, तृतीयस्कन्ध एकादशाध्याये[1] "ग्रहर्क्षताराचक्रस्थ" इत्यत्र **वर्णा** वैदिका **मात्रात्मकाः** प्रणवमात्रारूपो योऽकारस्तदात्मका, "अकारो वै सर्वा वागि"तिश्रुतेः. **तेन** त्रयीमयः **कालात्मा** सूर्यो **नाभावन्तर्येषामिति**हेतोर्वर्णव्यवस्थाप्रकटनार्थं **सर्वथा कालापेक्षा** वेदानामेवातो वेदाः **कालनाभाः**. **कालावयवस्येति** तन्मूलभूतकारणस्याकारस्य. एवं कालकृतनियमनमुक्तम्. **अनेनार्थमर्यादापि निरूपितेति**– त्रिविधविश्वरूपत्वकथनेनार्थकृता या मर्यादा तत्र तत्र तस्य स्थापनरूपा साप्यर्थबलान्निरूपितेत्यर्थः ॥४१॥

लेखः

प्रयोजनं, तदर्थं **मृत्युं स्वान्तर्निविश्य** प्रलये तदन्तःस्थिताः प्रजाः सृष्ट्या **बहिः** कृतवान् भगवानित्यर्थः. **मात्रात्मका** इति, ह्रस्वादिमात्राणां मूलत्वादिति भावः ॥४१॥

योजना

निबन्धे "सूर्यस्तस्याधिभौतिकमि"त्युक्तम्. **अनेनार्थमर्यादिति**. **अनेनेति विश्वाये**-त्यादिपदचतुष्टयोपादानेनेत्यर्थः. **अर्थमर्यादापीति**– वेदात्मकालौकिकशब्देन प्रतिपाद्या ये **अर्थाः** पुरुषार्था धर्मार्थकाममोक्षाख्यास्तेषां **मर्यादापीत्यर्थः**. पुरुषार्थान् प्रतिपादयन्ति **विश्वमेवार्थरूप** इत्यारभ्य **तद्धेतुर्धर्म** इत्यन्तेन. **तदुपद्रष्टा** इति, "कश्चिद् धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदि"तिश्रुतेः **उपद्रष्टृ**शब्दवाच्यस्य प्रत्यगात्मनो दर्शनं **मोक्षः**. मोक्षे च शुद्धाद्वैतस्फूर्तौ मोक्षरूपत्वम् उपद्रष्टुरुक्तम्. **तत्कर्ता काम** इति,

१. ३।११।१३.

एवं विश्वरूपत्वमुक्त्वा तद्धीकृतसङ्घातजीवरूपत्वमाह. तत्र प्रथमं सङ्घातं निर्दिशति **भूतमात्रेति**.

भूतमात्रेन्द्रियप्राणमनोबुद्ध्याशयात्मने ।
त्रिगुणेनाभिमानेन गूढस्वात्मानुभूतये ॥४२॥

भूतानि मात्रा इन्द्रियाणि प्राणा मनो बुद्धिराशयश्चित्तमात्माहङ्कारश्च– अयमेव हि सङ्घातः, एतद्रूपाय. जीवरूपश्चेत्याह– **त्रिगुणेनाभिमानेन गूढा स्वात्मानुभूतिर्यस्य**. इयमेव हि भगवतः पुष्टिर्यदमर्यादव्यवस्थया स्थितिः. स्वात्मानुभूतौ सत्यां जीवभावो विरुध्यत इति गुणैराच्छादनम् ॥४२॥

एवं भगवतोऽर्थसृष्टिरूपत्वमुक्त्वा शब्दसृष्टिरूपत्वमाह **नमोऽनन्तायेति**.

नमोऽनन्ताय सूक्ष्माय कूटस्थाय विपश्चिते ।
नानावादानुरोधाय वाच्यवाचकशक्तये ॥४३॥

प्रकाशः

भूतमात्रेन्द्रियेत्यत्र. ननु पुष्टिरनुग्रहस्तथा चात्र तन्निरूपणाभावे क्रमो भज्येतेत्यत आहु**रियमि**त्यादि. **इयमु**भयरूपतैव **हि** यतो हेतो**र्भगवतः पुष्टिर**नुग्रहो **यद्** यस्माद्धेतोरुभयरूपत्वे**नामर्यादव्यवस्थया स्थितिः**. तथा चानेन प्रकारेणानुग्रहनिरूपणान्न क्रमभङ्ग इत्यर्थः ॥४२॥

नमोनन्तायेत्यत्र. ननु विश्वे निरूपिते तन्मध्यपातिशब्दसृष्टिरपि निरूपितप्रायेति पुनस्तन्निरूपणं किमर्थमित्यत आहू **रूपे**त्यादि. तथा च वैलक्षण्यात् तथेति

लेखः

नमोनन्तायेत्यस्याभासे एवमिति, श्लोकचतुष्टयार्थस्यानुवादोयम्. शब्दस्यापि प्रमेयत्वात् पञ्चमश्लोके तथोक्तमतः कारिकासूक्तं पञ्चानामपि प्रमेयरूपत्वं

योजना

"सोकामयत बहुस्यां प्रजायेये"तिश्रुतेः कामस्यैव जगत्कर्तृत्वाभिधानात् ॥४१॥

इयमेव हि भगवतः पुष्टिर्यदमर्यादव्यवस्थया स्थितिरिति. **गूढस्वात्मानुभूतय** इत्यनेन भूताद्यात्मकस्यापि गूढस्वानुभवत्वमुक्तं, तच्च युक्तिविरुद्धमित्यमर्यादत्वं प्रदर्शितम्. मर्यादाविरोधो भगवत्कृतश्चेत् तदा पुष्टिकार्यत्वं तस्य. कश्चिद् जीवमनुगृहीतुमेव मर्यादाविरोधो भगवता क्रियते, अतो मर्यादाविरुद्धभगवत्कृत्या तत्कारणीभूता पुष्टिरनुमीयते. प्रकृते मर्यादाविरोधस्य **गूढस्वात्मानुभूतय** इत्यनेनोक्तत्वात् पुष्टिलीलानेनोक्तेत्यर्थः ॥४२॥

रूपसृष्ट्यपेक्षया नामसृष्टिर्विलक्षणा— अन्तवती रूपसृष्टि**रनन्ता** नामसृष्टिः, स्थूला रूपसृष्टिः **सूक्ष्मा** नामसृष्टिः, विकृता रूपसृष्टिः **कूटस्था**विकृता नामसृष्टिः, जडरूपा रूपसृष्टि**र्विपश्चिद्** बोधरूपा नामसृष्टिः. एवं चतुर्धा वैलक्षण्यमुक्तम्. नन्वेवं नामसृष्टौ जगद्विलयप्रसङ्गस्तत्राह **नानावादानुरोधाये**ति. सिद्धान्ततदाभास- तत्पाषण्डरूपा नानावादास्तेषामनुरोधो यस्य, सर्वैरेव यथा निरूप्यते तथा भगवान् भवतीति. तत्रोपपत्तिमाह **वाच्यवाचकशक्तय** इति. **वाच्योर्थो वाचकः** शब्दः, उभयत्रापि **शक्तयो** यस्य. यथैवार्थं वक्तुमिच्छति तथैवार्थो भवति तं प्रति, सर्वस्यापि शब्दस्य. यथैवार्थं वक्तुमिच्छति तथैवास्मिन् शब्दे तदर्थ शक्तयो भवन्ति. ऊतिरत्र स्पष्टैव ॥४३॥

एवं सामान्यतो नामसृष्टिलीलामुक्त्वा विशेषमाह **नमः प्रमाणमूलाये**ति.

नमः प्रमाणमूलाय कवये शास्त्रयोनये ।
प्रवृत्ताय निवृत्ताय निगमाय नमो नमः ॥४४॥

वेदादयो हि प्रमाणं; तेषां यत् प्रामाण्यमादरणीयत्वं वा तद् भगवत्प्रतिपाद्यत्वेन भगवत्प्रतिपादितत्वेन च, अन्यथा तत्प्रामाण्यं न स्यात्, नित्यत्वेपि भगवद्व्यतिरिक्तत्वेऽप्रामाण्यं च स्यात्, नित्यता च न स्यात्. अतः **प्रमाणमूल**भूतो भवानेव. **कवये** तद्रसाभिज्ञाय, अनेन शब्दवक्ता शब्दरसाभिज्ञः शब्दरूपश्चोक्तः. शब्दोपादानकारणरूपश्चेत्याह **शास्त्रयोनय** इति, शास्त्रस्य वेदस्य योनिः कारणम्. एवं निदानरूपत्वमुक्त्वावान्तररूपत्वमाह **प्रवृत्ताय निवृत्ताये**ति. वेदो हि द्वयं सम्पादयति— प्रवृत्तिं निवृत्तिं च; कुतश्चिन्निवर्तयति क्वचित् प्रवर्तयति. **निगम** आज्ञारूपो भवति. एवम्प्रकारेण **निगम**रूपो वेदरूपो वा. अनेन सद्धर्मा उक्ताः ॥४४॥

एवं वैदिकप्रमाणप्रमेयरूपतामुक्त्वा तदनाविर्भूतमित्याविर्भूतं भगवन्तं चतुर्मूर्तिं तन्त्रप्रकारयुक्तं निरूपयति **नमः कृष्णाये**ति.

नमः कृष्णाय रामाय वसुदेवसुताय च ।
प्रद्युम्नायानिरुद्धाय सात्वतां पतये नमः ॥४५॥

कृष्णाय सदानन्दायेति स्वरूपमुक्तम्. अवान्तररूपत्वमाह ततो **रामाय** सङ्कर्षणाय, **वसुदेवसुताय** वासुदेवाय. **चकारा**दस्य प्रद्युम्नरूपताप्युक्ता, **वसुदेव**शब्दस्य शुद्धसत्त्वे वसुदेवे च सङ्केतात्. **प्रद्युम्नायानिरुद्धाये**ति चतुर्मूर्तिर्भगवानुक्तः. सदानन्दो भगवांश्चतुर्मूर्त्या चावतीर्णो यदर्थं तदाह **सात्वतां पतये नम** इति, शुद्धसत्त्वानां परमवैष्णवानां पतिः भक्तिफलरूपो भक्तिप्रवर्तकश्च. अतोऽनेनेशानुकथा विष्णुभक्तिर्निरूपिता ॥४५॥

एवं तन्त्रन्यायेन भगवन्तं निरूप्य साङ्ख्ययोगादिभिः स्मार्तनिरूपितं भगवन्तं निर्णयेन निरूपयति **नमो गुणप्रदीपाये**ति.

नमो गुणप्रदीपाय गुणात्मच्छादनाय च ।

प्रकाशः

भावः. **कूटस्थे**त्यस्यैव व्याख्यान**मविकृते**ति. **एवमि**ति ज्ञानरूपायाम्. **सर्वैरेवे**त्यादि, तथा च ये पाषण्डेनान्यथा वा भगवन्तं निरूपयन्ति तान् प्रति पाषण्डेनान्यथा च प्रकटीभवतीति न जगद्विलय इत्यर्थः. **ऊतिरत्र स्पष्टैवे**त्यस्मिन् श्लोके नानावादानुरोधकथनाद् वादनानात्वस्य च कर्मवासनयैव भवनात् तेन सा स्पष्टैवेत्यर्थः ॥४३॥

नमः प्रमाणमूलायेत्यत्र भगवत्प्रतिपाद्यत्वेनेति भगवान् प्रतिपाद्यो यस्मिंस्तत्त्वेन. **अन्यथे**त्याद्येतदुभयरूपत्वाभावे. तथा चाद्याभावे "सर्वे वेदा" इतिश्रुतिविरोधाद् द्वितीयाभाव "एकमेवाद्वितीयमि"ति श्रुतिविरोधाच्च तथेत्यर्थः. **अनेने**त्यादि,

लेखः

सिद्धमिति भावः. व्याख्याने, **तत्पाषण्डे**ति स चासौ पाषण्डश्च; सिद्धान्तरूपो यः पाषण्डो बाह्यसिद्धान्त इत्यर्थः. सिद्धान्ताभासो मायावादादिः, यथाकथञ्चिद् वेदनिष्ठत्वात् ॥४३॥

नमः प्रमाणेत्यत्र **आदरणीयत्वमि**ति, द्वितीयस्कन्धोक्तप्रमाणलक्षणमनुसृत्याबाधितत्वं नित्यत्वमित्यर्थः. प्रमाणं मूलं यस्येतिव्युत्पत्त्या **भगवान्** प्रतिपाद्यो यत्र तादृशत्वं प्रमाणानां, प्रमाणेन भगवज्ज्ञानं भवतीति यावत्. प्रमाणस्य मूलमिति व्युत्पत्त्या भगवत्प्रतिपादितत्वं तेषां; प्रमाणभूतो मूलभूतश्चेतिव्युत्पत्त्या भगवद्रूपत्वं तेषामिति विवेकः. **अन्यथा तदि**ति, नित्यत्वरूपं प्रामाण्यमित्यर्थः. **अप्रामाण्यं चे**ति, सामान्यतः प्रमाजनकत्वं च न स्यादित्यर्थः. **अनेने**ति विशेषणद्वयेनेत्यर्थः. कर्मधारयपक्षमेवानुसृत्य **मूल**त्वेन शब्दवक्तृत्वं **प्रमाण**त्वेन शब्दरूपत्वं **कवि**पदेन तद्रसाभिज्ञत्वं च निरूपितम् ॥४४॥

नमः कृष्णायेत्यस्याभासे वैदिकेति वेदप्रकारयुक्तामित्यर्थः. व्याख्याने, **चकारादि**ति; प्रद्युम्नोप्ययमेव न तु सङ्कर्षणवद् रूपान्तरमपीति **चकारेण** सूचितमित्यर्थः. **शुद्धसत्त्वानामि**ति, **सात्वत**पदस्यार्थद्वयमभिप्रेत्यात्र पदद्वयमुक्तम्. भक्तेः फलं "भक्त्या मामभिजानाती"तिवाक्योक्तं ज्ञानमित्यर्थः ॥४५॥

(प्रकाशः, p. ११५)

प्रवृत्तिनिवृत्तिरूपत्वकथनेन मन्वन्तररूपा सद्धर्मा उक्ता इत्यर्थः ॥४४॥

नमः कृष्णायेत्यत्राभासे **तदि**ति तद्रूपमित्यर्थः. **अस्ये**ति वसुदेवसुतस्य ॥४५॥

नमो गुणप्रदीपायेत्यत्र **निर्णयेने**ति, ते हि सगुणं भगवन्तं वर्णयन्ति; तत्र

गुणवृत्त्युपलक्ष्याय गुणद्रष्ट्रे स्वसंविदे ॥४६॥

भगवान् सगुण इत्यस्यायमर्थो– गुणान् प्रकर्षेण **दीपयति** तत्प्रकाशनार्थमेव गुणान् स्वनिकटे स्थापयति. ततो गुणान् प्रकाशयन् गुणानां माहात्म्यख्यापनाय **गुणैरात्मनश्छादनं** येन, गुणैरात्मानं छादितवान्; गुणेषु स्वतेजो दत्वा स्वयं तिरोहितो जात इत्यर्थः. ततः पुनः कौतुकार्थं **गुणानां** या **वृत्तय**श्चाक्षुषज्ञानादयस्तै-**रुपलक्ष्यत** इति तथा. एवं सत्त्वरजस्तमोभावा उक्ताः. नन्वेतदपि किमिति करोति? तत्राह **गुणद्रष्ट्र** इति, गुणानां द्रष्टा, तान् दृष्ट्वा तेषामेवमुपकारं कृतवानित्यर्थः. तैः कृतस्तु स्वस्या(स्यो!)पकारो नास्तीत्याह **स्वसंविद** इति, स्वत एव संविद् यस्य; न तस्य ज्ञानं केनचिदुत्पाद्यते केनचित् नाश्यते वा. अतो गुणानां सच्चिदानन्दधर्माणां स्वयमेव तद्रूपेणाविर्भूतस्वरूपाणामुपकारार्थं सगुण इत्युच्यत इत्यर्थः ॥४६॥

एवं सगुणरूपत्वमुक्त्वा ज्ञेयं रूपं भगवन्तमा**हाव्याकृते**ति.

अव्याकृतविहाराय सर्वव्याकृतसिद्धये ।
हृषीकेश नमस्तेस्तु मुनये मौनशीलिने ॥४७॥

अव्याकृते प्रकृतिपुरुषरूपे **विहारो** यस्य, **अव्याकृतो** वा केनाप्यज्ञातो **विहारो** यस्य, **अव्याकृतार्थं** वा **विहारो** यस्य, कपटमानुषभावं सम्पादयति यथा न कोपि जानात्विति. तस्याव्याकृतत्वे प्रमाणमाह **सर्वव्याकृतसिद्धय** इति, सर्वे ये व्याकृतास्तत्त्वानि ब्रह्माण्डानि च तदन्तर्वर्तीनि च तेषां सिद्धिरुत्पत्तिर्ज्ञप्तिश्च यस्माद्, "अव्यक्तादीनि भूतानी"तिवाक्यात्. अन्यथा व्याकृतोत्पत्तिर्न स्यात्, कार्यस्य पूर्वावस्थातो वैलक्षण्यस्यावश्यकत्वात्. एवमुत्पत्तिपक्षं निरूप्य ज्ञप्तिपक्षं निरूपयति **हृषीकेश नमस्तेस्त्वि**ति, हृषीकाणीन्द्रियाणि तेषामीशः प्रवर्तकः. प्रकृते भगवानेवं ज्ञापनार्थं स्वेन्द्रियाणि प्रवर्तयन्नुपस्थित इति साक्षात् तं नमस्यन्ति, तादृशीं वावस्थां प्रार्थयन्ति. तर्ह्यव्याकृतस्य ज्ञानं कथं भवतीत्याकाङ्क्षायामाह **मुनय** इति, मननमेव तत्र हेतुः. मुनयश्च द्रष्टारः, तद्रूपो भगवान्. किञ्च साधनान्तरमप्यव्याकृतस्य भगवतो ज्ञाने निरूपयन्ति **मौनशीलिन** इति, मौनमेव शीलं सहजः स्वभावो यस्य, "उपरतायां वाचि किञ्ज्योतिरि"तिप्रश्ने "अत्रायं पुरुषः स्वयञ्ज्योतिरि"ति "वचस्युपरते प्राप्ये"तिवाक्याच्च. तदेकं भगवत एवाव्याकृतं रूपं यत्रैव "यस्यामतं तस्य मतमि"त्यादिवाक्यानि सम्बध्यन्ते ॥४७॥

प्रकाशः

यथा भगवतः सगुणत्वं तन्निर्णयेन. **उपकारं कृतवानित्यर्थ** इति, तथा च गुणोपकारकतया सगुणत्वं, न तु गुणोपहिततयेति निर्णय इत्यर्थः सिध्यति. उपधानमाशङ्क्य परिहरन्ति **तैरि**त्यादि. **तद्रूपेणे**ति सत्त्वरजस्तमोरूपेण. इदं यथा तथा द्वितीयसुबोधिन्यां स्फुटं, "सद्रूपस्य मलं(गुणं!) सत्त्वं चिद्रूपस्य रज आनन्दरूपस्य तम" इति तत्रोपपादनात् ॥४६॥

लेखः

नमो गुणेत्यत्र **उपलक्ष्यते** इति, "गुणप्रकाशैरनुमीयते भवानि"ति प्रकारेणोपलक्षणविधया ज्ञायते इत्यर्थः ॥४६॥

अव्याकृतेत्यत्र **अव्याकृतो विहारो यस्ये**ति पक्षे **विहारः** पुरुषेऽवतरणमि-त्यर्थः. तस्यैव ब्रह्माण्डोत्पत्तिहेतुत्वात् तस्य व्याकृतत्वे ब्रह्माण्डोत्पत्तिकारणत्वं न स्यादिति भावः. **अव्याकृतार्थमिति** व्याकृतमिति भावे क्तः, तथा च स्वरूपस्याव्या-कृतत्वार्थमज्ञापनार्थमित्यर्थः. **तस्ये**ति प्रकृतिपुरुषरूपस्य विहारस्य स्वरूपस्य

प्रकाशः

अव्याकृतेत्यत्रान्यथेति– कारणस्य व्याकृतत्वे. **एवं 'ज्ञानार्थमि**ति कार्यवैलक्षण्य-ज्ञानार्थम्. **प्रार्थयन्ति अस्त्वि**तिपदेन प्रार्थयन्ति ॥४७॥

लेखः

चेत्यर्थः. आद्यस्य व्याकृतत्वे तत्त्वोत्पत्तिर्न स्यात्, द्वितीयस्य व्याकृतत्वे ब्रह्माण्डोत्पत्तिर्न स्यात्, तृतीयस्य व्याकृतत्वे देवतिर्यगाद्युत्पत्तिर्न स्यात् किन्तु तेषां मोक्ष एव स्यादिति भावः. **कार्यवैलक्षण्यस्यावश्यवाच्यत्वादि**ति सर्वत्र हेतुः. एवं व्याकृतोत्पत्तावव्याकृतत्वं हेतुरुक्तः, ज्ञप्तौ तु हृषीकेशत्वं हेतुर्वक्ष्यते. अत्र त्वव्याकृतमेव स्वरूपं स्वेच्छया ज्ञापितवानित्याहुः **प्रकृते** इति. **साक्षादि**ति, **ते** इत्यस्यार्थोयम्. **तादृशीमि**ति नमनयोग्यामिन्द्रियप्रेरणावस्थामित्यर्थः. **अस्त्वि**ति प्रार्थनायां लोट्. **तर्ही**ति व्याकृतज्ञापनार्थं हृषीकेशत्वे सतीत्यर्थः. अव्याकृतस्येन्द्रियैस्तत्पतिप्रेरितैर्ज्ञपनाभावे वस्तुसत्तैव न सिध्येदिति भावः. **मननमेवे**ति **एव**कारेण भगवत्पतिकानीन्द्रियाणि व्यावर्त्यन्ते. **मुनयश्चे**ति **च**कारोर्थविशेषे यत इत्यर्थे. **तद्रूप** इति, **भगवानेव** मुनिरूपः सन्नात्मानं पश्यति, तेनाव्याकृतत्वमपि न हीयते वस्तुसत्ता च साधितेति भावः. एवमग्रिमविशेषणेपि **स्वभावो यस्ये**त्यनेन मत्वर्थ एव विवृतः. **तदेकमि**ति सर्वोत्पादकं सर्वज्ञापकं चाज्ञेयमक्षरं **भगवत एव रूपं** –पूर्वोक्तप्रकृत्यादेर्भिन्नत्वशङ्का-परिहारायेदमुक्तम्. **यत्रैवे**ति अक्षर एवेत्यर्थः. पुरुषोत्तमस्तु "भक्त्या मामभिजानाती"तिवाक्याद् ज्ञायत एवेति भावः ॥४७॥

---

१. 'ज्ञापना'.

शास्त्रार्थरूपश्चैको भगवान् पण्डितव्यवहार्यः, तमाह **परावरेति.**

परावरगतिज्ञाय सर्वाध्यक्षाय ते नमः ।
अविश्वाय च विश्वाय तद्द्रष्ट्रे तस्य हेतवे ॥४८॥

परे ब्रह्मादयः, **अवरे**ऽस्मदादयः, तेषां सर्वेषामेव **गतिं** व्यवस्थां जानातीति, शास्त्रेण ह्युत्पाद्यते यद् ज्ञानं तदेतादृशं भवतीति. एवं बहिर्ज्ञानमुक्त्वान्तर्ज्ञानमाह **सर्वाध्यक्षायेति**, सर्वेषामध्यक्षः साक्षी. अतस्तं प्रत्यक्षेण नमन्ति **ते नम** इति. तेषां प्रतिपाद्यरूपं सङ्ग्रहेणाह**ाविश्वायेति**. विश्वव्यतिरिक्तो विश्वरूपश्च, विश्वरूप एव सन् विश्वव्यतिरिक्तश्च, यथा वृक्षः काष्ठादिरूप एव सन् फलरूपोपि. **चकारा**दुभयमुभयत्र. अनेन केचन विश्वरूपं प्रतिपादयन्ति केचन तद्व्यतिरिक्तं, केचनोभयं, केचित् पुनरेकदेशि(शे!)न इति. किञ्च **तद्द्रष्ट्रे** तस्य रूपस्य द्रष्टा त्वमेव. अने**नाविश्व**पक्षे प्रमाणमुक्तम्. **विश्व**पक्षेपि प्रमाणमाह **तस्य हेतव** इति, तस्य विश्वस्य कारणरूपोपि. कारणात्मकतैव कार्यस्येति प्रमाणता. एवं निरोधमुक्त्याश्रयाः क्रमादेतैरेवोक्ताः ॥४८॥

प्रकाशः

परावरेत्यत्र **तेषामि**ति शास्त्राणाम्. ननु भवत्वेवं, गुणप्रकाशत्वादिना गुणार्थत्वमव्याकृतविहारतादिना चावतारकृत्त्वं परावरगतिज्ञत्वादिना चान्तर्यामित्वं, तथापि निरोधमुक्त्याश्रयाणामत्रास्फुटत्वाल्लीलाभिर्दशविधत्वं कथमित्यत आहु**रेवं निरोधे**त्यादि. **नमो गुणे**त्यत्र सगुणोपकारकतया निरोधः, **अव्याकृते**त्यत्र तादृशविहारतया स्वरूपावस्थानतया मुक्तिः, **परावरेत्यत्राविश्वाये**त्यर्धश्लोकोक्तरीत्या ज्ञानाधारत्वेन क्रियाधारत्वेन चाश्रय –इत्येवंक्रमादेतैरेव श्लोकैरेता उक्ता इति सुखेनैव दशलीलाभिरपि तथात्वं सिध्यतीत्यर्थः ॥४८॥

त्वं ह्यस्येत्यत्र **स्वभावान्तःस्थितस्वरूपेणे**ति स्वभावाधिदैविकेन भगवद्रूपेण. **सत** इति द्वितीयाबहुवचनान्तम्. लीलाकरणमेव व्याकुर्वन्ति **तवे**त्यादि ॥४९॥

तस्यैव तेमूरित्यत्र. ननु मूढाना भगवद्विरोधित्वात् कथं तनुत्वमित्याश-

लेखः

परावरेत्यस्याभासे **शास्त्रार्थरूप** इति शास्त्रप्रतिपाद्यं रूपं यस्य. पूर्वमज्ञेयं रूपमुक्तं, शास्त्रज्ञेयमप्येकं रूपमस्ति तदत्रोच्यत इत्यर्थः, अक्षरस्य रूपद्वयमज्ञेयं ज्ञेयं चेति. एकदेशिमतमिदं, "न भेदादिति चेत् न प्रत्येकमतद्वचनादि"ति. व्याख्याने **शास्त्रेण हीति. हि** यतः **शास्त्रेण यस्य** रूपस्य **ज्ञानमुत्पाद्यते** तद्रूपं परावरगतिज्ञं सर्वप्रेरकं च **भवति,** शास्त्रं परावरगतिज्ञत्वप्रकारेणान्तर्यामित्वप्रकारेण च ज्ञानमुत्पादयतीत्यर्थः. **एवमि**ति. बहिःस्थितस्य भगवद्ज्ञानं परावरमर्यादास्थापकत्वेन "मद्भयाद् वाति वातोयमि"त्यादिवाक्येभ्यः, अन्तःस्थितज्ञानं सर्वप्रेरकत्वेन भवतीत्यर्थः. **अत** इति बहिरन्तर्ज्ञानविषयो यत इत्यर्थः. **तेषामि**ति शास्त्राणामित्यर्थः. **प्रमाणते**ति हेतुत्वस्येति शेषः ॥४८॥

त्वं ह्यस्येत्यत्र **हेतुमाहे**ति ईहाभावात् कारणमन्यमाहेत्यर्थः ॥४९॥

तस्यैवेत्यस्याभासे **कार्यमाहे**ति शिक्षाकार्यमित्यर्थः. व्याख्याने **द्वितीयसर्गे**ति,

एवं सर्वरूपेण नत्वा विज्ञापनार्थं प्रथमतोस्यापराधः तथा नास्तीति वक्तुं त्वमेव सर्वस्वभावानां बोधक इत्युपपत्तिमाहुस्त्वं **ह्यस्ये**ति.

त्वं ह्यस्य जन्मस्थितिसंयमान् प्रभो गुणैरनीहोकृत्त कालशक्तिधृक् ।
तत्तत्स्वभावान् प्रतिबोधयन् सतः समीक्षयामोघविहार ईहसे ॥४९॥

त्वमेव ह्यस्य जगतो **जन्मस्थितिसंयमान् गुणैरकृत** कृतवान्, स्वय**मनीह** एव चेष्टामकुर्वन्नेव. तादृशस्य करणे हेतुमाह **कालशक्तिधृगि**ति, कालशक्तिं बिभर्तीति. यदैव भगवता कालशक्तिरधिष्ठिता तदैव गुणक्षोभं करोति सिंहासनस्थितपुत्रिका वायुमिव. ततः सर्वाण्येव कार्याणि भवन्ति. गुणा उपादानं, कालो निमित्तं, स्वभावो नियामकः. तमाह **तत्तत्स्वभावान् प्रतिबोधयन्नि**ति, तस्य तस्य वस्तुनः स्वभावास्तत्तत्कार्यनियामकास्तेषां प्रतिबोधश्च कालेनैव क्रियते, स्वभावान्तःस्थितस्वरूपेण वा. एवं कुर्वन् **सतः समीक्षयेहसे** लीलां करोषि. तव कार्यद्वयम्– अनवतीर्णेनाक्षरे समारूढे कालशक्तिर्गुणाः स्वभावश्चोद्गता भवन्ति. ततः सर्वमेव जगद् भवति परमनेकविधम्. तस्मिन्नपि च जगति **सतः** सर्वस्यैव सन्मार्गस्य सतां च **समीक्षया** परिपालनपूर्वकं सम्यगवेक्षया लीलां च करोषि. तेन च तेषां सर्व एव पुरुषार्थाः सिद्धा भवन्ति जगच्च रक्षितं भवति. न च पुनःपुनः कर्तव्यं पतति. तत्र हेतुमा**हामोघविहार** इति, न मोघो व्यर्थो विहारो यस्य. अनेनोभयत्रापि हेतुरुक्तः ॥४९॥

अस्य दुष्टस्वभावत्वे भगवतश्च शिक्षकत्वे हेतुमुक्त्वा कार्यमाह **तस्यैव तेमू**रिति.

तस्यैव तेमूस्तनवस्त्रिलोक्यां शान्ता अशान्ता उत मूढयोनयः ।
शान्ताः प्रियास्ते ह्यधुनावितुः सतां स्थातुश्च ते धर्मपरीप्सयेहतः ॥५०॥

यदा भगवान् स्वार्थमेव सर्वं करोति तदा सर्वाण्येव शरीराणि भगवल्लीलौपयिकत्वाद् भगवत्तनवो भवन्ति. ते च त्रिविधाः– **शान्ताः** सात्त्विका **अशान्ता**

राजसा विक्षिप्ता **मूढयोनय**स्तामसास्तवैव **तनवः**. द्वितीयसर्गप्रकारोऽत्रोपयुज्यते, दैत्यांशानां तत्रैवोपकार इति. मूढयोनिषु तथात्वमनुचितमित्याशङ्क्य **उत** इत्युक्तम्. तथा सति कथं भगवदवतारलीला? तत्राह **शान्ताः प्रियास्त** इति. **अधुनावितुः** पालकस्य **धर्मपरीप्सया** धर्मरक्षेच्छया **स्थातुः** स्थानेच्छोः. **शान्ता** एव सात्त्विका एव **प्रिया** न त्वतिरिक्ता उभयविधाः. ते हि नाशका उत्पादकाश्च. उत्पादका अप्यनभिमताः, अधिकभारजनकत्वात्. नाशकास्तु विरोधिन एव. अनेनोभयमपि कार्यमुक्तम् ॥५०॥

तथाप्यस्यापराधः सोढव्य इत्याहुर**पराध** इति.

अपराधः सकृद् भर्त्रा सोढव्यः स्वप्रजाकृतः ।
क्षन्तुमर्हसि शान्तात्मन् मूढस्य त्वामजानतः ॥५१॥

यद्यपि साम्प्रतमन्याभिनिवेशस्तथाप्यस्मदादीनामपि भवानेव पतिरतोऽनवसरे कार्यकरणाद**पराधः** सोपि **सोढव्यः, स्वस्यैव प्रजाभिः** पालनीयाभिः **कृत** इति. अन्यथा पालकत्वं न स्यात्. कार्यनिर्वाहार्थं च **सकृदेव सोढव्यो** ज्ञापनार्थः स्वस्य प्रजाभिः कृतः. पुनरपराधे ज्ञात्वा करणात् मारणमेवोचितं, विरोधित्वात्. अत एव **क्षन्तुमर्हसि.** क्षमायामुपायान्तरमप्याह **शान्तात्मन्नि**ति, शान्त आत्मा यस्य. सत्त्वनिधानत्वात् क्षोभाभावाद् दण्डेन कार्यस्य सिद्धत्वादग्रे प्रतिबन्धकत्वाभावाच्च सोढव्यः. नन्वज्ञानात् कृतमिति कथमवगन्तव्यम्? ज्ञातकरणपक्षे तु सकृदपि न सोढव्य इत्याशङ्क्याहु**र्मूढस्ये**ति. स्वभावादेवायं सर्पयोनिस्तामसः, अतो मौढ्यात् **त्वां** न जानाति. अज्ञानात् कृतमकृतप्रायम् ॥५१॥

क्षमायां यत् कर्तव्यं तदाहु**रनुगृह्णीष्वे**ति.

अनुगृह्णीष्व भगवन् प्राणांस्त्यजति पन्नगः ।
स्त्रीणां नः साधुशोच्यानां पतिः प्राणः प्रदीयताम् ॥५२॥

अनुग्रहः कर्तव्यः. नन्वनुग्रहे को हेतुः? तत्राह **भगवन्नि**ति, तवैव गुणो हेतुभूतो न त्वस्य. तर्हि सर्वत्रैव प्रसादो भवेदित्याशङ्क्य निमित्तमाहुः **प्राणांस्त्यजती**ति. कृपावसरोयं, यथा कृपायां भक्त्यादिर्हेतुः एवं समयोपि, अत एव ग्रहणादिकाले सेवारहितायापि यथा दीयते तथा कृपा विधेयेत्यर्थः. **पन्नग** इति जीवमात्रमित्यल्पता दयायां हेतुः. नन्वल्पत्वादेव किमनेन जीवितेनेत्याशङ्क्याहुः **स्त्रीणामि**ति, **स्त्रीणा**मस्माकं **पति**रूपोयं; **प्राणः प्र**कर्षेण **दीयतां, स्त्रीणां** प्राणरक्षा सर्वथा कर्तव्येति. ननु स्त्रियोपि दुष्टाः, "शालावृकाणां हृदयान्येता" इतिश्रुतेरित्याशङ्क्याहुः **साधुशोच्याना**मिति. सत्यं दुष्टाः स्त्रियः परं स योनिदोष एव न तु जीवदोषः. अतः साधवस्तं जीवं शोचन्ति– कथमयं स्त्रीशरीरे पतित इति यत्र सर्वदा भयं पराधीनता मुक्त्यभावश्च. भवांश्च साधूनां परिपालकः, अतस्तेषां शोकाभावायास्मत्प्राणा रक्षणीया इति भावः ॥५२॥

ननु मुक्तिः सर्वेषामपेक्षितातः प्राणरक्षापेक्षया मुक्तिरेव कथं न प्रार्थ्यत इत्याशङ्क्याहु**र्विधेहि ते किङ्करीणा**मिति.

विधेहि ते किङ्करीणामनुष्ठेयं तवाज्ञया ।
यच्छ्रद्धयानुतिष्ठन् वै मुच्यते सर्वतो भयात् ॥५३॥

वयं ह्यात्मनिवेदनेनैव तव दास्या जाताः. तासां च स्वधर्मस्तवाज्ञापरिपालनं, यत**स्ते किङ्करीभिस्तवाज्ञयैवानुष्ठेयम्.** ततः किमत आह **यत्** तवोक्तं **श्रद्धयानुतिष्ठन् सर्वत** एव **भयान्मुच्यते.** मुक्तिस्तु तवाज्ञाकरणेनापि भविष्यति. एवमेव मुक्तौ

टिप्पणी

अपराधः सकृद् भर्त्रेत्यत्र, **यद्यपी**त्यादि. पालकत्वेन **साम्प्रतं** सात्त्विकेष्वेव कृपा, न राजसतामसयोरतस्तयोः स्वकार्यकरणे**ऽनवसर** इति तत्करण**मपराधस्तथापि** तयोरपि **भवानेव पतिरि**ति सोढव्य इत्यर्थः ॥५१॥

प्रकाशः

ह्युतपदतात्पर्यमाहु**र्द्वितीयसर्गे**त्यादि. आसुरसर्गो द्वितीयसर्गो, "द्वौ भूतसर्गावि"त्यादिवाक्यात्. **तत्प्रकारो** ये तेष्वज्ञास्तेषु तेषु यः प्रकारो दुष्टस्वभावत्याजनरूपो**ऽत्र** मूढयोनिषु **युज्यते.** तत्र हेतु**र्दैत्ये**त्यादि, तथा च साम्प्रतं तत्समयाभावादयमेवोपयुज्यत इत्यर्थः. **उतेत्युक्त**मिति विकल्पबोधकपदमुक्तम्. **अवतारलीले**ति दुष्टनिग्रहलक्षणा. **उभय**मिति दुष्टनिग्रहः शिष्टपालनं च ॥५०॥

अपराध इत्यत्र **यद्यपी**त्यादेरर्थं टिप्पण्यामाहुः **पालकत्वेने**त्यादि. **ज्ञापनार्थ** इति स्वस्वभावज्ञापनार्थः ॥५१॥

लेखः

क्रीडार्थं जगत्करणप्रकार इत्यर्थः. उपसंहारे **उभयमपी**ति सद्रक्षा धर्मपरीप्सा चेत्यर्थः ॥५०॥

लेखः

अपराध इत्यत्र **अत एवे**ति, यतो भर्त्रा सोढव्यो भवति अत एव त्वं **क्षन्तुं** सोढु**मर्हसी**त्यर्थः. **उपायान्तर**मिति, प्रजात्वं स्वनिष्ठं कारणमुक्तं, शान्तिरपि भवन्निष्ठा कारणान्तरमस्तीत्यर्थः. **कार्यस्ये**ति निग्रहस्येत्यर्थः ॥५१॥

विधेहि त इत्यत्र **आत्मनिवेदनेने**ति, आत्मनो निवेदनं दुःखितत्वज्ञापनं तेनेत्यर्थः ॥५३॥

दास्यमात्मनिवेदनं व्यर्थं स्याद् भक्तिरसश्चाननुभूतः स्यात्. अतोऽयं देय इति प्रार्थना ॥५३॥

ततो यत् कृतवांस्तदाह **इत्थमि**ति.

॥ श्रीशुक उवाच ॥

इत्थं स नागपत्नीभिर्भगवान् समभिष्टुतः ।
मूर्छितं भग्नशिरसं विससर्जाङ्घ्रिकुट्टनैः ॥५४॥

एवम्प्रकारेण **सम्यगभिष्टुतो मूर्छितम**न्तःखिन्नं **भग्नशिरसं** बहिःखिन्न**मङ्घ्रिकुट्टनै**रेव **विससर्ज** स्वयं जले जलक्रीडामेव कुर्वन् पादप्रहारेणैव तं स्त्रीणां स्थाने प्रक्षिप्तवानित्यर्थः ॥५४॥

ततो यद् जातं तदाह **प्रतिलब्धे**ति.

प्रतिलब्धेन्द्रियप्राणः कालीयः शनकैर्हरिम् ।
कृच्छ्रात् समुच्छ्वसन् देवः कृष्णं प्राह कृताञ्जलिः ॥५५॥

प्रतिलब्धानीन्द्रियाणि प्राणाश्च येन. **प्राण**ग्रहणं बलार्थम्. मूर्छित"स्यार्धसम्पत्त्या" इन्द्रियाणां प्राणानां च पुनरागमनम्, अतः प्रतिलम्भः. **कालीय** इति प्रसिद्धः सद्बुद्धिहेतुः. **शनकै**रिति शीघ्रता सूचिता. **हरि**मिति निर्भयत्वं स्वस्य जीवनाशा च. अतो वाक्यनिःसारणार्थं **कृच्छ्रात्** कष्टेन **सम्यगुच्छ्वसन्** यथाशास्त्रं **देव**रूपं गृहीत्वा **कृताञ्जलिः** सन्नाह ॥५५॥

॥ कालिय उवाच ॥

वयं खलाः सहोत्पत्त्या तामसा दीर्घमन्यवः ।
[1]स्वभावो दुस्त्यजो नाथ लोकानां यदसद्ग्रहः ॥५६॥

स्वापराधं निवेदयति कृपार्थम्. **वयं** स्वभावत एव **खलाः** परोपद्रवकारिणो

प्रकाशः

प्रतिलब्धेत्यत्र **मूर्च्छितस्यार्धसम्पत्त्ये**ति, "मुग्धेर्धसम्पत्तिः परिशेषादि"तितार्तीयीकसूत्रात् (ब्र. सू. ३/२/१०) तथेत्यर्थः. **शीघ्रता सूचिते**ति, यद्यपि **शनकैः**पदार्थो मन्थरता तथापि घटिकानन्तरं स्तुतिकृतौ बलाधिक्यस्य जातत्वाच्छनकैः स्तुतिकरणं न स्यात्. तथा चायं शनकैः करोतीतीन्द्रियप्राणप्रतिलम्भाव्यवहितोत्तरकालीनत्वं स्तुतौ प्राप्यत इति **शनकैः**पदेनैव स्तुतिकरणे शीघ्रता सूचितेत्यर्थः. **यथाशास्त्र**मित्यादि तु **कृताञ्जलि**पदतात्पर्यमुक्तम् ॥५५॥

१. इदमर्धं श्रीसुबोधिन्यां नोपलभ्यते.

दुष्टस्वभावाः. तदु**त्पत्त्यैव सह**; उत्पत्तिशिष्टोऽयं दोषो न त्वागन्तुकः, अतः शिक्षा व्यर्था, अनिवर्त्यदोषत्वात्. सर्वथा मारणपक्ष उत्पादनमेव व्यर्थं स्यात्. तथापि शिक्षया कश्चन गुणो भविष्यतीत्याशङ्क्याह **तामसा** इति. तामसास्तु ज्ञानरहिताः. अनुसन्धाने विद्यमाने हि शिक्षणमुपकाराय भवति; तामसानां तु नानुसन्धानम्. किञ्च प्रत्युतापकार एव भवति यतो वयं **दीर्घमन्यवः**. अनेनैवं ज्ञापितं– मन्मारणेपि मदीयोन्योऽपकरिष्यति त्वत्सेवकेभ्यः पश्चाद्वा, तस्मादप्रतीकार्यदुष्टा वयमिति ॥५६॥

अस्माकमेवंरूपत्वे भवानेव हेतुरित्याह **त्वया सृष्टमि**ति.

त्वया सृष्टमिदं विश्वं धातर्गुणविसर्जनम् ।
नानास्वभाववीर्यौजोयोनिबीजाशयाकृति ॥५७॥

समुदायजननात् न दोषः. ब्रह्मणा सृष्टमित्याशङ्क्याह **धातरि**ति, त्वमेव विधाता. ननु भगवत्कार्यं कथमेतादृशं? तत्राह **गुणानां विशेषेण सर्जनं** यत्र. तत्त्रैविध्यं सर्वत्रैव सम्बध्यत इति भेदान् गणयति– **नाना**विधाः **स्वभावा**दयो यस्मिन्निति. **स्वभावः** प्रकृतिधर्मो जीवगतः, **वीर्य**मिन्द्रियधर्मः, **ओजः** प्राणधर्मः, **योनि**र्मातृधर्मः, **बीजं** पितृधर्मः, **आशयो**न्तःकरणस्य –एते सर्व एव **नाना**विधाः प्रत्येकसमुदायाभ्यामनेकविधा भवन्ति. अत एव नानात्वं वैचित्र्यं च ॥५७॥

अस्माकं तु सर्वमेव तामसमित्याह **वय**मिति.

वयं च तत्र भगवन् सर्पा जात्युरुमन्यवः ।
कथं त्यजामस्त्वन्मायां दुस्त्यजां मोहिताः स्वयम् ॥५८॥

चस्त्वर्थे, भौतिकाग्न्यादीनामपि सङ्ग्रहार्थं च. **तत्र** सृष्टौ. **भगवन्नि**ति सम्बोधनं ज्ञानार्थम्. **सर्पा जात्यैव उरुमन्यवः**. जातिस्वभावौ दुष्टौ निरूपितौ– गुणातीतावस्थया सात्त्विकावस्थया वा मायापरित्यागो भवति, सर्पाणां क्रोधवशानां च न तत् सम्भवति. अतः **कथं त्वन्मायां त्यजामः!** ननु दोषपरिज्ञाने कथं न त्यागः?

प्रकाशः

वयं खला इत्यत्र **तदि**ति दुष्टस्वभावत्वम्. **त्वत्सेवकेभ्य** इति चतुर्थी ॥५६॥

त्वया सृष्टमित्यत्र. नन्वेवं कृतौ वैषम्यदोषापत्तिरिति तत्परिहारमाहुः **समुदायजननात् न दोष** इति. सदसतोः समुदायस्यैकदैव जननात् तद्विभागाभावेनादोष इत्यर्थः. पूर्वमेकविधं सृष्ट्वा पश्चात् तत्रान्यथाकरणे हि तत् स्यादिति भावः ॥५७॥

लेखः

वयं खला इत्यत्र **तदि**ति खलत्वमित्यर्थः ॥५६॥

तत्राह **दुस्त्यजामिति**, त्वदीया मायास्मत्कृतैरुपायैः सर्वथा दुस्त्यजा. तर्हि त्यागार्थं भगवानेव किं न प्रार्थ्यते? तत्राह **मोहिताः स्वयमिति**, स्वयमेव मोहिताः, आत्मैव विमोहितः, अतः स्वहितापरिज्ञानात् त्यागार्थमपि न प्रयत्न इत्यर्थः ॥५८॥

तर्ह्यवश्यं भवद्भ्यो दोषोत्पत्तिसम्भवात् मारणीया एव भवन्त इति चेत्, तत्राह **भवान् हि कारणमिति**.

भवान् हि कारणं तत्र सर्वज्ञो जगदीश्वरः ।
अनुग्रहं निग्रहं वा मन्यसे तद् विधेहि नः ॥५९॥

अस्माकमेवम्भावे **भवानेव कारणं,** "बुद्धिर्ज्ञानमसम्मोह" इत्यादिवाक्यान्यत्र प्रमाणमिति **हि**शब्द आह. एवं सति **तत्रानुग्रहं निग्रहं वा** यदुचितं **तन्नो**ऽस्मभ्यं **विधेहि.** अपराधः कृत इति निग्रहः कर्तव्यस्त्वया कारित इत्यनुग्रहः कर्तव्यः. ननु विरोधे शास्त्रार्थः को वा भवेत्? यद्यनेन दण्डः कृतः स्यात् त्वयानुग्रहः कर्तव्य इति तूचितम्, अथ भवानेव सर्वरूपस्तदा निग्रहस्य कृतत्वादनुग्रहः कर्तव्यः. अथ निग्रहोऽनुग्रहश्च कृतावाहोस्विन्न कृतावेतदुभयं **सर्वज्ञत्वाद्** भवानेव जानाति, अतो यत् **मन्यसे तद् विधेहि.** शक्त्यभावस्तु तव नास्तीत्याह **जगदीश्वर** इति ॥५९॥

एवं श्रुत्वा यत् कृतं भगवता तदाह**इत्याकर्ण्ये**ति.

॥ श्रीशुक उवाच ॥

इत्याकर्ण्य वचः प्राह भगवान् कार्यमानुषः ।
नात्र स्थेयं त्वया सर्प समुद्रं याहि मा चिरम् ।
स्वज्ञात्यपत्यदाराढ्यो गोनृभिर्भुज्यतां नदी ॥६०॥

वच एव श्रुतमर्थस्तु पूर्वमेव परिज्ञातः. यद्यपि प्रसादः कर्तव्यः, स्वकृतत्वात् पूर्वभावस्य स्तुतत्वाच्च, तथापि समयानुरोधेन प्रसादोऽन्यथा कर्तव्य इतिज्ञापनार्थ-

---

प्रकाशः

आकर्ण्येत्यत्र **प्रसादः कर्तव्य** इति, **प्रसादः** स्वधर्माविष्करणपूर्वकं स्थापनम्. **अन्यथा कर्तव्य** इत्यन्यथाकृतिस्तथा कृत्वान्यत्र स्थापनम्. ननु भगवत्स्थापितत्वाद्

लेखः

इत्याकर्ण्येत्यस्याभासे **यत्कृतमिति** प्रकारान्तरेण प्रसादः कृत इति सार्धचतुष्टयश्लोकवाक्यार्थ उक्तः. एतद्वाक्यार्थस्त्वाज्ञात्रयकथनमुपसंहारे वक्ष्यते. व्याख्याने. **वच एवे**ति, अर्थस्य पूर्वमेव ज्ञातत्वात् न वाक्यत्वमिति भावः. **स्वकृतत्वादिति**, तदपराधं विना तत्सदनाभिभवस्य स्वत एव कृतत्वादित्यर्थः. **पूर्व-**

माह **कार्यमानुष** इति. यत्र कार्यार्थमयुक्तं मानुषभावमपि प्रदर्शयति तत्रास्य भक्तस्यापि प्रसादान्यथाकरणं किं वक्तव्यं? न च तस्य बाधकशङ्कयान्यथा करोतीति शङ्कनीयं, यतो भगवानाज्ञापयति. हे **सर्प** गमनसमर्थ, **अत्र त्वया न स्थेयं, समुद्रं** गच्छ, **चिरं मा** —आज्ञात्रयम्. गमने प्रकारमाह **स्वज्ञात्यपत्यदाराढ्य** इति, ज्ञातयो ज्ञातीया अपत्यानि दाराश्च तैराढ्य इति. यत्र क्वापि तव स्थितौ न कोपि प्रयास इति सूचितम्. इतो गमने हेतुमाह **गोनृभिर्भुज्यतां नदी**ति. अनेन त्वया नदी दूषितेति तस्याधिको दोषो निरूपितः ॥६०॥

"सर्पजात्युरुमन्यव" इतिवाक्यात् कदाचिद् वैष्णवान् पीडयिष्यतीति भगवानाज्ञान्तरमाह **य एतत् संस्मरे**दिति.

य एतत् संस्मरेत् मर्त्यस्तुभ्यं मदनुशासनम् ।
कीर्तयन्नुभयोः सन्ध्योर्न युष्मद्भयमाप्नुयात् ॥६१॥

वैष्णवः सर्पेण न भक्षणीयएव **यः** पुनरेतावन्मात्रमपि **स्मरेत्** सोपि न **युष्मत्तो भयमाप्नुयात्.** एतत् तव निग्रहलक्षणं चरित्रमित्याह **तुभ्यं मदनुशासनमिति**– तुभ्यं त्वदर्थं मदीयं यदनुशासनमाज्ञा, एतावन्मात्रं वा सम्यक् स्मरणं ध्यान-

---

प्रकाशः

गरुडोऽत्र समायास्यतीत्यस्य बाधकशङ्कयायमन्यत्र प्रेषितो, न तु **कार्यमानुष**त्वादित्याशङ्कायामाहुर्न **चे**त्यादि. यस्मा**दाज्ञापयत्य**तः कार्यार्थमेव निस्सारणं, न तु गा(ग!)रुडशङ्काभावार्थं तन्निवृत्तिः, प्रकारान्तरेणापि निवृत्तत्वात् ॥६०॥

य एतदित्यत्र **यः पुनरि**त्यवैष्णवोपीत्यर्थः ॥६१॥

लेखः

भावस्येति सृष्टिभावस्येत्यर्थः. **अन्यथे**ति, अत्र स्थापनप्रकारादन्येन प्रकारेण समुद्रे स्थापयित्वा गरुडभयाभावसम्पादनेनेत्यर्थः ॥६०॥

य एतदित्यत्र. ननु **दीर्घमन्यु**पदतात्पर्यार्थत्वेन वैष्णवपीडाया उक्तत्वात् तत्समाधानार्थमत्र वैष्णवपीडाभाव एव वक्तव्यो न तु स्मरणमात्रेण सर्वेषां तद्भयाभाव इत्याशङ्क्याहुः **वैष्णव** इति. तत्र हेतुः **यः पुनरि**ति. तथा च कैमुतिकन्यायेन वैष्णवपीडाभाव एव समर्थितः. **दीर्घमन्यु**पदे तात्पर्यार्थत्वेन वैष्णवपीडोक्तेत्यत्रापि वाक्यतात्पर्यार्थत्वेन तदभाव उक्त इति भावः. परीक्षितस्तु न सर्पाद् भयं किन्तु ब्राह्मणात् जातमिति भावः. प्रथमपक्षे **मदनुशासनमित्यत्रानुशासनं** निग्रह इत्यर्थः. आज्ञयैव पीडाभावो भविष्यतीति तावत्कथनमनतिप्रयोजनमित्याशयेन पक्षान्तरमाहु**स्तुभ्यं त्वदर्थमि**ति ॥६१॥

पूर्वकम्, अथवा **कीर्तयन्नुभयोः सन्ध्योः** सायं प्रातरेतच्चरित्रं पठनीयम्, उभयं वा कर्तव्यम्. **न प्राप्नुयादिति** विध्यर्थोऽयम् ॥६१॥

ननु सर्पभक्षणनिमित्तपापे विद्यमाने कथं न सर्पो भक्षयेत्? तत्राह **अस्मिन् स्नात्वेति.**

अस्मिन् स्नात्वा मदाक्रीडे देवादींस्तर्पयेज्जलैः ।
उपोष्य मां स्मरन्नर्चेत् सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥६२॥

योस्मिन्निति वा. **अस्मिन्** कालीयह्रदे. स्थानान्तरापेक्षया विशेषमाह **मदाक्रीड** इति, ममाक्रीडा यत्र, **स्नान**मात्रेणैव तस्य देहसम्बन्धि पापं गच्छति. **उपोष्य मां स्मरन्नर्चे**दित्यत्रोपवासे प्राणसम्बन्धि पापं गच्छति, मत्स्मरणेनान्तःकरणपापम्, अर्चनेनेन्द्रियपापम्. पापकरणदशायां यद् देवानां चक्षुष्यागो जातं तत्र देवा बहुविधा देशकालकर्मसाक्षिणोभिमानिनश्च पितरश्च वंश्याः क्रुद्धा भवन्त्यृषयश्च वेदोल्लङ्घनात्. अतो **देवादीन् जलैस्तर्पयेत्.** मत्क्रीडया चरित्रामृतपूर्णं जलं पीत्वा तृप्ताः सन्तः प्रत्युताशिषमेव प्रदास्यन्ति, न तु क्रोधं करिष्यन्तीति भावः. अनेन पूर्वदिवसेपि स्नानतर्पणे विहिते, द्वितीयदिवसेपि. काम्यं वैतत् स्नानं भिन्नमेव ॥६२॥

नन्वन्यत्र गते गरुडो भक्षयिष्यतीति चेत्, तत्राह **द्वीपमिति.**

द्वीपं रमणकं हित्वा ह्रदमेतदुपाश्रितः ।
यद्भयात् स सुपर्णस्त्वां नाद्यात् मत्पादलाञ्छितम् ॥६३॥

प्रकाशः

अस्मिन् स्नात्वेत्यत्र **योस्मिन्निति वेति** पाठान्तरे मूलस्थमुक्तम्. **अनेने**त्युपोषणात् पूर्वं स्नानादिकथनेन उपोषणानन्तरं चार्चादिकथनेनेत्यर्थः. **एतदिति** सर्पजनितभयनिवर्तकम्. यत्र ह्रदः सर्वपापनाशकस्तत्र तावन्मात्रपापनाशने कः सन्देह इति भावः ॥६२॥

लेखः

[१](**योस्मिन्नित्यस्याभासे नन्विति.** वैष्णवेपि यत्र भगवान् प्रारब्धं भोजयितुमिच्छति तत्र तद्भोगार्थं पीडा सम्भवत्यतः पापनिवृत्त्यर्थं वैष्णवेनाप्येतत् कर्तव्यं; "स्वपादमूलं भजत" इत्यत्र तु प्रमेयभक्तिमार्गीयस्य व्यवस्थोक्तेति भावः). **योस्मिन्नित्यत्र अनेनेति, पूर्वदिवसे** तु तीर्थविधिनैव प्राप्तिरि**त्यनेन द्वितीयेपि दिवसे** विहितमिति भावः. तर्ह्युपवासोपि द्वितीयदिने प्राप्येतेत्यरुच्या पक्षान्तरमाहुः **काम्यं वेति** ॥६२॥

---

१. एतत् कङ्करपल्लीतः प्राप्ते प्राचीनादर्शे नास्ति.

रमणके स पूर्वं स्थितः, ततो गरुडभयादत्रागतः. **यद्भयात् त्वमेतद्ध्रदमुपाश्रितः स सुपर्णस्त्वां नाद्या**दित्याज्ञा. यद्यप्याज्ञयैव निर्धारो भवति तथापि तस्य विश्वासार्थं हेत्वन्तरमाह **मत्पादलाञ्छितमिति** ॥६३॥

॥ श्रीशुक उवाच ॥

मुक्तो भगवता राजन् कृष्णेनाद्भुतकर्मणा ।
तं पूजयामास मुदा नागपत्न्यश्च सादरम् ॥६४॥

एवमुक्तो **भगवता** स भयात् **मुक्तो** जातः. भगवा**नद्भुतकर्मा** निग्रहं कुर्वन्ननुग्रहं कृतवान्, अन्यथास्य सञ्चार एव क्वापि नास्ति, कदाचिद् वा गरुडो भक्षयेत्. अनेन यथाकथञ्चिद् भगवत्सम्बन्धः सर्वथा मोचक इत्युक्तम्. **राजन्निति** सम्बोधनं सर्पभयाभावार्थम्. ततो भगवन्तं **पूजयामास.** दिव्यानि पुष्पाणि वस्त्रचन्दनादीनि न जलेन क्लिन्नानि भवन्ति. गरुडभयं निवर्तितमिति महान् प्रमोदो जात इति **मुदे**त्युक्तम्. **नागपत्न्यश्च सादरं** पूजयामासुः. रमणके तु न प्रेषितः, पुनः पूर्वदोषसम्भवात् ॥६४॥

पूजासाधनान्याह **दिव्येति.**

दिव्याम्बरस्रङ्मणिभिः परार्घ्यैरपि भूषणैः ।
दिव्यगन्धानुलेपैश्च महत्योत्पलमालया ॥६५॥

दिव्यान्यम्बराणि स्रजो माला **मणयश्च** सर्पशिरोरत्नानि, **परार्घ्याण्य**मूल्यानि **भूषणानि** मुकुटकटककेयूरादीनि. **दिव्यो गन्धो** येषाम् एतादृशा **अनुलेपा**श्चतुः समादयो **महती चोत्पलानां माला.** एवमलङ्कारचतुष्टयमपि कृतवान् ॥६५॥

पूजयित्वा जगन्नाथं प्रसाद्य गरुडध्वजम् ।
ततः प्रीतोभ्यनुज्ञातः परिक्रम्याभिवन्द्य च ।
सकलत्रसुहृत्पुत्रो द्वीपमब्धेर्जगाम ह ॥६६॥

ततः पूजयित्वा प्रसाद्याब्धेर्द्वीपं जगामेति सम्बन्धः. ननु पीडितः कथं पूजां कृतवान्? तत्राह **जगन्नाथमि**ति, स हि सर्वस्वामी तत्रापि रक्षकः स एवेति युक्तमेव

प्रकाशः

द्वीपमित्यत्र. नन्वनुग्रहोत्र कः कृत इत्यत्राहु**रन्यथे**त्याद्यनुग्रहाभावे. तथा च सर्वत्र सञ्चारो गरुडभयाभावश्चानुग्रह इत्यर्थः ॥६३॥

मुक्त इत्यत्र **सर्पभयाभावार्थमि**त्ययमर्थो— मृत्योर्नित्यत्वात् सर्पद्वारापि मरणे न भयं किन्तु तथा मरणस्य दुर्गतिहेतुत्वाद् भयत्वं, तथा च तथा सत्यपि तस्य तथात्वाभावात् न तथेति. **पूर्वदोष** इति, स चाग्रिमाध्याये स्पष्टः ॥६४॥

तदाज्ञाकरणं, ततः प्रार्थितवान् प्रसन्नो भवेदिति. तत्र हेतुमप्याह **गरुडध्वजमिति**, गरुडो ध्वजे यस्य; कोट्यंशेनापि भगवान् न प्रसन्न इति यदि गरुडो जानीयात् तं भक्षयेदेव, अतः प्रसादः करणीय एव. **ततो** भगवत्प्रसादानन्तरं **प्रीतः** सन्तुष्टो भगवता **चाभ्यनुज्ञातः** प्रथमतस्तु क्रोधेनाज्ञानेन बुद्ध्या ततोप्यनुज्ञातः **परिक्रम्य** प्रदक्षिणीकृ**त्याभिवन्द्य च** सम्भृतिं कृत्वा सर्वसहायोऽ**ब्धेर्द्वीपं** सर्वेषामगम्यं **जगामे**ति. **हे**त्याश्चर्यम् ॥६६॥

तदैव सामृतजला यमुना निर्विषाभवत् ।
अनुग्रहाद्भगवतः क्रीडामानुषरूपिणः ॥६७॥

तस्मिन्निर्गत एव **तदैव** भगवत्कृपया **सा यमुना** मिष्टोदकाऽ**भवत्, निर्विषा** च. न केवलम**त्रामृत**त्वं मिष्टतामात्रपरं किन्तु मरणनिवर्तकमपि. सहजोपि यमुनायां यो दोषो विषादिः स्थितः सोपि गतः. तत्र हेतु**रनुग्रहाद् भगवत** इति, न केवलं कालीयगमनेन निर्विषा जाता किन्त्वनुग्रहाद् भगवतः. क्रीडायाः करिष्यमाणत्वात् तस्यामनुग्रहः. ज्ञानादिकं तु सूचयति **भगवत** इति. ननु किमिति क्रीडा तस्यां कर्तव्या? तदाह **क्रीडामानुषरूपिण** इति, क्रीडार्थमेव मानुषरूपवान्, अतोऽवश्यं यमुनायां क्रीडा विधातव्यातः प्रसाद इति. अनेन यमुनायाः सर्वदोषनिवृत्तिः सूचिता ॥६७॥

॥ इति श्रीमद्भागवतसुबोधिन्यां श्रीमद्वल्लभदीक्षितविरचितायां दशमस्कन्धविवरणे द्वितीये तामसप्रकरणेऽवान्तरप्रमेयप्रकरणे वीर्यनिरूपकद्वितीयाध्यायस्य स्कन्धादितः त्रयोदशाध्यायस्य विवरणम् ॥

प्रकाशः

पूजयित्वेत्यत्र **ततः प्रीत** इति **क्रोधेनाज्ञानेन बुद्ध्ये**ति, **क्रोधेनाज्ञानेन** कृतापराध**स्ततो** भगवति **सद्बुद्ध्या प्रीत** इत्यर्थः ॥६६॥

तदैवेत्यत्र **प्रसाद** इति स्वधर्माविष्करणम्. **अनेने**त्यादि, प्रसादस्य करिष्यमाणत्वकथनेन निरोधरूपा **सर्वदोषनिवृत्तिः सूचिते**ति ज्ञेयम्. पाद्मोत्तरखण्डे

लेखः

जगन्नाथमित्यत्र सर्वस्वामित्वेपि प्रकृते न कोपि विशेष इत्यत आहु**स्तत्रापी**ति. "स वै पतिः स्यादि"तिलक्षणकं नाथत्वमभिप्रेतमिति ज्ञेयम् ॥६६॥

प्रकाशः

तु कालीयदूरीकरणस्य दिनमप्युक्तं— "निदाघान्ते तु पञ्चम्यां कालीयं निरयापयदि"ति. अयं वीर्याध्यायः स्पष्टः ॥६७॥

॥ इति श्रीमद्वल्लभनन्दनचरणैकतानश्रीयदुपतितनुजपीताम्बरविरचिते दशमस्कन्धसुबोधिनीटिप्पण्योः प्रकाशे त्रयोदशाध्यायविवरणम् ॥

॥ इति त्रयोदशोध्यायः ॥

॥ तृतीयः स्कन्धादितः चतुर्दशोध्यायः ॥

चतुर्दशे भगवतो दर्शनान्निर्वृतो व्रजः ।
अग्नेः संरक्षितः पश्चात् प्रासङ्गिकमिहोच्यते ॥(१)॥
इन्द्रियप्राणयोर्दोषो निवार्यस्तु सहैव हि ।
अतः कालीयकथया दाहाभावो निरूप्यते ॥(२)॥

प्रकाशः

चतुर्दशाध्यायतात्पर्यं निरूपयन्तः कालीयदूरीकरणोत्तरं भगवान् किं कृतवानित्याकाङ्क्षायामग्रिममवसरसङ्गत्या निरूपयतीति वदन्तः प्रासङ्गिकमप्युक्तवानित्याहु**श्चतुर्दश** इत्यादि. निर्दुष्टैरिन्द्रियै**र्भगवतो दर्शनात् निर्वृतो व्रजः पश्चात्** तत आगमनानन्तर**मग्नेः संरक्षित इत्युच्यते** –एषा भगवल्लीला अध्यायार्थ इत्यर्थः. अयं च "व्रजे वसन् किमकरोदि"तिप्रश्नोत्तरस्यैव प्रपञ्चो ज्ञेयः. **इहा**स्मिन्नध्याये कालीयोपाख्यानं तु विशेषप्रश्नात् **प्रासङ्गिकमुच्यते,** न तु सो(!)ऽध्यायार्थ इत्यर्थः (१).

योजना

चतुर्दशाध्यायार्थकथने **इन्द्रियप्राणयोर्दोष** इत्यादि. कालीयदमनेन निरोध्यभक्तानामिन्द्रियदोषो नाशितः. एवं निशीथसमये समागतो दावाग्निर्भगवता दूरीकृतः स प्राणदोषात्मेति तस्य निवारणमावश्यकमेव. तस्य दवाग्नेर्निरोध्यभक्तदोषरूपता तु "लोभक्रोधादयो दैत्या"इति कृष्णोपनिषत्सु कृष्णावतारनाश्यानां लोभादिदोषात्मकत्वोक्तेर्युक्ता. तत्र प्राणदोषरूपत्वं तु तत्सदृशधर्ममादायेति बोध्यम्. एतस्याग्नेरपि दैत्यत्वं, भक्तनाशार्थं प्रवृत्तेः. न हि स्वाभाविकदैत्यत्वमावेशदैत्यत्वं वा विना कोपि भक्तनाशार्थं प्रवर्तते ऽतस्तथा. **अतः कालीयकथये**ति सहार्थे तृतीया; **कालीयकथया** सह **दाहाभावो निरूप्यत** इत्यर्थः (२-३).

कारिकार्थः

चतुर्दशाध्याये **भगवत** इति. अत्राध्याये **भगवतो दर्शनात् निर्वृत** आनन्दितो **व्रजः पश्चादग्नेः संरक्षितः. प्रासङ्गिकं** सौभर्युपाख्यानमित्यर्थः (१). अस्मिन्नध्याये कालीयकथया सह दावाग्निनिवृत्तिकथने हेतुमाहुः **इन्द्रियप्राणयोर्दोष** इत्यादि. इन्द्रियप्राणयोर्मध्ये एकस्यापि सदोषत्वे द्वितीयस्य निर्दोषत्वमप्रयोजकमिति तयोर्दोषः **सहैव निवार्यः, अत** इन्द्रियदोषात्मक**कालीयकथया** सह प्राणदोषात्मकदावाग्निजनितदा**हाभावो निरूप्यत** इत्यर्थः (२). **प्रासङ्गिककथे**त्यादि, **प्रासङ्गिककथा तु हरेरद्भुतकर्मतां वक्तुमुक्ता.** मत्स्यरक्षार्थं भक्तस्य गरुडस्यापराधे कृते भगवता

प्रासङ्गिककथा त्वत्र हरेरद्भुतकर्मताम् ।

टिप्पणी

चतुर्दशाध्याये प्रकरणतात्पर्योक्तौ **इन्द्रियप्राणयोर्दोष** इत्यादि. क्षुद्रूपाग्नेः प्राणधर्मत्वेनात्र चाग्नेः निवृत्त्युक्त्या प्राणदोषनिवृत्तिरेवोच्यते. **कालीयकथया** सह कथने हेतुः **सहैव हीति**, अन्यतरदोषसत्त्वेप्युभयकार्यावश्यंभावेन तथा. महतो गरुडस्यापि प्राणदोषादेव शापप्राप्तिर्यतोतः सर्वथा निवर्तनीय इति ज्ञापनाय पूर्वं

प्रकाशः

ननु पूर्वाध्याय इन्द्रियदोषनिवृत्तिः सिद्धा कालीयस्येन्द्रियत्वकथनाद्, एवं सत्यत्र तदनुरोधि किमुच्यत इत्याकाङ्क्षायामाहु**रिन्द्रिये**त्यादि. तदर्थं टिप्पण्यामाहुः **क्षुद्रूपे**त्यादि, तथा च प्राणाध्यासनिवृत्तिरत्रोच्यत इत्यर्थः. **सह**कथनतात्पर्यमाहु**रन्यतरे**त्यादि. अरोचकस्य मुखविकारत्वेन वैद्यक उक्तत्वाद् रुचेरपि रसनधर्मत्वं, तेन तस्य क्षुत्कार्यत्वमिति स्पष्टं, क्षुधा च रसास्वाद इति तथा. एवं बलस्य प्राणधर्मत्वेनेन्द्रियकार्यत्वमिन्द्रियैर्विषयाकृष्टैश्च तत्कार्यमित्यादि च तथेत्यूहनीयम्. तथा चेन्द्रियप्राणान्यतरदोषसत्त्वेप्युभयकार्यावश्यम्भाव इत्यतो द्वयोः **सहैव कथा निरूप्यत** इत्यर्थः. पूर्वं कालीयकथानिरूपणस्यापि तात्पर्यमाहु**र्महतो गरुडस्यापी**त्यादि. एतेन कालीयस्येन्द्रियदोषरूपत्वमपि स्फुटीकृतं बोध्यम्. यथा प्रथमस्य तृतीये पादेऽपशूद्राधिकरणे जानश्रुतेः क्षत्रियत्वनिश्चायनार्थं द्वितीयसूत्र उत्तरत्र "चैत्ररथेन लिङ्गादि"त्यनेनांशे "नाथ ह शौनकञ्च कापेयमभिप्रतारणं च काक्षसेनिमि"त्युत्तरग्रन्थोक्तलिङ्गं हेतुत्वेनोक्तं, तथात्र गरुडक्षुधा व्रजस्थक्षुधा च प्राणदोषरूपोत्तरग्रन्थे निर्दिष्टा. तत्समभिव्याहारात् तेन लिङ्गेन कालीयस्यापि तथात्वमित्यपि बोधितम्. प्रासङ्गिककथायाः प्रयोजनान्तरमप्यस्तीति सुबोधिन्याशयं विवरितुं कारिकांशस्यार्थमाहुः **कालस्ये**त्यादि, **अद्भुतकर्ते**ति सौभरिस्तेनेति शेषः. तथा च तादृशीमद्भुतकर्मतां वक्तुं तया

लेखः

चतुर्दशेध्याये कारिकायां **प्रासङ्गिकमि**ति, निर्वृत्यनन्तर**मग्नेः संरक्षित** इति **प्रासङ्गिकमिहोच्यत** इत्यर्थः. संरक्षणस्य प्रासङ्गिकत्वं विशदयन्ति **इन्द्रिये**ति.

कारिकार्थः

कालीयस्तत्रानीतो येन सर्वमत्स्यनाशोभूदित्यद्भुतकर्मत्वम्. **अन्यथै**तल्लीलाभावे **सर्वदोषाः** सर्वेषां सौभर्यादीनां यमुनायाश्च दोषा **न यान्तीति** ज्ञापनाय प्रासंगिकी कथेत्यर्थः. सौभर्यादिदोषनिवृत्तिप्रकार उक्तष्टिप्पण्याम् (३).

वक्तुं युक्ता सर्वदोषा नान्यथा यान्ति हीति च ॥(३)॥

प्रथमं प्रासङ्गिकं पृच्छति **नागालयमिति.**

॥ राजोवाच ॥

नागालयं रमणकं कस्मात् तत्याज कालियः ।
कृतं किं वा सुपर्णस्य तेनैकेनासमञ्जसम् ॥१॥

"द्वीपं रमणकं हित्वे" ति यद् भगवतोक्तं तस्य परित्यागे हेतुर्वक्तव्यः. नापि तत् स्थानं गरुडस्येति शङ्कनीयं, यतः सहजं नागानामेव, तदाह **नागालयमिति. कस्माद्** हेतोरिति, यद्यपि भयं पूर्वमुक्तं तथापि तद् भयं साधारणं वासाधारणं? साधारणं चेत्, कथमन्यैर्न त्यक्तमनेन त्यक्तमिति भवति विशेषजिज्ञासा. विशेषभयं चेत्, तत्र हेतुं पृच्छति **कृतमिति; तेनैवैकेन सुपर्णस्य किं वासमञ्जसं कृतम्? सुपर्ण**त्वादक्लिष्टकर्मा. **एको** वा कथमपराधी ॥१॥

तत्रोपाख्यानमाह—

॥ श्रीशुक उवाच ॥

उपहार्यैः सर्पजनैर्मासि मासीह यो बलिः ।
वानस्पत्यो महाबाहो नागानां प्राङ् निरूपितः ॥२॥

टिप्पणी

प्रासङ्गिकी कथेति भावः. कालस्याप्यगम्यस्थलकर्ता तद्भयरहितस्यापि भयहेतुश्चेत्यद्भुतकर्ता. मत्स्यरक्षार्थं भक्तापराधे कृते भगवता स तत्रानीतो येन तत्सर्वनाशोऽभूदित्यप्यद्भुतं कर्म. किञ्च गरुडस्य प्रभुविहारस्थानत्वेनैव तत्रत्यजीवमात्रापीडनेन शापप्रयुक्तखादनाद्यभावात्सौभरेरपि भक्तापराधदोषनिवृत्तिः. सर्पस्थितितद्विषकार्यादिषु शापस्यैव मूलत्वात् तदुद्वासनादिनापि तथा. यमुनाया अपि दोषनिवृत्तिरनयैव लीलयेति ज्ञापनाय प्रासङ्गिकी कथेत्यर्थः (२-३).

प्रकाशः

सहाध्यायार्थकथाकथनमित्यर्थः. **सर्वदोषा** इत्यादेस्तात्पर्यमाहुः **किञ्चे**त्यादि. तथा च **सर्वदोषा** इत्यत्र सर्वेषां दोषा इति समासो ज्ञेयः (१-३).

लेखः

नान्यथेति, एतल्लीलाभावे **सर्वेषां** सौभर्यादीनां **दोषा न यान्ति इति च वक्तुम्** "अवात्सीद् गरुडाद् भीत" इत्यन्ता प्रासङ्गिकी कथोक्तेत्यर्थः. दोषाष्टिप्पण्यां विवृताः. तथा चाध्यायप्रतिपाद्यं संरक्षणमेव, अन्यत् तु तदङ्गत्वेनोक्तम् (१-३).

उपहरन्तीत्युपहाराः, उपहाराः समर्प्यन्त यैस्त **उपहार्या** उपहारसमर्पका इत्यर्थः. ते सर्व एव **सर्पजनाः** साधारणसर्पाः सर्पाणां वा जनाः सेवका अतलादिवासिनस्तैः सर्वैरि**वेह** रमणके **मासि मासि बलिः** क्लृप्तः. **य** इति प्रसिद्धः; एवं ह्याख्यायिका— गरुडः सर्वानिव सर्पान् भक्षयति सर्वदा मारयति च, कांश्चिद् (वस्यां!) वृथैव मातुर्वैरमनुस्मरन्. ततो वासुकिप्रमुखा गरुडाद् भीता ब्रह्माणं शरणं गताः. ततो ब्रह्मा गरुडं समाहूय सन्धिं कृत्वा दण्डरूपं बलिं कल्पितवान्— "अमावास्यायां (वस्यां!) वृक्षमूले नागलोकेषु यद् भवेद्। एकस्मिन् दिवसे तावदेकत्र स्थापयन्तु हि॥ ततो हि गरुडस्तस्मिंस्तद् भुक्त्वा नैव पीडयेद्। इति व्यवस्थयानया (व्यवस्थया!) सर्पा मासि मासि बलिं ददुः॥" (४-५)॥ तदाह **मासि मासीह यो बलिरिति. वानस्पत्यो** वनस्पतेर्मूले देयः. **महाबाहो** इति सम्बोधनं यथा त्वया सर्वेभ्यः करो गृह्यत एवं गरुडोपि गृह्णातीति सूचनार्थम्; अरयो न केवलं वध्याः किन्तु दण्ड्या अपि. ततः किम्? अत आह **नागानां** सम्बन्धी **प्राग्** दण्ड एवंविधो **निरूपितः** ॥२॥

स्वं स्वं भागं प्रयच्छन्ति नागाः पर्वणि पर्वणि ।
गोपीथायात्मनः सर्वे[1] सुपर्णाय महात्मने ॥३॥

ततः **स्वं स्वं भागं सर्व** एव **नागा** अष्टकुलपरिमिता सर्व एव काद्रवेयाः **पर्वण्य**मावास्यायां, वीप्सा नित्यार्थम्, **आत्मनो गोपीथाय** रक्षार्थम्. ननु वैरी कथं दण्डे दत्तेपि विमुञ्चतीत्याशङ्क्याह **सुपर्णाय महात्मन** इति ॥३॥

प्रकाशः

उपहार्यैरित्यत्रोपहरन्तीत्युप समीप आगताः सन्तोऽनुयोगिनश्चित्तं क्रोधादिभ्यो निवर्तयन्तीत्यर्थः ॥२॥

लेखः

उपहार्यैरित्यत्र उपहरन्तीति यानिति शेषः; यानुपहरन्ति ते पदार्था **उपहाराः**, कर्मणि घञ्. **समर्प्यन्त** इति त्वर्थकथनम्; उपहारेषु साधव उपहार्या इति विग्रहः. **वानस्पत्य** इति सम्बन्धार्थे पत्यन्तत्वाद् "दित्यदित्येति" ण्यः ॥२॥

कारिकार्थः

उपहार्यैः सर्पजनैरित्यत्र **अमावास्यायां (वस्यां!) वृक्षमूले नागलोकेषु यद् भवेत्। एकस्मिन् दिवसे तावद् एकत्र स्थापयन्तु हि** (४). **ततो हि गरुडस्तस्मिंस्तद्भुक्त्वा नैव पीडयेत्। इतिव्यवस्थया सर्पा मासि मासि बलिं ददुः** (५). स्पष्टम्.

१. भीता इत्यपि पाठः.

विषवीर्यमदाविष्टः काद्रवेयस्तु कालियः ।
कदर्थीकृत्य गरुडं स्वयं तं बुभुजे बली[1] ॥४॥

तत्रायं **कालियः** स्वदेवोपासको जातः. ततो **विषवीर्यं** जातं, तस्य **मदेनाविष्टः काद्रवेयः** कद्रूदोषोप्यस्मिंल्लग्नः कालाधिभौतिकरूपोपि **कालियः कदर्थीकृत्य** दूषयित्वा गरुडसेवकान् मारयित्वा **तं** बलिं **स्वयं बुभुजे,** यतोऽयं महा**बली** बलिष्ठः ॥४॥

तत् श्रुत्वा कुपितो राजन् भगवान् भगवत्प्रियः ।
विजिघांसुर्महावेगः कालियं समुपाद्रवत् ॥५॥

तत् सेवकैर्निवेदितो गरुडः **श्रुत्वा कुपितो** जातः. **राजन्निति** राज्यस्थिति-रेतादृशीति ज्ञापयति. असामर्थ्यं तु तस्य नास्तीत्याह **भगवानिति**. भगवत्कृपया **भगवान्,** यतो **भगवतोयं प्रियो** वाहनरूपः. अतस्तस्य दण्डमप्यस्वीकृत्य **विशेषेण जिघांसुरेव कालियं** प्रति **सम्**यङ् महाघोषपूर्वक**मुप** समीप एव शीघ्र**माद्रवत् ॥५॥**

आराधितो विषात्मा हृदये प्रविष्ट इति तस्यापि सम्मुखो जात इत्याह **तमापतन्तमिति**.

तमापतन्तं तरसा [2]नखायुधं प्रत्यभ्ययादुत्थितनैकमस्तकः ।
दद्भिः सुपर्णं व्यदशद् रदायुधः करालजिह्वोच्छ्वसितोग्रलोचनः ॥६॥

नन्वशस्त्रं कथं योधयतीत्याशङ्क्याह **नखायुधमिति. तं प्रतिकूलतयाभ्ययात्** सम्मुखं गतः. **उत्थितान्यनेकानि मस्तकानि** यस्य 'अयमेको ऽहं बहुरूप' इति ज्ञापयितुम्. ततः **सुपर्णं दद्भिर्दन्तै**राशीरूपैर्यतोऽयं **रदायुधो** रदा दन्ता आयुधानि यस्य. न केवलं दंशमात्रेण तं त्यक्तुमिच्छति किन्तु भक्षयिष्यतीत्याह **करालजिह्व** इति, कराला जिह्वा यस्य, **कराला** ग्रसनसमर्था क्रूरा. **उच्छ्वसितान्युग्राणि लोचनानि** यस्य, अनेन तस्य ज्ञानशक्तिः कुण्ठितेति सूचितम्– **उच्छ्वसितत्वा-**न्मर्यादाभङ्गः, **उग्रत्वाद्** विपरीतत्वम् ॥६॥

योजना

करालजिह्वोच्छ्वसितोग्रलोचन इत्यत्र **उच्छ्वसितत्वात् मर्यादाभङ्ग** इति. उच्छ्वसितयुक्तत्वाद् दर्शनशक्तेर्मन्दत्वं सूचितं, ज्ञानशक्तिमान्द्ये मर्यादाभङ्गो युक्त इति गरुडबलिभोगरूपो मर्यादाभङ्गः कालीयेन कृत इत्यर्थः. **विपरीतत्वमिति** स्वमारकस्य गरुडस्य मारणार्थं प्रवृत्तिरित्यर्थः ॥६॥

१. बलिमित्यपि पाठः. २. विषेत्यपि पाठः.

एतादृशमपि गरुडो मारितवानित्याह **तमिति**.

तं तार्क्ष्यपुत्रः स निरस्य मन्युना[1] प्रचण्डवेगो मधुसूदनासनः ।
पक्षेण सव्येन हिरण्यरोचिषा जघान कद्रूसुतमुग्रविक्रमः ॥७॥

तं प्रसिद्धम्. तुल्यतायामवश्यमारकत्वे च हेतुमाह **तार्क्ष्यपुत्र** इति, **तार्क्ष्यः** कश्यपो भावान्तरमापन्नः. रूपान्तरेण चतसृणां विवाहः कृत इत्ययमपि काद्रवेय इति तुल्यता. **स** इति पूर्वशत्रुः कोपितश्च. **निरस्य नितरा'मसु** क्षेपणे' दूरादेव क्षिप्त्वा तिरस्कृत्येत्यर्थः. नन्वाधिदैविकबलेन समागच्छन्तं कथं तिरस्कृतवान्? तत्राह **मन्युनेति**, क्रोधेन तिरस्कारं कृतवान्. **प्रचण्डो वेगो** यस्य; तदपेक्षयाप्यस्य क्रियाशक्तिरधिकोक्ता. तत्र हेतु**र्मधुसूदनस्यासन**भूत इति, गमने भगवत आसनं तदर्थं भगवद्दत्ता क्रियाशक्तिरस्मिन् वर्तत इति. अतः **सव्येन पक्षेण** बृहद्रूपेण तद् ब्रह्मात्मकं भवति तेन **स** निरस्तः. तस्य पक्षस्य ब्रह्मत्वाभिव्यक्तिर्जातेत्याह **हिरण्यरोचिषेति**, हिरण्यरूपत्वं भगवद्धर्मः. ननु सोपि कश्यपपुत्रः, कथं तं मारितवानित्याशङ्क्याह **कद्रूसुतमिति**, मातृदोषेण दुष्टं; मातृप्राधान्यान्नात्र बीजमुख्यता. ननु दंशापेक्षया प्रहारोऽल्पीयानिति कथमस्य जयः? तत्राह**उग्रो विक्रमो** यस्येति, बाह्योप्ययं विक्रम **उग्रो** मरणपर्यवसायी ॥७॥

ततो यद् जातं तदाह **सुपर्णपक्षाभिहत** इति.

सुपर्णपक्षाभिहतः कालियोऽतीव विह्वलः ।
हृदं विवेश कालिन्द्यास्तदगम्यं दुरासदम् ॥८॥

सुपर्णस्य गरुडस्य **पक्षेणाभिहतस्ताडितः कालियो विह्वलो** जातस्ततः **कालिन्द्या हृदं विवेश. तत् त्वगम्यं** गरुडस्य ॥८॥

तत्र हेतुं वक्तुमुपाख्यानमाह **तत्रैकदेति**.

प्रकाशः

तं तार्क्ष्यपुत्र इत्यत्र **बृहद्रूपेणेति** "छन्दांसि वै सौपर्णेया" इतिश्रुत्या बृहत्सामरूपेणाक्षररूपेण वा ॥७॥

योजना

पक्षेण सव्येनेत्यस्य विवृतौ **ब्रह्मात्मकं भवतीति** वेदात्मकमित्यर्थः. **हिरण्यरूपत्वं भगवद्धर्म** इति "य एषोन्तरादित्ये हिरण्मयः पुरुष" इतिश्रुतेः ॥७॥

१. मन्युमानित्यपि पाठः.

तत्रैकदा जलचरं गरुडो भक्ष्यमीप्सितम् ।
निवारितः सौभरिणा प्रसह्य क्षुधितोहरत् ॥९॥

यदास्य न भगवद्भावः. सौभर्युपाख्याने सर्वत्र मीनसङ्गः प्रसिद्धः. स हि मीनहितकारी भवति. पुन**र्गरुडो** दैवगत्या तस्यैव समीप **ईप्सितं भक्ष्यं** जलचरविशेषं रोहितादिरूपं **निवारितो**पि **सौभरिणा** क्षुद्वशाद् बहिर्मुखावस्थां प्राप्तस्तं गृहीत्वान्यत्र गतः. तत्र भक्षण आज्ञोल्लङ्घनाद् विशेषतः खेदजननाच्च मरणमेव भवेत्. जीवन्तमेवान्यत्र हृतवानिति तत्र तस्याप्रवेश एवोच्यते ॥९॥

ननु भगवन्निर्मितेर्थे कथं मुनेराग्रहः? तत्राह **मीनान् सुदुःखितान् दृष्ट्वे**ति.

मीनान् सुदुःखितान् दृष्ट्वा दीनान् मीनपतौ हृते ।
कृपया सौभरिः प्राह तत्रत्यक्षेममाचरन् ॥१०॥

यथा भगवता मर्यादाशास्त्रं कृतं लौकिकमेवं वैदिकमपि. ततः [1]परदुःखं दृष्ट्वा दुःखितः कारुणिकस्तदुपायं कुर्यादिति, दीनोपेक्षायां दोषस्य श्रवणात्, "स्रवते ब्रह्म तस्यापि भिन्नभाण्डात् पयो यथे"त्यादिवाक्यात्. अतो दयया लोकमर्यादोल्लङ्घनं कृतवान्. तदाह **सुदुःखितान् दृष्ट्वे**ति. नन्वज्ञानादेव तेषां दुःखं; कथं प्रतीकारार्थं यत्नः? तत्राह **दीनानि**ति, विचार्यमाणेपि ते दीना रक्षकाभावाद्. अत एव तत्र हेतु**र्मीनपतौ हृत** इति, स हि मीनानां पतिः, अन्यथा गोत्रघातिनस्ते स्वात्मीयानपि भक्षयेयुः. अतः केवलं **कृपया सौभरि**र्वक्ष्यमाणं **प्राह तत्रत्य**मीनानां **क्षेममाचरन्.** वस्तुतस्त्वनर्थ एव कृतः– मीनाः सर्व एव तत्रत्या विषेण दग्धाः, तत्प्रसङ्गादन्येपि जीवाः. अतोऽन्येन यत् क्रियते तेनानर्थ एव सम्पद्यत इति फलितम् ॥१०॥

शापवाक्यमाहा**त्र प्रविश्ये**ति.

अत्र प्रविश्य गरुडो यदि मत्स्यान् स खादति ।
सद्यः प्राणैर्वियुज्येत सत्यमेतद् ब्रवीम्यहम् ॥११॥

प्रकाशः

तत्रैकदेत्यत्र **यदास्ये**ति यदा सौभरेः. **उच्यत** इति शापवाक्य उच्यत इत्यर्थः ॥९॥

लेखः

अत्र प्रविश्येत्यत्र तत्रापि ह्रदादन्यत्र स्वदेशेपीत्यर्थः ॥११॥

---

१. परमित्यपि पाठः.

अत्र ह्रदे **प्रविश्य,** जलं तथा भवेदित्येकः शापः. तत्रापि **यदि मत्स्यान्** तत्रापि **स** एव **गरुडो** न त्वन्यः पक्षी, ततः **सद्य** एव **प्राणैर्वियुज्येते**त्यपरः. तेनान्याहृतस्याप्यत्रत्यमत्स्यस्य भक्षणं निषिद्धं, तथा च न विशिष्टशापः. अत एव [1]कालीयस्य रक्षा, अन्यथा [2]मत्स्यखादने शापाभावान्न स स्यादिति भावः. अत एव **स** इति पुनरुक्तम्. ब्रह्मवाक्यमाज्ञारूपम्; इदमनुवादकं वाक्यमित्याशङ्क्याह **सत्यमेतद् ब्रवीम्यहमि**ति प्रमाणम्. न हि ब्रह्मवादो मृषा भवति ॥११॥

तं[3] कालियः परं वेद नान्यः कश्चन लेलिहः ।
अवात्सीद् गरुडाद् भीतः कृष्णेन च विवासितः ॥१२॥

तमर्थं कालिय एव **परं वेद** गरुडेन सह विरोधं चिकीर्षुस्तस्यागम्यं स्थानं विचारितवान्. अन्येषां त्वेवमध्यवसायाभावात् **नान्यो लेलिहः** सर्पो जानाति. अतो **गरुडाद् भीत**स्तत्रा**वात्सीत्. कृष्णेन च विवासित**स्ततो दूरीकृतः ॥१२॥

एवं प्रासङ्गिकं परिहृत्य प्रस्तुतमाह **कृष्णं ह्रदादि**ति.

कृष्णं ह्रदाद् विनिःक्रान्तं दिव्यस्रग्गन्धवाससम् ।

टिप्पणी

अत्र प्रविश्येत्यत्र, इदमनुवादकमिति. सर्पप्रवेशे तीरगानां विषेण तथात्वं स्वत एव भविष्यतीति तदनुवादकत्वशङ्का[4]. अन्यथा विषप्रवेश एव न स्यादिति भावः ॥११॥

प्रकाशः

अत्र प्रविश्येत्यत्रात एवेति [5]विशिष्टशापाभावादेव. **ब्रह्मरूपमि**ति सत्यपदस्यार्थः. **न स स्यादि**ति, **स** कालीयो रक्षितो **न स्यादि**त्यर्थः. **इदमनुवादकमि**त्येतस्यार्थं टिप्पण्यामाहुः **सर्पे**त्यादि. सुबोधिन्यां **प्रमाणमि**ति, गरुडे विषस्याकिञ्चित्करत्वाद् विषप्रवेशेपि नानुवादकत्वं तस्येत्यर्थः ॥११॥

योजना

अत्र प्रविश्य गरुड इत्यत्र **तथा भवेदित्येक** इति. **अत्र** श्रीयमुनाह्रदे **प्रविश्य गरुडः सद्यः प्राणैर्वियुज्येते**त्यन्वयेन ह्रदप्रवेशमात्रेण गरुडप्राणनाशो भवेदित्येकः शापः. अत एव गरुडागम्यं तत्, "तदगम्यं दुरासदमि"ति वाक्यात्. **यदि गरुडो मत्स्यानत्र खादति** तदा **प्राणैर्वियुज्येते**ति द्वितीयः शापः ॥११॥

१.ह्रस्वोपि लि. २. मत्स्याान्यादने मत्स्यान्यादने चेति पाठौ सन्दिग्धौ. ३. तदित्यपि पाठ.
४. तदनुवादत्वशङ्का मू. पा. ५. विशेष°.

महामणिगणाकीर्णं जाम्बूनदपरिष्कृतम् ॥१३॥
उपलभ्योत्थिताः सर्वे लब्धप्राणा [1]इव प्रजाः ।
प्रमोदनिभृतात्मानो गोपाः प्रीत्याभिरेभिरे ॥१४॥

विशेषेण **निःक्रान्तं** भगवन्तं **दृष्ट्वोत्थिताः सर्वेभिरेभिर** इति द्वयोः सम्बन्धः. **ह्रदाद्** ह्रदमध्यात् **विशेषेण निःक्रमणम**कस्मादाविर्भावः. पूर्वस्माद् वैलक्षण्यार्थं रूपं वर्णयन्ति— **दिव्यानि स्रग्गन्धवासांसि** यस्येति. अनेन सामान्यतः पूजा निरूपिता; **महामणिगणैराकीर्णमि**ति विशेषपूजा. **जाम्बूनदेन** च **परिष्कृतम्,** अनेन लोकत्रयपदार्थैः पूजित उक्तः. तत्र **दिव्यानि** स्पष्टानि[2]**, मणयः** पातालस्थाः, सुवर्णं भूमिष्ठम्. अकस्मा**दुपलभ्य** भगवत्सन्निधिमात्रेणैव **लब्धप्राणा** जाताः **प्रजा** बालका **इवोत्थिताः.** यथा बालका उत्तिष्ठन्त्येवं लब्धप्राणा एते महान्तोप्युत्थिताः. परस्परज्ञानरहिताः **प्रजा** लौकिका वा यथा प्राणेष्वागतेषूत्तिष्ठन्त्येवमेते कृष्णे समागत उत्थिताः. ततोपि भगवत्सान्निध्ये **प्रमोदेन निभृतः** पूर्ण **आत्मा**न्तःकरणं येषाम्. आदौ पुरुषास्तरुणाः पुरुषोत्तममपि **प्रीत्यालिङ्गितवन्तः** ॥१३-१४॥

यशोदा रोहिणी नन्दो गोप्यो गावश्च कौरव ।
कृष्णं समेत्य लब्धेहा आसँल्लब्धमनोरथाः ॥१५॥

ततो **यशोदा रोहिणी.** स्त्रियो ह्यत्युत्सुकाः. ततो **नन्दो** रोहिणीस्पर्शभयात्, ततो **गोप्यो** नन्दभयात्, ततो **गावो**पि. हे **कौरवे**ति सम्बोधनं विश्वासार्थम्. सर्व एव **कृष्णं समेत्य लब्ध**चेष्टा जाताः. **लब्धो** मनोरथो यैस्तादृशा **अप्यासन्.** क्रियाज्ञानशक्त्योः सम्बन्ध उक्तः ॥१५॥

रामश्चाच्युतमालिङ्ग्य जहासास्यानुभाववित् ।
नरा नार्यो वृषा वत्सा लेभिरे परमां मुदम् ॥१६॥

रामश्चाप्येवंविधो जातः. विशेषमप्याह **अच्युतमालिङ्ग्य जहासे**ति. पूर्वं भगवदंशो भगवत्येव स्थितस्तदा सर्वसमानमेव कृतवान्. ततो भगवत्यालिङ्गिते तदीयोऽत्र समागत इति पश्चाद् जहास; तुल्यता सम्पादिता, परीक्षा सम्यक् कृतेति. कालीयनिष्कासनं तु नाश्चर्याय, यतोऽय**मस्यानुभाववित्;** विश्वमेवान्यथा क्षणेन करोति तस्य किमिदमाश्चर्यमिति. दुःखसुखयोर्मिश्रणप्रतिषेधार्थमाह **नरा नार्य** इति, चतुर्विधा अप्येते **परमामेव मुदमापुः** ॥१६॥

नन्वेतावत्कालं ब्राह्मणैः कथमेते नोपदिष्टा, इदानीं ब्राह्मणाः कथं तत्सान्त्वनं कृतवन्त इत्याशङ्क्याह **नन्दमि**ति.

नन्दं विप्राः समागत्य[1] गुरवः सकलत्रकाः ।
ऊचुस्ते कालियग्रस्तो दिष्ट्या मुक्तस्तवात्मजः ॥१७॥

विप्रास्त्वत्यन्तमेव महापुरुषाः, न केवलं कर्मजडा वैश्य**गुरवो,** जीवनार्थं स्थितास्तत्सम्बन्धिनोपि तथा. अतः **सकलत्रा** एते **समागत्य नन्दमूचुः— कालियेन** सम्बद्धो भगवां**स्तवात्मजो दिष्ट्या**स्मदादिभाग्यै**र्मुक्तः.** एतावतोत्सवे देयमिति सूचितं भवति ॥१७॥

[2](**देहि दानं द्विजातीनां कृष्णनिर्मुक्तिहेतवे ।**
नन्दः प्रीतमना राजन् गाः सुवर्णं तदादिशत् ॥१७ अ ॥)

[2](अतो **द्विजातिभ्यो दानं देही**ति कृष्णागमननिमित्तम्. ततो **नन्दो गाः सुवर्णं** च दत्तवान् ॥१७ अ॥)

यशोदा च महाभागा नष्टलब्धप्रजा सती ।
परिष्वज्याङ्कमारोप्य मुमोचाश्रुकलां मुहुः ॥१८॥

यशोदाया विशेषमाह. **यशोदा च** तैरुक्ता **महाभागे**ति, तेभ्यो बहु दित्सित-

---

प्रकाशः

कृष्णमित्यत्रानेनेति पादत्रयेण ॥१३॥

यशोदेत्यत्र **तत** इति वारत्रयं योज्यम्. **अत एवे**[3]त्यन्यस्याशप्यत्वादेव ॥१५॥

नन्दमित्यत्र महापुरुषत्वमेव विवृतं **न केवलमित्यादिना** ॥१७॥

योजना

कृष्णं ह्रदादित्यत्र दिव्यानि स्पष्टानीति, दिव्यस्रग्गन्धवाससमितिवाक्यात् स्रग्गन्धवाससां दिव्यता स्पष्टैवेत्यर्थः ॥१३॥

यशोदा रोहिणी नन्द इत्यत्र **ततो नन्दः रोहिणीस्पर्शभयादि**ति. **ततः** रोहिणीकृतभगवदालिङ्गनाद्यनन्तरं **नन्दः** कृतवान्, तत्र हेतुः **रोहिणीस्पर्शभयादि**ति. रोहिण्या ज्येष्ठभ्रातृपत्नीत्वेन पूज्यात्वात् नमस्कारार्थं चरणस्पर्श उचितः, तदतिरिक्तसमये पूज्यस्पर्शस्यानुचितत्वाद् भयम्. अन्यथा रोहिण्यपेक्षया श्रीनन्दस्य भगवति प्रीत्यतिशयात् श्रीयशोदानन्तरं नन्दमेव वदेत् न तु रोहिण्यनन्तरमतस्तथेत्यर्थः ॥१५॥

---

१. इवासव इत्यपि पाठः. २. अक्लिन्नत्वाद् इति भावः (सम्पा). ३. मूले लुप्तम्?

१. गम्येत्यपि पाठः. २-२. अयं श्लोकास्तट्टीका च प्रायो नैव पठ्येते.

वतीति, विशेषकरणाद् वा तस्या भाग्यमभिनन्दति. **नष्टाऽदृष्टा पुनर्लब्धा** प्राप्ता **प्रजा** यया. तथात्वे हेतुर्धर्मः **सतीति**. अतो भाग्योदये जाते **परिष्वज्य** पश्चाद**ङ्कमारोप्याश्रुकलां मुमोच** ॥१८॥

एतावतार्धरात्रिर्जाता. तस्मिन् दिवसे न केनापि भुक्तम्. गावः पूर्वं शुष्कस्तना एवाधुना तु स्तन्यसहिता अपि दोहसाधनाभावान्न दुग्धदा जाताः. भगवदागमनप्रमोदेनैव च निर्वृतास्तत्रैव स्थिता इत्याह **तां रात्रिमिति**.

तां रात्रिं तत्र राजेन्द्र क्षुत्तृड्भ्यां श्रमकर्शिताः ।
ऊषुर्व्रजौकसो गावः कालिन्द्या उपकूलतः ॥१९॥

श्रम आगमनश्रमश्चित्तश्रमो वा मध्ये वा मरणार्थं श्रमः, तेनापि **कर्शिताः**, **क्षुत्तृड्भ्यां** सहिताः. श्रमस्य कार्यं कृत्वा गतत्वात् कार्यमेव निरूपितं, **क्षुत्तृषोः** स्वरूपं च. **व्रजौकस** इत्यव्युत्पन्नाः **कालिन्द्याः कूल**समीपे कियद्दूरे कूलं विहाय वनमध्ये शयनं कृतवन्तः ॥१९॥

तदा कालीयाविष्टो दैत्यौ दोषाभिमानी सर्वभक्षणार्थं स्थितो मृत्युश्चैकीभूय वह्निर्भूत्वा गोकुलवासिनां दाहार्थमुद्गत इत्याह **तदेति**.

तदाशु विपिनोद्भूतो दावाग्निः सर्वतो व्रजम् ।
सुप्तं निशीथ [1]आवृत्य प्रदग्धुमुपचक्रमे ॥२०॥

आशु प्रतिक्रियायाः करणार्थं **विपिने** स्वयमे**वोद्भूतो** दारुघर्षणजन्यो वा

प्रकाशः

तां रात्रिमित्यत्र क्षुत्तृषोः स्वरूपं चेति. कर्षकत्वेन भ्रातृव्यत्वलक्षणं स्वरूपमप्युक्तमित्यर्थः, "क्षुत् खलु वै मनुष्यस्य भ्रातृव्य" इतिश्रुते"रुभे तीर्त्वाशनायापिपासे" इतिश्रुतेश्च ॥१९॥

तदाश्वित्यस्याभासे मृत्युश्चेति, अशनाया मृत्युरूपत्वात् सा तथेति ज्ञेयम् ॥२०॥

योजना

तदाशु विपिनोद्भूत इत्यस्याभासे **सर्वभक्षणार्थं स्थितो मृत्युश्चेति**, प्राणधर्मस्वरूपो क्षुद्रूपोग्निः सर्वभक्षणार्थं स्थितो मृत्युरित्यर्थः. क्षुद्रूपाग्नेर्मृत्युरूपत्वं "क्षुत् खलु वै मनुष्यस्य भ्रातृव्य" इतिश्रुतेः, "अशनया मृत्युरेवे"तिश्रुतौ स्फुटमेव

---

१. आसाद्येत्यपि पाठः.

'दावानल'शब्दवाच्यो जातः, सर्वपदार्थानेकीकृत्य ज्वालनात्. **सर्वत** एव **व्रजं सुप्तमावृत्त्या**र्धरात्रसमये **प्रदग्धुमु**पक्रान्तवान् ॥२०॥

पूर्वं हि ते स्नेहे परीक्षितास्तं स्नेहं स्थापयंस्तद्देहसम्बन्धित्वं दूरीकरिष्यन् माहात्म्यं प्रदर्शयति, अन्यथा लौकिक एव स स्नेहः स्यात्. भगवदर्थं च क्लिष्टा एते न तु गतदेहाभिमाना इति च ज्ञापयितुमिदमुच्यते. अन्यथा ज्ञानाधिकारिण एव स्युः, शरीराभिमानस्य गतत्वात्. अतस्तेषां व्याकुलतां प्रार्थनां चाह **तत उत्थायेति**.

तत उत्थाय सम्भ्रान्ता दह्यमाना व्रजौकसः ।
कृष्णं ययुस्ते शरणं [1]मायामानुषमीश्वरम् ॥२१॥

सम्यग् **भ्रान्ता** जाता अतिनिद्रया, दिग्देशकालज्ञानरहिता अपि, स्वभावतोपि **व्रजौकसः** कालियेन पूजितं भगवन्तं दृष्ट्वा **कृष्णमेव ते शरणं ययुः** ॥२१॥

न तु कृष्णरक्षार्थं यत्नं कृतवन्तः प्रत्युत स्वरक्षा(र्थ!)मेव कृष्णं प्रार्थितवन्त इत्याह **कृष्ण कृष्णेति**.

कृष्ण कृष्ण महाभाग हे रामामित[2]विक्रम ।
एष घोरतमो वह्निस्तावकान् ग्रसते हि नः ॥२२॥

भयाद् वीप्सा. **महाभागेति** तव शरण्यत्वे ऽस्माकं शरणगमने च हेतुः. साधारणाः सर्व इति राममप्याहुर्हे **रामेति**. **अमितः पराक्रमो** यस्येति, तालवने ज्ञातम्.

प्रकाशः

तत उत्थायेत्यस्याभासे तद्देहसम्बन्धित्वमिति तस्य स्नेहस्य देहसम्बन्धित्वं स्वस्य तद्देहसम्बन्धित्वं वा. **एते न त्वित्यत्रैत** इति भिन्नं पदम् ॥२१॥

कृष्ण कृष्णेत्यत्र साधारणाः सर्व इति. तथा चासाधारणास्तु नैवं किन्तु भगवद्रक्षार्थमेव प्रयत्नं कृतवन्त इति ध्वन्यते ॥२२॥

योजना

मृत्युरूपत्वोक्तेश्च. **तद्देहसम्बन्धित्वं दूरीकरिष्यन्निति**, तस्य भगवद्विषयकव्रजवासिस्नेहस्य देहसम्बन्धित्वं दूरीकरिष्यन्नित्यर्थः. दावानलपानेन भगवता स्वस्मिन् देहाभावः प्रदर्शितः— न हि देहवानेवं वह्निं पिबति. तथा च व्रजजनानां गोपदेहप्रयुक्तस्नेहोपि गतः किन्तु वस्तुतो भगवत आत्मत्वादात्मत्वज्ञानाभावेपि प्रमेयबलेन निरुपाधिकः स्नेह उत्पन्न इत्यर्थः ॥२०॥

---

१. अस्य नोपलभ्यतेत्र टीका. २. 'तुलेत्यादिरपि पाठः.

एकवदेवाहुरेष **घोरतमः** शीघ्रभक्षकस्**तावकान्** वैष्णवान् **नोस्मान् ग्रसते.** ग्रासे सन्देहाभावाद् **हि**शब्दः, नातः परमाशा जीवनस्येति ॥२२॥

तर्हि किं कर्तव्यमित्याकाङ्क्षायामाहुः **सुदुस्तरादिति.**

सुदुस्तरात् नः स्वान् पाहि कालाग्नेः सुहृद प्रभो ।
न शक्नुमस्त्वच्चरणं सन्त्यक्तुमकुतोभयम् ॥२३॥

अयं **कालाग्निः** प्रलयाग्निरेव, अत एव **सुदुस्तरः.** अतः **स्वान्** भक्तान् **सुहृदो** हृदयशुद्धान् सम्बन्धिनो वा भगवच्छास्त्रं लौकिकं वा विचार्य **पाहि,** यतस्त्वं **प्रभुः.** ननु भगवद्भक्तानां किं देहरक्षणेन? प्रत्युत भगवत्समीपे मरणमेव समीचीनमित्याशङ्क्याहुर्**न शक्नुमस्त्वच्चरणमिति.** न हि मरणेऽस्माकं चिन्ता किन्तु तव चरणवियोगो भविष्यतीति; दाहस्तु सोढुं शक्यो न तु चरणवियोगः. ननु विरोधि कथमङ्गीक्रियते? दाहो बलिष्ठश्चरणान् दूरीकरिष्यत्येवेति तत्राह**अकुतोभयमिति,** न विद्यते कुतश्चिद् भयं यस्मात्. अनेनेदानीमपि नास्माकं भयं निश्चितं किन्तु शङ्कामात्रेण प्रार्थ्यत इति भावः ॥२३॥

एवं प्रार्थनायां यत् कर्तव्यं तत् कृतवानित्याह**इत्थमिति.**

इत्थं स्वजनवैक्लव्यं निरीक्ष्य जगदीश्वरः ।
तमग्निमपिबच्छीघ्रमनन्तोऽनन्तशक्तिधृक् ॥२४॥

समागतस्य वह्नेर्निर्वापण एतेषां वान्यत्र नयने तावदपि विलम्बं न सहत इत्यन्तःकालीयसम्बन्धकृतदुष्टानां दाहार्थं **तमग्निमपिबत्.** मुखमप्यग्निरिति नाग्नेर्हि तापः. ननु किमित्येवं कृतवान्? तत्राह **स्वजनवैक्लव्यं निरीक्ष्येति.** स हि सर्वनियन्ता; दुष्टश्चाग्निर्बहिर्न स्थापनीयोऽन्यथा कालान्तरेप्युपद्रवं कुर्यात्. कालकूटभक्षणेन जातगर्वस्य महादेवस्य गर्वनिवारणार्थं दहनधारणजनितगर्वनिवारणार्थं च दहनं तमपिबत्. **शीघ्रमिति** तेषां प्रतीतिजनितभयाभावाय. स्वतस्तु भयाभावः. **अनन्त** इति प्रकारविशेषेप्यप्रश्नः, उत्तरमाह**अनन्तशक्तिधृगिति,** अनन्ता एव शक्तीर्बिभर्ति– यदि वायुरूपो भवेत् तथापि पिबेद्, यदि जलरूपो भवेत् तथापि शामयेद्, यदि मुखं वा मुद्रयेत् तथापि पिबेत्, सर्वमुखत्वात् तत्रैव वा मुखं प्रसारयेत् तथापि पिबेदिति नात्र किमप्याश्चर्यमित्यर्थः ॥२४॥

॥ इति श्रीमद्भागवतसुबोधिन्यां श्रीमद्वल्लभदीक्षितविरचितायां दशमस्कन्धविवरणे द्वितीये तामसप्रकरणेऽवान्तरप्रमेयप्रकरणे यशोनिरूपकतृतीयाध्यायस्य स्कन्धादितः चतुर्दशाध्यायस्य विवरणम् ॥

प्रकाशः

इत्थमित्यत्र यदि वायुरूप इति, "वायोरग्निरि"तिश्रुतेरुत्पत्तिप्रलययोरेकाधिकरणत्वस्योचितत्वात् तथेत्यर्थः. अयं यशोध्याय इति यशोर्थमेवं करणमिति प्रतिभाति, एते विकल्पा एतदर्थमेवोक्ता इति च. यद्यपि यशो वीर्यं विना न भवति वीर्यं च यशः प्रकटयत्येवेत्येकत्रोभयमप्यायाति तथापि यत्र यस्य प्राधान्यं तत्र तदेव निर्दिश्यत इति न काचिदनुपपत्तिः ॥२४॥

॥ इति श्रीमद्वल्लभनन्दनचरणैकतानश्रीयदुपतितनुजपीताम्बरविरचिते दशमस्कन्धसुबोधिनीटिप्पण्योः प्रकाशे चतुर्दशाध्यायविवरणम् ॥

लेखः

इत्थं स्वजनेत्यत्र अन्तःकालीयेति, "तं प्रेक्षणीयसुकुमारे"त्यनेनोक्तप्रकारे भगवतोऽपहतपाप्मत्वादन्तःस्थिते जगति तद्दोषो जातः. तथा चान्तःस्थिते जगति कालीयसम्बन्धकृतो यो दोषस्तेन ये दुष्टाः पदार्थास्तेषां दाहेन सुवर्णस्येव दोषनिवृत्त्यर्थमित्यर्थः ॥२४॥

योजना

इत्थं स्वजनेत्यस्य विवृतौ **मुखमप्यग्निरिति,** "अग्निर्मुखं यस्य च जातवेदा" इतिवाक्यात् ॥२४॥

॥ इति चतुर्दशोऽध्यायः ॥

॥ चतुर्थः स्कन्धादितः पञ्चदशोध्यायः ॥

उक्तः पञ्चदशेऽध्याये प्रलम्बस्य वधो महान् ।
आवेशिचरितं वाच्यं बलभद्रकृतं ततः ॥(१)॥
व्रजे गतस्य क्रीडा च सर्वथा वनगोष्ठयोः ।
अन्तःकरणदोषश्च महानत्र निवर्त्यते ॥(२)॥

एवं पूर्वाध्यायान्ते दावाग्नेर्मोचिता इत्युक्तम्. ततः स्वस्थाने कृत्यमाहाथेति भिन्नप्रक्रमेण.

टिप्पणी

पञ्चदशेध्याये प्रकरणसन्दर्भे **अन्तःकरणदोषश्चे**ति. तिष्ठतु स्नेहवार्ता दूरे, लोके लौकिकानामपि क्रीडादिष्वप्यारोहणादेर्निमित्ते जातेपि प्रभुपुत्रादौ न तत् कर्तुमन्तःकरणप्रवृत्तिः सम्भवति. इह तु स्नेहवतामप्यनेवंभाव उच्यत इत्यवश्यमन्तःकरणे तादृशो हेतुरस्तीति मन्तव्यम्. प्रलम्बे हते भगवत्यलौकिकत्वबुद्धिः पूर्वस्मात् स्नेहातिशयश्च जातो येन आशीर्दानं विह्वलचेतस्त्वं चाभूदतः सुष्ठूक्त**मन्तःकरणे**त्यादि (२).

प्रकाशः

पञ्चदशाध्यायतात्पर्यं निरूपयन्तोऽवसरः प्रसङ्गो वा कथासङ्गतिरित्याशयेनाहु**रुक्त** इत्यादि. ननु चरित्रान्तरेषु सत्स्वपि तस्यैव कथने किं बीजमित्यत आहु**र्महानि**ति, तथा च महत्त्वात् कथनमित्यर्थः. ननु राज्ञा तु "व्रजे वसन् किमकरोदि"ति भगवच्चरित्रमेव पृष्टं, तत्र बलभद्रचरित्रकथने किं बीजमत आहु**रावेशी**त्यादि. तथा चाविष्टचरित्रमपि मूलचरित्रमेवेति तस्यापि वक्तव्यत्वादिदमुक्तमित्यर्थः. ननु यद्याविष्टचरित्रमेवात्र वाच्यं महत्त्वात् तदा व्रजे प्रत्यापत्तिकथनस्य किं प्रयोजनमत आहु**र्व्रजे**त्यादि. तथा च कथाशेषपूरणार्थं तत्कथनमित्यर्थः. तथा च प्रसङ्गोऽवसरश्च कथासङ्गतिरित्यर्थः. ननु भवत्वेवं तथापि स्कन्धप्रकरणार्थाभ्यां कथमस्य सङ्गतिरित्यत आहु**रन्तःकरणे**त्यादि. **अन्तःकरणदोषश्च** श्रीहस्ताक्षरेषु विवृतस्तथा हि— "अन्तःकरणदोषश्चेति. तिष्ठतु स्नेहवार्ता दूरे, लोके लौकिकानामपि क्रीडादिष्वप्यारोहणादेर्निमित्ते जातेपि प्रभुपुत्रादौ न तत् कर्तुमन्तःकरणप्रवृत्तिः सम्भवतीह तु स्नेहवतामप्यनेवम्भाव उच्यत इत्यवश्यमन्तःकरणे तादृशो हेतुरस्तीति मन्तव्यम्. प्रलम्बे हते भगवत्यलौकिकत्वबुद्धिः पूर्वस्मात् स्नेहातिशयश्च जातो येनाशीर्दानं विह्वलचेतस्त्वं चाभूदतः सुष्ठूक्त**मन्तःकरणेत्यादि**." इदमेवात्र महत्त्वम्, **अत्रे**त्येतदध्यायोक्तलीलामात्रे. इदं "चैवं तौ लोकसिद्धे"तिश्लोके स्पष्टीभविष्यति (१-२).

॥ श्रीशुक उवाच ॥

अथ कृष्णः परिवृतो [1]बन्धुभिर्मुदितात्मभिः ।
अनुगीयमानो न्यविशद् व्रजं गोकुलमण्डितम् ॥१॥

प्रातःकाले जाते सर्वैः सह भगवान् क्रीडार्थमेवाविर्भूतः सर्वैरेव **बन्धुभिश्च** वेष्टितः सन्तुष्टैस्तैरेवोप**गीयमानश्च गोकुलेन मण्डितं व्रजमाविशत्.** तस्मिन् दिवसे गावोपि गोकुल एव समानीता न तु कश्चित् चारणार्थं गतः. एतेन पूर्वं गाः

लेखः

पञ्चदशेऽध्याये कारिकादौ **उक्त** इति. अन्तःकरणदोषनिवृत्तिर्भगवदाविष्टेनं भगवदीयेन भवतीति ज्ञापयितुमत्र**ावेशिचरितं वाच्यं, ततो** हेतो**र्बलभद्रकृतः प्रलम्बस्य वधः पञ्चदशेऽध्याये** शुकेनो**क्त** इत्यर्थः. **सर्वथे**ति सर्वप्रकारेण **व्रजे गतस्ये**त्यर्थः, यावन्तो वने स्थितास्तैः सर्वैः सहेति यावत्. दोषाणां नियतधर्मत्वात् तन्निवृत्तौ केषाञ्चिद् धर्मिणामपि निवृत्तिमाशङ्क्यैतदुक्तम्. **वनगोष्ठयोरि**ति, तदनन्तरमिति शेषः. गोष्ठलीला द्वितीयाध्यायान्ते "गाः सन्निवर्त्ये"त्यनेन (१०।१६।१५) उक्तेति ज्ञेयम्. द्वयमप्येकदिनकृत्यमिति सहैवोक्तम् (१-२).

योजना

पञ्चदशाध्यायार्थोक्तौ **अन्तःकरणदोषश्च महानत्र निवर्त्यत** इति. अस्मिन् अध्याये प्रलम्बनाशो वर्णनीयः. स प्रलम्बो निरोध्यभक्तानामन्तःकरणदोषरूपः, "लोभक्रोधादयो दैत्या" इति कृष्णोपनिषद्भ्यः कृष्णावतारे नाश्यानां दैत्यानां दोषरूपत्वोक्तेः (२).

कारिकार्थः

पञ्चदशाध्याये **उक्त** इत्यादि **आवेशी**त्यादि. अंशांशिनोरभेदा**दावेशिचरितम**पि मूलचरितमेवेति तदपि **वाच्यं** वक्तुं योग्यम्, अतो **बलभद्रकृतः** प्रलम्बवधोऽत्राध्याये **उक्त** इत्यर्थः. **व्रजे गतस्ये**त्यादि, **सर्वथे**त्यस्य **व्रजे गतस्ये**ति पूर्वेणान्वयः. यावन्तो वनक्रीडायां स्थितास्तैः सर्वैः सह, न तु कमपि वने स्थापयित्वा, व्रजं गत इत्यर्थः. तदनन्तरं वनगोष्ठयोर्लीला. वनलीलात्रैवाध्याये, पुनर्गोष्ठलीला तु षोडशाध्यायान्ते "गाः सन्निवर्त्ये"त्यनेनोक्तेति ज्ञेयम्. द्वयमेकदिनकृत्यमिति हेतोः कारिकायां सहैवोक्तम्. **अन्तःकरणे**त्यादि, **अत्र** प्रलम्बवधलीलायां **महानन्तःकरणदोषो निवर्तते.** तथा च प्रलम्बस्यान्तःकरणदोषात्मकत्वं बोधितम् (१-२).

१. ज्ञातिभिरित्यपि पाठः.

स्वस्थानस्थिताः कारयित्वा पश्चात् स्वयं प्रविष्ट इति ज्ञायते. एवमेकेन प्रत्यापत्तिरुक्ता, अन्यथा दोषाभावे दोषाणां नियतधर्मत्वाद् धर्म्यपि गच्छेत् ॥१॥

अयं सर्वोपि दोषः कालकृत इति ज्ञापयितुं ग्रीष्मोपद्रवं वर्णयति, भूमिगुणेन च स्वसान्निध्यकृतेन तद्दोषपरिहार इति. कालकृतोन्तःकरणदोषः स्वसन्निधिसहितपदार्थैस्तन्निवृत्तिर्भविष्यतीति सूचयति **व्रजे विक्रीडतोरेवमि**ति.

प्रकाशः

अथेत्यत्र. भक्तानां मुदितात्मत्वं भगवन्मोदोत्तरकालीनमेवेति तदभिप्रायेण **सन्तुष्ट** इत्युक्तम्. प्रत्यापत्त्यकथने बाधकमाहु**रन्यथे**त्यादि. व्रजगमनानुक्तौ **दोषाणां** क्षुधादीनां **नियतप्राणधर्मत्वात्** तेषामभावे जाते सति धर्मिभूतं शरीर**मपि गच्छेद**तस्तदभावाय प्रत्यापत्तिकथनमावश्यकमित्यर्थः ॥१॥

लेखः

अथ कृष्ण इत्यत्र **अन्यथे**ति, प्रत्यापत्तिकथनाभावे **दोषाणाम**ध्यासानां **नियतधर्मत्वात्** नित्यसहचरितधर्मत्वाद् **धर्मी** इन्द्रियप्राणादि**रपि गच्छेत्.** सम्भावनायां लिङ्; श्रोतुरिति शङ्का स्यादित्यर्थः. प्रत्यापत्तिकथने तु निर्दुष्टेन्द्रियप्राणादियुक्ता एते इति ज्ञानं भवेत्. लीलासाधकोध्यासस्तु न दोषरूप इति भावः ॥१॥

व्रजे विक्रीडतोरित्यस्याभासे पूर्वलीलापि निदाघकालीनेत्यधुना ग्रीष्मप्रवृत्तिः कथमुच्यत इत्याशङ्क्य वर्षान्तरसम्बन्धिग्रीष्मः किञ्चिद्ज्ञापनार्थमुच्यत इत्याहुः **अयं सर्वोपी**ति. स्कन्धारोहणादिनिमित्तभूतो वक्ष्यमाणस्तादृशः पूर्वोक्तश्चावतारकालकृत इति ज्ञापयितुं ग्रीष्मोपद्रवस्यावतारकालिकत्वात् तद्वर्णनमित्यर्थः; अवतीर्णो हि भगवाँल्लीलासिद्ध्यै प्राकृतं भावं स्थापयित्वा क्रमेण तं निवर्तयतीति निरूपणात्. तथा च भगवदिच्छयैव मानुषभावस्वीकारात् स्थितोयं दोष इति भावः.

योजना

प्रत्यापत्तिरुक्तेति, दवाग्निपानानन्तरम् **अथ कृष्णः परिवृतो ज्ञातिभिर्मुदिता- त्मभिरि**त्यनेन भगवता सह सर्वेषां व्रजे समागमनमुक्तमित्यर्थः. तस्य प्रयोजनमाहुः **अन्यथे**त्यादिना. कालीयदमनदावाग्निपानाभ्यामिन्द्रियप्राणदोषनिराकृतिरुक्तेति तेषां **दोषाणामभावे** दोषयुक्तानां भक्तानामप्यभावः स्याद्– इन्द्रियप्राण**दोषाणां नियतधर्मरूपत्वात्** नियतधर्मास्तु धर्मिणं विहाय न तिष्ठन्तीति धर्मनाशे धर्मिनाशोपि सम्भाव्येत, ततश्च गोकुलस्थानामिन्द्रियप्राणदोषनिराकृतौ कस्यचिद् धर्मिणो गोकुलवासिनोपि निवृत्तिर्जातेत्याशङ्का स्यात्. तच्छङ्कानिवृत्त्यर्थं गोकुलवासिनः सर्वेपि श्रीकृष्णेन सह व्रजं समागता इत्युक्तं शुकेनेति भावः ॥१॥

व्रजे विक्रीडतोरेवं गोपालच्छद्मरूपिणोः[1] ।
ग्रीष्मो नामर्तुरभवन् नातिप्रेयान् शरीरिणाम् ॥२॥

व्रजे गोपगवादीनां निवेशस्थानेऽप्रसिद्धेपि **क्रीडतोः** सतोः **ग्रीष्मो नामर्तुरभव**दिति सम्बन्धः. ननु भगवति विद्यमाने कथमनभिप्रेतो ग्रीष्मस्तत्रागत इत्यत आह **गोपालेति, गोपाल** इति**च्छद्म** कपटभूतं **रूपं** ययोः. अन्यतरज्ञानेपि नागच्छेदिति द्विवचनम्. छद्मरूपमनयोर्वर्तत इति**च्छद्मरूपिणौ**; भगवतो गुप्तत्वाद् ग्रीष्मप्रवृत्तिः. ग्रीष्मस्य दुष्टत्वमाह **नातिप्रेयान् शरीरिणामि**ति, शरीरमात्रपरिग्रहवतां **नातिप्रेयान्.** केषाञ्चित् शीतभीतानां प्रिय इ**त्यति**पदम् ॥२॥

तर्हि तन्निवृत्त्यर्थं भगवानाविर्भावं कुर्यादित्याशङ्क्य तस्य दोषस्यान्यथैव निवृत्तिमाह **स चे**ति.

स च वृन्दावनगुणैर्वसन्त इव लक्षितः ।
यत्रास्ते भगवान् साक्षाद्[2] रामेण सह [3]केशवः ॥३॥

चकारादन्येपि दोषा वातादयो. **वृन्दावनस्य** ये **गुणा** वक्ष्यमाणास्तैः कृत्वा **वसन्त इव** तत्रत्यैर्**लक्षितो** ज्ञातः. वसन्ते शीतोष्णयोः समता, मीनादिषु शीताधिक्यं

प्रकाशः

व्रज इत्यस्याभासेऽ**यमि**ति पूर्वाध्यायद्वयोक्तः. **भूमिगुणेन चे**ति चकारो वक्ष्यमाणे**नेति**शब्देन योज्यस्तथा **चेति च वर्णयती**त्यर्थः सम्पद्यते. तदुभयवर्णनव्यञ्जितमर्थमाहुः **काले**त्यादि, **तेने**त्येतावदुन्नेयम्. **अप्रसिद्ध** इति लोकेषु भगवत्क्रीडास्थानत्वेनाप्रसिद्धे, **अपे**र्भगवत्स्वरूपाज्ञानेऽयं हेतुरित्यर्थः. **नन्वि**त्यादि, ननु [4]स्थानेनाज्ञानेपि तेजसा ज्ञानं भवेदेवेति कथं तत्प्रवृत्तिरित्यर्थः ॥२॥

लेखः

एतेनैवंविधस्थलेऽवतारलीलेति ज्ञेयमिति सूचितम्. **स्वसन्निधी**ति, शुकज्ञापितो **दोष एवं सूचयती**त्यन्वयः. इतिसूचनार्थं कालकृतत्वं ज्ञापितमिति यावत्. भगवत्स्थापितो दोषो भगवत्सन्निहितैरेव बलतुल्यैर्गच्छतीति बलेन प्रलम्बमारणमिति भावः ॥२॥

स चेत्यस्याभासे **आविर्भावमि**ति. मानुषभावाच्छादनं त्यक्त्वा बहिराविर्भावमित्यर्थः, तत्स्वीकारादेव ग्रीष्मप्रवृत्तेः. व्याख्याने. **मीनादिष्वि**ति मीनादिषु राशिपञ्चकेषु, न तु मीने इत्यर्थः. **ग्रीष्मादिष्वि**ति, ग्रीष्मो वृषस्तदादिपञ्चसु तापा-

---

१. [1]मायये त्यपि पाठः. २. कृष्ण इत्यपि पाठः. ३. वै प्रभुरित्यपि पाठः. ४. स्थानेनाज्ञानेनाज्ञानेपि.

ग्रीष्मादिषु तापाधिक्यं च. सरसो देशः शीतजनकः सवातश्च. तदुष्णकाले शीतजनको देशः समतामापादयति, अतो वसन्तत्वम्. स्वाभाविका एव वृन्दावनगुणा आधिभौतिकवसन्तत्वं सम्पादयन्ति, रामसहिता आध्यात्मिकवसन्तत्वं, भगवत्सहिता आधिदैविकवसन्तत्वमिति. अतः सर्वथैव वसन्तत्वं वृत्तं, तदाह **वृन्दावनगुणैर्वसन्त इव लक्षित** इति. देशापेक्षया कालस्य प्रबलत्वादिवेत्युक्तम्, अन्यथा पृथग् ग्रीष्मप्रवृत्तिर्वक्तव्या स्यात् [1]कालबाधो वा तदा ग्रीष्मर्तुगुणा न भवेयुर्यवादयश्च. **यत्र** वृन्दावने ग्रीष्मर्तौ वा **साक्षाद् भगवानास्ते** षड्गुणान् प्रकटीकुर्वन्. ईश्वरस्थितावेव सर्वकालीना गुणा लोकेभवन्ति, वीर्ये सत्य-

---

प्रकाशः

स चेत्यत्र तदुष्णकाल इत्यत्र **तदिति** भिन्नं पदं तस्मादित्यर्थकम्. **प्रबलत्वादिति** व्यापकत्वेन प्रबलत्वात्. तस्य वृन्दावन एव तथात्व उपपत्तिमाहु**रन्यथे**त्यादि, यदि तत्र तथात्वं न स्यात् तदा तथेत्यर्थः. ननु बाधे को दोष इत्यत आहुस्**तदा ग्रीष्मर्तुगुणा न भवेयुरि**ति. तथा सत्यग्रे वर्षावैयर्थ्यं तद्रसाभावश्चेति भावः. कैमुतिकं प्रदर्शयन्**तीश्वरस्थितावि**त्यादि **सन्देह** इत्यन्तम् ॥३॥

लेखः

धिक्यं; मीनमेषयोस्तु समत्वमित्यर्थः. **वृन्दावनगुणा** इति सरसदेशसरित्सरःप्रभृतय इत्यर्थः. **आधिभौतिके**त्यादि. भौतिकस्य शरीरस्य तापाजनकत्वरूपमाद्यं, ग्रीष्मे छायाद्यर्थं क्रीडास्थाने प्रतिबन्धकाऽऽगमनशङ्कया योन्तःकरणे सम्भावितस्तापस्तदजनकत्वरूपं द्वितीयं, प्रतिबन्धकनिरासके रामे विद्यमाने स तापो न भवतीत्यर्थः, विरहतापाजनकत्वरूपं तृतीयं, ग्रीष्मे दिनानां महत्त्वाद् विशेषतः स सम्भाव्येत, भगवति विद्यमाने स न भवतीत्यर्थः. **यवादय** इति भवेयुरित्यर्थः, पूर्वोक्ता न भवेयुः एते च भवेयुरिति. **साक्षादिति**, न तु प्रियव्रतादिष्विव धर्मद्वारेत्यर्थः ॥३॥

योजना

वसन्त इव लक्षित इत्यस्य विवृतौ **ईश्वरस्थितावेव सर्वे**ति, श्रीकृष्णस्य ईश्वरत्वात् तत्स्थितौ ग्रीष्मेपि वसन्तगुणा आयाताः. **वीर्ये सत्यन्यदीया** इत्यादि. वीर्यवान् हि अन्यस्य वस्त्वपहृत्यान्यस्मै प्रयच्छति. प्रकृतेपि वसन्तगुणा ग्रीष्माय दत्ता वीर्यवता प्रभुणेति ग्रीष्मो वसन्ततुल्यो जात इत्यर्थः. **यशसीति**, यत्र यशस्तत्र

---

१. [1]बोध इत्यपि पाठः.

न्यदीया अन्यस्य सम्भवन्तीति स्पष्टं, यशसि सर्वेषामागमनात् तथा श्रियां च, ज्ञाने सर्वात्मकतायां सर्वं स्पष्टं, वैराग्ये च निरपेक्षत्वात् तुल्यता. यत्र साक्षादेव सर्वैर्गुणैः सह भगवांस्तत्र कः सन्देहः? **केशव** इति ग्रीष्माधिपतेर्महादेवस्य [1]ग्रीष्मवरदातुर्ब्रह्मणश्च भगवानुपजीव्य इति तयोः पक्षपातः परिहृतः ॥३॥

वृन्दावनगुणानाह **यत्रे**ति त्रिभिः.

राजसः सात्त्विकश्चैव तामसश्चापि कीर्त्यते ॥(३)॥

तत्र राजसगुणानाह—

यत्र निर्झरनिर्ह्रादनिवृत्तस्वनझिल्लिकम् ।
शश्वत् तच्छीकरर्जीषद्रुममण्डल[2]मण्डितम् ॥४॥

यत्र वृन्दावने **निर्झरनिर्ह्रादै**र्झरणाशब्दै**र्निवृत्तस्वना** गतशब्दा **झिल्लिका** यत्र तादृशवनं **शश्वत्** सर्वदा **तच्छीकरै**र्झरणाकणै**र्ऋजीष**युक्ता ये **द्रुमा**स्तेषां **मण्डलैर्मण्डितं** च. ग्रीष्मर्तौ सर्वे वृक्षा ऋजीषप्राया भवन्ति. ऋजीषं त्वङ्मात्रं निःसारम्. **शश्वत् तच्छीकरैः** सहित**मृजीषं** तद्युक्ता **द्रुमा** भवन्ति तेषां **मण्डलानि** च भवन्ति. सजातीयविजातीयप्रचययुक्तानि **मण्डलानि, तैर्मण्डितम्.** अनिष्टशब्दस्य सुशब्दो बाधको रसहारकस्य रसदायक इति ॥४॥

योजना

यशस्विनि सर्वे गुणा आयान्तीति यशस्विनि श्रीकृष्णे विराजमाने ग्रीष्मर्तावपि वसन्तगुणाना**मागमनं** युक्तमेव. **श्रियां चेति**, यत्र श्रीस्तत्र सर्वे उत्तमा आयान्तीति साक्षाच्छ्रीमति कृष्णे वसन्तगुणा आगच्छेयुरेव. **ज्ञाने सर्वात्मकतायामिति**, "स सर्वमभवदि"तिश्रुत्या ज्ञाने सर्वात्मकता निरूपिता. प्रकृते ज्ञानवान् श्रीकृष्णः सर्वात्मकतयाविर्भूत इति ग्रीष्मस्यापि वसन्तत्वम्. **वैराग्ये चेति**, यो विरागी स उष्णमपि शीतं मनुते. प्रकृते वैराग्यवान् कृष्णो ग्रीष्ममपि वसन्तमेव मनुते. यतो विरक्तस्य सर्वत्र तौल्यम् अतो श्रीकृष्णेन यदा ग्रीष्मो वसन्तत्वेन मतस्तदा वसन्तरूपेणैवाविर्भूतः, श्रीकृष्णस्य सत्यसङ्कल्पत्वात्. एवं **यत्रास्ते भगवान् साक्षादित्य**त्रोक्तस्य **भगवत्**पदस्य सर्वेऽर्था निरूपिता इति ज्ञेयम् ॥३॥

कारिकार्थः

यत्र निर्झरनिर्ह्रादित्यत्र **राजस** इति. **यत्र निर्झरे**त्यादिश्लोकत्रयेण **राजसः सात्त्विकस्तामसश्च** वृन्दावनगुण उच्यत इत्यर्थः (३).

---

१. ग्रीष्मावेवेत्यपि पाठः. २. [2]मण्डपेत्यादिरपि पाठः.

तापनिवारकं वायुमाह **सरिदिति**.

सरित्सरःप्रस्रवणोर्मिवायुना कह्लारकञ्जोत्पलरेणुहारिणा ।

न विद्यते यत्र वनौकसां दवो निदाघवह्न्यर्कभवोतिशाड्वले ॥५॥

सरितो नद्यः **सरांसि** सरोवराणि **प्रस्रवा** झरणा राजससात्त्विकतामसास्त्रिविधानामप्यू**र्मिभिर्य** उत्पाद्यते **वायुः**. अनेन मान्द्यं शैत्यं चोक्तम्. सौरभ्यमाह– **कह्लार**पुष्पाणि सन्ध्याविकासीनि **कञ्जानि** कमलानि दिनविकासयुक्ता**न्युत्पलानि** रात्रिविकासीनि –त्रिविधैरप्येतैः सर्वदा वायुः सुगन्ध एव भवति, तदाह तेषां **रेणुहारिणे**ति. अत एव **वनौकसां दवो**ऽरण्याग्निजनितस्तापः. दावस्यारण्यार्थता दवतापयोगादेव; दवदावशब्दावरण्यवाचकाविति कोशः. तापवाचकोत्र प्रयुक्तः, क्वचिद् दावोऽग्निवाचकः प्रयुक्तोऽतोनेकार्थौ दवदावशब्दौ. तापस्त्वन्तः पित्तादिनापि भवतीति तन्निवृत्त्यर्थमाह **निदाघवह्न्यर्कभव** इति, निदाघे यौ वह्न्यर्कौ ताभ्यां भवो यस्य. ननु भूमिकृतस्तापो भवेत् तत्रा**हातिशाड्वल** इति. **शाड्वलं** हरिततृणभूखण्डो दूर्वायुक्तः, अत्यन्तं शाड्वलं यत्र ॥५॥

अगाधतोयह्रदिनीतटोर्मिभिर्द्रवत्पुरीष्याः पुलिनैः समन्ततः ।

न यत्र चण्डांशुकरा विषोल्बणा भुवो रसं शाड्वलितं च गृह्णते ॥६॥

शिष्टानपि गुणानाहा**गाधं तोयं** यत्र एतादृशीनां **ह्रदिनीनां तट**सम्बन्धिनीनां य **ऊर्मय**स्तीरे जायमानास्तैः कृत्वा **द्रवत् पुरीषं** मृत्तिका यस्याः सा **द्रवत्पुरीषी;** गौरादित्वाद् ङीष्, तादृश्या **भुवः समन्ततोपि रसं शाड्वलितं च यत्र** वृन्दावने

प्रकाशः

सरिदित्यत्र दवशब्दस्य तादृशतापवाचकत्वं न प्रसिद्धमतो व्युत्पादयन्ति **दावस्ये**त्यादि. रूढेरत्र बलिष्ठत्वाभावायाहु**स्तापे**त्यादि. तथा च **वनौकसामिति**-शब्दसान्निध्येनारण्यस्य ग्रहीतुमशक्यत्वात् तत्तापवाचक एवेत्यर्थः ॥५॥

लेखः

यत्रेत्यत्र **अनिष्टे**ति **झिल्लिक**शब्दस्येत्यर्थः. **सुशब्दो निर्झर**शब्द इत्यर्थः. उभयोस्तथात्वे हेतुः **रसे**ति. जलरूपो रसः सर्वतो झिल्लिके गच्छति, अतो **रसहारकस्य** झिल्लिकस्य जलरूप**रसदायको** निर्झरः. अतस्तौ शब्दौ तत्तत्सम्बन्धात् तथेत्यर्थः ॥४॥

अगाधेत्यस्याभासे **शिष्टानपी**ति श्लोकद्वयार्थः. वक्ष्यमाणा गुणा न वसन्तत्वे हेतवः किन्तु रसोद्बोधायोक्ता इति तेषां प्रासङ्गिकत्वबोधना**यापि**शब्दः ॥६॥

विषादप्युल्बणाश्चण्डांशुकरा न गृह्णते. वृन्दावनभूमिः सर्वदा सरसैव तिष्ठति सर्वतश्च पुलिनानि भवन्ति. तानि च पुलिनान्यगाधह्रदिनीतटोर्मियुक्तानि भवन्ति. भुव एव वा स्थानविशेषास्तेषां शीतलत्वायोर्मिभिर्द्रवत्पुरीषत्वं निरूप्यते, मध्ये शीतलतानिरूपणाय द्रवत्पुरीषता निरूपिता, बहिःशीतलतायै पुलिनानि. अतो मूलादुपरिभागाच्च रसाधिक्यात् शोषाभावेन भूरसशाड्वलितयोर्नाभावः. एवं सरसता निरूपिता ॥६॥

अन्यान् वनधर्मानाह **वनमिति**.

वनं कुसुमितं श्रीमन्नदच्चित्रमृगद्विजम् ।

गायन्मयूरभ्रमरं कूजत्कोकिलसारसम् ॥७॥

आदौ **कुसुमितं,** ग्रीष्मे हि प्रायेण कुसुमानि न भवन्ति; शोभायुक्तं च. कुसुमानि राजसानि. **नदन्तश्चित्रा मृगा द्विजाः** पक्षिणश्च यत्र, सात्त्विका एते. **गायन्तो मयूरा भ्रमराश्च** यत्र, **कूजन्तः कोकिलाः सारसाश्च** यत्र. आदौ नादस्तदनु गानं तत उद्रिक्ते रसे कूजितानीति त्रयमुक्तम्. मिथुनत्वाय द्वौ द्वौ. नादे हि श्रुतिपूरकोऽपेक्ष्यत इति मृगाः सह निरूपिताः. गाने नृत्यमपेक्ष्यत इति मयूराः. कूजिते परपुष्टोऽपेक्षित इति **कोकिलाः** ॥७॥

एवं वनगुणानुक्त्वा तत्र भगवतः क्रीडां वक्तुमादौ भगवतः प्रवेशमाह **क्रीडिष्यमाण** इति.

क्रीडिष्यमाणस्तत् कृष्णो भगवान् बलसंयुतः ।

टिप्पणी

कूजत्कोकिलसारसमित्यत्र, कूजिते परपुष्ट इति. पूर्णे रसे हि कूजितोद्गमः. स च न विवाहिते पुंसि भवति किन्तु परस्मिन्नेवेति **कूजिते परपुष्टो** भावोऽ**पेक्ष्यते.** कोकिलश्च पूर्वं काकपोषित इत्येतत्साम्येन कोकिलोक्त्योक्तोऽर्थो व्यज्यत इत्यर्थः ॥७॥

प्रकाशः

वनं कुसुमितमित्यत्र कूजिते परपुष्ट इत्यस्य तात्पर्यं टिप्पण्यामाहुः **पूर्णे**त्यादि ॥७॥

लेखः

वनमित्यत्र मिथुनत्वं विवृण्वन्ति **नादे ही**ति. **परपुष्ट** इति पोषकात् पत्युः परेण जारेण पुष्टो भाव इत्यर्थः. श्रुतिपूरकपदेपि तादृशो भाव इत्यर्थः. तथा च श्रुतिपूरकभावनृत्यपरपुष्टदेहयुक्तास्त्रयो मृगबर्हिकोकिला उक्ता इति ज्ञेयम् ॥७॥

वेणुं विरणयन् गोपैर्गोधनैः संवृतोविशत् ॥८॥

क्रीडार्थमेव भगवता तत्र गुणाः सम्पादिताः. **तत्** तस्मात्कारणात् **कृष्णः** क्रीडार्थमाविर्भूतो **भगवान् बलसंयुतो** जातः. षड् गुणाः स्वस्य बलं च तस्य, अतः सप्तभिः क्रीडां वक्ष्यति पूर्ववत्. तत्रत्यानां देवानामुद्बोधनार्थं **वेणुं विरणयन्. गोपा गोधनानि** सेवार्थं धर्मार्थमर्थार्थं **संवृतो** जातः. एतादृशोऽ**विशदि**ति तद्रसप्रारम्भ उक्तः ॥८॥

सामान्यतः प्रथमतः क्रीडामाह सर्वेषां **प्रवाले**ति.

प्रवालबर्हस्तबकस्रग्धातुकृतभूषणाः ।

[1]कृष्णरामादयो गोपा ननृतुर्युयुधुर्जगुः ॥९॥

प्रवालानि पल्लवानि **बर्हस्तबकानि** पुष्पगुच्छानि **स्रजः** पुष्पमाला **धातवो** गैरिकादयस्तैः **कृतानि भूषणानि** यैः. पञ्चधा हि वनभूषणानीति गणितानि. साधारणक्रीडात्वात् **कृष्णरामौ** रामकृष्णौ वा **आदि**र्येषां ते सर्वे **गोपा ननृतु**र्मनोविलासं कृतवन्तः, **युयुधु**र्देहविलासं, **जगु**र्वाग्विलासम् ॥९॥

भगवतो लीलामाह **कृष्णस्ये**ति.

प्रकाशः

क्रीडिष्यमाण इत्यत्र **पूर्ववदि**त्येकादशाध्याय इवेत्यर्थः. "द्वादशाध्याय इवे"त्यर्थस्तु केवलमेतत्पद्ये प्रतिपाद्यो न तु सर्वेष्विति सम्भवन्नपि न निरूपयितुं शक्यः ॥८॥

लेखः

क्रीडिष्यमाण इत्यत्र **बलं चेति** क्रियाशक्तिरित्यर्थः. **पूर्ववदिति** एकादशेध्याये "अविदूरे व्रजभुव" इति श्लोकत्रयोक्तवदित्यर्थः. **सेवार्थमि**ति, गोपसाहित्यं तेषां सेवासिद्ध्यर्थं, वेणुनादोऽर्थार्थं, द्वादशाध्यायेऽर्थलीलायां गानस्य निरूपितत्वात् ॥८॥

प्रवालेत्यत्र **ते सर्वे** इति अतद्गुणसंविज्ञानमादाय गोपा एव न तु भगवानित्यर्थः. भगवल्लीला त्वग्रिमश्लोके वक्ष्यत इति भावः ॥९॥

कृष्णस्येत्यस्याभासे **भगवत** इति. ज्ञानस्य प्रशंसायाश्च वाग्विलासमिति पूर्वोक्तत्वेन वादनस्य च देहविलासमिति पूर्वोक्तत्वेन न ते वाक्यार्थभूते किन्तु कृष्णनृत्यमेव वाक्यार्थः, गानवादने तु तदङ्गत्वेन निरूपिते "दध्ना जुहोती"तिवदिति

---

१. रामकृष्णेत्यपि पाठः.

कृष्णस्य नृत्यतः केचिद् जगुः केचिदवादयन् ।

[1]वेणुपाणिदलैः शृङ्गैः [2]प्रशशंसुरथापरे ॥१०॥

शिक्षार्थं लोके नृत्यप्रसिद्ध्यर्थं च भगवतो **नृत्यतः** सतो नृत्याङ्गभूते गीतवाद्ये अन्ये कृतवन्तः **केचिद् जगुः केचिदवादयन्नि**ति. **वेणुः** श्रुतिपूरकः, **पाणिः** शङ्खवन्नादं करोति, **दलान्य**श्वत्थपत्रादीनि गोमुखवच्छब्दं कुर्वन्ति. **शृङ्गाणि चावादयन्. अथापरे प्रशशंसु**र्भिन्नप्रकारेण. नृत्यसम्बन्धप्रशंसातः स्वतन्त्रप्रशंसा भिन्ना[3] ॥१०॥

नन्वेते कथं प्रशंसादिकं कृतवन्तोऽज्ञाने प्रशंसाऽसम्भवात् ज्ञाने महतो लीलायां प्रशंसानुपपत्तिरित्याशङ्क्याह **गोपजातिप्रतिच्छन्ना** इति.

गोपजातिप्रतिच्छन्ना[4] देवा गोपालरूपिणः ।

ईडिरे कृष्णरामौ च नटा इव नटं नृप ॥११॥

यथा भगवान् प्रतिच्छन्न एव भगवत्सेवका अपि गोपजात्या प्रतिच्छन्ना जाताः. इदानीमेव गोपवेषं कृत्वा समागता इत्याशङ्कां व्यावर्तयति **गोपालरूपिण** इति, गोपरूपयुक्तास्तथैवोत्पन्नास्तेष्वाविष्टाश्चातः **कृष्णरामावीडिरे.** तथापि सेवकानां कथमेवं धाष्टर्यमत आह **नटा इव नटं नृपे**ति, नटा हि स्वामिसेवकभावं परित्यज्यान्योन्यं प्रशंसन्ति तद्वदित्यर्थः ॥११॥

पुनर्भगवतो नानाविधक्रीडामाह **भ्रामणैरि**ति.

भ्रामणैर्लङ्घनैः क्षेपैरास्फोटनविकर्षणैः ।

चिक्रीडतुर्नियुद्धेन काकपक्षधरौ क्वचित् ॥१२॥

मल्लयुद्धे ह्येते प्रकाराः— अन्योन्यहस्तस्पर्शनेन भ्रमन्ति हस्तद्वयं धृत्वा वा भ्रामयन्ति. एतद् बालानामपि भवति. तथोल्लङ्घनानि, उच्चैर्भूमौ गर्तादिषु च मल्लानां

लेखः

भावः. व्याख्याने. **शिक्षार्थमि**ति गोपान् शिक्षयितुमित्यर्थः. **लोके** इति भगवदीयेष्वित्यर्थः, भगवदीया अन्यत्रापि नृत्यं दृष्ट्वा भगवन्तमेव स्मरन्तीति भावः. **दलैः शृङ्गैरि**ति तृतीया द्वितीयार्थे व्यत्ययेनेत्याशयेनाहुः **शृङ्गाणि चे**ति ॥१०॥

गोपजातीत्यत्र **देव**पदेन नित्यलीलास्था गोपा इत्याशयेनाहु**र्भगवत्सेवका** इति. **तेष्वाविष्टा** इति प्रतिछन्ना आविष्टा इत्यर्थः. **तथापीति** नित्यलीलास्थत्वेपीत्यर्थः ॥११॥

---

१. 'तलैरित्यपि पाठः. २. 'तथेत्यपि पाठः. ३. बहुवचनान्तःपाठःक्वचन. ४. 'परीत्यपि पाठः.

वोल्लङ्घनम्. **क्षेपः** प्रक्षेपः, तिरस्कारादिर्वा. **आस्फोटनं** बाहुस्फोटनं, **विकर्षणं** नियमस्थाने बलान्नयनम्– एवं पञ्चविधा लीला. **चिक्रीडतुः** क्रीडां कृतवन्तौ बाहुयुद्धेन. **क्वचित् काकपक्षधरौ** कृतचूडाकरणौ. कियत्कालमेव हि चूडाकरणानन्तरं केशाँस्तत्तद्देशेषु क्वचित्क्वचित् स्थापयन्ति ॥१२॥

एवं भगवतो नृत्यमुक्त्वा भगवत्सन्निधानेऽन्येषां नृत्यमाह **क्वचिन्नृत्यत्स्विति**.

क्वचिन्नृत्यत्सु चान्येषु गायकौ वादकौ स्वयम्।
शशंसतुर्महाराज साधुसाध्वितिवादिनौ ॥१३॥

अन्येषु नृत्यत्सु सत्सु **स्वयं गायकौ वादकौ च. च**कारादन्येषु गायकेषु स्वयं वादकावन्येषु वादकेषु स्वयं गायकाविति. किञ्च स्वयमेव **शशंसतु**र्यदान्यप्रेरणयापि **साधुसाध्वितिवादिनौ** क्वचिद् भवतः क्वचिद् **विशेषेण शंसतः** स्तोत्रं कुरुतः क्वचिद् **वि**शेषेणानुशासनं वा ॥१३॥

एवं शास्त्रानुसारिलीलामुक्त्वा केवलबालकसम्प्रदायप्रसिद्धां लीलामाह **क्वचिद् बिल्वैरिति**.

क्वचिद् बिल्वैः क्वचित् कुम्भैः क्व चामलकमुष्टिभिः।
[1]अस्पृश्य नेत्रबन्धाद्यैः क्वचिन्मृगखगेहया ॥१४॥

बिल्वफलानां क्रीडा कन्दुकवत् क्षेपणरूपा. कुम्भफलानि सूक्ष्माणि, ततस्तैः क्रीडा लाक्षासूक्ष्मपिण्डवत्. सूक्ष्माण्यामलकानि, मुष्टिभ्रामणक्रीडया क्रीडनम्. **अस्पृश्य** क्रीडा कपर्दिकेति प्रसिद्धा वरवर्तिकेति च. नेत्रबन्धक्रीडाक्षिमुद्रिकेति प्रसिद्धा. **आदि**शब्देन निलायनक्रीडामग्रे वक्ष्यति. आरोहक्रीडैकपदक्रीडा च; तथा काष्ठखण्डैस्तथाकपालैर्जलस्थलयोः. क्वचिद्धरिणक्रीडा हरिणाकृतिं विधाय नृत्यं कुर्वन्ति. खगवत् मयूरादिकव**दिहा**नेकविधा ॥१४॥

एवं स्थललीलामुक्त्वा जले प्रकारविशेषलीलामाह **क्वचिच्चेति**.

क्वचिच्च दर्दुरप्लावैर्विविधैरुपहासकैः।
कदाचित् स्पन्दोलिकया कदाचिन्नृपचेष्टया ॥१५॥

क्वचिद् दर्दुरवद् भेकवत् प्लवनं कुर्वन्ति मध्ये ह्रदस्य प्लवस्य, "निगृह्य चतुरः पद" इतिश्रुतेः. निरन्तरमुत्प्लुत्य गमनं, तच्चातिकठिनं नेदानीं बालकेषु प्रसिद्धम्. उत्प्लवाश्चोल्लङ्घनानि च, अतो **विविधैरि**त्युभयत्र सम्बध्यते. उपहासकान्युपहासवचनानि चेष्टाश्च. कदाचिद् भगवान् राजा भवति तदा दोलामारुह्य गच्छति केचन

१. आस्पृश्येत्यपि पाठः.

वाहकाः केचन दोलारूपा एव भवन्ति. **स्पन्दोलिका** दोला स्पन्दनरूपा दोलिका वा; वृषभाविवाग्रे द्वौ भवतः प्रसारितबाहुरपरो मध्ये बद्धहस्ताश्चत्वारः पश्चात् सर्वे सम्बद्धा भगवन्तं नयन्ति सा स्पन्दोलिका. **कदाचित् पुनर्नृपचेष्टया** क्रीडति– क्वचिदुपविश्य सिंहासनेऽक्षादिभिश्च क्रीडत्याज्ञापयति बध्नाति दण्डयति वा ॥१५॥

एवं क्रीडामुक्त्वोपसंहरत्ये**वं ता**विति:

एवं तौ लोकसिद्धाभिः क्रीडाभिश्चेरतुर्वने।
नद्यद्रिद्रोणिकुञ्जेषु काननेषु सरित्सु च ॥१६॥

अत्र प्रमाणं लोक एव. एताः क्रीडा वन एव. काश्चन क्रीडा नद्यामद्रावद्रिद्रोणीषु. उभयतः पर्वता मध्ये निम्ना भूमि**र्द्रोणी,** तथा नद्यामपि भवति. **कुञ्जानि** तृणसहितानि गह्वरस्थानानि **काननानि** निबिडवनानि, **सरितः** क्षुद्रनद्यः, **च**कारात् सरस्सु च– एवं सर्वलौकिकभावान् बालकानां निवारयन्नन्तःकरणदोषान् निवारितवान्. यावत् तासु स्वयं न प्रविशति तावत् ताः केवला एव स्मृता भवन्ति न भगवद्विशिष्टा भगवत्स्मारिका वा. अतो बालकानां प्रपञ्चविस्मरणार्थं सर्वकर्मसु स्वयं प्रविष्टः ॥१६॥

एवं क्रियामयान् संस्काररूपांश्च दोषान् निवर्त्यान्तःकरणदोषाभिमानिनीं दैत्यभूतां निवारयितुमुपाख्यानमारभते **पशूंश्चारयतोरि**ति.

प्रकाशः

एवं तावित्यत्र **तथा नद्यामपी**त्यस्मिन् पक्षे नद्यद्र्योर्द्रोणीष्वित्येवं समासः, **तास्वि**ति क्रीडासु. **संस्काररूपानि**ति यैर्भगवदतिरिक्तं स्मार्यते तान् ॥१६॥

लेखः

एवं तावित्यत्र **अत्र प्रमाणमि**ति, एतावल्लीलाज्ञानजनका लोका एवेत्यर्थः ॥१६॥

पशूनित्यस्याभासे **क्रियामयानि**ति भगवन्तं विना केवलक्रीडाप्रचुरानित्यर्थः. **संस्काररूपानि**ति, केवलक्रीडास्मरणजनको यः संस्कारस्तद्रूपानित्यर्थः. तासु भगवत्प्रवेशे भगवता सह क्रिया भवन्ति, संस्कारोपि भगवत्सहितानामेव भवतीति भावः. [1](**उपाख्यानमि**ति बाहुलकात् कर्मणि ल्युट्, लीलाप्रकारमित्यर्थः; भगवत्कृतमिति शेषः. तथा च तान् **निवर्त्य** तां **निवारयितुं** भगवता कृतं लीला-

१. इत्यधिकमेकस्मिन्नादर्शे.

पशूंश्चारयतोर्गोपैस्तद्वने रामकृष्णयोः ।
गोपरूपी प्रलम्बोऽगादसुरस्तज्जिघांसया[1] ॥१७॥
तं विद्वानपि दाशार्हो भगवान् सर्वदर्शनः ।
अन्वमोदत तत्सख्यं वधं तस्य विचिन्तयन् ॥१८॥

गोपैः सह **पशूंश्चारयतोः** सतोः **प्रलम्बोऽगात्.** अन्तःकरणमेव रूपसमर्पकमिति **गोपरूपी** स प्रकर्षेण लम्बो मुक्तिपर्यन्तमनुवर्तमान**स्तज्जिघांसया भगवांस्तं विद्वानपि तत्सख्यमन्वमोदते**ति सम्बन्धः. गत्वा मारणीयः स तत्र स्वयमागते कः सन्देहः! अतः प्रथमत एव **जिघांसये**त्युक्तम्. सम्भवत्यविरोध-व्याख्याने विरुद्धं न व्याख्येयम्. **तं** प्रलम्बं दुष्टं **भगवान्** ज्ञात्वा तत्र प्रवेशेनैव तद्वध इति सञ्चिन्त्य तथैव लीलायाः प्रारब्धत्वाद् भगवतः सर्वसखस्य सर्वात्मकस्य दोषत्वेन दैत्यहननावश्यकत्वात् सख्यं कृतवान्. अत एव भगवता न मारितः. देहोत्पन्नाश्च स्वतो न मार्यन्ते; यथौषधं तथा बलभद्रो. व्यवहारे च स कृष्णसम्बन्धी, गोपालानां मध्ये कृष्णस्यार्धे तस्य प्रवेशात्. अनेनैव प्रकारेणाक्लिष्टतया वधो भवतीति विचारयंस्तथा कृतवान् ॥१७-१८॥

ततः सख्यकरणानन्तरं वधप्रकारं कृतवानित्याह **तत्रोपाहूये**ति.

तत्रोपाहूय गोपालान् कृष्ण प्राह विहारवित् ।
हे गोपा विहरिष्यामो द्वन्द्वीभूय यथायथम् ॥१९॥

प्रकाशः

पशूनित्यत्रान्तःकरणरूपमेवेति. प्रतिपादितं चैतद् "यतो यतो धावति दैवनोदितं मन" इत्यत्र. **तं विद्वानि**त्यत्र ननु वधोपायचिन्तनं लौकिककार्यमिति कथमत्रैतदित्यत आहु**स्तथैवे**ति, लोकवदित्यर्थः ॥१७-१८॥

लेखः

प्रकारं वक्तुं शुक **आरभत** इत्यन्वयः.) व्याख्याने, **अन्तःकरणमेवे**ति. अन्तःकरणं स्मर्तरि स्मर्यमाणस्वरूपसमर्पकमित्यन्तःकरणे विषयतासम्बन्धेन स्मर्यमाणस्वरूपं वर्तते. अतस्तदभिमानिनस्तादृशं रूपमुचितम्. यस्मिन्नन्तःकरणे क्रीडानुभव-जनितसंस्कारोत्पत्तौ विषयतासम्बन्धेन गोपा एव न तु भगवांस्तद्रूपः प्रलम्बः, अतस्तस्य तादृशमेव रूपमिति भावः. साधनचिन्तनहेतु**स्तथैवे**ति ॥१७-१८॥

तत्रोपाहूयेत्यस्याभासे **वधप्रकार**मिति तादृशविहारोपदेशमित्यर्थः ॥१९॥

---

१. 'हीर्षयेत्यपि पाठः.

सर्वानेव **गोपालानुपाहूय** नानाविधक्रीडायां प्रवृत्तान् क्रीडाविशेषमुपदेष्टुं **प्राह. तत्रोपाहूये**ति, यत्र समभूमौ तादृशलीला भवति **तत्र** सर्वा**नुपाहूया**ग्रे वक्ष्यमाणं **प्राहे**ति सम्बन्धः. यतो भगवानक्लिष्टकर्मा **प्र**कर्षेण स्पष्टमे**वाह.** गोपालानां विश्वासार्थे स्वज्ञातक्रीडापरित्यागार्थं च विशेषणं **विहारविदि**ति, सर्वानेव विहारान् वेत्ति. भगवद्वाक्यमेवाह **हे गोपा विहरिष्याम** इति. अद्वन्द्वभूता अपि **द्वन्द्वीभूय यथा** येन सह यो द्वन्द्वं प्राप्तस्तथा तेनैव सह स जयं पराजयं वा प्राप्नोतीति **यथा** तथा **यथायथं** वा यथासुखमित्यर्थः. **यथातथ**मितिपाठेपि क्रियाविशेषणमात्रत्वं विशेषः ॥१९॥

भगवदुक्तास्तथैव कृतवन्त इत्याह **तत्र चक्रु**रिति.

तत्र चक्रुः परिवृढौ गोपा रामजनार्दनौ ।
कृष्णसङ्घट्टिनः केचिदासन् रामस्य चापरे ॥२०॥
आचेरुर्विविधाः क्रीडा वाह्यवाहकलक्षणाः ।
यत्रारोहन्ति जेतारो वहन्ति च पराजिताः ॥२१॥

उभौ तत्र क्रीडायां मुख्यौ क्रियेते; पश्चाद् द्वौ द्वौ समागच्छतः कृत्रिमसङ्केतं कृत्वा तत्र य एव यमर्थं वृणीते तेन सङ्केतितस्तदीयो भवति. एवं सर्वे गोपालाः प्रकारद्वयेन द्विविधा भवन्ति. तदाह **कृष्णसङ्घट्टिनः केचिदासन् रामस्य चापर** इति.

तत्रापि प्रथममागतौ मुख्यकार्यं कुरुतः श्रीदामा प्रलम्बश्चोभौ समागतौ द्वन्द्वीभूय, तत्रापि श्रीदामा बलभद्रेण गृहीतो बलकार्यं करोति प्रलम्बो भगवत्कार्यम्, एतौ मन्त्रिणाविव, अन्यथा जयपराजययोः कृष्णरामावेवान्योन्यं वाहकौ स्यातां तुल्यत्वात्. नाप्यव्यवस्थिततया वहनं, तथा सत्यतिप्रसङ्गात् कलहसम्भवाच्च. नाप्यत्र मुख्यो वाहकत्वपक्षः, अन्यथा भगवतोपि वाहकत्वं न स्यात्– मुख्ययोरेकः क्रीडत्येको वहति, अथवा क्रीडाविशेषे सर्व एव सर्वान् वहन्तीति. तत्रैकपादगमने क्रीडान्तरे वा मध्ये द्वितीयपादस्य भूस्पर्शे पराजितो भवति. तत्र प्रतियोगिनस्तान् भ्रामयन्ति यथा स्खलनं भवति. येन प्रतियोगिना भ्रामितः स्पृशति भूमिं तं वहति. **तदाहाचेरुर्विविधाः क्रीडा** इति. वाह्यवाहकत्वे निमित्तमाह **यत्रारोहन्ती**ति, **जेतार आरोहन्ति पराजिता वहन्ति** ॥२०-२१॥

नापि निसर्गतः पराजितः पराजित एव भवति. अतः कदाचित् कश्चिद् वहति वाह्यते च. तदाह **वहन्तो वाह्यमानाश्चे**ति.

वहन्तो वाह्यमानाश्च चारयन्तश्च गोधनम् ।
भाण्डीरकं नाम वटं जग्मुः कृष्णपुरोगमाः ॥२२॥

मध्ये सर्वेषामेव क्रीडायां प्रविष्टत्वाद् गवां चारणाभावे चतुर्विधपुरुषार्थहानिः स्यादित्याशङ्क्याह **चारयन्तश्च गोधनमि**ति, गाव एव धनम्. **च**काराद् रक्षामपि कुर्वन्तो. भाण्डीरके वने मुख्यो वटोस्ति तदाख्यातिकरस्तत्र समा च भूमिः. प्रलम्बस्य सहायान्तरस्यापि पश्चादागतस्यानागमनं भवत्यतो **भाण्डीरकं नाम वटं** सर्व एव **जग्मुः**. इममर्थं भगवानेव जानातीति **कृष्णपुरोगमाः**, कृष्ण एव पुरोगमो येषाम्. तत्र मध्येपि क्रीडां कुर्वाणा एव गताः ॥२२॥

ततो यदा पराजयस्तदा वहनं तदाह **रामसङ्घट्टिनो ये** हीति.

रामसङ्घट्टिनो ये[1] हि श्रीदामवृषभादयः ।
क्रीडायां जयिनस्तांस्तानूहुः कृष्णादयो नृप ॥२३॥
उवाह कृष्णो भगवान् श्रीदामानं पराजितः ।
वृषभं भद्रसेनस्तु प्रलम्बो रोहिणीसुतम् ॥२४॥

त्रयोत्र निरूपिता अन्तःकरणगुणानां त्रैविध्यज्ञापनाय, रामो यथा तथा श्रीदामा वृषभश्च. रामो राजसः श्रीदामा सात्त्विको वृषभस्तामसः. तत्र यदा ते **क्रीडायां जयिनस्तांस्तान् कृष्णादय ऊहुः**.

अक्लिष्टकर्मतासिद्ध्यै हीनत्वं कुरुते क्वचित् ।
धर्मप्रधानो भगवानिति ज्ञापयितुं तथा ॥(४)॥

लेखः

तत्र चक्रुरित्यत्र **प्रतियोगिन** इति, स्वसङ्घट्टिनो योगिनः परसंघट्टिनः प्रतियोगिन इत्यर्थः ॥२०-२१॥

नापि निसर्गत इत्यनेन **वहन्तो वाह्यमानाश्चे**तिपदार्थ उक्तः. वाक्यार्थस्तु **जग्मुरि**त्यन्तेनोपसंहारे वक्ष्यते ॥२२॥

अग्रिमश्लोकान्ते **ज्ञापयितुमि**ति गोपेष्विति शेषः. एवं ज्ञाने केनापि कस्यचित् पक्षो न कर्तव्यस्तेन लीला सम्यक् सिध्यतीति भावः (४).

योजना

रामसङ्घट्टिनो ये हीत्यस्य विवरणे कारिकायां **धर्मप्रधानो भगवानि**ति, अक्लिष्टकर्मत्वलक्षणः स्वधर्मः प्रधानं यस्येत्यर्थः (४).

---

१. यर्हीत्यपि पाठः.

यथा बलभद्रः प्रलम्बारूढो भवेत् तदर्थं **भगवान् श्रीदामानमुवाह.** नाम्ना लक्ष्मीवनमालारूपत्वं तस्यातोऽलङ्कारार्थं वहनमुचितम्. **पराजित** इतिनिमित्तमन्यस्यापि वहनार्थं, तदाह **वृषभं भद्रसेनस्त्वि**ति. तुशब्दस्तृतीयस्य तत्पूर्ववद् वहनमिति ज्ञापयति– **प्रलम्बस्तु रोहिणीसुतम्.** मातृनाम्ना व्यपदेशस्तदज्ञानज्ञापनाय ॥२३-२४॥

ततो यत् जातं तदाह**विषह्यमि**ति.

अविषह्यं मन्यमानः कृष्णं दानवपुङ्गवः ।
वहन् द्रुततरं प्रागादवरोहणतः परम् ॥२५॥

प्रलम्बेन हि ज्ञातं भगवता सख्यकरणाद् भगवा**नविषह्यो** न केनापि सोढुं

प्रकाशः

रामसङ्घट्टिन इत्यत्र. ननु परवहने स्वस्य हीनत्वं भवतीति भगवान् श्रीदामानं किमित्युवाहेत्यत आहु**रक्लिष्टे**त्यादि. तथा च यद्येवं न कुर्यात् क्रीडा क्लिष्टा स्यादिति तदभावार्थं तथेत्यर्थः. ननु तथाप्येवंकरणे हीनत्वं कथं निवर्तत इत्यत आहु**र्धर्मे**त्यादि. **धर्मा** एव **प्रधाना** मुख्यकार्यकरा यस्य, बाह्यधर्मो वा तथा यस्य. तथा चैतादृशस्थले धर्मा एव तथा कुर्वन्तीति न दोष इत्यर्थः. पद्यं तु यतो **भगवान्** स्वयं **धर्मप्रधान इति ज्ञापयितुं तथा कुरुत** इत्येवं योज्यम्. तथा चान्यत्रापीदृग्विधा भगवत्कृतिरेवंरूपा ज्ञातव्येति भावः. बाह्यधर्मस्तु **नाम्ने**त्यादिना श्रीमदाचार्यैरेव विवृतो ज्ञेयः (४).

लेखः

लक्ष्मीवनमालारूपत्वमिति. लक्ष्म्या स्वसमर्पणीयवनमालाग्रथनाधिकारोऽस्मै दत्त इति सततं तद्भावनया तद्रूपत्वमेवास्य सम्पन्नं, परं तत्स्वरूपगोपनाय लोकेभ्यस्तथा न प्रदर्शयति. भगवांस्तु जानातीति तद्व्याजेन तदाधिदैविकरूपं मालामुवाह; लोकानां त्वाधिभौतिकरूपप्रतीतिरिति भावः. तथा च श्रियो दाम श्रीदामा; पुंस्त्वं तु परोक्षवादाय लोकप्रतीतिमनुसृत्येति ज्ञेयम्. अत्र श्लोके वहनानुवादेन तत्प्रकारो वाक्यार्थः, अत एवास्याभासः पृथङ् नोक्तः. सप्रकारकं वहनं श्लोकद्वयार्थो ज्ञेयः ॥२४॥

कारिकार्थः

रामसङ्घट्टिनो यर्हीत्यत्र **अक्लिष्टे**ति. ननु परवहने स्वस्य हीनत्वं भवतीति भगवान् श्रीदामानं किमित्युवाहेत्यत आहु**रक्लिष्टे**त्यादि. केनापि कस्यचित् पक्षपातो न कर्तव्य इति गोपेषु ज्ञापयितुमित्यर्थः (४).

शक्यः. अतोन्यतरस्याप्युपद्रवः स्वकार्यफलसाधक इति **दानवपुङ्गवो** दानवानां मध्ये श्रेष्ठो दानवारिं भगवन्तं **कृष्णं** परित्यज्य रोहिणीसुतं **वहन्नवरोहणतः परमपि द्रुततरं प्रागात्**; शनैर्गमने सर्वैः सह गमनसम्भवात् पश्चान्नयनं न सम्भवेत्. **अवरोहण**पर्यन्तं मर्यादैवेति **ततः परं** गतः ॥२५॥

स्वार्थसिद्धिं मत्वोपास्यां मायां परित्यज्य तत्कृतं भगवति सख्यं चाहङ्कारदेवतायामपहृतायां दोषो दृढो भवतीति विचिन्त्य दैत्यरूपेणैव हृतवानित्याह **तमुद्वहन्निति**.

तमुद्वहन् धरणिधरेन्द्रगौरवं महासुरो विगतरयो निजं वपुः ।
स आस्थितः पुरटपरिच्छदो बभौ तडिद्द्युमानुडुपतिमानिवाम्बुदः ॥२६॥

बलभद्रोपि मर्यादातिक्रमे भगवदाविष्टो जातस्ततो **धरणिधरेन्द्रवत्** मेर्वादिपर्वतवद् **गौरवं** यस्य. तस्य वहने सामर्थ्यं **महासुर** इति; प्रलम्बो हि मुख्यस्तथापि **विगतरयो** जातस्ततः कृत्रिमवपुषा नयनमशक्यमिति मत्वा **निजं वपु**रासुरं वपु**रास्थितः**. तस्य वपुर्वर्णयति **पुरटपरिच्छदो बभाविति**, **पुरटं** सुवर्णं तदेव **परिच्छदो** भूषणादिकं यस्य तादृशः सन् **बभौ**. स्कन्धे बलभद्रः, बलभद्रस्यापि मुकुटादिकम्. शीघ्रगमने स्वमुकुटं **तडिद्**वद् भाति बलभद्रमुकुटं **द्युमानिव**. **द्युमान्**

प्रकाशः

तमुद्वहन्नित्यस्याभासे **सख्यं चेति परित्यज्ये**त्यनेनैव सम्बन्धः. **अहङ्कारदेवतायामि**ति सङ्कर्षणरूपायाम्. **दोष** इत्यसुरत्वम् ॥२६॥

लेखः

अविषह्यमित्यत्र **स्वकार्येति**, स्वस्य कार्यमुपद्रवस्तस्य फलं भगवदीयानां क्लेशस्तत्साधक इत्यर्थः ॥२५॥ **तमुद्वहन्नि**त्यत्र **वपुरास्थितो** जात इति वाक्यार्थः. भानस्य प्रकृते नोपयोग इति मुख्यत्वाभावाद् वपुर्वर्णनाय तदङ्गत्वेनोक्तम्. तथा च पदार्थत्वमेव पर्यवसन्नमतो दैत्यरूपग्रहणमेव वाक्यार्थ आभासे हरणमनूद्योक्तः. **तडिद् द्युमांश्च यस्ये**ति विग्रहे तडिता सह द्युमान् यस्येति बहुव्रीहिः ॥२६॥

योजना

तमुद्वहन्नित्यस्याभासे **अहङ्कारदेवतायामपहृतायां दोषो दृढ** इति. अहङ्कारस्य देवता सङ्कर्षणो अतो बलदेवहरणम्. यावदहङ्कारस्तिष्ठति तावत् केवलं प्रकृत्यधीनो न भवति पुरुषः, अहमेतादृशः कथमेवं कुर्यामिति बुद्ध्या दोषेभ्यो वैमुख्यबुद्धेरुदयात्. गते त्वहङ्कारे प्रकृतिपरवशो भवति. अहङ्काराभावस्तु अहङ्कारदेवतापहारे भवतीति हेतोरहङ्कारदेवतारूपस्य श्रीबलदेवस्य हरणमित्यर्थः ॥२६॥

सूर्यः. तडिद् द्युमांश्च यस्य. उडुपश्चन्द्रः. बलभद्रोपि श्वेतश्चन्द्रतुल्यः तद्वानु**डुपतिमानम्बुद इव** स्वयं श्यामो वेगवांश्च. अभूतोपमेयं तडित्सूर्यचन्द्रा एकदैकस्य[1] सम्बन्धिनो न भवन्तीति ॥२६॥

ततो बलभद्रकृत्यमाह **निरीक्ष्येति**.

निरीक्ष्य तद्वपुरलमम्बरे चरन् प्रदीप्तदृग्भ्रुकुटितटोग्रदंष्ट्रकम् ।
ज्वलच्छिखं कटककिरीटकुण्डलत्विषाद्भुतं हलधर ईषदत्रसत् ॥२७॥

तस्य **वपुरलं**त्यर्थं **निरीक्ष्य** स्वयमाकाशे **चरन्** गच्छन्नीषदत्रसदिति सम्बन्धः.[2] तस्य रूपं वर्णयति **प्रदीप्ता दृग्** यस्य, **भ्रुकुटितट उग्रा दंष्ट्रा** यस्य; आविष्टक्रोधमुखविकारयुक्त इत्यर्थः. **ज्वलन्ती शिखा** यस्येत्यारक्तदीप्तशिखायुक्तं, **कटककिरीटकुण्डलानां त्विषाद्भुतमे**तादृशमपूर्वं दृष्ट्वा **हलधरो**पि गृहीतहलायुधो**प्यत्रसत्**.[3] त्रासे वा हेतुश्छलाद्. अत्र कल्पान्तरे भगवता ज्ञापित इति ॥२७॥

प्रकृते तु भगवदाविष्टो यत् कृतवांस्तदाह—

अथागतस्मृतिरभयो रिपुं बलो विहायसार्थमिव हरन्तमात्मनः ।
रुषाहनच्छिरसि दृढेन मुष्टिना सुराधिपो गिरिमिव वज्ररंहसा ॥२८॥

आगता स्मृतिर्यस्येति. **अथे**ति केवलव्युदासार्थः. अत **ए**वा**भयो** भयरहितो जातो. **विहायसा**काशमार्गेण **हरन्तं रिपुमात्मनो**, रिपुत्वात् स्वभावतो वध्यं, **शिरसि दृढेन मुष्टिना रुषाहनन्** मुष्टिप्रहारं कृतवान्. ननु नयनमात्रेण कथं हननं? तत्राह **सुराधिपो गिरिमिवे**ति. सर्वलोकापकारित्वाद् वज्रवेगेन यथेन्द्रेण गिरिर्हतस्तथायमपि लोकापकारित्वादेव हतः. **रंहसे**ति प्रतीकाराकरणार्थः. तावन्मात्रेण तस्याहननशङ्कापि निवारिता ॥२८॥

ततो यद् जातं तदाह **स आहत** इति.

स आहतः सपदि विशीर्णमस्तको मुखाद् वमन् रुधिरमपस्मृतोसुरः ।
महारवं व्यसुरपतत् समीरयन् गिरिर्यथा मघवत आयुधाहतः ॥२९॥

[4]**आसमन्ताद् हतः सपद्येव शीर्णमस्तको** जातः. ततो **मुखाद् रुधिरं वमन्न**-

प्रकाशः

निरीक्ष्येत्यत्रच्छलादिति नयनमिति शेषः ॥२७॥

लेखः

निरीक्ष्येत्यत्र केवलकृत्यं त्रासरूपं वाक्यार्थः, भगवदाविष्टकृत्यमग्रिमश्लोके ॥२७॥

१. मेघस्येत्यधिकं क्वचित्. २. तत्र हेतुर्हलधर इत्यधिकम्. ३. पीषदत्रसदितिपाठोपि. ४. आपदं क्वचिन्नास्ति.

न्तर्गतमपि दूरीकुर्वन् स्मृतिरहितोपि जातः— एवं देहेन्द्रियमनसां वैकल्यं निरूपितम्. तथाप्यसुरत्वात् स्वस्य राजसं भावं कृतवान्, तदाह **महारवं समीरयन् व्यसुः सन्नपतदिति**. प्राणस्त्वन्तरिक्ष एव गताः, पश्चाद् भूमौ पतितः. पुनरुत्थानं पतितस्य नाभूदित्येतदर्थं दृष्टान्तमाह **गिरिर्यथेति**. **मघवत आयुधेन** वज्रेण **हतो गिरिर्यथे**-ति— न कदाचिदप्युद्गतो नापि प्रवृद्धः, तथैवास्थिसमूहो जात इत्यर्थः ॥२९॥

ततो यद् जातं तदाह **दृष्ट्वा प्रलम्बं निहतमिति**.

दृष्ट्वा प्रलम्बं निहतं बलेन बलशालिना ।
गोपाः सुविस्मिता आसन् साधुसाध्वितिवादिनः ॥३०॥

बलभद्रः प्रलम्बं मारयतीति नाश्चर्यं यतो **बलशाली**. तथापि कथं ज्ञातवान् कथं वा शीघ्रमुपायस्फूर्तिः कथं वा सकृत्प्रहारेणैव मृत इति गोपालत्वाद् वा **सुष्ठु विस्मिता** आश्चर्ययुक्ता **आसन्**. आदौ चिन्ताकुला[1] जाता इति हननमात्रेणैव **साधुसाध्वितिवादिनो** जाताः ॥३०॥

प्रकाशः

दृष्ट्वेत्यत्र **गोपाः सुविस्मिता आसन्नि**ति पादे **गोपाः सुविस्मिता देवा** इति-पाठान्तरं प्रतिभाति तदङ्गीकृत्याहु**स्ततो देवा** इत्यादि. यद्वाग्रिमश्लोक **आशिषोभिगृणन्त** इत्याशीःप्रयोगः स्वहितकर्तृत्वज्ञानानन्तरमेव भवतीति तत्प्रयोगात् तज्ज्ञानवत्त्वं ज्ञाप्यते. स्वहितं चात्रान्तःकरणदोषनिवृत्तिरूपं, तत्कर्तृत्वज्ञानं च प्रलम्बस्यान्तःकरणदोषरूपत्वज्ञानं विना न सम्भवतीति तदपि ध्वन्यते. तथा चैवं ज्ञानेन्द्रियादीनामलौकिकभावो भवतीति दोषनिवृत्तौ देवत्वं तेषां जातमिति तथा ज्ञानवन्त[2] इत्यभिप्रायेणाहु**स्ततो देवा** इत्यादि. ननु दोषनिवृत्तिमात्रेण कथं देवत्वं तत्राहु**स्त एव** निवृत्तदोषा एव प्राणादयो यतो **देवभावमा**धिदैविकभावं **प्राप्ता**, "आसन्यस्य हरेर्वापि सेवये"ति शेषः, अतस्तथेत्यर्थः. एतेषामासन्योपासकत्वमग्रिमाध्याये स्फुटीकरिष्यते ॥३०॥

लेखः

स आहत इत्यत्र **अन्तर्गतमपी**ति, मस्तकविशरणेन बाह्यदोषनिवृत्तिः अनेनान्तरस्येत्यर्थः. तेन मुक्तियोग्यता सूचितेति भावः. **अपस्मृत** इत्यत्र अपस्मृतिशब्दाद्'अर्शआद्यच्'इत्यभिप्रेत्याहुः **स्मृतिरहितोपीति**. **न कदाचिदपि उद्गतो नापि प्रवृद्ध** इति. कदाचिदसुरा आगत्य मृतसञ्जीवन्या जीवयेयुरिति तथा सम्भावना ॥२९॥

---

१. °लिता इत्यपि पाठः. २. ज्ञातवन्त.

आशिषोभिगृणन्तश्च प्रशशंसुस्तदर्हणम् ।
प्रेत्यागतमिवालिङ्ग्य प्रेमविह्वलचेतसः ॥३१॥

ततो देवास्त एव देवभावं प्राप्ता **आशिषोभिगृणन्तश्च** जाता"श्चिरञ्जीवास्मान् पालये"त्यादि. **तस्यार्हणं** यथा भवति तथा **प्रशशंसुश्च** पूजां कृत्वा स्तोत्रमपि कृतवन्तः. उत्तमानां हीनानामुत्तमाधमभावौ[1] वा निरूपितौ. समभावकृत्यमाह **प्रेत्यागतमिवालिङ्ग्य प्रेम्णा विह्वलचेतसो**पि जाता इति ॥३१॥

न केवलं प्रलम्बवधो भूमिष्ठानामेव हितार्थः किन्तु देवानामपीत्याह **पाप** इति.

पापे प्रलम्बे निहते देवाः परमनिर्वृताः ।
अभ्यवर्षन् बलं माल्यैः शशंसुः साधुसाध्विति ॥३२॥

पापरूपेऽस्मिन् **निहते देवाः** शुद्धसत्त्वात्मकाः **परमनिर्वृता** जाताः कंसादेरपि निर्भयाश्च जाताः. अतो **माल्यैर्बलमभ्यवर्षन्** पुष्पवृष्टिं कृतवन्तः, **शशंसुः** स्तोत्रं च

प्रकाशः

आशिष इत्य**त्रोत्तमानां हीनानामित्युत्तमा** भगवदवेक्षका **हीनाः** स्वावेक्षका मध्यमा भावद्वयमिश्राः. उत्तमो भावः सम्यगयमसुरो नाशितोऽन्यभावः स्पष्ट एव ॥३१॥

अयं श्रीप्रधानोऽध्याय इति वृन्दावनस्य गुणैः शोभारूपा श्रीस्तया तत्र क्रीडा च षोडशश्लोकैः पूर्वमुक्तेति ज्ञेयम् ।

॥ इति श्रीमद्वल्लभनन्दनचरणैकतानश्रीयदुपतितनुजपीताम्बरविरचिते
दशमस्कन्धसुबोधिनीटिप्पण्योः प्रकाशे पञ्चदशाध्यायविवरणम् ॥

लेखः

आशिष इत्यत्र **ततो देवा** इति, अग्रिमश्लोकस्य **देव**पदमत्रान्वेति; अत्र भूमिष्ठा उक्ता अग्रे दिविष्ठा इति विभागः. **देवभावम**न्तःकरणदोषनिवर्तनेन शुद्धसत्त्वात्मकत्वं **प्राप्ता** इत्यर्थः ॥३१॥

योजना

आशिषोभिगृणन्तश्चेत्यत्र **उत्तमानां हीनानां उत्तमान्यभावौ वे**ति. **उत्तमानां** वृद्धानां आशिषोभिगृणनमुत्तमभावः, **हीनानां** बालानां पूजाकरणानन्तरं स्तोत्राकरणं हीनभाव इत्यर्थः ॥३१॥

---

१. °न्यभावौ °धमभावावित्यपि पाठौ.

कृतवन्तः, **साधुसाध्विति** प्रशंसां कृतवन्तः. अन्यथाकाशे गच्छतस्तदारूढेन मारणं स्वरक्षां भावयताशक्यमन्यश्च न तत्र प्रकारोऽतो महासाहसेन कृतमिति **साधुसाध्विति** कथनम्. प्रशंसा देवत्वज्ञापिका, पुष्पवृष्टिर्हर्षज्ञापिका, दोषापगतिस्तदभिमानिनामपि सुखदायिनीति ज्ञापितम्– एवमन्तःकरणदोषः परिहृतः तैश्चानुमोदितो देवैश्च ॥३२॥

॥ इति श्रीमद्भागवतसुबोधिन्यां श्रीमद्वल्लभदीक्षितविरचितायां दशमस्कन्धविवरणे द्वितीये तामसप्रकरणेऽवान्तरप्रमेयप्रकरणे श्रीनिरूपकचतुर्थाध्यायस्य स्कन्धादितः पञ्चदशाध्यायविवरणम् ॥

लेखः

पाप इत्यत्र **अन्यथेति** साधुत्वाभावे इत्यर्थः. **तदभिमानिनामपीति** अन्तःकरणाभिमानिनामलौकिके प्रवृत्तिहेतूनामित्यर्थः ॥३२॥

योजना

पापे प्रलम्बे निहत इत्यत्र **तैश्चानुमोदित** इति गतदोषैर्गोपैरित्यर्थः, **साधुसाध्वितिवादिन** इतिवाक्यात् ॥३२॥

॥ इति पञ्चदशोध्यायः ॥

॥ पञ्चमो स्कन्धादितः षोडशोध्यायः ॥

अज्ञानात्मा ह्यात्मदोषो दवाग्निस्तन्निवारणम् ।
षोडशे प्रोच्यते सम्यङ्निरोधः सेत्स्यते ततः ॥(१)॥
ततो दासैर्मुदा लीला स्वच्छन्दाग्रे भविष्यति ।

प्रकाशः

अथ षोडशाध्यायतात्पर्यं निरूपयन्तः कथासङ्गतिः पूर्ववदेव ज्ञातव्येति तामनुक्त्वा स्कन्धार्थसङ्गतिमेवाहुर**ज्ञानात्मे**त्यादि. **हि** यतो हेतो**रज्ञानात्मा** स्वरूपाज्ञानात्मकः पञ्चम **आत्मदोषो दवाग्नि** "रात्मानं चेद् विजानीयादयमस्मीति पूरुषः किमिच्छन् कस्य वा हेतोः शरीरमनुसञ्ज्वरेदि"तिश्रुतावात्माज्ञानेनैव शरीरार्थं 'ज्वर'स्योक्तत्वात् स एवैकीभूतोयमग्नि**स्तन्निवारणं** षोडशाध्याये **प्रोच्यत** इतरपर्वमूलभूतैतन्नाशरूप उच्यतेऽतस्तन्निवृत्तेः साधारणाना **निरोधः सेत्स्यते** भगवल्लीलाया योग्यायोग्यश्रवणाश्रवणकृतिपूर्वको दोषदृष्टिरहितश्च सम्पत्स्यते. तथा च स्वरूपयोग्यतासम्पादनार्थमेतावत् निरूपणमित्यर्थः(१). नन्वेवं साधारणनिरोधे कृतेपि तस्य मुख्यलीलायां कुत्रोपयोगस्तदभावे चैतत्करणस्य किं प्रयोजनमत आहु**स्ततो दासै**रित्यादि. **तत** आसक्तिलक्षणनिरोधात् तैः सहैवं **लीला भविष्यति.** एवकारोप्यर्थे; **च** पुनः **स्त्रीणाम**पि भगव**दासक्तिः**

लेखः

षोडशेध्याये **अज्ञानात्मे**ति, भगवदज्ञानरूपो जीवस्य दोषो **दवाग्नि**रित्यर्थः.

योजना

षोडशाध्यायार्थोक्तौ **अज्ञानात्मा ह्यात्मदोषो दवाग्नि**रिति. "लोभक्रोधादयो दैत्या" इति कृष्णोपनिषद्भ्यः कृष्णावतारे नाश्यानां दोषरूपत्वम्. तत्राविद्यायाः पञ्चपर्वाण्यपि नाश्यानि. तेषु देहाध्यासरूपो धेनुको नाशितः, इन्द्रियदोषो दूरीकृतः कालीयदमनेन, प्रथमदवाग्निः प्राणदोषरूपो नाशितः, अन्तःकरणदोषः प्रलम्बो नाशितः, स्वरूपाज्ञानरूपो द्वितीयो दावाग्निस्तन्नाशोस्मिन्नध्याये उच्यते– एवं

कारिकार्थः

अध्यायार्थमाहु**रज्ञानात्मे**त्यादि, स्वरूपाज्ञानात्मक इत्यर्थः. स्कन्धार्थसङ्गतिमाहु**र्निरोध** इत्यादि. एवं तत्तद्दोषात्मकतत्तद्दैत्यवधादेस्तत्तद्दोषनिवृत्तिद्वारा निरोधसाधकत्वेनाङ्गाङ्गिभावसङ्गत्या निरोधस्कन्धे निरूपणं ज्ञेयम् (१).

तत इत्यादि. **ततः** आसक्तिरूपनिरोधाद् **दासै**र्गोपैः सह **स्वच्छन्दा लीला**

स्त्रीणां चैव मनःप्रीतिस्तदासक्तिः फलिष्यति ॥(२)॥

॥ श्रीशुक उवाच ॥

क्रीडासक्तेषु गोपेषु तद्गावो दूरचारिणीः ।
स्वैरं चरन्त्यो विविशुस्तृणलोभेन गह्वरम् ॥१॥

एवं प्रलम्बवधप्रसङ्गेन क्रीडासक्तानां गोपानां विस्मृतपशुधनानां सम्बन्धि-

प्रकाशः

फलिष्यति. तथा चैतदर्थं तत्करणमित्यर्थः. एतेन वक्ष्यमाणोपोद्घातरूपत्वं पूर्वाध्यायपञ्चकस्य बोधितम् (२).

एवं सङ्गतिमुक्त्वाध्यायार्थनिष्कर्षं वदन्तः पाद्मे प्रलम्बवधस्य फाल्गुन उक्तत्वादत्र च पूर्वाध्याये ग्रीष्मर्तोर्वर्णितत्वादत्र च तस्यैवर्तोः प्रत्यभिज्ञायमानत्वात् प्रलम्बवधदावाग्निनिवृत्त्योरेकदैव व्रजे गोपैः कथनस्य वक्ष्यमाणत्वाच्च नात्र पाद्मोत्तरखण्डोक्तः पक्षः किन्तु तस्मिन्नेव दिने प्रलम्बवधो दवाग्निसम्बन्धश्चेति बोधयितुं कथासङ्गतिमाहुरे**वं प्रलम्बे**त्यादि **गता** इत्यन्तम्. ननु भवत्वेवं तथापि पूर्वाध्यायोक्त-

लेखः

तत्रार्थापत्तिं प्रमाणयन्ति **सम्यगि**त्यारभ्य **फलिष्यती**त्यन्तेन. तन्निवारणानन्तरं "मेनिरे देवप्रवरावि"त्यनेन ज्ञानमुक्तमतोऽस्य तथात्वमिति युक्तिसूचनाय **हि**शब्दः. **स्त्रीणां चैवे**ति, एतासामपि लीलां "मार्गा बभूवुरि"त्यादिना वक्ष्यतीति **च**कारः. प्रीत्यासक्तिरूपं फलं त्वेतासामेवे**त्येव**कारः. यद्यपि तदध्यायकारिकायां गोपानामपि तत्फलमुक्तं तथापि सूचितत्वेन, एतासां तु स्फुटमेवोक्तमेतज्ज्ञापनायैव तत्कारिकायां 'स्फुटे'त्युक्तम् (१-२).

योजना

चतुर्धाध्यासः स्वरूपविस्मरणं चेति पञ्चाप्यविद्यायाः पर्वाणि मूर्तिमन्ति निवर्तितानि. **ततो दासैर्मुदा लीले**ति. **ततः** पञ्चपर्वाविद्यानिवृत्त्यनन्तरं **दासैः** गतदोषत्वेन स्वरूपं ज्ञात्वा सेवां कुर्वद्भिः सह **लीला** भवति, सा सप्तदशाध्याये निरूप्या. **स्त्रीणां चैवे**ति. वेणुनादश्रवणेन **मनसः प्रीतिं** व्रजस्त्रीणां कृतवान्, सा लीला अष्टादशाध्याये निरूपयिष्यते (१-२).

कारिकार्थः

सप्तदशाध्यायोक्ता **भविष्यति. स्त्रीणां चे**ति, **स्त्रीणां च** अष्टादशाध्यायोक्ता भगवदासक्तिः **फलिष्यती**त्यर्थः (२).

न्यो **गावो** यतः कुतश्चिद् गताः. अन्तःकरणदोषे परिह्रियमाणे जीवस्यासदवस्था भवतीत्यज्ञानं बलिष्ठमिव भवति. उपाधेर्देहस्यासदर्थनिवेशात् तत्प्रसङ्ग आत्मापि तद्दोषसहितो भवति. तदा[१] गवां दाहे गोपाला अपि दग्धा उच्यन्ते. एवं सर्वनाशे समुपस्थिते हरिरेव रक्षकः, तदुपेक्षायां तु सर्वनाश एव भवेत्. शरणागतौ च रक्षा, अतः सर्वोपाधिविनिर्मुक्तोपि हरिं शरणमाव्रजेदिति. **क्रीडायामासक्तेषु गोपेषु** सत्सु **त**त्सम्बन्धिन्यो **गावो** रक्षकाभावाद् **दूरचारिण्यो** जाताः. ततः **स्वैरं चरन्त्यस्तृणलोभेन गह्वर**मत्यगम्यस्थानं **विविशुः.** एवमेव देह उपेक्षितोऽत्यशक्यस्थाने विशेत्[२] ॥१॥

प्रकाशः

लीलया निवृत्तान्तःकरणदोषाणां कथमेवम्भावो येन गोधनास्मरणादिरित्यत आहु**रन्तःकरणे**त्यादि. **असदवस्थे**ति वैकल्यम्, **इति**र्हेतौ, **तत्प्रसङ्ग** इति देहप्रसङ्गे. तथा चैवमात्मदोषोद्बोधात् तथेत्यर्थः. अत्र च **गवा**दिपदानि निगीर्याध्यवसानेन रूपकातिशयोक्तिविधया देहादिलक्षकाणि, प्रथमस्य चतुर्थारम्भ आनुमानिकसूत्रे प्रकरणबलेन 'महदा'दिपदवत् प्रकृते निरोधे तदङ्गभूताध्यासादिनिवृत्तेरेव विवक्षितत्वादित्याशयेनाहु**स्तदे**त्यादि. एतावान् परं विशेषस्तत्र कथाभावात् लक्ष्या एव मुख्या, अत्र तु कथायाः सद्भावाद् वाच्या अपि. तेन यथाधिकारस्तेषां तेषां बोधयतीति न कोपि शङ्कालेशः. एवं दोषोत्पत्तिप्रकारमुक्त्वा तन्निवृत्तिप्रकारमाहुरे**वं सर्वे**त्यादि. **क्रीडासक्तेष्वि**त्यत्राध्यायतात्पर्येण सङ्गमयितुं गवामुपेक्षया गह्वरप्रवेशस्य तात्पर्यमाहु**रेवमि**त्यादि ॥१॥

लेखः

असदवस्थेति, निश्चितस्वसत्ताकस्य देहादिभावस्याभावाद् वास्तवस्वरूपस्य चाज्ञानादित्यर्थः. **बलिष्ठमिवे**ति, चतुर्विधाध्यासरूपान्यथाज्ञानस्य निवृत्तत्वादित्यर्थः. तथापि भगवान्निवर्तक इति **इवे**त्युक्तम्. **उपाधेरि**ति, अन्यथाज्ञानोपाधिभूतस्य **देहस्या**सत्पदार्थेषु **निवेशाद्** "देहो नाहमि"त्याकारकात् तत्सङ्घातनिविष्टस्यात्मनोपि किञ्चिद्दोषसम्बन्धो युक्त इत्यर्थः. **सर्वोपाधी**ति, चतुर्विधाध्यासरहितोपीत्यर्थः ॥१॥

योजना

अन्तःकरणदोषे परिह्रियमाणे जीवस्य असदवस्था भवतीति. अन्तःकरणाध्यासेन "अहमिदमनुभवामि-स्मरामी"त्याद्यन्यथाज्ञानपरतन्त्रो जीवः सत्त्वेन

१. तथेत्यपि पाठः. २. निविशेदित्यपि पाठः.

अजा गावो महिष्यश्च निर्विशन्त्यो वनाद् वनम् ।
इषीकाटवीं विविशुः क्रन्दन्त्यो दावतर्षिताः ॥२॥

देहानां त्रैविध्यमिव वक्तुं तस्मिन् दिवसे **अजा** राजस्यो **गावः** सात्त्विक्यो **महिष्य**स्तामस्यश्च. पूर्वं धर्मरक्षायां निरूपितत्वात् न राजसतामसानां निरूपणम्. **च**कारादन्ये हरिणादयश्च लीलार्थं गृहीताः श्वानो वा. एकं वनं परित्यज्य वनान्तरं नितरां **विविशुः**. पूर्वोक्तवने हि देवतासान्निध्यं निरुपद्रवश्च, अतस्तद् वनं परित्यज्य वनान्तरं गताः. तत्रापि रक्षकाभावा**दिषीकाटवीं विविशु**र्यत्र प्रवेशनिर्गमौ कठिनौ. ते हि[1] वर्षवृद्धा आसन्नमरणाः स्वयमेव म्रियमाणाः कथमन्यरक्षां कुर्युः? तत्र प्रविष्टा **क्रन्दन्त्यो** जाता औष्ण्येन च कृत्वा **तर्षिता**स्तृषायुक्ताश्च जाताः. एवं गवां स्वतः स्वसम्बन्धाभावोऽनिष्टसम्बन्धश्च कथितः ॥२॥

टिप्पणी

षोडशेध्याये **अजा गावो महिष्यश्चे**त्यत्र **ते हि वर्षवृद्धा** इत्यादि. 'ग्राम्यपशुसङ्घेष्वतरुणेषु स्त्री'त्यनुशासनादत्र स्त्रीप्रयोगादतरुणत्वं ज्ञाप्यत इति तथा ॥२॥

प्रकाशः

अजा गाव इत्यत्र. ननु पूर्वाध्यायेष्वजादीनां कुतो न निरूपणमित्यत आहु**र्देहानामि**त्यादि. **तामस्यश्चे**ति निरूपिता इति शेषः. **पूर्वोक्तवन** इति वृन्दावने. **ते ही**ति मुञ्जाः ॥२॥

लेखः

अजा गावो महिष्यश्चेत्यत्र **निरुपद्रव** इति, तादृशो देशः पूर्वोक्तवने वर्तते इत्यर्थः. **म्रियमाणा** इति ग्रीष्मतापेनेति शेषः. एतादृशा **अन्यस्मादि**षीकावनाद्

योजना

भाति. अन्तःकरणदोषे परिह्रियमाणे अन्यथाज्ञानाभावादहंवित्तौ आत्मा न सम्यक्तया भातीति ज्ञानाभाव एव **बलिष्ठो भवति.** तदेतत् "तेऽपश्यन्तः पशून् गोपा" इत्यस्य पश्वज्ञानस्याध्यात्मिकपक्षेण तात्पर्यमुक्तम्. यत् तु **तेऽपश्यन्तः पशून् गोपा** इत्यस्याभासे **निवृत्तान्तःकरणदोषाणां स्मृतिमाहे**त्युक्तं तत्तु **विचिन्वन्तो गवां गतिमि**त्यस्य हार्दार्थ उक्तः. **देहानां त्रैविध्यमिवे**तिः इह अजागोमहिषीणां राजससात्त्विकतामसीनां देहतौल्यं निरूपितं तत्तु यत्र यस्याधिका प्रीतिस्तत्रैव देहदृष्टान्तः सुगमो भवति, अज्ञानां देहस्यैव परमप्रीतिविषयत्वात् ॥१-३॥

१. सर्व इत्यधिकं क्वचित्.

तादृशीषु निवृत्तान्तःकरणदोषाणां स्मृतिमाह **तेऽपश्यन्त** इति.

तेऽपश्यन्तः पशून् गोपाः कृष्णरामादयस्तदा ।
जातानुतापा न विदुर्विचिन्वन्तो गवां गतिम् ॥३॥

ते गोपालाः **पशूनपश्यन्तः कृष्णरामादयो** गतस्थानपरिज्ञानार्थं **मार्गमन्वगमन्नि**त्यग्रेण सम्बन्धः. प्रथमं **तदा** क्रीडाभगवत्प्रधानाः सन्तो व्यवहितदशायां स्मरणानन्तरं **जातानुतापा** जाताः; कृतापि [1]लीलाऽकृता भाविता. अत एव **न विदुर्गवां गतिं विचिन्वन्तो**पि. धर्मपरिपालने तु गाव एव मुख्याः ॥३॥

ततोऽनुमानेन ज्ञातवन्त इत्याह **तृणैरि**ति.

तृणैस्तत्खुरदच्छिन्नैर्गोष्पदैरङ्कितैर्गवाम् ।
मार्गमन्वगमन् सर्वे नष्टाजीव्या विचेतसः ॥४॥

तासां गवां खुरैः दद्भिश्च छिन्नैस्तृणैः कृत्वा **मार्गमन्वगमन्.** आरण्यवैलक्षण्यं खुरैर्ज्ञातं [2]रदच्छेदेन सामान्यतो ज्ञातम्, अतः सामान्यविशेषज्ञापकै**स्तृणैर्गवां** सम्बन्धिभि**र्गोष्पदैश्चाङ्कितै**श्चिह्नितै**स्तृणैरे**व. त्रिविधानि तृणानि जातानि— मूलतश्छिन्नानि पीडितानि च गोमयखुरघातैः. अतस्त्रिविधानामपि ज्ञापकत्वात् नात्र भ्रमशङ्का. ततः **सर्व** एव **मार्गमन्वगमन्** गवां मार्गेण गताः, यतः सर्व एव **नष्टा-**

प्रकाशः

तेऽपश्यन्त इत्यत्र **तदे**ति मूलप्रतीकम्. **कृतापि लीले**त्यन्तःकरणदोषनिवृत्तिरूपा. **गाव एव मुख्या** इति, तेन धर्मोपि गत इति सूचितम् ॥३॥

लेखः

भयहेतोः स्वस्य **रक्षां** स्वयमेव **कथं कुर्युः** किन्तु छायाभ्रमेण तत्र गच्छेयुरेव. गोपाश्च रक्षका न सन्ति अतस्तत्र निविष्टा इत्यर्थः. **स्वसम्बन्धाभाव** इति स्वेषु गोपेषु सम्बन्धस्याभावः. स्वतो गोपेषु न सम्बद्धा इति **क्रन्दन्त्य** इत्यनेनोक्तम्, **अनिष्टस्य** दावस्य **सम्बन्धो दावतर्षिता** इत्यनेनोक्त इत्यर्थः ॥२॥

तेऽपश्यन्त इत्यस्याभासे **स्मृतिमाहे**ति श्लोकद्वयेनेति शेषः. अयं वाक्ययोस्तात्पर्यार्थः. एकस्मिन्नपि पर्वणि विद्यमाने पर्वान्तरमुद्गच्छेदिति सूचनाय पुनर्देहादिस्मरणमेव वाच्यम्, अनुतापोऽज्ञानं गतिविचयनमनुगमनं च तत्कार्यत्वेनोक्तमिति भावः. व्याख्याने. स्मृतिं विशदयन्ति **स्मरणानन्तरमि**ति, स्मरणं विना अनुतापादिकं न सम्भवतीति तेन स्मरणं ज्ञापितमिति भावः ॥३॥

१. लुप्तं क्वचित्. २. दच्छेदेनेत्यादिरपि पाठः.

जीव्याः. ननु चेतना अचेतनप्रायाणां मार्गे कथं गताः? तत्राह **विचेतस** इति, विवेकरहिता व्याकुला वा ॥४॥

ततः प्राप्य न्यवर्तन्तेत्याह **मुञ्जाटव्यामिति**.

मुञ्जाटव्यां भ्रष्टमार्गं क्रन्दमानं च गोधनम् ।
सम्प्राप्य तृषिताः श्रान्तास्ततस्ते सन्न्यवर्तयन् ॥५॥

यदि मध्ये मुञ्जाटवी न स्यादग्रेपि गच्छेयुः. अतो **मुञ्जाटव्यां भ्रष्टमार्गा** अत एव **क्रन्दमाना** इतिकर्तव्यतामौढ्यात् सुतरां मुञ्जस्पर्शेण सुदुःखिता गावो जाताः. ततस्तादृशं **गोधनं सम्प्राप्य** स्वयमपि **तृषिताः श्रान्ताः** गोभिः समानधर्माः क्षणं विश्रम्य तृषां[1] दूरीकृत्य **ततस्तदनन्तरं सम्यङ् न्यवर्तयन्** निवर्तितवन्तः ॥५॥

ता आहूता भगवता मेघगम्भीरया गिरा ।
स्वनाम्नां निनदं श्रुत्वा प्रतिनेदुः प्रहर्षिताः ॥६॥

सर्वे निवर्तिता न निवर्तिता इतिसन्देहे **भगवता** सामान्यतो विशेषतश्च वनमध्यं [2]प्रविष्टा**स्ता आहूताः**. शब्देनैव तासामन्तस्तापबहिस्तापौ गताविति ज्ञापयति **मेघगम्भीरयेति**[3]. ततो गततापाः **स्वनाम्नां निनदं** शब्दं **श्रुत्वा प्रतिनेदुः** तत्रैव स्थित्वा प्रतिशब्दं कृतवत्यः **प्रहर्षिताश्च** जाताः. निकटे समागताश्चेति ज्ञातव्यम् असमागताश्च काश्चन ॥६॥

एतस्मिन्नवसरे दैत्याभिमानिनी देवतोपासिता लौकिक्यश्चान्तःकरणदेवताः

प्रकाशः

तृणैरित्यत्राचेतनप्रायाणामिति कथापक्षे गवां द्वितीयपक्षे शरीराणाम्. **विवेकरहिता व्याकुला वा**– द्वितीयपक्षे विवेकरहिता गोपक्षे व्याकुला इति बोध्यम् ॥४॥

तत इत्यस्याभास **एतस्मिन्नवसर** इत्यादि. यदा भगवता गोपानामात्मदोषो निवारयितुं विचारितस्तस्मिन् समये **दैत्यस्य** हतस्य प्रलम्ब**स्याभिमानिनी देवता**

लेखः

तत इत्यस्याभासे **एतस्मिन्निति**. अत्र भगवता द्वयं सम्पादितं– दैत्यवधोन्तःकरणदोषनिवृत्तिश्च. तद्द्वयापकारं विवृण्वन्ति **उपासितेति**, प्रलम्बेनेति शेषः. **लौकिक्य** इति लौकिकप्रवृत्तिहेतव इत्यर्थः; अलौकिकप्रवृत्तिहेतूनां तु पूर्वाध्यायेऽनुमोदनमेवोक्तमिति भावः. **दवानलरूपा** इति– अज्ञानात्मकस्य **दवानलस्य निरूपका** उद्दीपका इत्यर्थः ॥७॥

१. तृषमित्यपि पाठः. २. प्रविष्टा इतिसमस्तं क्वचन. ३. गिरेत्यधिकं क्वचित्.

क्रुद्धा एकीभूय [1]दवानलरूपा जाताः. स दवानलस्तस्मिन्नवसरे पलायनासमर्थे **समन्तात्** प्रादुर्भूतो जात इत्याह **तत** इति.

ततः समन्ताद् वनधूमकेतुर्यदृच्छयाभूत् क्षयकृद् वनौकसाम् ।
समीरितः सारथिनोल्बणोन्मुकैर्विलेलिहानः स्थिरजङ्गमान् महान् ॥७॥

वनसम्बन्धी **धूमकेतु**रग्निरनिष्टहेतुरिति **धूमकेतु**पदेनोक्तस्तेषां माहात्म्यज्ञापनार्थं **यदृच्छयैवाभूद**कस्मात् कालकर्मस्वभावभगवदिच्छाभिर्वा. उद्भवे हेतुमाह **क्षयकृद् वनौकसामिति**– वनसम्बन्धमात्रेणैव सोग्निः पीडयति; सुतरामेव वने स्थानं येषाम्. तादृशस्य सहायोप्यन्यो जात इत्याह **समीरितः सारथिनेति**. वायुरग्नेः सारथी रथप्रवर्तकः; रथो ज्वाला. अत **एवोल्बणोन्मुकैर्विलेलिहानो** जातः सर्प इव ग्रसन्नागत[2]स्ततो बहुभक्षणेन पुष्टः सन् **महान्** जातः ॥७॥

तादृशो भगवदीयानामपि स्थाने समागत इत्याह **तमापतन्तमिति**.

तमापतन्तं परितो दवाग्निं गोपाश्च गावः प्रसमीक्ष्य भीताः ।
ऊचुश्च कृष्णं सबलं प्रपन्ना यथा हरिं मृत्युभयार्दिता जनाः ॥८॥

परित [3]**आपतन्त**मुपर्यागच्छन्तं **दवाग्निम**परिहार्यं सहजदोषरूपं **गोपाः** प्रतिक्रियानभिज्ञा **गावश्च** मूढाः **प्रकर्षेण** [4]**समीक्ष्य भीता** जाताः. ततो ज्ञातभगवन्माहात्म्या भगवन्तं प्रार्थितवन्त इत्याह**ोचुश्चेति**. **बलभद्रसहितमिति** प्रकृतोपयोगात्

प्रकाशः

तल्लिङ्गदेहविशिष्टजीवात्मि**कोपासिता** मोचयितुं भगवता ध्याता **लौकिक्यश्चान्तः-करणदेवता** "द्वया ह[5] प्राजापत्या" इत्यत्राप्रतिरूपसङ्कल्पजनकपाप्मवेधकर्तृतया सिद्धास्ता उभयविधा अपि दैत्यनाशनेनान्तःकरणदोषनाशनेन चतु**र्धैकीभूय दावानलरूपा जाता**. भगवता द्वयं कृतमित्युभयविधानां क्रोधस्तेन द्वयोरेकीभावः; भगवद्रक्षितान् दोषरहितान् क्षपयितुं तदा दावानलस्तथा जात इत्यर्थः. न च मोचने सन्देहः कार्यः, द्वितीयस्कन्धे "ये च प्रलम्बे"त्यत्र पञ्चाध्याय्यां "यत एतद् विमुच्यत" इत्यत्र च[6] मुक्तेरुक्तत्वादिति. सा चात्र दावाग्नेरन्तःप्रवेशनेन बोध्या. दावाग्निश्चात्मदोषसाहित्येन त्रितयरूपो बोध्यः ॥७॥

लेखः

तमापतन्तमित्यस्याभास **इत्याहेति**– **इति**हेतोस्तेषां भयं तत्कृतप्रार्थनारम्भं चा**हे**त्यर्थः ॥८॥

१. दावेत्यादिः पाठोपि. २. जात इतिपाठः क्वचित्.
३. ग्गच्छन्तमिति पाठोपि. ४. वीक्ष्येति पाठः. ५, ६. लुप्तम्.

क्रियाशक्तिसाहित्यमुक्तम्. **कृष्णं** सदानन्दं, प्रकृते लीलाकर्तारं, शरणापन्नाः सन्त **ऊचुः.** तत्र दैन्यार्थं दृष्टान्तमाह **यथा हरिमिति.** [1]**मृत्युभयेना**प्रतीकार्ये**णार्दितो यथा** कश्चित् कृतपुण्यपुञ्जो **जनो** गजेन्द्र इव **हरिं** शरणं गच्छति तथात्यन्तं दीनाः सर्व एव शरणं गताः ॥८॥

तेषां विज्ञापनामाह **कृष्णकृष्णे**तिद्वाभ्याम्,

प्रार्थनामुपपत्तिं च क्रमेणाह निराकृतौ ॥

कृष्ण कृष्ण महावीर्य हे रामामितविक्रम ।
दावाग्निना दह्यमानान् प्रपन्नांस्त्रातुमर्हथः ॥९॥

कृष्णकृष्णेति सम्बोधनमादरेण वैकल्याच्च. **महावीर्ये**ति प्रकृतोपयोगि-सामर्थ्यम्. द्विविधा हि त इति राममप्याहुः परं न द्विरुक्तिः. प्रलम्बादिवधात् प्रकृतोपयोगिसामर्थ्य**ममितविक्रमे**तिसम्बोधनेनोक्तम्. विज्ञापनामाहु**र्दावाग्निना दह्यमाना**निति. रक्षायां हेतुः **प्रपन्ना**निति. समर्थ एव प्रपन्नरक्षायामधिकारी, अत**स्त्रातुमर्हथः** ॥९॥

एवं मर्यादाविचारेणापि स्वरक्षाया आवश्यकत्वं निरूप्य पुष्टिमार्गेणापि स्वरक्षायास्तथात्वमाहु**र्नूनमि**ति.

नूनं त्वद्बान्धवाः कृष्ण न [2]चार्हन्त्येवसीदितुम् ।
वयं हि सर्वधर्मज्ञ त्वन्नाथास्त्वत्परायणाः ॥१०॥

भगवद्विचारेणोक्त्वा स्वविचारेणाहुर्वा **कृष्णे**ति, 'सदानन्द'सम्बोधनं सेवकानां दुःखित्वानौचित्याय. **त्वद्बान्धवा**स्त्वमेव बन्धुर्येषां बन्धुत्वसम्बन्धज्ञान-

प्रकाशः

तमापतन्तमित्यत्र चतुर्थपादस्याभासे **तत्र दैन्यार्थमि**ति, शरणागतौ दैन्यस्याङ्गत्वात् तदर्थमित्यर्थः. **प्राणाप्रतीकार्य** इति, "सप्राणयोश्चित्रममंसतामरा" इति गजेन्द्रमोक्षस्थवाक्यात् तदप्रतीकार्ये ॥८॥

कृष्ण कृष्णेत्यत्र **निराकृतावि**ति निमित्तसप्तमी. **द्विविधा** इत्युभयपक्षपातिनः, साधारणा असाधारणा इति वा ॥९॥

कारिकार्थः

कृष्ण कृष्णेत्यादिश्लोकद्वयवाक्यार्थावाहुः **प्रार्थनामुपपत्तिं च क्रमेणाह निराकृतावि**त्यर्धेन. **निराकृतौ** दावाग्निनिराकरणनिमित्तमित्यर्थः (२$\frac{१}{२}$).

१. 'प्राणाप्रती', 'भये प्राणप्रतीत्यादिरपि पाठः. २. 'न्त्यवेत्यपि पाठः.

वन्तस्ते**ऽवसीदितुम**वसादं प्राप्तुं **नार्हन्ति. च**कारादल्पमपि खेदं प्राप्तुं नार्हन्त्येव. **अवसादितुमि**ति वा पाठः. **एवकारेण**(?) कादाचित्कोप्यवसादो निषिद्धः. भगव-द्बान्धवत्वं समर्थयन्ति **वयं ही**ति. धर्मा अनेकविधा लौकिकवैदिकानन्तप्रकारभिन्नाः. सर्वे त्वयैव ज्ञायन्ते तेषां बाध्यबाधकता च. अतो येनकेनापि प्रकारेणास्मत्प्रपत्तिः क्वचिद्धर्मे प्रवेशमर्हति, अन्यथा **वयं** कथं **त्वन्नाथा**स्त्वमेव नाथो येषां तादृशा भवेम? न हि धर्मव्यतिरेकेण विशेषाकारेण त्वं नाथो भवसि. किञ्च **वयं त्वत्परायणा**स्त्वमेव परमयनं स्थानं येषाम्. नाथत्वेपि तदेकनिष्ठतातिदुर्लभा यथा गाव-**स्त्वन्नाथा**स्त्वन्निष्ठाः. वयं तूभयविधाः. गवां वा वचनमाद्यं गोपानामग्रिमम् ॥१०॥

भगवांस्तु तेषां प्रार्थितं कृतवानित्याह **वचो निशम्ये**ति.

॥ श्रीशुक उवाच ॥

वचो निशम्य कृपणं बन्धूनां भगवान् हरिः ।
निमीलयत मा भैष्ट लोचनानीत्यभाषत ॥११॥

कृपणं दीनतरं **बन्धूना**मुभयविधानाम्. **भगवा**नुपायाभिज्ञः समर्थश्च, **हरिः** सर्वदुःखहर्ता. स्वाभाविकोऽयं धर्मो देवगुह्यं भगवत्कर्माज्ञानां भयजनकं च. रात्रौ तु

प्रकाशः

वचो निशम्येत्यत्र. ननु समर्थेन भगवता नेत्रनिमीलनोपदेशः कुतः कृत इत्यत आहु**र्देवगुह्यमि**त्यादि. तत् करिष्यमाणं कर्म द्वितीयस्कन्धे "तत् कर्म

लेखः

वचो निशम्येत्यस्याभासे **भगवांस्त्वि**ति. उभौ प्रार्थितौ तत्र रामस्तूष्णीमास **भगवांस्तु कृतवानि**ति रामव्यावृत्त्यर्थं तुशब्दः. श्लोकद्वयस्य वाक्यार्थोयम्. व्याख्याने. **उभयविधानामि**ति रामसङ्घट्टिनां स्वसङ्घट्टिनां चेति प्रथमपक्षे स्वनाथानां गवां

योजना

नूनं त्वद्बान्धवाः कृष्णेत्यस्याभासे **पुष्टिमार्गेणापि स्वरक्षाया** इति. पुष्टिमार्गे देहसम्बन्धस्यापि साधकत्वं, "सम्बन्धाद् वृष्णयः स्नेहाद् यूयं भक्त्या वयं विभो" इति सप्तमस्कन्धे नारदवाक्ये वृष्णीनां देहसम्बन्धेन भगवत्प्राप्तिकथनात्. प्रकृतेपि श्रीकृष्णस्य नन्दराजकुमारत्वाद् गोपानां देहसम्बन्धोऽस्तीति **पुष्टिमार्गेणापी**त्युक्तं सुबोधिन्याम्. मूले **त्वद्बान्धवा** इत्यनेन देहसम्बन्धस्य रक्षायां हेतुत्वोक्तेः पुष्टिमार्गोक्तिरिति हार्दम् ॥१०॥

सम्यग्दर्शनाभावान्न चक्षुर्निमीलनोपदेशो. ज्ञानशक्तिप्राकट्यादेवैतद् जातम्, [1]अज्ञाने तु हितमेवैतद् भवेद् यथाग्नौ पतङ्गाः पतन्ति. अन्यत्र वैते नेयाः, तथाप्येतेषां भयं स्यात्. अतः सर्वप्रकारेण भयाभावायाह **निमीलयतेति**, चक्षुर्निमीलनं कुरुत. न च शङ्कनीयमग्निर्धक्ष्यतीत्यत आह **मा भैष्टेति**, अग्निभयं न कर्तव्यम् ॥११॥

ईश्वरवाक्यादुपायत्वेनाज्ञातमपि[2] कृतवन्त इत्याह **तथेति**.

तथा निमीलिताक्षेषु भगवानग्निमुल्बणम् ।
पीत्वा मुखेन तान् कृच्छ्राद् योगाधीशो व्यमोचयत् ॥१२॥

निमीलिताक्षेषु सत्सूल्बणमप्यग्निं **भगवान् मुखेनैव पीत्वा** पूर्ववत् **तान्**

प्रकाशः

दिव्यमिवे''ति ब्रह्मवाक्याद् **देवगुह्यमज्ञानां भयजनकं च.** तथा चैतेषां सम्यग् ज्ञानाभावाद् भयं स्यादिति तथेत्यर्थः. तर्हि पूर्वदावाग्निपानस्यापि तथात्वात् तत्र तत् कुतो नोक्तमित्यत आहू **रात्रावित्यादि**. इह तु ज्ञानेन लीला, ज्ञानाध्यायत्वादत्रोक्त-ज्ञानशक्तिर्भगवता प्रकटिता. यदा भयजनकोऽज्ञानज्वरस्तेभ्यो बहिर्निर्गतस्तदैव चैतेषां "वयं च सर्वधर्मज्ञ त्वन्नाथास्त्वत्परायणा" **एतद्व्याख्यानाकारकं ज्ञानं जातम्.** यद्येषामज्ञानमात्रं तिष्ठेत् तदा दोषान्तराणां निवृत्तत्वाद् दावाग्निपतनं **हितमेव भवेद्** विदेहकैवल्यजनकत्वात् पतङ्गवत्. अतस्तत् तु नाभिप्रेतमेतैः सह लीलायाः करिष्यमाणत्वात्. यदि च दृश्यमानेपि दावाग्नावेतेऽ**न्यत्र नेयास्तथापि** दवाग्निदर्शनजं **भयं स्यादेव** संस्कारस्यानिवर्तितत्वा**दत** एतत् सर्वं विचार्य सर्वथा **भयाभावाय** तथाहेत्यर्थः ॥११॥

लेखः

स्वपरायणानां गोपानामिति द्वितीयपक्षेऽर्थः. **एतज्जातमिति** स्वदोषरूप-दावाग्निदर्शनजभयमित्यर्थः. ज्ञानस्य पूर्वावस्था यत् स्वदोषस्फुरणमतो ज्ञानजनकशक्तिप्राकट्यादेवं जातमित्यर्थः. **अज्ञाने त्विति**, तस्मिन् स्थापनीये तु दावाग्निप्रकटनं **हितमेव** मानयेयुस्तत्र दृष्टान्तः **यथेति**. अग्निं हितं मत्वा ते तत्र **पतन्ति** तथैतेपि पतेयुरेव न तु त्राणं प्रार्थयेयुरित्यर्थः. तथा च ज्ञानपूर्वावस्थासूचनाय दर्शयित्वा चक्षुर्निमीलनं कारितवानन्यथा पूर्वमेव दर्शनं न सम्पादयेदिति भावः ॥११॥

ईश्वरवाक्यत्वादिति. आद्यचरणस्यार्थोऽयं, विशिष्टवाक्यार्थस्तु पूर्वश्लोका-

---

१. अज्ञात इत्यपि पाठः. २. 'न जातमित्यपि पाठः.

व्यमोचयत्. [1]उल्बणत्वं दुष्टावेशात्. सख्यसम्बन्धेन प्राप्तदोषदाहार्थं पानं, तेषामग्नि-रूपदोषाणां दाहार्थं वा, ते ह्याधिदैविका एव दग्धा भवन्तीति. ननु कथं स्वान्त-

---

प्रकाशः

तथेत्यत्र. ननु महावृष्टिप्राकट्यकरणेनाप्यग्निनाशसम्भवे किमिति पानमित्यत आहुः **सख्येत्यादि**. सख्यदशायां प्राप्तो योऽवज्ञादिरूपो दोषस्तद्दाहार्थं तेषां जलनाश्यत्वासम्भवात् पानमित्यर्थः. नाप्ययं वह्निर्जलेन नश्यत्याध्यात्मिकदोष-रूपत्वादतोपि तथेत्यभिप्रायेणाहु**स्तेषामित्यादि**. **दाहार्थमिति** निःशेषनाशार्थम्. **वाशब्दः** समुच्चये. पानव्यतिरेकेण तेषां दाहाभावे हेतुमाहु**स्ते हीत्यादि**. **नन्वित्यादि**. **ननु कथं** केन प्रकारेण **स्वान्तर्गतानां** स्वे स्वकीयास्तदन्तर्गता ये धर्मा दोषरूपा

लेखः

भास एवोक्तः. **सख्यसम्बन्धेनेति**, सख्याधिकरणयोः समानशीलत्वनियमात् स दोषो भगवत्यपि प्राप्तस्तस्यापहतपाप्मत्वात् तत्रासम्बद्धस्तदन्तःस्थितजगति पर्यवस्यति तद्दाहार्थमित्यर्थः. **तेषामिति** लौकिकानामन्तःकरणदेवानां स्वरूपाज्ञानरूपस्य चेत्यर्थः. एते संसारतापजनकत्वात् लौकिकाग्निरूपाः, भगवन्मुखमाधिदैविकाग्निरूपम्, अतस्तत्र गता एते **दग्धा भवन्तीत्यर्थः**. **संस्कारोपीति** औष्ण्यमपीत्यर्थः ॥१२॥

योजना

तथा निमीलिताक्षेष्वित्यत्र सख्यसम्बन्धेन प्राप्तदोषदाहार्थमिति. भगवता सह सख्ये साम्यस्फूर्तेर्हरिदासत्वलक्षणस्वस्वरूपविस्मरणरूपो दोषः प्राप्तस्तस्य दोषस्य दाहार्थं दावाग्निपानम्. दावाग्निर्हि निरोध्यभक्तानां स्वरूपविस्मरणरूपो दोषः, "अज्ञानात्मा ह्यात्मदोषो दवाग्निस्तन्निवारणमि''ति पूर्वमध्यायार्थ-कारिकासूक्तत्वात्. अतस्तस्य दोषस्य दाहार्थं पानम्. सख्यस्य परमपुरुषार्थत्वेन लीलायां चिकीर्षितत्वाद् भगवतोऽभिप्रेतत्वाच्च तस्य दोषत्वं वक्तुमयोग्यत्वादरुचिं मत्वा पक्षान्तरेण व्याचक्षते **तेषामग्निरूपदोषाणां दाहार्थं वेति**. दवाग्निरूपा ये दोषा आत्मविस्मरणरूपा अविद्याकार्यभूतास्तेषां दाहार्थमित्यर्थः. दावाग्निर्मूर्तिमानात्मदोषो ह्यज्ञानात्मा, "लोभक्रोधादयो दैत्या" इति कृष्णोपनिषद्भ्यः "अज्ञानात्मा ह्यात्मदोषो दवाग्निरि''तिपूर्वमुक्तत्वात् च. अतो दोषस्याग्निरूपस्य आधिदैविकाग्निरेव नाशक इत्याधिदैविकाग्निरूपे मुखे दाहः कर्तव्य इतिहेतोः पानम्. **ते ह्याधिदैविक एवेति**— **ते** सर्वेषामात्मदोषा अग्निरूपत्वा**दाधिदैविकाग्नावेव दग्धा भवन्तीत्यर्थः** ॥१२॥

---

१. उल्बणमिति पाठोपि.

र्गतानामग्निगतानां वा धर्माणां प्रकटीकरणं? तदाह **योगाधीश** इति, योगानामधीशः स्वामी, अतो **विशेषेणामोचयद्** यथा तत्संस्कारोपि न तिष्ठतीति ॥१२॥

ततश्च तेऽक्षीण्युन्मील्य पुनर्भाण्डीरमापिताः ।
निशम्य विस्मिता आसन्नात्मानं गाश्च मोचिताः ॥१३॥

ततो भीताः पीतेप्यग्नौ निमीलिताक्षा एव स्थितास्ततो भगवतै'वोन्मीलयते'त्युक्तास्**तेऽक्षीण्युन्मील्य पुनर**लौकिकेनैव[1] प्रकारेण **भाण्डीरवनमापिताः**, पुनर्गमने तेषां ज्ञानाभावादागतमार्गस्य विस्मृतत्वाद् ज्ञापकानां नूतनैर्नाशनादतिजिज्ञासायां विलम्बाच्च. अतो भगवतैव **भाण्डीरमापिताः** निमीलिताक्षा एव समागता इति विमर्शः, यतो भगवान् हरिः. अतो **निशम्य** ज्ञात्वा श्रुत्वा वा **विस्मिता आसन्. आत्मानं गाश्च मोचिता निशम्य. आत्मानं गा** इत्यवयुज्यानुवादः. चक्षुर्निमीलनेन पूर्वसर्वविस्मरणं, पश्चाद् भगवन्मुखाद् बलभद्रमुखाद् वा श्रवणं; तदाह **निशम्येति** ॥१३॥

ततस्तेषां गताविद्यानां या बुद्धिर्जाता तामाह **कृष्णस्य योगवीर्यं तदिति.**

कृष्णस्य योगवीर्यं तद् योगमायानुभावितम्[2] ।
[3]दवाग्नेरात्मनः क्षेमं वीक्ष्य तं[4] मेनिरेऽमरम् ॥१४॥

योगमाययानुभावितं विस्मारणपुनःस्मारणाभ्यां सहितं **तद्** भगवद्**वीर्यम**लौकिकम**ात्मनो दवाग्नेः** सकाशात् **क्षेमं वीक्ष्य तं** भगवन्त**ममरं** मरणनिवर्तकं कालातीतं वा पुरुषोत्तमं **मेनिरे.** तेषां देवा एवोत्तमा इत्यनौपचारिकं देवत्वं वा मेनिरे. दवाग्निर्हि लब्धनाशकः, ततः परिपालनं क्षेमो भवत्येव ॥१४॥

एवं तान् सर्वथा निर्दुष्टान् कृत्वाग्रे[1] निवर्त्यदोषाभावादत्रैव प्रत्यापत्तिः क्रियते **गाः सन्निवर्त्येति.**

गाः सन्निवर्त्य सायाह्ने सहरामो जनार्दनः ।
वेणुं विरणयन् गोष्ठमगाद् गोपैरभिष्टुतः ॥१५॥

न हि भीतानामेव [2]गमनं किन्तु यथासुखं **सायाह्न** एव. **जना**विद्या नाशितेति **जनार्दनः**. न केवलं दोषं दूरीकृतवान् किन्त्विष्टमपि कृतवानित्याह **सहराम** इति. **वेणुं विरणयन्नि**ति सर्वसद्गुणोद्बोधनं, **गोष्ठमगादि**ति स्थानस्य पवित्रता निरूपिता. **गोपैरभिष्टुत** इति गोष्ठसमागमनेपि तेषां माहात्म्यज्ञानं दृढमिति ज्ञापितम् ॥१५॥

एवं वनगमने गोपानां सौख्यमुक्त्वा गोष्ठगमने गोपीनां सौख्यमाह **गोपीनामिति.**

गोपीनां परमानन्द आसीद् गोविन्ददर्शने ।
क्षणं युगशतमिव यासां येन विनाभवत् ॥१६॥

प्रकाशः

अग्निगता ये आसुरत्वादयस्तेषां **धर्माणां कथं प्रकटीकरणं** भिन्नतया स्थापनमित्यर्थः ॥१२॥

ततश्चेत्यत्र. ननु भवतु दोषनिवृत्त्यर्थं पानं तथापि पुनर्भाण्डीरप्रापणस्य किं प्रयोजनमत आहुः **पुनरित्यादि**. तथा च हरित्वात् तथाकरणमित्यर्थः. **अवयुज्यानुवाद** इति, स्वस्य गोत्वेपि गवांशं पृथक्कृत्यानुवाद इत्यर्थः ॥१३॥

लेखः

उन्मील्येति, अन्तर्भावितणिजर्थोऽयं— नेत्राण्युन्मीलन्ति गोपा भगवांस्तैस्तान्युन्मीलयति. तथा चोन्मीलय्य भाण्डीरमापिता इत्यर्थः. **यतो भगवानिति**, पूर्वं निमीलनोपदेशे **हरिपदमुक्तं**, विमर्शार्थं तद् स्मारयन्ति. दुःखाभावार्थं हि निमीलनोपदेशः; तत्रैवोन्मीलने दग्धवनदर्शने दुःखं स्यादेवेति भावः ॥१३॥

प्रकाशः

गाः सन्निवर्त्येत्यत्रेति दिवसपञ्चमभाग एव. **सर्वसद्गुणोद्बोधनमिति— सर्वासु सतः** सदंशस्य यो **गुणः** सात्त्विकः स्तम्भादिरूपस्त**मुद्बोधयन्**; यद्वा **सतो** विद्यमान**स्योद्बोधनं** स्ववियोगाभिभवनिवारणमित्यर्थः ॥१५॥

गोपीनामित्यत्र. ननु पूर्वपञ्चाध्यायोक्ता लीला मुख्यलीलाङ्गभूतेति कारिकासूक्तं, तथा सति यासु मुख्यलीला तास्वविद्यानिवृत्तिरवश्यमत्र वाच्या, सा

योजना

वीक्ष्य तं मेनिरेमरमित्यस्य विवृतौ **अमरं मरणनिवर्तकमिति**. न मरो मरणं यस्मात् स अमर इतिव्युत्पत्त्या यस्माद्धेतोः अन्यस्य मरणं नास्तीति फलितं, तदेतदुक्तं **मरणनिवर्तकमिति. कालातीतं वा पुरुषोत्तममिति**, न मरो मरणं यस्येति. "नैवेशितुं प्रभुर्भूम्न ईश्वरो धाममानिनामि"तिवाक्यात् पुरुषोत्तमस्य कालातीतत्वमतस्तथेत्यर्थः ॥१४॥

---

१. °लौकिकेत्यपि पाठः. २. विभावितमित्यपि पाठः. ३. दावाग्नेरितिपाठोपि. ४. त इत्यपि पाठः.

१. अग्नेर्निवर्त्येत्यादिरपि पाठः. २. आगमनमित्यपि पाठः.

गोविन्ददर्शने तेषामानन्दाविर्भावादज्ञाननिवृत्तिरथदिवोक्ता. प्रपञ्च-विस्मृतिमाह **क्षणं युगशतमिवेति. यासां** गोपिकानां **येन** भगवता **विना क्षणं युगशतमिवाभवदेकस्मिन्** क्षणेऽनन्तवारमुत्पद्यन्ते म्रियन्ते चेति. एवमनिर्वृत्या[१] संसाराभावो ज्ञापितः ॥१६॥

॥ इति श्रीमद्भागवतसुबोधिन्यां श्रीमद्वल्लभदीक्षितविरचितायां दशमस्कन्धविवरणे द्वितीये तामसप्रकरणेऽवान्तरप्रमेयप्रकरणे ज्ञाननिरूपकपंचमाध्यायस्य स्कन्धादितः षोडशाध्यायस्य विवरणम् ॥

प्रकाशः

कुतो नोक्तेत्यत आहु**रज्ञाने**त्यादि. तथा च न न्यूनतेत्यर्थः. अयं ज्ञानाध्यायः पूर्वमुक्त एव ॥१६॥

॥ इति श्रीवल्लभनन्दनचरणैकतानश्रीयदुपतितनुजपीताम्बरविरचिते दशमस्कन्धसुबोधिनीटिप्पण्योः प्रकाशे षोडशाध्यायविवरणम् ॥

योजना

क्षणं युगशतमिवेत्यस्य व्याख्याने **एक क्षणे अनन्तवारमुत्पद्यन्ते म्रियन्ते** चेति. "मृत्युरत्यन्तविस्मृतिरि"तिवाक्यात् सर्वथा विस्मरणं मृत्युपदवाच्यं, पुनर्देहादिस्मृतिरुत्पत्तिः. तदेतासामत्युग्रविरहवशाद् भूयो भूयो जायते इति तथोक्तम्. एकस्मिन् क्षणे अनन्तवारमुत्पत्तिमरणे देहस्मृतितदभावरूपे भगवद्विरहस्याचिन्त्यप्रभावाद् भवत इति ज्ञातव्यम्. तथा चानेकोत्पत्त्यनेकमरणाधिकरणत्वाद् भगवद्विरहक्षणस्य युगशतत्वं युक्तमेवेति भावः ॥१६॥

॥ इति षोडशोध्यायः ॥

---

१. अनिष्टनिवृत्त्येति पाठोपि.

॥ षष्ठो स्कन्धादितः सप्तदशोध्यायः ॥

लीला सप्तदशोध्याये निरुद्धैः सहितोच्यते ।
वर्षाशरत्कालयोगात् सर्वतत्त्वं निरूप्यते ॥(१)॥

टिप्पणी

सप्तदशाध्यायार्थकथनं **लीला सप्तदशोध्याय** इत्यादिना. ननु सर्वा लीला निरुद्धभक्तसहितेत्यत्र को विशेष इति चेद्, उच्यते– प्रलम्बवध-दवाग्निमोचनाभ्यां वयस्यानां तदुक्ततच्छ्रवणेन व्रजस्थानां च पूर्वस्माद्विशिष्टा भगवदासक्तिरेव विशेष इति. अपरञ्च निरुद्धभक्तसाहित्यं प्रभोरनुक्त्वा लीलाया यदुक्तं तेन दिवा स्वामिनीनामिव रात्रौ वयस्यानामाधुनिक्यात्यासक्त्या मिथो भगवल्लीलागानेन तद्भावापत्तिरेव जाता. एवं सति प्रभुर्यां यां लीलां करोति, सा सा गोपानां हृदये तिष्ठतीति ज्ञाप्यते. **सर्वतत्त्वमिति** लीलामध्यपातिनां सर्वेषामित्यर्थः (१).

प्रकाशः

सप्तदशाध्यायतात्पर्यं निरूपयन्तोत्र विशेषरूपां प्रकरणसङ्गतिं बोधयन्ति **लीले**त्यादि. ननु विशेषरूपा सङ्गतिः कथमवगन्तव्येत्याकाङ्क्षायां टिप्पण्यां स्फुटीकुर्वन्ति **नन्वि**त्यादि. **अत्रे**ति पुनःप्रतिज्ञायाम्. लीलाया भक्तसाहित्यं व्युत्पादयन्**त्यपरं चे**त्यादि. **तद्भावापत्तिरि**ति स्वामिनीभावापत्तिः, तदेव स्फुटीकुर्व**न्त्येवमि**त्यादि. एवमत्र स्कन्धार्थसङ्गतिरूपं विशेषद्वयमुक्तम्. ननु लीलैव चेत् निरूप्या तर्हि तावन्मात्रमस्तु वर्षादिवर्णनस्य किं प्रयोजनमत आहु**र्वर्षे**त्यादि. तथा च सर्वतत्त्वनिरूपणार्थं तद्वर्णनमित्यर्थः. किं सर्वतत्त्वमित्याकाङ्क्षायां तदर्थं टिप्पण्यामाहु**र्लीले**त्यादि. **सर्वेषामि**त्यृतुवर्णन उक्तानां सर्वेषाम्. प्रकरणसङ्गतिरूप-मुपजीवकत्वं व्युत्पादयन्ति **नन्वितः पूर्वमि**त्यादि. तथा चाध्यायपञ्चकोक्तलीलाभिः

योजना

सप्तदशाध्यायार्थोक्तौ **प्राजापत्ये निरूप्यते** इति. "सप्तदशो वै प्रजापतिरि"ति श्रुतेः 'प्रजापति'शब्देन सप्तदश सङ्ख्योच्यते, तथा च सप्तदशाध्याये निरूप्यत इत्यर्थः (२).

कारिकार्थः

सप्तदशाध्याये अध्यायार्थमाहु**र्लीले**त्यादि. **सर्वतत्त्वमि**ति लीलामध्यपातिनां सर्वेषामित्यर्थः(१). **दोषापगमन** इत्यादि– दोषाणां देहाद्यध्यासादीनामपगमे

दोषापगमन एव सर्वतत्त्वस्य बोधनम् ।
ज्ञाते च तत्त्वे सत्क्रीडा प्राजापत्ये निरूप्यते ॥(२)॥
माहात्म्यज्ञानपूर्वस्तु स्नेहः कृष्णे हि युज्यते ।
तादृशैश्च मुदा क्रीडा तच्चाप्यत्र निरूप्यते ॥(३)॥

टिप्पणी

नन्वितः पूर्वमपि तयोर्भूतत्वादस्माद् ग्रीष्मात्पूर्वमेवैतयोः कथं न निरूपणं, तत्राहुः **दोषापगमन** इति. **सत्क्रीडे**ति– मारणार्थमपि दैत्यासम्बन्धिनीत्वात्केवलानन्दरूपत्वमेव क्रीडायाः सत्त्वम्. **प्राजापत्य** इति. "यो वै सप्तदशं प्रजापतिं यज्ञमन्वायत्तं वेदे"तिश्रुतौ यज्ञात्मकप्रजापतेः सप्तदशत्वमुक्तमिति तत्समानसंख्याकेऽध्याय इत्यर्थः (२).

प्रकाशः

साधारणानां दोषापगमे सति लीलास्थसर्वपदार्थतत्त्वबोधनम्. शेषं स्पष्टम्. **प्राजापत्य** इत्येतस्यार्थं टिप्पण्यामाहु**र्यो वै सप्तदशमि**त्यादि. तथा चात्राध्याये वर्षाशरदोर्नूतनसृष्टेर्वक्तव्यत्वादस्य तथात्वमित्यर्थः (१-२).

सुबोधिन्यां ननु तथापि मुख्यलीलायां कुत्रोपयोग इत्याकाङ्क्षायामाहु**र्माहात्म्ये**त्यादि. **तच्चाप्यत्रे**ति **त**दिति पञ्चम्यन्तमव्ययं **चो**वधारणे. तथा च तस्यामपि लीलायामानन्देनोपयोग इति सोप्यत्र द्वाभ्यामुक्त इत्यर्थः (३).

लेखः

सप्तदशेध्याये कारिकासु **दोषापगमन** इति– दोषनिवर्तकलीलाश्रवणेन श्रोतॄणां तत्तद्दोषापगमने इत्यर्थः, "अग्रेपि ये भविष्यन्ति कीर्तनात् तेपि तादृशा" इति वाक्यादिति भावः. **माहात्म्ये**ति, लौकिकस्नेहव्यावृत्त्यर्थं **तु**शब्दः. **कृष्णे हीति. हि** यतो निर्दोषानन्दे तादृश एव **स्नेहो युज्यते तादृश**स्नेहयुक्तैरेव च **क्रीडा युज्यते,** अतो हेतो**स्तच्चापि** देवप्रवरत्वरूपमाहात्म्यज्ञानमपि **निरूप्यत** इत्यर्थः (२-३).

कारिकार्थः

सत्येव सर्वतत्त्वस्य लीलामध्यपातिनां सर्वेषां तत्त्वस्य **बोधनं, तत्त्वे ज्ञाते** सति **सत्क्रीडा** आनन्दरूपा क्रीडेत्यर्थः. मारणार्थमपि दैत्यासम्बन्धिनीत्वात् केवलानन्दरूपत्वमेव क्रीडायाः सत्त्वम्. **प्राजापत्ये** इति सप्तदशेध्याये इत्यर्थः (२).

"मेनिरे देवप्रवरौ कृष्णरामौ व्रजं गतावि"ति माहात्म्यज्ञानप्रयोजनमाहु**र्माहात्म्ये**त्यादि. निर्दोषानन्दरूपे **कृष्णे** निर्दोष एव **स्नेहो युज्यते** युक्तो भवति. **तच्चापी**ति माहात्म्यज्ञानमपीत्यर्थः (३).

पूर्वाध्याये गोष्ठे[1] समागता इत्युक्तं, ततः पूर्वापेक्षया यो विशेषः स वक्तव्यः, तमाह द्वाभ्यां **तयोरि**ति.

॥ श्रीशुक उवाच ॥

तयोस्तदद्भुतं कर्म दवाग्नेर्मोक्षमात्मनः ।
गोपाः स्त्रीभ्यः समाचक्षुः[2] प्रलम्बवधमेव च ॥१॥

रामकृष्णयोः प्रलम्बवधाग्निविमोचनलक्षण**मद्भुतं** सर्वलोकोत्तममश्रुतमदृष्टं च **कर्म स्त्रीभ्यः समाचक्षुः**[2]. तत् कर्म निर्दिशति– **दवाग्नेरात्ममोक्षः प्रलम्बस्य च वधः.** यथा यथा माहात्म्यं भगवतो ज्ञायते तथा तथा शान्ततया कथ्यत इति **गोपाः** [3]शनैः स्वगृहे समागत्य **स्त्रीभ्य** एवोक्तवन्तः तासामपि सर्वथा भगवत्परत्वाय. तथा सति तत्सङ्गदोषो न भवेदिति तेषां विमर्शः. प्रसङ्गाद् वृद्धानामपि श्रवणम् ॥१॥

ततः सर्व एव गोकुलवासिनो भगवन्माहात्म्यं ज्ञातवन्त इत्याह **गोपवृद्धाश्चे**ति.

गोपवृद्धाश्च गोप्यश्च तदुपाकर्ण्य विस्मिताः ।
मेनिरे देवप्रवरौ कृष्णरामौ व्रजं गतौ ॥२॥

चकारादतिमूढा बालाश्च **गोप्यश्च**कारादन्याः सर्वा**स्तदुपाकर्ण्य** भगवन्माहात्म्यं श्रुत्वा **विस्मिता** जाताः. तस्मिन् कर्मणि श्रुते भगवति यद् ज्ञानं जातं तदाह **मेनिरे देवप्रवरा**विति– देवानामपि प्रकृष्टा वरा वरणीया देवानां मध्ये

टिप्पणी

तत्संगदोषो न भवेदिति. गोपालानां प्रभावत्यासक्त्या रात्रावपि निरन्तरं गुणगान एव क्रियमाणे मात्रादयः स्नेहाज्जागरणस्य दुःखत्वं ज्ञात्वा कदाचिन्निवारयेयुस्तासां प्रभावनासक्तिश्चेत्स्यात्. एतल्लीलाद्वयश्रवणेन माहात्म्यज्ञानपूर्वकः सुदृढः स्नेहो जातस्तासामपीति तासामप्येतदेव रोचत इति न प्रतिबन्धकत्वं स्यादित्यर्थः ॥१॥

प्रकाशः

तयोरित्यत्र **विशेष** इत्यादि. लीलायां **यो विशेषः स वक्तव्य** इति **तं द्वाभ्यामाहे**त्यर्थः. तथा सति पुरुषोत्तमत्वेन ज्ञापनं विशेषत्वेन फलिष्यति. **तत्सङ्गे**त्यादेरर्थं टिप्पण्यामाहु**र्गोपालाना**मित्यादि ॥१॥

लेखः

गोपवृद्धाश्चेत्यत्र **देवानामपी**ति मध्य इति शेषः; तेषामपि मध्ये ये प्रकृष्टा

१. गोष्ठसमागताः. २. समाचख्युः. ३. शनैः शनैः.

प्रकृष्टा इन्द्रादयस्तेषामपि वरणीयौ पुरुषोत्तमरूपावनुपचारादित्येतदर्थं **कृष्ण-रामाविति** नामग्रहणम्. दृष्टानुपपत्तिं [1]परिहरति **व्रजं गताविति**, व्रजं समागतौ, यथा महाराजः कदाचित् क्वचिद् गच्छत्येवं भगवानपि व्रजमागत इति ॥२॥

एवं तेषां ज्ञानानन्तरं भगवत्क्रीडार्थं प्रावृट् समागतेत्याह **तत** इति द्वाविंशत्या.

ततः प्रावर्तत प्रावृट् सर्वसत्त्वसमुद्भवा ।
विद्योतमानपरिधिर्विस्फूर्जितनभस्तला ॥३॥

आदौ स्वयं **प्रावृट्** समागता. ननु प्रावृष्यागतायां का भगवल्लीला भविष्यतीत्याशङ्क्याह **सर्वसत्त्वसमुद्भवेति**– सर्वेषामेव सत्त्वानां सम्यगुद्भवो यत्रेति. सर्व-

लेखः

वरणीयाः ते के इत्यत आहुर्**देवानामिति**. **प्रकृष्टा** इति वरा इति शेषः. एतदन्तेन तदेवानूद्य ते **इन्द्रादय** इत्युक्तम्. इदमर्थकथनं ज्ञेयम्. विग्रहस्तु– देवेषु प्रवरा देवप्रवरास्तेषां सम्बन्धिवरौ देवप्रवरौ. एकस्य वरशब्दस्य छान्दसत्वात् पृषोदरादित्वाद् वा लोपः ॥२॥

तत इत्यत्र. ननु प्रावृडागमनं प्रथमश्लोके उक्तं, तथा च द्वाविंशतिश्लोकानां तथाभासोऽनुपपन्न इत्यत आहुः **आदाविति**, द्वाविंशतिश्लोकेष्वादावित्यर्थः. **स्वयमिति** धर्मिरूपेत्यर्थः. तथा च प्रथमश्लोके धर्मिरूपेणागमनमग्रिमश्लोकेषु तु धर्मरूपेणेति विभागेन द्वाविंशतिश्लोकैरागमनमेवोक्तमित्यर्थः. **सर्वजीवेष्वेवेति** आत्मरतौ क्रीडा न सम्पद्यते अतः स्वरूपव्यावर्तनायैवकारः. हरिलीलायाः शास्त्रार्थत्वेन दुःखनिवारणार्थं क्रीडा, दुःखित्वं तु जीवधर्म इति तेष्वेव लीलेति युक्तिबोधनार्थं हिशब्दः. मण्डूकादिषु विशेषतो लीलाया असम्भवात् पक्षान्तरमाहुः

योजना

मेनिरे देवप्रवरावित्यस्य विवृतौ **देवानां मध्ये प्रकृष्टा इन्द्रादयस्तेषामपि वरणीयाविति**. **देवप्रवरावित्यत्र** प्रशब्दमात्रस्य प्रकृष्टवाचकत्वं, निरुक्तव्युत्पत्तौ तथैव व्यवहारात्, "अप्यक्षरसाम्येन निर्ब्रूयात् न संस्कारमाद्रियेदि"त्यनुशासनात्. अत एव "भाति सर्वेषु वेदेषु रतिः सर्वेषु जन्तुषु तरणं सर्वभूतानां तेन भारतमुच्यत" इति भारतनिरुक्तौ एकाक्षरनिर्देशेन सकलशब्दार्थो बोध्यते. तथा च **देवानां मध्ये** ये प्रशब्देन **प्रकृष्टा इन्द्रादयस्तेषां वरणीयौ कृष्णरामावित्यर्थो** भवति ॥२॥

१. 'हरन्ति.

जीवेष्वेव हि भगवत्क्रीडा तदर्थं वा सर्वसत्त्वगुणोद्बोधाद् वा, तदा भगवान् सत्त्वेन सात्त्विकैः सह क्रीडिष्यतीति. कार्यतस्तस्या भगवत्क्रीडौपयिकत्वमुक्त्वा स्वरूपतोपि क्रीडौपयिकत्वमाह **विद्योतमानाः परिधयो** यत्रेति[1]– **परिधयः** परितो वेष्टनदि-

टिप्पणी

सर्वसत्त्वगुणोद्बोधाद्वेति. अप्राकृते भगवद्धर्मात्मके सत्त्वे यथा भगवदाविर्भावोंऽशावतारे तथा सच्चिदानन्दात्मकतल्लीलाया अपि तत्रैवाविर्भावः. एवं सति सर्वेषां लीलापदार्थानां सम्बन्धी यः सत्त्वगुणस्तस्याविर्भावे तदधिष्ठेयानामपि तत्राविर्भावाल्लीला सम्यक् सम्पद्यत इति कार्यतो लीलोपयोगित्वं प्रावृषः. सत्त्वव्यवधानेन जीवानां साक्षात्प्रभुसम्बन्धाभावमाशङ्क्याहुः **तदा भगवानिति**. धर्मेण साक्षाद्धर्मिभिरपि क्रीडिष्यतीत्यर्थः. **एतान्येवेति** अप्राकृतानि भगवद्धर्मरूपाणीति ज्ञेयम् ॥३॥

प्रकाशः

तत इत्यत्र **सर्वसत्त्वसमुद्भवेत्यस्य** तृतीयेर्थे सत्त्वगुणोद्बोधस्योक्तत्वात् तस्मिन् सति वार्षिक्या लीलायाः प्राकृतीत्वशङ्का स्यादिति तन्निवारणायात्रत्यसत्त्वगुणस्वरूपं टिप्पण्यामाहु**रप्राकृतेत्यादि**. इदं ब्रह्मसूत्रभाष्ये तृतीयाध्याये प्रपञ्चितं, जन्मप्रकरणे "चात्मा कार्यं चे"तिकारिकायां च. अप्राकृतगुणेषु बन्धकत्वरहितं कार्यतो लीलोपयोगित्वं स्फुटीकर्तुं लक्षणं ज्ञेयं तेन न शङ्कालेशः. गीतोक्तमेव **तदा भगवानित्यादेरर्थं** टिप्पण्यामाहु**र्धर्मेणेत्यादि**. अयं **सत्त्वेन सात्त्विकैरित्यस्यार्थः**, सुबोधिन्यां **वेष्टनदिश** इति क्षितिजेन या प्रतीयन्ते ता

लेखः

तदर्थं वेति, तदुद्धारार्थमित्यर्थः. द्वाविंशतिश्लोकेषु सर्वत्र जीवोद्भवो नोक्त इत्यरुच्या पक्षान्तरमाहुः **सर्वसत्त्वगुणोद्बोधाद्वेति**. यथा सर्वेषामंशानां समागमनादत्र भगवतः पूर्णत्वं तथा या या अंशरूपा लीलास्तदुपयोगिनश्चांशरूपाः पदार्थास्तासां तेषां च तदधिष्ठान[2]सत्त्वाविर्भावादस्या लीलायाः पूर्णत्वमिति भावः. अंशावतारे सत्त्वस्य तत्तदाकारतया आवरकत्वेन स्थितिः अत्रास्तरणवदधिष्ठानत्वमिति विभेदः. अत एव **सर्वपदं**, सर्वेषां ये सत्त्वगुणाः भगवल्लीलाधिष्ठानयोग्या अग्रिमश्लोकोक्तव्योमादिषु तत्सम्पादकत्वं प्रावृष इति. तत्सत्त्वमधिष्ठानत्वादिना धर्मो येषां भक्तानां ते सात्त्विका इति ज्ञेयम्. दिक्प्रकाशेन स्थलज्ञानात् लीलाविषयाणामागमनं भवति, गर्जितेन भयात् प्रतिबन्धकानां व्रजाद् बहिरनागमनं च भवति – एवं

१. यया. २. सत्त्वाविर्भावेनाविर्भावात् इतिपाठः.

शस्ताः सर्वा एवान्यदाप्रकाशमाना अपि वर्षास्वागतास्वेव **विद्योतमाना** विशेषेण प्रकाशमाना भवन्ति, **विस्फूर्जितं नभस्तलं** च भवति. अनेन भगवत इयं सम्भृतिरूपा निरूपिता, यस्यामागतायामुपर्यधः सर्वतश्च सर्वे गुणा उद्बुद्धा भवन्तीति; यथा महाराजसम्भृतौ समागतायां सर्वो ग्राम उद्बुद्धो भवति. भूमेर्गुणाः सर्वे जीवा, दिशो विद्युद्, गर्जितान्याकाशस्य– एतान्येव तमःसत्त्वरजांस्यपि ॥३॥

तस्यामागतायां सर्वा[1] भगवच्छक्तयः क्रीडौपयिक्यः समागता इति ज्ञापयितुं दिव्यानेकविंशतिधर्मानाह **सान्द्रे**त्यादि तावद्भिः श्लोकैः. "एकविंशो वा इतः स्वर्गो लोक" इतिश्रुतेः"एकविंशतिर्वै देवलोका" इति च, एतेष्वेव सर्वप्रतिष्ठा "द्वादश मासा पञ्चर्तवस्त्रय इमे लोका असावादित्य एकविंश" इति च. तत्र प्रथममादित्यवत् प्रकाशमानं सगुणं ब्रह्म दृष्टान्तेन प्रावृट् स्पष्टयतीति प्रावृट्कृतं ब्रह्मदृष्टान्तमाह **सान्द्रे**ति.

टिप्पणी

दिव्यानेति. अस्याः पूर्वं संभृतिरूपत्वमुक्तम्. सा न लौकिकी किन्तु लोकेप्यलौकिको यः स्वर्गो लोकस्ततोप्यलौकिकी सच्चिदानन्दरूपत्वादिति ज्ञापयितुं स्वर्लोकं ज्ञापयितुं स्वर्लोकसमसङ्ख्यैः श्लोकैरुच्यत इत्यर्थः. तेनेतरलीलातोपि वैलक्षण्यमायाति. **सान्द्रे**त्यादि श्लोकसङ्ख्यातात्पर्योक्तौ, **एकविंशो वा इत** इत्यारभ्य **एकविंश इति चे**त्यन्तम्. यथास्माल्लोकाद्विलक्षणः सुखरूपो वेदैकसमधिगम्योऽत एव अलौकिकश्च स, तथा अयमपीति ज्ञापनाय तत्सङ्ख्यासमानसङ्ख्याकैः श्लोकैरुच्यत इति भावः ॥४॥

प्रकाशः

इत्यर्थः. **आगतास्वि**ति सतिसप्तमी. **विस्फूर्जितमि**ति गर्जायुक्तं, टुओस्फूर्जा वज्रनिर्घोषे. **एतानी**त्यस्यार्थष्टिप्पण्यां स्फुटः ॥३॥

लेखः

स्वरूपतः क्रीडोपयोगित्वं ज्ञेयम्. **अनेने**ति पदत्रयेणेत्यर्थः. लीलापदार्थत्वेन सच्चिदानन्दात्मकप्रावृषो निरूपणे तत्त्रयधर्मनिरूपणार्थं श्लोकान्तरं वक्तव्यं भवेदित्याशङ्क्याहुः **एतान्येवे**ति. जीवेष्वानन्दाविर्भावात् तद्धर्मत्वं, विद्युतां सत्ताज्ञापकत्वात् तद्धर्मत्वं, गर्जनस्य चित्कार्यत्वात् तद्धर्मत्वम्, अन्योन्यमन्योन्यधर्मत्वमपि वर्तत इति **अपि**शब्दः ॥३॥

१. सर्वा एव.

सान्द्रनीलाम्बुदैर्व्योम सविद्युत्स्तनयित्नुभिः ।
अस्पष्टज्योतिराच्छन्नं ब्रह्मेव सगुणं बभौ ॥४॥

"आकाशशरीरं ब्रह्मे"तिश्रुतावाकाशस्य शरीरत्वं श्रूयते, तत् प्रसिद्धकृष्णस्वरूपतुल्यं न भवतीति श्रुतिबाधायां प्रावृट्कालेन तत्समर्थनं क्रियते, सत्यमियं श्रुतिराकाशो भगवद्रूपतुल्य इति. तल्लोकाः प्रत्यक्षविरुद्धं नाङ्गीकुर्वन्तीति विद्यमानानेव गुणान्, समयान्तरे गुप्तान्, प्रकटीकरोति. तान् गुणानाह **सान्द्राश्चिक्कणाः** किर्मीरिता ये **नीलाम्बुदाः** सजलजलदा अवयवप्रायास्तैः सहितं **व्योम.** तथापि न शरीरतुल्यत्वं वर्णमात्रेणैव साम्यादिति विशेषमाह **सविद्युत्स्तनयित्नुभिरि**ति. विद्युत् पीताम्बरस्थानीया आभरणस्थानीया च, नानाभूषणगीतवेणुनादादिरूपशब्दसिद्ध्यर्थं स्तनयित्नुसहिताः, गर्जितानि नाना-

प्रकाशः

सान्द्रेत्यस्याभासे **दिव्याने**ति. तस्यार्थं टिप्पण्यामाहु**रस्या** इत्यादि. **उच्यत** इति, "स्वर्ग सत्त्वगुणोदय" इतिवाक्येन सत्त्वस्य सच्चिदानन्दात्मकलीलाप्रकाशकत्वात् तथा. सुबोधिन्यां ननु सङ्ख्या कथं दिव्यत्वसूचनमित्यतः श्रुती आहु**रेकविंशे**त्यादि. तथा च सङ्ख्या सङ्ख्येयसूचनाद् दिव्यत्वसूचनमित्यर्थः. अत्र प्रथमश्रुतावेकस्यैव स्वर्गस्यैकविंशत्वमायाति न त्वेकविंशतित्वमित्यतो द्वितीयश्रुतिः. **सर्वप्रतिष्ठे**ति सर्वस्य सत्त्वधर्मस्य प्रतिष्ठेत्यर्थः. देवलोकानां तावत्त्वेप्येकस्या वर्षायास्तावद्धर्मसम्पादकत्वं नायातीत्यतः कालत्वेन रूपेण तस्यास्तथात्वबोधनाय तृतीया श्रुतिरिति ज्ञेयम्. **"एकविंशो वा"** इत्यस्य टिप्पण्या**मयमि**ति वर्षर्तुरित्यर्थः. **सान्द्रे**त्यत्र सुबोधिन्या**मादित्यवदि**ति सप्तम्यर्थे वतिः. **सगुणमि**ति साकारं, **स्पष्टयती**ति व्योम्नि स्पष्टयति. **आहे**ति व्योम्याह. गुणत्रयसहितं च **प्रकटीकरोती**ति भगवानिव

लेखः

एतेष्वेवेति एकविंशतिधर्मेष्वेव **सर्वेषां** भगवद्धर्माणां **प्रतिष्ठे**त्यर्थः. **प्रकाशमानमि**ति सर्वपदार्थेष्विति शेषः; प्रकाशते सर्वत्र परन्तु स्पष्टं दृष्टान्तेनैव भवतीत्यर्थः. **ब्रह्मदृष्टान्तमि**ति भावप्रधानम्, आकाशे ब्रह्मदृष्टान्तत्वमाहेत्यर्थः ॥४॥

योजना

सान्द्रनीलाम्बुदैरित्यस्याभासे **दिव्यानेकविंशतिधर्माना**हेति. "एकविंशो वा इतः स्वर्गो लोक" "एकविंशतिर्वै देवलोका" इतिश्रुतेरेकविंशतिविधत्वं स्वर्गलोकस्य तत्समानश्लोकसङ्ख्यया भगवदीयस्वर्गत्वं व्रजस्थप्रावृषः सूच्यते. तथा

विधानि भवन्ति; तेन "आकाशशरीरं ब्रह्म" भवति. ननु शरीरं ह्यन्तस्तेजोमयं बहिराच्छन्नतेजो[1] भवति, यथा भगवाँल्लोकव्यामोहनार्थं जात इव दृश्यते, तदभावात् कथमाकाशस्य भगवद्रूपतुल्यतेत्याशङ्क्याह**ास्पष्टज्योतिरि**ति, न स्पष्टानि ज्योतींषि सूर्यादीनि यत्र. तथाप्यनेकविधवस्त्रगृहगोपिकाभिर्वेष्टितो भगवान् भवति, तदभावात् कथं तुल्यतेत्याशङ्क्याह**ाच्छन्नमि**ति, तदप्यवान्तरमेघैराच्छन्नं भवति. अतः **सगुणम**नन्तगुणपरिपूर्णं **ब्रह्म** भगवद्रूपं यथा तथा **व्योम बभौ,** अतः श्रुतिः प्रमाणमिति भावः. सत्त्वरजस्तमोगुणपक्षेप्याकाशेप्यभ्रतमःप्रकाशा भवन्ति भगवत्यपि लोकव्यामोहनं गोपिकालीला प्रबोधनश्चेति ॥४॥

एवं वर्षाकृतमाकाशं निरूप्य तत्सम्बन्धिनं सूर्यं निरूपय**त्यष्टौ मासानि**ति.

अष्टौ मासान् निपीतं यद् भूम्याश्चोदमयं वसु ।
स्वगोभिर्मोक्तुमारेभे पर्जन्यः काल आगते ॥५॥

प्रकाशः

कदाचित् प्रावृट् प्रकटीकरोति. मूलरूपाभिप्रायेण दृष्टान्तार्थमुक्त्वावताररूपाभिप्रायेणाप्याहुः **सत्त्वरज** इत्यादि. एवमनेन पद्येनास्याः श्रुतेस्तात्पर्यकथने द्युलोकाधाराकाशस्य तत्त्वं निरूपितं, तेन तस्य वर्षासु सर्वदा भगवत्स्मारकत्वज्ञानं क्रीडोपयोगीति ॥४॥

अष्टौ मासानित्यस्याभास **आकाशमि**ति —**अस्पष्टज्योतिरि**तिपदाद् **ज्योतिर**धिष्ठानभूतं द्युलोकात्मकमाकाशमित्यर्थः. अत्र टिप्पण्यां किञ्चिदाशङ्क्य परिहर**त्त्यष्टा**-

योजना

च स्वर्गे यथा परमोत्कृष्टभोगाः सुकृतिनां तथा शुद्धपुष्टिभक्तानां व्रजस्थप्रावृषीति परमभोगाधिकरणत्वं निरूपितम्. **अस्पष्टज्योतिरि**त्यस्याभासे **शरीरं ह्यन्तस्तेजोमयमि**ति, भगवतः आनन्दात्मक**शरीरम् अन्तस्तेजोमयं,** मायाजवनिकाच्छन्नत्वात्, अत एव **बहिराच्छन्नतेजो भवति.** आकाशोप्यन्तस्तेजोमयो बहिराच्छन्नतेजस्को यदि भवेत् तदा ब्रह्मशरीरतुल्यो भवेदित्यर्थः. **न स्पष्टानि ज्योतींषि रूपादीनि यत्रे**ति. तथा च भगवद्रूपं यथा मायाजवनिकाच्छन्नत्वादस्पष्टतेजस्कं तथाकाशोपि नीलाम्बुदैराच्छन्नत्वादस्पष्टसूर्यादितेजस्को भवतीत्याकाशस्य तौल्यं युक्तमेव. **भगवत्यपि लोकव्यामोहनं गोपिकालीलाप्रबोधनं चेती**ति. प्रबोधनं सत्त्वगुणकार्यं, गोपिकालीला रजोगुणकार्यं, लोकव्यामोहनं तमोगुणकार्यम्. अयमर्थो **ब्रह्मेव सगुणं बभावि**त्यत्र **गुणशब्दस्य** सत्त्वादिगुणवाचकतामादायोक्तः ॥४॥

---

१. 'राच्छन्नं तेजः.

अयमेव सूर्यः **पर्जन्यो,** "[1]याभिरादित्यस्तपति रश्मिभिस्ताभिः पर्जन्यो वर्षती"तिश्रुतेः. सूर्यस्याध्यात्मिकं रूपं पर्जन्य, आधिभौतिकं[2] आदित्य, आधिदैविकः संवत्सरः स प्रजापतिः. अतो**ऽयं** सूर्य एव **पर्जन्यः स्वरश्मिभिरेवाष्टौ मासान्** निरन्तरं मासाष्टकपर्यन्तं **नितरां पीतं यदुदमयं** जलमयं **वसु** धनम्. सार्द्रा हि भूमिः सर्वमन्नादिकमुत्पादयति, अतो जलं वस्वेव वसुप्रधानं वा. जलेनैव सस्यादिना धनोत्पत्तिः, अतो दत्तं ग्राह्यमिति पक्वं कृत्वा तदेव प्रयच्छति. तस्य किरणा एव मेघा अतो **मोक्तुमारेभे** प्रावृष्यागतायाम्, अन्यथा स कालस्तस्याप्युपद्रवहेतुः स्यादत आह **काले समागत** इति. अतो यथा ब्रह्मशरीरत्वं सम्पादयति तथा सूर्यस्यापि जगत्कर्तृत्वरूपं सवितृत्वं सम्पादयति ॥५॥

एवमाकाशसूर्ययोः स्वरूपसम्पादकत्वमुक्त्वा सूर्योपरिलोकयोर्मध्यमलोकस्याप्यन्तरिक्षस्य स्वरूपसम्पादिका प्रावृड् जातेत्याह **तडित्वन्त** इति.

टिप्पणी

"अष्टौ मासान्, तडित्वन्तो महामेघा" इति श्लोकद्वयेपि वृष्टिनिरूपणेऽन्यतरवैयर्थ्यमिति शङ्काभावाय तद्भेदकं रूपमाहुराभासाभ्यां **तत्सम्बन्धिनं सूर्यं निरूपयती**ति, **सूर्योपरिलोकयोरि**त्यादि च ॥५-६॥

प्रकाशः

वित्यादि. अत्र **सान्द्रनीलाम्बुदैरि**ति प्रतीकस्थले **तडिद्वन्तो महामेघा** इति प्रतीकं विवक्षितं ज्ञेयम्. सुबोधिन्यां **प्रजापतिरि**ति [3]जगत्कारणीभूतकालः "संवत्सरो वै प्रजापतिरि"तिश्रुत्यन्तराद् ज्ञेयः. ननु भूमौ जलेनैव सर्वं भवतीति ततो जलग्रहणस्य पुनर्दानस्य किं प्रयोजनमत आहु**रतो दत्तमि**त्यादि. **अतः** प्रजापतिरूपात् कालात् सूर्येण **दत्तं** भूम्या **ग्राह्यं,** तदैव सस्योत्पत्ति**रिति स पक्वं कृत्वा तदेव प्रयच्छती**ति पाक एव प्रयोजनमित्यर्थः. इदं च **तपःकृशे**त्यत्र स्पष्टं भविष्यति. दानस्यावश्यकत्वे हेतुमाहु**रन्यथे**त्यादि, "भीषास्मादि"तिश्रुतेस्तन्नियमातिक्रमे भगवांस्तमुपद्रावयेदित्यर्थः. **अतो यथे**त्याकाशस्येति शेषः. अस्मिन्नपि पद्ये सूर्यसवितृत्वज्ञाने स्वयमेव लीलार्थं नूतनमुत्पादयतीति ज्ञानं तथेति बोध्यम् ॥५॥

तडिद्वन्त इत्यस्याभासे **सूर्योपरिलोकयोरि**त्यादि. सूर्यश्चोपरिलोकश्च सूर्योपरिलोकौ, तयोर्निरूपणानन्तरं द्युभुवो**र्मध्यमलोकस्य.** मेघानां वाय्वधीनत्व इन्द्रा-

---

१. यावद्भिः. २. 'भौतिकमा'. ३. 'ण'.

तडित्वन्तो महामेघाश्चण्डश्वसनवेपिताः ।
प्रीणनं जीवनं ह्यस्य मुमुचुः करुणा इव ॥६॥

अन्तरिक्षदैवत्या[१] मेघा वाय्वधीनाः, बलकार्यं स एव, तद्भेदा एव सर्व इन्द्रादय– इति त्रिदेवतापक्षे निर्णयः, अतो मेघानां वाय्वधीनत्वमिन्द्राधीनत्वमिति न विरुध्यते. इन्द्रो देवता वायुरात्मा मेघा भूतानीति त्रयाणामेकरूपत्वं वा. यथा [२]पुरुषप्रयत्नेन शरीरचेष्टा तथा वायुप्रेरणया मेघानां कार्ये स्थितिः. ते हि मेघाः सर्वस्वं लोकेभ्यो जलरूपं प्रयच्छन्तोपि नावैदिकन्यायेन प्रयच्छन्ति, तथा सति फलं

प्रकाशः

धीनत्वं कथमित्याकाङ्क्षायामाहुर्**बलकार्यमि**त्यादि– "ज्ञानबलक्रिया चे" तिश्रुत्युक्त-बलशक्तिकार्यं **स एव** वायुरेव. **त्रिदेवतापक्ष** इति. बृहदारण्यके शाकल्यब्राह्मणे "कतमे त्रय" इतिप्रश्ने "इम एव त्रयो लोका एषु हीमे सर्वे देवा" इत्युत्तरेऽग्निवाय्वा-दित्याधिष्ठितलोकत्रयस्य देवतात्वपक्षे सर्वेषां देवानां तेष्वेवान्तर्भावादयं **निर्णय** इत्यर्थः. अस्मिन् पक्षे लोकानामेव देवतात्वादग्न्यादीनां तथाकल्पनमरुच्यमित्यतः पक्षान्तरमाहु**रिन्द्रो देवते**त्यादि. तथा चाधिदैविकादिभेदादेषो[३]पपत्तिः, एतदुपपादयन्ति **यथे**त्यादि **स्थितिरि**त्यन्तम्. तडिद्वत्त्वकथनप्रयोजनमाहु**स्ते ही**त्यादि. एतेन पद्येना-

लेखः

तडित्वन्त इत्यस्याभासे **सूर्योपरी**ति– **सूर्य उपरिलोक**श्च अनयोः सम्बन्धी तदधःस्थितो यो **मध्यमो**ऽन्तरिक्ष**लोक**स्तस्येत्यर्थः, "अन्तरेणान्तरिक्षं तदुभय-सन्धितमि"ति वाक्यात्. व्याख्याने. अत्र मध्यमलोकनिरूपणं साधयन्ति **अन्तरिक्षे**ति. तत्र हेतुः **वाय्वधीना** इति, अन्तरिक्षवाय्वोरभेदादिति भावः. तथा च मेघानामन्तरि-क्षदेवताकत्वात् प्राणनजीवनमोचकत्वरूप-मेघस्वरूपनिरूपणेनान्तरिक्षलोकस्वरूपं निरूपितं जातमिति भावः. **बलकार्यमि**ति, बलरूपं कार्यं **स एव** करोतीति शेषः. न तु तत्कार्यार्थं पृथगिन्द्रापेक्षेत्येवकारः. **तद्भेदा** इति अन्तरिक्षभेदा इत्यर्थः ॥६॥

योजना

तडित्वन्त इत्यत्र **इन्द्रो देवता वायुरात्मा मेघा भूतानीति त्रयाणामेक-रूपत्वमिति**– इन्द्रस्याधिदैविकत्वं वायोराध्यात्मिकत्वं मेघानामाधिभौतिकत्वमिति त्रयाणामभेद इत्यर्थः ॥६॥

१. 'देवत्या. २. पुरुषयत्नेन. ३. 'देवो', 'दैत्यो', 'दैन्यो'.

न स्यात्. न हि वृष्टिमात्रं फलं किन्तु ततोन्नोत्पत्तिस्तदग्नौ होमव्यतिरेकेण फलजनकं न भवतीत्यग्निर्होमार्थं विद्युद्रूपो गृहीत इत्याह **तडित्वन्त** इति, "विद्युदग्निर्वर्षं हविः स्तनयित्नुर्वषट्कारो यदवस्फूर्जति सोनुवषट्कार" इतिश्रुतेः. **महामेघा** इति सम्यकशास्त्रार्थकर्तारः. **चण्डश्वसनेन** च **वेपिताः** कम्पिताः– प्रचण्डो हि पवनो देह-मर्यादां न मन्यते, अतस्तेन कम्पिताः. **प्रीणन**माप्यायनजनकं तापनिवर्तकं च, **जीव-नम**ग्रेऽन्नाद्युत्पत्त्या प्राणधारकं; तदपगमे तेपि रिक्ता भवन्तीति कथमात्मविरोधि दानमित्याशङ्क्याह **करुणा इवे**ति. दध्यङ्शिबिप्रभृतयः परार्थं स्वप्राणानपि ददुः; न चैते करुणया प्रयच्छन्ति किन्तु कालवायुप्रेरिता इति **करुणा इवे**त्युक्तम् ॥६॥

क्रमप्राप्तां प्रावृट्कृतां भूमिं वर्णयति **तपःकृशे**ति.

तपःकृशा देवमीढा आसीद् वर्षीयसी मही ।
यथैव काम्यतपसस्तनूः सम्प्राप्य तत्फलम् ॥७॥

पूर्वं **तपसा** सन्तापेन सर्वजलहरणात् शुष्का **कृशा** जाता. **देवे**नेन्द्रेण **मीढा** 'मिह सेचने' सिक्ता. **वर्षीयसी** स्थूलोच्छूना वर्षाकालसम्बन्धिनी च क्षुद्, भोजने

टिप्पणी

तपःकृशेत्यत्र. ननु "न यत्र चण्डांशुकरा विषोल्बणा भुवो रसं शाद्वलितं च गृह्णत" इति वाक्यविरुद्धं भूमेस्तपःकृशत्वकथनमिति चेत्, मैवम्, दृष्टान्तेनैवेतन्नि-रासात्. तथा हि– पूर्वमप्राप्ततापोपि कामितफलप्राप्त्यर्थं विहितं स्वयमुचम्य हि तपः करोति पुरुषस्तद्विना तदसम्भवात्. तथा तरणितापाभावेऽत्यार्द्रायां वृष्टिजलाप्लु-तायां भुव्युप्तं बीजमपि नश्यत्यतो येषु क्षेत्रेषु तापापेक्षा तेषां क्षेत्राणां रसं रविकरा

प्रकाशः

न्तरिक्षस्य वाय्वधिष्ठेयत्वात् तद्वेपितमेघद्वारा जगत्प्राणनजीवनसम्पादनेन तत्स्थितिकर्तृत्वरूपं स्वरूपं प्रावृट् सम्पादयतीति तेन मेघा वैदिकप्रकारेण फलदा भवन्तीति ज्ञानं तथेति भाव उक्तो ज्ञेयः, अत्र **चण्डश्वसनवेपित**पदादन्तरिक्षज्ञानं "वायुरन्तरिक्षस्ये"तिश्रुतेरिति ज्ञेयम् ॥६॥

तपःकृशेत्यत्र. यद्यप्यमरे "स्त्रियां मूर्तिस्तनुस्तनूरि"त्यूङन्तस्तनूशब्दो देहवाचकः उक्तस्तथापि न जीवदेहवाचकः शक्यवचनः, "अप्राणिजातेश्चारज्ज्वा-दीनामुपसङ्ख्यानमि"तिवार्तिके 'ऽप्राणिजातेरि'त्यनेन प्राणिजातिपर्युदासतः 'कृकवाकु'शब्दतुल्यत्वात् 'कृकवाक्वा'दिशब्दानां देहप्राधान्येनैव प्रवृत्तेः; मृतः कृकवाकुरित्यादिप्रयोगात्. हैमविश्वमेदिनीषु 'तनु'शब्दमात्रस्यैव कथनान्नात्र मूले

हि पुष्टो भवति. नन्वस्य देवस्य किं प्रयोजनं? ग्रहणत्यागाभ्यां भूम्यर्थमिति चेद् भूम्या अपि[1] न किञ्चित् फलं पश्याम इत्याशङ्क्याह **यथैवेति**. तपसा शोषिते देहे तत्तपसा या विशेषसम्पत्तिः फलत्वेनायाति तेन सुखं पुष्टिश्च भवति, प्रथमपुष्टिस्तु न सुखं जनयति. अतस्तस्या दूरीकरणं पुनःकरणमिति युक्तमेव भूमेस्तथात्वं, तदाह— **काम्यतपसः** सम्बन्धिन्यस्तनूस्तत्फलं[2] **सम्प्राप्य यथा वर्षीयस्यो** भवन्ति. **तनुरिति** वा पाठः, प्रथमार्थे द्वितीया वा. अथवा तपस्वी **तपसः** सम्बधिनी**स्तनूः** स्वर्गादिदेहान् **प्राप्य तत्फलं** प्राप्नोति तद्वत् पृथिवी फलमपि सस्यादिकं प्राप्तवतीत्यर्थः. ननु "न यत्र चण्डांशुकरा विषोल्बणा[3] भुवो रसं गृह्णन्त"इति पूर्वमुक्तमिति तपःकृशत्वोक्तिस्तद्विरुद्धेति चेन्न, दृष्टान्तेनैव तन्निरासात् तथा हि— यथाग्रिमफलार्थमसहजमपि तपः करोति कामी[4], तेन विना तदसम्भवात्, तथाग्रिमसस्यार्थं तदुत्पत्तिस्थले रसं गृह्णन्ति नान्यत्र, [5]पूर्वं सारस्यवति देश उप्तस्य[6] बीजस्यापि नाशात् तत्र रसग्रहणस्यावश्यकत्वात्. अत एव जलादिपदं हित्वा 'रस'पदमुक्तम्. [7]सस्योत्पादनाशक्तेः रसपदार्थत्वादत्र विषादप्युल्बणत्वेन तामपि ज्वालयितुं सामर्थ्यमप्यस्तीति ज्ञापितम्. जीवितविरोधित्वाद् विषस्य तादृशैरपि [8]रसाग्रहणं यत् तद् वृन्दावनमाहात्म्यम्. एतेन कालादयोपि व्रजवासिविरुद्धं कर्तुं न शक्नुवन्तीति ज्ञापितम्. अत्र[9] काम्यतपःफलस्य दृष्टान्तीकरणेनात्रत्यसस्यादेस्तद्भिन्नत्वं ज्ञाप्यते; तदेतत्पूर्वमेवोक्तं[10] "तत आरभ्ये"तिश्लोके ॥७॥

टिप्पणी

गृह्णन्त्येव. तदपि न स्वस्वभाववशात् किन्तूक्तदृष्टान्तन्यायेन गोपालानां विशेषतस्तथेच्छयेति मन्तव्यम्. अत एव ग्रीष्मवर्णने भुवो रसस्यैव ग्रहणमुक्तम्, न तु जलस्यापि. 'रस'शब्देन चान्नोत्पत्तिहेतुभूतार्द्रतोच्यते. एतेन व्रजजनेच्छानुरूपमेव कार्यं भवति नान्यदिति ज्ञापितं भवति. एतदेव हृदि कृत्वा **तपसा शोषितदेह** इत्याद्युक्तमाचार्यैः ॥७॥

प्रकाशः

तनूशब्दो न घटत इत्याशङ्क्य तत्प्रयोगमुपपादयन्ति **काम्येत्यादि**. अस्मिन् पक्षे **तन्व** इति वक्तव्ये **तनूरिति** जसो रूपं न सङ्गच्छत इत्यतः प्रकारान्तरमाहु**स्तनुरि**त्यादि. सर्वत्र दीर्घान्तपाठदर्शनात् पूर्वमेव पक्षमुपष्टभ्नन्ति **प्रथमार्थ** इत्यादि. तथा **चानुशुष्यतीरि**तिवदयमपि प्रयोगः. अस्मिन् पक्षेपि कल्पनाबाहुल्यादरुच्या पक्षा-

१. भूम्यामपि. २. लुप्तम्. ३. लुप्तम्. ४. कामितेन विना, कामित्वेन तेन विना.
५. पूर्वसारस्य°. ६. उप्तबीजस्य. ७. तस्यो°. ८. रस°. ९. अत्राकाम्यतः. १०. पूर्वोक्तम्.

एवं लोकत्रयस्यादित्यसहितस्य[1] स्वरूपमुक्त्वा शिष्टानां स्वरूपं वक्तुमृतवो धर्मे प्रतिष्ठिता मासा धर्मिष्विति प्रथममृतुवर्णनायां धर्मप्रतिष्ठामाह[2] **निशामुखेष्वि**त्यादिपञ्चभिः.

टिप्पणी

निशामुखेष्वित्यादिश्लोकपञ्चकाभासोक्तौ **एवं लोकत्रयस्ये**त्यादि. "द्वादशमासा" इति श्रुत्युक्तैकविंशतिपदार्थेषूक्तचतुष्टयं निरूप्येत्यर्थः. अग्रे च "पञ्चर्तव" इति श्रुत्युक्तपञ्चर्तुरूपतोच्यते. द्वादशसु मासेषु प्रत्येकं मासद्वयात्मकत्वेनर्तूनां षोढात्वे सम्भवति पञ्चत्वनिरूपणं यत् तत्तात्पर्यमाहुः **ऋतवो धर्म** इति. अग्निहोत्रदर्शपौर्णमासचातुर्मास्यपशुसोमा वैदिका धर्माः पञ्च. ते च "वसन्तेऽग्नीनादधीते"त्यादिश्रुतिभिर्ऋतूनेवाधिकृत्य विहिताः. तथा चोक्तधर्मार्थमेवर्तुविभाग इति ज्ञापनाय तत्समानसङ्ख्याका एव ते निरूप्यन्त इत्याशयेनाहुः **ऋतवो धर्मे प्रतिष्ठिता** इति प्रतिष्ठितत्वं तत्रोपयुक्तत्वं तन्निमित्तत्वमिति यावत्. वसन्तादिषूपनयनाग्न्याधानज्योतिष्टोमादीनां वर्णभेदेन यागभेदेनापि विधानात्तथा. मासानां द्वादशत्वे हेतुमाहुः **मासा धर्मिष्विति**. धर्मिणो वैदिकधर्मकर्तारः पुरुषास्ते चोक्तधर्मसमुच्चिताः षष्ठा भवन्ति; सकामनिष्कामभेदेन तेपि द्विविधा इति द्वादशविधत्वम्, द्वादशाङ्गत्वेनापि तथा. तेषां चायुः कर्मानुष्ठाने साधनम्. तच्च संवत्सरैर्मितमिति तेषामपि द्वादशमासात्मकत्वमित्याशयेनोक्तं **मासा धर्मिष्विति**. अग्रे "जलस्थलौकस" इत्यादिद्वादशसु श्लोकेषु जीवादयो द्वादश धर्मिणो ये वाच्यास्तेपि **धर्मि**पदेन संगृह्यन्ते.

प्रकाशः

न्तरमाहु**रथ वेत्यादि**. **अत्रत्यसस्यादेस्तद्भिन्नत्वमि**ति व्रजस्थसस्यादेर्लौकिकसस्यादिभिन्नत्वमित्यर्थः. इदं चा(ना!)ग्निस्थान्नप्रकारकं रेतोमात्रजनकं भगवद्भक्तिजनकत्वेनेति भिन्नत्वं भाति. **न यत्रे**त्यारभ्य **ज्ञाप्यत** इत्यन्तेन यदुक्तं तत्तात्पर्यं टिप्पण्यामाहु**र्ननु नेत्यादि**. एतेन पद्येन च टिप्पण्युक्तदिशा व्रजजनेच्छानुरूपार्द्रत्वशुष्कत्वादि-वैशिष्ट्यात् स्थितिफलंजनकत्वरूपं भुवस्तत्त्वं निरूपितं तथात्वज्ञानस्य लीलोपयोगित्वायेति ज्ञेयम् ॥७॥

निशामुखेष्वित्यत्रैवं लोकत्रयस्येत्यादेः सर्वस्याभासस्यार्थं टिप्पण्यामाहु**र्द्वादशेत्यादि**. **निरूप्येत्युक्त्वे**त्यस्यार्थः. सुबोधिनीस्थां कारिकां विवृण्वन्ति **निशामुखे-**

१. °स्यापि. २. धर्मप्रतिवर्णनायां धर्म°.

अर्थः शब्दः फलं चापि त्रिविधं परिकीर्तितम् ।
अन्तर्बहिस्तथा चाङ्गमान्तरश्चेतिभेदतः ॥(४)॥

टिप्पणी

"निशामुखेष्वि"त्यादिश्लोकप्रतिपाद्यानर्थान् क्रमेणाहुः **अर्थः शब्द** इत्यादिना. वेदो हि धर्ममूलम्. तत्र वर्णाश्रमधर्मा **अर्थः**, तत्प्रतिपाद्यत्वात्. अध्ययनं **शब्दः**, शब्दग्रहणात्मके तस्मिंस्तस्यैव मुख्यत्वात्. निषिद्धं कर्म**फलम्.** निषिद्धफलप्राप्तौ बाह्या सम्पत्तिस्तज्ज्ञो मद**श्चाङ्गं** (४).

अत्र पञ्चस्वपि श्लोकेषु हीनदृष्टान्तोक्तितात्पर्यमाहुः **पुष्टिमार्ग** इति. पुष्टिमार्गे मर्यादामार्गाद्वैलक्षण्यं ज्ञापयितुं तथोक्तिरित्यर्थः. तर्हि **धर्मप्रतिष्ठामाह**ेत्याभासः कथं संगच्छते? इत्थम्– लौकिक्यां सृष्टौ पापेन यथा पाषण्डधर्माणां प्रकाशो, न वैदिकधर्माणां, तथात्र प्रावृट्सहजधर्मरूपं यत्तमस्तदन्यत्पापम्. खद्योतप्रकाशातिरिक्तः पाषण्डधर्मप्रकाशश्च, चन्द्राद्यप्रकाशातिरिक्तो वैदिकधर्माप्रकाशश्च नास्तीत्यर्थः. इदं

प्रकाशः

ष्वित्यादिना. कर्मफलमिति. सकामकर्तॄणां देहेन्द्रियसम्पत्तीनां प्राप्त्युत्पथवाहित्वानुशोषणभेदेन त्रिप्रकारं ज्ञेयमित्यभिप्रेत्य कारिकायां त्रैविध्यमुक्तम्. **आन्तरं चेतिभेदत** इति तु न व्याख्यातम्. **आन्तरमे**तदुक्तदृष्टान्तव्यङ्ग्यं व्रजसम्बन्धि **भेदतो**ऽस्माद् भिन्नतयोत्तमं च, **परिकीर्तितमि**त्यनेनान्वयः. तदपि दृष्टान्ततात्पर्यबोधकस्य **पुष्टिमार्ग**इत्यादिग्रन्थस्य व्याख्याने टिप्पण्यां स्फुटीभविष्य**तीत्थमित्यादीत्यर्थ** इत्यन्तम्.

लेखः

निशामुखेष्वित्यत्र **त्रिविधमिति– अर्थशब्दफल**भेदेन **त्रिविधं** हीनं वस्तु **अन्तः परिकीर्तितं** त्रिभिः श्लोकैरिति शेषः. तस्य फलस्य **बहिरङ्गमान्तरं चाङ्गं तथा च परिकीर्तितमि**त्यर्थः, श्लोकद्वयेनेति शेषः. **इति भेदतः पञ्चभिः** श्लोकैः

कारिकार्थः

निशामुखेष्वित्यादिश्लोकप्रतिपाद्यानर्थान् क्रमेणाहुः **अर्थः शब्द** इत्यादिना. "निशामुखेष्वि"तिश्लोके वेदप्रतिपाद्यवर्णाश्रमधर्मरूपो**ऽर्थः**, "श्रुत्वा पर्जन्यनिनदमि"तिश्लोके **शब्दा**त्मकमध्ययनम्, "आसन्नुत्पथवाहिन्य" इतिश्लोके उत्पथवाहित्वरूपं निषिद्धं **फलम्**–एवमर्थशब्दफलभेदेन **त्रिविधं** वस्तु त्रिभिः श्लोकैर्निरूपितम्. निषिद्धफलप्राप्तौ बाह्या सम्पत्तिः तज्ज्ञो मदश्चाङ्गं; तत्र "हरिता हरिभिः शष्पैरि"तिश्लोके बाह्यसम्पत्तेः स्वरूपमुक्तं, "क्षेत्राणी"तिश्लोके **आन्तरमुक्तम्** (४).

पुष्टिमार्गे हि मर्यादा[१]मार्गस्तत्र न शोभते ।
अतः पञ्चविध[२]स्यापि हानिरत्र निरूप्यते ॥(५)॥

टिप्पणी

च प्रावृषः शोभाकरं, तेन पूर्णो वैदिको धर्मोऽत्रास्तीति ज्ञापितं भवति. एतेन लीलासृष्टिस्वरूपज्ञापिकेयं प्रावृडित्युक्तं भवति. अत्रत्यानां क्षुद्राणामपि प्रकाशोऽधुना लीलानुपयोगिनां महतामप्यप्रकाश आवरकस्य प्रकाशकत्वं चेति वैलक्षण्यं च.

किञ्च परोक्षवादेन मर्यादामार्गादन्यदपि वैलक्षण्यमत्र ज्ञाप्यते. तथा हि– **खे** आकाशे **द्योतः** प्रकाशो येषां ते तथा. गतिमतामेव च तेषां द्योतः, सोपि न दिवा किन्तु तमस्येव. एवं सत्येतत्समानधर्मवत्यो भगवदर्थमभिसारवत्यः स्वामिन्यो लक्ष्यन्ते. तासां भानं शोभा निष्प्रत्यूहं भगवत्प्राप्तिरेव. अत एव **निशामुखेष्वि**त्युक्तम्, प्रियप्राप्त्यनन्तरमलौकिकचन्द्रस्यैव प्रकाशनात्. अन्यथा **तमसा भान्ती**त्येतावदेव वदेत्. **ग्रहो** ग्रहणं पाणिग्रहणं यासां तास्तथा; परोक्षवादत्वात्र **पाणि**पदोक्तिः. नहि तादृशं प्रत्यभिसारः सम्भवति. अत एव **न भान्ति.** गृह्णन्तीति **ग्रहा**स्तदन्वेषणेन तन्निवारकास्तत्पुरुषा इति वा. एवं सति यथा मर्यादामार्गे निषिद्धेनाभिसारेण तानि पापस्य खण्डानि, "लिङ्गं खण्डमिहोच्यत" इति वाक्यात् तज्ज्ञापकमत्युग्रं दुःखं प्राप्नुवन्ति, न तु सुखम्. तथात्र तेन मुक्तानामपि दुर्लभं सर्वश्रुतिमृग्यं भगवत्संगं प्राप्नुवन्तीति महदेव वैलक्षण्यमिति भावः. इदमत्राकूतम्– "स वै पतिः स्यादकुतोभयः स्वयमि"ति "त्वक्श्मश्रुरोमनखकेशपिनद्धे"त्यादिवाक्यैः स्त्रीणां भगवानेव पतिर्न तु जीवः. एवं सति यथा वैदिकेषु कर्मसु विष्णुयाग आसुरा यथा न जानन्ति, तथोपांशुरेव क्रियते, उपसदोपि तथा. यद्वा, "इदमुच्चैर्यज्ञेन चरामः तन्नोसुराः पाप्मानुविन्दन्ति उपांशूपसदा चराम तथा नोऽसुराः पाप्मानानुवेत्स्यन्ती"ति श्रुतेः तेषां ज्ञानमेव तद्धर्मरूपपाप्मयोजकत्वेन फलप्रतिबन्धकम्. तथा प्रकटं प्रभुसमीपगमन एतन्मार्गानधिकृताः स्वधर्मेण फलप्रतिबन्धकरणेन योजयिष्यन्तीति तथा गमनमेव तासां स्वधर्म इति मुख्यो धर्मो ज्ञापितो भवत्यत्रेति.

यद्वा सर्वत्र धर्मविरोधदृष्टान्तोक्तितात्पर्यमाहुः **पुष्टिमार्गे हीति**. इदमत्राकूतम्– सर्वसामर्थ्यानि प्रकटीकृत्य स्वयं प्रकटे फलरूपे प्रभावितरसाधनानुष्ठानस्याप्रयोजकत्वेपि

प्रकाशः

तदेव व्युत्पादय**न्तीदं चे**त्यादिना. **अभिसारेणे**त्यस्यान्वयो**ऽत्युग्रं दुःखमि**त्यादिना बोध्य**स्तेने**त्यस्य **भगवत्सङ्गमि**त्यनेन. **यद्वा 'इदमि'**त्यस्याः श्रुतेरर्थस्तु प्रागाख्यातः.

१. लुप्तम्. २. धर्मस्येत्यधिकम्.

निशामुखेषु खद्योतास्तमसा भान्ति न ग्रहाः ।
यथा पापेन पाषण्डा न हि वेदाः कलौ युगे ॥८॥

तत्र प्रथमतो वेदार्थहानिमाह. वसन्ते हि ब्राह्मणानामुपनयनाग्न्याधानादि,

---

टिप्पणी

व्रजे यद्वेदाध्ययनादिकं तन्न मर्यादामार्गीयम्, किन्तु "मन्त्रार्थं मत्परिग्रहमि"ति प्रभुवाक्यात् तेषां मर्यादामार्गीयत्वासम्भवात् पुष्टिमार्गीयम्. स्वस्त्ययनाशीर्दानादिभिस्तज्जनितसामर्थ्यस्य भगवति विनियोगात् लीलोपयोगित्वाच्च तथा. "विप्रा मन्त्रविद" इति वाक्यात् तादृशानामेवाशिषामनिष्फलत्वात् तेषां स्वस्मिन् विनियोगस्य चिकीर्षितत्वात् तदिच्छात एव तत्करणात् पुष्टिमार्गीयत्वम्. तेन मर्यादामार्गीयो धर्मोत्र नास्तीति ज्ञापनाय तादृग्दृष्टान्तोक्तिरिति.

अथवा, **ऋतवो धर्म** इति. यस्यर्तोर्यो धर्मः पुष्पघर्ममेघादिस्तस्मिन् प्रवृत्ते सम्यगयमृतुः प्रवृत्त इति सर्वैः स्तुतो भवतीतीयमेवर्तुप्रतिष्ठा. तथा च तमोविशेषः खद्योतप्रकाशो ग्रहाभानं च वर्षर्तुधर्मः शोभाहेतुश्चेति स उच्यते. प्रकाशस्य ग्रहाणां च मर्यादामार्गीयत्वात्तदशोभोच्यते. मर्यादामार्गविरोधांशे च दृष्टान्तः. 'मण्डूक'शब्दोपि वर्षर्तुशोभाकरः. ब्राह्मणास्तु मेघगर्जितं श्रुत्वानध्यायज्ञानेन वेदाध्ययनलक्षणनियमभंगे तदन्या वाचः सृजन्ति. कर्मानुपयोगित्वमुभयोस्तुल्यम्. तेन वेदाध्ययनात्मकमर्यादाशोभाभाव उक्तो भवति. क्षुद्रनदीनां तथात्वमपि (तदा) तथा अविहितप्रकारेण दानभोगाभ्यां मर्यादाभाव उक्तः. अग्रिमश्लोकोक्तधर्मा अपि तदा शोभायै. 'नृणामि'ति साधारणवचनात् क्षुद्रार्थजनिता लौकिकी शोभोक्तेति न मर्यादामार्गीयत्वम्. क्षेत्राण्यपि पूर्ववत्. उत्तरार्धे स्पष्टं पूर्ववत् (५).

प्रकाशः

एवमत्र **पुष्टिमार्गे ही**त्यादिग्रन्थव्याख्यानेन कारिकास्थ**स्यान्तर**पदस्यार्थो व्युत्पादितो ज्ञेयः. तेन श्लोकपञ्चकोक्तहीनदृष्टान्तस्य तद्विपरीत उत्तमे तात्पर्यमिति ज्ञापितम्. अस्मिन् प्रकारेऽतिपरोक्षवाद इति न सर्वेषां बोधसौकर्यमतः प्रकारान्तरेण व्याकुर्वन्ति **यद्वे**त्यादि. **सर्वत्रे**ति पञ्चसु श्लोकेषु. **आदिकमि**तिपदेनाग्निहोत्रादिकम्. एवं सामान्यतः कथनेपि प्रतिश्लोकार्थो विवक्षितपरत्वे स्फुटो न भवतीति तदर्थं प्रतिश्लोकतात्पर्यं व्यक्तीकर्तुं प्रकारान्तरमाहु**रथ वे**त्यादि **पूर्ववदि**त्यन्तम्. इदं च **कलि**पदात् स्फुटति, न हि भगवत्सद्भावे कलिः शक्त इति "तदाहरेवाप्रतिबुद्धचेतसामधर्महेतुः कलिरन्ववर्तते"तिवाक्यात्. सुबोधिन्यां **वेदार्थहानिमाहे**ति व्रजे तस्य प्रतिष्ठां वक्तुमन्यत्र तद्धानिं दृष्टान्तमुखेनाहेत्यर्थः. एतदेव चात्रोक्तानामर्थानां तत्त्वम्. एवम्भावेन ज्ञानस्य च लीलोपयोगित्वं बोध्यम्. तं व्युत्पादयन्ति **वसन्ते**-

तस्याभावे वसन्तव्यवस्थोक्ता भवति. ब्राह्मणानामन्यशेषत्व उपनयनानन्तरं यदध्ययनादि ग्रीष्मर्तौ तदन्यार्थमिति तत्स्वरूपमप्युक्तं भवति. ततः कर्मफलं यद् वर्षाकार्यं तदप्यसङ्गतमिति तस्यापि स्वरूपं विवृतं भवति. अल्पफलं बाह्यं क्लेशसाध्यं शरत्फलमिति दोषदुष्टत्वात् तस्यापि स्वरूपमुक्तं भवति. ततोल्पसन्तोषस्तदभावश्चेत्यवशिष्टस्य द्विरूपस्य. प्रावृषि **निशामुखेषु खद्योताः** कीटविशेषा

प्रकाशः

त्यादि. **अन्यशेषत्व** इत्याढ्यपुरुषशेषत्वे. **अन्यार्थमि**ति आढ्यकृतसन्माननार्थम्. [1]**तद् वर्षाकार्यमि**ति द्रव्यप्राप्त्युत्सेकद्रव्यनिवृत्तिरूपम्. **तस्यापी**ति वर्षर्तोः **दोषदुष्टत्वादि**त्यल्पकालपरिमितत्वात्. **द्विरूपस्ये**ति हेमन्तशिशिररूपस्य. एवं श्लोकपञ्चकोक्तदृष्टान्ततात्पर्यं पुरःस्फूर्तिकमुक्तम्, एतदेव व्यङ्ग्यार्थबोधनसहितं

लेखः

धर्मप्रतिष्ठामाहेति पूर्वेणान्वयः(४). **अन्यशेषत्वे** इति अग्न्यन्वाधानादिव्यतिरेकेण केवलं दानसम्प्रदानत्वे इत्यर्थः ॥८॥

योजना

वसन्तव्यवस्थोक्ता भवतीति. "न हि वेदाः कलौ युगे" इत्यनेन वेदाभावकथनादुपनयनाग्न्याधानादीनामभाव उक्तः, अतो वसन्ते यत् कर्तव्यं तत् नास्तीति धर्मरहिता वसन्तव्यवस्थोक्ता "निशामुख"इतिश्लोकेन. **ब्राह्मणानामन्यशेषत्वे** इत्यारभ्य **भवती**त्यन्तं– वेदाध्ययनं ग्रीष्मे, तत्प्रयोजनं वसन्ते कृताधानस्य यागनिर्वाहः; इह त्वध्ययनं द्रव्यलाभार्थमुक्तमतो ग्रीष्मेपि धर्मराहित्यं "श्रुत्वा पर्जन्यनिनदमि"तिश्लोकेनोक्तम्. **ततः कर्मफलं यद् वर्षाकार्यमि**त्यारभ्य **भवती**त्यन्तम्– "आसन्नुत्पथवाहिन्य" इतिश्लोके वर्षाकार्यमुत्पथवाहित्वमुक्तम्, अतो वर्षायामपि धर्मराहित्यम्. **अल्पफलमि**त्यारभ्य **भवती**त्यन्तं– "हरिता हरिभिः शष्पैरि"त्यनेन अल्पफलमुक्तमिति शरद्यपि धर्माभावः. **अल्पसन्तोषस्तदभावश्चेत्यवशिष्टस्य द्विरूपस्ये**ति. "क्षेत्राणि सस्यसम्पद्भिरि"त्यनेन कर्षुकाणामल्पसन्तोष उक्तः; अल्पेन सन्तोषः अल्पसन्तोष इति तृतीयातत्पुरुषः. "मानिनामुपतापं च दैवाधीनमजानतामि"त्यनेन सन्तोषाभावो निरूपितः. एकस्मिन्नेव श्लोके द्वयं निरूपितं; यतो हेमन्तशिशिरयोरप्येकत्वम् अतस्तत्सूचनायैकत्रोक्तिः. अत एव पञ्चसु प्रयाजेषु

---

१. यद्.

लोकानां प्रकाशका इव भवन्ति, स्वयमपि प्रकाशन्ते. तत्र हेतुस्तमसेति– कालकृतं यत् तमो मेघवृष्ट्यादिकृतं तेनैव तेषां प्रकाशस्तदपि प्रथममेव, अग्रे वृष्ट्या तेषामेव मरणसम्भवात् कस्य प्रकाशका भवेयुः? **ग्रहा** ये नित्यप्रकाशास्ते **न भान्ति.** एवम्भावे यो हेतुस्तं दृष्टान्तेन स्पष्टयति **यथा पापेने**ति. यथा यथा पापाधिक्यं तथा तथा वेदविरुद्धमार्गे रुचिः;

वेदमार्गविरोधेन येषां करणमण्वपि ।
ते हि पाषण्डिनो ज्ञेयाः शास्त्रार्थत्वेन वेषिणः ॥(६)॥

धर्मे पुष्टे तु तत्र रुचिर्न भवत्येव. न ह्युपनयनादिसंस्कृतः पूर्ववद्व्यवस्थां कर्तुं वाञ्छत्यतोत्रापि **पापेनैव पाषण्डाः.** ननु विद्यमाने वेदे जागरूके कथं पाषण्डप्रवृत्तिः? तत्राह **न हि वेदाः कलौ युग** इति– त्रियुगो धर्मस्तत्प्रतिपादको वेदोपि तावत्काल एव भवितुमर्हति. तदाह **ही**ति; वेदान्तः कलिर्यतः. **युग**पदप्रयोगादनुल्लङ्घ्यत्वम् ॥८॥

टिप्पणी

यथा पापेनेत्यस्याभासे **एवम्भावे यो हेतु**रित्यादि. मर्यादामार्गतिरोधानमेव हेतुरितिभावः. **श्रुत्वा पर्जन्यनिनद**मित्यनेनापि कलिस्थब्राह्मणतुल्या अत्र मण्डूका

प्रकाशः

टिप्पण्यां व्युत्पादितं ज्ञेयम्. **एवम्भावे यो हेतु**रित्यस्यार्थं टिप्पण्यामाहु**र्मर्यादे**त्यादि. सुबोधिन्यां **वेदान्तः कलि**रिति वेदस्यान्तो येन यत्रेति वा समासो ज्ञेयः ॥८॥

योजना

"वसन्तमृतूनां प्रीणामी"त्यत्र ऋतुचतुष्टयं पृथगुक्त्वा "हेमन्तशिशिरावृतूनां प्रीणामी"त्यनेन हेमन्तशिशिरयोरैक्यमुक्तम्. अत एव "द्वादश मासाः पञ्चर्तव"इति श्रुतौ ऋतूनां पञ्चत्वोक्तिर्युज्यते. तत्राप्यल्पसन्तोषतदभावाभ्यां हीनत्वोक्त्या धर्माभाव उक्तः. एवं पञ्चसु धर्माभावो निरूपितस्तस्य प्रयोजनं त्वन्यत्र धर्माभावेपि इह व्रजे तु धर्मोस्त्येवेति "खद्योतप्रकाशातिरिक्तः पाषण्डधर्मप्रकाशश्चन्द्राद्यप्रकाशातिरिक्तो वैदिकधर्माप्रकाशश्च नास्तीत्यर्थः" इत्यादिना टिप्पण्यां श्रीमत्प्रभुचरणैर्निरूपितम्. अत एव सुबोधिन्यां **ऋतुवर्णनायां धर्मप्रतिष्ठामाहे**त्युक्तम्. "न हि वेदाः कलौ युगे" इत्यस्य व्याख्याने **युगपदादनुल्लङ्घ्यत्वमिति**– "गृह्णतोनुयुगं तनूरि"त्यस्य सुबोधिन्यां "भगवान् जगत्त्रे"ति'युग'पदार्थ उक्तः, अतो युगस्य भगवद्रूपत्वादनुल्लङ्घ्यत्वमित्यर्थः ॥८॥

एवमर्थतो वेदनिराकरणमुक्त्वा शब्दतोप्याह **श्रुत्वा पर्जन्यनिनद**मिति.

श्रुत्वा पर्जन्यनिनदं मण्डूका व्यसृजन् गिरः ।
तूष्णीं शयानाः प्राग् यद्वद् ब्राह्मणा नियमात्यये ॥९॥

मण्डूकाः सर्वप्राण्यनुपजीवनीया, "एष वै पशूनामनुपजीवनीयो न वा एष ग्राम्येषु पशुषु हितो नारण्येष्वि"तिश्रुतेः. तथा चेद् ब्राह्मणाः सर्वोपद्रवकारिणो भवन्ति ततः कथं वेदस्तत्र प्रतिष्ठितः स्यात्? तेषां च मण्डूकानां च वचनं सर्वोपद्रवकर्तृकालाधीनं, तदाह **पर्जन्यनिनदं श्रुत्वा मण्डूका गिरो व्यसृजन्नि**ति– पर्जन्यनादव्यतिरेकेण न तेषां सहजा प्रवृत्तिः, तदैव तेषामुद्गमात्. अनेनोत्तमा वाणी तस्मिन् काले लुप्ता, गर्जनशब्दो वा मण्डूकशब्दो वा. उपर्यधश्च ब्राह्मणानां विद्यमानत्वात् कथं नोत्तमशब्द इत्याशङ्क्य दृष्टान्ते ब्राह्मणान् निरूपयति **तूष्णीं**

टिप्पणी

एव, न तेपीति[1] ज्ञाप्यते. तेनात्र ब्राह्मणानां स्वधर्मनिष्ठत्वं ज्ञापितं भवति. **आसन्नुत्पथवाहिन्य** इत्यनेनापि क्षुद्रनदीव्यतिरिक्त उत्तरार्धोक्तधर्मविशिष्टः पुरुषोत्र नास्तीति ज्ञाप्यते. एतेनेन्द्रियपरवशत्वाभावेनान्तरमङ्गमुक्तं भवति. **हरिता हरिभिरि**त्यनेनापि नृणां क्षुद्राशयानां क्षुद्रार्थसम्पदो मदजनिका यथा, तथात्रोक्तधर्मत्रयातिरिक्ताः क्षुद्रार्था न सन्तीति ज्ञाप्यते. न ह्येते मदजनकाः. तथा च "तत आरभ्य नन्दस्ये"ति वाक्यादलौकिकी सर्वार्थसम्पदस्ति न तु मदजनिकेति ज्ञाप्यते. अपरञ्च लौकिकमहाराज्यश्रीतुल्यात्र भुवो वर्णादिशोभैव. सापि बाह्यैव; प्रभुपदाम्बुजचिह्नलीलानन्दादिरूप-बाह्याभ्यन्तरशोभायास्तु दृष्टान्त एव नास्तीति भावः. **क्षेत्राणी**त्यनेनापि सर्वजीवनहेतुभूतान्नोत्पत्त्यनुकूलप्रयत्नवतां मुदं स्वदोषेण वस्तुतत्त्वाज्ञानेन च परद्रोहकर्तृणां तत्प्रतिबन्धकरणेन दुःखं च क्षेत्राणि जडानि यत्र ददुस्तत्र किमु वक्तव्यं गोकुले चेतनानां सर्वहितकर्तृत्वमन्येनापि परद्रोहचिन्तने तत्प्रतिबन्धकत्वमिति ज्ञाप्यते. तेनात्र पूर्णो धर्मो निरूपितो भवति. अतः सुष्ठूक्तं **धर्मप्रतिष्ठामाह पञ्चभिरि**ति ॥८-१२॥

प्रकाशः

श्रुत्वेत्यत्र. "एष वा"इतिश्रुतिस्तु चयनप्रकरणे 'मण्डूकेन विकर्षती'ति पठिता. दृष्टान्तव्याख्याने **शयाना** इत्यध्यापनं विहाय तिष्ठन्तः. **प्रभो**रित्याद्यस्य.

---

१. न तु तेपीति मू. पा.

शयाना इति. पूर्वं कलिस्था **ब्राह्मणाः प्राक्शयाना** एव भवन्ति. ततो **नियमस्याप्यत्यये** मर्यादायां गतायां प्रभोर्दानादिकं श्रुत्वा तदा **गिरो व्यसृजन्.** तथा चर्क्– "ब्राह्मणासः सोमिनो वाचमक्रत ब्रह्म कृण्वन्तः परिवत्सरीणम् अध्वर्यवो धर्मिणः शिश्विदाना आविर्भवन्ति गुह्या न केचित्." सोमपानप्रवणाः ब्राह्मणाः यथासुखं वाच'मक्रत' कृतवन्तः; 'परिवत्सरीणं' संवत्सरसाध्यं 'ब्रह्मा'न्नादिकं 'कृण्वन्तः' कृष्यादिपरा यथासुखं वेदशब्दान् पठन्तीत्यर्थः. 'केचित्' पुन'रध्वर्यवो'ध्वरयाजका[1] 'धर्मिणः' प्रवर्ग्यकर्तारः 'शिश्विदानाः' प्रकाशमाना 'गुह्याः' सन्तो 'नाविर्भवन्ति' यज्ञा धर्माश्च न वर्षासु प्रभवन्ति. अतो बहिर्मुखा एव कृष्यादिपरा यथासुखं 'वाचमक्रत'. अस्यैवार्थस्य भूयसे निर्वचनायापरा ऋक्– "देवहितिं जुगुपुर्द्वादशस्य ऋतुं नरो न प्रमिणन्त्येते संवत्सरे प्रावृष्यागतायां तप्ता धर्मा अश्नुवते विसर्गम्." ये 'नरः' पुरुषा 'देवहितिं' भगवतः [2]शब्दरूप'मृतुं जुगुपुर्द्वादशस्य' संवत्सरस्य सम्बन्धी ऋतुर्मुख्यो वसन्तस्तं 'न प्रमिणन्त्येते' न जानन्ति, अतोऽज्ञानात् तूष्णीमेव तदा स्थिताः. 'संवत्सरे' संवत्सरमध्ये 'प्रावृष्यागतायां' पूर्वं 'तप्ता धर्माः' 'वि'विधमेव 'सर्गमश्नुवते', न तु मूलभूतां वाणीं वदन्ति, यत्किञ्चिद् वदन्तीत्यर्थः. यतो 'धर्माः' परतापकाः स्वयं च 'तप्ताः.' तेषां यत्किञ्चिद्वचनान्याहापरा ऋक्– "गोमायुरदादजमायुरदात् पृश्निरदाद्धरितो नो वसूनि गवां मण्डूका ददतः शतानि सहस्रसावे प्रतिरन्त आयुः." वर्षायामुत्पन्नं फलं प्राप्य केनैतत् फलं दत्तमिति पृष्टा आहु'र्गोमायुरदात्' [3]सृगालो दत्तवान्, 'अजमायु'र्वृकः 'पृश्नि'र्भूमि'र्हरितो' मेघा

प्रकाशः

उक्तमर्थं श्रुत्योपष्टम्भयितुं ऋच आहुस्**तथा चे**त्यादि. **यथासुखमि**त्यध्ययनादिनियमं[4] त्यक्त्वा. **वाचमक्रते**त्यत्र वाक्शब्दादमोलोपः; वाचं कृतवन्त इत्यर्थः. एवं पूर्वार्धेन कलिस्थकृषीवलब्राह्मणानां व्यवस्थोक्ता, **अध्वर्यव** इत्यादिनोत्तरार्धेनोत्तमानामेकान्तवासित्वं तादृशकाले निरूप्यते. तदेतद् व्याकुर्वन्ति **यज्ञा** इत्यादि. उक्तश्रुतौ वर्षा न स्फुटा गीर्विसर्गश्च, तदर्थं श्रुत्यन्तरमाहु**रस्यैवे**त्यादि. **भूयसे निर्वचनाये**ति विशेषकथनाय. **देवहितिमि**त्यादि– **हि**र्गतौ वृद्धौ च, **देवस्य** भगवतो **हिति**र्गतिर्वृद्धिर्वा येन तादृशं **शब्दनिरूपकमृतुं** वक्ष्यमाणं **जुगुपु**र्गोपितवन्तः. तत्रोक्तं धर्मं न चक्रुरिति यावत्. **विविधमेव सर्गमश्नुवत** इति चित्रवाग्रूपं प्राप्नुवन्ति. **ददत** इति

१. ॰योजका. २. शस्त्र॰. ३. शृ॰. ४. ॰ध्ययनाध्यापनादि॰.

'नो'स्मभ्यं 'वसूनि' दत्तवन्तः. किञ्च 'गवां शतानि मण्डूका ददतः सहस्रसावे' सहस्रवर्षपर्यन्त'मायु'श्च 'प्रतिरन्तः' प्रयच्छन्तो जाताः. किञ्च वृष्ट्यर्थं मण्डूकस्य पत्नीं च प्रार्थय"न्त्युप प्रवद मण्डूकि वर्षमावदतादुरि मध्ये ह्रदस्य प्लवस्य [1]विगृह्य चतुरः पदः." हे 'मण्डूकि', 'उप' समीपे 'वर्षं प्रवद', 'आ'समन्ता'दुरि' मण्डूको 'ऽवदतात्'. तस्यावस्थां चाह 'मध्य' इति. एवं ब्राह्मणाः यथा तेषामुपजीव्या मण्डूकास्तथैव ये ब्राह्मणा मण्डूकोपजीविनस्तैः कथं वा वेदरक्षा भवेदिति शब्दतोपि वेदनिवृत्तिः सूचिता ॥९॥

तर्हि मास्तु वेदः पाषण्डैरेव कार्यं भवत्वित्याशङ्क्य महतां तु ते क्षोभका भवन्त्यल्पानां तु व्यामोहका भवन्तीत्याहा**सन्नि**ति.

आसन्नुत्पथवाहिन्यः क्षुद्रनद्योनुशुष्यतीः ।
पुंसो यथास्वतन्त्रस्य देहद्रविणसम्पदः ॥१०॥

उत्पथवाहिन्यः क्षुद्रनद्यो वर्षासु जाता अकस्मादेव निषिद्धं फलं बह्वेव प्राप्नुवन्त्यमर्यादत्वात् तद्रक्षणाशक्ता **उत्पथवाहिन्यो** भवन्ति. ततो**ऽनु** तत्क्षणमेव **शुष्यती**र्भवन्ति. प्रकृतोपयोगाय दृष्टान्तमाह **यथास्वतन्त्रस्ये**न्द्रियपरवशस्य **देहे**न्द्रिय**सम्पदो**मार्गवाहिन्योपि भवन्त्यनुशुष्यतीश्च भवन्ति ॥१०॥

बाह्यसम्पत्त्याः स्वरूपमाह **हरिता** इति.

प्रकाशः

ददतीत्यर्थः. **सूचिते**त्येतेन यद् व्यञ्जितं तद् टिप्पण्यामाहुः **श्रुत्वे**त्यादि. ननु निरुक्त एतच्छ्रुत्युपन्यासात् पूर्वं "वसिष्ठो वर्षकामः पर्जन्यं तुष्टाव तं मण्डूका अन्वमोदन्त स मण्डूकांस्तुष्टावे"त्युक्तमतः कथमस्याः कलिस्थबहिर्मुखब्राह्मणबोधकत्वमिति चेदुच्यते– सृष्टिदशायां ब्रह्मणस्तत्तच्चिन्तावशादिव तदानीं वर्षकामस्य वसिष्ठस्यापि तत्सम्भवे बाधकाभावात् 'समाननामरूप'सूत्रे कल्पभेदेन भिन्नताया अपि सिद्धत्वात् तथोक्तावपि न कश्चिद् दोषः. एता ऋचः पर्जन्यसूक्तस्था वेदभाष्ये प्रकारान्तरेण व्याख्यातास्तथा निरुक्ते"प्यक्षरसामान्यान् निर्ब्रूयादि"त्यनुशासनात् पुराणोपबृंहणत्वाच्च न कोपि शङ्कालेश इति दिक्. [2]भावमात्रमेव गम्यत इति तथा ॥९॥

आसन्नित्यत्र **भवन्ती**त्येतत्पद्यव्यञ्जितमर्थं टिप्पण्यामाहु**रासन्नि**त्यादि ॥१०॥

हरिता इतिपद्यव्यञ्जितमर्थं टिप्पण्यामाहु**र्हरिता** इत्यादि ॥११॥

१. नि॰. २. भेद॰, भ॰, न॰.

हरिता हरिभिः शष्पैरिन्द्रगोपैश्च लोहिता ।
उच्छिलीन्ध्रकृतच्छाया नृणां श्रीरिव भूरभूत् ॥११॥

इयं सर्वैव भूस्त्रिगुणा सती **नृणां** यथा राज्यसम्पत्तिर्धनसम्पत्तिर्वा भवति तथा जाता. **हरिभि**र्हरिद्वर्णैः **शष्पै**र्घासैर्**हरिता** श्यामवर्णा **भूरिन्द्रगोपैः** कीटविशेषैर्**लोहित**वर्णा **उच्छिलीन्ध्रै**श्छत्राकैः श्वेतवर्णा **कृतच्छाये**वैवं लोहितशुक्लकृष्णा. इन्द्रगोपो राजेव छत्रमिव छत्राकं सेनावत् शष्पाणि; अनेन भूमिरपि युद्धसामग्रीव वर्णिता. अतो यथा खड्गजीविका मरणपर्यवसायिन्येवमियं कृष्यादिजीविकापि मरणपर्यवसायिनी ॥११॥

शरत्कालीनो [1]धर्मस्तथैव च भवत्यन्तस्तोषतदभावावाह **क्षेत्राणी**ति.

क्षेत्राणि सस्यसम्पद्भिः कर्षकाणां[2] मुदं ददुः ।
मानिनामुपतापं च दैवाधीनमजानताम् ॥१२॥

सस्यानां सम्पत्तिभिः कृत्वा **कर्षकाणां** कृषीवलानां **क्षेत्राणि मुदं ददुः. मानिनाम**भिमानवतां शत्रुवधार्थं प्रवृत्तानां वर्षा सस्यादिभिः प्रतिबन्धं ज्ञात्वा क्लिष्टाना**मुपतापं च ददुः.** जयादिकं सर्वं भगवदधीनं; न हि वर्षाप्रतिबन्धाभावे सर्वथा तेषां जयो निश्चयाभावात्, तदाह **दैवाधीनमजानतामि**ति. जये पराजये च दैवमेव प्रयोजकम् ॥१२॥

एवमृतुन्यायेन वर्णनामुक्त्वा मासन्यायेन द्वादशधा धर्मानाह **जलस्थलौकस** इति द्वादशभिः. मासा हि निमित्तं धर्मिणोऽत्र प्रधानगुणा वाच्याः.

टिप्पणी

जलस्थलौकस इत्यत्र **मासा हि निमित्तमि**त्यादि. "द्वादश मासा" इत्यादिश्रुत्युक्तैकविंशतिप्रकारेण प्रावृडुच्यत इत्यादित्यत्रिलोकन्यायेनोक्त्वा ऋतुन्यायेन पञ्चभिः श्लोकैर्धर्मप्राधान्येन निरूपणं कृतम्, अधुना तु धर्मिप्राधान्येन

प्रकाशः

क्षेत्राणीत्यत्र **तदभावाये**(?)ति– कलिस्थानां कृष्यादिजीविकायां मरणपर्यवसायित्वज्ञानाभावायेत्यर्थः. **प्रयोजकमि**त्येतत्पद्यव्यञ्जितमर्थं टिप्पण्यामाहुः **क्षेत्राणी**त्यादि ॥१२॥

जलस्थलौकस इत्यत्र **मासा हि निमित्तमि**त्यादेस्तात्पर्यं टिप्पण्यामाहुर्**द्वादशे**त्यादि. सुबोधिन्यां **गुणा** इति धर्मिणां गुणाः. द्वादशश्लोकोक्तान् धर्मिणः कारिकया

---

१. धर्मः. २. कर्षु°.

जीवा नद्यः पर्वताश्च मार्गाः कामिन्य एव च ।
विद्यावांश्चन्द्रमा बर्ही भक्ता वा तापसास्तथा ॥(७)॥
गृहिणो वैदिका मार्गा राजानश्चेति कीर्तिताः ।
त्रिविधाः सर्व एवैते मासभोग्याः प्रकीर्तिताः ॥(८)॥

टिप्पणी

माससमसंख्याकैः श्लोकैस्तत्क्रियते. **मासा हि** गर्भन्यायेन धर्मिस्वरूपविशेषसम्पत्तौ **निमित्त**भूताः, अतो वक्ष्यमाणजीवादयो **धर्मिण एवात्र प्रधान**भूता इत्यर्थः.

प्रकाशः

सङ्गृह्णन्ति **जीवा** इत्यादि. शरीरद्वयविशिष्टास्ते गुणाः कथं वाच्या इत्यत आहु**स्त्रिविधा** इत्यादि. **एते** जीवादयः **सर्व एव त्रिविधा** वक्ष्यमाणचतुष्करीत्या

लेखः

जलस्थलौकस इत्यत्र **प्रधानमि**ति तात्पर्यार्थ इत्यर्थः, **गुणा** इति सत्त्वादयः शक्यार्था इत्यर्थः. निर्गुणेपि प्रतियोगित्वेन गुणा उक्ता एवेति भावः. **जीवा** इत्यत्र क्वचिद् दृष्टान्तनिरूपणं क्वचिद् दार्ष्टान्तिकनिरूपणं तात्पर्यार्थत्वेन, स च तत्र तत्र स्फुटः. **विद्यावानि**ति भगवद्गुणवान् भगवदीय इत्यर्थः. **त्रिविधा** इति, चतुर्विधाः सन्तस्त्रिविधाः, अतो द्वादशविधा इत्यर्थः. **मासभोग्या** इति मासन्यायेन धर्मिप्राधान्येन भगवतो भोग्या इत्यर्थः ॥१३॥

योजना

जीवा नद्यः पर्वताश्चेत्यादि. "जलस्थलौकसः" इतिश्लोके **जीवाः**, "सरिद्भिः सङ्गत" इत्यत्र **नद्यः**, "गिरयो वर्षधाराभिरि"त्यत्र **पर्वताः**, "मार्गा बभूवुः सन्दिग्धा" इत्यत्र **मार्गाः**, "लोकबन्धुष्वि"त्यत्र **कामिन्यः**, "धनुर्वियती"त्यत्र **विद्यावान्**, "न रराजोडुपश्छन्न" इत्यत्र **चन्द्रमाः**, "मेघागमोत्सवा हृष्टा" इत्यत्र **बर्ही भक्ताश्चे**ति द्वयं, "पीत्वापः पादपा" इत्यत्र **तापसाः**, "सरःस्वशान्तरोधःस्वि"त्यत्र **गृहिणः**, "जलोघैर्निरभिद्यन्ते"त्यत्र **वैदिको मार्गः**, "व्यमुञ्चन्नि"त्यत्र

कारिकार्थः

जलस्थलौकस इत्यादिद्वादशश्लोकप्रतिपाद्यानधिकारिण आहु**र्जीवा** इत्यादि. **विद्यावानि**ति "धनुर्वियति माहेन्द्रमि"तिश्लोके **गुणवानि**तिपदोक्त इत्यर्थः. **बर्हि भक्ता वे**ति. "मेघागमोत्सवान् दृष्ट्वा प्रत्यनन्दन् शिखण्डिनः गृहेषु तप्ता निर्विण्णा यथाच्युतजनागम" इतिश्लोके बर्हिणो वा भक्ता वा निरूपिता इत्यर्थः; दार्ष्टान्तिके

सर्वेप्येते वृष्टिकाले सुखं दुःखं च लेभिरे ।
पुष्टिमार्गस्थिताः सर्वे सुखं प्रापुर्न चापरे ॥(९)॥

तत्र क्रमेण सुखदुःखे निरूपयन्नादौ भगवदीयेयं प्रावृडिति ज्ञापयितुं सर्वेषामेव प्राणिनां सुखजनिका जातेत्याह **जलस्थलौकस** इति.

जलस्थलौकसः सर्वे नववारिनिषेवया ।
अबिभ्रद् रुचिरं रूपं यथा हरिनिषेवया ॥१३॥

जलं वा **स्थलं वौको** येषां, भूचरा जलचराश्च राजसास्तामसाश्च. सात्त्विकास्त्वनुक्तसिद्धाः सुखिनो दृष्टान्तार्थं भिन्नतया स्थापिताः. **सर्व** एव **नववारि-**

प्रकाशः

त्रिःप्रकाराः **मासैर्निमित्तै**[1]**र्भोग्या** इत्यर्थः (८). ननु पूर्वं सुखिनोपि भगवदीयवर्षाकृतसुखाधिक्याय निरूपणीया एवेत्यत आहुर्**दृष्टान्तार्थमि**ति. तथा च हरिसेवायां सात्त्विका एव प्रवर्तन्ते ते **निषेवया** स्वतःपुरुषार्थरूपया तया **यथे**तिदृष्टान्तमुखेन

योजना

राजानः– एवं द्वादशधा (७-८). **जलस्थलौकस** इत्यत्र **सात्त्विकास्त्वि**त्यादि. **यथा हरिनिषेवये**ति दृष्टान्तार्थं भगवदीया उक्तास्ते सात्त्विकाः, भूचरा राजसा जलचरास्तामसा इति ज्ञेयम् ॥१३॥

कारिकार्थः

मयूरा दृष्टान्ते भक्ता इति भावः. **त्रिविधा** इति समुदायत्रयरूपा इत्यर्थः. **चतुर्विधानां** चतुर्विधानामेकैकः समुदायः, तादृशत्रिविधसमुदायरूपाः, अतो द्वादशविधा इत्यर्थः. तथा हि "जलस्थलौकस" इत्यादिषु चतुर्षु निर्गुणराजससात्त्विकतामसभेदा उक्ताः. यद्यपि "जलस्थलौकस" इतिश्लोकविवरणे भूचरा जलचराश्च **राजसास्तामसाश्चे**त्यादिग्रन्थेन सगुणभेदा उक्तास्ते व्याख्याताः. तत्र "हरिनिषेवये"तिपदेन सात्त्विकभेद उक्तस्तथापि "हरिनिषेवये"तिपदात् निर्गुणभेद एवास्मिन् श्लोके विवक्षाभेदेन ज्ञातव्यः. अत एव "मार्गा बभूवुः सन्दिग्धा" इति श्लोकव्याख्यानान्ते "एवं गुणातीतसगुणभेदेन चतुर्धा वर्षाकृता धर्मा" इत्युक्तम्. अथ "लोकबन्धुषु मेघेष्वि"त्यादिद्वितीयचतुष्के राजससात्त्विकतामसनिर्गुणभेदाः, "पीत्वापः पादपाः पद्भिरि"त्यादितृतीयचतुष्के सात्त्विकराजसतामसनिर्गुणभेदाः– एवं द्वादशभिर्मासैर्द्वादशभोग्या इत्यर्थः (७-८).

१. °र्मितै°.

सेवया नवजलसेवया **रुचिरं** मनोहरं **रूपमबिभ्रत्.** दोषादपि रूपवैलक्षण्यं भवतीति तद्व्यावृत्त्यर्थं दृष्टान्तमाह **यथा हरिनिषेवया**– भगवत्सेवया चतुर्भुजादिरूपं प्राप्नोति तेजोविशेषं वा. **हरि**पदेन तदानीमेव गजेन्द्रस्य रूपान्तरसम्पत्तिः स्पष्टार्थं ज्ञापितेति प्रदर्शितम् ॥१३॥

सरिद्भिः सङ्गतः सिन्धुश्चुक्षोभ[1] **श्वसनोर्मिमान् ।**
अपक्वयोगिनश्चित्तं कामाक्तं गुणयुग् यथा ॥१४॥

अभिमानी तु महान् मोहं प्राप्नोतीति समुद्रं निरूपयति. **सरितो** हि तस्य स्त्रियः; सर्वाभिरेव ताभिः **सङ्गतः सिन्धुः** समुद्रश्**चुक्षोभ**[2] क्षोभं प्राप्तवान्[3]. वर्षाकालो हि कामिनां क्षोभकः सुतरां स्त्रीसङ्गिनाम्. किञ्च **श्वसनेन** कृत्वो**र्मिमां**श्च जातः तरङ्गाश्च गर्भस्थानीयाः वायुश्च रजोगुणः. एवं तस्यानर्थो निरूपितः. महतः कथमनर्थ इत्याशङ्क्य दृष्टान्तेन परिहर**त्यपक्वयोगिन** इति, न पक्वो योगः फलपर्यवसायी यस्य. चित्तवृत्तिनिरोधो हि योगः, स चेत् पक्वो भवेत् कुर्यात् चित्तवृत्तिनिरोधम्, अपक्वत्वात् निरोधो जात इव प्रतिभाति, परीक्षायां न सङ्गच्छते. तदाह **कामाक्तमि**ति, स्वभावतो **गुणयुग्** गुणसम्बन्धी स चेत् **कामेनाक्तो** भवेद् विषयसम्बन्धी भवेत् तदा क्षोभं प्राप्नुयात्. कामलक्षणदोषयुक्तं वा **गुणयुग्** विषयसम्बन्धि. अतः स्वभावदोषस्यानिवृत्तत्वात् महानपि क्षुभ्यति ॥१४॥

टिप्पणी

साक्षाद्भगवत्सेवौपयिकदेहसाधनत्वं वारिमात्रस्य यत्र तत्र किं वाच्यमन्यस्य वस्तुन इति भावः. एकेनालौकिकगुणाधायकत्वमुक्त्वात्र सदोषवस्तु निकटेपि नास्तीति

प्रकाशः

तेप्युक्तप्राया इत्यर्थः. **दोषादि**ति चित्तदोषात् कामादेः. एतच्छ्लोकव्यङ्ग्यमर्थं टिप्पण्यामाहुः **साक्षादि**त्यादि ॥१३॥

सरिद्भिरित्यत्रैतच्छ्लोकव्यङ्ग्यमर्थं टिप्पण्यामाहु**रेकेने**त्यारभ्य **ज्ञापयती**त्यन्तम् ॥१४॥

लेखः

सरिद्भिरित्यत्र अभिमानं विवृण्वन्ति **तरङ्गा** इति, रजसा गर्वो जात इति भावः. **चित्ते**ति चित्तवृत्तीर्निरोधयतीति तज्जनको यमाद्यष्टाङ्ग इत्यर्थः. **स चेत् कामेने**ति चित्तरूपः पदार्थ इत्यर्थः ॥१४॥

१. °क्षुभे. २. °क्षुभे. ३. प्राप्तः.

तत्रापि ये पुनर्महान्तो दृढा उच्चा भगवन्निष्ठा, न तु ज्ञानिन इव सर्वसमाः, समुद्रविलक्षणास्तेषां वर्षाकृतोपद्रवमाह **गिरय** इति.

गिरयो वर्षधाराभिर्हन्यमाना न विव्यथुः ।
अभिभूयमाना व्यसनैर्यथाधोक्षजचेतसः ॥१५॥

निरन्तरं **वर्षधाराभिर्हन्यमाना** अपि **गिरयो न विव्यथुर्व्यथां** न प्राप्तवन्तो यतस्तेन्तःसाराः. हेतुं दृष्टान्तेन स्पष्टयत्य**भिभूयमाना व्यसनै**रिति. यथा **व्यसनैः**

टिप्पणी

ज्ञापयितुं दूरस्थं सिन्धुं निरूपितवान्. सिन्धुर्द्वीपमर्यादाहेतुत्वेन मर्यादामार्गीय इति तस्य क्षोभ उच्यते. एतल्लीलानुपयोगिनो महतोप्यनर्थपर्यवसानमेवेति च ज्ञाप्यते, अन्यथा सिन्धोरव्रजस्थस्य निरूपणमनर्थकं स्यात्. निरूप्यते चात्र भगवदीयप्रावृष एव कार्यम्; तस्याश्चेतोऽन्यत्र प्राकट्ये प्रयोजनाभावः. एवं सति स्वाधिष्ठानत्वादाधिभौतिकप्रावृषस्तद्द्वारैव तथा[1] कारितवतीयमित्यस्मिन्प्रकरणे व्रजस्थेतरस्यापि सिन्धोर्निरूपणम्. लीलारसामृतसमुद्रे जागरूकेऽन्यस्मिन् समुद्रत्वमसहमानया तया स्वप्रौढ्येदं कृतमिति ज्ञायते. तथा चास्थैर्यस्वभावा स्त्री, तादृश्याः पतिश्च गोकुले नास्तीति दोषाभावो व्यज्यते. दृष्टान्तेन चात्र भगवदेकनिष्ठत्वेनोभयेषां सिद्धचित्तवृत्तिनिरोधत्वादेकत्रस्थित्या स्वस्त्रीदर्शनादावपि न क्षोभ इति व्यज्यते. तेन "मन्यमानाः स्वपार्श्वस्थानि"ति न्यायः सार्वदिक इति सिद्धम्. अत्र पूर्वं वारिमात्रस्यापि मुख्यभक्तिकार्यकर्तृत्वेन भक्तिरूपत्वमुक्त्वा तदात्मिकानामेव सरितां यत् क्षोभकत्वमुक्तम्, तेन प्रावाहिकभक्तिमन्तो न लीलानिष्ठा भवन्ति, प्रभुस्वरूपनिष्ठाभावाद्यत्संगता भवन्ति तमपि क्षोभयन्तीति ज्ञापयति. ये तु प्रभुलीलौपयिकत्वेन स्वरूपैकनिष्ठया निश्चलत्वेनात्युच्चाधिकारं प्राप्तास्ते त्वभिभावकसम्बन्धेपि नाभिभूता भवन्तीति ज्ञापयितुं गिरीनग्रे निरूपितवान्. यथा यथा वर्षधारासम्बन्धस्तथा तथा स्वगुहाद्यन्तःस्थितप्रभौ तत्सम्बन्धा भावाः स्वेन भवन्तीति ज्ञानेनानन्दातिशय एव भवति, न तु तत्सम्बन्धजं दुःखमपीति दृष्टान्तेन ज्ञाप्यते. इदमेवोक्तं **यतस्तेन्तःसारा** इत्यनेनाचार्यैः.

अग्रिमश्लोकाभासे **तेषां वर्षाकृतोपद्रवमाहे**ति. ननु भगवदीयप्रावृषो भक्तोपद्रवकर्तृत्वकथनमनुचितमिति चेद्, अत्रैवं ज्ञेयम्— उपद्रवो हि दुःखदः, वर्षधाराणा-

---

१. तत्र तथा मू. पा.

स्त्र्यादिभिरापद्भिर्वा**ऽभिभूयमाना** वशीक्रियमाणा, **अप्यधोक्षजचेतस** इन्द्रियातीते भगवति स्थापितचित्ता न क्षोभं प्राप्नुवन्ति तथा. तदा कन्दरादिष्वन्तर्भगवानस्तीति तत्र वृष्टिधारास्पर्शनिवारकत्वं स्वस्य सम्पद्यत इति तदानन्देन च पूर्णा धाराकठिनस्पर्शमपि सुखत्वेन मानयामासुर्जलद इवातपस्पर्शमित्यर्थः. **अधोक्षज**-पदेनान्याविषयत्वोक्त्या रहःशयनं सूच्यते. यत्र जडाः कठिना अप्येतादृशास्तत्र चेतनाः किमु वाच्या इति भावः. समुद्रस्तूद्धतरत्नादिरित्यसारः ॥१५॥

एवं राजसीं सात्त्विकीं व्यवस्थामुक्त्वा तामसीमाह **मार्गा बभूवु**रिति.

टिप्पणी

मतादृशत्वे वक्ष्यमाणरीत्या सुखदत्वाभिमानहेतुत्वं न स्याद्यतः प्रभौ तन्निवारकत्वेनैव स्वस्मिन् कृतार्थताभिमानः. अत एव मूले हननमुक्तमतः सुष्ठूक्त**मुपद्रवमाहे**ति ॥१३-१५॥

'मार्गा बभूवुरि'त्यनेनापि व्रजे लीलोपयोगिवर्षर्तौ मार्गाणामेव तथात्वम्, न तु कदाचिद्वेदानामिति ज्ञाप्यते, अत एव **कालहता** इति विशेषणं मूले. यथा भगवत्प्रापका वेदा अलौकिकरीत्या तथैवैकान्ते भक्तानां भगवत्प्रापका मार्गा इति द्वयोः साम्यम्. तेन सदा व्रजलोकयातायातं यत्र स मार्गो नात्र विवक्षित इति ज्ञायते. अत एव तादृशानामेव भक्तानां तमिस्रायां क्वचिद्दिवापि तत्सन्देहः, अन्येषां तु तदज्ञानमेव. इदमेवोक्तमाचार्यैः **पूर्वं ये तेने**त्यादिना. अत एव यावत्पर्यन्तं तद्विषय-

प्रकाशः

गिरय इत्यत्र गिरिषु किं समुद्राद् वैलक्षण्यं? अत आहुः **समुद्र** इत्यादि. एतद्व्यङ्ग्यमर्थं टिप्पण्यामाहु**र्येत्वि**त्यादि. सुबोधिन्यां **तेषां वर्षे**त्यादिकथने किञ्चिदाशङ्क्य टिप्पण्यां परिहरन्ति **नन्वित्याद्याहे**त्यन्तम् ॥१५॥

मार्गा इत्यत्रैतत्पद्यव्यङ्ग्यमर्थं टिप्पण्यामाहु**र्मार्गा** इत्यादि ॥१६॥

लेखः

गिरय इत्यत्र **यत** इति. स्वरूपयोग्यता एतेनोक्ता. **हेतुमि**ति व्यथाभावहेतुमधोक्षजचेतस्त्वं **दृष्टान्तेन** गिरिषु **स्पष्टयती**त्यर्थः. यथान्ये भगवति स्थापितचित्तास्तथैतेपि तत्रैव सेवाभावनया स्थापितचित्ता इत्यर्थः. **तदानन्देन चे**ति **इति**-भावनया **तदानन्देन. चे**ति समुच्चयार्थश्चकारः. अन्तःसारत्वादेव भगवति चित्तस्थित्या व्यथाभावः. **समुद्रस्त्वि**ति असारत्वात् नाधोक्षजचेतस्त्वमित्यर्थः ॥१५॥

एवमिति. गुणातीतव्यवस्था तु "जले"तिश्लोकेनोक्तेति ज्ञेयम् ॥१६॥

मार्गा बभूवुः सन्दिग्धास्तृणैश्छन्ना अ(ह्य!)संस्कृताः ।
नाभ्यस्यमानाः श्रुतयो द्विजैः कालहता इव ॥१६॥

सर्व एव **मार्गाः सन्दिग्धा** जाता यत**स्तृणैराच्छन्नाः**. युक्तश्चायमर्थः,प्रत्यक्षत एव सन्देहदर्शनात्. पूर्वं ये तेन मार्गेण सञ्चरन्ति तान् प्रति **सन्दिग्धा** अन्येषां तु ज्ञानमेव न, यत**स्तृणैश्छन्नाः**. तर्ह्यग्रे मार्गप्रवृत्तिः कथमित्याशङ्क्या**ह्यसंस्कृता** इति, संस्कारपर्यन्तं सन्देह एव– संस्काराभावे तु मार्गस्य लोप एव. बहुधा दृष्टस्य कथं सन्देहजनकत्वमितिशङ्कां दृष्टान्तेन वारयति **नाभ्यस्यमाना** इति यथानभ्यस्यमानाः **श्रुतय**स्तैरेव **द्विजैः** पुनः स्मृताः सन्दिग्धा भवन्ति. आम्नायश्छन्दसां दण्डः, तदभावे सन्देहः सहजस्तस्य. **कालेन** महता कालेन **हताश्च** भवन्ति ॥१६॥

लोकबन्धुषु मेघेषु विद्युतश्चलसौहृदाः ।
स्थैर्यं न चक्रुः कामिन्यः पुरुषेषु गुणिष्वपि ॥१७॥

एवं गुणातीतसगुणभेदेन चतुर्धा वर्षाकृता धर्मा उक्ताः, पुनर्विपरीततया चतुर्धा निरूपयति– द्वितीये राजसाः प्रथमास्ततः सात्विकस्ततस्तामसो गुणातीतश्चेति. तामसभावेन चतुर्धाग्रे निरूपयिष्यति, तत्र स्त्रियो राजस्यो मुख्यास्तासां राजसस्तामसो वा चेद् भर्ता तदा स्थिरता. सात्त्विकत्वे तु[1] **न स्थैर्यं**, विद्युतामस्थैर्ये हेतुरनेनोच्यते. **लोकबन्धुषु** लोकानां सर्वेषां बान्धवा मेघाः; यदि सर्वमेव जलं विद्युत्स्वेव प्रयच्छेयुस्तदा विद्युतः स्थिरा भवेयुस्ते तु लोकहितैषिण इति सर्वेभ्यो दाने तेषु **चलसौहृदा**[2] जाताः, सौहार्दं तत्प्रकाशकत्वं तत्र शोभाजनकत्वं वा, यत एताः **कामिन्यः**. अतो लोकेपि कामिन्यः परोपकारनियतेषु स्थिरतां न प्राप्नुवन्ति. **कामिनी**पदात् कुलवधूव्युदासः. युक्तश्चायमर्थः. सर्वस्वे दत्ते किं ता भक्षयेयुरिति चेत् तत्राह **गुणिष्वपी**ति. ते हि गुणवन्तस्ततोप्यधिकं सम्पादयिष्यन्ति, तथापि प्रत्यक्ष एव पर्यवसितमतित्वात् **न स्थैर्यं चक्रुः**. मेघा अपि गर्जनेन गुणवन्तः ॥१७॥

विजातीया अपि विजातीयेषु शोभां प्राप्नुवन्तीति प्रावृट्कृतधर्ममाह **धनुरि**ति.

धनुर्वियति माहेन्द्रं निर्गुणं च गुणिन्यभात् ।
व्यक्ते गुणव्यतिकरेऽगुणवान् पुरुषो यथा ॥१८॥

वियत्याकाशे **माहेन्द्रं धनुर्निर्गुणमपि गुणिन्य**पि विद्यावत्यपि विषयाभावात् प्रकाशं प्राप्तवत्. महेन्द्रोपि वृत्रवधात् "महान् वा अयमभूद् यो वृत्रमवधीदिति तत् महेन्द्रत्वमि"तिश्रुतेर्भगवत्सम्बन्धो महेन्द्रे निरूपितः. तस्य सम्बन्धाद् वज्रं निर्गुण-

---

टिप्पणी

कसंस्कारानुत्पत्तिस्तावत्पर्यन्तमेव सन्देहस्तदुत्पत्तौ तु तमिस्रायामपि न सन्देह इत्याशयेनोक्तं मूले **असंस्कृता** इति. **मार्गलोप एवे**ति स्यादिति शेषः तेन संस्कारस्यावश्यकत्वमायाति. **लोकबन्धुष्वि**त्यनेनापि व्रजे **चलसौहृदा विद्युत** एव दृष्टाः, न त्वन्याः स्त्रिय इति ज्ञायते[3]. कदाचित्सत्त्वे हि चलत्वं सौहार्दस्य, अत्र तु प्रभ्वतिरिक्ते तदभावात्प्रभौ च तस्य सार्वदिकत्वात्सौहार्दस्य चलत्वाभाव एव यतः ॥१६-१७॥

प्रकाशः

लोकबन्धुष्वित्यत्र **द्वितीय** इति चतुष्क इति शेषः. **तामसभावेने**ति तत्प्राधान्येनेत्यर्थः. एतत्पद्यव्यङ्ग्यमर्थं टिप्पण्यामाहु**र्लोके**त्यादि ॥१७॥

---

१. लुप्तम्. २. सौहृदो. ३. ज्ञाप्यते मू. पा.

टिप्पणी

धनुर्वियतीत्यत्र **चक्रं निर्गुणमपी**ति. वृत्रवधाय भगवदावेशे जात एवेन्द्रे वज्रसम्बन्धो जातः. वज्रेपीन्द्राविष्टभगवदायुधस्य चक्रस्यावेशः, अत ए"वायुधानामहं वज्रमि"त्युक्तम्. तच्च गुणातीतं **सगुण** इन्द्रे शोभत इत्यर्थः. **वज्रं निर्गुणमपी**ति पाठे स्पष्टम् ॥१८॥

प्रकाशः

धनुरित्यत्र **विद्यावत्यपि वियती**ति. "सान्द्रनीलाम्बुदैरि"त्यत्र या ब्रह्मशरीरत्वरूपा विद्या प्रतिपादिता तद्वति वियतीत्यर्थः. **महेन्द्रे निरूपित** इति कौषीतकीब्राह्मणे प्रतर्दनाख्यायिकायां निरूपितः. **वज्रमि**ति "नन्वेष वज्रस्तव शक्र तेजसा हरेर्दधीचेस्तपसा च तेजित" इतिवृत्रवाक्यात् "तेजस्तत्त्वं सुदर्शनमि"न्द्रे भगवदावेशाद् वज्रमाविष्टमतस्तथा. इदमेव टिप्पण्यां व्यङ्ग्यस्थले व्याख्यातं '**चक्र-**

लेखः

लोकबन्धुष्वित्यत्र **यत** इति. व्रजे एतासामेव कामिनीत्वं न तु व्रजस्त्रीणामिति भावः. **अत** इति व्रजस्थानां विद्युद्रूपकामिनीनामस्थिरत्वदृष्टान्तादित्यर्थः. **गुणिष्वि**ति पदस्याभासमाहुः **युक्तश्चे**ति. गुणित्वादेवं न युक्तमिति समाधानम् ॥१७॥

धनुरित्यत्र **गुणिन्यपी**ति "वायुर्वाव गोतम तत्सूत्रमि"ति श्रुतेर्वायुरूपसूत्रवतीत्यर्थः. अविद्या दोषरूपा, विद्या गुणरूपेति सूत्रमेव विद्येति ज्ञेयम्. **तस्य सम्बन्धादि**ति इन्द्राविष्टभगवदायुधावेशादित्यर्थः. **फलितमि**त्यन्तेन वाक्यस्य तात्पर्यार्थं

---

१. वज्रं निर्गुणमितिसुबोधिनीपाठाद् भिन्नः पाठोयं श्रीटिप्पण्यामुभयपाठदर्शनात्.

मपि सगुणे शोभां प्राप्नोति तथा भगवदीयोपि सर्वत्र शोभां प्राप्स्यतीति फलितम्. जीवास्तु त्रिविधाः— स्वभावतो भगवद्गुणवन्तो दोषवन्त उभयरहिताश्च. तत्र देवा गुणवन्त दैत्या दोषवन्तो मानुषास्तूभयरहिताः. तेपि भगवत्कृपया देवा इव गुणवन्तो भवन्ति. तदभावेपि कर्मणा **व्यक्ते गुणव्यतिकरे** संसारे त्रिगुणयुक्तेऽ**गुणवानपि पुरुषो** योनिबीजवर्णधर्मान् प्राप्य भासते. अगुणत्वाद् गुणातीतो वा भगवत्सेवकः. भगवद्धर्मान् दृष्टान्तीकुर्वतेन्द्रधनुषो माहात्म्यं निरूपितं, भगवदीयैव सम्पत्तिर्गुप्तं भगवदीयं प्रकटीकरोतीति. **पुरुष** इति गुणातिरिक्तत्वख्यापनाय, प्रकृतिस्तु गुणमय्येव ॥१८॥

गुणेष्ववशिष्टं चन्द्रमाह **न रराजेति.**

न रराजोडुपश्छन्नः स्वज्योत्स्नाभासितैर्घनैः ।
अहम्मत्या भासितया स्वभासा पुरुषो यथा ॥१९॥

उडुपः क्षुद्रपोषको नक्षत्राधिपतिः **स्वज्योत्स्नयैवाभासितैरपि घनैर्न रराज.**

टिप्पणी

न रराजेत्यस्याभासे गुणेष्ववशिष्टमिति तामसमित्यर्थः. अभगवदीयसाहंकारस्य दृष्टान्तत्वादस्य तामसत्वम्. अत एवात्रास्य न शोभेति भावः. **न रराजोडुप** इत्यनेनाप्युक्तरीत्या यथा प्राकृतः पुरुषो न राजते तथात्र घनाच्छन्नो लौकिक इन्दुरेव तथा, न तु तदन्यः कोपि पुरुषोपीत्युच्यते. अत एव **भगवदीयव्यतिरिक्तमि**त्याचार्यैरुक्तम् ॥१९॥

प्रकाशः

मित्यादिना. तेपीति मनुष्या आसुरानुगा अज्ञा अपि ॥१८॥ **न रराजेत्यत्र गुणेष्वित्यादेरर्थं** टिप्पण्यामुक्त्वा पद्यव्यङ्ग्यमर्थमाहु**रभगवदीयेत्यादि** ॥१९॥

लेखः

उक्तः. ननु मूले तु प्रकृतिसम्बन्धरहितस्यागुणस्य शोभोक्ता न तु भगवद्गुणवतो भगवदीयस्य, अतः कथमयं तात्पर्यार्थ इत्याशङ्क्याहु**र्जीवास्त्वि**त्यारभ्य **भासत** इत्यन्तम्. **तदभावेपी**ति तादृशगुणाभावेपि भासते, तत्र तादृशगुणवतो भाने किं वाच्यमिति कैमुतिकन्यायेनायं तात्पर्यार्थः सिद्ध इति भावः. एतदरुच्यैव पक्षान्तरमाहु**रगुणत्वादि**ति तथा च व्यक्त एवेति भावः. **दृष्टान्तीकुर्वते**ति दृष्टान्ततावच्छेदकीकुर्वतेत्यर्थः. **सम्पत्तिरि**ति सम्भृतिरूपा प्रावृडित्यर्थः. **भगवदीयमि**ति धनुरित्यर्थः. तथा च **विद्यावत्**पदेन दृष्टान्तं दार्ष्टान्तिकं चेत्युभयमपि ग्राह्यं भवति ॥१८॥

तत्र भगवदीयव्यतिरिक्तं पुरुषं साहङ्कारं दृष्टान्तीकरोत्य**हम्मत्या भासितया स्वभासा पुरुषो यथे**ति. **अहम्मतिर**हङ्कारोहमिति या बुद्धिः सापि **स्वभासा**त्मभासैव भासिता तथापि तया पुरुषो न शोभते ॥१९॥

एवं त्रिविधानुक्त्वा ये केवलं भगवदीया यथा मेघोन्नत्यभिकाङ्क्षिणो बर्हिणस्ते सुखिनो भवन्तीति वर्षाकृतं तेषु सुखमाह **मेघागमोत्सवानि**ति.

मेघागमोत्सवान् दृष्ट्वा प्रत्यनन्दन् शिखण्डिनः ।
गृहेषु तप्ता निर्विण्णा यथाच्युतजनागमे ॥२०॥

मेघानामागमे य उत्सवः स येषां सस्यवृक्षलतादीनां तान् **दृष्ट्वा, मेघोत्सवान्** वा वृष्टिविद्युदादीन् **शिखण्डिनो** मयूरा **प्रत्यनन्दन्,** भगवता विचित्राः[1] कृता एव भगवदीयोत्सवं मन्यन्त इति. एतन्निरूपणं यदर्थं तदाह **गृहेषु तप्ता** इति. **गृहेषु** स्थिता गृहादिचिन्तया **तप्ता** दुःसङ्गैरसदिन्द्रियैश्चात एव गृहा बहुविधाः उक्ताः.

टिप्पणी

मेघागमोत्सवानित्यत्र. पूर्वतापं दूरीकृत्य भगवदानन्ददायिभक्तजनागमदृष्टान्तोक्त्या यदा दिवा परिजननिरोधतश्चिरविरहतापे सति कथञ्चिद्व्याजेन श्रीनन्दगेहे गमने सम्पन्ने सति वनगमने वा प्रियसङ्गे सति मेघास्तादृशीं वृष्टिं चिरं कुर्वन्ति यतोऽत्रातिविलम्बेपि स्वगृहीया नोपालभन्ते. तदा तन्मेघागमस्य प्रतिनन्दनं भवत्यन्यदा तु न तथा वृष्टिं कुर्वन्तीति ज्ञाप्यते. अयमेवार्थ उक्त **एतन्निरूपणं यदर्थं तदाहे**त्याभासेन. ग्रीष्मे घर्मादिना गिरिशिखरादिष्वनावृतदेशेषु लीलाया असम्भवात् सर्वत्र भगवदानन्ददातृत्वेनैवैतदभिनन्दनम्, न तु वैषयिकसुखदत्वेनेति ज्ञापनाय निर्विण्णत्वमुक्तं दृष्टान्ते ॥२०॥

प्रकाशः

मेघागमोत्सवानित्यत्र पद्यव्यञ्जितमर्थं टिप्पण्यामाहुः **पूर्वे**त्यादि ॥२०॥

लेखः

मेघागमेत्यस्याभासे **केवलमि**ति, निर्गुणत्वाद् गुणसम्बन्धरहिता इत्यर्थः. परोक्षवादे **शिखण्डि**पदेन तद्दृष्टान्तककामभावयुक्ताः स्वामिन्य उच्यन्ते. तथा च कारिकास्वपि **बर्ही**तिपदेनैता एवोच्यन्ते, **भक्ता वे**ति पक्षे तु स्पष्टमेव. **एतन्निरूपणमि**ति मेघागमप्रतिनन्दननिरूपणमित्यर्थः. **यदर्थमि**ति मेघागमस्य भगवदानन्ददायित्वबोधनार्थमित्यर्थः. तच्च टिप्पण्यां विवृतम्. **तदाहे**ति दृष्टान्तेन भगवदानन्ददायित्वमाहेत्यर्थः. इदमेवाग्रे **सुखदायिनी**त्यनेनोपसंहृतम्. **जितेन्द्रियाः**

१. विचित्रिताः.

तथाभूता अपि यदा **निर्विण्णा**स्तापेनैव वा निर्विण्णा. **अच्युतजना** जितेन्द्रियाः परमहंसा त्रिदण्डिनो भगवज्जनास्ते हि परिभ्रमन्तो वर्षासु गृहस्थस्य गृहे गच्छन्ति तदा तेषां समागमो भवति. तेषु समागतेषु ये निर्विण्णास्ते प्रतिनन्दनं कुर्वन्ति न त्वनिर्विण्णाः. अतः प्रावृट् सर्वेषामेव तप्तानां सुखदायिनी ॥२०॥

प्रकारान्तरेण चातुर्विध्यमाह **पीत्वाप** इति.

पीत्वापः पादपाः पद्भिरासन् नानात्ममूर्तयः ।
प्राक्क्षामास्तपसा श्रान्ता यथा कामानुसेवया ॥२१॥

पादपाः सर्वे वृक्षास्तामसेषु सात्त्विकाः **नानात्ममूर्ति**र्येषां तादृशा जाताः. पानमप्रत्यक्षसिद्धमिति **पद्भिरित्युक्तं, पादप**शब्दो रूढो वा भवेदिति. तेषां नीरस्यैव जीवनत्वेन पदयोरेव तत्पानसाधनत्वेन स्वच्छाययैवोग्रतापशीतादिभ्यः स्वपादान् पान्तीति वा तथा. नानामूर्तयस्तु स्वभावत एव भवन्ति वृक्षाणामनियतरूपस्योक्त-

टिप्पणी

पीत्वापः पादपा इत्यत्र **तेषां नीरस्यैवे**त्यारभ्य **तथे**त्यन्तम्. अत्रायं भावः—नीरस्य जीवनत्वेपि तत्सम्पादने स्वयमशक्तास्तत्सम्बन्धघटकं ये पान्ति ते ह्यतिदीनास्तापतप्तास्तेभ्यो जीवनसम्पादकोऽयमृतुस्तेन यदेकोपजीविनो ये तेषां तद्वातेति ये तादृशा भक्तास्तेषां भगवत्सम्बन्धजनकः, सर्वत्रैव निकुञ्जगह्वरप्रदेशजननादिति. अत एव नानात्ममूर्तित्वं कार्यमुक्तम्. अयमेवार्थ **एतदपि निरूपणमि**त्या-

प्रकाशः

पीत्वेत्यत्र. ननु **पादप**शब्दयोगेनैव पाने प्राप्ते **पद्भिरि**त्यस्य किं प्रयोजनमत आहुः **पानमि**त्यादि. तथा च रूढत्वशङ्कानिवृत्त्यर्थं तथेत्यर्थः. नन्वत्र **पीत्वे**तिपदसमभिव्याहाराद् योगस्य नापहार इत्यत आहु**स्तेषामि**त्यादि. तथा च योगान्तरस्योपोद्बलनाय तदुक्तिरित्यर्थः. एतद्व्यङ्ग्यमर्थं टिप्पण्यामाहु**रत्रायं भाव** इत्यादि ॥२१॥

लेखः

परमहंसास्त्रिदण्डिन इति पदत्रयेण "यदनुचरिते"तिश्लोकोक्तद्वन्द्वधर्मत्यागविहङ्गत्वभिक्षुचर्यारूपधर्मत्रयमुक्तम्, एतादृशा **भगवज्जना** अच्युतजना इत्यर्थः. तापो निर्वेदश्च गृहस्थबर्हिणोः साधारणधर्मः, भगवदानन्ददायित्वमच्युतजनमेघयोरिति ज्ञेयम् ॥२०॥

योजना

पीत्वाप इत्यत्र **स्वपादान् पान्तीति** वेति, स्वपादान् **पान्ति** रक्षन्तीति पादपाः. स्वपादैः पिबन्तीतिविग्रहे **पद्भिरि**तिव्यर्थं स्यात् ॥२१॥

त्वात्, तन्निराकरणार्थ**मात्म**पदं; यस्य ग्रीष्मर्तौ या मूर्तिः स्थिता ततो विलक्षणा नानामूर्तिर्जातेति. एतदपि निरूपणं यदर्थं तदाह **प्राक्क्षामा** इति. पूर्वं **क्षामा** दुर्बला**स्तपसा** न केवलं देहदौर्बल्यमपि तु **तपसा श्रान्ताः** इन्द्रियशक्तिरपि कुण्ठिता भवति. ते यदा तपःफलरूपं **काममनुसेवन्ते** तदा प्रत्यहं **नानात्ममूर्तयो** भवन्ति. ते वर्षायामेव पुष्टा भवन्तीति प्रकृते निरूपितम्, अन्यदा शोषकबाहुल्यात् न शीघ्रमुपचयः ॥२१॥

तत्र राजसानामाह **सरस्स्वि**ति.

सरस्स्वशान्तरोधस्सु [1]न्यूषुरङ्गापि सारसाः ।
गृहेष्वशान्तकृत्येषु ग्राम्या इव दुराशयाः ॥२२॥

सारसा हि सरस्येव रसवन्तः, तानि वर्षाकाले पूरितानि भवन्ति. उपरि बहुदूरे जलं गच्छति ततश्च नीडं कृत्वा स्थिताः कूले. तत् कूलं जलेन प्लावितं भवति, तदुपरि कृते तदपि कदाचित् कूलं पतति. एवमनेकविधदोषदुष्टेष्वपि **सरस्सु सारसा**स्तद्रसाविष्टा **[1]न्यूषुः,** समीपसप्तमीविशेषणवशा**दशान्तरोधसि** तिष्ठन्तीति गम्यते. एतद् यदर्थमुक्तं तदाह **गृहेष्वि**ति. **न शान्तं** कदाचिदपि **कृत्यं** कर्तव्यं येषु, न ह्यामरणं गृहचिन्ता कदाप्यपगच्छति. तेपि **ग्राम्या** ग्राम एवोत्पन्ना

टिप्पणी

भासेनोक्तः ॥२१॥

सरःस्वित्यादिनापि दृष्टान्तीयधर्मसमानधर्मवन्तोत्र सारसा न त्वन्यः कोपीति ज्ञाप्यते. तत्रापि सारसानामेव निरूपणेन सरसा ये भक्तास्तैः सह जलविहारदेशे तद्रसावेशाद्दोषमप्यगणयन्तो भवन्तीति तथा. दोषागणनपूर्वयमत्यासक्तिर्ग्राम्याणां गृहादिषु भवतीति ते दृष्टान्तीकृताः. तेनात्र[2] गृहवन्तोपि भक्ता एव,

लेखः

पीत्वाप इत्यत्र **एतदपी**ति. वृक्षाणां नानामूर्तित्वं यस्य दृष्टान्तस्य नानामूर्तित्वबोधनार्थं तद्दृष्टान्तमाहेत्यर्थः. तथा चात्र दृष्टान्त एव तात्पर्यार्थ इति भावः, एवमग्रेपि ॥२१॥

सरःस्वित्यत्र. अन्यगृहीवदत्र सारसा एव न त्वत्रत्या गृहिण इति, अत्रत्यगृहिस्वरूपनिरूपणमेव तात्पर्यार्थोऽत्र, सारसानां त्वयं **गुण** एवेति भावः. **तदाहे**ति दृष्टान्तेनात्रत्यगृहिस्वरूपमाहेत्यर्थः, एवमग्रेपि ॥२२॥

१. न्यूषुः. २. **अगृहवन्त** इति पाठः. तेनात्राग्रहवन्तोपि मू. पा.

रता इन्द्रियग्रामपोषका वा. तादृशा अपि **दुराशया** अन्तःकरणदोषयुक्ता अपि. बहिर्निर्गतानां खेदेन भगवत्स्मरणं तीर्थदर्शनं सत्सङ्गो वा भवेत् क्रियाव्यापृतौ चिन्ताभावो वा, वर्षायां तु सर्वाभावः ॥२२॥

एवं राजसानुक्त्वा तामसानाह **जलौघैरि**ति.

जलौघैर्निरभिद्यन्त सेतवो वर्षतीश्वरे ।
पाषण्डिनामसद्वादैर्वेदमार्गाः कलौ यथा ॥२३॥

जलसमूहैः **सेतवो नितरामभिद्यन्त** भिन्ना जातास्तत्र च प्रतीकारो न शक्यः **ईश्वरे वर्षति.** पर्जन्य ईश्वरः स हि सर्वसुखार्थं वर्षति. ततोऽशक्यप्रतीकारात् सेतवो भिन्ना एव. एतदपि यदर्थं तदाह **पाषण्डिनामसद्वादै**रिति. **कलौ** बुद्धावतारे भगवति तेन प्रवर्धिताः **पाषण्डास्तेषामसद्वादैः** कुयुक्तिभिः सर्व एव **वेदमार्गाः** कर्मज्ञानभक्त्युपासनादिप्रतिपादकाः सर्व एव[1] **निरभिद्यन्त** कलौ तेषां प्रयोजनाभावात् ॥२३॥

गुणातीतस्थानीयमाह **व्यमुञ्चन्नि**ति.

व्यमुञ्चन् वायुभिर्नुन्ना भूतेभ्योथामृतं घनाः ।
यथाशिषो विश्पतयः काले काले द्विजेरिताः ॥२४॥

वायुभिः प्रेरिता **घना भूतेभ्योऽमृतं** हस्तादिजलं मघादिजलं वा मुमुचुः. अन्यत् तु जलं गच्छति मघादिजलं बध्यत इति दृष्टान्ते **कालपदवीप्सया** यदा यत्र जलमपेक्षितं तत्रैव तदैव वृष्टिरिति ज्ञाप्यते. **भूतेभ्य** इति चतुर्थी. एतदपि यदर्थं तदाह **यथेति. विश्पतयो** देशाधिपतयो ब्राह्मणैः **प्रेरिता आशिषो** धनादिकं प्रयच्छन्ति. पुरोहितप्रेरिता हि ते दीनेभ्योऽन्नादिकं प्रयच्छन्ति. वर्षासु दीनानां स्वतःकार्यसामर्थ्याभावाद् यस्तु वर्षासु दाता स दातेति ब्राह्मणप्रेरणा [1]प्रत्यक्षकृतोपयोगिता ॥२४॥

एवमेकविंशतिप्रकारेण स्वरूपेण च प्रावृड् वर्णिता, तस्यां प्रावृषि भगवतो गुणानां च रमणमाह सप्तभिः. तत्र प्रथमं रमणार्थं भगवतः प्रवेशमाह**ैवमि**ति.

एवं वनं तद् वर्षिष्ठं पक्वखर्जूरजम्बुमत् ।
गोगोपालैर्वृतो रन्तुं सबलः प्राविशद् हरिः ॥२५॥

एवं पूर्वोक्तप्रकारेण सर्वगुणसम्पन्नं **वनं तत्** प्रसिद्धं **वर्षिष्ठं**[2] सर्वोत्तमं जातम्. नन्वत्र वने क्रीडायां शीघ्रं गृहागमनं न सम्भवति, भुक्त्वा गमनेपि महद् दिनमिति मध्ये क्षुद् भवेदाम्रादिफलानि तु निवृत्तानि; ततः कथं रमणमित्याह **पक्वखर्जूरजम्बुमदि**ति, पक्वानि खर्जूरफलानि जम्बुफलानि च यस्मिन् वने. भगवान् गुणातीतः, सत्त्वस्थानीयो बलो, रजःस्थानीया गोपाला, गावस्त्ववशिष्टाः; तैः सर्वैरेव भगवदीयैरा**वृतः** प्रकर्षेण क्रीडां कर्तुं, स्वसम्पादितनिर्दुष्टैर्जीवैः सह, **वनं प्राविशत्** ॥२५॥

टिप्पणी

न तु प्राकृतः कोप्यस्तीति ज्ञाप्यते. एतज्ज्ञापकोयमृतुरित्येतत्प्रस्ताव इदं निरूपितम्. अयमेवार्थ **एतदि**त्याभासेनोक्तः ॥२२॥

जलौघैरित्यनेनापि जलसेत्वतिरिक्तस्य सेतोर्न नाशो व्रजेस्तीति ज्ञाप्यते. तेन वेदसेतोः सातत्यं सूचितं भवति. इदमेवोक्तं **(ए!)तदपी**त्याभासेन ॥२३॥

व्यमुञ्चन्नित्यत्र जलमोकोक्तेः पुनरुक्तिशङ्कानिरासाय**ामृत**पदं मूले. तदर्थमाहु**र्हस्तादी**त्यादिना. अन्यथा पूर्ववृष्टेरपि वैयर्थ्यं स्यादन्नासम्पत्तेरित्यस्यामृतत्वम्. तद्धि क्षुत्कृतमृतिनिवर्तकमिति भावः. दृष्टान्तेनात्रत्यसाधारणजनानामपि सर्वसम्पत्तिरितरापेक्षाभावश्च ज्ञाप्यते. प्रभुणैव ह्यत्र सर्वेषां सर्वसम्पत्तिः. एवं सत्युक्तरीत्या भगवत्संभृतिरूपत्वं प्रावृषः सूचितं भवति. एतदेवोक्त**मेतदपी**त्याभासेन. अपरञ्च, यथान्यप्रेरणयैव विश्पतयो ददति, न स्वतोपि, तथात्र मेघा एव, न त्वन्येपि, यतः स्वत एव श्रीनन्दप्रभृतयः सर्वेभ्यः सर्वं ददतीत्यपि ज्ञाप्यते ॥२४॥

प्रकाशः

सरस्विवत्यत्र पद्यव्यङ्ग्यमर्थं टिप्पण्यामाहुः**सरस्विव**त्यादि. **ज्ञाप्यत** इत्यत्र यद्यपि **दुराशय**पदविवरणं नास्ति तथापि कामभावरूपोऽन्तःकरणदोषः प्रकरणादेव बोध्यः ॥२२॥

जलौघैरित्यत्र व्यञ्जितमर्थं टिप्पण्यामाहु**र्जलौघैरि**त्यादि ॥२३॥

व्यमुञ्चन्नित्यस्य यद् व्यञ्जितं तद् टिप्पण्यामाहु**र्व्यमुञ्चन्नि**त्यादि ॥२४॥

एवं वनमित्यत्र **स्वसम्पादितनिर्दुष्टैरि**ति– स्वसम्पादिताश्च ते निर्दुष्टाश्च तादृशैः ॥२५॥

लेखः

एवं वनमित्यत्र **स्वसम्पादिते**ति– स्वसम्पादितैर्धेनुकवधादिभिर्निर्दुष्टा ये जीवास्तैरित्यर्थः ॥२५॥

---

१. लुप्तम्.

१. प्रत्यक्षतो°. २. **वर्षिष्ठं** श्रेष्ठं सर्वोत्तमम्.

धेनवो मन्दगामिन्य ऊधोभारेण भूयसा ।
ययुर्भगवताहूता द्रुतं प्रीत्या स्नुतस्तनीः ॥२६॥

तत्र प्रथमं धेनूनां शोभामाह. प्रवेशो वीर्यशक्तिरिव[1] वैराग्यशक्तिर्वा. ऐश्वर्यशक्तिमाह **मन्दगामिन्यो धेनवो** जाताः. गर्भेणापि तथा भवन्तीति तद्व्यावृत्त्यर्थमाह**ोधोभारेण भूयसे**ति, क्षीराशयस्यैव महान् भारः. तादृश्योपि **भगवताहूता** ऐश्वर्यवशाद् **द्रुतमागताः**. निर्बन्धेनाप्यागमनं सम्भवतीति तद्व्यावृत्त्यर्थमाह **प्रीत्ये**ति, **प्रीत्याहूताः प्रीत्या** च **ययुः प्रीत्यै**व च **स्नुता स्तना** यासाम्. ङीप्टापौ व्यत्ययेन[2] भवतः ॥२६॥

गोपानां सुखमाह **वनौकसः प्रमुदिता** इति.

टिप्पणी

धेनवो मन्दगामिन्य इत्यस्याभासात्पूर्वं **वैराग्यशक्तिर्वे**ति. विरक्तो हि गृहं हित्वा वनं प्रविशतीति वनप्रवेशमात्रसाम्येनैवमुक्तम् ॥२६॥

प्रकाशः

धेनव इत्यत्र **प्रवेशो वीर्यशक्तिरि**ति. बलगोपालानां सहत्वावरणत्वबोधनात् प्रवेशक्रियायाः वीर्यशक्तित्वं बोध्यम्. **वैराग्यशक्तिर्वे**त्यस्यार्थं टिप्पण्यामाहु**र्विरक्त** इत्यादि ॥२६॥

योजना

धेनवो मन्दगामिन्य इत्यस्याभासे **प्रवेशो वीर्यशक्तिरेवे**ति. "सबलः प्राविशद्धरिरि"ति पूर्वश्लोकोक्तो वनप्रवेशो वीर्यशक्तिः, यतो वने वत्सासुरधेनुकादयोऽसुरा हताः प्रलम्बश्च हतो दावाग्निद्वयं निवारितम्. तादृशे सम्भावितभीतिके वने प्रवेशो वीर्यवत एव कार्यमतः **प्रवेशो वीर्यशक्तिरि**त्युक्तम्. **वैराग्यशक्तिर्वे**ति. "निशामुखेषु खद्योता" इत्यादिषु परोक्षवादरीत्या निरूपिता या रहस्यलीलास्तत्रासक्तो भगवान् "गोगोपालैर्वृतो रन्तुं सबलः प्राविशद्धरिरि"तिवाक्याद् गोपालबलदेवसाहित्येन बहिरङ्गलीलां कर्तुं वनप्रवेशं कथं कुर्याद्, अतो वैराग्यशक्त्यैव कृतवान्. अतो रहस्यलीलासक्तोपि वैराग्यशक्तिं तत्राविर्भाव्य लीलान्तरं करोतीति ज्ञापनाय **वैराग्यशक्तिर्वे**त्युक्तं तत् सम्यगेव. एतदेव श्रीमत्प्रभुचरणैष्टिप्पण्यां गुप्ततयोक्तं **विरक्तो हि गृहं हित्वा वनं प्रविशती**त्यादिना ॥२६॥

---

१. रेव. २. व्यत्यये न.

वनौकसः प्रमुदिता वनराजीर्मधुच्युतः ।
जलधारा गिरेरासन् आसन्ना ददृशे गुहाः ॥२७॥

वनवासिनां हि कालान्तरे तापो भवतीदानीं शीतलत्वात् सर्वे प्रमुदिताः. अनेन दोषाभाव उक्तः सहजं च सुखम्. भक्ष्यसम्पत्तिमाह– **वनराजी**र्वनपङ्क्तयः सर्व एव वृक्षा नानाजातीया, **मधुच्युतः** पूर्णे मधुनि, ततोपि प्रवाहमधुयुक्ता जाताः. पेयसम्पत्तिमाह **जलधारा गिरेरासन्नि**ति. पर्वतसम्बन्धिन्यो जलधारा अकलुषिताः शीतलाः पानयोग्यधाराश्च भवन्ति. वृष्टौ स्थातुं शयनं च कर्तुं स्थानमाह**ासन्ना ददृशे गुहा** इति, **आसन्ना** निकटस्था **गुहा** विश्रामस्थानानि. एतत्त्रिविधसामग्रीयुक्तान् **वनौकसो** गोपालानन्यांश्च **ददृशे** ॥२७॥

बलभद्रस्य तत्र रमणमाह **क्वचिद् वनस्पतिक्रोड** इति.

क्वचिद् वनस्पतिक्रोडे गुहायां वाभिवर्षति ।
निर्विशन् भगवान् रेमे कन्दमूलफलाशनः ॥२८॥

वृक्षस्य **क्रोडे** कोटरे **गुहायां वाभिवर्षति** देवे **निर्वशं**स्तत्रोपविशन् **भगवान्** रामो **मूलकन्दफलान्येवाशनं** यस्य; [1]वनस्थानि [2]सर्वाणि दिव्यानि स्वादिष्ठानि च. **रेम**इति पदाद् रामो ज्ञायते. विशेषं च वक्ष्यति– भगवति क्रोडे पुनर्निलीयोपवेशनं

टिप्पणी

क्वचिद्वनस्पतिक्रोड इत्यस्य रामविषयकत्वोक्तौ स्वाशय उद्घाटितः **क्रोडे पुनरि**त्यादिना. यद्यप्येवमप्येका बाललीला सम्भवति तथापि प्रभुलीलायां सङ्कोचमसहमानैरेवमुक्तम्. उपपत्तिश्चोक्ता **विशेषं च वक्ष्यति भगवती**ति ॥२८॥

प्रकाशः

वनौकस इत्यत्र **ददृश** इति, तत्पदाद् ज्ञानशक्तिर्बोध्या. अत्र च कर्ता भगवान् ज्ञेयः ॥२७॥

क्वचिद् वनस्पतीत्यत्र रामलीलाङ्गीकारतात्पर्यं टिप्पण्यामाहुः **क्वचिदि**त्यादि.

लेखः

वनौकस इत्यत्र **एतत्त्रिविधे**ति वनराजिजलधारागुहायुक्तान् देशानित्यर्थः. **आसन्नि**त्यस्यैव **गुहा**स्वप्यन्वयः, **ददृशे** इति तु भिन्नतयान्वेति. **अन्यांश्चे**ति पुलिन्दादीनित्यर्थः ॥२७॥

---

१. च तानि. २. लुप्तम्.

फलाहारश्च न सम्यक् सम्पद्यते ॥२८॥

भगवतो लीलामाह **दध्योदनमिति**.

[1]दध्योदनमुपानीतं शिलायां सलिलान्तिके ।
सम्भोजनीयैर्बुभुजे गोपैः सङ्कर्षणान्वितः ॥२९॥

गोपैर्गोपिकाभिर्यशोदया रोहिण्या वा तदानी**मुपनीतं दध्योदनं शिलायां** पर्वतसानुनि स्थूल आच्छन्नमेघे वर्षति सति **सलिल**समीप एव, जलार्थमन्यत्र गमनाभावाय, **सम्भोजनीयैः** सजातीयै**र्गोपैः सङ्कर्षणेन चान्वितो बुभुजे.** एतद् भोजनं प्रावृषि तस्याः स्वसम्पत्तित्वख्यापनार्थम्. अन्ये च गोपाला भिन्नतया बुभुजुर्बलभद्रेण सह फलाहारो वा ॥२९॥

प्रकाशः

अत्र कन्दाद्यशनस्योक्तत्वाद् रामस्य सत्त्वस्थानीयत्वाच्च वैराग्यशक्तिर्ज्ञेया. **एवमि**त्यत्र वैराग्यशक्तिपक्षेऽत्र वीर्यशक्तिर्बलचरित्रत्वाद् भाति ॥२८॥

दध्योदनमित्यत्र **सजातीयैरि**ति परोक्षवादे भक्तैरित्यर्थः. अत्र श्रीशक्तिः, **स्वसम्पत्तित्वख्यापनार्थमि**ति सुबोधिन्युक्तेः ॥२९॥

लेखः

दध्योदनमित्यत्र भोजनक्रियायां गोपानां सहभाव उक्तः सङ्कर्षणेन सह स्थितिमात्रमुक्तं, तत्तात्पर्य प्रथमपक्षे विशदं न जातमित्यरुच्या पक्षान्तरमाहु**रन्ये चे**ति. **भिन्नतये**ति भिन्नपात्रे इत्यर्थः, सम्भोजनीयत्वस्य तावन्मात्रेणैव सिद्धेरिति भावः. **बलभद्रेण सह** तु **फलाहारः** पूर्वश्लोके उक्त एव, अतोऽत्र सहस्थितिमात्रमुक्तमित्यर्थः ॥२९॥

योजना

दध्योदनमित्यस्य विवृतौ **गोपैर्गोपिकाभिर्यशोदया रोहिण्या वा तदानीमुपनीतमि**ति. "णीज् प्रापणे" इत्यस्य धातोः प्रयोज्यकर्तृव्यापाररूपनयनार्थकत्वमादाय **गोपैर्गोपिकाभिरि**त्युक्तं, प्रयोजककर्तृव्यापाररूपप्रेषणात्मकनयनार्थकत्वमादाय **यशोदया रोहिण्या** वेत्युक्तम्. तथा च प्रयोजककर्त्र्या श्रीयशोदया रोहिण्या वा प्रेषितं प्रयोज्यकर्तृभिर्गोपैः प्रयोज्यकर्त्रीभिर्गोपिकाभिर्वा तत्र भगवन्निकटे प्रापितमेतावानर्थ **उपानीत**पदस्येति बोद्धव्यम् ॥२९॥

---

१. 'दनं समा'.

ननु गोषु विद्यमानासु ताभ्योऽदत्वा कथं भगवान् बुभुज इति शङ्कां वारयति **शाद्वलोपरी**ति.

शाद्वलोपरि संविश्य चर्वतो मीलितेक्षणान् ।
तृप्तान् वृषान् वत्सतरान् गाश्च स्वोधोभरश्रमाः ॥३०॥

शाद्वलं हरिततृणवद्देशस्तत्र **संविश्य चर्वतो** रोमन्थं कुर्वाणान् **तृप्तान् वृषान् वत्सतरान् गाश्च ददृश** इति सम्बन्धः. रोमन्थसमये न तेभ्यो देयम्. त्रिविधा गणिताः, तत्र गोग्रासो देय इत्यधिकशङ्कायामाह **स्वोधोभरश्रमा[1]** इति, स्वस्योधसो भरेण श्रमो यासाम्. एवं सर्वेषां भोजनपानशयनविहारा निरूपिताः ॥३०॥

एतादृशस्य वनस्य भगवत्कृतमभिनन्दनमाह **प्रावृट्श्रियमि**ति.

प्रावृट्श्रियं च तां वीक्ष्य सर्वभूतसुखावहाम्[2] ।
भगवान् पूजयाञ्चक्रे आत्मशक्त्युपबृंहिताम् ॥३१॥

आधिदैविकी **प्रावृट्श्रीः** स्वकीया तत्र समागता. आधिदैविकीमपि **तां वीक्ष्य भगवान् पूजयाञ्चक्रे.** पूजायां हेतुत्रयं– **सर्वभूतसुखावह**त्व**मात्मनो** यावत्यः **शक्त**यस्ताभि**रुपबृंहित**त्वं चकारसूचितमाधिदैविकरूपत्वञ्च. तस्यां क्रीडित्वा तस्या अभिनन्दनं कृतवान् ॥३१॥

इदानीं पूर्वलीलामुपसंहरन् लीलान्तरकथनार्थं शरद्वर्णनमाह**ैवमि**त्यष्टादशभिः– सामान्यतः शरत्प्रवृत्तिरेकेन सप्तदशभिश्च तत्कार्याणि. तत्र प्रथमं तस्याः प्रवृत्तिमाह.

प्रकाशः

शाद्वलेत्यत्र यशःशक्तिर्ज्ञेयोधोभारस्यात्यन्ततृप्तिकार्यत्वेन सूचितत्वाद् गोग्रासदानेप्यग्रहणात् न तद्दानमित्यपि ज्ञेयम् ॥३०॥

योजना

प्रावृट्श्रियमित्यस्य विवरणे **आत्मनो यावत्यः शक्तय** इति. इह **शक्ति**पदेन परोक्षरीत्या व्रजस्त्रीरत्नान्येव ग्राह्याणि, "पुरुषः शक्तिभिर्यथे"ति शक्तिदृष्टान्तेन तासां भगवच्छक्तिरूपतायाः श्रीशुकैरुक्तत्वात्. अत एवाग्रिमेऽष्टादशाध्याये "अत्रापि पूर्ववदाधिदैविकीभिः शक्तिभिर्लीला वक्तव्ये"ति वक्ष्यन्ति. "पूर्ववद्" वर्षर्तुवद् इत्यर्थः ॥३१॥

---

१. 'भार'. २. 'मुदा'.

एवं निवसतोस्तस्मिन् रामकेशवयोर्व्रजे ।
शरत् समभवद् व्यभ्रा स्वच्छाम्ब्वपरुषानिला ॥३२॥

एवं लीलां कुर्वाणयो**स्तस्मिन्नेव** वने **निवसतो रामकेशवयोः** सतोर्व्रजे च **निवसतोः शरत् समभवत्.** वर्षासु भगवान् रेम इति ज्ञात्वा शरदपि समागता, मय्यपि रंस्यत इति. तस्या वर्षातो वैलक्षण्यमाह **व्यभ्रेति.** वर्षाया[1] गुणत्रयमुक्तं "मेघा विद्युत् स्तनयित्नव" इति तथास्या अपि गुणत्रयमाद्याभ्राभावो जलगतमलनिवृत्तिर्वायोः परुषस्पर्शनिवृत्तिश्चेति. अनेन तदपेक्षया अस्या उत्तमत्वमुच्यते– सा हि प्रवृत्तिधर्मरूपेयं निवृत्तिधर्मरूपा, उपर्याकाशनैर्मल्यमधो जलनैर्मल्यं परितो वायुनैर्मल्यमिति. यथा प्रवृत्तावुत्पत्तिर्मुख्या तदपेक्षयोत्पत्त्या नैर्मल्यं मुख्यं; भूम्यपेक्षया[2] जलं महत् परिध्यपेक्षया च वायुः. अत एवास्यां भगवान् रतिं करिष्यतीति, स्त्रीणामानन्दस्तत्र प्रतिष्ठित इति ॥३२॥

टिप्पणी

शरद्वर्णने **सा हि प्रवृत्तिरूपेत्यादि.** प्रवृत्तौ मालिन्यं निवृत्तौ नैर्मल्यं भवतीत्येतद्धर्मसाम्यादेवमुक्तम्. व्रजेपि लीलारूपेष्वेव गोचारणकृष्यादिषु सक्ताः केचन भक्ताः, सर्वनिवृत्तिपूर्वकं स्वरूपमात्रपराः केचन. तथा च विशेषतस्तत्तदुपयोगित्वेनापि तथात्वमभिप्रेतम्. तेनात्र प्रवृत्तिनिवृत्ती लीलारूपे ज्ञेये ॥३२॥

प्रकाशः

एवं निवसतोरित्यनेनेति वर्षाविलक्षणगुणत्रयकथनेन. तदुपपादयन्ति **सा हि प्रवृत्तिधर्मरूपेत्यादि.** एतद्रूपत्वं टिप्पण्यां स्फुटीकुर्वन्ति **प्रवृत्तावित्यादि. तथात्वमिति** प्रवृत्तिनिवृत्तिरूपत्वम्. सुबोधिन्या**मुत्पत्तिर्मुख्येति,** भूमिगुणरूपा सर्वजीवोत्पत्तिर्वर्षासु लीलोपयोगिनी. **उत्पत्त्या नैर्मल्यमिति,** स्वभावत आकाशनैर्मल्यं शरदि लीलोपयोगि. **जलं महदिति,** क्रीडोपयोगित्वात् महत्. **परिध्यपेक्षयेति–** परिधिविद्योतने दृष्टिसुखमात्रं वायुनैर्मल्ये तु स्पर्शसुखमपीति

लेखः

एवं निवसतोरित्यत्र वर्षास्विति– "वर्षा ऋतूनामि"त्यादिवाक्येभ्यो बहुत्वं प्रमाणसिद्धमिति भावः. **उत्पत्तिर्मुख्येति.** विस्फूर्जनस्य रजोरूपत्वं पूर्वमुक्तमतो विस्फूर्जनस्योत्पत्तित्वं, "सर्वसत्त्वे"त्यनेन पूर्वं[3] भूमिरुक्तेति ज्ञेयम्. **अत एवेति** उत्तमत्वादेवेत्यर्थः. उत्तमत्वाद् रतिकरणमतः स्त्र्यानन्दप्रतिष्ठा ॥३२॥

१. 'याम्. २. च. ३. भा. १०।१७।३.

शुद्ध्यर्थमस्याः प्रवृत्तिरिति षोडशकलासहितजीवस्य [1]सप्तदशात्मकस्य शुद्धिरुच्यते–

जलानां सर्वभूतानामभ्राणां ज्ञानिनां तथा ।
कुटुम्बिनां दरिद्राणां विरक्तानां विमुक्तिनाम् ॥(१०)॥
योगिनां गोपिकानाञ्च शरत्सम्बन्धतो[2] हरिः ।
दशदोषान् निवार्याथ चित्तस्यापि निवार्य च ॥(११)॥

टिप्पणी

कारिकाप्रतिश्लोकार्थोक्तौ **जलानामित्यारभ्य गोपिकानामित्यन्तेन** [3]दशवाक्यानामर्थमुक्त्वा**प्यचित्तस्यापीत्यनेनै**कस्यार्थमुक्त्वाग्रिमवाक्यानामर्था 'भग'शब्दार्था इति **सर्वानशोभयदित्यनेनो**क्त्वा गुणरूपत्वेनैव चन्द्रादयो निरूपिता इत्याहु**श्चन्द्रमानवा** इत्यादिना (१०-१२).

प्रकाशः

क्रीडोपयोगित्वात् तथेत्यर्थः. अत्र गमकमाहु**रत एवेत्यादि.** त्रिविधनैर्मल्येन क्रीडोपयोगित्वादेव **भगवानित्यादिनो**क्तं सेत्स्यतीत्येतदेव तद्गमकमित्यर्थः॥३२॥

जलानामित्यादिकारिकासु श्लोकान् विभज्य तात्पर्यं टिप्पण्यामाहुः **प्रतिश्लोकेत्यादि. गुणरूपत्वेनेति** भगवद्गुणरूपत्वेन. सुबोधिन्यां कारिकासु **विमुक्तिनामिति,** विमुक्तमस्यास्तीति विमुक्ती तेषाम्. **कार्यमेतावदिति** शुद्धिलक्षणम्. तत्र

योजना

शरत् समभवद् व्यभ्रेत्यस्य व्याकृतौ **अत एव अस्यां भगवान् रतिमिति,** साधनसिद्धव्रजसुन्दरीणां फलप्रकरणोक्तां फलरूपां रासक्रीडादिरूपां रतिमित्यर्थः. सामान्यतो रतिस्त्वत्राप्यस्तीति भावः ॥३२॥

जलानां सर्वभूतानामित्यादिकारिकासु जलादयो गोपिकान्ता दशोक्तास्ते "शरदा नीरजोत्पत्त्ये"त्यारभ्य "मुकुन्दो व्रजयोषितामि"त्यन्तानां दशानां श्लोकानामर्था उक्ताः. **चित्तस्यापि निवार्य चेति** "खमशोभते"त्यस्यार्थः, "सत्त्व-

कारिकार्थः

शरदा नीरजोत्पत्त्येत्यस्याभासे जलानामित्यादि. जलानामित्यारभ्य **गोपिकानामित्यन्तेन** दशवाक्यानां प्रत्येकमर्था उक्ताः. **चित्तस्यापीत्यनेन** "सत्त्वयुक्तं यथा चित्तमि"त्यस्यार्थ उक्तः. "अखण्डमण्डलो व्योम्नी"त्यादीनाम-

१. 'दशधा'. २. 'न्धि'. ३. दशवाक्यानामर्थमुक्त्वाथ मू. पाः.

सर्वानशोभयद् देवः षड्गुणैश्चन्द्रमानवाः ।
गावः पद्मानि भूमिश्च वर्णाश्चैव विभाविताः ॥(१२)॥
शरदः कार्यमेतावद् भगवानविशद् यतः ॥

तत्र प्रथमं जलानां दोषं निवर्तितवतीत्याह **शरदे**ति.

शरदा नीरजोत्पत्त्या नीराणि प्रकृतिं ययुः ।
भ्रष्टानामिव चेतांसि पुनर्योगनिषेवया ॥३३॥

अद्भिः सर्वशुद्धिस्ताश्चेत् निर्मलास्तदा सर्वमेव शुद्धं भवेत्. शुद्धौ प्रकार उच्यते **शरदे**ति. कमलोत्पत्तिः शरदैव. निर्गतं रजो यस्मादिति **नीरजं**; सर्वमेव जलरजो भौतिकं भूमौ विलाप्याध्यात्मिकं स्वरूपभूतं कृत्वाधिदैविकं शुद्धं मकरन्दात्मकं स्वस्मिन् कृत्वा सर्वमेव रजो[१] दूरीकरोत्यतो **नीरजमि**त्युच्यते. तानि चेदुत्पन्नानि तदा दोषस्य निवृत्तत्वा**न्नीराणि प्रकृतिं ययुः.** नीरे जातानीत्यपि व्युत्पत्तिरतः पुत्रे जाते स्वयमपर्णो भवति तदा प्रकृतिं प्राप्नोत्यन्यथा ऋणेन पीडित एव स्यात्. न केवलमेतद् भौतिकदोषनिवृत्त्यर्थं [२]शरदेवं करोति किन्तु भगव-

प्रकाशः

हेतु**र्भगवा**नित्यादि (१०-१२).

लेखः

तदाऽशुद्धिसम्भावनया शुद्धिर्बोधनीयेत्यतः सङ्क्षातात्पर्येण सा बोधितेत्यर्थः. **प्रवृत्तिरि**ति वक्तव्येति शेषः. **षोडशे**ति मनसः षोडशकलत्वात् तत्सहितस्येत्यर्थः. कारिकान्ते **एतावदि**ति, भगवत्कृता सर्वशोभेत्यर्थः. तत्र शरदः प्रयोजकत्वात् तत्कार्यत्वम् (१०-१२).

योजना

युक्तं यथा चित्तमि"तिवाक्यात्. "अखण्डमण्डल" इत्यादिषु षट्सु श्लोकेषु ऐश्वर्यादयो गुणा वर्ण्यन्त इति षट्श्लोकसङ्क्षतात्पर्यमुक्तम् (१०-१२).

कारिकार्थः

ग्रिमवाक्यानामर्था 'भग'शब्दार्था इति **सर्वानशोभयदि**त्यनेनोक्ताः. ऐश्वर्यादिगुणरूपत्वेनैव चन्द्रादयो निरूपिता इत्याहु**श्चन्द्रमानवा** इत्यादिना. तथा च कृष्णः **षड्गुणैः सर्वानशोभयदि**ति योजना. ते के इत्याकाङ्क्षायां षड्गुणरूपाश्चन्द्रमानवादय उक्ताः. एवं सप्तदशश्लोकानामर्था उक्ताः (१०-१२).

१. लुप्तम्. २. 'देव.

क्रीडार्थमन्तरपि हृदयकमलविकासेन हृदयं गुणातीतं भवति. तत्र शरद् योगमुत्पादयन्ती तथा करोतीति योगो दृष्टान्तत्वेनोच्यते. अथ वा शनैः शनैः शुद्धिर्योगे भवतीति तदर्थं दृष्टान्तः. तदाह **भ्रष्टानामिव चेतांसीति, भ्रष्टा** योगभ्रष्टास्तेषां **चेतांस्य**पि भ्रष्टानि भवन्ति, तानि **पुनर्योगसेवया** वृत्तिरूपस्य रजसो निरोधं प्राप्नुवन्ति ॥३३॥

एवं [१]सर्वशुद्धिहेतुभूतस्यान्तःकरणस्य जलस्य च शुद्धिमुपपाद्य महाभूतानां शुद्धिं कथयन्नाश्रमाणां शुद्धिप्रकारमाह. महाभूतानि चेच्छुद्धानि तदा देहः शुद्धो [२]भवेदाश्रमशुद्ध्या धर्मः शुद्धः. तदर्थमाह **व्योम्नोब्दमि**ति.

प्रकाशः

शरदेत्यत्र **नीरज**पदव्युत्पत्तौ सकारलोप"श्वक्षोः सूर्य" इतिवद् बोध्यश्छन्दस्त्वात्. **अन्तरपी**त्यध्यात्मम्. अन्तःप्रकृतिभावप्रापणं व्युत्पादयन्ति **हृदये**त्यादि. तथा च दृष्टान्ते हृदयकमलस्य भगवद्गुणेन विकासे "मन्निष्ठं निर्गुणं स्मृतमि"तिवाक्यात् सर्वात्मभावे हृदयं गुणातीतं भवतीत्यर्थः. नन्वध्यात्ममेवङ्करणं कथं गम्यत इत्यत आहु**स्तत्रे**त्यादि. तथा च जले कमल**योगमुत्पादयन्ती तथा करोती**त्यध्यात्मं 'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधो'ऽत्र दृष्टान्तीक्रियतेऽतो दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकबलात् तथा गम्यत इत्यर्थः. अस्मिन् पक्षे **भ्रष्टानामि**ति पदस्यानन्वयात् पक्षान्तरमाहु**रथ वे**त्यादि. **वृत्तिरूपरजस** इति, चेतोवृत्तिरूपस्य वैकल्पिकज्ञानस्य ॥३३॥

व्योम्नोब्दमित्यत्र यथा पूर्वपद्ये शोधकद्वयमुक्तं तथात्र तच्छोध्यद्वयमेकत्रोच्यत इत्याशयेनाहु**र्महाभूतानामि**त्यादि. **मेघा एव मलरूपा** इति, निर्मेघ

लेखः

शरदेत्यत्र दृष्टान्ते **नीरज**स्वरूपमाहुः **हृदयकमले**ति. **गुणातीतमि**ति चित्तरूपमित्यर्थः. तथा च यथा **नीरजोत्पत्त्या** हृदयकमलविकासेन **चेतांसि प्रकृतिं** स्वरूपं चेतस्त्वं यान्तीत्यर्थः. अत्र शरदस्तथाहेतुत्वं नायातीत्यरुच्या पक्षान्तरमाहु**रथ वे**ति. तथा च शनैः शुद्धिमात्रे दृष्टान्तः. **तदाहे**ति तत्पक्षद्वयाद्धेतोराह, उत्तरार्धमिति शेषः. प्रथमपक्षमाश्रित्य जलान्तःकरणयोः शरत्कृतां शुद्धिमुपसंहरन्ति **एवमि**ति, द्वितीयपक्षमाश्रित्य कारिकासु **जलानामि**त्येवोक्तम् ॥३३॥

१. लुप्तम्. २. 'त्म'.

व्योम्नोब्दं भूतशाबल्यं भुवः पङ्कमपां मलम् ।
शरद् जहाराश्रमिणां[1] कृष्णे भक्तिर्यथाऽशुभम् ॥३४॥

व्योम्न आकाशस्य मेघा एव मलरूपाः **भूतशबलता**ग्निवाय्वोर्मलं, स्पर्शार्थ क्षुदर्थे[2] तत्सम्भवाद्. **भुवः पङ्क** एव **मलमपामपि पङ्क** एवेति. एवं पञ्चमहाभूतानां **शरद् जहार.** इयं च **शरदाश्रमाणामपि मलं** दूरीकरोति, वर्षासु स्वधर्मस्य निरुद्धत्वात् न्यासिनामेकत्रान्नभोजनेन दोषोत्पत्तिसम्भवाद् ब्रह्मचारिणो गुरुसेवायां सङ्कोचसम्भवाद् गृहस्थस्य कालाज्ञानात् कर्मलोपसम्भवाद् [3]वनस्थस्य च सङ्ग्रहादिना दोषसम्भवात्. तत् सर्व निवर्तयति शरत्. तस्या भगवत्सान्निध्यादाधिदैविकवद् दोषनिवर्तकत्वं जातमिति दृष्टान्तेनाह **कृष्णे भक्तिर्यथेति**. भक्तिश्च हृदयाकाशशोकं दूरीकरोति, नेत्रजलजननादब्दो. **भूतानां शबलता** त्रिविधजीवानां किर्मीरितत्वं भक्तिर्दूरीकरोति. तस्य प्रवर्तक आसन्यो वाग्निर्वेत्येको दूरीकरोत्यपरो ज्वालयति.

टिप्पणी

महाभूतशुद्ध्युक्तिप्रस्तावे तन्मध्यपातित्वेन द्वितीयेपि श्लोके **अपां मलमि**त्युक्तमन्यथा पौनरुक्त्यं स्यादित्याशयेनाहुः **एवं पञ्चमहाभूतानामिति** ॥३४॥

प्रकाशः

आकाश "निर्मलमाकाशमि"तिप्रयोगात् ते तथा. भूतावकाशदातृत्वरूपव्योमकार्यप्रतिरोधकत्वात् तथा. अत्र **मलपदमब्दादिषु** चतुर्षु विशेषणत्वेनान्वेति. मलत्वं च विविक्ततत्कार्यप्रतिरोधकत्वं न तु स्वसजातीयासारांशत्वमिति बोध्यम्. व्योमादित्रयस्य कण्ठोक्तत्वाद् **भूतशाबल्यपदे भूत**पदमग्निवायू सङ्गृह्णत् तच्छाबल्यस्यैव तन्मलत्वं बोधयतीति तदुपपादयन्ति **स्पर्शार्थमि**त्यादि. बहिःशुष्कस्य स्पर्शार्थं वर्षाकालेऽग्निवाय्वोः साक्षादपेक्षितत्वेन वर्षासु वातकोपेन क्षुदभावे तदर्थमग्निजनकौषधादेरपेक्षितत्वेनान्तरपि तच्छाबल्यस्य सम्भवात्. **एवं** पञ्चेत्यादेस्तात्पर्यं टिप्पण्यामाहुर्**महाभूतेत्यादि**. सुबोधिन्यामध्यात्ममाश्रमाशुभहरणेपि शरदन्वयोस्तीत्यभिप्रायेणाहुरि**यं चेत्यादि**. ननु शरद्दृष्टान्ते भूताश्रमयोर्दोषहरणं कथं तयोराध्यात्मिकत्वादित्याकाङ्क्षायां तदुपपादयन्ति **भक्तिश्चे**त्यादि. "कोन्योर्थोस्यावशिष्यत" इत्यादिवाक्याद् भक्तिस्तथा. **अब्द** इति शोक इति शेषः. **त्रिविधजीवानां किर्मीरितत्वमिति** देवमनुष्यासुराणां सात्त्विकराजसतामसानां परस्परसङ्गः. ननु स्वभावभेदे विद्यमाने कथं स; भक्त्या च कथं तन्निवृत्तिरित्यत आहु**स्तस्ये**त्यादि. आसन्यो हीन्द्रियबलजननेन लौकिककार्ये प्रवर्तकोऽग्निश्च वागधिष्ठाता तत्प्रेरणेन सङ्गजनकोऽतः सङ्गस्य तत्कृतत्वात् तद्दोषत्वम्. जातायां तु भक्तौ स एव लौकिके कार्ये बलं न जनयति प्रत्युत तत्सङ्गं दूरीकरोत्यग्निश्च तादृशसङ्गार्थं न वाचं प्रेरयति प्रत्युत तद्विरुद्धं वादयन् ज्वालयती-

लेखः

व्योम्नोब्दमित्यत्र स्पर्शार्थमिति कामार्थमित्यर्थः. कामोऽग्निमलं, क्षुधः प्राणधर्मत्वात् क्षुद् वायुमलम्; उभयार्थं भूतानां प्राणिनामन्योन्यं शबलता भवतीत्यर्थः. **इयं चेति चकारा**दाधिभौतिकी, पूर्वार्धोक्तभूतशाबल्यहरणं त्वाध्यात्मिक्या एवेति भावः, "स्थास्यामश्चतुरो मासानि"ति प्रतिज्ञायाषाढ्यामेव स्थितेः. प्रथमं न्यासिनामेव धर्मविरोधं प्रावृट् सम्पादयतीति प्रथमं तानेवाहु**र्न्यासिनामि**ति. **आधिदैविकवदि**ति तत्सदृशीयं, न त्वियमाधिदैविकीति ज्ञेयम्. **शोकं दूरीकरोतीति** "केवलभावलभ्यरसस्यैव तन्निवर्तकत्वादि"ति प्रभूक्तमनुसन्धेयम्. **त्रिविधेति**, सत्त्वरजस्तमोभेदेन त्रिविधानां **जीवानां किर्मीरितत्वं दूरीकरोति** गुणातीतत्वं सम्पादयतीत्यर्थः. एतद्दूरीकरणस्य वाय्वग्निमलनिवृत्तिरूपत्वं विशदयन्ति **तस्येति**, किर्मीरितत्वस्येत्यर्थः. ब्रह्मवादे भगवतः सकाशाद् विमुक्तो जीव आनन्दार्थं यतमान आसन्यमाश्रितः सत्त्वादिभावान् प्राप्य प्रपञ्चे रममाणो जात इति निरूपितं, साङ्ख्ये कामाग्निना प्रकृतिमुपगूहमानस्तद्गुणानुरक्तो जात इति निरूपितम्. तथा च मतभेदेन किर्मीरितत्वं वाय्वग्न्योर्मलं तद्दूरीकर्तृत्वं भक्तेः. **एक** इति, भक्तौ जातायामासन्य इन्द्रियाणां देवतात्वं सम्पाद्य जीवस्य सगुणत्वं **दूरीकरोति,** कामश्चान्तर्गृहगतानामिव प्राकृतत्वं **ज्वालयति** देहान्तरमिव

योजना

व्योम्नोब्दमित्यस्य व्याख्यायां **जीवानां किर्मीरितत्वं भक्तिर्दूरीकरोतीति**. **किर्मीरितत्वं** सत्त्वादिगुणवैशिष्ट्यं भक्तिर्नाशयति, "तं भजन् निर्गुणो भवेदि"तिवाक्यात् नैर्गुण्यं सम्पादयतीत्यर्थः. **तस्य प्रवर्तक** इति, **तस्य** भक्तस्य नैर्गुण्ये **प्रवर्तक आसन्य** इन्द्रियाणां देवतात्वं सम्पाद्य ब्रह्मभावयोग्यतामापादयति, **अग्निर्वेति** ज्ञानाग्निरित्यर्थः. **एको दूरीकरोतीति** आसन्यः दोषं दूरीकरोति, **अपरो**

१. °राशु नृणाम्. २. °र्थं, र्थश्च. ३. वानप्रस्थ°.

भुवः पङ्कमपि प्रसाददानाद् दूरीकरोति. भक्त्या भावितौ चरणौ भक्तानां हृदये [1]स्नेहेनार्द्रौ जलार्द्रतां दूरीकुरुतः. तावेव हि भूः, अपां सर्वासामेव मलं भक्तो

प्रकाशः

त्यतो भगवत्कृपया जाताया भक्तेः सहायभूतावेताविति तथेत्यर्थः. **भुवः पङ्कमिति** हृदयभुवः कामादिविकारं; प्रसादस्य तन्नाशकत्वं च "त्वयोपभुक्तस्रग्गन्ध" इत्यादौ सिद्धम्. ननु हृदयभुवो भौतिकत्वेन जलस्यापि सत्त्वात् तन्नाशाभावेऽवस्थाविशेषादिजनितपङ्कनाशेपि पुनः पङ्कः स्यादित्यत आहु**र्भक्त्ये**त्यादि. **जलार्द्रतामिति** शोकादिजन्यजलार्द्रताम्. तत्रोपपत्तिमाहु**स्तावेव हि भूरि**त्याधिदैविकभूरूपौ, वैश्वानरविद्यायां "पृथिव्येव पादावि"तिश्रुतेः. तथा च तयोः स्वाधिभौतिके पङ्कनिवर्तनमावश्यकमतो मृदाधिक्ये जलाभाववत् ताभ्यामेव तदार्द्रतानिवृत्तिरित्यर्थः. नन्वेवमाध्यात्मिकभूतशोधकत्वमेवायाति न त्वाधिभौतिकभूतशोधकत्वमित्या-

लेखः

सम्पादयतीत्यर्थः. भक्तिकृतां भूमलनिवृत्तिं विवृण्वन्ति **भक्त्येति**, तया **भाविता चरणौ स्नेहार्द्रौ** भवतस्तदा स्वस्मिन् स्थितं गङ्गाजलार्द्रतारूपं पङ्कं स्वस्मात् **दूरीकुरुतो** भक्ते स्थापयत इत्यर्थः. स्नेहस्य चिक्कणत्वाद् तेनार्द्रयोर्जलार्द्रता न भवतीति लौकिको दृष्टान्तः. इदं च तदनन्तरभावित्वाद् भक्तिकार्यम्. **तावेव हीति** अलौकिकदेहसम्पादकरजसस्तत्र विद्यमानत्वात् तयोर्भूरूपत्वं युक्तमिति **हि**शब्दः. अपां मलनिवृत्तिं विवृण्वन्ति **अपामिति**, तीर्थरूपाणामपीत्यर्थः. **प्रसिद्धमेवेति**

योजना

ज्वालयतीति ज्ञानाग्निर्दोषं ज्वालयतीत्यर्थः. "भक्त्या मामभिजानाती"तिवाक्याद् भक्त्योत्पन्नज्ञानं सकलदोषं ज्वालयतीति भक्तेस्तत्र प्रयोजकता, अतो भक्तिरेव दोषं हरतीति सिद्धम्. **भुवः पङ्कमपीति– भुवः पङ्कं** दोषमपि भक्तिर्दूरीकरोतीत्यर्थः. अयं भावः– यत्र श्रवणादिरूपा भक्तिर्जायते भगवन्मन्दिरादौ तत्र सा भक्तिर्दोषं प्राकृतभावमपहरति, "मन्निकेतं तु निर्गुणमि"तिवाक्यात्. तदेतदुक्तं **प्रसाददानादिति**, तत्र भक्त्यधिकरणभूमौ सर्वेभ्यः प्रसादो भगवदनुग्रहः भगवता दीयते, अतः प्रसाददानात् भुवो दोषं प्राकृतत्वं भक्तिर्हरतीत्यर्थः. **जलार्द्रतां दूरीकुरुत** इति. अयमर्थः– भक्त्या चरणारविन्दयोर्भावने हृदये जायमानेन चरणारविन्दविषयक**स्नेहेनार्द्रौ** भगवच्चरणौ **जलार्द्रतां** शोकाश्रुजलसम्बन्धिनामार्द्रतां **दूरीकुरुत** इत्यर्थः.

१. स्नेहार्द्रौ.

दूरीकरोतीति प्रसिद्धमेव. ब्रह्मचर्ये च गुरवे जलदानमस्ति, भक्तिश्च तद् दूरीकरोत्यलौकिकदानसामर्थ्यात्. भूतैः सह शबलता गार्हस्थ्ये भवति, भक्त्या तन्निवृत्तिः स्पष्टैव. भूस्थानीयो वनवासस्तत्र मलधारणं धर्मः, भगवद्भक्तिस्तु

प्रकाशः

शङ्क्य भक्तेर्बहिर्जलदोषनिवर्तकत्वमप्याहु**रपामि**त्यादि. **प्रसिद्धमिति** "भवद्विधा महाभागास्तीर्थीभूताः स्वयं प्रभोः तीर्थीकुर्वन्ति तीर्थानि स्वान्तःस्थितगदाभृते"तिवाक्यात् प्रसिद्धम्. नन्वेवमप्शोधकत्वेपि कथमन्यभूतशोधकत्वमित्याकाङ्क्षायामाश्रमसम्बन्धि बहिर्भूतशोधकत्वमाहु**र्ब्रह्मे**त्यादि. **जलदानमस्ती**त्यके शाखिनो अग्निमधीयाना उपाध्यायस्योदकुम्भमाहरन्तीति शाबरभाष्ये "[1]विद्यायां धर्मशास्त्रमि"तिसूत्रेऽनुवादात्. **अलौकिकदानसामर्थ्या**दिति "पत्रं पुष्पमि"तिवाक्येन भगवत्प्रीतिजनकार्यदानसामर्थ्यात्. **तत्र मलधारणं धर्म** इति, "केशरोमनखश्मश्रुमलानि बिभृयाद् दतो न धावेदि"तिवाक्याद् धर्मस्तं च "दन्तकाष्ठमलादित्वाद्[2] यस्तु मामुपसर्पति सर्वकालकृतं कर्म तेनैकेन च नश्यती"त्यादिष्वपराधत्वकथनाद् भक्तिर्दूरीकरोति. **स्पष्टैवे**त्युपपादितत्वात् तथा. **अपां बहूदकादीनामिति**,

लेखः

"साधवो न्यासिनः शान्ता" इत्यादिवाक्येभ्य इति शेषः. **ब्रह्मचर्ये चे**ति भूतानां मलं निवर्तयति आश्रमिणामपि निवर्तयतीति तेष्वेव पदेष्वर्थान्तरसमुच्चयार्थ**श्च**कारः. आश्रमिणां मध्ये **व्योम्नो** ब्रह्मचर्य**स्याब्दं** जलदानं दूरीकरोतीत्यर्थः. ब्रह्मचर्ये व्योमवन्निर्लेपतास्तीति व्योमत्वम्. **अलौकिके**ति कथाप्रश्नेन वासुदेवं स्मारयतीत्यर्थः.

योजना

भक्तिश्च तद् दूरीकरोति अलौकिकजलदानसामर्थ्यादिति. अयं ब्रह्मचर्ये गुरवे जलदानमस्ति, जलं यो न ददाति स ऋणी भवतीति सामान्यव्यवस्था. भक्तस्तु भगवत्सेवां कुर्वाणो जलदानमकुर्वन्नपि न ऋणी भवति, "देवर्षिभूताप्तनृणां पितॄणां न किङ्करो नायमृणी च राजन्नि"तिवाक्यात्. अतो भक्तिस्तद् दूरीकरोति. ननु गुरवे चेद् जलदानं न कुर्यात् तदा फले न्यूनता स्यादित्याशङ्क्याहुः **अलौकिकदानसामर्थ्या**दिति. "सर्वं मद्भक्तियोगेन मद्भक्तो लभतेऽञ्जसे"तिवाक्याद् भक्तेरलौकिकदानसामर्थ्यात् फलन्यूनता न भवतीति फलपूरणाद् जलदानं हरति. अनेन "व्योम्नोब्दमि"त्यत्र यदब्दं शरद्धरतीत्युक्तं तदब्दं नाम जलदानं भक्तिरपि हरती-

१. जै. सू. २।४।१४. २. अयमुपन्यासः संवाद्यः.

भगवत्सेवार्थं तद् दूरीकरोति. **अपां** बहूदकादीनां **मलं** परिभ्रमणादिक्लेशं; भगवदायतने नित्यस्थितिसम्भवात्. किञ्च**अशुभं** पापमपि दूरीकरोति, [1]यदनिवार्यं तत्संस्कारार्थमुत्तरक्रिया ॥३४॥

एवमेषां दोषान् दूरीकृत्यात्रोत्पादकानां मेघानां दोषान् दूरीकृतवतीत्याह **सर्वस्वमिति**.

सर्वस्वं जलदा हित्वा विरेजुः शुभ्रवर्चसः ।
यथा त्यक्तेषणाः[2] शान्ता मुनयो मुक्तकिल्बिषाः ॥३५॥

प्रकाशः

कुटीचकस्य परिभ्रमणाभावादेवमुक्तमतस्तेषां क्लेशात्मकं पङ्कं सा दूरीकरोति. तथा चैवमाश्रमसम्बन्धि बहिर्भूतशोधकमिति न दृष्टान्ते कश्चिद् दोष इत्यर्थः. संन्यासिक्लेशस्य पङ्कत्वं क्लिष्टमतस्तन्निवृत्त्यर्थमाहुः **किञ्चेत्यादि**. **अनिवार्यमिति**, "केचित् केवलया भक्त्या वासुदेवपरायणाः अघं धुन्वन्ति कार्त्स्न्येन नीहारमिव भास्कर" इतिवाक्यादन्यथानिवार्यमप्यशुभाख्यं पङ्कं दूरीकरोति. नन्वेतत्कथनं किमर्थमत आहु**स्तदि**त्यादि, आश्रमसंस्कारार्थं पापनिवारणक्रिया. तथा चैतदर्थं तत्करणमित्यर्थः. यदिदं दृष्टान्तग्रन्थे व्याख्यातं तत् सर्व**मशुभ**पदेनैव मूले बोधितं ज्ञेयम्. **यद्वोत्तरक्रियेति** वक्ष्यमाणश्लोकोक्ता सर्वस्वदानक्रिया ॥३४॥

लेखः

बहूदकादीनामिति बहूदका आदयो येषां हंसनिष्क्रियाणामिति तद्गुणसंविज्ञानः. कुटीचकस्य तु परिभ्रमणं नास्तीति **बहूदकादीनामि**त्युक्तम्. **यत्संस्कारार्थमिति**, मशकार्थे धूम इतिवत् पापसंस्कारनिवृत्त्यर्थ**मुत्तरक्रिया** उत्तरकाण्डोक्तज्ञानसाधनानीत्यर्थः ॥३४॥

योजना

त्युक्तम्. एवं ब्रह्मचर्ये अब्दहरणं गार्हस्थ्ये भूतशाबल्यं हरति वानप्रस्थे भुवः पङ्कं सन्न्यासे अपां मलं हरतीति आश्रमिणां चतुर्णामपि अब्दादिदोषं यथाक्रमं भक्तिर्हरति. तथा च "व्योमाब्दं भूतशाबल्यं भुवः पङ्कमपां मलं शरद् जहाराश्रमिणां कृष्णे भक्तिर्यथाशुभमि"तिमूले शरत् व्योमाब्दं भूतानां शाबल्यं भुवः पङ्कम् अपां मलं यथेत्यन्वयः. कृष्णे भक्तिः **अशुभं** पापमपि दूरीकरोतीत्यादिना पृथगन्वयः. अत एव सुबोधिन्यां **किञ्च अशुभं पापमपि दूरीकरोती**त्यादिना पृथग्व्याख्यातम् ॥३४॥

---

१. यदि निवार्यम्. २. त्यक्तै°.

यथा मरणकाले न कोपि किञ्चित् नेतुं शक्नोत्येवं शरत्कालेपि मेघाः किञ्चित् स्थापयितुं न शक्ताः, सर्वस्वत्याग एव सर्वप्रायश्चित्तं स्वधर्मवदिति, स्वधर्ममाह **जलदा** इति, **हित्वा** ज्ञानपूर्वकं ततः **शुभ्रवर्चसो** भूत्वा **विरेजुः**. पापस्य हि रूपं नीलिमा पुण्यस्य शुक्लमतो मेघानां नीलं रूपं गतं शुभ्रं च जातं, तदाह [1]**शुभ्रे**ति— **शुभ्रं वर्चस्**तेजो येषामिति. न केवलं शुभ्रत्वमात्रेण सम्यक्त्वं, केशादिषु व्यभिचारादत आह **विरेजुरिति**— विशेषेण दीप्तियुक्ता जाताः. कालवशादेवैवम्भूता जाता इति तदा नापि रमणं नापि दीप्तिरित्याशङ्क्य दृष्टान्तेन तद्दोषनिवृत्तिपूर्वकं शाश्वतो दीप्तिमाह **यथे**ति. अन्तःकरणं हि चतुर्विधं, तत्र चतुर्विधोपि दोषश्चेद् गच्छति तदा, बहिस्त्यागादिना दीप्तिमान् भवति, तदभावे न शोभते. तत्र [2]चित्तस्यैषणात्रयं दोषो, बुद्धेर्घोरविमूढत्वं, मनसो बहिर्विषयत्वम्, अहङ्कारस्तु सन्निपातरूपो दोषात्मकएव. तदत्र क्रमेणैव तेषां निराकरणमाह **त्यक्ता ई(ए!)षणा** यैः. ईषणात्रयं— तत्र लोकेषणा द्विविधा भुवनजनभेदाद्, वित्तेषणा सर्वविषयरूपा अर्थेषणा नाम, दारेषणा पुत्रसहिता. अनेन धर्मार्थकामा उक्ताः. त्रिवर्गपरित्याग ईषणात्रयाभावः शान्तिः, सत्त्वादपि भवति, तथा सति गुणान्तरोद्भवे सा निवर्तते. अतः **शान्ताः** स्वरूपेणैव शुद्धसत्त्वरूपेण वा. "मनसैवैतदा(वेदमा!)प्तव्यमि"ति-श्रुतेः. आत्मप्रवणं मनो येषां ते **मुनयः**. **मुक्तं किल्बिषम**हङ्कारात्मकं यैः. एवं त्यक्त-

---

लेखः

सर्वस्वमित्यत्र शरत्कालेपीति मेघा अपीति योज्यम्. दृष्टान्तेनैतस्याः शरद आध्यात्मिकत्वं सूचितमित्याशयेनोत्तरार्धाभासमाहुः **कालवशादिति**. **बुद्धेरिति** "शान्तघोरविमूढत्वमि"[3]तिवाक्यादहङ्कारस्वरूपग्रहणमित्यर्थः. श्लोकान्ते शरन्नि-

योजना

सर्वस्वं जलदा हित्वेत्यस्य विवृतौ **चित्तस्य ईषणात्रयं दोष** इत्यादि. चित्तस्य दोषः ईषणात्रयं, बुद्धेर्दोषो घोरविमूढत्वं, मनसो दोषो बहिर्विषयत्वम्, अहङ्कारस्य सर्वाणि किल्बिषाणि; तेषां निवृत्तिर्विशेषणचतुष्टयेनोक्ता. तत्र **त्यक्तेषणा** इत्यनेन चित्तदोषनिवृत्तिरुक्ता, **शान्ता** इत्यनेन बुद्धिदोषनिवृत्तिः, **मुनय** इत्यनेन मननशीलतया बहिर्विषयाग्रहणात् मनोदोषनिवृत्तिः, **मुक्तकिल्बिषा** इत्यनेनाहङ्कारदोषनिवृत्तिः ॥३५॥

---

१. **शुभ्रवर्चस** इति. २. °स्ये°. ३. भा. ३।२६।२६.

दोषा बहिः सर्वपरित्यागेन शुद्धा अपि भवन्ति प्रकाशमानाश्च. एतच्छरदैव भवति भगवत्सहितया, अत एवाग्रे वक्ष्यति "सर्वाः शरत्काव्यकथारसाश्रया" इति ॥३५॥

एवं शरत्कृतां दोषनिवृत्तिमुक्त्वा गुणानाह **गिरयो मुमुचुरिति**.

गिरयो मुमुचुस्तोयं क्वचित् न मुमुचुः शिवम् ।
यथा ज्ञानामृतं काले ज्ञानिनो ददते न वा ॥३६॥

ज्ञानं हि गुणोन्तःसारेष्वेवेति. तच्च ज्ञानं शुद्धं सर्वदोषनाशकं, तदत्र जलं निरूपयन् दृष्टान्तेन निरूपयति. पर्वताः **क्वचित् तोयं मुमुचुः क्वचित् न** यत्र झरणादिमार्गो भवति तत्र [1]मुञ्चन्त्यन्तःस्थितं जलं न तु वर्षोद्भूतं तदाह **शिवमिति**, शान्तं शीतलं सुस्वादु, महतां ह्यन्तस्तापाभावात् न सूर्यादिनापि तेषां तापः शक्यते कर्तुम्. तेषामुभयरूपत्वं बुद्धिकृतमाहोस्वित् स्वाभाविकमिति विचिन्त्य स्वाभाविकत्वे शरदो न कापि प्रतिष्ठेति ज्ञानकृतत्वं वदन् शरदस्तत्र प्रयोजकतामाह **यथा ज्ञानामृतमिति**. **ज्ञानमेवामृतं** मरणनिवर्तकं **काले** शुद्धेवसरे पुरुषविशेषे स्वयं ज्ञानपूर्णा अपि देशकालाधिकारिणो दृष्ट्वा ज्ञानयोग्याश्चेदुत्तरत्र सम्प्रदायनिर्वाहका अमार्गरहिता विचार्यैव ज्ञानप्रदाश्चेत् तदा **ददते**ऽन्यथा तु **न ददत** इति—

विद्यया सहितो विद्वान् म्रियेतैवाविचारयन् ॥(१३)॥
न त्वयुक्ताय तद् दद्यात् कथञ्चिदिति निश्चयः ॥

शुद्धिः सर्वा शरत्कृतेति शरदः प्रयोजकत्वम् ॥३६॥

लेखः

ष्ठाध्यात्मिकत्वस्य स्वरूपमाहुः **भगवत्सहितयेति**. भगवत आत्मत्वात् तमधिकृत्य वर्तमानाध्यात्मिकीत्यर्थः. 'देव'पदस्य क्रीडाकर्तृवाचकत्वात् तमधिकृत्य वर्तमाना फलप्रकरणीयलीलाधिकरणभूताधिदैविकीति ज्ञेयम् ॥३५॥

योजना

गिरयो मुमुचुस्तोयमित्यत्र कारिका **विद्यया सहितो विद्वान् म्रियेतैवाविचारयन् न त्वयुक्ताय तद् दद्यादिति**. अयुक्ताय विद्यां न दद्यात् किन्तु म्रियेतैव. अयुक्ताय विद्यादानापेक्षया मरणमेव वरमिति भावः (१३).

कारिकार्थः

यथा ज्ञानामृतं काले इत्यत्र **विद्यया सहितो विद्वान् म्रियेतैवाविचारयन् न त्वयुक्ताय तद् दद्यात् कथञ्चिदिति निश्चयः**, असत्पात्राय विद्या न दातव्येत्यर्थः (१३).

१. लुप्तम्.

एवं शरदो ज्ञानोपयोगित्वमुक्त्वा वैराग्योपयोगित्वमाह **नैवाविदन्निति**.

नैवाविदन् क्षीयमाणं जलं गाधजलेचराः ।
यथायुरन्वहं क्षय्यं नरा मूढाः कुटुम्बिनः ॥३७॥

जलस्य क्षयकर्त्री शरद्, **जलं** च **गाधं** परिमितम्. जलचरा जल एव क्रियाशक्तियुक्ता भवन्ति, जले गते गता एव. तेन जलेन सह यद्यगाधे जले प्रविष्टा भवेयुस्तदा न कापि चिन्ता स्यात्. जलेपि स्थित्वा जलक्षयं न ज्ञातवन्तः, अत एव न प्रयत्नं कृतवन्तः. एतदपि स्वाभाविकं चेत् न शरदुपयोग इति शास्त्रीयत्वसमर्थनार्थं दृष्टान्तमाह **यथायुरिति**. आयुषा हि पुरुषार्थाः सम्पादनीयास्तच्चायुः परिमितम्. तादृशेनाल्पायुषा वृथा व्ययस्थानं गृहं परित्यज्य निर्भयं भगवच्चरणं चेद् गच्छेत् तदा न काचित् क्षतिराधिदैविकायुषः पूर्णस्य तत्र विद्यमानत्वात्. सर्वोपीष्टसाधने प्रवर्तत इति प्रवृत्त्यभावे ज्ञानाभाव एव हेतुः, अतोऽज्ञानं निन्दत **आयुः क्षीयमाणं न** विदुरिति. **क्षय्य**पदेन शक्यता निरूपिता, यद्ययमक्षयं कर्तुं वाञ्छति तदाक्षयमपि भवति. **आयुः** प्राणविशेष इति पूर्वमुक्तं,

प्रकाशः

नैवाविदन्नित्यत्र. नन्वायुर्जीवितकालस्तस्य क्षीयमाणत्वं कालोपाधिभिर्नियतं, तथा सति तस्य स्वकृत्या कथमक्षय्यत्वमित्याकाङ्क्षायामायुषः स्वरूपमाहु**रायुरि**त्यादि. "आयुः प्राण" इतिश्रुतेः स तथा. तथा च श्रुतावनेकमृत्युपक्षस्य तत्प्रतीकाराणां चोक्तत्वात् तत्करणे तस्याक्षय्यत्वं शास्त्रसिद्धमतस्तथेत्यर्थः ॥३७॥

लेखः

गिरयो मुमुचुरित्यत्र **निरूपयतीति** तज्ज्ञानं गिरिषु दृष्टान्तेन निरूपयतीत्यर्थः. **उभयरूपत्वमिति**, मोक्तृत्वममोक्तृत्वं च ज्ञानकृतं; यत्र भगवतो जलापेक्षा तत्र मुञ्चन्ति यत्र नापेक्षा तत्र न मुञ्चन्ति. एवं ज्ञानं त्वाध्यात्मिकशरदैव भवतीति भावः. **बुद्धिः सर्वे**ति ज्ञानमित्यर्थः; पूर्वोक्तभूतशुद्ध्या ज्ञानं भवतीति तच्छुद्धिद्वारा **बुद्धिः शरत्कृते**त्यर्थः. **शुद्धिरि**ति पाठे पूर्वोक्ता भूतशुद्धिरित्यर्थः ॥३६॥

नैवाविदन्नित्यत्र **गता एवे**ति नष्टा एव भवेयुरिति शेषः. **स्वाभाविकमि**ति लोकसिद्धानुवादरूपमित्यर्थः. **शरदुपयोग** इति आध्यात्मिक्या इत्यर्थः. **शास्त्रीयत्वे**ति तात्पर्यरीत्याऽत्रत्यकुटुम्बिस्वरूपबोधनार्थमित्यर्थः. अत्र दृष्टान्तसधर्मा जलेचरा एव न तु तादृशा नरा अत्रेति भावः. तथा च शास्त्रीयत्वं शास्त्रोक्तलीलासृष्टिस्वरूपबोधकत्वमित्यर्थः. सामान्योक्त्या वैराग्यमपि सिद्धं भवति ॥३७॥

"शतायुः पुरुष" इत्यपि, सर्वत्र मृत्यवोप्युक्ताः प्रतीकाराश्च. अत **आयुः क्षय्यमित्युक्तम्. अन्वहमिति** पश्चाज्ज्ञाने पश्चात्तापाभावाय. अज्ञाने हेतुत्रयं —**नरत्वं मूढत्वं कुटुम्बित्वं** च स्वभावतः शास्त्रतः सङ्गतश्चेति ज्ञानाभावो निरूपितः ॥३७॥

ननु क्वचिदज्ञानमपि सुखकरं भवति तथा नरत्वादयोप्यतो वैराग्याभाव ऐहिकं सुखं भविष्यतीत्याशङ्क्याह **गाधवारिचरा** इति.

गाधवारिचरास्तापमविन्दन् शरदर्कजम् ।
यथा दरिद्रः कृपणः कुटुम्ब्यविजितेन्द्रियः ॥३८॥

अल्पवारिचरा विद्यमानेपि जले शरदा कृत्वा खेदं प्राप्तवन्तः. अज्ञानं [1]तदैवोपयोगि यदि कालेन कर्मणा वा न पीड्यते. अतोत्र शरदा मेघा निवर्तिता इति जलशोषकस्य तापजनकस्य सूर्यस्य व्यवधायकाभावाद् जलतापे तप्ता भवन्ति. तत्रापि पूर्ववद् दोषपरिहारायाह **यथेति**. दोषचतुष्टयाभावे दुःखाभावः प्रत्येकसमुदायाभ्यां तारतम्येन. अन्तःकरणेन्द्रियशरीरविषयाः पुरुषस्य पोषकाः सुखदातारस्ते सर्वे स्वभावदोषसहिताः. तत्र दारिद्र्यं सर्वविषयनाशकं बहिर्मुखस्य दुःखदायि. कार्पण्यमन्तःकरणदोषो लोभात्मकः, दरिद्रोपि भूत्वाऽलुब्धो यदि भवति तदा न प्राप्नुयाद् दुःखम्. तत्राप्येकाकी चेत् न काचित् क्षतिः प्रत्युत **कुटुम्बी** — देहदोषोऽयम्. तथाभूतोपि यदि जितेन्द्रियः स्यात् न काचित् चिन्ता, न **विजितानि** विशेषे**णेन्द्रियाणि** येन ॥३८॥

प्रकाशः

गाधवारीत्यत्राभासे क्वचिदित्यादि. विषयभोगादौ विषयस्वरूपयाथात्म्याज्ञानमेव **सुखकरमित्य**ज्ञानहेतवो **नरत्वादयोपि तथेति** वैराग्याभावे तथेत्यर्थः. **पूर्ववदिति** वर्षावर्णन इव. तथा च व्रजे तापतप्ता गाधवारिचरा एव न तु दरिद्रादयस्तेषामेवाभावादित्यर्थः ॥३८॥

लेखः

गाधवारीत्यत्र न पीड्यते इति पुरुष इति शेषः ॥३८॥

योजना

गाधवारिचरा इत्यस्य व्याख्याने **अन्तःकरणेन्द्रियशरीरविषयाः पुरुषस्य पोषकाः सुखदातार** इति. एतैरस्वस्थैः प्राणी दुःखी भवति. तत्र **दरिद्र** इतिपदेन विषयाभाव उक्तः, **कृपण**पदेनान्तःकरणदोषः, **कुटुम्बि**पदेन शरीरदोषः, **अविजितेन्द्रिय**पदेनेन्द्रियदोषः. एवं चतुर्भिः दोषैः प्राणी तापं प्राप्नोति ॥३८॥

१. 'दे'.

एवं शरत्कृतं दोषत्रयमुक्त्वा गुणसहितं केवलान् गुणानाह **शनैः शनैरि**त्येकादशभिः.

शनैः शनैर्जहुः पङ्कं स्थलान्यामं च वीरुधः ।
यथाहम्ममतां धीराः शरीरादिष्वनात्मसु ॥३९॥

शनैः शनैः क्रमेणैव **स्थलानि पङ्कं जहुः** तामसाः स्वतामसदोषं जहुः. **वीरुधो** लतागुल्मादय **आमम**पक्वतां **जहुः. च**कारात् वृक्षा अपि सात्त्विका **आममेव जहुः**. पूर्ववदेवाह **यथाहम्ममतामिति**. ममता पङ्कस्थानीया, अहन्तामस्थानीया. अहन्ताममतात्यागे यद्यपि शास्त्रं हेतुस्तथापि धैर्याभावात् स्वाभाविकदोषेण पीडिताः शास्त्रीयं न मन्यन्तेऽतो धैर्यमेव हेतुत्वेनाह. महतां ममतैवान्येषामहन्ताप्यतो द्वयमप्यु-

प्रकाशः

शनैःशनैरित्यस्याभासे दोषत्रयमुक्त्वा गुणसहितमिति दोषत्रयं गुणसहितमुक्त्वेति सम्बन्धः. ज्ञानिनां कदाचिद् दातृत्वं कुटुम्बिदरिद्रयोरायुरज्ञानं तापश्चेति **दोषत्रयं** ज्ञानोपयोगित्वं वैराग्योपयोगित्वं च **गुणाविति** तत्सहितमित्यर्थः. **पूर्ववदेवाहेति** वर्षावर्णन इव गुणबोधनाय शास्त्रीयं दृष्टान्तमाहेत्यर्थः. ननु यद्येवं तदा **ज्ञानिन** इति वक्तव्यं न तु **धीरा** इत्याकाङ्क्षायां **धीर**पदतात्पर्यमाहुर**हन्तेत्यादि**. **स्वाभाविकदोषेणेति** गुणक्षोभेण सकार्येण. **शास्त्रीयमिति** ज्ञानरूपं साधनम्. **अत** इति धैर्यस्यावश्यकत्वात्. तथा चावश्यकत्वात् सहकारिणं **धैर्यमेव हेतुत्वेनाहे**त्यर्थः. **शरीरादिष्वित्यत्रादि**पदेनेन्द्रियप्राणान्तःकरणान्युच्यन्त इत्यहन्तात्याग एव वाच्य इत्युभयकथनस्य किं प्रयोजनमित्यतस्तत्तात्पर्यमाहु**र्महतामि**त्यादि. **अभेदतश्चेति**,

लेखः

शनैः शनैरित्यस्याभासे दोषत्रयमिति. विचार्य ज्ञानदानमप्यतिसुजनस्य न भवतीति सोपि दोष एवेत्यर्थः. अत्र तु गुण एवेत्याशयेनाहुः **गुणसहितमिति**.

योजना

ममता पङ्कस्थानीयेति, स्त्रीपुत्रादौ या ममता सा **पङ्कस्थानीया** शीघ्रं निवर्तितुं शक्येत्यर्थः. **अहन्ता आमस्थानीयेति**, शरीरादौ या अहन्ता सा आमस्थानीया चिरकालेन बहुभिरुपायैर्निवर्तितुं शक्येत्यर्थः. अत एव स्त्रीपुत्रादौ स्नेहं बहवस्त्यजन्ति, देहादौ तु स्नेहः केनचिदेव त्यज्यते इति तथा. **महतां ममतैवेति**, शास्त्राद्युत्पन्नज्ञानानां तु देहादौ नाहम्बुद्धिः, देहव्यतिरिक्तस्यात्मनो ज्ञानात्, किन्तु ममतैवेत्यर्थः. **अन्येषामहन्तापीति** ज्ञानरहितानां तु देहादावहम्बुद्धिरपीत्यर्थः. **अत**

त्क्रमभेदश्च. केचिदत्रात्मतादात्म्यमात्मसम्बन्धश्चाहु:. अहङ्कारो (ऽ!)ब्रह्मवादे नैयायिकादिसिद्धान्ते च नास्ति, तत्रात्मबुद्धिरेवेति. स्वयमात्मत्वमध्यस्यत इत्यपरे, तादात्म्यमित्यन्ये, सर्वथा त्याज्यमेव. गौणपक्षेपि त्यागमर्हति. करणपक्षे तु ममता कार्यार्थ इति न[१] त्याग:, अत एव **धीरा** इत्युक्तं न तु भक्ता:. **आदि**शब्देन पुत्रादय:,

प्रकाशः

वक्ष्यमाणरीत्या गौणात्मबुद्धित्वेनाभेदादेकपदोक्तिरित्यर्थ:. ननु तलो द्वन्द्वान्ते श्रूयमाणतायां भेदोपि सङ्गच्छत इति तदङ्गीकारे को दोष इत्यतस्तदुपपादनायाहन्ताममतयो: स्वरूपं विचारयन्ति **केचिदि**त्यादि. तथा च ते सम्बन्धविशेषाविति पदार्थान्तरम्. तत्र तादात्म्यस्याशक्यत्यागत्वादहन्तास्थले तन्मतमयुक्तमित्याशयेन स्वमतमाहु**रहङ्कार** इत्यादि. **तत्रात्मबुद्धिरि**ति गौणी शरीरादिष्वात्मबुद्धि:. मतान्तरमाहु**रात्मत्वमि**त्यादि. अतोऽहन्तास्वरूपं मतभेदेन नाना ममतास्वरूपं तु सर्वत्रात्मसम्बन्धिबुद्धित्वमेवेति बोध्यम्. अत्र यद्यप्यहन्तायां नाना मतान्युक्तानि तथापि बालस्य स्वशरीरेऽहम्बुद्धिदर्शनेन बाले च प्राचीनसंस्कारस्य नष्टतयाध्यासलक्षणस्य तत्राभावाच्छरीरात्मनोर्भेदेन तत्र तादात्म्यस्य वक्तुमशक्यत्वाच्चाध्यासादिविलक्षणा नटे रामादिबुद्धिवदियं त्यागानर्हा स्यादिति व्याख्येयग्रन्थविरोध इत्यत आहु: **सर्वथे**त्यादि. तथा च सानपकारित्वात् त्यागानर्हेयन्त्वपकारिणीत्यस्यास्त्यागो युज्यत इति न व्याख्येयविरोध इतिभाव:. नन्वत्रायं दृष्टान्तो न युक्तो, भक्तानां भगवति ममतादर्शनेन तस्याश्चाहन्तां विनासम्भवेन ममताद्वारा तस्या निरोधकरणत्वेनोपकारित्वादित्यत आहु: **करणपक्षे त्वि**त्यादि. त्यागाभावे गमक-

लेखः

केवलानिति दृष्टान्तेपि दोषरहितानित्यर्थ:. व्याख्याने **केचिदित्यारभ्याहुरि**त्यन्तम्, इदं द्वयमहन्तेत्यर्थ:. तत्र हेतुं वदन्त इदमेव विवृण्वन्ति **अहङ्कार** इति, यत: पदार्थान्तरं नास्त्यत इत्यर्थ:. साङ्ख्यमते एव तथेति भाव:. **केचित्**पदव्यावर्त्यं स्वमतमाहु: **तत्रे**ति. अहङ्कारस्य पदार्थान्तरत्वाभावेनात्मत्वेन ज्ञानमेवाहङ्कार इति वयं ब्रह्मवादिनो वदन्तीत्यर्थ:. पूर्वोक्त: सम्बन्धोऽध्यासलक्षण इत्याहु: **अध्यस्यत** इति. एते उभये **केचित्**पदेनोक्ता इतिज्ञेयम्. **गौणपक्षेपीति**, साङ्ख्यमते एवाहङ्कार: पदार्थान्तरं तत्पक्षेपीत्यर्थ:. **करणपक्षे त्विति** लीलासिद्ध्यर्थं ममता कर्तव्येतिपक्षे इत्यर्थ:. **वैदिके त्विति** "आत्मा वै पुत्रनामासि" "स पति: पत्नी चाभवतामि"त्यादिश्रुतिभ्य इत्यर्थ: ॥३९॥

१. लुप्तम्.

तेष्वप्यहन्ता[१] केषाञ्चिद्. वैदिके त्वहन्तैव पुत्रे भार्यायां च. शनैस्त्यागस्त्यक्तांशस्य पुनरग्रहणार्थम्. त्यागे भिन्नत्वं हेतुरिति तदुपपादय**त्यनात्मस्वि**ति ॥३९॥

एवं बहिर्दोषं परिहृत्य ततोऽन्तरङ्गदोषपरिहारार्थं समुद्रं निरूपयति **निश्चलाम्बुरि**ति.

निश्चलाम्बुरभूत् तूष्णीं समुद्रः शरदागमे ।
आत्मन्युपरते सम्यक् मुनिर्व्युपरतागमः ॥४०॥

पृथिव्यपेक्षया जलमुत्तमं जले च समुद्र:. तत्र चाञ्चल्यं दोषो, रज:सम्बन्धस्तत्र स्वभावत एव नास्ति. शब्दश्च दोषश्चलनेनैवोत्पद्यते, उभयमपि राजसं; तामसं पृथिव्यामेवोक्तं [२]च. तदुभयाभावमाह **निश्चलाम्बुरिति तूष्णीम्-**

प्रकाशः

माहु**रत एवे**त्यादि. तथा चाधिकारिभेदात् न दोष इति **धीर**पदमेव गमकमतो दृष्टान्तस्य नायुक्तत्वमित्यर्थ:. **नन्वादि**पदेन पुत्रादिग्रहणेऽहन्ताममतयोर्भेद एवायातीति तयो: कथमभेद इत्यत आहु**स्तेष्वि**त्यादि. **केषाञ्चिदि**ति प्राकृतानाम्. **वैदिके त्विति तुरप्यर्थो** ज्ञेय "आत्मा वै पुत्रनामासीरि"ति "तदेतदर्धवृगलमिवे"तिश्रुतिभ्यां तस्मादहन्ताममतयोरभेद एव ॥३९॥

निश्चलाम्बुरित्यत्र. जलदोषनिवृत्ते: पूर्वं "नीराणि प्रकृतिं ययुरि"-त्यत्रोक्तत्वात् पुनरुक्तिरापतेदिति प्रकृते विशेषमाहु**रन्तरङ्गे**त्यादि. **रज:सम्बन्ध**

लेखः

निश्चलाम्बुरित्यत्र **पृथिव्यामेवे**ति, उक्तं पङ्कमतारूपं राजसतामससमुभयमपि पृथिव्यामेव, अत्र तु चाञ्चल्यशब्दरूपं राजसतामससमुच्चयत इत्यर्थ:. वीरुधोपि पृथिव्येवे**त्येव**कार:. **तदुभयाभावमिति** चाञ्चल्यशब्दाभावमित्यर्थ:. **उपरताग-**

योजना

एव धीरा इत्युक्तं न तु भक्ता इति. भक्तानां तु भगवत्समर्पितपदार्थेषु ममता रक्षणीयैवेति ममताकरणपक्षो भक्तानामित्यर्थ:. धीराणां तु ममता त्याज्यैवेति न ममताकरणपक्ष: किन्तु ममतात्यागपक्ष एवेति भाव:. **वैदिके त्वहन्तैव पुत्रे भार्यायां चेति**– "आत्मा वै पुत्रनामासी"तिश्रुते: **पुत्रेऽहन्ता** "आत्मनो वा एष अर्धो यत् पत्नी"तिश्रुत्या **भार्यायामहन्ता वैदिके** मार्गे इत्यर्थ: ॥३९॥

१, २. लुप्तम्.

भूदिति. तत्र हेतुः **शरदेव**. पूर्ववद्[1] दृष्टान्तमाह– **आत्मन्य**न्तःकरणे **सम्यगुपरते** लयविक्षेपरहिते जाते[2] **मुनि**र्मननशील **उपरतागमो**पि भवति निवृत्तवेदार्थानुसन्धानो भवति, यतोयं **सम्यग् मुनि**र्निष्पन्नमनननिदिध्यासनसाधनः. **आगमः** शब्दश्चाञ्चल्याभाव **उपरतिः**. सात्त्विकस्तु तथा दोषो न भवतीति पृथिवीजले एव निरूपिते ॥४०॥

जलभेदान् निरूपयति **केदारेभ्य** इति.

केदारेभ्यस्त्वपोगृह्णन् [3]कर्षुका दृढसेतुभिः ।
यथा प्राणैः स्रवद् ज्ञानं तन्निरोधेन योगिनः ॥४१॥

केदारा धान्योत्पत्तिक्षेत्राणि विभक्तानि तेभ्यो निःसरन्ती**रपः कर्षुका**[4] **अगृह्णन्** गमनमार्गमुद्रणेन, तदाह **दृढसेतुभि**रिति. जलेन सर्वमार्द्रमिति जलगतिनिरोधार्थं दृढत्वमुक्तम्. अस्यापि गुणस्य स्वाभाविकत्वपरिहाराय दृष्टान्तमाह **यथे**ति. शरदि वृष्टिर्दुर्लभेति जलार्थिनां तन्निरोध उचितस्तथाप्यस्य फलसाधकत्वं साधनीयं, जलाभावे सर्वैव कृषिर्व्यर्था भवेदिति रक्षायां दार्ढ्यमपि निरूपणीयम्. प्राणादयो वायवो यदा बहिर्निःसरन्ति तदा ज्ञानसहिता एव निःसरन्ति, तथेन्द्रियाण्यपि. ज्ञानक्रियाशक्तियुक्तो हि भगवान् ज्ञानक्रिययोर्गतयोरपगच्छतीव;

प्रकाशः

इति रेणुसम्बन्ध इत्यर्थः. ननु व्रजाद् दूरस्थत्वेनात्र समुद्रनिरूपणं कुतस्तत्र लीलाभावादिति न शङ्कनीयमिह तत्र तदभावेपि द्वारकालीलायां तदुपयोगस्य वक्ष्यमाणत्वादत्र हि सार्वत्रिकीर्लीला अभिप्रेत्य तत्र तत्र निरूपणं क्वचिद् दृष्टान्तमुखेन व्यज्यते क्वचिद् दार्ष्टान्तिक उच्यत इति समुद्रनिरूपणस्यापि युक्तत्वादिति ॥४०॥

केदारेभ्य इत्यत्र. कथं न स्वाभाविक इत्यत आहुः **शरदि वृष्टिरि**त्यादि. तर्हि दृष्टान्तस्य किं प्रयोजनमत आहु**स्तथापी**त्यादि **निरूपणीय** इत्यन्तम्. तथा चैतदर्थं दृष्टान्त इत्यर्थः. **इन्द्रियाणी**ति, **प्राण**शब्दस्यैवेदं श्रौतमर्थान्तरम्. किं ज्ञानस्रावेणे-

लेखः

मोपीति. **मुनि**पदेन चाञ्चल्याभाव उक्त इत्**यपि**शब्दः ॥४०॥

केदारेभ्य इत्यत्र **तथापी**ति– उचितत्वात् स्वाभाविकत्वं सम्भवति **तथाप्यस्य** व्रजस्थकर्षुककृतग्रहणस्य भगवत्सम्बन्धि**फलसाधकत्वं साधनीयम्**, अतो दृष्टान्त उक्त इति शेषः. **प्राकट्यं त्वि**ति, बहिर्दृष्टावन्तःप्राकट्यं निवर्तत इत्यर्थः ॥४१॥

१. लुप्तम्. २. लुप्तम्. ३. कर्ष°. ४. कर्ष°.

प्राकट्यं तु निवर्तत एव. ज्ञानं हि प्रकटमुच्यते शास्त्रतो जातं, "स्रवतीन्द्रियलौल्येन ज्ञानं चैवावकीर्यत" इतिवाक्यात्. ज्ञानार्थमेव हि योगशास्त्रं प्रवृत्तं,

ऊर्ध्वेन्द्रियैस्तु विक्षेपो ज्ञानस्याधो विनाशनम् ॥(१४)॥
निरोधे पुञ्जभावेन स्वकार्यं साधयेद् ध्रुवम् ॥

प्राणेन्द्रिय**निरोधेन स्रवद् ज्ञानमगृह्णन्**, तत्र योगमार्गा दृढसेतव इति. **केदारेभ्य** इति चतुर्थी, तुशब्दोऽग्रहणेपि सिद्धिं व्यावर्तयति. अतः साधनदशायां योगो नित्यः, आसनप्राणायामादिस्थैर्ये ज्ञानं नावकीर्यत एव. योगः शरदि सिध्यतीति च शुद्धिद्वारा च हेतुः ॥४१॥

एवमाधिभौतिकीमाध्यात्मिकीं च जलस्य शुद्धिमुक्त्वाधिदैविकप्रकारेण शुद्धिमाह **शरदर्कांशुजा**निति.

शरदर्कांशुजांस्तापान् भूतानामुडुपोहरत् ।
देहाभिमानजं तापं मुकुन्दो व्रजयोषिताम् ॥४२॥

शरत्कालीनो योऽर्कः सोऽत्यन्तं खरस्तस्यांशवोपि तथा. तज्जनिता**स्तापा** ज्वराद्युत्पादकत्वेनापि खराः, अतस्तापेषु बहुवचनम्. **भूतानां** जातानां; चन्द्रो हि जलाधिपतिर्जलप्रकृतिकस्तदात्मिकानि च भूतान्यतस्तत्तापनिवारकत्वं तस्य

प्रकाशः

त्यत आहु**र्ज्ञानक्रिये**त्यादि. कथमपगच्छतीवेत्यत आहुः **प्राकट्यमि**त्यादि. ननु मूले प्राकट्यनिवृत्तिर्नोक्तेति कथमेवमुच्यत इत्यत आहु**र्ज्ञानं ही**त्यादि वस्तुतस्तु स्रावमुखेन प्राकट्यनिवृत्तिरप्युच्यत इत्यर्थः. तत्र युक्ति**स्तदा ज्ञानशक्ती**त्यादिनोक्तैवेति भावः. **इति चतुर्थी**ति, तथा च केदारार्थमित्यर्थः ॥४१॥

शरदर्कांशिवत्यस्याभास **आध्यात्मिकीमि**"त्यापोमयः प्राण" इतिश्रुतेस्तथा. **शुद्धिमाहे**ति स्वकार्यक्षमत्वरूपां शुद्धिमाहेत्यर्थः. **उभयत्रापी**ति तापे निवृत्तौ

कारिकार्थः

केदारेभ्यस्त्वपो गृह्णन्नित्यत्र **ऊर्ध्वेन्द्रियैरि**ति. इन्द्रियाणि यदा बहिर्निःसरन्ति तदा ज्ञानसहितानि निःसरन्ति. तथा च **ऊर्ध्वेन्द्रियै**र्योगशास्त्रानुसारेणानिरुद्धैरिन्द्रियै**र्ज्ञानस्याधो विनाशनं** भवति, सच्छिद्रघटाद् जलस्येवेत्यर्थः. **निरोधे पुञ्जभावे**नेत्यादि, सतीन्द्रिय**निरोधे** ज्ञानस्य स्रवणाभावात् **पुञ्जभावेन** सञ्चयेन **स्वकार्यं साधये**दित्यर्थः (१४).

युक्तम्. **उडुप** इति नक्षत्रद्वारापि तापहारकत्वमुक्तम्. उभयत्रपि शरदो हेतुत्वं, पूर्ववद् दृष्टान्तः. यथा चन्द्र आधिभौतिकं तापं हृतवानेवं भगवानाध्यात्मिकं तापं[1] हृतवान्. स तापो देहाभिमानरूपः. स क्रमेण पुष्टिमार्गप्रवेशनाद् हृतो; देहादीनां भगवति विनियोगाद् न केनाप्यंशेन तापः. **व्रजयोषितामि**ति तदा, ता एव स्थिताः चन्द्रसमानतया निवारणाद्, रात्रावेव. **देहाभिमानः** स्त्रीत्वाभिमानाज्ञाने कामस्तत्कृताश्च तापाः. ननु जात्यादिधर्मनाशकत्वात् कथं तापनिवारकत्वं? तत्राह **मुकुन्द** इति, मोक्षदानसमये पूर्वावस्था त्याजनीयैव, अत उपयुक्त एव त्यागः,

प्रकाशः

चेत्यर्थः. **पूर्ववदि**ति स्वाभाविकत्वपरिहाराय. **मोक्षाभाव** इति तस्मादिति शेषः ॥४२॥

लेखः

शरदर्कांशुजानित्यत्र **नक्षत्रद्वारापी**ति, कृष्णपक्षे चन्द्राभावात् तथा. **उभयत्रापी**ति स्वतो नक्षत्रद्वारा च तापहरणे इत्यर्थः. **तदा ता एवे**ति— यद्यपि मोक्षार्थं सर्वेषामेव तापं हरति तथापि चन्द्रोदयसामयिकलीलायां ता एव स्थिता अतो **व्रजयोषितामि**त्युक्तमित्यर्थः. अन्यदप्याहुः **चन्द्रे**ति. वयं स्त्रियो रात्रौ वनं कथं यास्याम **इत्यभिमानो** भगवत्स्थित्य**ज्ञानं काम**लीलाभिलाषश्चेति त्रयं देहाभि-

योजना

देहाभिमानजं तापमित्यस्य विवृतौ **स क्रमेण पुष्टिमार्गप्रवेशनाद्** इति. **क्रमेणे**ति— प्रेमोत्पत्तेः पूर्वं प्रेमवतां सरणिमनुसरन् तत्प्रकारेण भजन् क्रमेण शुद्धपुष्टिभक्तौ प्रविशति. एवं शुद्धपुष्टौ प्रविष्टः, शुद्धपुष्टेः "शुद्धाः प्रेम्णातिदुर्लभा" इतिवाक्यात् प्रेमप्रधानत्वात्, प्रेमवान् भवति. तथा सति प्रेम्णा देहादीनां भगवति विनियोगाद् भगवदीयत्वेन स्वदेहे देहाभिमानस्य विद्यमानत्वेपि न देहाभिमानजस्तापो भवति. तदेतदुक्तं **पुष्टिमार्गप्रवेशनाद् हृत** इति. **तदा ता एव स्थिता** इति. **भूतानामुडुपोहरदि**त्युक्त्वा **मुकुन्दो व्रजयोषितामि**त्युक्तं, तथा चैककालत्वं चन्द्रकृततापहरणस्य भगवत्कृततापहरणस्य चायाति. एवं सति तदा चन्द्रोदयसमये सायङ्काले **ता एव** व्रजरमण्य एव भगवद्दर्शनार्थं भगवन्निकटे **स्थिता** इति तासां तापदूरीकरणं निरूपितमित्यर्थः ॥४२॥

१. च.

अन्यथा शरदि ता मृता एव स्युस्तत्र विद्यमाने भगवति मोक्षाभावश्च. सर्वभावेन ता गृहीता इति तासां तापाभावः. शरदो विभावकत्वादुपयोगः. केदारदृष्टान्त एव वायोः शुद्धिरर्कचन्द्रमसोर्निरूपण एव तेजसः ॥४२॥

आकाशस्य शुद्धिपूर्वकं गुणमाह **खमशोभते**ति.

खमशोभत निर्मेघं शरद्विमलतारकम् ।
सत्त्वयुक्तं यथा चित्तं शब्दब्रह्मार्थदर्शनम् ॥४३॥

निर्मेघं खमशोभत, शरदा कृत्वा **विमलास्तारका** [1]यस्य,

मासाष्टकं तथाकाशे तमस्तापैः कृतं रजः ॥(१५)॥
मेघैरपोह्यते सम्यगतः शरदि निर्मलाः ।
सर्वं नभो दिशश्चैव तारकाश्चन्द्र एव च ॥(१६)॥

तदाह **शरद्विमले**ति. मेघापगमो दोषाभाव आधिभौतिको, विमलताध्यात्मिकी, तारका गुणाः, आधिदैविकीयं शरदिति ज्ञापयितुं दृष्टान्तमाह **सत्त्वयुक्तमि**ति.

लेखः

मान**स्तत्कृताश्च तापा** अत्र विवक्षिता इति शेषः. अतोपि **व्रजयोषितामि**त्युक्तमित्यर्थः. **अन्यथे**ति पूर्वावस्थास्थितावित्यर्थः. **तत्रे**ति, कामेन स्वपतिभजने मरणाभावेपि तादृशे **भगवति** मोक्षो भजनानन्दरूपो न स्यादिति तदपि मरणतुल्यमेवेति भावः. चकारोऽर्थविशेषे, स्यादिति शेषः. अत्राभासेषु वाच्यार्थ उक्तः सङ्ग्रहकारिकासु तात्पर्यार्थ उक्त इति ज्ञेयम् ॥४२॥

खमशोभतेत्यत्र **सर्वं नभ** इति, नभोदिक्तारकाचन्द्रा निर्मला इत्यर्थः. **तदाहे**ति शरत्कृतं तारकानैर्मल्यमाहेत्यर्थः. **आधिदैविकी**ति, "कृष्णे भक्तिर्यथे"त्यस्याभासे उक्तमाधिदैविकसादृश्यमत्राप्युक्तमिति ज्ञेयं, तथा चाधिदैविकवद्

कारिकार्थः

खमशोभत निर्मेघमित्यत्र **मासाष्टकमि**ति. शरदि नभआदीनां नैर्मल्ये हेतुमाहु**र्मासाष्टकमि**त्यादिना. वार्षिकमासचतुष्टयातिरिक्त**मासाष्टक**पर्यन्तं **तापैः** सूर्यसम्बन्धिभि**स्तथा** जलांशशोषणप्रकारेण **कृतं रज** एव **तमो मेघैरपोह्यते** दूरीक्रियते **अतो** हेतोः **शरदि नभोदिक्तारकाचन्द्रा निर्मला** इत्यर्थः. मूले **नभः**शब्देन दिशामपि ग्रहणं, चन्द्रो द्वितीयश्लोकोक्तः (१५-१६).

१. यस्मिन्.

सत्त्वगुणेन युक्तं चित्तं शब्दब्रह्मणो वेदस्य **दर्शनं** यत्र तादृश**मशोभत**. चित्तस्य रजस्तमसी दोषः[1] सत्त्वसम्बन्धेऽपगच्छति[2]. गुणस्तु सर्वपदार्थानां तत्त्वतो ज्ञानम्. ते च पदार्थाः [3]श्रुत्येकसमधिगम्याः शुद्धेऽन्तःकरणे वेदभावनया स्फुरन्ति. शुद्धिहेतुत्वाच्छरदुपयोगः, मेघाभावस्थानीयं सत्त्वं विमलस्थानीयं शब्दब्रह्म तदर्थज्ञानं [4]तारकास्थानीयं; एतद्व्यावर्त्या[5] दोषाः. आकाशो बाह्य आभ्यन्तरश्च शुद्धो निरूपितः ॥४३॥

तत्र हृदये भगवच्छोभां वक्तुं प्रथमत आकाशे चन्द्रशोभामाह, महाभूतानन्तरं मनसः क्रमभावित्वाद्, **अखण्डमण्डल** इति.

अखण्डमण्डलो व्योम्नि रराजोडुगणैः शशी ।
यथा यदुपतिः कृष्णो [6]वृष्णिचक्रावृतो भुवि ॥४४॥

अखण्डं मण्डलं यस्य तादृशः पौर्णमासश्चन्द्रो भगवदीयो **वोडुगणैः** सह **रराज.** भगवदीयव्यावृत्त्यर्थं **शशी** निरूपितः. सोपि चन्द्रो गोपिकादिभिर्दृश्यमान एव तथा, अग्रे वा तस्य प्राकट्यं यथा हृदये. यदुभिः सह **यदुपतिः कृष्णो भुव्यखण्डमण्डलो** राजते. यद्यपि **यदुपतिः** सर्वत्रैव राजते, कृष्ण एवावतारान्तरेष्वपि, तथापि **वृष्णिचक्रेणावृतो**वतीर्णः साक्षाद्भगवानत्रैव शोभते ॥४४॥

टिप्पणी

अखण्डमण्डलो व्योम्नीत्यत्र **सोऽपि चन्द्रो गोपिकाभिरि**ति. भगवदीयचन्द्रस्योडुरूपाणि स्वामिनीमनांसीति ताभिर्दृश्यमानस्तन्मनःसहकृतो भवतीति शोभितो भवतीत्यर्थः. एवं सति मूले **अखण्डमण्डल**पदेन भगवदीयः स उच्यते **शशि**पदेन लौकिक इति भावः ॥४४॥

प्रकाशः

अखण्डमण्डल इत्यत्र सुबोधिन्याम्– पूर्ववत् तापत्याजनमात्रं न तापनिवर्तकमतो विशेषमाहुर्**भगवदीये**त्यादि. **यथा हृदय**इतीदानीमिति शेषः ॥४४॥

लेखः

दोषनिवर्तिकेत्यर्थः. **बाह्य आभ्यन्तरश्चे**ति दार्ष्टान्तिकदृष्टान्ताभ्यामिति शेषः॥४३॥

प्रथमत इति पूर्वार्ध इत्यर्थः. **मनस** इति चन्द्रस्य मनोधिष्ठातृत्वादिति भावः.

अखण्डमण्डल इत्यत्र **यथा हृदय** इति. भगवत्पक्षे मूले **व्योम्नि** हृदयाकाशे **उडुगणै**र्यदुभिरित्यर्थः ॥४४॥

१. दोषौ. २. 'तः. ३. 'त्यै'. ४. 'क'. ५. 'वृत्त्या. ६. यदु'.

शरदो [1]मासान्तरकृत्यमा**हाश्लिष्ये**ति.

आश्लिष्य समशीतोष्णं प्रसूनवनमारुतम् ।
जनास्तापं जहुर्गोप्यो न कृष्णहृतचेतसः ॥४५॥

समं शीतमुष्णं च यत्र **प्रसून**युक्ते **वने मारुतो** यस्य तादृशं [2]शीतोष्णभावमाश्रित्य **तापं जहुः. वनमारुतं** वा. समत्वान्मान्द्यमपि, प्रसूनसम्बन्धात् सौगन्ध्यम्– एवं [3]सर्वगुणमपि वायु**माश्लिष्य जनास्तापं जहुः.** अस्य सहजत्वाभावान्न दृष्टान्तः परं हीनतामाह **गोप्यो ने**ति. तत्र हेतुः **कृष्णहृतचेतस** इति– **कृष्णेनैव हृतं चित्तं** यासाम्. चित्ते हि सुखं भवति तत् कृष्णसम्बन्ध एव देहे तिष्ठति. आश्लेषोपि न कृतः. सामान्यनिषेधात् कृष्णाश्लेषोप्यनेनैव निषिद्धो, **हरण**शब्दाच्च. अत आध्यात्मिकीयं शरन्न सुखदायिनी वृत्ता, आधिदैविकीं तु वक्ष्यति ॥४५॥

प्रकाशः

आश्लिष्येत्यत्र. ननु पूर्वश्लोके 'मुकुन्दो व्रजयोषितामि'त्यनेन तापनिवृत्तिरुक्तेति कथं **न जहुरि**त्यत आहु**र्देहे**त्यादि. देहस्य प्रयोजनं भगवदाश्लेष इति प्रथममासे सम्बन्धेपि मासान्तरे ताप उचित एवेति भावः. ननु मूले भगवदाश्लेषनामाभावात् कथमयमर्थो लब्ध इत्यत आहुः **सामान्ये**त्यादि ॥४५॥

लेखः

आश्लिष्येत्यत्र **समं शीतमि**ति. पक्षद्वयभेदेनोभयत्रापि बहुव्रीहिरुक्तः. प्रथमपक्षे द्वितीयविशेषणे बहुव्रीहिः, आद्यं विशेष्यं; द्वितीयपक्षे विपरीतमिति ज्ञेयम्. **सर्वगुणमपी**ति, यद्यप्येतादृशस्तथापि **जना एव तापं जहुर्न तु गोप्य** इत्यर्थः. **कृष्णाश्लेषोपी**ति कृष्णकृत आश्लेष इत्यर्थः, पूर्वं भक्तकृत उक्तः. **हरणे**ति, आश्लेषे चित्तं स्वस्थाने एव तिष्ठेदिति हरणं नोक्तं स्यादित्यर्थः ॥४५॥

योजना

आश्लिष्य समशीतोष्णमित्यस्य व्याख्याने **आश्लेषोपि न कृत** इति. **प्रसूनवनमारुतमाश्लिष्य जनास्तापं जहु**रित्युक्त्या तापत्यागे मारुताश्लेषकारणमिति सिद्धम्, अग्रे **गोप्यो ने**त्युक्तं; गोपिकानां तापस्तिष्ठत्येव. अतो ज्ञायते तापत्यागे कारणीभूतवनमारु**ताश्लेषोपि** व्रजरत्नवधूभि**र्न कृत** इत्यर्थः. युक्तं चैतत्, भगवद्विरहव्याकुलानां मारुताश्लेषे दुःसहखेदजननात् तद्भीत्या न कृत इत्यर्थः. अत

१. 'न्तकृ'. २. 'ष्णं. ३. 'युक्त'.

आध्यात्मिक्याः प्रसङ्गादुपयोगान्तरमप्याह **गाव** इति.

गावो मृगाः खगा नार्यः पुष्पिण्यः शरदाभवन् ।
अन्वीयमानाः स्ववृषैः फलैरीशक्रिया इव ॥४६॥

गर्भाधानकालोयं, वर्षाभिर्बीजोत्पत्तेः. **गावो मृगाः खगा**स्तामसादिभेदास्त्रय[1] एव **नार्यः** स्त्रियोपि, स्पष्टार्थं वा ता एव **शरदा** कृत्वा **पुष्पिण्यः**, अन्तःप्रविष्टा शरद् रजोविकासं कृतवती, तासामृतुकालो जात इत्यर्थः. [2]अभिव्यञ्जकं तु नारीणामेव नैमित्तिकम्. **स्ववृषैः** स्वपतिभि**रन्वीयमानाः फलैरप्यन्वीयमाना अभवन्निति** योजना. फलस्यामोघत्वप्रतिपादनाय दृष्टान्तमाहे**शसम्बन्धिन्यः क्रिया इव**, ईशसंयोगात् फलयुक्ता अपि भवन्ति. **ईशः** पतिस्थानीयः, ता अपि फलैरन्विताः. फलमभिलषितं सहजं वा. दृष्टान्तस्त्वभिलषितसिद्ध्यर्थः. भगवत्सम्बन्धाद् शरद एते गुणाः ॥४६॥

जङ्गमानामुक्त्वा स्थावराणामाहो**दहृष्यन्नि**ति.

उदहृष्यन् वारिजानि सूर्योत्थाने कुमुद् विना ।
राज्ञा तु निर्भया लोका यथा दस्यून् विना नृप ॥४७॥

प्रकाशः

गाव इत्यत्र. गवादिजातीयाः स्त्रिय एवात्रोच्यन्त इत्यत्र बीजमाहु**स्ता एवे**ति. ननु गवादीनां पुष्पाभिव्यञ्जकाभावात् कथं पुष्पावगम इत्यत आहु**रभिव्यञ्जकमि**ति, तथा चान्यासां वृषान्वीयमानत्वमेव गमकमित्यर्थः ॥४६॥

उदहृष्यन्नित्यत्र **विने**त्यस्यार्थमाहु**श्चन्द्रमसा कालेने**ति, चन्द्रयुक्तेन कालेन. पक्षान्तरमाहुः **सुब्लोप** इति ॥४७॥

लेखः

गाव इत्यत्र **अभिव्यञ्जकमिति**— ऋतुकालाभिव्यञ्जकरजोदर्शनं **नैमित्तिकं** पित्ताद्युद्रेकजं **नारीणामेव,** न तत्र शरन्नियम इत्यर्थः ॥४६॥

योजना

एव विरहिणा केनचिद् गीतं "चन्दनं चन्द्रिकामोदो गन्धवाहश्च दक्षिणः सेयमग्निमयी सृष्टिः शीता किल परान् प्रती"ति. **सामान्यनिषेधादित्यादि गोप्यो ने**त्यनेन सामान्यनिषेधात् तापत्यागनिषेधवत् कृष्णाश्लेषनिषेधोप्यायाति, अत उक्तं **कृष्णाश्लेषोप्यनेनैव निषिद्ध** इति ॥४५॥

---

१. 'स्त्रि'. २. लुप्तम्.

सूर्योत्थाने कमलान्युदहृष्यन्, कुमुत् कुमुदं तु चन्द्रमसा **विना** कालेन उदहृष्यत्; **कुमुदं विना** वा, सुब्लोपः. अनेन सात्त्विकाः सात्त्विकाधिपतावुद्गच्छन्तीत्युक्तं न त्वन्ये. सात्त्विकस्य सर्वसुखदातृत्वेपि न सात्त्विकव्यतिरिक्तानां सुखं यतस्तेषां **कु**त्सिता **मुद्**. केवलभौतिकव्यावृत्त्यर्थं दृष्टान्तमाह— **राज्ञा** सर्व एव **लोका निर्भया** न **तु दस्यवः**, ते कुमुदाः. **नृपे**ति सम्बोधनं तत्सम्मत्यर्थम्. **लोका** भुवनान्यपि. शरदि चौर्याभावश्च सूचितः ॥४७॥

एवं लौकिकं सर्वमुक्त्वा वैदिकमाह **पुरग्रामेष्वि**ति.

पुरग्रामेष्वाग्रयणैरैन्द्रियैश्च महोत्सवैः ।
बभौ भूः पक्वसस्याढ्या कलाभ्यां नितरां हरेः ॥४८॥

पुराणि सात्त्विकानि, **ग्रामा** राजसा, **आग्रयणानि** श्रौतानीन्द्रसम्बन्धीनि स्मार्तानि, **महोत्सवा** लौकिकाः **चकारात्** कुलधर्माश्च. **पुरग्रामेष्वि**तिबहुवचनात् त्रिविधा अपि गृहीताः; सर्वैः कृत्वा **भूरेव बभौ.** तस्या आधिभौतिकीं शोभामाह **पक्वसस्याढ्येति— पक्वैः सस्यैराढ्या.** आधिदैविकीमाह **कलाभ्यामिति** रामकृष्णाभ्यां सङ्कर्षणकृष्णाभ्यां, भारहरणार्थं हि तावेवागतौ. विशेषमप्याह **नितरां हरेरिति— हरेः** सम्बन्धिनी भूर्नितरां **बभौ** पदैरनुभावैर्लीलाभिश्च. अस्मिन् वाक्ये भूप्रस्तावाद्धरिपदात् तस्या एव दुःखहर्तोच्यते, स च पुरुषोत्तम एव. भारहरणद्वारा सङ्कर्षणोपीति तत्कलारूपत्वं च. **केशयोरि**ति भूमेर्वा दुःखहर्तुः केशाभ्यां नितरामित्यन्तःकरणसन्तोषात् चिदानन्दाभ्यां वा, सत् सिद्धैव ॥४८॥

लेखः

बभौ भूरित्यत्र हरेः कलाभ्यामित्यन्वयमभिप्रेत्य पक्षान्तरमाहुः **भारहरणे**ति. तदा **हरेः** सङ्कर्षणस्येत्यर्थः. अस्मिन् पक्षे **नितरामि**त्यस्यार्थमाहुः **नितरामिति. सत्सिद्धैवेति,** "पक्वसस्याढ्ये"त्यनेन सत्कला सिद्धैव, स्वस्मिन् चिदानन्दसम्पत्त्या नितरां बभावित्यर्थः ॥४८॥

योजना

उदहृष्यन् वारिजानीत्यस्य व्याख्यायां **कुमुत् कुमुदं तु चन्द्रमसा विना कालेने**ति. इह **कुमुद**शब्दः प्रथमान्तः, **विनेति वि**शब्दः कालवाची तृतीयान्तः. तथा च कुमुदनाम कुमुदं तु कालरूपेण चन्द्रमसा उदहृष्यदित्यर्थो भवति. **कुमुदं विना वे**ति. अस्मिन् पक्षे **कुमुद**शब्दो द्वितीयान्तः, तथा च वारिजानि उदहृष्यन् कुमुद्विना कुमुदविनेत्यर्थः. वारिजत्वेपि कुमुदस्य सूर्योदये हर्षो नाभूत् ॥४७॥

उपसंहारार्थं शरदः सर्वसाधकत्वमाह **वणिगिति.**

वणिङ्मुनिनृपस्नाता निर्गम्यार्थान् प्रपेदिरे ।
वर्षरुद्धा यथा सिद्धाः स्वपिण्डान् काल आगते ॥४९॥

वणिङ्मुनिनृपा वैश्यब्राह्मणक्षत्रियश्रेष्ठास्ते **निर्गम्य** [1]पण्यात् प्रदेशान् प्राप्तवन्तः, तदाह**ार्थान् प्रपेदिर** इति. **अर्थ**शब्दो हि लोके प्रसिद्धो वक्तव्यस्ततो वैदिकस्ततः स्मार्त इति. अर्थे तमः प्रधानं ततः सत्त्वं ततो रजः. अनेन स्थितानां न सिद्धिरुक्ता लौकिकोपकारी वैदिकोपकारी चोपकार्ये पूर्वमुक्तौ. **स्नाताः** स्नातकास्ते हि तीर्थवासिनस्ते यथाभिलषितान् धर्मार्थकामान् **प्रपेदिरे.** प्रत्येकसमुदायाभ्यां वा धर्मार्थकामा उक्ताः. अत्रापि पूर्ववद् दृष्टान्तमाह **वर्षरुद्धा** इति– वर्षैर्बहुभिरेव **रुद्धा** निरुद्धाः **सिद्धाः** पश्चात् प्राप्तफलाः **स्वपिण्डान्** पूर्वस्थितानेव **काल आगते प्रपेदिरे.** योगादिना बहुकालं स्वनिरोधं कृत्वा ततः **सिद्धाः** सन्तः तत्फलमनुभूय पुनः **काले** प्रलये [1]**समागते** मोक्षसाधकत्वात् पुनस्तानेव देवदेहान् गृह्णन्ति **स्वपिण्डान्** फलरूपान् वा. **कालः** फलकालः, पूर्वकालस्य साधकत्वमस्य फलत्वमित्याधिभौतिकाध्यात्मिकभेदेन निरूपितं, कालप्राधान्यार्थ**मागत** इति. एवं सलीला शरद् वर्णिता ॥४९॥

॥ इति श्रीमद्भागवतसुबोधिन्यां श्रीमद्वल्लभदीक्षित विरचितायां दशमस्कन्धविवरणे द्वितीये तामसप्रकरणेऽवान्तरप्रमेयप्रकरणे वैराग्यनिरूपकषष्ठाध्यायस्य स्कन्धादितः सप्तदशाध्यायस्य विवरणम् ॥

प्रकाशः

वणिगित्यत्र. वणिजादित्रयाणां नैकोर्थ इति तान् विवृण्व**न्त्यर्थशब्द** इत्यादि. **लौकिकोपकारी**त्यादि, **उपकार्ये** नृपे वक्तव्ये तस्य लौकिकवैदिकोपकारिणौ वणिङ्मुनी **पूर्वमुक्ता**वित्यर्थः ॥४९॥

योजना

पुरग्राम इत्यस्य विवृतौ **सत्सिद्धैवे**ति. **कलाभ्यामिति** द्विवचनेन कलाद्वयनिर्देशात् **कलाभ्यां** चिदानन्दाभ्यां **हरेः** सम्बन्धिनी **भूर्बभौ.** तथा च सच्चिदानन्दरूपासु तिसृषु कलासु द्वयोः कलयोरधुना प्राकट्यं, सद्रूपा कला तु सिद्धैव. सर्वदा विद्यमानत्वात् सदंशः सर्वदा स्फुटोस्ति, चिदानन्दयोस्तिरोभावः; तावपि लीलां कर्तुमुद्यतयोश्चरणसम्बन्धादधुना प्रकटीभूतावित्यर्थो भवति. अत्र श्लोके **हरेः कलाभ्यां भूर्बभा**वित्युक्ते रामकृष्णयोः कलात्वमायाति, तच्च "कृष्णस्तु भगवान् स्वयं" "वसुदेवगृहे साक्षाद् भगवान् पुरुषः पर" इत्यादिवचःसहस्रैर्बाधितमस्त्यतः केचिदत्रैवं मूलग्रन्थं लापयन्ति– **कलाऽभ्यामि**त्यत्र 'कला' 'ऽऽभ्यामि'तिपदद्वयं कृत्वा कलेति प्रथमान्तं व्याख्याय आभ्यामिति- तृतीयाद्विवचनं व्याचक्षते. तथा च **आभ्यां** रामकृष्णाभ्यां **हरेः कला भूर्बभा**वित्यर्थो भवति. "श्रिया पुष्ट्या गिरा कान्त्या कीर्त्या तुष्ट्येलयोर्जये"तिदशमस्कन्धीयाक्रूरभगवद्दर्शनप्रसङ्गवाक्या**दिला**शब्दवाच्याया भुवः शक्तिरूपत्वात् कलारूपत्वम्. अतः कलारूपा भूः आभ्यां रामकृष्णाभ्यां बभाविति सम्यगेव ॥४८॥

वणिङ्मुनिनृपस्नाता इत्यत्र **उपकार्ये पूर्वमुक्ता**विति. **उपकार्ये** इति सप्तमी नृपविशेषणम् **उपकार्ये नृपे** वणिङ्मुनी लौकिकवैदिकोपकारकर्तारौ **पूर्वमुक्ता**वित्यर्थः ॥४९॥

लेखः

वणिङ्मुनीत्यत्र **लौकिकोपकारी**ति, **उपकार्ये** नृपे **पूर्वमुक्तौ** वणिङ्मुनी लौकिकं वैदिकं चोपकारं क्रमेण कुरुत इत्यर्थः. **पुनः काल** इति– दैनंदिनाः प्रलयाः प्रतिब्रह्मदिनं जायन्ते, तादृशे **प्रलये पुनः समागते** इत्यर्थः. **कालप्राधान्यार्थमि**ति– तत्तद्वस्तुस्वभावस्थापनपूर्वकं लीलाया रसशास्त्रसिद्धत्वाद् रसार्थमत्र तथाकरणात् कालप्राधान्यस्थापनार्थमागतो भगवानतः कालो निरूप्यत उद्दीपकत्वेनेत्यर्थः. **सलीले**ति– "देहाभिमानजं तापं मुकुन्दो व्रजयोषितामि"त्यादिना लीलापि सूचितैवेति भावः ॥४९॥

---

१. पण्यात्मदेशान्, प्रधनान्यात्मदेशान्, प्रधानाण्यात्प्रदेशान्.

१. लुप्तम्.

प्रकाशः

अयं वैराग्याध्यायस्तत्र च वर्षावर्णनेन "निशामुखेष्वि"त्यादिश्लोकेषु दृष्टान्तमुखेन कलिस्थव्यवस्थाबोधनाद् भगवद्भक्तानां वैदिकानां सतां तत्र वैराग्यं स्फुटमेव. शरद्वर्णने "चाक्लिष्योत्पत्ति"श्लोके स्वामिनीनां तापजनकत्वकथनादितरत्र वैराग्यं स्फुटमेवेति बोध्यम् ॥

॥ इति श्रीमद्वल्लभनन्दनचरणैकतानश्रीयदुपतितनुजपीताम्बरविरचिते दशमस्कन्धसुबोधिनीटिप्पण्योः प्रकाशे सप्तदशाध्यायविवरणम् ॥

॥ इति सप्तदशोध्यायः ॥

॥ सप्तमो स्कन्धादितः अष्टादशोध्यायः ॥

अष्टादशे गोपिकानामासक्तिर्वर्ण्यते स्फुटा ।
वर्ण्यवर्णकभेदेन गोपानामपि सोच्यते ॥(१)॥

टिप्पणी

अष्टादशेऽध्याये **गोपानामपि सोच्यत** इत्यत्र– बालका हि यत्किञ्चिदद्भुतमनुभूय स्वबाल्यस्वाभाव्यादेवोत्साहवशात्सर्वेषामग्रे तद् वदन्ति; तथा नैतैरुक्तं किन्तु प्रभ्वासक्त्या. तस्यास्त्वयं स्वभावो यत्स्वसमानशीलेष्वेव स्वसर्वस्वतया ज्ञातं प्रभुचरित्रं व्यक्ततया वादयति. तादृक्त्वमेतास्वेवेति गोपाः स्वस्वगृहे ताभ्य एवाचख्युः[1]. इदमेव सम्यक्त्वं चक्षणे. एतेन यथा दिवैतासां गुणगानं तथैतेषां निशीति ज्ञापितं भवति. एतच्च प्रकरणादौ ज्ञापितमिति तदन्ते च [2]ज्ञापितमन्तरङ्गक्रीडार्थं वनप्रवेशे गोपालसाहित्यकथनेन. अन्यथा व्रतवरदानार्थं गच्छन् यथैतान्सङ्गे न नीतवांस्तत्कार्यं कृत्वैभिः सहितो जातस्तद्वक्ष्य"त्यथ गोपैः परिवृत" इत्यनेन, तथात्रापि कुर्यात्तदेतद्धृदि कृत्वोक्तं **गोपानामपि सोच्यत**

प्रकाशः

अष्टादशाध्यायतात्पर्यं निरूपयन्तः पूर्वाध्यायादिसङ्गतिमाहु**रष्टादश** इति. "जनास्तापं जहुर्गोप्यो न कृष्णहृतचेतस" इत्यन्तेन स्वामिनीनामासक्तिर्निरूपिता. तथा पूर्वमपि परन्तु वर्ण्यानामभावाद् बहिर्न स्फुटेत्यस्मिन्नध्याये स्फुटा निरूप्यत इति सामान्यविशेषभावः प्रकरणाध्याययोः सङ्गतिरित्यर्थः. नन्वस्मिन् प्रकरणे मुख्यः स्त्रीणामेव निरोध इति पूर्वं पञ्चाध्यायीसिद्धस्य गोपनिरोधस्यैतदर्थत्वं वक्तव्यं तदत्र कथमित्याकाङ्क्षायां गोपेष्वपि तामाहु**र्वर्ण्ये**त्यादि. तथा च तद्वर्णनप्रयोजकत्वेन गोपनिरोधस्यापि तदर्थत्वमित्यर्थः. गोपानामासक्तिर्न स्फुटेति

कारिकार्थः

अष्टादशाध्यायारम्भे सार्धचतस्रः कारिकाः **अष्टादशे**ति. **वर्ण्यवर्णकभेदेने**ति "**वर्ण्यं** वर्णनीयं रात्रिचरित्रं **वर्णका** वर्णनकर्तारो गोपाः, तत्र दिवाचरित्रं स्वामिन्यश्चेति भेद" इति विवृतं टिप्पण्याम् (१).

१. एवाचक्षुः मू. पा. २. तद्ज्ञापित मू. पा.

प्रवेशकूजने[1] तासामुद्बोधाय निरूपिते[2] ।
तद्गुणेषु प्रसक्ता हि तदासक्ता भवन्ति हि ॥(२)॥

टिप्पणी

इत्याचार्यैः. यथा स्वामिन्यो गृहेषु स्थिता अपि वने दिवाकृतां लीलां भगवद्भावानुभावेन [3]स्वहृदयेष्वनुभूय गायन्ति, तथैतेपि निशिकृतां लीलामासक्तिभरानुभावेन स्वस्वहृदयेष्वनुभूय गायन्ति. सा चातिगोप्येति शुकैः स्फुटतया नोक्ता, एतद्गानकथनेनैवोक्ता भवति, गानहेतुभूतासक्तेस्तुल्यत्वात्सा च ज्ञापितैवेति तत्कार्यमपि सुतरां ज्ञापितं भवति. तदेतदुक्तं **वर्ण्यवर्णकभेदेने**त्यनेन. **वर्ण्यं** वर्णनीयं रात्रिचरित्रं, **वर्णका** वर्णनकर्तारो गोपाः. तत्र दिवा चरित्रं स्वामिन्यश्चेति **भेदः** (१).

आसक्तिनिरूपणमुपपादयन्ति **तद्गुणेष्वि**त्यादिना. अत्रैतज्ज्ञेयं—

प्रकाशः

टिप्पण्यां तामुपपादयन्ति **बालका ही**त्यादिना. **एतद्गानकथनेनैवोक्ते**ति— "अन्ये तदनुरूपाणी"त्यत्र गोपकर्तृकगानस्य सिद्धत्वादत्र स्वामिनीगानकथनेनैव सूचिता. तदाहु**र्गाने**त्यादि (१).

सुबोधिन्यां नन्वासक्तिवर्णनप्रस्तावे वृन्दावनप्रवेशकूजनयोर्वर्णनस्य किं प्रयोजनमत आहुः **प्रवेशे**त्यादि. **प्रवेशबोधने तासां प्रेमोद्बोधाय निरूपिते.** ननु मूले "गोपैस्तयोस्तदद्भुतमि"त्यादिपूर्वाध्याये गुणवर्णनाद् गुणासक्तिरेव तेषां स्फुटा न तु भगवदासक्तिरित्यासक्त्या वर्णनकथनं कथमित्याशङ्कायां हेतु**स्तद्गुणेष्वि**ति. **तद्गुणेष्वि**त्यादिना यदुक्तं तट्टिप्पण्यां स्फुटीकुर्व**न्त्यासक्ती-**

लेखः

अष्टादशेऽध्याये **तद्गुणेष्वि**ति, भगवदासक्ता एव गुणासक्ता भवन्त्यतोऽत्र गुणासक्त्या भगवदासक्तिर्ज्ञापितेत्यर्थः (२).

कारिकार्थः

प्रवेश इति, प्रथमश्लोकोक्तो वृन्दावनप्रवेशः द्वितीयश्लोकोक्तं वेणुकूजनं रूपबोधनं च **तासामासक्त्युद्बोधनाय निरूपिते.** नन्वत्राध्याये भगवद्गुणासक्तिरेव स्फुटा न तु भगवदासक्तिरित्याशङ्क्याहु**स्तद्गुणेष्वि**त्यादि, भगवद्गुणासक्तिलक्षण-कार्येण भगवदासक्तिरनुमीयत इत्यर्थः (२).

---

१. °बोधने. २. °प्यते. ३. स्वगृहेष्विति पाठः.

आसक्तिः प्रेमपूर्वैव प्रेमापि हरिणा कृतम् ।
उद्बोधकं च हरिणा कृतं नान्येन केनचित् ॥(३)॥

टिप्पणी

गुणासक्तिलक्षणकार्येण भगवदासक्तिर्ज्ञाप्यते. आसक्तिः प्रेमोत्तरभाविनीति तन्निरूपणेन प्रेमापि निरूपितो भवति, स चाद्यश्लोकेन निरूप्यते. स तूद्बुद्ध एवासक्तिं जनयत्ययं तु लौकिकवत्कोकिलादिकूजनेन नोद्बुद्धो भवत्य-

प्रकाशः

त्यादिना. कारिकायां **हि**र्हेतौ बोध्यः. तदाहु**र्ज्ञाप्यत** इति, स्फुटीक्रियते (२).

ननु ये गुणासक्तास्ते गुणिन्यासक्ता भवन्तीति न नियम इति भगवदासक्तिर्गौणी स्यादित्याकाङ्क्षाया**मासक्तिः प्रेमपूर्वैवे**ति यदुक्तं तद्विवृण्व**न्त्यासक्तिः प्रेमोत्तरे**त्यादिना. तथा चाद्ये श्लोके गोगोपालसाहित्यकथनेन प्रेमापि निरूप्यते. यदि हि तेषां स न स्यात् भगवांस्तान् सङ्गे न स्थापयेदिति सा न गौणीत्यर्थः. ननु भवत्वेवं तथाप्याद्यश्लोकद्वयोक्तस्वामिनीप्रेमोद्बोधकस्य किं प्रयोजनमित्याकाङ्क्षायां **प्रेमापी**त्यादिना यदुक्तं तद् विवृण्वन्ति **स**

योजना

अष्टादशाध्याये कारिकासु **तद्गुणेषु प्रसक्ता ही**ति, नन्वत्राष्टादशाध्याये **गोपिकानामासक्ति**र्निरूप्यत इत्युक्तं तत् कथं सम्भवत्यासक्तेः स्फुटम-कथनादित्याशङ्क्य गुणासक्तिरूपकार्येण भगवदासक्तिरनुमीयत इत्याहु**स्तद्गुणेषु प्रसक्ता हि तदासक्ता भवन्ति ही**ति, **हि** यत**स्तस्मिन्** भगवति य **आसक्तास्त** एव गुणासक्ता **भवन्ती**त्यतो गुणासक्त्या भगवदासक्तिर्ज्ञाप्यत इति भावः (२).

नन्वासक्तेरुद्बोधस्तु कोकिलकूजनादिना भवति, तत् स्वयं भगवता किमर्थं कृत इत्याशङ्क्य नात्रोद्बोधनमात्रं भगवता कृतमपि तु सर्वापि सामग्री केवलं प्रभुणा कृतेत्यासक्त्युद्बोधोपि हरिणा कृत इत्याहु**रासक्तिः प्रेमपूर्वैवे-**त्यारभ्य **न केनचिदि**त्यन्तेन, आसक्तेः पूर्वावस्था प्रेम, **तदपि** प्रभुणैव स्वस्मिन् व्रजभक्तानां **कृतं** प्रमाणप्रकरणे, ततोऽस्मिन् प्रमेयप्रकरण आसक्तिः कृता, ततो वेणुकूजनेन तदुद्बोधोपि **हरिणैव** कृत इति युक्तमेव, यतोऽङ्गीकारेणैव प्रभुः सर्वं साधयति. तथा च साधनानि स्वयमेव सम्पाद्य फलं प्रयच्छतीति पुष्टिमार्गे प्रभुप्राप्तौ प्रभुरेव साधनम्, "यमेवैष वृणुते तेन लभ्य" इतिश्रुतेः (३).

आसक्त्या वर्णनं तस्माद् विद्यान्ते वर्ण्यते स्फुटम् ।

टिप्पणी

लौकिकत्वादतः प्रभुकृतमेव तदुच्यते[1] (२-३).

फलितमाहु**रासक्त्या वर्णन**मिति. आसक्तौ सत्यामपि यावद् भगवान् स्वयं न ज्ञापयति तावत्स्वरूपगुणलीला न ज्ञातुं शक्यन्ते यत**स्तस्मा**द्धेतोरेकेन श्लोकेन "बर्हापीडमि"त्यनेन गानोपक्र**मान्ते विद्या**रूपं सपरिकरं ब्रह्मस्वरूपज्ञानं **स्फुटं** यथा भवति तथा **वर्ण्यत** इत्यर्थः. पूर्वं नादब्रह्मात्मकामूर्तविद्यामन्तरे चानुभावयित्वान्तरेव तत्फलभूतं गानेन स्वरूपानुभवं कारितवान्, अग्रे तु स्वलोकात्मकव्यापिवैकुण्ठस्य बहिरनुभवात्मकविद्यया तत्फलभूतं बहिरङ्गसङ्गेन स्वरूपानन्दानुभवं कारयिष्यतीति ज्ञापनायाप्यत्र विद्यात्वनिरूपणमिति ज्ञेयम्. यद्वा श्लोकपञ्चकानन्तरं गानारम्भोक्तिव्यञ्जितमर्थमाहु**र्विद्यान्त** इति, विद्याया अन्त इत्यर्थः. सा हि पञ्चपर्वात्मिका, तथा च गानोक्तेः पूर्वश्लोकेषु तत्समान-

प्रकाशः

त्वित्यादिना. **तदि**ति उद्बोधकद्वयं, तथा च यदि भगवतस्तासु प्रेमा न स्यान्न वृन्दावने प्रविशेत् प्रविश्य वा न बोधयेद्यतः प्राविशदबोधयच्चातस्तासु भगवतः सोस्तीति निश्चीयते. तेन भगवतः स्वस्मिन् प्रेमावगत्यैतासां प्रेमोद्बुद्धमिति स एव मुख्य इत्येतज्ज्ञापनं प्रयोजनमित्यर्थः. तत् स्फुटीकुर्वन्ति **फलितमि**त्यादिना (३).

आसक्त्येति भगवदासक्त्या. ननु "कुसुमितवनराजी"त्यत्रोद्बोधकान्तरस्याप्युक्तत्वेनात्रोद्बोधकान्तरस्यापि कल्पयितुं शक्यत्वाद् भगवत्कृतमेवोद्बोधकमित्यत्र किम्मानमित्याकाङ्क्षायां **विद्यान्ते वर्ण्यते स्फुटमि**त्यनेन यदुक्तं तद् विवृण्व**न्त्यासक्ता**वित्यादिना. **न ज्ञातुं शक्यन्ते** "यमेवैष वृणुते तेन लभ्य" इतिश्रुतेर्न ज्ञातुं शक्यन्ते. **वर्ण्यत** इति शुकेन वर्ण्यते. तथा चेदं शुककृतं वर्णनमेव भगवत्कृतोद्बोधकोद्बोध्यत्वगमकं स्फुटमित्यर्थः. एवं च **तस्मादि**तिपदमत्रापि हेतुत्वेनान्वेतीति बोध्यम्. **विद्या**पदस्योपासनायामिव साक्षात्कारेपि प्रयोगात् तमभिप्रेत्य **विद्यापदस्य** तात्पर्यान्तरमाहुः **पूर्वमि**त्यादिना. **विद्यापदस्य** तदुभयस्मिन्निव विद्याशक्तावपि रूढे**र्विद्यान्त** इति समस्तषष्ठीकं पदमङ्गीकृत्य पक्षान्तरमाहु**र्यद्वे**त्यादि. एवं च "बर्हापीडे"तिश्लोकोक्तभगवत्स्वरूपानुभवो ब्रह्मभावोत्तर-

१. च तदुच्यते मू. पा.

योजना

विद्यान्ते वर्ण्यत इति "विद्ययामृतमश्नुत" इतिश्रुतेर्विद्यां विना न भगवत्प्राप्तिस्ततोऽत्र व्रजजनेष्वपि सा निरूपणीयातो "बर्हापीडे"त्यन्तश्लोकपञ्चकसङ्ख्यया पञ्चपर्वा विद्या सिद्धेति ज्ञायते. एवं पञ्चपर्वात्मकविद्यासिद्धौ गुणवर्णनलक्षणा भगवत्प्राप्तिरभूदिति भावः. विद्यायाः पञ्च पर्वाणि, "वैराग्यं साङ्ख्ययोगौ च तपो भक्तिश्च केशवे पञ्चपर्वेति विद्येयं यया विद्वान् हरिं विशेदि"तिवाक्यात्. इदं त्ववधेयं— लीलास्थजीवानां विद्याप्यलौकिकी, सा [1]घोषसुन्दरीणामपि सम्पन्ना. तथा हि भगवदतिरिक्तेषु रागाभावो वैराग्यम्, रसात्मकत्वेन पुरुषोत्तमज्ञानं साङ्ख्यम्, चितस्य भगवदेकपरत्वं योगः, भगवद्विरहे परमक्लेशानुभवस्तपः, मुक्त्यन्तपुमर्थाकाङ्क्षारहिता भगवदासक्तिर्भक्तिरिति पञ्चपर्वा पुष्टिमार्गीयविद्या

कारिकार्थः

भगवद्विषयकप्रेमोद्बोधकयोरलौकिकत्वं बोधयितुं भगवत्कृतत्वमाहुः **प्रेमापि हरिणा कृतम् उद्बोधकं च हरिणे**ति. फलितमाहु**रासक्त्या वर्णन**मिति, आसक्तौ सत्यामपि यावद् भगवान् स्वयं न ज्ञापयति तावत् स्वरूपगुणलीला न ज्ञातुं शक्यन्ते यतः **तस्मा**द्धेतोरेकेन श्लोकेन "बर्हापीडमि"त्यनेन गानोपक्र**मान्ते विद्या**रूपं सपरिकरं ब्रह्मस्वरूपज्ञानं **स्फुटं** यथा भवति तथा **वर्ण्यते** इत्यर्थः. यद्वा श्लोकपञ्चकानन्तरं गानारम्भोक्तिव्यञ्जितमर्थमाहु**र्विद्यान्त** इति, विद्याया अन्त इत्यर्थः. सा हि पञ्चपर्वात्मिका, तथा च गानारम्भोक्तेः पूर्वश्लोकेषु विद्यासमानसङ्ख्योक्त्या तेषु श्लोकेषु विद्यात्वं लक्ष्यते. "तथा च ब्रह्मविद्यातोप्याधिक्यं विद्याया अपि गुणवर्णनं फलमिति ज्ञाप्यत इत्याशय" इति विवृतं टिप्पण्याम्. तत्र प्रथमव्याख्यानपक्षे कारिकायोजना— यस्माद्धेतो**र्वर्णनं** "तद् वर्णयितुमारब्धा" इति श्लोकारब्धं वर्णन**मासक्त्या** केवलया न तु विद्यासहितया **तस्मा**द्धेतो**र्विद्या** ब्रह्मस्वरूपज्ञानम् **अन्ते** "तद् वर्णयितुमारब्धा" इतिश्लोकोक्तगानोपक्रमान्ते **वर्ण्यते** "बर्हापीडे"त्येकेन श्लोकेन वर्ण्यत इति. द्वितीयव्याख्याने तु **वर्णनम्** "अक्षण्वतां फलमिदमि"तिश्लोकोक्तं यद् वर्णनं तद् यस्माद्धेतो**रासक्त्या** क्रियमाणं फलरूपमेव न तु साधनरूपं **तस्मा**द्धेतो**र्विद्यान्ते** श्लोकपञ्चकात्मकविद्याया अन्ते **वर्ण्यत** इति ($३\frac{1}{2}$).

१. व्रजेति पाठोपि.

कालाधिको हरिश्चात्र पुरुषोत्तम एव च ॥(४)॥
त्रयोदशविधा लीला तत उक्ता पृथक् पृथक् ॥

भगवल्लीलार्थं पूर्वाध्यायान्ते शरद् वर्णिता ततोऽत्र[1] लीलार्थं भगवतो

टिप्पणी

संख्योक्त्या तेषु तत्त्वं लक्ष्यते. तथा च **ब्रह्मविद्यातोप्याधिक्यं**, तस्या अपीदं फलमिति ज्ञाप्यत इत्याशयः. श्लोकसंख्यातात्पर्यमाहुः **कालाधिक** इत्यादिना. द्वादशमासात्मकः कालो, द्वादशाङ्गः पुरुषश्च; इह तदधिकसंख्यया गेये तदधिकत्वं ज्ञाप्यत इत्यर्थः (४½).

प्रकाशः

भाविभक्त्या भवति "भक्त्या मामभिजानाती"त्यभिज्ञारूपः. स चाग्रे"ऽक्षण्वतामि"त्यादौ स्फुटस्तेनात्रासक्त्यैव वर्णनं निश्चीयत इति भावः. अभिज्ञास्वरूपं प्रकटयन्ति **श्लोके**त्यादिना. कारिकाद्वये **वर्ण्यत**इति क्रिया सर्वत्रानुषज्यते. कारिकार्थस्तु— यतः प्रलायकत्वेपि **हरित्वात् कालाधिकश्च** पुनरक्षण्वत्फलत्वात् **पुरुषोत्तमः** क्षराक्षरादुत्तम **एवात्र** भक्तवाक्येषु **वर्ण्यते. चो**ऽनुक्तहेतुसमुच्चयात्मक**स्ततः** सा **लीला** तथेत्यर्थः (४½).

योजना

व्रजसुन्दरीणां सिद्धा. तत्र पञ्चममासक्तिरूपं पर्व, तदत्राध्यायार्थत्वेन निरूपित**मष्टादशे गोपिकानामासक्तिर्वर्ण्यते स्फुटे**त्यनेन. **कालाधिक** इति. "अक्षण्वतामि"त्यादि-त्रयोदशश्लोकैर्निरूप्यमाणो भगवान् कालातीत इति सूचयितुं कालस्य द्वादशात्मकत्वात् तदधिकत्रयोदशसङ्ख्यया कालातीतत्वं सूच्यते. एवं सति कालातीतत्वे तत्र त्रयोदशश्लोकेषु निरूप्यमाणानां स्वरूपगुणलीलादीनां नित्यत्वं सिद्धमेव. **पुरुषोत्तम** इति. पुरुषस्य द्वादशाङ्गत्वात् तदधिकत्रयोदशसङ्ख्या त्रयोदशश्लोकेषु प्रतिपाद्यस्य पुरुषोत्तमत्वं सूच्यत इति भावः (४).

कारिकार्थः

त्रयोदशश्लोकसङ्ख्यातात्पर्यमाहुः **कालाधिक** इत्यादिना. अत्र वर्ण्यमानो **हरिर्द्वा**दशमासात्मक**कालादधिको** द्वादशाङ्गात् लौकिकपुरुषाच्च उत्तमः **पुरुषोत्तम** उच्यते इति सङ्ख्यातात्पर्यम्. अत एव **त्रयोदशविधा** लीला उक्ताः (४½).

---

१. लुप्तम्.

वृन्दावनप्रवेश उच्यत **इत्थमि**ति.

॥ श्रीशुक उवाच ॥

इत्थं शरत्स्वच्छजलं पद्माकरसुगन्धिना ।
न्यविशद् वायुना वातं सगोगोपालकोऽच्युतः ॥१॥

इत्थम्भूता या शरत् तया **स्वच्छं जलं** यस्मिन् वृन्दावने[1] तादृश**मच्युतो न्यविशद**िति सम्बन्धः. अत्रापि पूर्ववदाधिदैविकीभिः शक्तिभिर्लीला वक्तव्या. तत्र नायकोत्कर्षार्थ**मच्युत** इत्याह. तत्रापि गावोऽनुभाविका[2] गोपालाः सेवकाः; शक्तीनां निर्भयत्वायैते देवाः साक्षिणः. रमणं जलस्थलभेदेन द्विविधम्. निर्भररमणे च[3] वायोरपेक्षा जलक्रीडायां तु नैर्मल्यं [4]शीताभावश्च. शरदा नैर्मल्यं[4] शीताभावश्चोक्तः **शरत्स्वच्छजलमि**ति, शरदा स्वच्छानि जलानि यत्र. विशेषतः कर्मानिर्देशात् क्रीडार्थं जलप्रवेशश्च. **पद्माकराणां** सुष्ठु यो **गन्धः** शैत्यसहितस्तद्वान् **सुगन्धी**[5]; एतादृश**वायुना वातं** वनं **न्यविशत्**. गन्धवत्त्वेनैव मान्द्यमुक्तम्, एतावदेव क्रीडायामपेक्षितम्. [6]विशेषणधर्माणामेव प्राधान्यान्न

टिप्पणी

इत्थं शरत्स्वच्छजलमित्यत्र, **शक्तीनां निर्भयत्वाये**त्यादि. अलौकिकत्व-नित्यत्व-स्वाभाविकधर्मत्व-ज्ञापनायैतदनभिज्ञेषु गोपनाय भगवद्भोग्य-सीमन्तिनीषु **शक्ति**पदप्रयोगः. स्वार्थं तदपेक्षारहितः फलभोगसमर्पको यथाधिकारं तत्र प्रवर्तकश्च साक्षी भवति, यथा परमात्मा. तादृशत्वमन्तरङ्गत्वाद् गोपेष्वस्तीति साक्षित्वमुक्तम् ॥१॥

प्रकाशः

इत्थमित्यत्र सुबोधिन्याम्. अस्मिन् श्लोके वृन्दावनस्यानुक्तत्वेपि पूर्वाध्याये लीलाधिकरणदेशत्वेन वनस्योक्तत्वादत्राप्यग्रिमश्लोके वनलिङ्गात् तदग्रे "वृन्दावनं प्राविशदि"त्युक्तेश्च वृन्दावनमेवोच्यत इत्याशयेनाहु**रित्थम्भूत** इत्यादि. **शक्तीनामि**त्यादेस्तात्पर्यं टिप्पण्यामाहु**रलौकिकत्वे**त्यादि. **एतदनभिज्ञेष्वि**ति उक्तविधैतत्स्वरूपानभिज्ञेषु. सुबोधिन्यां गोपानां देवत्वं षोडशाध्याय "आसन् सुविस्मिता" इत्यत्र निर्दुष्टेन्द्रियत्वादुपपादितम्. **विशेषणधर्माणामि**ति विशेषणभूतानां धर्माणाम् ॥१॥

---

१. °वनम्. २. °भावकाः. ३, ४-४, ५. लुप्तम्. ६. विशेषेण. .

विशेष्यनिर्देशः. नितरां प्रवेश आधिदैविकपर्यन्तः ॥१॥

प्रवेशमुक्त्वा देवतोद्बोधनमाह **कुसुमितेति.**

कुसुमितवनराजिशुष्मिभृङ्गद्विजकुलजुष्टसरःसरिन्महीध्रम् ।
मधुपतिरवगाह्य चारयन् गाः सहपशुपालबलश्चुकूज वेणुम् ॥२॥

मधुपतिर्गाश्चारयन् वेणुं चुकूज. वसन्ताधिपतिः सरसः शृङ्गारात्मा धर्मं कुर्वन् क्रियाज्ञानशक्तिसहितो देवतोद्बोधनाय वेणुनादं कृतवान्. उद्बुद्धा देवताः सामग्र्यभावान्न रता भवन्तीति भगवतो मधुपतित्वं निरूपितम्[१]. विभावादीन् निरूपयति— **कुसुमिता** या[१] **वनराजयस्ताभिर्ये शुष्मिणो** मत्ता जाता **भृङ्गाः** पक्षिणश्च तेषां **कुलान्यवान्तरजातिभेदास्तैर्जुष्टानि सरितः सरांसि महीध्राः** पर्वताश्च यस्मिंस्तानेव वा; एकवद्भावः. एवंविधम**वगाह्य** तत्रत्यानपि त्रिविधानुद्बोधयितुं केवलं शृङ्गारार्थमेव कूजनं कृतवान् ॥२॥

टिप्पणी

कुसुमितेत्यत्र, धर्मं कुर्वन्नित्यादि. धर्मो हि साक्षात्परम्पराभेदेन चतुर्वर्गस्यापि साधकः, अवगाहनं च तत्र तत्र तथा तथा लीलाकरणार्थम्. एवं सति लोकसिद्धं कार्यान्तरं विना तत्र गमनं [२]चिरस्थित्यादिकं च लोकविरुद्धम्, लोके चिकीर्षितलीलाज्ञानं च रसविरुद्धमिति सर्वसमाधानपूर्वकं सम्पादकं गोचारणमिति भावेन धर्मत्वोक्तिः ॥२॥

प्रकाशः

कुसुमितेत्यत्र धर्मं कुर्वन्नित्यादेरर्थं टिप्पण्यामाहुर्**धर्मो हीत्यादिना** ॥२॥

लेखः

इत्थं शरदित्यत्र आधिदैविकेति— यत्रागत्य देवा मिलिताः स्वस्वकृतं कार्यं नयनभ्रुवादिभिर्निवेदितवन्तस्तावत्पर्यन्तमित्यर्थः ॥१॥

कुसुमितेत्यत्र स रस इति— यतः शृङ्गारात्मा **रसः स** अतो मधोर्**वसन्तस्याधिपतिरि**त्यर्थः. **क्रियाज्ञानेति.** क्रियाशक्तिरूपा गोपाः, अन्तरङ्गकार्यार्थं तत्र तत्र क्रियाशक्तेः स्थापितत्वात्. ज्ञानशक्तिरूपो बलः, प्रतिबन्धकनिवृत्त्यर्थं तत्र लीलाज्ञानस्य स्थापितत्वात्. अन्यत्र क्रियाशक्तिस्थापनेप्यन्तरङ्गलीलायां तथाधिकाराभावाज्ज्ञानमात्रस्थापनमितिभावः. **सामग्र्यभावादि**ति, नायकस्य सरसत्वाभावे रतिर्न सम्पद्यत इत्यर्थः.

योजना

इत्थं शरदित्यत्र आधिदैविकपर्यन्तमिति. **आधिदैविक**शब्दोऽत्र परोक्षवादरीत्या निकुञ्जादिप्रदेशवाचकः ॥१॥

---

१. ॰पयति. २. चिरं मू. पा.

लेखः

त्रिविधानिति सरित्सरोमहीध्रस्थानित्यर्थः. **शृङ्गारार्थमिति— शृङ्गारो** रतिः, प्रेमेति यावत्, तदुद्बोधनार्थमित्यर्थः. **मधुपति**पदतात्पर्यार्थोऽयम्. "बर्हापीडे"तिश्लोकोक्त-यावद्गुणलीलाविशिष्टस्वरूपानुभावकं न भवतीति **केवलपदमेव**कारश्च ॥२॥

योजना

कुसुमितेत्यत्र कुसुमिता ये वनराजयस्ताभिरिति. इह **ये वनराजय** इति पुल्लिङ्गमुक्त्वा **ताभिरि**ति स्त्रीलिङ्गनिर्देशाद् वनस्थितवृक्षादीनां स्त्रीभाववत्त्वं ध्वनितम्, तेन चिद्रूपता युक्ता. **मधुपतिरवगाह्ये**त्यत्र **मधुपतिर्गाश्चारयन्नि**ति. इह **मधु**शब्दो यादवजातिपरत्वेन कैश्चिद् व्याख्यातः. तथा सति तात्पर्यशून्यत्वं स्यादतस्तात्पर्यविशेषलाभाय **मधुपति**पदं प्रकारान्तरेण व्याचक्षते **वसन्ताधिपतिः सरसः शृङ्गारात्मे**ति. **क्रियाज्ञानशक्तिसहित** इति. "यः सर्वज्ञः सर्वशक्तिरि"तिश्रुतेः परब्रह्मणः क्रियाशक्तिज्ञानशक्तिसाहित्यं सर्वदापेक्षितम्. तदत्र क्रियाशक्तिरूपा गोपास्तैर्गोचारणादिक्रिया सम्पाद्यते. अत एव "प्रेमप्रवृद्धमुदित" इत्यस्य सुबोधिन्यां वक्ष्यते "गोपैर्गोचारणमि"ति. ज्ञानशक्तिरूपो श्रीबलदेवस्तेन लीलाप्रतिबन्धकीभूतानां दैत्यानां मायिकवत्सादिरूपाच्छादितानां यथार्थज्ञानं तन्मारणं भक्तरक्षा च. तदेतत् "प्रेमप्रवृद्धमुदित" इत्यस्य विवृतौ वक्ष्यते "बलभद्रेण रक्षे"ति. फलप्रकरणेपि वक्ष्यते "यथा प्रमाणे रक्षायां च बलभद्रोपयोग" इति. एवं प्रतिबन्धनिवृतौ भक्तैः सह भगवान् स्वच्छन्दं क्रीडति — एवमुभयशक्तिसाहित्यप्रयोजनं ज्ञेयम्. **देवतोद्बोधनायेति देवता**शब्देनात्र सरित्सरोवरमहीध्रनिकटवर्तिन्यो व्रजसुन्दर्यो ज्ञेयाः ॥२॥

---

१. ये.

तद् व्रजस्त्रिय आश्रुत्य वेणुगीतं स्मरोदयम् ।
काश्चित् परोक्षे कृष्णस्य स्वसखीभ्योऽन्ववर्णयन् ॥३॥

एवमुद्बोधनमुक्त्वा ताभिः सह रमणे, कामिनीकामोद्बोधकत्वात् कूजितस्य, **व्रजस्त्रियोऽप्युद्बुद्धकामा** जातास्ततः कामवशाद् भगवदुद्बोधार्थं **स्वसखीभ्यः** स्वसमानशीलव्यसनाभ्यस्तद्गुणान् वर्णयितुमारेभिर इत्याह **तद् व्रजस्त्रिय** इति. **आ**समन्तात् **श्रुत्वा**धिदैविकत्वाद्, अन्यथा कथं वनस्थितो वेणुनादो व्रजस्थिताभिर्गोपिकाभिरेव श्रूयेत? यथा सर्वे देवा उत्थिता एवं

टिप्पणी

तद् व्रजस्त्रिय आश्रुत्येत्यत्र, **गोपिकाभिरेव श्रूयेते**ति. एतदितरश्रवणाभावे प्रमाणापेक्षायामुच्यते— भगवान् हि सप्रयोजनकमेव कार्यं करोति, न त्वन्यथापि जीववत्. अत्र च रमणार्थं भावोद्दीपनमेव प्रयोजनम्. एवं सति यासु तदभावस्तासु तच्छ्रवणं निष्प्रयोजनकमिति प्रभुर्न करोत्येवेति मन्तव्यम्. एतेन श्रुतं सर्वैः परन्तु स्थायिभावोऽत्रैवास्तीत्यत्रैव तदुद्दीपनं नान्यत्रेति निरस्तम्, सर्वज्ञस्य तादृक्कृत्यसम्भव इत्युक्तत्वात्. नादनिष्ठामृतस्य स्वप्रवेशमात्रेणैव भगवदीयत्वकरणलक्षणस्वभावहानिप्रसङ्गश्च ॥३॥

प्रकाशः

तद् व्रजस्त्रिय इत्यत्र **गोपिकाभिरेवेत्येव**कारतात्पर्यं टिप्पण्यामाहु**रेतदितरे**त्यादि. अत्र भगवता दूरश्रवणदर्शनसिद्धिर्भगवतो यत्र स्वामिनीभावत्वेनाङ्गीकारस्तत्रैव स्थापितेति तासामेव श्रवणं नान्येषामिति सुष्ठूक्त**मेतदि**त्यादि ॥३॥

लेखः

उद्बोधनमुक्त्वेति, इत्याहेत्यनेनैतस्य समानकर्तृत्वम्. **उद्बुद्धकामा** इति. **कामो**ऽभिलाषो रतिः प्रेमेति यावत्, प्रेमैवोद्बुद्धं सद् 'आसक्ति'पदवाच्यं भवति. तथा **चोद्बुद्धकामा** आसक्तिमत्य इत्यर्थः. एतेन कूजनेन वनस्थानां शृङ्गारोद्बोधनं मुख्यं व्रजस्थानाञ्च प्रासङ्गिकं सम्पादितवानित्यर्थः. **भगवदुद्बोधार्थमिति**, "अन्तःप्रविष्टो भगवान्" इत्यत्रेव हृदिस्थितस्य वर्णनेन बहिरुद्बोधनार्थमित्यर्थः.

तद् व्रजस्त्रिय इत्यत्र **स्मरोपीति**, स्मरस्य लीलोपयोगित्वेन

योजना

तद् व्रजस्त्रिय इत्यस्याभासे **भगवदुद्बोधार्थमि**ति. यथा भगवता वेणुनादेन व्रजस्त्रिय उद्बोधिता एवं व्रजस्त्रीभिरपि गुणगानेन भगवानुद्बोधनीयः.

स्मरोपि, उद्दीपन[1]विभावत्वान्नादस्य. **तन्मध्ये** स्मरेण काश्चन[2] मूर्च्छिता एव, **काश्चित्** पुनः कृपया भगवत्सङ्गं प्राप्य **कृष्णस्य परोक्षे** विद्यमानाभ्यः **स्वसखीभ्योऽनु** भगवत्करणानन्तरमे**वावर्णयन्** वर्णितवत्यः ॥३॥

तासामपि पुनः कामोद्बोधे विशेषतो वर्णनाशक्तिर्जातेत्याह **तद् वर्णयितुमि**ति.

लेखः

देवत्वादित्यर्थः. स्मरोद्बोधे हेत्वन्तरमप्याहु**रुद्दीपने**ति. मूले **काश्चि**त्पदसूचितं विभागमाहु**स्तन्मध्य** इति. **पुनरि**ति गीतश्रवणानन्तरमित्यर्थः. **भगवत्सङ्गमि**ति— मूर्च्छितानां त्वज्ञानमेव, अन्यासां गीतश्रवणानन्तरमन्तःस्थितभगवत्सङ्गप्राप्तिरिति भावः. **तासामपी**ति, मूर्च्छितानां समुच्चयार्थ**मपि**शब्दः ॥३॥

योजना

उभयत्र शब्दस्यैवोद्बोधकत्वम्. उद्बोधनं नामोद्बोधकाभीष्टकार्यपरतया स्थापनम्. **तद् व्रजस्त्रिय** इत्यस्य विवरणे **एवं स्मरोपीति. यथा सर्वे देवा** लीलोपयोगिनो व्रजसीमन्तिनीप्रभृतय **उत्थिताः** स्वस्वसेवासमयमवधार्य सावधाना जाता **एवमाधिदैविकः स्मरोपि** लीलासामग्रीमध्यपातित्वादुत्थितो व्रजभक्तानां [3]मानापनोदनादिकार्यार्थं तन्मनसामौत्कण्ठ्यादिसम्पादनेन स्वसेवासमये सावधानोऽभूदित्यर्थः. **तन्मध्ये काश्चन स्मरेण मूर्छिता एवे**ति. मूले **काश्चिदि**तिपदद्वयोक्त्या वेणुनादश्रवणकर्त्रीष्वपि श्रवणानन्तरमनुवर्णनं काभिश्चिदेव कृतं न तु सर्वाभिरिति ज्ञापितम्. वर्णनाकरणे कारणमाहुः **स्मरेण मूर्च्छिता एवे**ति. तत्र कासाञ्चित् मूर्छा न जाता तत्र किं कारणमित्याहुः **काश्चित पुनः कृपया भगवत्सङ्गं प्राप्ये**ति. तथा च कृपाविशेष एव मूर्छाभावे भगवत्सङ्गे च कारणमित्यर्थः; सङ्गोऽत्रान्तरो ज्ञेयः ॥३॥

तासामपि पुनः कामोद्बोध इति. वर्णनार्थं कृतेन कृष्णचेष्टितस्मरणेन जातो यः कामोद्बोधस्तस्मिन् सति वर्णनाशक्तिर्जातेत्यर्थः. पूर्वं वेणुकूजनवेणुगीताभ्यां स्मरोदयो जातः कृष्णचेष्टितस्मरणेन च विशेषतो जात इति ज्ञापयितुं **पुनः**पदं सुबोधिन्यामुक्तम्. **अवर्णयन् वर्णितवत्य** इति "अक्षण्वतामि"त्यादित्रयोदशभिः श्लोकैरित्यर्थः. अत ए"वाक्षण्वतामि"त्यस्याभासे"ऽनुवर्णनमेवाहे"त्युक्तम्. इदमत्र बोध्यम्— "अन्ववर्णयन्नि"त्यनेन व्रज-

---

१. °विभावक°. २. लुप्तम्. ३. आनयनादीतिपाठः.

तद् वर्णयितुमारब्धाः स्मरन्त्यः कृष्णचेष्टितम् ।
नाशकन् स्मरवेगेन विक्षिप्तमनसो नृप ॥४॥

तत् स्वानुभूतं भगवद्रूपं वेणुगीतं वा **वर्णयितुं** कार्यतः कारणतः फलतः

लेखः

तद् **वर्णयितुमित्यत्र** **स्वानुभूतमिति** स्वाभिर्लीलास्वनुभूतमित्यर्थः.

योजना

सुन्दरीकर्तृक''मक्षण्वतामि''त्यादित्रयोदशश्लोकोक्तं वर्णनमुक्तं श्रीशुकेन. ततः कथमवर्णयन्निति प्रकारजिज्ञासायां ''तद् वर्णयितुमारब्धा'' इत्यनेनारम्भदशायां स्मरवेगकृतः प्रतिबन्ध उक्तः. ततो भगवता तासां गुणवर्णनशक्तिसम्पादनार्थं ''नटवरे''तिपदद्वयवाच्यं विप्रयोगसंयोगरसात्मकं धृतबर्हापीडत्वेनोद्बुद्धरसस्वरूपं कर्णिकारस्थापनेनोच्छलितरसभावं पीताम्बरधारणेन गुप्ततया सम्पादितरसताकं वैजयन्तीमालावनमालोभयवैशिष्ट्येन शृङ्गाररसोपयोगियावद्रससम्बन्धियशोद्योतकं सुधाज्ञापितस्वीयभोग्यत्वसूचितं स्त्रीभावं स्त्रीभावसूचितभक्तपरतन्त्रताकं शुद्धपुष्टिमार्गीयरसस्वरूपं वेणुरवेण बोधितवान्. तदा श्रोत्रद्वारा नादप्रवेशे नादान्तर्वर्तिसुधासम्बन्धात् पूर्वोक्तप्रकारकं स्वरूपं श्रोत्रीणां देहेन्द्रियप्राणान्तःकरणजीवेषु पूर्णमाविरभूत्. तदेतद् ''बर्हापीडमि''तिश्लोके श्रीशुकेन वर्णितम्, ''वृन्दारण्यं प्राविशदि''त्युक्त्या व्रजसुन्दरीणां हृदयेपि प्रवेशकथनादेतासां हृदयस्य वृन्दावनरूपत्वाद् ''वृन्दावनं सखि भुव'' इत्यस्य सुबोधिन्यां तथा वक्ष्यमाणत्वात्. एवं सुधासंवलितनादद्वारा स्वरूपस्य हृदयप्रवेशे सुधाधिक्याद् गलनरूपवर्णनमभूत्. तदेत''दिति वेणुरवं राजन्नि''तिश्लोकेन शुकेनोक्तम्. तथा च सिद्धमेतत्— ''स्वसखीभ्योऽन्ववर्णयन्नि''त्यनेन उद्देशत उक्तस्य अनुवर्णनस्य प्रकारजिज्ञासायां ''तद् वर्णयितुमारब्धा'' इत्यनेन वर्णनारम्भे प्रतिबन्धमुक्त्वा ''बर्हापीडमि''त्यनेन प्रतिबन्धाभावपूर्वकं वर्णनशक्तिहेतुमुक्त्वा ''इतिवेणुरवमि''त्यनेनानुवर्णनं समर्थितमिति सर्वं सुस्थम्.

तद् वर्णयितुमारब्धा इत्यस्य विवरणे **कार्यतः कारणतः स्वरूपतः फलतश्चेति** वेणुगीतस्य चतुर्धा वर्णनम्. तत्र यद्यपि वर्णनारम्भे प्रतिबन्धोऽभूत् तथापि प्रतिबन्धनिवृत्तौ चतुर्धा वर्णनं जातमेव. तत्र वेणुगीतस्य **कार्यतो** निरूपणं ''वृन्दावनं सखि भुव'' इत्यादिश्लोकेषु. **कारणतो** निरूपणं''मक्षण्वतामि''ति-

स्वरूपतश्च निरूपयितुमारब्धवत्यस्ततो मध्ये वर्णनार्थं **कृष्णचेष्टितं स्मरन्त्यस्त**त्स्मरणजातेन **स्मरेण** यो जातो **वेग**श्चित्तचाञ्चल्यं तेन **विक्षिप्तमनसो** जाताः. **नृपे**ति सम्बोधनं धर्मवत्त्वेन जितेन्द्रियत्वाय ॥४॥

ताभिर्वर्णयितुमशक्यं स्वयं वर्णयति तथात्वज्ञापनाय **बर्हापीडमि**ति.

[1](**बर्हापीडेत्यत्र**— नन्वयं श्लोक पूर्वोत्तरश्लोकानन्वितः. तथा हि पूर्वं **वर्णयितुं नाशकन्नि**त्युक्त्वा **वृन्दारण्यं प्राविशदि**त्युक्तेरग्रे **चेतिवेणुरवं श्रुत्वा वर्णयन्त्योभिरेमिर** इत्युच्यते. एवं सति स्पष्टैवासङ्गतिर्वा[3] मध्यस्थस्यास्य

प्रकाशः

बर्हापीडेत्यत्र आभासे **ताभिर्वर्णयितुमशक्यं स्वयं वर्णयति तथात्वज्ञापनायेति**. यद्वक्ष्यते तत्र वर्णनाशक्तिबीजभूतस्य स्मरवेगस्य तद्धेतुभूतस्य भगवत्स्मरणस्य चाग्रेऽपि सत्त्वात् पश्चात् कथं वर्णनशक्तिरित्याकाङ्क्षायां तामुपपादयितुं प्रभवः श्लोकासङ्गतिमुद्भाव्य वर्णनहेतुं स्वतन्त्रे प्रपञ्च्य स्फुटीकुर्वन्ति **नन्वित्यादिना**. **एवं सतीति** वर्णनाशक्तिहेतोः स्मरणस्याग्रेऽप्यावश्यकत्वेन

लेखः

वेणुगीतञ्चेति— ताभिर्लीलाः कुर्वद् **वेणौ गीतं** स्वरूपमित्यर्थः. **कार्यत** इत्यादि— **कार्यं** देवतानां शृङ्गारोद्बोधः, **कारणं** भगवतो भावोद्बोधः, **फलं** तत्र तत्र लीला, **स्वरूपं** तत्तत्सङ्केतबोधनमिति ज्ञेयम् [4](स्वरूपानन्दस्थापनं **स्वरूपं** विवृतावयवत्वादीति ज्ञेयम्). **स्मरणजातेनेति**, **स्मरण**पदेन व्यापारः **स्मर**पदेन तज्जन्या स्मृतिरिति भेदः ॥४॥

बर्हापीडमित्यत्र पूर्वोत्तरेति पूर्वश्लोकार्थे वर्णनाशक्तावुत्तरश्लोकार्थे वर्णने

योजना

श्लोके, वेणुगीतकारणस्य भगवन्मुखस्वरूपस्य निरूपणात्. **स्वरूपतो** निरूपणं ''गोप्यः किमाचरदयमि''तिश्लोके. **फलतो** निरूपणं ''गागोपकैरि''तिश्लोके. **स्वरूपं नादेऽनुभूयमान एवानुभूतं भवति न तु पृथगिति**. गानकर्तॄणां दूरस्थत्वेन भगवद्वियुक्तत्वान्नादद्वारैव स्वरूपानुभव इत्यर्थः ॥४॥

बर्हापीडमित्यस्याभासे स्वयं वर्णयतीति शुको वर्णयतीत्यर्थः, **तथात्वज्ञापनायेति** गोपिकानां वर्णनाशक्तत्वज्ञापनायेत्यर्थः. **बर्हापीडमित्यत्र**

१, २. इदं स्वतन्त्रद्वयं श्रीमत्प्रभुचरणप्रकटितं कचित्पुस्तकेषु श्रीसुबोधिन्यतःश्लिष्टं दृश्यते
३. लुप्तम्. ४. एकस्मिन्नादर्शे एवं वर्तते.

श्लोकस्येति चेदत्रेदं प्रतिभाति. आद्ये प्रवेशमात्रमुक्तं न तु विशेषतः कर्मोक्तं, द्वितीये च पूर्वं **वेणुं चुकूजे**त्युक्तं, ततस्तत्कूजित**माश्रुत्ये**त्युक्तं, तेन कूजनस्वभावादेव भावोद्दीपनं प्राप्तम्. पश्चादग्रिमकार्यार्थं लीलाविशिष्टं स्वरूपं वेणुद्वारा प्रियेण **गीतमाश्रुत्ये**त्युक्तम्, एवं सत्याश्रुत्येत्यस्यावृत्तिर्ज्ञेया. गीतं हि स्पष्टार्थकं रसनिरूपकं च भवति. तच्छ्रवणेन लीलाविशिष्टस्वरूपानुभवो हृद्यभूदत एव **कृष्णचेष्टितं स्मरन्त्य** इत्युक्तं, तदा [1]तस्यानुभवात्. ततस्तद्विना स्थातुमशक्तास्तद्भावस्वभावादेव[2] तदे**वान्ववर्णयन्नि**त्युक्तम्. एतद्वर्णनं तदा स्याद् यदि गुणलीलाविशिष्टं स्वरूपं सर्वांशेनानुभूतं स्यात्, प्रकृते च **स्मरोदयमेव** गीतं प्रियेण

प्रकाशः

विद्यमानत्वे सति. तथा चाग्रिमश्लोकोक्तवर्णनाबाधसम्भवात् स्फुटैवासङ्गतिरित्यर्थः. **नन्वि**त्यादि. तथा च कर्मनिश्चायकत्वेन श्लोकसङ्गतिरित्यर्थः. वर्णनाशक्तिहेतुं व्युत्पादयन्ति **द्वितीये चे**त्यादिना. **अग्रिमकार्यार्थमि**ति वर्णनाद्यर्थम्. ननु चकाराद्यभावे कथमावृतिः शक्यवचनेति शङ्काया**माश्रुत्ये**त्यस्यावृत्तौ बीजमाहु**र्गीतं ही**त्यादि. तथा च श्रोतव्यभेददेवार्थावृत्तिः प्राप्यत इत्यर्थः. श्रोतव्यभेदं विवृण्वन्ति **तच्छ्रवणे**त्यादिना. अशक्तिं व्युत्पाद्य शक्तिं व्युत्पादयन्ति **चिकीर्षिते-**

लेखः

वा वृन्दारण्यप्रवेशस्य हेतुत्वं नास्त्यतो मध्येऽयं श्लोकोऽनन्वित इत्यर्थः. **कर्मोक्तमि**ति, प्रवेशानन्तरं भगवता कृतं कर्म किञ्चिन्नोक्तमित्यर्थः. **चुकूजे**ति पूर्वमुक्तं न तु जगावित्यतो **वेणुगीतमाश्रुत्ये**ति कथनमनुपपन्नमित्याशङ्क्यावृत्तिः कृतेति ज्ञेयम्. **तत्कूजितमाश्रुत्ये**त्यनेन पूर्वोक्तकूजितानुवादः, तदनन्तरं **वेणुगीतमाश्रुत्ये**त्यनेन द्वितीया गानक्रियाक्षिप्यते. तथा च **तत्कूजितमाश्रुत्य** ततो **वेणुगीतमाश्रुत्ये**त्यन्वयः. **स्मरोदयमि**ति उभयोर्विशेषणम्; तत्पदवाच्यकूजितस्य वेणुगीतस्य च पूर्वत्र स्मरोदयः प्रासङ्गिको द्वितीय उद्देश्य इति विभागः. कूजितगीतयोर्भेदं विवृण्वन्ति **गीतं ही**ति. **स्मरन्त्य** इति, कश्चित्कालमाविर्भूय तिरोहितोऽतः स्मरणमित्यर्थः. **स्वरूपानुभव** इति शब्द इति शेषः, तदनन्तरं तस्य स्मरणमित्यर्थः. **तत** इति लीलाविशिष्टस्वरूपानुभवानन्तरमित्यर्थः. **तद्विने**ति तादृशस्वरूपं विनेत्यर्थः. **स्मरोदयमेवे**ति, स्मरणसिद्ध्यर्थं शाब्द एवानुभवः

---

१. °ननु°. २. °स्वभाव्या°.

कृतमिति न सर्वात्मना तदनुभवोऽतोऽशक्तिरभूत्. एवं सति चिकीर्षितकार्यासम्पत्तिं [1]दृष्ट्वापूर्वं तादृशं नादं प्रकटितवान् यच्छ्रवणेन गुणलीलाविशिष्टमुद्बुद्धरसात्मकं[2] स्वरूपं सर्वेन्द्रियप्राणान्तःकरणजीवेषु पूर्णमाविरभूत्. तदा तद्वर्णनमभूदभितो रमणमपि. एवं सति पूर्वं वर्णनाशक्तिमुक्त्वाग्रे तच्छक्तिहेतुं चैकेन श्लोकेनोक्त्वा शुका आहु**रितिवेणुरवमि**ति— एवम्भूतं [3]पूर्वोक्तश्लोकोक्तरूपं न तु पूर्ववत् केवलं वेणुरवमित्यर्थः. एवं सति **तद् व्रजस्त्रिय आश्रुत्य तद् वर्णयितुं नाशकन्न**नेवंरूपत्वात् तस्य. **इतिवेणुरवं** "बर्हापीडे"तिश्लोकोक्तं वेणुरवमित्यर्थः. **श्रुत्वा वर्णयन्त्योभिरेभिर** इतिश्लोकसङ्गतिर्निःप्रत्यूहा सिद्धा. तारतम्येन रसानां क्रमेणाविभवि महान् रस इत्येवङ्कुरणं, दुर्लभत्वं चैतस्य रसस्य ज्ञापितम्. परमकाष्ठापन्नस्वतन्त्रमहाफलदित्सयैवं कृतवान् प्रभुरिति ज्ञेयम्, अन्यथा शक्रशर्वादीनामज्ञानेप्युपेक्षावदत्रापि तथा भवेत्. अन्यद् व्याख्याने स्फुटीभविष्यति).

[2](भावोद्दीपकत्वमात्रत्वं कूजनधर्म इति तत्कार्ये सम्पन्ने तद्वर्णने जायमाने

प्रकाशः

त्यादिना. सिद्धमाहु**रेवं सती**त्यादि. सङ्गतिसिद्धये **कूजितवेणुगीत**पदाभ्यां यद्वेणुगीतं कूजितातिरिक्तमङ्गीकृतं तत्र बीजमाहु**स्तारतम्येने**त्यादि.

पूर्वव्याख्याने **स्मरवेग**पदेन कामवेगो व्याख्यातस्तथा सति सर्वात्मभाववतीभिः कृतमेतद्वर्णनं न भविष्यतीतिशङ्का स्यादतस्तन्निवृत्त्यर्थं स्वतन्त्रान्तरे **स्मरवेग**पदं प्रकारान्तरेण व्याकुर्वन्ति **भावोद्दीपके**त्यादि **ज्ञापितं भवती**त्यन्तम्.

लेखः

कारितो न त्वनुभावने तात्पर्यमित्यर्थः. **सर्वात्मने**ति सर्वांशेनेत्यर्थः. **सर्वेन्द्रिये**ति, आन्तररमणे इन्द्रियादिष्वेवाविर्भावो न तु देहे इति भावः. पूर्वं हृद्येवाविर्भाव उक्तः अधुना इन्द्रियादिष्वपीति विशेषः. **पूर्ववत् केवलमि**ति, पूर्वत्र श्रवणं स्वस्यैव तेन हृदि स्वरूपानुभवः, अधुना त्वर्थविशिष्टस्य श्रवणं तेन श्रोत्रेन्द्रियेपि तदाविर्भावः. तथा च **गीतं हि स्पष्टार्थकम्** इत्यत्र स्पष्टोऽर्थो यस्मादिति पञ्चमीबहुव्रीहिर्ज्ञेयः.

वर्णयितुमशक्यमिति इन्द्रियादिषु पूर्णाविर्भावं विनेति शेषः. **तथात्वज्ञापनाये**ति तादृशस्वरूपे वर्णनाशक्तेरुचितत्वज्ञापनायेत्यर्थः. शुकस्य त्वेतल्लीलास्थत्वाभावात् वर्णनं सम्भवत्येव. **भावोद्दीपकत्वे**ति, **स्मरोदय**पदस्यार्थोऽनेनानूदितः.

---

१. ष्ट्वा पू°. २. °त्मकस्व°. ३. °र्वश्लो°.

स्मरवेगजश्चित्तविक्षेपः प्रतिबन्धक उक्तः कृष्णचेष्टितस्मरणं चाशक्तौ स्मरवेगे च हेतुरुक्तस्तर्ह्यग्रेप्यावश्यकत्वात् सार्वदिकत्वाच्च वर्णनं न स्यादेवेति शङ्कामपनुदन्नग्रे वर्णनायामुपपत्तिमाहैकेन **बर्हापीडमित्यनेन**. अत्रैवं ज्ञेयम्— सामोपनिषत्सु "स्मरो वा आकाशाद् भूयस्तस्माद् यद्यपि बहव आसीरन् न स्मरन्तो नैव कश्चन शृणुयुर्न मन्वीरन् न विजानीरन् यदा वाव ते स्मरेयुरथ शृणुयुरि"त्यादिना स्मरणस्यैव **स्मर**शब्दवाच्यत्वमुच्यते स्मरणं स्मर इतिव्युत्पत्तेः. प्रकृते स्वामिनीनां मुखारविन्देषु स्वाधरसुधासम्बन्धः प्रभुणाग्रिमप्रयोजनार्थमवश्यं [1]कारणीयः, स च वर्णनेनैव भवति. तच्च न सुधासंवलितनादान्तःप्रवेशं विना भवितुमर्हति. तत्प्रवेशेपि पूर्ववत् कृष्णचेष्टितस्मृतौ न तत् सम्भवति. अत एव नदीवेगस्येवान्याप्रतिबध्यत्वं स्मरणस्य ज्ञापयितुं **स्मरवेगेने**त्यप्युक्तम्, अन्यथा न वदेत्, **कृष्णचेष्टितं स्मरन्त्यो नाशकन्ने**तावतैव चारितार्थ्यात्. अतो नादप्राधान्येनैव नादस्मरणं तद्धेतुत्वेनैव च प्रभुस्मरणं न तु प्राधान्येन चेत् तदा सर्वं सम्पद्यत इति स्वयं विचार्य पूर्वमतथाकृत्वापि तदशक्तिं दृष्ट्वोक्तकार्यार्थमुद्बुद्धपूर्णशृङ्गार-

प्रकाशः

तेनाधिकारिभेदेनार्थद्वयमत्राप्यभिप्रेतं ज्ञेयम्. किञ्च यद्यपि श्रीमदाचार्यचरणोक्तेनैवाभासेन सङ्गतिः सिध्यति तथापि यदसङ्गत्युद्भावनतत्समाधी प्रभुभिः कृतौ तौ सङ्गतिबीजाविष्करणाय. तत्राप्येकवारं सङ्गतिबीजमुद्घाट्य यत्पुन**र्भावोद्दीपके**त्यादिना समर्थितं तन्नादस्वरूपपरिचायनायेति ज्ञेयम्. एवं सत्यशक्त्युत्पादके नादे प्रभोरेव प्राधान्येन हार्दानुभवान्नादस्य गुणभावात् स्मरोदयो वर्णनीये च नादे प्रभोः सर्वत्राविर्भावः परं न नादगुणभावेनेति नादस्य प्राधान्यमिति तयोर्नादयोः स्वरूपं फलतीत्यपि ज्ञेयम्. उक्तश्रुतौ **चाकाशाद् भूय** इत्यत्र विभक्तिलोपश्छान्दसः, अलोपे भूयान्. अर्थस्तु नियामकत्वादभ्यधिकत्वाच्चाधिक इति बोध्यः.

लेखः

मात्रपदेन **बर्हापीडे**तिश्लोकोक्त इन्द्रियादिषु स्वरूपाविर्भावो व्यावर्तितः. **कूजन**पदेनात्र गीतमपि ज्ञेयम्, तस्यापि स्मरोदयत्वोक्तेः. **स्मरवेगज** इति, स्मरकृतचित्तचाञ्चल्यजनितचित्तविक्षेप इत्यर्थः. **स्मरवेगे चे**ति स्मरकृतचित्तचाञ्चल्य इत्यर्थः. व्याख्याने **अग्रिमेति** मुखेषु भगवद्भोग्यसुधाभोगयोग्यतासिद्ध्यर्थमित्यर्थः.

[1] कर°.

रसात्मकमुद्बोधकाच्छादकविक्षेपकशक्तिमत्त्वेनाखिलाङ्गयुक्तमपि[1] स्वरूपं नादेऽनुभूयमान एवानुभूतं भवति न तु पृथगित्येवम्भूतं नादं सम्पाद्य शुद्धपुष्टिस्थानं **प्राविशत्** पुष्टिमार्गाङ्गीकारं प्रकटीकृतवान्. तथा सति ह्येतासां साक्षाद्भोगः सम्भवति, अन्यथैतावत्करणं निःप्रयोजकं स्यात्. यथा वृन्दाङ्गीकारेण दुष्टनिवारणं कृतवानेवमेतदङ्गीकारेणापि कीर्तिद्वारा विश्वस्य सर्वस्यैव दोषं दूरीकरिष्यतीति निर्दोषत्वमप्यस्या लीलायाः ख्यापयितुमन्ते विशेषणम्. एवं सति निःप्रत्यूहं रववर्णनमभूद्, अतो वर्णनाशक्तिमुक्त्वा तत्साधनं मध्ये निरूप्यास्याग्रे तदुक्तम्. एतेन वेणुरवस्वरूपमेव वर्णितं भवति, अत **एवेतिवेणुरवमि**त्येवाग्र उक्तम्. तेन पूर्वस्माद् विलक्षणत्वं नादस्य ज्ञापितं भवति).

बर्हापीडं नटवरवपुः कर्णयोः कर्णिकारं
बिभ्रद् वासः कनककपिशं वैजयन्तीञ्च मालाम् ।
रन्ध्रान् वेणोरधरसुधया पूरयन् गोपवृन्दै-
र्वृन्दारण्यं स्वपदरमणं प्राविशद् गीतकीर्तिः ॥५॥

वाक्यार्थोऽत्र वर्णनीयो, न तु रूपमात्रं, तथा सति रूपं वेणुनादः क्रीडा

लेखः

नादेऽनुभूयमान इति. इदं **बिभ्रद्वेणो रन्ध्रान् पूरयन्नि**ति समभिव्याहारादेतस्य नादे पूरणमुक्तमिति ज्ञेयम्. तदानुभव एव न स्मरणमतः स्मरवेगाभाव इति भावः. **स्मर**पदस्य कामवाचकत्वे तदापि तद्वेगः स्यादतः स्मरणवाचकत्वं व्युत्पादितम्. **न पृथगिति**, पृथगनुभवे बाह्यरमणमेव स्यादिति भावः. **साक्षाद्भोग** इति न त्वंशावतारेष्विव सत्त्वव्यवधानेनेत्यर्थः. अत एव **हिशब्दः**. **अन्यथे**ति योग्यतां विनैव भोग इत्यर्थः. **एतदङ्गीकारेणे**ति गोपिकाङ्गीकारेणेत्यर्थः. "विक्रीडितं व्रजवधूभिरि"तिवाक्यादिति भावः. **एवं सतीति** स्मरणाभावे सतीत्यर्थः. पूर्वोक्तो नादः स्मरोदयोऽयमनुभावक इति निर्गलितो विभेदः.

वाक्यार्थ इति, अग्रे वर्णनीयो रूपलीलासहितो वेणुरवोऽत्र वाक्यार्थ

योजना

वाक्यार्थो वर्णनीय इति, गोपिकाभि**र्वर्णनीयो** वेणुरवो**ऽत्र** "बर्हापीडे"तिश्लोके **वाक्यार्थो** मुख्यत्वेन भवतीत्यर्थः. **तथा सतीति**, वेणुरवस्य वाक्यार्थत्वे

[1] °क्षेपश°.

चेति त्रयं वर्णितं स्यादन्योन्यसम्बन्धे प्रकारविशेषश्च. एतादृशं **वपुर्बिभ्रद् वेणो रन्ध्रान् पूरयन् वृन्दारण्यं प्राविशदिति** सम्बन्धः. स्वरूपगुणलीला उक्ताः क्रमेणैव. [1]**बर्हो** मयूरपिच्छं स[2] **एवापीडः** शिरोभूषणं यस्य वपुषः. नृत्यन्मयूरानुकरणश्चैतत्. स चोद्बुद्ध रस एव तथेति भगवतोप्युद्बुद्धरसात्मकत्वं सूचितं भवत्यनेन, अतो युक्तैवाशक्तिरिति भावः. **नटवद् वरवच्च वपुः.** रसो हि द्विविधो-[3]धर्मसहितः केवलश्च. केवलो नाट्ये प्रसिद्धो [3]धर्मसहितः सम्भोगे. भगवतो वपुरु-

प्रकाशः

सुबोधिन्यां **धर्मसहित** इति स्वसमानाधिकरणा या स्वप्रयुक्ता क्रिया तद्विशिष्ट इत्यर्थः. **केवल** इति स्वव्यधिकरणस्वप्रयुक्तक्रियाविशिष्टः. **भगवांस्त्व-**

लेखः

इत्यर्थः. वृन्दारण्यप्रवेशस्याद्यश्लोकेन प्राप्तत्वादत्र तदनुवादेनायमेव वाक्यार्थ इति भावः. **प्रकारविशेषश्चे**ति वर्णितः स्यादिति शेषः. नादस्य रूपक्रीडयोश्च वाच्यवाचकभावसम्बन्धः. नादे वाच्यतासम्बन्धेनैतदुभयं वर्तत इत्यनयोरन्योन्यं सामानाधिकरण्यसम्बन्धः. नादेन सह रूपक्रीडयोरप्यनुभवकथनात् त्रयाणामपि सामानाधिकरण्यं च वेण्वाधारत्वमित्यर्थः. **स्वरूपगुणलीला** इति, अग्रे वेणोः षोढा वर्णनीयत्वात् तेन गुणा उक्ता इति ज्ञेयम्. **चैतदि**ति, भूषणार्थं धारणमेतत्सूचनार्थं च धारणमिति समुच्चयार्थश्चकारः. आभासे **तथात्वज्ञापनाये**त्युक्तमुपसंहर**न्त्यतो युक्तैवे**ति. एतादृशस्य सर्वांशेनानुभवाभावेऽनुबुभूषाया विद्यमान-

योजना

वेणुरवप्रतिपाद्यस्वरूपस्य वेणुनादस्य क्रीडायाश्च प्रतिपाद्यत्वं स्यादित्यर्थः. **स्वरूपे**त्यादि— **वपुर्बिभ्रदि**त्यनेन **स्वरूपं रन्ध्रान् वेणोः पूरयन्नि**त्यनेन **गुणः वृन्दारण्यं प्राविशदि**त्यनेन च **लीला उक्ता** इति ज्ञेयम्. **नृत्यन्मयूरानुकरणं चेति** मुकुटधारणं शोभाधायकम्; उद्बुद्धपूर्णरसात्मकतासुचनाय **नृत्यन्मयूरानुकरणं चेति** चकारार्थः. **केवलो नाट्य** इति **केवल** इति उद्दीपनादिसामग्रीरहितो विप्रलम्भ इत्यर्थः, अभिनये तथैवोपलभ्यमानत्वात्. अभिनेतारो हि पुष्पादिसामग्रीं हस्ताभिनयेनैव प्रदर्शयन्ति, न हि तत्र पुष्पाणि सन्त्यतो विप्रलम्भरसस्य सामग्रीराहित्यात् केवलत्वम्. यद्यपि [4]भगवद्विप्रलम्भस्यालौकिकत्वान्मनसा

१. बर्हम्. २. तदेव. ३-३. धर्मि°. ४. भगवदीयेति पाठः.

भयविधमप्यत उक्तं **नटवद् वरवदिति. वरः** प्रत्यग्रभोक्ता. भगवांस्तु हृदयेपि वर्तते. तावतापि ज्ञानिनामिव न तासां सुखमिति ज्ञापयितुं वपुषो भरणं निरूप्यते, [1](यथा पात्रस्थं रसं पाययितुमुद्यतस्तत्पात्रं हस्ते बिभ्रद् भवति पुरुषस्तथा स्वरूपात्मकं रसमेताभ्यो[2] दातुमुद्यत इति ज्ञायत [3]एतादृग्वपूरूपप्राकट्येनेति

टिप्पणी

स्वस्वरूपातिरिक्तस्य वपुषोऽत्राभावात्तद्भरणोक्तिरसङ्गतेत्याशङ्क्य तत्तात्पर्यमाहुर्**भगवांस्त्वि**त्यादिना. उक्तरीत्योद्बुद्धद्विविधरसात्मकं हि वपुः, रसश्च

प्रकाशः

त्यादेस्तात्पर्यं टिप्पण्यामुपपादयन्ति **स्वस्वरूपे**त्यादि. नन्वमूर्तत्वेन प्रसिद्धस्य मूर्तता प्रमाणं विना न हृद्यायातीति तदर्थं तामुपपादय**न्त्यत्रैवमि**त्यादिना. **भक्तार्थं तथे**ति रूपप्राकट्यम्. वपुर्भरणस्य तात्पर्यान्तरं प्रभवः स्वतन्त्रान्तर आहु**र्यथा**

लेखः

त्वापद्वर्णनाशक्तिर्युक्तैवेत्यर्थः. **बिभ्रदि**त्यस्य बहिः प्रकटं कुर्वन्नित्यर्थः. प्राकट्यस्य **बिभ्र**त्पदार्थत्वं विशदयन्ति **यथे**ति. पात्रभरणेन कारणेन कार्यं रसदानमनुमीयते तथात्र वपुःप्राकट्येन कारणेन भक्तेभ्यो रसदानं कार्यमनुमीयते. तथा च रसदानकारणत्वधर्मसाम्येन प्राकट्यं भरणपदार्थ इत्यर्थः. पात्रस्थानीयो धर्मिरूपो भगवान्, तत्स्थरसस्थानीयस्तासु स्थापनीयो धर्मरूपः (भावात्मकभगवद्रूपः

योजना

भाव्यमानापि सामग्री सत्यरूपैव तथापि सामग्र्या अनाविर्भावितत्वात् केवलत्वम्. तथा चाविर्भूतसर्वसामग्रीविशिष्टत्वं संयोगरसत्वमनाविर्भूतसामग्र्यभिन्नरूपत्वं विप्रयोगरसत्वमिति विवेकः. **भगवतो वपुरुभयविधमिति.** अत्रेदं ज्ञेयं— लौकिके हि पुरुषाधिकरणको रसो न तु पुरुषो रसरूपः, भगवति त्वलौकिकत्वाद् "रसो वै स" इतिश्रुते रसरूपत्वम्. अतो भगवद्वपुष एव संयोगविप्रयोगात्मकत्वमुक्तम्. युगपद्रसद्वयात्मकतायाः श्रुतिसिद्धत्वेपि युक्त्यगोचरत्वं यद्यपि प्राप्तं तथापि वनस्थितभक्तैस्सह संयोगात् संयोगरसात्मकत्वं व्रजस्थितभक्तैः सह वियोगाद् विप्रयोगरसात्मकत्वमिति युक्तिविरोधो न शङ्कनीयः. रसस्य भगवदभेदाद् भगवद्वपुषोपि भगवदभेदाद् **भगवतो वपुरुभयविशमित्यु**क्तम्. **नटवरवपूरूप** इति.

१, १. इदं स्वतन्त्रद्वयं श्रीमत्प्रभुचरणप्रकटितं क्वचित्पुस्तकेषु श्रीसुबोधिन्यस्तःसंश्लिष्टं दृश्यते.
२. एतोभ्यो भक्तेभ्यः. ३. एतादृक्स्वरूप°.

ज्ञापयितुं **वपुर्बिभ्रदित्युक्तम्**). न तु स एव तथा.[१](अथ वा **नटवरवपुरिति** विशेष्यं पदम्. **नटवरवपूरूपः** **प्राविशदिति** सम्बन्धः, **बिभ्रत्पदस्य** **बर्हापीडकर्णिकारवासोमालापदैः** समं सम्बन्धः). **कर्णयोः कर्णिकार**कुसुमं यस्य, अलुक्सप्तमी, **बिभ्रदिति** वा सम्बन्धः. **कर्णिकारस्तु** शृङ्गारोद्बोधकः. शृङ्गारस्तु [१]संयोगविप्रयोगभेदेन द्विविधः. श्रोत्रे तदुभयप्रतिपादके, तयोः **कर्णिकारसम्बन्धेन**

टिप्पणी

भावात्मकत्वात् स्वप्रियाव्यतिरिक्तेषु भक्तेषु[२] तादृशत्वस्याप्रकटनाच्चामूर्तत्वेन लोके प्रसिद्धः. वपुर्बिभ्राणस्तु बहिः स्वस्वरूपं प्रकटयन् भवति, तथायमपि कुर्वन् **वृन्दारण्यं प्राविशदिति**. अत्रैवं ज्ञेयम्— शब्दात्मकत्वेनामूर्तत्वेन लोके प्रसिद्धा अपि[३] "वेदा यथा मूर्तिधरास्त्रिपृष्ठ" इतिवाक्यात् [४]सार्वदिकशब्दब्रह्मात्मकमूर्तिप्राकट्यवन्तो यथा, तथा ब्रह्मणः साकारत्वात्सार्वदिकमेव रसात्मकं वपुर्वृन्दारण्ये एव प्रकटितवान्. हृद्येव प्राकट्ये तु मनोमात्रभोग्यत्वम्, बहिःप्राकट्ये सर्वेन्द्रियभोग्यत्वम्. एवं सति चक्षुराद्यविषयत्वे प्रियपदार्थस्य मनोमात्रविषयत्वं दुःखदमित्यनुभवसिद्धमतो भक्तार्थं तथेति. **न त्विति, स एव** भगवानेव **तथा** आत्मभिन्नवपुषो भर्तेत्यर्थः.

प्रकाशः

पात्रस्थमित्यादि. व्याख्यानक्लेशनिवृत्त्यर्थं स्वतन्त्रान्तरे प्रकारान्तरमाहु**रथवे**त्यादि.

लेखः

स्त्रीभावो गूढ इति वक्ष्यमाणः) आनन्दः, भरणस्थानीयं धर्मिरूपस्य वपुः-प्राकट्यम्. दृष्टान्ते धारणस्य भरणपदार्थत्वात् कर्तृभिन्नत्वं कर्मणः, दार्ष्टान्तिके प्राकट्यस्य भरणपदार्थत्वात् "तदात्मानं स्वयमकुरुते"तिवत् स्वरूपस्यैव कर्मत्वं कर्तृत्वञ्चेति. पूर्वं हृद्येव प्राकट्यं तेन वर्णनाशक्तिरुक्ता, अधुनेन्द्रियप्राणान्तः-करणजीवेषु प्राकट्यमिति **बिभ्रत्**पदेनोक्तमिति भावः. **श्रोत्रे** इति, संयोगे प्रियावचनश्रवणेन विप्रयोगे तद्गुणश्रवणेन चोभयविधशृङ्गारानुभावक इत्यर्थः

योजना

नटवद् वरवद् वपुर्यस्येत्युक्ते वपुषः स्वरूपात् पार्थक्यमायातीति पार्थक्यनिरा-

---

१. °विप्रयोगेन. २. 'भक्तेषु' इति मूलपाठे नास्ति. ३. अपि वेदा 'वेदा' मू. पा.
४. त्रिपृष्ठे सार्व° मू. पा.

पूर्वं निरूपितो रस उच्छलितो भवति. तादृशस्तु रसो गुप्त एव रसत्वमापद्यत इति पीताम्बरं वर्णयति **कनककपिशं वासो बिभ्रदिति**. उद्बुद्धे रसे गोपिका वासो न गणयेयुरिति व्यामोहककनकतुल्यता निरूपिता— **कनकवत् कपिशं** पीतमिति. माया हि सा, अतो यत्र वसनाकृतिरपि न सम्यगवलोकिता तत्र तेन वसनेनाच्छन्नं रसं कथमुद्घाटयेयुः? ततोप्याच्छादिकामाह कीर्तिमयीं वनमालां **वैजयन्तीञ्च मालां बिभ्रदिति**. **वै** निश्चयेन सर्व**जय**प्रकाशिका **वैजयन्ती.**

टिप्पणी

वैजयन्तीं च मालामित्यस्याभासे, **ततोप्याच्छादिकामि**ति. विक्षेपस्यापि

प्रकाशः

कनककपिशमित्यत्र **सेति** कनककपिशतेत्यर्थः. **ततोप्याच्छादिकामि**त्यस्यार्थं टिप्पण्यामाहु**र्विक्षेपस्ये**त्यादि. वैजयन्तीमालात्र न नवरत्नखचिता किन्तु पुष्प-

लेखः

तयोरिति, शृङ्गारानुभावके तदुद्बोधकस्थापनेन भगवतो रसोद्बोधात् **पूर्वं निरूपितः** स्वरूपात्मको **रस उच्छलितो**ऽवयवविकारादिरूपो **भवती**त्यर्थः. **तादृशस्त्विति** आलम्बनरूप इत्यर्थः. कटाक्षाद्यनुभावरूपस्त्वगुप्तोपि तथेति तद्व्या-वृत्त्यर्थं **तु**शब्दः. **गुप्त एवे**ति, प्रकटस्तु रसाभासजनकत्वेन रसपोषको भवेदपि न तु रसत्वमापद्येते**त्येव**कारः. **पीताम्बरं** कटिस्थं ज्ञेयम्. **उद्बुद्धे रस** इति ज्ञाते इति शेषः. तथाज्ञाने समयविशेषे तथा जातत्वादधुनापि रसत्वसाधकं वासोऽ-विगणय्य तमेवालम्बनं रसाभासं वर्णयेयुर्न तु श्लोकद्वयेन रसद्वयमित्यर्थः. **माया हीति हि**शब्देन सम्मतिः— धने मदजनकत्वस्य शास्त्रसिद्धत्वात् तत्सादृश्यकथनेन रूपेऽपि पीते मदजनकत्वं सूचितम्, तेन सम्यगवलोकनाभावः सूचित इत्यर्थः. **आच्छन्नं रसमि**ति आलम्बनमित्यर्थः, **उद्घाटयेयुरि**ति जानीयुरित्यर्थः. नादद्वारा पीताम्बरानुभवे भगवदिच्छया तादृशो मदः समजनि येन तदन्तःस्थितालम्बनादि-विचारो न जात इति निर्गलितोर्थः. **कीर्तिमयीमि**ति मूले **माला**पदेन वनमाला

योजना

करणाय **वपूरूप** इत्युक्तम्. **गोपिका वासो न गणयेयुरि**ति. रसोद्बोधेनै-वात्यार्त्या भगवद्वाससः पीताम्बरस्य गणनामकृत्वावलोकनं कुर्युस्तथात्वे रसस्य प्राकट्याद् रसाभासः स्यादतो गोपनार्थं पीताम्बरस्य मायारूपत्वं निरूपितम्. माया हि भगवत्साक्षात्कारे जवनिकेव तिष्ठति, प्रकृतेपि रसाच्छादिका जातेति-

एवं रसद्वयं तदुद्बोध आच्छादकं विक्षेपकं च रूपे निरूपितम्. नामलीलारूपं वेणुनादं निरूपयति **रन्ध्रान् वेणोरि**ति. रन्ध्रा वेणोः सप्त. सुधा त्रिविधा– देवभोग्या भगवद्भोग्या सर्वभोग्या च. तत्र हेतुर्लोभात्मकेऽधरे स्थापिता. तस्याः साक्षादनुभवो नोच्छिष्टेन सम्भवति, अतः श्रोत्रपेयैव सा. सा हि सर्वेषां भगवदीयत्वं सम्पादयति. आनन्द एव सा प्रकटा द्रवीभूता ब्रह्मानन्दादप्यधिका

टिप्पणी

वस्तुयाथात्म्यज्ञानाच्छादकत्वमस्तीत्याशयेनेदमुक्तम्, अन्यथाग्रे **विक्षेपकं च रूपे निरूपितमि**ति न वदेयुः. **रन्ध्रान्वेणोरि**त्यत्र गूढाभिसन्धिना हेत्वन्तरमप्याहु-

प्रकाशः

मयीति बोधयितुमाभासे **वनमाला**पदम्. "आपादलम्बिनी माला वनमाला प्रकीर्तिते"ति वैजयन्त्याः पुष्पमयीत्वमुत्तरार्धे बलदेवतीर्थयात्रायां "वैजयन्तीं ददुर्मालां श्रीधामाम्लानपङ्कजामि"ति मूले सुबोधिन्यां च स्फुटमिति न विमर्शग्रन्थविरोधः.

रन्ध्रा वेणोः सप्तेति, तेन षड्गुणसहितधर्म्यनुभावका इति भावः. प्रस्तुतसुधायाः सर्वोत्कृष्टत्वायाहुः **सुधा त्रिविधे**त्यादि. **देवभोग्या** दिव्यस्त्र्यादिनिष्ठा

लेखः

ज्ञेया, तथा च **वैजयन्तीं वनमालाञ्च बिभ्र**दित्यर्थः. वैजयन्त्याः कीर्तिरूपत्वं योगेन व्युत्पादयन्ति **वै निश्चयेने**ति. **सप्ते**ति, नादे गुणसहितस्वरूपस्थापनं सङ्ख्यातात्पर्येणापि ज्ञाप्यत इत्याशयः. मूले **सुधये**त्येकवचने प्रसङ्गेनान्ययोरपि स्वरूपं निरूपणीयमतस्त्रैविध्यं विवृण्वन्ति **सुधे**ति. दीव्यन्तीति देवास्तद्भोग्या सरिदादिषु स्थापिता मुख्यांशभूतेत्यर्थः. मुख्यलीलायां **भगवतो भोग्या** भगवल्लोभतल्लोभस्थितेत्यर्थः. **सर्वैर**पि साक्षाद**भोग्या** परम्परया नादमार्गेणैव भोग्येत्यर्थः. **तत्रे**ति त्रैविध्ये इत्यर्थः. **अधरो** हि **लोभात्मक**त्वाद्यथायोग्यं विविच्य सर्वेभ्यो ददाति, अतस्त्रैविध्यमित्यर्थः. ननु सर्वभोग्याया अप्यधरे एव विद्यमानत्वात् लीलायां कुतो न तद्भोग इत्यत आहुः **तस्या** इति. वर्णनात् पूर्वं तु अयोग्यतैव, तदनन्तरं तु सा पूर्वं वर्णनायां मुखे समागतेति गमनागमने तस्याः प्राधान्यात् मुखं तदुच्छिष्टं तच्छेषभूतं जातमतः साक्षात् तादृशेन मुखेन तस्या अनुभवो न भवतीत्यर्थः. नादद्वारानुभवस्तु परम्परयेति भावः. [1](मुखद्वाराऽभोगे हेतुमाहुस्**तस्या** इति.

१. इत्यधिकमेकस्मिन्नादर्शे.

आनन्दसारभूता. सा न कथञ्चित् साधनतामापद्यते स्वतः, अतो नादब्रह्मणि

योजना

सूचनार्थं व्यामोहककनकतुल्यता निरूपिता, पीताम्बरस्य भगवत्स्वरूपगोपनान्मायात्वम्. **वै निश्चयेन सर्वजयप्रकाशिके**ति[1]– "साक्षान्मन्मथमन्मथ" इतिवाक्यादाधिदैविकमन्मथजेतृत्वं स्वरूपलावण्यस्य कमलादिजेतृत्वं नयनयोरेवं सर्वजयप्रकाशिका वैजयन्तीति ज्ञेयम्. **वै निश्चयेने**ति व्युत्पत्तिस्तु नैरुक्ती ज्ञेया. **तस्याः साक्षादनुभवो नोच्छिष्टेने**ति, भगवत्कर्तृकं भोगं विना **न सम्भवती**त्यर्थः. तथा च यदा फलप्रकरणे भक्तनिष्ठसुधां भगवान् भोक्ष्यते तदनन्तरं रसाधिक्ये भक्ताः साक्षादुच्छिष्टेन भगवत्सुधां भोक्ष्यन्त इति हृदयम्. **अतः श्रोत्रपेयैवे**ति. प्रकृते फलप्रकरणाभावाद् व्रजस्त्रीणां भगवन्निकटस्थित्यभावाद् वेणुद्वारैवाधरसुधाप्राप्तिः, सुधाया वेणुनादसम्बद्धत्वान्नादस्य श्रोत्रमात्रग्राह्यत्वात् तत्सम्बद्धसुधाया अपि श्रोत्रमात्रपेयत्वमिति भावः. तथा च संयोगावस्थायां [2]साक्षात्पेयत्वेपि वियोगावस्थायां तु श्रोत्रपेयत्वमेवेति विवेकः. किञ्च भगवद्भोग्याधिदैविकस्त्रीविग्रहप्राप्तानामेवैतस्याः सुधायाः साक्षाद्भोगोऽन्येषां सरित्सरोलतावृक्षमृगीगोपमेघादीनां तु तादृशविग्रहाभावाद् वेणुनादद्वारा श्रोत्रेणैव पानमतः सर्वेषां **श्रोत्रपेयैव.** अतः सर्वेषां साक्षात्पानाभावात् सुधायास्त्रैविध्यनिरूपणे यत् सर्वभोग्यत्वं निरूपितं तत् समर्थितम्. **आनन्द एव सा प्रकटे**ति साम्प्रतं वियोगावस्थायामित्यर्थः. इदमत्र ज्ञेयम्– "आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्" "तस्माद् वा एतस्माद् विज्ञानमयादन्योन्तर आत्मानन्दमय" इत्याद्यनेकश्रुतिषु पुरुषोत्तमस्यानन्दरूपत्वमानन्दमयत्वं चास्ति. तत्रायं विवेकः– संयोगावस्थायां सर्वसामग्रीसाहित्यात् सामग्र्याश्चानन्दरूपत्वादानन्दमयत्वं भगवतः, वियोगावस्थायां सर्वसामग्र्या भगवदभेदेन स्थितत्वादानन्दरूपत्वम्. तथा च सम्प्रति व्रजस्थितगोपिकानां भगवद्वियुक्तत्वात् तद्वियोगात्मकरसात्मको भगवा'नानन्द'पदवाच्यः. **तत्रैव सा सुधा प्रकटे**ति दूरस्थितत्वेन वेणुनादद्वारैव प्राप्या न तु साक्षादिति भावः. **आनन्दसारभूते**ति **आनन्दरूपेषु** भगवदवयवसम्बन्धिभोग्यपदार्थेषु **सारभूता.** ननु भगवदवयवसम्बन्धिभोग्यपदार्थेषु सर्वस्यैव सारत्वात् तत्र सारासारविवेकस्य वक्तुमयोग्यत्वात् कथं सारत्वमित्याशङ्क्य स्वोक्तं सारत्वं स्वयमेव व्याचक्षते

१. अत्र 'शृङ्गाररससम्बन्धिजयप्रकाशिकेत्यर्थः' इत्यधिकम्. २. उच्छिष्टरीत्या पानम् इति पाठः.

तां योजयितुं नादोत्पत्तिस्थाने वेणौ तत्रापि तद्रन्ध्रेष्वमूर्तत्वात् पूरिता. न हि सा साक्षाद् वेणुमपि स्पृशति. **वेणोरि**त्यसमासाद् वेणुमध्येपि सा न. अतो यदा नादस्तद्द्वारा गच्छति तदा तेन सम्बद्धा गच्छति. ततः कर्णद्वारा हृदये प्रविष्टा वर्णनायां मुखे समागच्छन्ती मुखमपि स्वभोगयोग्यं करोति.

लेखः

उत्तरदलात्मकस्वरूपं श्रोत्रद्वारा हृदि प्रविष्टं सदनुभूतं भवति, ततो वर्णने मुखद्वारा निर्गच्छतीति रसमयदित्यर्थः. **उच्छिष्टेने**ति, ततो निर्गमनादुच्छिष्टं मुखं तेनेत्यर्थः. अन्यमुखतो निर्गतस्य श्रवणेऽपि तन्मुखस्य परम्परया हेतुत्वम्, साक्षात्करणत्वन्तु स्वश्रोत्रयोरेवेति **साक्षादित्युक्तम्. अत** इति, **सो**त्तरदलात्मिका **श्रोत्रपेयैव,** मुखद्वारा पाने पूर्वदलत्वमेव स्यादिति भावः. अत एव **न सम्भवतीत्युक्तमेव**कारश्चात्रोक्तः). वेणौ स्थापने भगवतस्तात्पर्यमाहुः **सा हीति**, सर्वभोग्या देवभोग्या चेत्यर्थः. **सर्वेषामिति** भोग्यदेहेन्द्रियादीनां देवानाश्चेत्यर्थः. **आनन्दः एवेति– द्रवीभूता** सर्वांशसम्बन्धार्थं विरलावयवा सर्वांशेन **प्रकटा** आनन्दरूपैवेत्यर्थः. **आनन्दसारेति– आनन्दस्य** भगवतोपि **सारभूतेत्यर्थः. स्वत** इति, लोभस्थत्वात् स्वतो न कुत्रापि याति अतो भगवानेव योजितवानित्यर्थः. "वेणुं वादयन्नि"त्येतावतैव चारितार्थ्येऽपि मूले सुधापूरणकर्तृत्वोक्तेस्तात्पर्यमिदमिति ज्ञेयम्. **अमूर्तत्वादि**ति विरलावयवत्वादित्यर्थः. **न हीति**, रन्ध्रस्तदन्तर्वर्ती अवकाशस्तस्येप्सिततमत्वोक्त्या रन्ध्रद्वारा परम्परया वेणुस्पर्शसम्भवेपि साक्षात् तं न स्पृशतीत्यर्थः. **स्वभोगयोग्यमिति– स्वस्य** भगवद्भोग्यसुधारूपं यत् स्वरूपं तत्कर्मकभोगयोग्यमित्यर्थः. **यावच्चे**ति तत्रैव विशेषबोधनाय चकारः. **निरोधः**

योजना

सा न कथञ्चिदित्यादिना. अन्येषु भगवत्सम्बन्धिषु भोग्यपदार्थेषु साधनत्वं फलत्वं चास्ति. तथा हि यथा भगवद्धस्तो भक्ताह्वाने आनन्दसाधनं स्पर्शे तु फलरूपस्तथाधरसुधायाः साधनत्वं नास्ति किन्तु केवलं फलरूपत्वमेव. न ह्यधरसुधा कस्यापि साधनमस्ति. यद्यपि **मुखमपि स्वभोगयोग्यं करोती**त्युक्त्या साक्षाद्भोगयोग्यतायां साधनत्वमस्ति तथापि श्रोत्रपेयाया एव साधनत्वं, तत्रापि स्वप्राप्तावेव साधनत्वं न त्वितरत्र. साक्षादुच्छिष्टरीत्या भोग्यायास्तु केवलफलत्वम्. इदमेव सारत्वं नाम, भगवतो भोग्यावस्थायामेव भोक्त्रीभिर्लभ्यमानत्वात्. **वेणोरित्यसमासादि**ति. असमासे ऐकपद्याभावात् पदानां पार्थक्यं, तेन

यावच्च रसपूरेण सोप्यंशो नान्तः प्रविशति तावदपि साक्षात् तद्भोगयोग्यता न भवति. एतदर्थमेव वर्णनम्. तद्रसप्रवेशे निरोधः सिद्धः, अतः स्वल्पतरो गोपेषु भोग्यगोपीव्यतिरिक्तासु सर्वेषु च. अत एव निरोधो भक्त्यनन्तरं निरूपितः, सृष्ट्युत्पन्नानां भोग एतत्पर्यवसायी, ततो विमोचनं स्वाश्रयप्रापणं च प्रत्यापत्तिः,

---

टिप्पणी

यावच्चेति. नादो हि रसात्मको [1]धारावत्कर्णद्वारा हृदि प्रविष्टः स एव भगवदीयसर्वेन्द्रियविषयकविविधरसभावैर्निर्झरैः पाथःप्रवाह इव पुष्टो रसपूररूपो जातो, येन समानशीलव्यसनानां परस्परं तद्वर्णनरूपो बहिः प्रकटोऽभूत्. स च सार्वत्रिक इति तत्र[2] हृदयस्थितोऽधररसो मुख्याधररसस्यांश एवेति. स सर्वासां हृदि स्थितः पर्यायेण सर्वासां हृदि प्रविष्टः. तदानिर्वचनीयोत्कटभावोदयेन साक्षात्तदनुभवयोग्यता भवतीत्यर्थः. एवं सति **यावदुक्तरीत्या सोंऽशो नान्तःप्रविशति तावदपि साक्षात्तद्भोगयोग्यता न भवती**ति शेषग्रन्थो ज्ञेयः. **एतदर्थमेवे**ति रसपूरेण तदंशप्रवेशार्थमेवेत्यर्थः. अत्रैवाग्रे **अत एवे**ति. यतो विहितभक्तिमतामप्ययं रसः फलत्वेन प्रार्थनीय एव तिष्ठति, न तु तत्प्राप्त्यैवायं प्राप्तो **भवत्यतो** वंशद्वयसम्बन्धिभक्तनिरूपणानन्तरं **निरोधो निरूपित** इत्यर्थः. एतस्यैव तात्पर्यान्तरमप्याहुः **सृष्ट्युत्पन्नानामिति**, भक्तानामिति शेषः. **भोगो** भक्तिरसभोग इत्यर्थः. **एतत्पर्यवसायी**ति, एतदप्राप्तौ तेषामपि सृष्टावुत्पत्तिर्व्यर्थेत्यर्थः. एतेनान्येषां कैमुतिकन्यायेनैव जन्मवैयर्थ्यं ज्ञापितं भवति, "नैष्कर्म्यमप्यच्युतभावे"त्यादिवाक्यैः. तर्ह्येवं फलस्य सिद्धत्वादग्रिमलीलाद्वयं व्यर्थमित्याशङ्क्य तत्तात्पर्यमाहुः

प्रकाशः

ज्ञेया. **सर्वेषु चे**ति गवादिषु. **यावच्चे**त्यादिप्रयोजनं टिप्पण्यामाहु**र्गूढे**त्यादि. **तर्ही**ति, जाते निरोधे तेनैव भगवत्कारितसुधानुभवे च सिद्ध इत्यर्थः. **ये मुक्ता** इत्यादि.

लेखः

सिद्ध इति, निबन्धे आसक्तेः प्रमेयप्रकरणसाध्यत्वोक्तेस्तद्रूपनिरोधसिद्धिः प्रकरणान्ते वक्तव्येत्याशयः. **अत** इति, यतो यत्किञ्चिदपि तद्रसप्रवेशं विना निरोधासिद्धिरत इत्यर्थः. देवानाहु**र्गोपेष्वि**त्यादिना, एते त्रयो **देव**पदवाच्या इत्यर्थः. **तत** इति, निरोधानन्तरं लीलाद्वयं पूर्वभावसम्पादनरूपं स्कन्धद्वयेनोच्यते, फलं तु निरोध

---

१. धारारूपेणेति अपपाठः. २. तत्तद्° मू. पा.

अन्यथा सृष्टिर्व्यर्था स्यात्. अयं पुनर्ब्रह्मानन्दभावे जाते तत्राप्याधिदैविकरूपे सम्पन्ने लक्ष्म्या इव मुख्यो रसभोगः सम्भवति तदंशानाञ्च क्रमेण, अतो निरोधो महाफलः, अतोत्र स्त्रियः प्रकरणान्ते निरूप्यन्ते. भगवद्भोगानन्तरमेव भगवान् भोग्यो भवति. अतोत्र शुकोपि मुख्यतया स्त्रिय एव वर्णयति. अग्निकुमाराणामप्यत एव स्त्रीत्वं, न हि पुरुषोऽन्योपभोग्यो भवति स्वोपभोग्यो वा. परं ज्ञात्वा

टिप्पणी

ततो विमोचनमित्यादि. ये मुक्ताः स्वान्तःस्थिता एव जीवा लीलार्थं सृष्टास्तेषां परमानुग्रहतो नित्यलीलामध्यपातिभक्तैः सहैतद्रसानुभवं कारयित्वा पुनः पूर्वभावं सम्पादयतीति स्कन्धद्वयेन निरूप्यत इत्यर्थः, पुनः पूर्वभावसम्पत्तेरेव प्रत्यापत्तिपदार्थत्वात्. लोक एतद्रसप्रकटनस्य तात्पर्यं वदन्तः आवश्यकतां चाहुः **अन्यथे**ति. अस्यैव परमपुरुषार्थत्वेन सृष्टिमध्ये यत्र कुत्रापि प्रकटनेनैव सृष्टेः सार्थकत्वम्, अन्यथा प्राणसम्बन्धरहितदेहसृष्टिवत् सा व्यर्था स्यादित्यर्थः. **तदंशानामि**ति महिष्यादीनामित्यर्थः. **मुख्यप्रापणार्थं वे**ति. मुख्यः पुरुषोत्तमः, एतासां च स एवापेक्षित इति तस्यात्मत्वेन कथने स एव प्रापितो भवतीति तथा ॥५॥

प्रकाशः

तथा च "मुक्तिर्हित्वान्यथारूपं स्वरूपेण व्यवस्थितिरि"ति मुक्तिलक्षणेनान्यथारूपत्यागपूर्वकस्वरूपव्यवस्थानस्य मुक्तित्वाल्लीलार्थं सृष्टानां लीलोपयोगित्वेनैव रूपेण व्यवस्थानस्य मुक्तित्वेन स्वान्तःस्थितत्वरूपमुक्तत्वभावान्मोचनमेकादशार्थः. "आभासश्चे"तिवाक्यात् सृष्टिस्थितिप्रलया यतो जायन्ते ज्ञायन्ते च स आश्रयः; आधिभौतिकादिरूपत्रयवेत्ता वाश्रयः. स च भगवानेवेति लीलानुभावनोत्तरं [1]पुनर्भगवद्रूपता या सा **प्रत्यापत्ति**र्द्वादशार्थ इति न स्कन्धद्वयवैयर्थ्यं नापि प्रस्तुतस्य परमफलत्वहानिर्नापि लक्षणवाक्यवैरूप्यं लक्षणापत्तिर्वेत्यर्थः. **सृष्टिरि**ति लीलासृष्टिरित्यर्थः. ननु यद्येतदप्राप्तौ सृष्टिवैयर्थ्यं तदा लीलासृष्टौ सर्वेषामेवैतद्भोगः कुतो न दृश्यत इत्याकाङ्क्षायामस्यातिदुर्लभत्वं सुबोधिन्यामाहु**रयमि**त्यादि. ननु यद्येवं तदा ब्रह्मानन्दप्राप्त्यभावान्महिष्यादीनामेतद्भोगो न स्यादित्यत आहु**स्तदंशे**त्यादि. तथा च तेषामपि केनचिद् द्वारेण ब्रह्मानन्दोत्तरमेव स इत्यर्थः. फलितमाहु**रत** इत्यादि. **महाफल** इति महत् फलं यस्य तादृशः. गमकमाहु**रतोत्रे**त्यादि.

---

१. टिप्पण्यां **पुनः पूर्वभावे**त्यस्यार्थः इदम्.

प्रकाशः

ननु निरोध एव जाते चेन्महाफलप्राप्तिस्तदा भ्रमरगीते वक्ष्यमाणा ज्ञानोपदेशलीला न युज्यत इत्यत आहुः **परं ज्ञात्वे**त्यादि.

लेखः

एवेति भावः. **अयमि**ति निरोधफलरूपो मुख्यो रसभोगः एकोनविंशाध्यायोक्तवसनदानेन पूर्वं ब्रह्मानन्दभावे जातेपि **पुनः** पञ्चविंशाध्यायोक्त**ब्रह्मानन्दभावे जाते** तदनन्तरं शब्दब्रह्मकृतपूर्वभावसम्पादनेनाधिदेवक्रीडायोग्ये पूर्वसिद्धप्रसादरूपशक्तिप्रवेशकृतस्त्रीत्वे पुनः **सम्पन्ने** सति **सम्भवती**त्यर्थः. **लक्ष्म्या इवे**ति. लक्ष्मीर्हि ब्रह्मानन्दरूपा सती नायिकारूपा. अत्रापि धर्मद्वयसम्पादनेन लक्ष्म्या साम्यसम्पादनाद्रसभोगेपि साम्यमिति भावः. **लक्ष्मी**पदमत्र साक्षात्पुरुषोत्तमस्य स्वकीयारूपालम्बनपरं न त्वत्रत्यमुख्यापरं, टिप्पण्यां **तदंशाना**मित्यस्य **महिष्यादीनामि**ति व्याख्यानात्. एतासां पतित्वेन प्रार्थनात् तत्साम्यमेव वक्तव्यमिति तदाशयः. अत एव "विवाहितान्यायेन रमणं भविष्यती"त्यग्रिमाध्याये वक्ष्यते. **अत** इति, यतो लीलाद्वयं प्रत्यापत्तिरूप**मतो निरोधो महत्** स्वरूपात्मकं **फलं** यस्य तादृश इत्यर्थः. **अतोत्रे**ति, यतो निरोध एव महाफलस्तच्च फलं स्त्रीष्वेव सिद्ध**मत**स्ता एव तामस**प्रकरणान्ते** तदन्तर्गतप्रमेय**प्रकरणान्ते** च **निरूप्यन्त** इत्यर्थः. **अत** इति, यतो भगवत्कर्मकभोगरूपं स्त्रीणाम्माहात्म्यमत इत्यर्थः. **न ही**ति. पुरुषो **भोग्यो न भवती**ति तत्र भगवत्कर्तृकभोगासम्भवादनुपदोक्तमर्यादया भगवत्कर्मकोपि भोगो न भवेदत **एवाग्निकुमाराणामपि स्त्रीत्वमि**त्यर्थः. **अन्योपभोग्य** इति स्त्रीभोग्य इत्यर्थः. इदं तृतीयस्कन्धनिबन्धे विचारितम्, तत्सम्मतिसूचनाय **हि**शब्दः. **स्वोपभोग्य** इति पुरुषान्तरोपभोग्य इत्यर्थः. तर्ह्येवं मुख्यरसभोगे सम्पन्नेऽग्रे ज्ञानोपदेशप्रयासः किमर्थ

योजना

पार्थक्यमेव सूच्यते तद्वाख्यानाम्. **अतो वेणुमध्ये सा** सुधा **ने**त्युक्तम्. **ततः कर्णद्वारे**त्यारभ्य **करोती**त्यन्तम्. सुधायाः शब्दसम्बद्धत्वात् शब्दस्य श्रोत्रमात्रग्राह्यत्वात् कर्णद्वारा प्रवेशः. तथैव वर्णनसमये शब्दसम्बद्धाया एव मुखे समागमनम्. **तत्राप्याधिदैविकरूप** इति लक्ष्मीसमानस्त्रीविग्रहप्राप्तावित्यर्थः, **मुख्यो रसभोग** इति उच्छिष्टरीत्या भोग इत्यर्थः. **भगवद्भोगानन्तरमेवे**ति भगवत्कर्तृकभोगानन्तरमित्यर्थः. **भगवान् भोग्य** इति, रसाधिक्यवशात् स्त्रीभावे जाते

पाने महान् रस इति भगवतोग्रे ज्ञानोपदेशनिर्बन्धः, मुख्यप्रापणार्थं वा, दुःखदूरीकरणार्थं च. अत एवाग्र आधिदैविकीं स्त्रियं प्रार्थयिष्यन्ति. अतो रूपेण वशीकृत्याधरामृतं पाययन् स्वच्छन्दतां सम्पादयति. स्वच्छन्दतामाह **गोपवृन्दैरिति. वृन्दायाः** स्त्रिया **अरण्यं प्राविशत्**. सर्वं कार्यं कृत्वा स्वच्छन्दतां सम्पादितवान्. ननु जगति भक्तिर्न स्थापितेति कथं कृतकार्यता? तत्राह **स्वपदर-**

प्रकाशः

गोपवृन्दैरिति, अन्यथा व्यासङ्गेन कार्याधीनत्वे स्वच्छन्दता न स्यादिति भावः. भगवत्प्राकट्यं हि "तथा परमहंसानां" "यदा यदा हि धर्मस्ये"त्यादिवाक्यैर्भक्त्याद्यर्थमुक्तमिति तदस्थापने कृतकार्यत्वमसम्भावितमित्याशयेनाहु-

लेखः

इत्याशङ्क्याहुः **परमिति. अत एवेति**– यतोऽत्र स्त्रिय एव योग्या **अत एवाग्रे**ऽधिदेवस्य भगवतः सम्बन्धिनीं प्रसादरूपां स्वाधिदैविकरूपां वा **स्त्रियं प्रार्थयिष्यन्ती**त्यर्थः. **अत** इति, यतो मुख्यो रसो दित्सितोऽत इत्यर्थः. वृन्दारण्यप्रवेशेन स्वाच्छन्द्यं "श्लिष्यति कामपी"त्यादिप्रकारकं स्वस्य सम्पादितवानित्यर्थः. **नन्विति**, **जगति** नायिकासु **भक्ति**र्भावोद्बोधो **न** कारितोतः **कथं** तादृशी लीलेत्यर्थः. **स्वपदेति**, तथाचिह्नदर्शनेन स्मृतपूर्वसम्भोगा उद्बुद्धभावा भविष्यन्तीति प्रत्यक्षेऽर्थः– परोक्षवादेन **स्त्रिया अरण्यं** वनं स्त्रीसङ्गमित्यर्थः. **स्त्रिया** इति जात्यपेक्षयैकवचनं तत्रावेशेन भगवत्कर्मकभोगकर्तृत्वरूपं स्वाच्छन्द्यं भवतीति भावः. पूर्वं **गोपवृन्दैः** सह स्थितः पश्चात् तत्र **प्राविशत्**, स्वाच्छन्द्यं मूले उपसर्गस्यार्थ इति ज्ञेयम्. [1]**नन्विति, जगति** स्त्रीसङ्गे **भक्ति**र्भावोद्बोधो **न** कारित **इति कथं कृतकार्यते**त्यर्थः. **स्वपदेति**. स्वकर्तृकभोगे तासु विविधप्रकारैश्चरणस्थापनेन भावोद्बोधं कारयित्वा स्वाच्छन्द्यं तत्कर्तृकभोगरूपं सम्पादितवान्, चरणे नाना-

योजना

सुधाभोगात् ताभिर्भोग्यो भवतीत्यर्थः. **आधिदैविकीं स्त्रियमिति** कात्यायनीमित्यर्थः. **स्वच्छन्दतामिति** भोग्यभक्तानां भोक्तृत्वमित्यर्थः. **स्वच्छन्दतामाहेति**, गोपवृन्दसाहित्येन निर्भयत्वसम्पादनात् स्वच्छन्दता सम्पद्यत इत्यर्थः. अत एवोक्तं "शक्तीनां निर्भयत्वायैते देवाः साक्षिण" इति. **ननु जगति भक्तिर्न स्थापितेति कथं कृतकार्यता? तत्राह स्वपदरमणमिति**. अत्र स्थलत्रये प्रवेशः, **वृन्दारण्यं**

१. इत आरभ्य प्रकारान्तरेण व्याख्यानम् इति प्रतिभाति. –सम्पा.

मणमिति– स्वपदानां स्वचरणानां[1] **रमणं** यत्र. धर्मस्थापनमाह **गोपवृन्दैः** सहेति.

लेखः

प्रकारबोधार्थं व्याख्याने **स्वपदानामिति**बहुवचनम्. तथा च **गोपवृन्दैः सह** स्थितः सन्नित्यन्तेन पूर्वस्थितिरुक्ता, पश्चात् **स्वपदानां रमणं** यत्र तादृशं तत्सङ्गं कृत्वा तत्र **प्रकर्षेण** स्वाच्छन्द्यसम्पिपादयिषया **आविशत्** स्वावेशेन तासु स्वाच्छन्द्यं [2]सम्पादितवानित्यर्थो ज्ञेयः. अत एव नायिकानां पुम्भावावेशे तथा भवतीति रसशास्त्रम्. एतदाशयेनैव वृन्दारण्यप्रवेशस्य लीलात्वं पूर्वमुक्तम्. एवं पूर्णरसानुभवानन्तरं ताभि**र्गीतकीर्ति**र्जात इति गानेन रसस्थैर्यं निरूपितम्. **अवशिष्टेति**, वेणुनादेन व्रजस्थितासु सर्वाभोग्यसुधानुभवरूपमोक्षस्थापनम्, गोपसाहित्येन तेषु दास्यरूपधर्मस्थापनम्, वृन्दारण्यप्रवेशेन वनस्थितासु स्वाच्छन्द्यरूपकामस्थापनम्, स्वपदरमणेन तासूद्बुद्धभावरूपभक्तिस्थापन**मवशिष्टो**ऽर्थः. गानरूपतत्स्थापनमपि तास्वेवेति वनस्थितासु त्रयमुक्तम्,

योजना

प्राविशदित्युक्त्या वृन्दावने वनस्थितभक्तगणे व्रजस्थितव्रजसुन्दरीमनसि च प्रवेशात्. तत्र वृन्दावनभूमेर्भगवच्चरणसम्बन्धेनार्द्रत्वाच्चरणाङ्कितत्वेन **स्वपदरमण**त्वं, वनस्थितभक्तगणस्य रमणसमये हृदये चरणस्थित्या तथात्वं, व्रजस्थितभक्तानां मनस्याविर्भावे चरणानामाविर्भावात् तथात्वम्. **धर्मस्थापनमाह गोपवृन्दैः सहेति**. वृन्दावनप्रवेशपक्षे गोचारणरूपो धर्मो गोपवृन्दसाहित्येन स्थापितः. वनस्थितभक्तगणप्रवेशपक्षे वनस्थितभक्तानां लज्जाजन्यगोपनादिधर्मो भगवतो गोपवृन्दसाहित्याद् भवति, गोपवृन्दस्यान्तरङ्गत्वाद् "एते देवाः साक्षिण" इति पूर्वमुक्तत्वात्. **अवशिष्टे**त्यादि. **स्वपदरमणमि**त्यनेन भक्तेरुक्तत्वाद् **गोपवृन्दैरि**त्यनेन धर्मस्योक्तत्वादर्थकाममोक्षाणामवशिष्टत्वम्. तच्च **गीतकीर्तिरि**तिपदेनोच्यते इत्याहुः **गीतकीर्तिरितीति**. व्रजस्थितसुन्दरीभिर्गीता कीर्तिर्यस्येत्युक्तौ गुणगानमेव तासामर्थरूपः पुरुषार्थः. वनस्थितस्त्रीभिर्गीता कीर्तिर्यस्येति पक्षे आसक्तिमतीभिस्तादृशरसरूपस्य भगवतो गुणगानेऽनासक्तानामपि गुणश्रवणात् कामरूपः पुरुषार्थः सिध्यति. शुकादिभिर्गीता कीर्तिर्यस्येति पक्षे तादृक्कीर्तिश्रवणादस्मदादीनां मोक्षः सिध्यति. एवं **गीतकीर्तिरि**त्यनेनार्थकाममोक्षस्थापनमुक्तम् ॥५॥

१. [1]चरणारविन्दानां. २. [2]वानितिपरोक्षरीत्यार्थो ज्ञेयः इतिपाठः.

[1]अवशिष्टसर्वपुरुषार्थस्थापनार्थमाह **गीतकीर्तिरिति– गीता कीर्तिर्यस्येति**. स्त्रीभावो गूढः पुष्टिमार्गे तत्त्वमिति कृष्णपदार्थः क्वचिद् विवृतः ॥५॥

प्रकाशः

नन्वित्यादि. स्त्रीभाव इत्यादि– **स्त्रीभावो गूढ** इति **पुष्टिमार्गे तत्त्वमिति क्वचित्** स्वसमानशीलासु **कृष्णपदार्थो विवृतो** व्याख्यातस्तेन मुख्यानां कामार्थमोक्षाणां स्थापनं कीर्त्यैवेति सिद्धमिति गौणानामपि स्थापनं तयैव तथेति भावः ॥५॥

लेखः

व्रजस्थितास्वेकम्, गोपेष्वेकम् – एवं विभागेन पुरुषार्थपञ्चकस्थापनं ज्ञेयम्. अस्मिन् श्लोके सर्वभोग्यसुधापूरितत्वरूपवेणुरवस्वरूपनिरूपणं वाक्यार्थ इत्युपसंहारे बोधयन्ति **स्त्रीभाव** इति. **स्त्रीणां** हृदये नादद्वारा पूरितो **भावः** सुधारूपो **गूढः** सर्वाभोग्यः **पुष्टिमार्गे**ऽनुग्रहमार्गे **तत्त्वम**नारोपितं मुख्यं फल**मितिरूपः कृष्णपदार्थः** कृष्णस्वरूपं सर्वत्र, किम्बहुना रमणेऽपि, संवृत एव किन्तु **क्वचिदेव** स्थाने हृदयरूपे वेणुनादश्रवणे सति श्रोत्रद्वारा **विवृतः** प्रकट इत्यस्मिन् श्लोके निरूपितम्. सर्वाभोग्यसुधारूपं भगवत्स्वरूपं वेणुद्वारैव प्रकटमुक्तमित्यर्थः ॥५॥

योजना

इति वेणुरवमित्यस्याभासे **स्त्रीभावो गूढः पुष्टिमार्गे तत्त्वमि**त्यादि. भगवतः **स्त्रीभावो** लक्ष्मीसमानत्वं, रसोद्रेके भोग्यत्वमिति यावत्, स **स्त्रीभावः पुष्टिमार्गे तत्त्वं**, भगवतो भोग्यत्वेन भक्ताधीनत्वाद् भक्तानां भोक्तृतया स्वाधीनत्वात्, "कृष्णाधीना तु मर्यादा स्वाधीना पुष्टिरुच्यत" इति पञ्चमस्कन्धनिबन्धे पुष्टिमार्गलक्षणात्. **इति कृष्णपदार्थ** इति, स्त्रीभावापन्नो भगवान् **कृष्णपदवाच्य** इत्यर्थः, तादृशभावापन्नस्य भगवतः परमानन्दरूपत्वात्, रसशास्त्रे तथोक्तत्वात्, "कृषिर्भूवाचकः शब्दो णश्च निर्वृतिवाचकस्तयोरैक्यं परं ब्रह्म कृष्ण इत्यभिधीयत" इतिश्रुतौ परमानन्दरूपतया **कृष्णपदनिर्वचनात्. क्वचिद् विवृत** इति, वेणुनादस्य बहुवारं जायमानत्वेपि नैतादृशसुधासंवलितो जायतेऽतः **क्वचिद्** वेणुनादेऽधरसुधासंवलिते **कृष्णपदार्थो विवृत** इत्यर्थः. सुधासंवलितत्वकथनात् सुधासार्थक्याय भगवतः **स्त्रीभावो**ऽपेक्षितः, स एव **कृष्णपदार्थः**, सोऽस्मिन् वेणुनादे **विवृतः**, "अधरसुधया पूरयन्ति"त्युक्तेः. स्त्रीभावाभावे भगवदधरसुधाया वैफल्यं स्यादतोऽधरसुधासाहित्योक्तेः स्त्रीभावो

१. अवशिष्टपु°.

अतः सर्वमेवोपसर्जनीभूतं वेणुनाद एव मुख्य इति [1]तमेव वर्णयितुमारेभिरे गोप्य इत्याह**ेति वेणुरवमिति**.

इति वेणुरवं राजन् सर्वभूतमनोहरम् ।
श्रुत्वा व्रजस्त्रियः सर्वा वर्णयन्त्योऽभिरेमिरे ॥६॥

इतिहेतोर्वेणुरवमेव वर्णयितुं वेणुरवमाकर्ण्य वर्णयितुमारेभिर इति सम्बन्धः. तत्र प्रथमश्रवणे वर्णनार्थं श्रवणे च सादरं श्रवणं भवति. अमुना प्रकारेणोद्गतं वेणुरवं न तु केवलम्. **राजन्नि**ति सम्बोधनं तद्रसानभिज्ञत्वज्ञापनाय,

प्रकाशः

अग्रिमाभासे **अत** इति वेणुनादस्य "बर्हापीडे"तिवाक्यार्थानुभावकत्वादित्यर्थः. **सर्वमिति** पुरुषार्थपञ्चकम्; एवकारोऽप्यर्थे. **अमुनेत्यादि. इति**शब्दः संयोगपृथक्त्वेनार्थान्तरेणात्र युज्यत इत्याशयेनेदमुक्तम्. **रवमिति**– पूर्वं **र**शब्देनाग्निबीजेन दुःखं ततो **व**शब्देनामृतबीजेन सुखमिति विरहाग्निरधरामृतपानं च **रव**शब्देनोच्येते ॥६॥

लेखः

अतो नादस्य मुख्यफलानुभावकत्वाद् **रूपं वेणुनादः क्रीडा चेति** त्रयाणाम्मध्ये रूपं क्रीडा चेति **सर्वमेवोपसर्जनीभूतं** गौणमुभयापेक्षया **वेणुनाद एव मुख्य इति**हेतोस्त्रयानुभवेऽपि तद् द्वयं गौणं कृत्वां **तं** वेणुनाद**मेव मुख्यतया वर्णयितुमारेभिरे गोप्य इति**हेतोस्तद्वर्णनेनाभिरमण**माहे**त्यर्थः.

इति वेणुरवमित्यत्र श्रवणस्य वर्णनस्य च वेणुरवमित्येव कर्मेत्याहु**र्वेणुरवं वर्णयितुमि**ति. एतस्यैव विवरणं **वेणुरवमाकर्ण्य वर्णयितुमि**ति. तमेव श्रुत्वा तमेव **वर्णयितुमारेभिरे इति** हेतोः श्रवणस्य वर्णनस्य चैकेनैव कर्मणा **सम्बन्ध** इत्यर्थः. श्लोकद्वये श्रवणोक्तेस्तात्पर्यमाहु**स्तत्रे**ति. उभयोर्विभेदं वक्तुमाहु**रमुने**ति, पूर्वश्लोकोक्तं तु केवलमिति भावः. **अनेनापीति अर्थः** स्वरूपं **स्पष्टो** नादात्

योजना

विवृत इति ज्ञेयम्. अतो वेणुनादस्यैव प्राधान्यात् **तमेव वर्णयितुमारेभिर** इत्युक्तम्. **राजन्निती**ति राजर्षिसत्तमेत्यादिपदान्यनुक्त्वा **राजपदमात्रमुक्तं, राजपदं** तु प्रजापालनादिस्वधर्मनिष्ठतावाचकं, तेन धर्मनिष्ठतामात्रस्यात्र सूचनाद् **रसानभिज्ञत्वं** सूचितम्. "तद् व्रजस्त्रिय" इत्यादेः सङ्गतिं प्रदर्शयन्ति

१. तदेव.

अनेनापि स्पष्टोऽर्थो नोक्त इति ज्ञापितम्. तर्हि तत्र कथं प्रवृत्तिरित्याशङ्क्य प्रमेयबलादेव भविष्यतीत्यभिप्रायेणाह **सर्वभूतमनोहरमिति**— **सर्वभूतानां मनोहरं** स्वत एव मनोवशीकरणसमर्थम्, अतः सम्यक् [1]**श्रुत्वाभिरेमिरे. व्रजस्त्रिय** इति कार्यान्तराभावः सूचितः— न हि व्रजस्त्रीणां पुरुषेषु वनं गतेषु सन्ध्यापर्यन्तमागमनसम्भावनारहितेषु प्रातरेव निवृत्तावश्यकेषु किञ्चित् कार्यमस्ति. अतः **सर्वा** एव **वर्णयन्त्यः** पौर्वापर्येणा**भितो रेमिरे** दुःखात्मकं प्रपञ्चं विस्मृत्य परमानन्दविलासं कृतवत्यः. पूर्वं प्रथमश्रवणमात्रेण कामोद्दीपने चित्तविक्षेपादशक्तिरुक्ता, तत उक्तसुधायामन्तःपूर्णायामत्याधिक्येन परितो गलनरूपं वर्णनमिति पश्चात् तदुक्तम् ॥६॥

लेखः

पृथक्कृत्य भगवता व्रजस्थासु **नोक्तो** न बोधित **इति** वनस्थासु स्वाच्छन्द्यसम्पादनसूचकेन प्रशब्देन पूर्वश्लोके **ज्ञापितम्.** अत्र **राजन्निति** सम्बोधनेनापि तद् ज्ञापितम्— राजानो हि गुप्तकार्यकर्तारो भवन्ति, श्रोतुस्तथासम्बोधनेन श्रवणविषयेपि स धर्मो ज्ञापित इत्यर्थः. **तर्हीति** स्पष्टम्, स्वरूपानुभवाभाव इत्यर्थः. **तत्रेति** वेणुरवश्रवणे इत्यर्थः. **कामोद्दीपने** इति पूर्वं व्याख्यानात् स्मरणरूपभावोद्दीपने इत्यर्थः. **अन्तःपूर्णायामिति**, तथा च मुख्यरसानुभवान्न वेष्टितस्मरणमिति भावः ॥६॥

योजना

पूर्वं प्रथमश्रवणमात्रेणेत्यादिना. "तद् व्रजस्त्रिय आश्रुत्ये"त्यनेन प्रथमश्रवणे वर्णनार्थमुद्योग उक्तः. "तद् वर्णयितुमि"त्यनेन स्मरवेगेन **चित्तविक्षेपादशक्तिरुक्ता. ततो** "बर्हापीडमि"त्यनेन वर्णनशक्तिहेतुः सुधाप्रवेश उक्तः. तत "इतिवेणुरवमि"त्यनेन **परितः** सुधा**गलनरूपं वर्णनमुक्तम्. व्रजस्त्रिय इति कार्यान्तराभावः सूचित** इति, व्रजसम्बन्धित्वेनाङ्गीकृतत्वाद् गुणगानातिरिक्तकार्याभाव इत्यर्थः. तथा च सेवासमये सैव क्रियते, वियोगावस्थायां तु गुणगानमिति विवेकः ॥६॥

---

१. °भिरे.

अनुवर्णनमेवा**हाक्षण्वतामिति** त्रयोदशभिः—

रसद्वयार्थं द्वितयं वेणुपूरणमेकतः ॥(५)॥
स्वच्छन्दपादगमने हेतुश्चापि तथापरः ।
चतुर्भिः पीठिकैवं स्यात् षड्भिर्वेणोस्तु वादनम् ॥(६)॥

प्रकाशः

अक्षण्वतामित्यत्र **वेणुपूरणमेकत** इति तृतीयायां तसिल्, एकेन श्लोकेन वेणोरधरसुधया पूरणमित्यर्थः. **एकत** इत्यग्रेपि सम्बध्यते; एकेन ततोऽग्रिमेण **स्वच्छन्दपादगमने** वृन्दावने विहारे **हेतु**र्भक्त्युद्रेकः. चकारात् पुष्टिलीला **अपि**शब्दाच्चरणानां स्वरूपम् **अपरस्तथा,** एतद् द्वयं तत्रैव हेत्वन्तरमित्यर्थः. **पीठिके**ति, प्रस्तोष्यमाणोपपादको हेत्वादिपरिकरः **पीठिका** (५-६). **वर्णयन्तीति** फलत्वेन वर्णयन्ति.

लेखः

अग्रे त्रयोदशश्लोकार्थोक्तौ **रसद्वयार्थमिति** रसद्वयनिरूपणार्थं श्लोक**द्वितयम्. एकस्माच्छ्लोकाद् वेणुपूरणं** निरूपितम्. **स्वच्छन्द**लीलासिद्ध्यर्थं **पादानां** चरणारविन्दानां यद् **गमनं** रमणं तत्र **हेतुर्भूमिः** कीर्तिविस्तारोऽ**पर**श्लोकोक्तः— **एवं चतुर्भिः पीठिका** सामान्यतः पदार्थत्रयनिरूपणं **स्यात्.** ततो विशेषतो निरूपणम्. तत्र **षड्भिर्वेणोर्वादनं** निरूपितं; स्वरूपलीलाव्यावृत्त्यर्थं

योजना

एवं सङ्गतिं विधाय "स्वसखीभ्योन्ववर्णयन्नि"त्यत्रोक्तमनुवर्णनं श्रीगोपिकाभि**रक्षण्वतामि**त्यादिभिः कृतमित्याहु**रनुवर्णनमेवाहे**ति. **अक्षण्वतामि**-

कारिकार्थः

अक्षण्वतामित्यत्र **रसद्वयार्थमिति.** रसो हि द्विविधः— धर्मसहितः केवलश्च. धर्मसहितः सम्भोगे केवलो नाट्ये. तत्र **अक्षण्वतामि**ति श्लोके धर्मसहितः "चूतप्रवाले"त्यत्र केवलः —एवं रसद्वयनिरूपणार्थं श्लोकद्वयम्. **ततो** "गोप्य" इत्येकेन **वेणुकूजनम्.** "वृन्दावनं सखिभुव"इतिश्लोकेन **स्वच्छन्द**लीलासिद्ध्यर्थं **पादानां** चरणारविन्दानां य**द्गमनं** रमणं तत्र **हेतुर्भूमिः** कीर्तिविस्तारो निरूपितः. एवं **चतुर्भिः पीठिका** ततः **षड्भिः** श्लोकै**र्वेणोर्वादनं** निरूपितम् (५-६). **द्वाभ्यामिति.** "पूर्णाः पुलिन्द्य" इति "हन्तायमद्रिरि"ति च **द्वाभ्यां** श्लोकाभ्यां चरणमाहात्म्यप्रकटनं **भक्तिस्थापनरूपं,** चरणस्य भक्तिमार्गरूपत्वादित्यर्थः. एवं

द्वाभ्यां भक्तेः प्रतिष्ठा च दोषः स्याद् वर्णनेऽन्यथा ।
वैपरीत्यात् समाधानमन्यथा स्यात् तु दूषणम् ॥(७)॥

टिप्पणी

अक्षण्वतामित्यत्र प्रकरणार्थविभागे **द्वाभ्यां भक्ते**रिति. लोके हीनानामपि चरणारविन्दसम्बन्धिकुङ्कुमसम्बन्धमात्रेण लक्ष्मीसमानभाग्यवत्त्वं चरण-माहात्म्यमेव, स्पर्शमात्रेण प्रकृष्टमोदजनकत्वं च. चरणश्च भक्तिमार्गरूप इति तद्धर्मप्रकटनं भक्तिस्थापनरूपमित्यर्थः. एवं तत्तात्पर्यानुक्तौ बाधकमाहुः **अन्यथे**ति, प्रकारान्तरेण तात्पर्योक्तावित्यर्थः. पुरुषोत्तमस्य लोकेपि हीनायाः स्त्रियाः सम्बन्धोक्त्या हीननायकत्वमापद्येत, श्रीपतेः कन्दाद्युपयोगश्च तथा, अतस्तत्रैव तात्पर्यमिति भावः. तथापि लोकरीत्या दूषणत्वं तस्य भवत्येवेत्यत आहुः **वैपरीत्यात् समाधानमि**ति. प्रमेयमार्गः प्रमाणमार्गाद्विपरीतो बलिष्ठश्च; अधुना च स एव प्रकटीकृत इति वस्तुस्वाभाव्यादेव तथात्वमिति न दूषणमिति भावः. अत्र मर्यादावैपरीत्यं भूषणमिति सारम्, मर्यादामार्गीयपरमोत्कर्षवद्भ्यो-प्युत्कर्षसिद्धेः सर्वमवदातम्, अन्यथा वैपरीत्यमात्रेण मार्गोत्कर्षो न सिध्येत् (७).

लेखः

तुशब्दः. ततो **द्वाभ्यां भक्तिप्रतिष्ठा**रूपपादगमननिरूपणम्. तत एकेन तत्र प्राप्त-**दोषसमाधानं;** लीलायां प्रतिबन्धाभावेपि दूषणं तु स्यादिति तुशब्दः. स्वरूपस्य तु स्पष्टमननुभवस्य सूचितत्वात् न विशेषतो निरूपणमिति भावः (५-७).

श्लोकाभासे **स्वरूपत** इति, रसस्य स्वरूपं विभावादयस्तत्प्रकारेण रसात्मकमित्यर्थः; द्वितीये तु केवलरसात्मको वक्ष्यते.

कारिकार्थः

तात्पर्यानुक्तौ बाधकमाहु**रन्यथे**ति, भक्तिस्थापनातिरिक्ततात्पर्योक्तौ **दूषणं स्या**दित्यर्थः. पुरुषोत्तमस्य हीनायाः स्त्रियाः सम्बन्धोक्त्या हीननायकत्वमापद्येत, श्रीपतेः कन्दाद्युपयोगश्च हीनत्वापादकः. अतो भक्तिस्थापन एव तात्पर्यमिति भावः. तथापि लोकरीत्या तस्य दूषणत्वं भवत्येवेत्यत आहु**र्वैपरीत्यात् समाधानमि**ति. प्रमेयमार्गः प्रमाणमार्गाद् विपरीतो बलिष्ठश्चेति हेतोर्न दूषणमिति भावः. तथाचोक्तं "गा गोपकैरि"तिश्लोकविवरणे "विपरीतं हि भगवच्चरित्रमि"त्यारभ्य "गतिमतामस्पन्दनं भवति तरूणां च पुलकः तथास्माकं योग्यानामयोग्यत्वमयोग्यानां पुलिन्दीनां तथात्वमि"ति (७).

तत्र प्रथमं यद् वर्णयितुमारब्धं तत्राशक्तौ शुकेन 'यद् वर्णितं चतुर्भिस्तद् वर्णयन्ति. तत्र प्रथमं स्वरूपतो रसात्मकं भगवन्तं वर्णय**न्त्यक्षण्वतामि**ति.

॥ गोप्य ऊचुः ॥

अक्षण्वतां फलमिदं न परं विदामः सख्यः पशूननु निवेशयतोर्वयस्यैः ।
वक्त्रं व्रजेशसुतयोरनुवेणु जुष्टं यैर्वा निपीतमनुरक्तकटाक्षमोक्षम् ॥७॥

अक्षण्वतामिन्द्रियवतां चक्षुष्मतां वा. **इदमि**ति स्वहृदये मनोरथप्रकारेण प्रतिभातं—

भगवता सह संलापो दर्शनं मिलितस्य च ।
आश्लेषः सेवनं चापि स्पर्शश्चापि तथाविधः ॥(८)॥

प्रकाशः

उदासीनत्वान्न फलतेति तन्निवर्तयितु**मिदम्**पदस्यार्थमाहु**रिदमि**त्यादि. तथा **चेदम्**पदेन परामृष्टस्य "बर्हापीडे"तिश्लोकोक्तस्वरूपस्य गानोपयिकसम्बन्धात् फलत्वमित्यर्थः. तदुपपादयन्ति कारिकाभिः तथा च सङ्क्लृप्यमानस्य भगवत एव फलत्वम्. एवं सर्वत्र बोध्यम्. त्रयोदशस्य पद्यस्य तात्पर्यमाहु**र्वैपरीत्यादि**-त्यादि. कारिकार्थस्तु टिप्पण्यामेव स्फुटः. सुबोधिन्यां **रोमोद्गम** इति, पायुफल-

योजना

त्यस्याभासे **तत्र प्रथमं स्वरूपतो रसात्मकमि**ति संयोगरसात्मकमित्यर्थः. अनेन "नटवरवपुरि"त्यत्रोक्तो 'वर'पदार्थ उक्तः.

अक्षण्वतामित्यादि. "अक्षण्वतामधिपतिस्ताभ्यां याति करोति चे"ति पुरञ्जनोपाख्याने नारदवाक्या**दक्षण्व**त्पदमिन्द्रियवद्वाचकं, तथा चेन्द्रियवता**मिद-मेव** पुरुषोत्तमस्वरूपं **फलमि**त्यन्वयः. फलत्वं विवृण्वन्ति **भगवता सह संलाप** इत्यादिभिः. अत्र सर्वेन्द्रियभोग्यत्वं निरूपितमिति फलत्वं स्वरूपस्य. **तत्राश्लेषो** बाहुकार्यं **सेवनं** करकार्यमित्येकस्यैव दोरिन्द्रियस्य कार्यद्वयं ज्ञेयम्. **रोमोद्गमः**

कारिकार्थः

अत्रैवाग्रे **भगवता सह संलाप** इत्यादि सार्धचतस्रः. अत्र भगवतः सर्वेन्द्रियोपभोग्यत्वं निरूपितम्. **आश्लेषो** बाहुकार्यं **सेवनं** करकार्यमित्येकस्यैव हस्तेन्द्रियस्य कार्यद्वयं ज्ञेयं, **स्पर्शस्त्वगिन्द्रियकार्यं** स्फुटम्, **अधरामृतपानं**

१. तद्.

अधरामृतपानं च भोगो रोमोद्गमस्तथा ।
तत्कूजितानां श्रवणमाघ्राणं चापि सर्वतः ॥(९)॥
[1]तदन्तिकगतिर्नित्यमेवं तद्भावनं सदा ।
इदमेवेन्द्रियवतां फलं मोक्षोपि नान्यथा ॥(१०)॥

प्रकाशः

मिदं ज्ञेयम्, तृतीयस्कन्धे "पुलकोद्भिन्नसर्वाङ्ग" इत्यत्र प्रक्षिप्ताध्याय "एतद्धृषीकचषकैरि"त्यत्र चाचार्यचरणैर्विवरणात्. **तद्भावनमि**ति धर्मविशिष्ट-रसात्मकभगवद्भावनम्. **मोक्षोपि नान्यथे**ति, केवलानां फलरूपत्वान्न तथेत्यर्थः, जन्यज्ञानक्रियाभावेनेन्द्रियवैफल्यान्न फलमित्यर्थः. नन्वेकत्वस्य सर्वाधिकत्वात् तस्य कथं न फलत्वमित्याकाङ्क्षायां दृष्टान्तेनोपपादयन्ति **यथे**त्यादि (९-११).

लेखः

अग्रे कारिकासु **इन्द्रियवतां फलमि**ति भक्तिफलत्वेनाभिलषितमित्यर्थः. संलापादिकमेवेन्द्रियवतां तत्तदिन्द्रियप्रकारकरसानुभावकत्वेनेन्द्रियसाफल्यापादकत्वात् फलत्वेनाभिलषितं न तु मोक्षः. तत्र हेतु**रन्यथे**ति, यतो निःप्रकारकरसानुभावकत्वेनेन्द्रियवैफल्यापादकस्तस्मादित्यर्थः. भगवांश्चेत् सेवोपयोगिदेहमात्रमेव फलं ददाति तदेदं न भवति परन्त्वभिलषितमिदमेवेति भावः. पुरुषोत्तमे

योजना

पायुकार्यं, "सर्वेषां विसर्गाणां पायुरेकायनमि"तिश्रुते रोमोद्गमस्यापि विसर्गत्वात्. अत एव प्रक्षिप्ताध्यायसुबोधिन्यां "रोमाञ्चः स्वेदश्च दशमकार्यमि"त्युक्तम्. द्वितीयपक्षे चक्षुष्मता**मिदं** स्वरूपमेव **फलमित्यर्थः**, सम्पूर्णस्वरूपस्यापि दृग्गोचरत्वात्. एवं पक्षद्वये स्वरूपमेव फलमित्युक्तम्.

कारिकार्थः

रसनेन्द्रियकार्यं, पूर्वोक्तः **संलाप**स्तु वाक्कार्यं, **भोगो** गुह्यकार्यं; पुरुषाणां तु सेवोपयोगिपुत्राद्युत्पादनद्वारा तदुपयोगः. **रोमोद्गमः** पायुकार्यम्, इतरेन्द्रियोपयोगः स्पष्टः. तदुक्तं सुबोधिन्या दशमस्कन्धे प्रक्षिप्ततृतीयाध्याये "एषां तु भाग्यमहिमाच्युत तावदास्तामि"ति श्लोकविवरणे "रोमाञ्चः स्वेदश्च दशमकार्यमन्येषामुपयोगः स्पष्ट एवे"ति, दशमः पायुः. **इदमेवेन्द्रियवतामित्यादि— इन्द्रियवतामिदमेव फलमन्यथा** मोक्षोपि **न** फल-

---

१. °न्तिकं.

यथान्धकारे नियता स्थितिर्नाक्ष्णोः फलं भवेत् ।
एवं मोक्षोपीन्द्रियादियुक्तानां सर्वथा न हि ॥(११)॥
बाधकानां परित्यागे साधकानां न तद् भवेत् ।

टिप्पणी

सेन्द्रियाणामपि तदफलने हेतुमाहुः **बाधकानामि**ति, भगवदतिरिक्तस्य सर्वस्य बाधकत्वात्तत्त्यागे सति प्रतिबन्धकाभावेन मोक्षलक्षणं फलं न भवेदि-

प्रकाशः

नन्विन्द्रियवैफल्यान्मोक्षस्य फलत्वं मास्तु परन्तु "हृतात्मनो हृतप्राणांश्च भक्तिरनिच्छतो गतिमण्वीं प्रयुङ्क्ते" इतिवाक्येन तस्यावश्यप्राप्तेः स कुतो न भवतीत्यतष्टिप्पण्यामाहुः **सेन्द्रियाणामि**त्यादि. **तदफलन** इति मोक्षाफलने. **प्रतिबन्धकाभावेने**त्यादि. मुख्यफलानधिकारे मोक्षो भगवता दीयते, प्रकृते च मुख्यफलप्रतिबन्धकस्य सर्वात्मभावाभावस्य गतत्वेन मुख्यफलमेव सेन्द्रियाणां

लेखः

प्रवेशरूपे मोक्षे इन्द्रियवैफल्यं दृष्टान्तेन विशदयन्ति **यथे**ति. **अन्धकारे स्थितिरि**ति चेद् भवेदिति शेषः; **तदाक्ष्णोः फलं** चाक्षुषं ज्ञानं **न भवेद्**, अतः स्पर्शादिना ज्ञानजननेपि चक्षुर्वैफल्यमेव भवेत्. तथेन्द्रियप्राणान्तःकरणयुक्तानां मोक्षोपि चेद् भवेत्, तदेन्द्रियाणां फलं तत्तत्प्रकारकरसानुभवो न भवेदतः स्वरूपतोऽनुभवेपि संलापाद्यभावेनेन्द्रियवैफल्यमेव भवेत्. अतः **साधकानां** सर्वात्मभाववतां **बाधकानां** भगवदतिरिक्तसर्वविषयाणां **त्यागे** सति **तत्** मोक्षलक्षणं वस्तु फलत्वेनाभिलषितं **न भवे**दित्यर्थः. तथा चेन्द्रियवैफल्यापादकत्वेनोभयोरुपमानोपमेयभावः. कदाचिदन्धकारस्थितौ कदाचिद् भावोद्रेकेण देहाद्यस्फूर्त्या भगवद्रूपत्वरूपमोक्षे च वैफल्यं न भवतीति स्थिते**र्नियत**त्वमुक्तं मोक्षे **सर्वथे**ति च (१०-११½).

कारिकार्थः

मित्यर्थः. इन्द्रियवतामपि तादृशफलाभावे हेतुमाहु**र्बाधकानामि**ति. मुख्यफलप्राप्तौ **बाधकानां** भगवद्व्यतिरिक्तपदार्थानां **परित्यागे** सति **साधकानां** सर्वात्मभावात्मकसाधनवतां मोक्षलक्षणं फलं **न भवेत्** किन्तु पुरुषोत्तमदर्शनाद्यात्मकं मुख्यफलमेव भवेदित्यर्थः. तथा च मुख्यफलप्राप्तौ बाधकत्यागविशिष्टसर्वात्मभावः साधनं, मुमुक्षूणां बाधकत्यागेपि सर्वात्मभावात्मकसाधनाभावात् न मुख्यफलं किन्तु मोक्ष एवेति (८-११½).

तदाह **न परं विदाम** इति, **परो** मोक्षः [1]सायुज्यादिः. न"न्वात्मलाभान्न परं विद्यत" इति श्रुतेः कथं न परस्य पुरुषार्थत्वम्? तदाहु**र्विदाम** इति,

---

टिप्पणी

त्यर्थः. मुमुक्षूणां तथात्वेपि न तथात्वमित्याशङ्क्य तत्साधनमाहुः **साधकानामिति**. सर्वात्मभावेन भजनं साधकत्वम्. यद्यपि 'सर्वात्मभावे'न[2] सर्वत्यागोप्यन्तर्भवति तथाप्याधुनिकानां स्वतस्तद्भावरहितानां पूर्वं बुद्धिपूर्वकस्तत्त्याग एतद्भावनं चोपदिश्यत इति पृथगुक्तिः (११).

प्रकाशः

भवतीत्यधिकारिभेदान्न मोक्ष इति भावः. एतेनैवोक्तवाक्यविरोधोपि परिहृतो बोध्यः. नन्वस्त्वेवं तथापि साधारणाधिकारिणां कुतो न मोक्षः फलतीत्याशङ्कां हृदिकृत्य, कारिकायां **साधकानामित्यस्य** पदस्याभावेप्यर्थसिद्धेरेतद्वैयर्थ्याशङ्काञ्च हृदिकृत्याहु**र्मुमुक्षूणामि**त्यादि. पुष्टिमार्गीयमोक्षेच्छूनां **तथात्वेपि** इन्द्रियवत्त्वेपि **न तथात्वं** न प्रतिबन्धकाभावत्व**मिति**हेतोस्तेषां मोक्षफलन**माशङ्क्य** तेष्वपि विवक्षितफल**साधनमाहु**रित्यर्थः. साधनं व्युत्पादयन्ति **सर्वात्मभाव** इत्यादि. अत्रेदं बोध्यम्– सर्वात्मभावो नाम सर्वत्रात्मनो भावो = विद्यमानताऽवियोगो येन भावी तादृशो वियोगानुभवः. सा च भक्तेः परमा काष्ठा. यद्यपि तादृग्भावे सति भगवदतिरिक्तत्यागः पृष्ठलग्न एवायातीति तस्मिन्नेवान्तर्भवति तथाप्याधुनिकानां स्वतस्तद्भावरहितानां तृतीयस्कन्धे द्वात्रिंशाध्याये "तस्मात् त्वं सर्वभावेन भजस्व परमेष्ठिनमि"त्यस्य सुबोधिन्यां "देहमारभ्येश्वरपर्यन्तं यावन्तो भजनीया यैर्यैभविश्च ते सर्वे भावा भगवत्येव कर्तव्या इति सर्वभाव" इति कपिलदेवैः प्रथमकक्षायामुपदिश्यत इति अस्मिन् पक्ष आत्मनि भाव आत्मभावः सर्वश्चासावात्मभावश्चेति सर्वात्मभाव इति सिध्यति. तथा सति तत्क्रतुन्यायेनाग्रेपि तदेव फलतीति प्रथमकक्षावतां साधकानामपि न मोक्षफलनमतो नापि **साधकपदवैयर्थ्यमि**त्यर्थः. **उपदिश्यत** इति भगवतोपदिश्यते $(११\frac{१}{२})$.

लेखः

सायुज्यादिरिति– सहयोगः पुरुषोत्तमे प्रवेशस्तदादिरित्यर्थः. **उपनिषद्रूपा** इति, मोक्षस्य विचार्यत्वादुपनिषत्त्वमेवोक्तम्. **न ह्यनुभवे**ति– **श्रुत्युक्तं**

---

१. °ज्यादि. २. सर्वात्मभावे मू. पा.

वयमप्युपनिषद्रूपा अतो वयमेव[1] जानीमः. न ह्यनुभवविरुद्धमनुभवापर्यवसायि[2] फलं श्रुत्युक्तं भवति. ततः केवलानां तदेव फलमिन्द्रियवतां त्वेतदिति व्यवस्थितविकल्पः. अस्मिन्नर्थे श्रुत्यन्तररूपाणां गोपिकानां सम्मतिमाहुर्हे **सख्य** इति, समानशीलव्यसन एव **सख्यपद**प्रयोगात्. अतः श्रुत्यन्तरसम्मतिरप्युक्ता. [3](एतत् कासाञ्चिद् गोपिकानामेव भवतीति सर्वेषां साधारणं पक्षमाहु**श्चक्षुष्मतामिति**[4]. अस्मिन् पक्षेऽक्षण्वत्पदं चक्षुष्मत्पदपरं ज्ञेयं, तेनास्यावृत्तिर्वा ज्ञेया). **पशूननु** पशूनां पश्चाद्भागे **वयस्यैः** सह वनं **पशून् निवेशयतो** रामकृष्णयो-

---

प्रकाशः

सुबोधिन्यां **चक्षुष्मत्पदपरमि**ति चक्षुष्मत्पदार्थकमित्यर्थः. **तेने**त्यादि, **तेनार्थान्तरेणास्याक्षण्वतामि**तिचरणस्य संयोगपृथक्त्वे**नावृत्तिर्ज्ञेया**. अर्थान्तरग्रहणादौ बीजमाहुर्वेत्यादि. यदि मुख्यपक्षोत्र नाभिप्रेतः स्यात् तदा **वा**पदं न

लेखः

फलमुपनिषद्रूपाणामस्माक**मनुभवेन विरुद्धं** विचारेपि कृतेऽस्मद**नुभवे न पर्यवस्यति** तादृशं **न भवति.** इदं त्वनुभवापर्यवसायि दृश्यते अतो व्यवस्थोच्यत इति भावः. श्रुतेराप्तत्वादन्यथाकथनं न युक्तमिति **हि**शब्दः. **केवलानामि**ति– "वाङ् मनसि दर्शनाद्" इतिसूत्रचतुष्टयोक्तप्रकारेण सङ्घातलये सेवोपयोगिदेहो येभ्यो भगवता न दत्तस्तेषामित्यर्थः. एतेषां मोक्षः पुरुषोत्तमे स्थितिरेव फलमित्येवकारः. प्राप्ततादृशदेहानां त्वनुग्रहतारतम्येन त्रयमपि भवतीति भावः. **यैर्वा निपीतमि**ति, अनादरान्मुख्यपक्षोऽन्य आक्षिप्तः सोयमुक्त इति ज्ञेयम्. **गोपिकानामेवे**ति– **गोपिकानामेव** तत्रापि **कासाञ्चित्** तथाभाववतीनामिदं फलं **भवति;** एवकारेण गोपव्यावृत्तिः. **चक्षुष्मत्पदपरमि**ति– **चक्षुष्मत्पदं** पिपर्ति स्वार्थेन पूरयतीति **परं** तेन सहैकार्थमित्यर्थः. **तेनास्ये**ति **सख्य** इत्यन्तस्य वाक्यस्येत्यर्थः. **पशूनन्वि**ति. **अन्वि**त्युपसर्गस्य सार्थकत्वाय **पशूनि**त्यस्याप्यावृत्तिः, तथा च **पशून्** गवादीननु **पशूने**तद्रसानभिज्ञान् बहिरङ्गगोपान् वनं **निवेशयतोरि-**

योजना

रामकृष्णयोर्वक्त्रमिति– **रामकृष्णयोर्वक्त्रं यैर्वा निपीतं तेषामिदमेव**

---

१. °मेवं. २. °रुद्धं स्वानु°. ३. लेखकप्रमादादन्तःश्लिष्टेयं पंक्तिः न सुबोधिनीति कोष्ठकन्यासोऽस्माभिः कृतः– गो. श्या. म. ४. लुप्तम्.

र्वक्त्रमेकं यैर्वा निपीतमिति. **वे**त्यनादरे, मुख्यापेक्षयेदं गौणमिति. ये तु कालेन तुल्यास्तैः सह **पशूने**तद्रसानभिज्ञान् वनं प्रवेशयति भगवान्, निर्गुणावस्थाधिकाराभावे सात्त्विकावस्थाया युक्तत्वात्. भगवतो लीलायां कालो निमित्तं गोपानां लीलायाश्च तदाधारत्वे निमित्तमिति **वयस्य**ता. तदा तैः पशूनां वने निवेशनं तैः सह वा समानकालैर्वने निवेशनं भगवतो वा सहभावः, तथा सति वन-

---

टिप्पणी

अत्रैव **वयस्यैरि**त्यत्र, **तदाधारत्वे निमित्तमिती**ति. गोपलीलयोरेककालाधारत्वे प्रभुप्राकट्यं निमित्तमिति तथेत्यर्थः ॥७॥

प्रकाशः

वदेयुरतस्तथेत्यर्थः. पशूनां वनप्रवेशसूचितं तात्पर्यमाहु**र्निर्गुणे**त्यादि. **तदाधारकत्व** इत्यत्र **तत्**पदं भिन्नमिति बोधयितुं **गोपानामि**त्यादेरर्थं टिप्पण्यामाहु**र्गोपे**त्यादि. सुबोधिन्यां **भगवतो वा सहभाव** इति, वयस्यैस्सह निवेशयतीति तेषां भगवत्सहभाव इत्यर्थः. इममेवार्थं विवरीतुं सहभावप्रयोजनमाहु**स्तथा सती**त्यादि.

लेखः

त्यर्थः. निवेशान्यथानुपपत्त्या **वन**पदार्थोऽर्थापत्तिलभ्यो न त्वध्याहारः, तथा च **निवेश**पदार्थाकाङ्क्षापूरणाय **निवेश**पदार्थान्तर्गत एव **वन**पदार्थ इति ज्ञेयम्. **ये तु कालेन तुल्या** इति, भगवज्जन्मकालीना इत्यर्थः. बहिरङ्गानामेतेषाञ्च वनप्रवेशनहेतु**र्निर्गुणे**ति, अन्तरङ्गलीलाधिकाराभावे सहस्थापने दोषारोपसम्भवोऽतो वनप्रवेशनमेव युक्तमित्यर्थः. **तदे**ति एककालाधारत्वे सतीत्यर्थः, तादृशलीलाकाले वयस्येष्वपि वनमागतेषु सत्सु इति यावत्. [1](**वयस्य**पदस्यार्थान्तरमाहु**र्भगवत** इति. **तदाधारत्व** इति. **तत्** प्राकट्यं गोपलीलयोरेककालाधारत्वे निमित्तं, प्राकट्येन हेतुना तादृशलीलाकाले वनमागता इति भावः.) तथा च वयसा भगवत्प्राकट्येन हेतुना लीलया तुल्या लीलाकालाधारा इत्यर्थः. मुख्यवयस्यानां व्रतप्रसङ्गे वाच्यानां भगवता सह स्थितिनियमादत्र चैतेषां वननिवेशनस्योक्तत्वादेवं व्याख्यानम्. सप्तदशाध्यायारम्भे एत एवोक्ताः, भगवज्जन्मकालीनास्तु व्रतप्रसङ्गीया इति ज्ञेयम्. [1](तेभ्यो भिन्ना इत्याशयः पक्षद्वयेपि. **तदे**ति **वयस्य**पदस्यैवं व्याख्याने सतीत्यर्थः. प्रथमपक्षमुपसंहरन्ति **तैः सह चे**ति.) **तथा सती**ति, रसानभिज्ञत्वेन **पशूनां**

---

१. इत्यधिकमेकस्मिन्नादर्शे.

निविष्टानां पशूनामपि गोपानां तच्छ्रमे तत्स्थाने निवेशनार्थम्. आविष्टस्य मुखारविन्दं न स्पष्टमिति भगवत एव मुखमुभयरूपस्यापि मुखं चक्षुर्द्वारा यैस्तदन्तःप्रवेशितं, "तत् सर्वव्यापकं चित्तमाकृष्यैकत्र धारयेन्नान्यानि चिन्तयेद् भूयः सुस्मितं भावयेद् मुखमि"ति वाक्यात्. किञ्चैता हि स्वहृदि भावितं निरूपयन्ति, तथा च साधारणपक्षत्वेन सामान्यतो बलभद्रस्य निरूपणेपि मुखनिरूपणप्रस्तावेऽन्यमुखमेतासां हृदि नायातीत्येकमेव तत् निरूपितम्. मुखस्यैकत्वं प्रतिपादयन्त्य ईश्वरत्वेनाराधनबुद्ध्यानुरोधबुद्ध्या वा येषां पानं तत् सापेक्षमि-

---

प्रकाशः

मुखस्यैक्यनिरूपणस्य तात्पर्यमाहु**राविष्टस्ये**त्यादि. **अन्तःप्रवेशितमि**ति, साधारणपक्षे तदेव फलम्. **ईश्वरत्वेने**ति स्वग्रामाधिपतित्वेनेत्यर्थः, योगेन तथोक्तत्वादित्यर्थः. आसक्त्याधिक्यबोधनार्थं मुखैक्यनिरूपणस्य तात्पर्यान्तरमाहुः **किञ्चे**त्यादि. **तत्सापेक्षमि**ति भगवत्सापेक्षम्. **अनादर** इति फलत्वेनानादरे. तथा च ता बलदेवं

लेखः

बहिरङ्गानामपि **गोपानां श्रमे सती**तस्ततः पर्यटनासामर्थ्ये **सति** "गता गावो दूरं प्रखरखुरचिह्नान्यपि वने न लक्ष्यन्ते हन्त द्रुततरमिहागच्छत तत" इति प्रकारेण भगवते निवेदने कृते **सति** श्रान्तगोप**स्थाने** वयस्यानां **निवेशनार्थं** वयस्य**सहभाव** इत्यर्थः. **आविष्टस्ये**ति. रामाविष्टांशस्य मुखं पृथक् **स्पष्टं न** किन्त्वावेशाधिकरणसङ्कर्षणमुखसंवलितमेवातो मुख्यप्रकटस्य **भगवतः** कृष्ण**स्यैव मुखमुभयरूपस्या**विष्टस्य कृष्णस्य च मुखमुक्तमिति शेषः. मुखस्य प्रधानत्वे प्रमाणसम्मतिमप्याहु**र्नान्यानी**ति. **अन्यन्मुखमि**ति राममुखसंवलितं मुखमित्यर्थः. अवयवान्तरस्य दृश्यत्वेनोपस्थितिर्भवति, मुखस्य तु भोग्यरसवत्त्वाद् भोग्यत्वेनैवोपस्थितिः, तत् तु रामाविष्टमुखे केवलभगवदुपासकानां न सम्भवतीत्यतोपि न पृथङ् निरूपितमिति भावः. **मुखस्यैकत्वमि**ति, आविष्टभगवन्मुखे एव यत्रैवं तत्र सापेक्षपाने किं वक्तव्यमिति भावः. **ईश्वरत्वेने**ति, व्रजराजत्वेनाराधनमनुरोधो वा कर्तव्य इतिबुद्ध्येत्यर्थः. सर्वेषां दर्शनकर्तॄणां साधारणपक्षत्वादेवमुक्तम्. वर्णिकास्तु नैवंविधा इति ज्ञेयम्. पूर्वपक्षमाहु**र्न ही**ति.

योजना

फलं, वक्त्रमित्यर्थः. अस्मिन् पक्षे मुखमात्रस्य फलत्वं ज्ञेयम्. तत्रा**पीश्वरत्वेनाराधनबुद्ध्या** स्वस्वामिपुत्रत्वेनानुरोधबुद्ध्या वेति पक्षद्वयम्. कथम्भूतं वक्त्र-

त्यनादरे हेतुमाहुर्व्रजेशसुतयोरिति. न हि बलभद्रो व्रजेशस्य पुत्रः. आवेशपक्षे तु कृष्ण एवाविशतीति युक्तमेव तयोर्व्रजेशसुतत्वम्. अनादरे लौकिकसापेक्षदर्शनं हेतुः. अन्ये पुनर्गीतरसाभिज्ञा वेणुनादश्रवणार्थं भगवन्मुखारविन्दं पश्यन्ति तदाहानुवेणु **जुष्टमिति**. **वेणुमनु** लक्ष्यीकृत्य यद् वर्तते **तदनुवेणु** [1]वेणुवादनपरं तद् **यैर्जुष्टं यैर्वा निपीतमिति**, सेवनं निदर्शनं पानमन्तःप्रवेशनं, केवलं शब्दग्रहणं मनोहरत्वात् शिक्षार्थं वेति विकल्पः. अनादरस्तु स्वरादेवायाति. एवं मनोहरत्वान्नादाविष्टत्वाद् वा भजनमुक्तम्. कामसम्बन्धादपि भजनं पाक्षिकमिति

प्रकाशः

व्रजेशसुतत्वेन पश्यन्ति न तु स्वफलत्वेनातस्तथे[2]त्यर्थः. तदुपपादयन्तो मुखस्यैकत्वोपपादनायाहुर्**न हीत्यादि**. ननु यद्येवं तर्हि फलत्वेनानादरे को हेतुरित्यत आहुरनादर इत्यादि. चक्षुष्मद्भ्योपि हीनाधिकारिण आहु**रन्य** इत्यादि. **वाशब्देऽन्विते** सति गीताभिज्ञत्वफलस्य साधारणत्वं कथमायास्यतीत्यत आहु**रनादर** इत्यादि. **स्वरादिति** काकोरित्यर्थः. कामेनातोपि हीनाधिकारिणो

लेखः

समाधानमाहु**रावेशेति**. अनावेशपक्षे इयमाशङ्का भवेदिति तद्व्यावृत्त्यर्थं **तुशब्दः**. **लौकिकेति**– लौकिको भावः पूर्वोक्ता बुद्धिस्त**त्सापेक्षमित्यर्थः**. **वेणुमन्विति**. इदमर्थकथनम्, विग्रहस्तु **अनुगतो वेणुर्यस्येति** ज्ञेयः. **जुष्टं निपीतमित्येतयोर्भेदमाहुः सेवनं निदर्शनमिति**. **केवलं** शब्दश्रवणमित्यर्थः. तत्र हेतुमाहु**र्मनोहरत्वादिति**. पाने हेतुमाहुः **शिक्षार्थमिति**, स्वस्य तादृशवेणुवाद्यशिक्षणार्थं मूले **वेति** विकल्पेन पानमुक्तमित्यर्थः. विशेषणस्य वेणोः प्राधान्यात् शब्दकर्मकमेव क्रियाद्वयमुक्तम्. मूले वापदं कैश्चिद् **जुष्टं** कैश्चि**न्निपीतिमिति** विकल्पबोधनार्थं न त्वनादरमात्रबोधनार्थम्, स तु **स्वरादेवायातीत्यर्थः**. **अनुरक्तानामिति**, **अनुरक्ता** भक्तास्तेषां ये **कटाक्षास्तेषां मोक्षो यत्र** भगवन्मुखे इत्यर्थः ॥७॥

योजना

मित्यपेक्षाया**मनुवेणु, अनुवेणु** नाम वेणुवादनपरम्. एवं सति वेणुनादप्राधान्येन मुखावलोकनकर्तार उक्तास्तेपि द्विविधाः– मनोहरत्वाद् ग्रहीतार एके, अपरे तु भगवत्तुल्यं वयमपि वादयिष्याम इतिशिक्षार्थं वेणुनादं शृण्वन्तो मुखमवलोकयन्ति. एवं मुखमात्रावलोकने आराधनबुद्ध्या अनुरोधबुद्ध्या इति भेदद्वयं,

१. 'वाद'. २. अनादर इत्यर्थः.

विशेषणान्तरमाहा**नुरक्तकटाक्षमोक्षमिति**, **अनुरक्तानां कटाक्षाणां मोक्षो** यत्र. एतद् चक्षुष्मतां फलमिति निर्गुणसगुणभेदा निरूपिताः ॥७॥

[1]केवलं रसरूपमाह **चूतेति**.

चूतप्रवालबर्हस्तबकोत्पलाब्जमालानुपृक्तपरिधानविचित्रवेषौ ।
मध्ये विरेजतुरलं पशुपालगोष्ठ्यां रङ्गे यथा नटवरौ क्व च गायमानौ ॥८॥

चूतानामाम्राणां प्रवालाः कर्णयो**र्बर्हस्तबका** बर्हगुच्छानि शिरस्**युत्पलाब्जानां माला** कण्ठे तै**रनुपृक्तं** मिलितं **परिधानं** पीताम्बरादिवस्त्राणि तै**र्विचित्रो वेषो** ययोरेतादृशावुभावपि **पशुपालगोष्ठ्यां मध्ये विरेजतुः**.

प्रकाशः

वक्तुमाहुः **कामेत्यादि**. **निर्गुणसगुणभेदा** इति निर्गुणसहिताः सगुणभेदाः सात्त्विकाद्या इत्यर्थः. अनेनानुभूतवाक्यार्थावयवभूतो[2] **वर**पदार्थो विवृत इति ज्ञेयम्. अत्र चक्षुष्मत्फलत्वेन निरूपिता कालाधिकहरिलीलेति प्रतिभाति ॥७॥

चूतप्रवालेत्यत्र **वर**पदातिरिक्तं पूर्वार्धमनेन विव्रीयत इत्याशयेनाहु**श्चूतानामित्यादि**. तेन कर्णिकारोपरि पल्लवा अपि स्थापिताः सन्तीति बोध्यम्. वैजयन्ती च कमलानां बोध्या. ननु केवले रसे निरूपणीये "बर्हापीडं नटवरवपुरि"तिश्लोकोक्त**वर**पदातिरिक्तस्यैकत्वादुभयबोधकद्विवचनस्य किं

लेखः

चूतेत्यत्र कर्णयोरिति उपरिभाग इति ज्ञेयम्, तथा सति मुकुटे बद्धः पीताम्बरखण्डः प्रवालेन बर्हस्तबकेन चानुपृक्तो भवति. परिधानीयमुत्तरीयं च मालयानुपृक्तं भवति. परिधीयते ध्रियत इति व्युत्पत्त्या त्रयमपि **परिधानम्**, तैस्त्रिभिरपि **विचित्रो वेषो ययोरित्यर्थः**. **पीताम्बरादीति आदिपदेन** रामस्य

योजना

वेणुनादस्य मनोहरतया शिक्षार्थं वा इति शब्दोपसर्जनं मुखावलोकनमित्येतद् द्वयम् – एवं चत्वारो भेदा मुखमात्रावलोकने. **अनुरक्तकटाक्षमोक्षमिति**, **कामसम्बन्धादपि भजनार्थं** मुखावलोकनमिति पञ्च भेदा भगवन्मुखमात्रावलोकने ज्ञेयाः ॥७॥

चूतप्रवालेत्यस्याभासे केवलं रसरूपमिति केवलपदेन विप्रलम्भशृङ्गारो ग्राह्यः. स "बर्हापीडे"तिश्लोके "नट"पदेनोक्तः. इह चूतप्रवालबर्हयोः पीताम्बरेण

१. 'केवलरस'. २. "बर्हापीडमि"तिवाक्यार्थावयवेत्यर्थः.

रसाभिनयेऽवतारवदेवावेशस्याप्युपयोगाद् द्विवचनम्.
गुणा माया च वेषार्थमुपयुक्ता भवन्ति हि ॥(१२)॥

प्रकाशः

प्रयोजनमित्यत आहू **रसाभिनय** इत्यादि. **अवतारवदिति**, यथावतारे भूभारहरणादिना भगवत्प्रियकर्तृत्वेनोपयोगस्तथा **रसाभिनये** सहस्थितिप्रशंसादिभिः प्रियकर्तृत्वादुप**योग** इति तथेत्यर्थः. पल्लवादिनिरूपणप्रयोजनं कारिकाभिराहु**र्गुणा**

लेखः

नीलाम्बराणि. कारिकासु **गुणा** इत्यादि. अग्रे **त्रयाणामि**त्यनुवादस्य टिप्पण्यां **विगाढभाव**पदस्य **विगाढो** विलोडितः कटाक्षादिरूपो **भावो**ऽनुभाव इत्यर्थः. तथा च स्थायिभावव्यभिचारिभावानुभावा **गुणाः** क्रमेण प्रवालस्तबकमालारूपाः, **माया च** परिधानरूपा –एते **चत्वारोपि** पदार्था **वेषार्थमुपयुक्ता भवन्ति**, स्थायिभावात्मकस्य स्वरूपस्यैवात्रालम्बनविभावत्वात्. स्थायीभावो विभावश्चात्रैक एव ज्ञेयः, तथा च स्वरूपस्य धर्मिरूपस्यालम्बनविभावात्मकस्य वैचित्र्यं धर्मरूपस्थायिभावेन व्यभिचारिभावानुभावाभ्याञ्च भवतीत्यर्थः. गुणानां मायायाश्च

योजना

सम्बन्धकथनं शिरोबद्धपीताम्बरखण्डाभिप्रायेण. **रसाभिनयेऽवतारवदि**त्यादि, बलदेवे यः पुरुषोत्तमावेशस्तस्य रसरूपत्वेन रसाभिनये स्कन्धबाहुधारणादिना स्वामिनीरमणसमयाभिनयकरणाद्यर्थं बलदेवोपयोगादित्यर्थः. **गुणा माया चे**त्यादि. चूतप्रवालबर्हस्तबकोत्पलाब्जमाला रजस्तमस्सत्त्वस्वरूपाः. ते च रसे उपयुज्यन्ते, यतो रजोगुणेन विविधभावोत्पत्तिः, तमसा त्वेकत्र भगवदवयवे प्रीत्याधिक्येन मनसो लयः सत्त्वगुणेन सर्वेषां भगवदीयपदार्थानां रसोपयोगित्वेन

कारिकार्थः

चूतप्रवालेत्यत्र गुणा माया च वेषार्थमित्याद्याः षट् कारिका. **गुणा माया चे**ति. प्रवालः स्तबको माला चेति त्रयं टिप्पण्युक्तप्रकारेण स्थायिभावव्यभिचारिभावविगाढभावात्मक**गुण**त्रयरूपं; पीताम्बरं **च मायारूपम्**– एवं **चत्वारोपि वेषार्थमुपयुक्ता भवन्ती**त्यर्थः. अत्र श्रीवल्लभगोस्वामिनः– "अत्र टिप्पण्यां **विगाढभाव**पदस्य कटाक्षादिरूपोऽनुभावोऽर्थः. स्थायिभावात्मकस्वरूपस्यैवात्र आलम्बनविभावत्वात् स्थायिभावो विभावश्चात्र एक एव, तथा च स्वरूपस्य धर्मिरूपस्यालम्बनविभावात्मकस्य वैचित्र्यं धर्मरूपस्थायिभावेन व्यभिचारिभावा-

प्रकाशः

माया चेत्यादि. अत्रैवं ज्ञेयम्– "नाट्यशब्दो रसे मुख्यो रसाभिव्यक्तिकारणं चतुर्धाभिनयोपेतं लक्षणावृत्तितो बुधैः नर्तनं नाट्यमित्युक्तमि"ति सङ्गीतरत्नाकरे **नाट्य**शब्दार्थकथनात् तन्मूलभूतार्षग्रन्थेष्वप्ययमेवार्थ इति ज्ञायते. अत्र रसे योगोऽप्यस्ति– नटितुमभिनेतुं योग्यं नाट्यमिति अर्हे कृत्यस्य यतो भवनात्. तेन योगरूढः. एवं"श्वान्यायश्चानेकशब्दत्वमि"ति जैमिनीयस्मृत्यैकस्यार्थस्यैकशब्दवाच्यत्वनियमावधारणाद् धर्मविशेषपर्यवसानस्यैव ज्यायस्त्वेन नर्तनाभिव्यङ्ग्यत्वदृश्यापन्नत्वविशिष्टरसवाचकत्वमिति सिध्यति. नर्तनेऽपि यदा नटस्य भावः कर्म वा नाट्यमिति योगो विचार्यते तदापि ष्यञो भावे कर्मणि च विधानाद् योगतौल्यं तथापि रससत्तां विना तथा कर्मणः प्रयोक्तुमयुक्तत्वात् तत्प्रयोजको भाव एव मुख्यः. कर्मणि तु सामान्यतः प्रवृत्तः प्रत्ययो योगविशेषवत्तया रसाभिव्यञ्जके तस्मिन् कर्मणि सङ्कोच्यत इति नर्तव्येऽर्थे **नाट्य**शब्दो लक्षणागर्भ एव. एवमुभयथापि **नाट्य**शब्दविचारे रसस्य नृत्याभिव्यङ्ग्यत्वं सिद्धम्. किञ्च 'नटकथितवाक्यार्थपदार्थाभिनयात्मकं' नाट्य"माङ्गिकाभिनयैरेव भावानेव व्यनक्ति यत् तद् नृत्यं **मार्ग**शब्देन प्रसिद्धं नृत्यवेदिनां गात्रविक्षेपमात्रं तु सर्वाभिनयवर्जितम् आङ्गिकोक्तप्रकारेण नृत्तं नृत्तविदो विदुरि"ति नर्तनस्य भेदत्रयं तत्रोक्तम्. तथा "स त्वत्राभिनयो भवेदि"त्युपक्रम्य "काव्यबद्धं विभावादि व्यञ्जन् योऽर्थो नटे स्थितः सामाजिकानां जनयन् निर्विघ्नरससंविदमि"त्यभिनयं लक्षयि"त्वाङ्गिको वाचिकस्तद्वदाहार्यः सात्त्विकोपरः चतुर्धाभिनयस्तत्राङ्गिकोङ्गैः सम्प्रदर्शितः[१] वाचा विरचितः काव्यनाटकादिस्तु वाचिकः आहार्यो हारकेयूरकटकादिविभूषणं सात्त्विकः सात्त्विकैर्भवैर्भावुकेन विभावित" इति च तत्रोक्तम्. एवं चतुर्धाभिनयमध्ये य आहार्याभिनयो वेषात्मा तदर्थं **गुणा** रसरूपसुगन्धा **माया** परिधानस्था कनककपिशता **च हि** यतो हेतो**रुपयुक्ता भवन्त्यतो** हेतो **रसस्याहार्येऽभिनये** निरूपणीये **चत्वारः** पल्लवादयः परिधानान्ताः **पदार्था निरूपिताः**, यत एवम्प्रयोगे रसस्याभिव्यक्तिः. रसश्च विभावादिभिः प्रकृष्यमाणः स्थायिभावात्मामूर्तो नालम्बनविभावमन्तरेणाभिव्यक्तुमर्हति. एवं सति तस्मिन् धर्माविभविणैव कैवल्यं त्यजन् नाट्यरूपतां जहातीत्युभयसामञ्जस्याय

१. दर्शितो मत इत्यपि पाठः.

अतो रसस्याभिनये चत्वारोऽर्था निरूपिताः ।
रसरूपसुगन्धानां प्रतिष्ठा त्रिषु निश्चिता ॥(१३)॥

प्रकाशः

नटवेषात्मकैराहार्याभिनयैरालम्बनत्वारोपणेनाङ्गिकादिभिस्त्रिभिः सामाजिकानां रससंविज्ञननम्. यत्र पुनरालम्बनस्यैव नटत्वं तत्रापि नाट्यदशायां मुख्यानां रसधर्माणामनाविष्कारेण [1]न्यग्भूतैवालम्बनता, तादृशत्वमजानतः प्रत्यारोपिता च. एवं प्रकृते ब्रह्मात्मकस्य **रसस्य** पूर्वोक्तरीत्या स्वप्रतिष्ठत्वालम्बनतयोरविरोधेपि यथा रसत्वं न्यग्भाव्यालम्बनताया एव क्वचित्प्रकटनं तथात्र तां न्यग्भाव्य तामप्रकटीकृत्य नटत्वं प्रकटीकृत्य "रसो वै स" इतिश्रुत्युक्तं हि स्वस्वरूपात्मकं रसं सङ्गीतशास्त्रोक्तप्रणाड्या[2]भिनयतीति तत्र गुणाद्युपयोगस्तेनैते पल्लवादयोऽर्था उक्ता इत्यर्थः (१२ $\frac{1}{2}$).

लेखः

तत्तद्रूपत्वं व्युत्पादयन्ति **रसेति**. आम्रे मुख्यतया रसस्य प्रतिष्ठितत्वात् तत्प्रवालानां स्थायिभावत्वम्. **रस**पदं श्लिष्टार्थकं ज्ञेयम्. बर्हे **रूपमात्रस्य** प्रतिष्ठितत्वाद् रसव्यभिचारात् तत्स्तबकानां व्यभिचारिभावत्वम्. उत्पले **सुगन्धस्य** प्रतिष्ठितत्वात् तस्य (तत्सौरभाघ्राणजनितचुम्बनस्य) च रसानुभावकत्वात् तन्मालाया अनुभावत्वम् (१२-१३).

योजना

ज्ञानम्. ननु प्रवालादीनां स्थापने किं प्रयोजनमित्याकाङ्क्षायामिह स्वरूपे रसरूपसुगन्धानां तादृशभक्तैकभोग्यानां रसगोपनसूचनार्थं प्रवालबर्हस्तबकोत्पलाब्जमालापीताम्बरस्थापनमित्याहू **रसरूपसुगन्धानामि**त्यादि. तत्राम्रस्य रसप्रधानत्वाद् लोभात्मकस्य**रसस्य** सूचनार्थमाम्रपल्लवाः. बर्हस्तबकस्य सुन्दरत्वाद् **रूप**सौन्दर्यसूचनाय धारणम्. उत्पलाब्जानां सुगन्धबाहुल्यादानन्दमयविग्रहे सहजः **सुगन्धः** सूच्यते. रसस्य गोप्यत्वं पीताम्बरधारणेन ज्ञाप्यते. नन्वभिनयकरणे

कारिकार्थः

नुभावाभ्यां च भवतीत्यर्थः. गुणानां मायायाश्च तत्तद्रूपत्वं व्युत्पादयन्ति **रसरूपसुगन्धानामि**ति. आम्रे मुख्यतया **रसस्य** प्रतिष्ठितत्वात् तत्प्रवालानां स्थायि-

१. गौणीत्यर्थः. २. प्रणाल्येत्यपि पाठः.

धर्म्याच्छादनबोधाय मायाप्यत्र निरूप्यते ।
वस्तुनिर्देशमात्रेण श्रोतृणां काव्यवद् [1]रसः ॥(१४)॥

प्रकाशः

तर्हि गुणा एव निरूप्या न गुणिन इत्यत आहू **रसे**त्यादि. **धर्म्याच्छादनबोधाये**ति, **धर्मी** रसस्तस्य गुप्ताबोधनाय. तथा च पल्लवादिषु तेषां[2] **प्रतिष्ठा निश्चिते**ति ते **निरूपिताः**. केवलगुणनिरूपणे तेषामागन्तुकता स्यादिति तथा. उक्तार्थबोधनाय **मायापि निरूप्यत** इत्यर्थः (१३ $\frac{1}{2}$).

लेखः

धर्मिणः स्वरूप**स्याच्छादनं** तद्**बोधाय मायापि निरूप्यते,** अतो माया परिधानरूपेत्यर्थः. वैचित्र्यसम्पादकास्तु गुणा एव, परं सम्यग्वैचित्र्यार्थं धर्म्याच्छादनमप्यपेक्षितमिति **मायापीत्य**पिशब्दः. नन्वत्र शब्दतः सर्वं निर्दिष्टं तावता रसानुभवः कथं भवेत्? न हि "शर्करा मधुरे"तिवाक्येन माधुर्यानुभवो भवतीत्याशङ्क्याहु**र्वस्त्वि**ति. **वस्तुनो निर्देशमात्रेणा**पि रसो जायते. तत्र दृष्टान्तः **श्रोतृणां काव्यव**दिति. यथा काव्यस्य "रसवद् वाक्यं काव्यमि"त्युक्तत्वेन रसवत्त्वात् तच्छ्रवणे सति तन्निष्ठो रसः श्रोतृभिश्चर्वणयास्वाद्यते तथैतद्वाक्यस्य परितः सुधागलनरूपं वर्णनमित्युक्तत्वेन रसवत्त्वादन्योन्यं तच्छ्रवणे सति तन्निष्ठो रसः श्रोत्रीभिरन्योन्यं चर्वणयास्वाद्यतेऽतो वस्तुनिर्देशमात्रेण रस इत्यर्थः (१४).

योजना

आम्रपल्लवादिभी रसादिसूचने कथं रसानुभवस्तत्राहु**र्वस्तुनिर्देशमात्रेणे**त्यादि. **काव्य**पदवाच्यस्य "रसवद्वाक्य"स्य श्रवणे **श्रोतृणां** रसानुभवो भवति, एवमाम्रपल्लवादिदर्शने तत्सूचितरसस्याप्यनुभवो भवति. व्रजस्थितसुन्दरीणां तु तादृशस्वरूपवर्णने परस्परश्रवणात् तन्निष्ठरसानुभवो भवति (१२-१४).

कारिकार्थः

भावत्वं, बर्हे **रूपमात्रस्य** प्रतिष्ठितत्वाद् रसव्यभिचारात् तत्स्तबकानां व्यभिचारिभावत्वम्, उत्पले **सुगन्धस्य** प्रतिष्ठितत्वात् तस्य च रसानुभावकत्वात् तन्मालाया अनुभावत्वम्. धर्मिणः स्वरूपस्याच्छादनबोधाय मायापि निरूप्यते" इति व्याचख्युः. ननु साक्षादनुभवाभावे वस्तुनिर्देशमात्रेण कथं रसानुभव इत्याशङ्क्याहु**र्वस्त्वि**ति. तत्र दृष्टान्तः **श्रोतृणां काव्यव**दिति (१२-१४).

१. एवम्भूतो **रस** एव **पल्लवो रसवत्फलबोधाय प्रथमं मत** इत्यर्थः. २. धर्माणामित्यर्थः.

रसवत्फलबोधाय प्रथमं पल्लवो मतः ।

प्रकाशः

ननु रसप्रतिष्ठा चूतस्य फले न तु पल्लव इति [१]नास्योपयोगः, कथञ्चिदुपयोगे वा हस्तकेन पल्लवादिरप्यभिनेयो न तु वेषेऽपि **स्थाप्य** इत्यत आहुर्**वस्तुनिर्देशे**त्यादि. नाट्ये हि न रासन आस्वादः किन्तु काव्येन शब्दद्वारेवात्र पल्लवादिवस्तूनां हस्तकनिर्देशेन चाक्षुषद्वारा मानस आस्वादो न तु [२]तदभिव्यङ्ग्यस्यार्थस्य बोधनमतस्तेन **रसवत्फलबोधार्थं प्रथमं पल्लवो मतो** विचारितः. तथा च चूतपल्लवेन रसवत्फलं भावीति स्रग्द्वारा बोध्यत इति तेन मानसिकास्वादसिद्धिरिति रसप्रतिष्ठा तत्रापि न दुर्घटेति पल्लव उचित एव. तस्य हस्तेनाभिनय उक्तरीत्या मानसमात्रं न तु रसवत्फलपर्यवसायित्वबोधनमपीत्यतस्तत्स्थापनमित्यर्थः. भगवान् हि स्वरूपात्मकमेव हि रसमभिनयादिना यत्र स्थापयति ततः कदापि न गच्छति किन्तु बीजत्वात् फलं प्रयच्छतीति वस्तुस्थितिः. तथा च भाववतां नाट्यप्रणाड्या प्राप्तरसानामग्रे फलप्राप्तेरवश्यम्भावाय प्रथमं पल्लवस्थापनोक्तिरिति भावः (१४$\frac{१}{२}$).

ननु भवत्वेतदेवं तथापि रसशास्त्र इष्टदर्शनादिभिस्तत्तद्धेतुभिर्जनितः प्रमोदात्मा स स्थायिभावस्तत्तद्रसानुकूलदेशकालकलावेषभोगादिसेवनप्रभृति-

लेखः

एवं क्रमेण पदार्थचतुष्टयस्य निरूपणे हेतुमाहू **रसवदि**ति. **रसवत्त्वेन फलस्य बोधनाय पल्लव** उक्तः. पल्लवदर्शने फलस्य स्वरूपस्य रसत्वेन ज्ञानं भवति तेन कलिकाहेतुः प्राथमिकभावोदयो भवत्यतः प्राथमिकभावहेतुत्वात् **प्रथमं**

योजना

ननु प्रथममाम्रपल्लवधारणमुक्तं तत्र को हेतुरित्याकाङ्क्षायामाहू **रसवत्फलबोधाये**त्यादि. अग्रे **रसवतः फलस्य** स्वरूपानन्दसारभूतसुधानुभवस्य **बोधनार्थं** पल्लवधारणमित्यर्थः. **शास्त्रार्थस्ये**ति, रस**शास्त्रस्यार्थः** प्रयोजनं सुधाभोग-

कारिकार्थः

एवं क्रमेण पदार्थचतुष्टयनिरूपणे हेतुमाहू **रसवत्फलबोधाये**ति. रसयुक्तफलबोधार्थं प्रथमं पल्लव उक्तः. पल्लवदर्शने फलस्य स्वरूपस्य रसवत्त्वेन ज्ञानं भवति. तेन कलिकाहेतुप्राथमिकभावोदयो भवति. अतः प्राथमिकभाव-

१. पल्लवस्य. २. वस्तु.

शास्त्रार्थस्य परिज्ञानाद् भावस्य कलिका भवेत् ॥(१५)॥

प्रकाशः

भिस्तत्तद्धेतुभिः प्रकृष्यमाणः स स रसः इत्युच्यते. स च मनोविकार एवान्तरश्चानेकरूपश्चानित्यश्च. भगवांस्तु न तथा. किञ्च पूर्वश्लोके **वरत्व**मुपपादितमत्र च **नट**दृष्टान्तेनाभिनेतृत्वं, तथैव विज्ञीयमाणश्लोकेपि[१]. एवं चालम्बनत्वमभिनेतृत्वं च स्फुटति न तु सर्वरसत्वमतः कथं प्रतिज्ञापूर्तिरित्याकाङ्क्षायामाहुः कारिकायां **शास्त्रार्थस्ये**त्यादि. अयमर्थः. "रसो वै स" इतिश्रुत्या "ह्यसद्वा इदमग्र आसीदि"त्यादिनोपक्रान्तस्य ब्रह्मण एव रसत्वं बोध्यते. **रस**शब्दश्च रसनाग्राह्ये गुणे द्रवद्द्रव्ये सारभूतेऽर्थ आस्वाद्यानन्दजनके च तत्र तत्र प्रसिद्धः. तेषु प्रकृते कोऽर्थो विवक्षित इत्याकाङ्क्षायां "रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दीभवति को ह्येवान्यात् कः प्राण्यात् यदेष आकाश आनन्दो न स्यादेष ह्येवानन्दयाती"त्यनेन रसस्यानन्दत्वं प्राणधारणप्रयोजकत्वं हृदयाकाशस्थत्वमानन्दजनकत्वं च तस्यैवोच्यते. तेन हृदयस्थः प्राणिनामानन्दजनको य आनन्दः स रस इति सिध्यति.

लेखः

पल्लवो मतः. द्वितीयमाहुः **शास्त्रे**ति, रस**शास्त्रस्यार्थः** फलं तस्य **परितो** रसवत्त्वेन **ज्ञानाद्** बोधात् तदनु जातस्य **भावस्य कलिका**ऽविलम्बेन पुष्पत्वद्वारा रसानुभवज्ञापिका **भवेद**तस्तदनन्तरं कलिकासदृशा बर्हस्तबका उक्ताः. तृतीयमाहु-

योजना

स्तस्य पल्लवदर्शनेन भाव्यत्वेन **परिज्ञानाद् भावस्य** भगवद्विषयस्नेहस्य **कलिका**सक्तिरूपो भावो **भवे**दित्यर्थः, प्रेमानन्तरभावित्वादासक्तेः. उचितं चैतत्, प्रमाणप्रकरणलीलया प्रेमात्मकभावस्योत्पादितत्वात् प्रमेयप्रकरणलीलयासक्तिरूपो भाव उत्पाद्यत इति. कलिकायां हि रसरूपसुगन्धादयः सर्वे विद्यमाना अप्यव्यक्ता किञ्चिद्व्यक्ताश्च, तथाऽऽसक्तौ भावकार्यभूताः कटाक्षस्मितालापादयोऽप्यव्यक्ताः किञ्चिद्व्यक्ता भवन्तीति कलिकासादृश्यमासक्तेः. अतस्तादृशासक्ति-

कारिकार्थः

हेतुत्वात् प्रथमं पल्लवो मतः. द्वितीयमाहुः **शास्त्रे**ति, रस**शास्त्रस्यार्थः** फलं तस्य **परिज्ञानात् भावस्य कलिका** रसानुभवज्ञापिका **भवेद्**, अतः पल्लवानन्तरं

१. कारिकास्वपि.

प्रकाशः

तत्र यद्यप्यानन्दोत्पत्तिरूपस्य कार्यस्य तत्तदवयवेष्वनुभूयमानत्वेनानन्दस्य सर्वशरीरव्यापित्वं तथाप्युक्तश्रुत्या "स मानसीन आत्मा जनानामि"तिश्रुत्यन्तरेण च मनस्येव तस्य विशेषतः स्थितिरिति निश्चीयते. एवं सति रसशास्त्रप्रणाड्या जायमानो यो मानसो विकारः प्रमोदात्मा स रसात्मनो भगवत एव कार्यभूत, "एष ह्येवानन्दयाती"तिसावधारणश्रुतेस्तथा तदंशभूत"श्चैतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ती"तिश्रुतेः. अत एव च प्रकृष्यमाणे [१]तस्मिन् रसत्वप्रतीतिर्लोकानां तथाप्रयोगश्च[२] ब्रह्मादिषु पुरुषपदप्रयोगवद् भाक्तः. न चैवं सत्यानन्दमात्रस्यैव [३]तथात्वात् प्रणाड्यामेव कुतो विशेष इति शङ्क्यं, रसस्वरूपस्यैव तथात्वात्. न च मानाभावः, लौकिकस्य प्रणाड्यभिव्यङ्ग्यत्वे सिद्धे तद्दृष्टान्तेनालौकिकेपि तथानुमातुं शक्यत्वात्, कारणतद्धर्माणामेव कार्येऽभिव्यक्तेः सन्देहनिरासाच्च. न चानित्यत्वापत्तिः, ब्रह्मत्वादेव तन्निरासात्. अत एव न मनोविकारत्वमपि. नाप्यनेकरूपत्वं दोषाय, तस्य प्रणाडीकृतत्वेन वास्तविकरूपत्वाबाधकत्वा"दनन्तरूपमि"तिश्रुत्या वास्तविकत्वाच्च. तेनेदं सिद्धम्— परं ब्रह्मैव रसशास्त्रोक्तप्रणाड्या हृद्याविर्भूतं सत् स रस इति. तत्र च चिदंशो न्यग्भूत एव. अत एव "कृषिर्भूवाचक" इतिश्रुतौ सदानन्दत्वमेवोक्तम्. न च भूशब्दस्य सत्तावाचकत्वात् सत्तानन्द इति भवति न तु सदानन्दइति शङ्क्यं, तत्सत्ताया आत्मरूपत्वेन धर्मत्वाभावस्य व्याकरणमते सिद्धत्वात् सत एव सिद्धेः. अतः परब्रह्मणस्तथात्वेन[४] प्रणाड्याविर्भूतिऽपि [५]तथात्वमेव. नन्वस्त्वेवं तथाप्युक्तश्रुतौ ब्रह्मणो रसत्वमुच्यते न तु रसस्य ब्रह्मत्वं तथा सति बहिराविर्भूतस्य भगवतो रसत्वाभावात् कथं प्रतिज्ञायाः पूर्तिरिति चेदित्थम्. यत्रेदं[६] वर्ण्यते न तत्र भगवान् बहिः प्रकटः किन्तु हृद्येवेत्युपपादितं "बर्हापीडे"त्यस्य स्वतंत्रे. यदापि बहिस्तदाप्यासक्तिभ्रमन्यायेन[७] 'मानसीन' एवेति 'तत्पूर्तेः. नन्वेवं सति [९]वृत्तिविशेषरूपत्वान्न भगवानिति चेन्न, लोके वृत्त्या ग्राह्यस्य देशकालपरिच्छिन्नत्वेन [१०]तत्र तदभावेपि[११] विरहादौ संस्कारप्राबल्यादिना वृत्तिनिर्गमात् ख्यातिः स्वीक्रियते; न

१. रसात्मनि भगवति. २. "रसो वै स" इति भगवति पुरुषपदप्रयोगश्च. ३. रसवत्त्वात्. ४. सदानन्दत्वेन. ५. सदानन्दत्वम्. ६. ब्रह्मणो रसत्वेत्यादि. ७. अहं गृहस्थितो वा बहिःस्थित इत्यासक्त्या भ्रमस्तन्न्यायेन. ८. प्रतिज्ञापूर्तेः. ९. 'विषय'. १०. देशे. ११. वस्त्वभावेपि.

ततस्तस्य च वैचित्र्यं पुष्पस्थानमिहोच्यते ।

प्रकाशः

तथा प्रकृते, देशकालापरिच्छिन्नत्वात्. किन्त्वनन्यभक्तिलभ्यत्वाद् यादृशी सा तथा तत्राविर्भवति. सा च मनोधर्म इति तदभिव्यङ्ग्यत्वेन बहिराविर्भूतस्य मानसीनत्वेन वृत्तित्वाभावान्मायावादिमते वृत्त्यवच्छिन्नविषयावच्छिन्नयोश्चैतन्ययोरेकत्वाभावे बहिःष्ठस्य[१] वृत्त्यवच्छिन्नत्वेपि वृत्तित्वाभाववत्. नन्वस्त्वेवं तथापि प्रकृतानुरोधाच्छृङ्गारात्मकत्वमेवात्र वक्तव्यं तस्य च परस्परसाकाङ्क्षस्त्रीपुंव्यक्त्यात्मकालम्बनद्वयाधीनस्थितिकत्वादत्रापि तथात्वमङ्गीकर्तव्यं; तच्च भगवतो रसत्वे विरुध्येतैकालम्बनकत्वेन रसाभासत्वप्रसञ्जकत्वादिति चेन्न, आलम्बनत्वस्यापि सत्त्वात्, "कामिनां दर्शयन् दैन्यमि"त्यस्य टिप्पण्यां "रसात्मको रसवांश्च भगवानि"ति कण्ठरवेणोक्तत्वात्. न च विरोधः, स्वप्रतिष्ठत्वस्य[२] श्रौतत्वेन सर्वसम्मतत्वात्. यथान्येषां कामेन कामवत्त्वं, कामस्य तु स्वत एव तथान्येषां रसेन रसवत्त्वं रसस्य तु स्वत इत्यस्यापि सुवचत्वाच्च तदप्रसङ्गात्.[३] तस्माद् बहिराविर्भूतस्यापि भगवतो रसत्वमबाधमेव.

तथा चैवम्प्रकारकस्य **शास्त्रार्थस्य** श्रुत्यर्थस्य **परिज्ञानाद्** विचारपूर्वकान्निश्चयाद् **भावस्य कलिका** स्थायिभावात्मिका विचारयतां **भवेत्.** बीजाङ्कुरादिकं तु पूर्वमनुग्रहात्मकं सिद्धमेवास्तीति भावः. **ततस्तस्य** स्थायिभावस्य **वैचित्र्यं** भावादि—व्यभिचारिभावादि—कृतं **भवेत्.** **तदिहास्मिन्** श्लोके

लेखः

स्तत इति, तदनन्तरं **तस्य** कलिकारूपभावस्य **च**काराद् वेषस्य **वैचित्र्यं** भवेदतः **पुष्पाणामु**त्पलानां **स्थानं** माला तदनन्तर**मिहोच्यते.** चतुर्थमाहु**रहोरात्र**मिति.

योजना

सूचनार्थं कलिकातुल्यबर्हस्तबकधारणमिति भावः. **ततस्तस्ये**त्यादि, **तस्य** भावस्य **वैचित्र्यं** व्यसनरूपतया फलितस्यालिङ्गनादिकार्यरूपेण विविधविलासरूपत्वं

कारिकार्थः

कलिकासदृशाः बर्हस्तबका उक्ताः. तृतीयमाहु**स्ततस्तस्ये**ति, तदनन्तरं **तस्य** कलिकारूपभावस्य **वैचित्र्यं** भवेद्, अतः **पुष्पस्थानं** पुष्पाणामुत्पलादीनां स्थानं

१. बहिःस्थितस्य घटादेः. २. **स्वस्मिन्** भगवति **स्थितत्वस्य** प्रियारूपालम्बनस्य. ३. भगवतीति शेषः.

अहोरात्रं वासना स्यात् तत आच्छादनं स्मृतम् ॥(१६)॥
रसोत्पत्त्यर्थमेतावन् निरूपितमिति स्थितिः ।

प्रकाशः

पुष्पस्थानमुच्यते **विचित्रवेषावि**त्यनेन कथ्यते. ततो**ऽहोरात्रं** **वासना** तत्तद्भावनारूपा **स्यात्**. तथा सति प्रसिद्ध्या रसत्वाद्धीयेतेत्या**च्छादनं** विवरणे. अन्यथा प्रयोजनाभावात् परिकरं[1] न स्मरेयुः. इममर्थं सङ्गृह्य साधकशिक्षार्थमाहु

लेखः

सर्वदा **वासना** तदनुभवः **स्यात्** तदाऽगुप्तत्वाद् रसत्वमेव न स्यात् **ततो** हेतोस्तदनन्तर**माच्छादनं** परिधानं **स्मृतम्**, पूर्वं पुष्पाण्युक्तान्यतो **वासना**पदम् (१५-१६).

नन्वेवं निरूपणे धर्मसहितनिरूपणमेव जातमतः **केवलरसरूपमाहे**त्याभासेन विरोध इत्याशङ्क्याहू **रसोत्पत्त्यर्थमि**ति. **एतावत्** सर्वमेतासु रसस्वरूपाविर्भावार्थं **निरूपितं** न तु धर्मसहिताविर्भावार्थम्. नन्वेतावद् विनैव रसाविर्भावः कुतो नोक्त इत्यत आहु**रितिस्थितिरि**ति, "विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रस-

योजना

भवेत्. तदेव पुष्पस्थानीयं, पुष्पे हि रसरूपसुगन्धादयो व्यक्ता भवन्ति तथा व्यसनेपि स्फुटा भवन्तीति भावः. तादृशव्यसनसूचनार्थमुत्पलाब्जमालाधारणमिति भावः. **अहोरात्रमि**ति, पुष्पे जाते वासना स्फुटा भवति तथा व्यसने जाते तत्कार्याणां दर्शनाश्लेषरहोभाषणादीनां प्रत्यहं जायमानत्वाद् **वासना** लोके ज्ञानं **स्यात्**. तथा च प्रकटत्वाद् रसाभास एव स्यान्न रसत्वमिति रसत्वसाधनार्थमाच्छादनमपेक्षितं, तदाच्छादनसूचनाय **माया**रूपपीताम्बरधारणम्. तथा चेदं तात्पर्यमत्राकलनीयं— दर्शनाश्लेषादीनां गोपनार्थं चातुर्यविशेषरूपं कापट्यमपेक्षितं, तदत्र **मायाशब्द**वाच्यं, तेनैव रसगोपनं भवतीति बोध्यम् (१५-१६).

एवङ्करणे फलं भवतीत्याहू **रसोत्पत्त्यर्थमि**त्यादि. एवं प्रक्रियया रसोत्पत्तिः

कारिकार्थः

माला तदनन्तर**मिहोच्यते**. चतुर्थमाहु**रहोरात्रमि**ति. परिधानाभावे सर्वदा **वासना** तदनुभवः **स्यात्**; तदाऽगुप्तत्वाद् रसत्वमेव न स्यात्, **ततो** हेतोस्तदनन्तर**माच्छादनं** परिधानं **स्मृतम्** (१५-१६).

१. शृङ्गारादिकम्.

[1]आविर्भावे रसास्वादान्नृत्यं शोभा ततो भवेत् ॥(१७)॥
अतोऽतिगुप्तो भगवान् रसत्वं प्रतिपद्यते ॥

प्रकाशः

रसेत्यादि. **एतावद**र्धश्लोकोक्तम्.[2] सिद्धदशायां फलानुभवप्रकारमुत्तरार्धेन[3] बोधयन्तीत्याशयेनाहु**राविरि**त्यादि. तथा च तदा 'मानसीन'स्य बहिराविर्भावे स्वधर्मप्राकट्यं करोतीत्यर्थः. सिद्धमाहु**रत** इत्यादि. तथा चोक्तप्रणाड्यान्तराविर्भूतो रसो बहिराविर्भूतस्तु धर्मसाहित्यात् [4]तदुद्बोधकत्वाच्च साधनमतः स्थानभेदेनोभयमप्यविरुद्धमिति भावः (१५-१७½).

लेखः

निष्पत्तिरि"तिवाक्यादियं रसमर्यादा **आविर्भावे** इत्यग्रिमेणान्वयः. तासु रसाविर्भावक्रम एवमुक्तः. भगवत्येवंक्रमे प्रकारमाहू **रसास्वादादि**ति. **रसास्वादा**दनन्तरं **नृत्यं** तदनन्तरं **शोभा** भवेद्, **अत** एतदनन्तरं **गुप्तो** भगवान् **रसत्वं** **प्रतिपद्यते**. एवमुद्बुद्धस्यागोपने रसाभासत्वं स्यादत एव क्रमेण तत्तत्सूचकपदार्थनिरूपणम्. बर्हस्तबकस्य नृत्यन्मयूरानुकरणत्वात् तत्सूचकत्वं ज्ञेयम् (१७½).

योजना

स्यादतो निरूपणमिति भावः. **आविर्भावे** **रसास्वादान्नृत्यमि**ति, एवमभिनयकरणेऽभिनयकर्तुर्भगवतो रसास्वादान्नृत्यमभूदिति **नट** इत्यस्यार्थ उक्तः. **शोभा ततो भवेदि**ति **विरेजतुरि**त्यस्यार्थ उक्तः. **रसत्वं प्रतिपद्यत** इति "गुप्तो हि रसो रसत्वमापद्यत" इतिरसशास्त्रात्. अनेन "रसो वै स" इतिश्रुत्युक्ता रसरूपता समर्थिता (१७½).

कारिकार्थः

एतावन्निरूपणप्रयोजनमाहू **रसोत्पत्त्यर्थमि**ति. **इतिस्थितिरि**ति. **स्थिति**र्मर्यादा; यद्यप्येतत्प्रणालिकां विनापि भगवान् रसोत्पादनसमर्थस्तथापि रसमर्यादास्थापनाय तथेति भावः. **नृत्यं शोभा ततो भवेदि**ति— **नटवरावि**तिपदोक्तं नृत्यं, **विरेजतुरि**तिपदोक्ता शोभा (१७).

१. भावात्मकस्य भगवत **आविर्भावे** प्राकट्ये **रसास्वादात्** स्वामिनीसम्बन्धरसानुभवाद् **नृत्यं** **शोभा** च प्रकटीभवति यतोऽतो **गुप्त**स्यैव **रस**तेत्यर्थः. प्राकट्ये तु स्वरूपतो रसात्मकमितिभावः.
२. चूतप्रवालेति. ३. मध्ये विरेजतुरिति. ४. रसो°.

विचित्रवेषाविति सर्वरसाभिनिवेशनार्थम्. त्रयाणामन्योन्यगुणप्रधानभावे नव रसा भवन्ति. एवं रसरूपं भगवन्तं निरूप्य तद्रसपोषकौ समाजे वाद्यगीतविशेषौ निरूपयति **मध्ये विरेजतुरिति. पशुपालानां गोष्ठी** नात्यन्तं गूढा, तेन रसस्य सुलभत्वं निरूपितम्. **मध्ये** गीतवाद्ययोः. त्रयाणां समानतैव सर्वोत्तमा, नृत्यस्य तु विशेषः प्रायिकएवेति तदेवोक्तम्. कादाचित्कनिषेधार्थ**मल**मिति. शास्त्रमत्र नियामकं न भविष्यतीत्याशङ्क्याह दृष्टान्तं **रङ्गे यथा नटवरा**विति. रङ्गं

टिप्पणी

चूतप्रवालेत्यत्र, त्रयाणामन्योन्यगुणप्रधानभाव इति, स्थायिभावव्यभिचारिभावविगाढभावानामित्यर्थः ॥८॥

प्रकाशः

त्रयाणामित्यादेरर्थं टिप्पण्यामाहुः **स्थायी**त्यादि. **तदेवोक्त**मिति गोष्ठीमध्ये विराजनमेवोक्तमित्यर्थः ॥८॥

लेखः

एतादृशपरिधानकृतवेषावेतावतैव वैचित्र्यप्राप्तावपि. **विचित्र**पदोक्तितात्पर्यमाहुः **सर्वे**ति. तर्हि साधनान्यपि न वक्तव्यानीत्यत आहु**स्त्रयाणा**मिति. हासः प्रधानं रतिर्गौणी चेद्धास्यरसः, हासो गौणो रतिः प्रधानं चेच्छृङ्गारः; एवं नवस्वपि. एवम्प्रकारेण त्रय एव नवानामपि साधका भवन्ति. शोभाया धर्म्यन्तर्गतत्वेन तादृशशोभाविशिष्टधर्मिरसनिरूपणं वाक्यार्थः. रसपोषकत्वं तु गीतवाद्ययोरेवेत्याशयेनोत्तरार्धभासस्तथोक्तः. **सुलभत्व**मिति, गोपिकान्तरगोष्ठ्यां स्थितावस्मद्धृदये नागच्छेदिति भावः. **मध्ये**पदस्याकाङ्क्षापूरणायाहु**र्गीतवाद्ययो**रिति, **गीतवाद्ययोर्मध्ये** तत्समय इत्यर्थः. **नट**दृष्टान्तेन वाद्यमुक्तं नृत्यमपि सूचितं, **गायमाना**वितिपदेन गानमुक्तं नृत्यमपि सूचितम्; एवं पदद्वयेन पदार्थत्रयमुक्तमित्याशयेनाहु**स्त्रयाणा**मिति. **समानते**ति. यादृशेन निपुणेन गानं क्रियते तादृशेनैव वाद्यं तादृशेनैव नृत्यमेवं नैपुण्येन **समानता** सैव **सर्वोत्तमा** न तु न्यूनाधिकता, अतः शोभाकथनेन साम्यं सूचितमिति भावः. **नटवर**पदस्य नृत्यं वाच्यार्थो वाद्यं सूचितार्थ इत्येव कुतो न भवेदित्यत आहु**र्नृत्यस्य त्वि**ति. गीतवाद्ये बहुकालं, नृत्यं तु रसोद्रेके कदाचिद् जायते, अतोऽस्माभिर्वाद्यमेव वाच्यार्थत्वेनोक्तम्. **वर**पदेन धर्मसहितरसनिरूपणाशङ्काव्यावृत्त्यर्थमाहु**रलौकिके**ति. बर्हस्तबकधारणसूचितं तामसभावनृत्यम्, तस्य

शास्त्राधारभूतं स्थानं, रङ्गमण्डपे **यथा नटौ** [1]शास्त्रार्थानुसारिणौ भवतः. अलौकिकनाट्यार्थं **वर**पदम्. एवं राजसभावनृत्यमुक्त्वा सात्त्विकभावनृत्यमाह **क्व च गायमाना**विति, देशविशेषे हस्ताभिनयमात्रपूर्वकं श्रमरहितं गानं कुरुतः. एतदपि लोकप्रसिद्धम् ॥८॥

एवं रसं निरूप्य तस्याधिदैविकरूपतासम्पादकं वेणुनादं निरूपयन्ति **गोप्य** इति.

गोप्यः किमाचरदयं कुशलं स्म वेणुर्दामोदराधरसुधामपि गोपिकानाम् ।
भुङ्क्ते स्वयं यदवशिष्टरसं ह्रदिन्यो हृष्यत्त्वचोऽश्रु मुमुचुस्तरवो यथार्याः ॥९॥

गोप्य इति सम्बोधनं पूर्वरसाभिज्ञापकं, नात्र बोधनीयं वचनीयं वा

टिप्पणी

गोप्यः किमाचरदित्यस्याभासे, **तस्याधिदैविकरूपतासम्पादक**मिति. कामरसो हि सहजः; वेणुनादेन सह सुधान्तःप्रविष्टा सहजं पूर्वकामं दूरीकृत्य भगवदीयं तं प्रकटितं करोतीति तथा. **दामोदरे**त्यस्याभासे, **मर्यादायां**

प्रकाशः

गोप्य इत्यत्र **तस्याधिदैविके**त्यादेरर्थं टिप्पण्यामाहुः **कामरसे**त्यादि. आभासे टिप्पण्यां **सहज**मित्यादि. तथा च मनोधर्मरूपं तं दूरीकृत्य भगवद्धर्मरूपं तं तथा करोति; आसन्य इन्द्रियाणीव भगवदीयसुधा कामं करोतीत्यर्थः. एतेन लौकिकसाधर्म्याल्लौकिकत्वशङ्कापि निरस्ता ज्ञेया. सुबोधिन्यां **निरूपयती**ति "रन्ध्रान् वेणोरधरसुधया पूरयन्ति"त्येतस्य [2]विमर्शतया वदन्ति. **पूर्वरसाभिज्ञापक**मिति श्रुतिवरदानसामयिकरसाभिज्ञापकम्. वेणौ सुधापूरणं वक्तुं विचारबीजभूतामुत्कटां कोटिमाहु**र्यद्यपी**त्यदि. **लक्ष्यत** इति सम्भाव्यते. ननु लक्ष्म्या

लेखः

तादृशसामयिकत्वात्. **नटवर**पदसूचितं राजसभावनृत्यम्. गानसूचितं सात्त्विकभावनृत्यम्, उपविश्य गाने नृत्यं कथं सम्भवतीत्यत आहु**र्हस्ते**ति. सात्त्विकत्वे हेतुमाहुः **श्रमरहित**मिति ॥८॥

गोप्य इत्यस्याभासे **तस्ये**ति स्वहृदये सहजकामत्वेनाविर्भूतस्येति शेषः. **वेणुनाद**मिति. **सुधामपी**त्य**पि**शब्दस्य **नादं भुङ्क्त इत्यविवाद**मित्यर्थं वक्ष्यन्ति.

१. शास्त्रानु°. २. विमर्षेत्यादिरपि पाठः.

किञ्चिदस्ति. यद्यपि तेन रसो न पीतस्तथापि मुखे सन्दर्शनादन्यार्थत्वेपि भोजनं करोतीति लक्ष्यते. पुरुषस्य तद्भोजनं सर्वथासम्भावितमन्यथा भगवतैव भुक्तं स्यादतः स्त्रीणामेतद् भोग्यम्. तदाह **गोपिकानामिति, अधरसुधा गोपिकानां** सम्बन्धिनी. बहुवचनेन समुदायरूपा लक्ष्मीरप्यनेन सूचिता तदंशाश्च तथैव समागताः; नान्यत्र तद्भोगो लोके प्रसिद्धः. तादृशस्य वस्तुनो भोक्ता पुरुष एव न भवति किम्पुनर्योन्यन्तर्गतो जीवस्तत्रापि वेणुः! आधिदैविकस्य चेतनत्वं सूचयन्त्य आहुः सर्वा एव आधिदैविक्य इति स्वगोष्ठ्यां तस्यापि विचारो घटते. सर्वं धर्मफलमिति वैदिकसिद्धान्तोऽतः कारणभूतं धर्मं विचारयन्ति **किमाचरदिति**. धर्मः सर्वोपि वेदसिद्धो वेदरूपाश्च वयमतोऽस्मदज्ञातः कथं धर्मो

प्रकाशः

अपि तद्भोक्तृत्वात् कथं गोपिकामात्रसम्बन्धित्वमित्याकाङ्क्षायां तामपि स्वान्तरा-हुर्**बहुवचनेने**त्यादि. **तत्रापि वेणुरि**ति स्थावरः[1] सदंशः. **आहुरि**ति भोजनमाहु-

लेखः

तथा च सुधाया **अपि**शब्देन गौणत्वसूचनान्नादस्यैव मुख्यत्वेन तन्निरूपणमेव वाक्यार्थ इति भावः. तथा चाधिदैविकतासम्पादकं सुधासहितमित्यर्थः. **गोप्य** इत्यत्र **पूर्वरसे**ति कामरसस्येत्यर्थः. **अत्रे**ति आधिदैविकतासम्पादकसुधासाहित्ये इत्यर्थः, सर्वानुभवसाक्षिकत्वादिति भावः. तादृशकुशलाचरणे **किमि**त्यनेनाश्चर्य-कथने हेतुमाहुः **पुरुषस्ये**ति. **गोपिका**पदकथने लक्ष्म्याः सम्बन्धित्वं न स्यात् तस्यां गोपभार्यात्वाभावादित्यत आहु**र्बहुवचनेने**ति. **अनेन बहुवचनेन** सापि सम्बन्धित्वेन **सूचिता**. तत्र हेतुः **समुदायरूपे**ति, समुदाये रूपं स्वरूपं यस्याः, आवेशेनेति भावः. नन्वेवमपि गौणत्वं स्यादित्यत आहु**स्तदंशाश्चे**ति. **च**स्त्वर्थे; **तदंशा** एतास्तु तथैव हेतुभूतया सुधासम्बन्धे **समागता**स्तद्योग्या जाताः, अतस्तस्यास्तु कैमुत्येन मुख्य एव सम्बन्धः सूचित इति भावः. **तत्रापी**ति, स्थावरत्वेपि वेणुर्नीरसो न त्वाम्रादिवत् सरस इत्यर्थः. **आधिदैविकस्ये**ति अधरसम्बद्धस्येत्यर्थः. **आधिदैविक्य** इति अधरसम्बन्धिन्य इत्यर्थः. **सर्वमिति**. साधनानां सर्वेषां मनोनिग्रहपर्यवसायित्वस्योक्तत्वाद् धर्मस्य च चित्तशोधकत्वादि-त्यर्थः, साधनविचारे एवमेव, अनुग्रहविचारस्तु भिन्न इति **वैदिक** इत्युक्तम्. **वयं जाता** इति, तादृशो धर्मः सम्भवेदिति शेषः. **तत्रापी**ति अस्मास्वपीत्यर्थः.

१. स्थावरः सन् अंशो वंशखण्डः.

भवति येन धर्मेण वयं जाताः! परं तत्रापि मर्यादान्यायेन साधनविरोधाभाव-स्ततोऽस्मासु स्त्रीत्वं वेणौ तु तदभावस्ततः सन्देहः फलस्य दृष्टत्वाच्च. सम्मत्यर्थं च गोपिकासम्बोधनम्. **अयमिति** पुल्लिङ्गनिर्देशश्च बाधकः **स्मे**ति प्रसिद्धिश्च. वस्तुतस्तु न[1] तस्य फलं, तदुपपादितम्. तर्ह्यन्यतराबाधे कर्तव्ये साधनबलनिश्चयेन फलाभावः पूर्वपक्षः फलबलविचारेण साधनाभावाभावः सिद्धान्तः. तदाह **वेणु**पदेन, वश्च इश्च वयौ तावणूकृतौ येनेति. लोकेभ्यस्तथासुखदानाद् धर्मोस्तीति निश्चीयते, अधरसम्बन्धादेव तथात्वमित्यनिश्चयोपि. तथापि साधनं स्वयमेवेति निश्चयः. पुष्टिबलमाश्रित्य तस्य सिद्धिरिति ज्ञापयितुं मर्यादायां हीनतामाह

टिप्पणी

हीनतामिति. **हीनतां** साधनहीनतां, न्यूनतामिति यावत्. **नादं भुङ्क्त** इत्यत्र

प्रकाशः

रित्यर्थः. **येने**ति विचाररूपेण. **साधनविरोधाभाव** इति, स्वरूपयोग्यत्वादित्यर्थः. **तथोपपादितमि**ति "बर्हापीडे"त्यत्रोपपादितम्. वैदिकविचारत्वादधिकरणरीत्याहु-**स्तर्ही**त्यादि. अत्र वेणुकृतभोगो विषयः, स सम्भवति न वेतिसंशयः. सङ्गतिः प्रसङ्गः, भुज्यमानस्य स्वीयत्वेन तद्विचारस्योपेक्षानर्हत्वादिति ज्ञेयम्. **साधने**त्यादि, स्वरूपयोग्यतासम्पादकं साधनबलं ज्ञेयम्. **निश्चीयत** इति स्वरूपयोग्यताभावेपि सोऽनुमीयत इत्यर्थः. उभयसमाधानार्थं सिद्धान्तमाहु**स्तथापी**त्यादि. तर्हि तत्रापि किं साधनं येन स्वयं[2]तथेत्यत आहुः **पुष्टी**त्यादि. **हीनता**पदस्यार्थं टिप्पण्या-

लेखः

विरोधाभावं विवृण्वन्ति **तत** इति, धर्मादित्यर्थः. **पुल्लिङ्गनिर्देशश्चे**ति, स्थावरत्वात् स्त्रीत्वाभावो बाधक उक्तः पुंस्त्वं च बाधकमिति **च**कारः. **प्रसिद्धिश्चे**ति, अधर-सुधाभोगो रहस्येवानुभवसिद्धोऽतः प्रसिद्धिरपि भोगे बाधिकेत्यर्थः. **रस-**

योजना

गोप्यः किमाचरदित्यत्र **येन धर्मेणे**त्यादि. योऽस्माभिर्धर्मः कृतः स एव वेणुना कृत इति ज्ञायते, सुधारूपैकफललाभादित्यर्थः. तर्हि कः सन्देह इति चेत् तत्राहुः **परं तत्रापी**त्यादि. अस्मत्कृते साधने विरोधो नास्ति, आधिदैविक-स्त्रीरूपप्राप्तेः; वेणौ तु विरोधोस्ति तादृशविग्रहाप्राप्तेरित्याहु**स्ततोस्मास्वि**त्यादिना.

१. लुप्तम्. २. साधनम्.

दामोदरेति, दामोदरे यस्येति भगवतो गोपिकाधीनत्वं सूचितम्. लोभात्मकश्चा**धरः**, अतः स्वतः परतश्च तस्य साधनाभावः सूचितः, **सुधा**पदेन च रसविवक्षायां रसनेन्द्रियाभावश्च बाधकत्वेन सूचितः. नादं भुङ्क्त इत्यविवादं; **सुधामपि भुङ्क्त** इति विवादास्पदं, "सा वनस्पतीन् प्राविशदि"तिश्रुतेः. सुधानधिकारः पूर्वमुपपादितः. किञ्च भगवांश्चेद् दद्यात् कदाचित् सम्भवेदपि, व्यभिचारे स्त्रीसिद्धान्तवत्, गोपिकावत् **स्वयं भुङ्क्त** इत्याश्चर्यम्. अधरमुखसम्बन्धे पानमस्माकं सिद्धमस्ति तस्यापि मन्यामहे. किञ्चास्मदपेक्षयापि तस्मिन् विशेषो यस्मिन् भोजनेऽ**वशिष्टं रसं ह्रदिन्यस्तरव**श्च भुञ्जते. बालत्वान्मातरपितरावेव पालयति. उभयत्र हेतुमाह यतो **ह्रदिन्यो हृष्यत्त्वचो** जाता. [1]अन्तःपूर्णानन्दास्ततोप्यानन्दा-

टिप्पणी

प्रमाणमाहुः **सा वनस्पतीनि**त्यादि. "वाग्वै देवेभ्योपाक्रामद्यज्ञायातिष्ठमाना सा वनस्पतीन्प्राविशदि"ति श्रुतिः. सुधाभोगविवादे हेतुः **सुधानधिकार** इति ॥९॥

प्रकाशः

माहुर्न्यू**नतामि**ति. येन भगवान् वशे भवति तादृक् साधनं मर्यादायां नास्तीति तथेत्यर्थः. एवं चास्मिन् श्लोक आर्यदृष्टान्तेन नदीतर्वो रसपातृत्वबोधनाद् वेणौ सुधापूरणं निर्णीतमिति ज्ञेयम् ॥९॥

लेखः

विवक्षायामिति रसभोगविवक्षायामित्यर्थः. **बाधकत्वेने**ति. रसभोगकथनेच्छा रसनेन्द्रियाभावज्ञानेन बाधिता भवतीत्यर्थः, तथा च बाधकस्य विद्यमानत्वात् साधनेन रसभोगो वक्तुमशक्य इति भावः. **सम्भवेदपी**ति अनधिकारिण इति शेषः. तत्र दृष्टान्तो **व्यभिचारे** इति. रसः स्त्रीनिष्ठः, तत्राधिकारी पतिः. स स्वतोपि भुङ्क्ते, अनधिकारी परकीयस्तु तया दत्तमेव प्राप्नोति न तु स्वतः. तथात्राप्यनधिकारी वेणुः पुष्टिबलेनापि भगवद्दत्तमेव प्राप्नुयात्, स्वतोभोजनं त्वाश्चर्यमेव. तथा च रसस्य **व्यभिचारे**ऽनधिकारिणि गमने **स्त्रीषु सिद्धो योऽन्तः** फलं रसरूपं **तद्वत्** सम्भवेदपि परं भगवांश्चेद् दद्यात्, स्वतस्त्वाश्चर्यमेवेत्यर्थः. ननु पानं कथं निर्धारितं तत्राहुर**धरे**ति. **किञ्चे**ति, ह्रदिनीतरुकृतपानान्यथानुपपत्त्यापि पानं मन्यामहे इत्यर्थः. **उभयत्रे**ति, ह्रदिनीनां तरूणां च पानकथने साधकं **हेतुमाहे**त्यर्थः. **अन्यथा तेष्वि**ति, कमलानां हेत्वन्तरानन्दरोमाञ्चत्वे **तेषु**

१. अतः.

धिक्ये रोमाञ्चयुक्ता भवन्ति. तत्रायं निर्णयः— रोमाञ्चोत्र कमलरूपः, स च जगति सर्वोत्तमः, अतो हेत्वन्तरानन्दरोमाञ्चो न भवति; तथा सति शैवालानामेवोद्गमः स्यात् न कमलादीनाम्. अतो ज्ञायतेऽधरामृतमेव ह्रदिनीभिः पीतमिति. अन्यथा तेषु लक्ष्म्या उद्गमो न स्यात्, "यत्राप्यतिशयो दृष्टः स स्वार्थानतिलङ्घनादि"तिन्यायात्. लक्ष्म्यास्तदेकभोगित्वमुपपादितम्[1]. उपलक्षणमेतत्, **अश्रु** च **मुमुचुः**. न हि मकरन्दोऽन्यस्य रसो भवति. तरवश्च तथा; तेषां रोमाञ्चः फलान्यश्रु च मधुधाराः. एतच्चोभयविधं नान्यथा सम्भवति. न चैतद् द्वयं तयोः स्वाभाविकमिति मन्तव्यं, कादाचित्कत्वाद् वेणुनादानन्तरमेव तथात्वात् स्वाभाविकवैलक्षण्याच्च. तदाह **यथार्या** इति, सन्तो हि भगवद्धर्मान्तःप्रवेश एव तथा भवन्तीति. तस्माद् **ह्रदिन्यो** मातृरूपास्तरवः पितृरूपाश्च तद्भुक्तावशिष्टरसपातारः. [2](अत्रेदं विचार्यते— पूर्वं "रन्ध्रान् वेणोरधरसुधया पूरयन्नि"त्युक्तम्. तस्य रन्ध्रा एव मुखरूपा इति तत्र पूरिता चेत् सा तदानायासेनैव प्रभुकारित एव तद्भोगो भवत्यतः **स्वयं भुङ्क्त** इत्यनुपपन्नं यद्यपि तथापि स्वप्रियाणां साक्षात्सुधाभोगाधिकारसम्पत्त्यर्थमुक्तरीत्या सुधापूरणं वेण्वर्थं नात एव **गोपिकानामि**त्युक्तम्. एवं सति यदस्य तद्भोजनं तत् स्वत एवेति सुष्ठूक्तं **स्वयं भुङ्क्त** इति. नन्वेवमेतद्भुक्तावशिष्टस्यैव रसस्य पानं प्रभुप्रियाणामप्यायाति रन्ध्रसम्बन्धस्य प्राथमिकत्वात्

लेखः

कमलेषु प्रकटेषु सत्सु तस्या **उद्गमो न स्यात्**. तेषां रसोद्दीपकत्वात् तेषूद्गतेषु लक्ष्मीरायातीति भावः. विचारान्ते **इदं वेणुवादनमि**ति. ननु तत् तु सर्वभोग्यसुधाया रन्ध्रेषु पूरणरूपमिदं तु देवभोग्यसुधाया वेणुकृतभोगरूपमतः कथं तदित्यत आहु**र्यत** इति. अन्यदाप्युभयरूपं वेणुवादनं जायते, अत इदं द्वयमप्युभयरूपमिति भावः. तत्र स्वामिनीनामधिकारसम्पत्त्यर्थं सर्वभोग्यसुधापूरणम्, अत्र वेणुर्देवभोग्यांशं भुङ्क्ते इति विवेकः. **तेने**ति उभयरूपत्वेन हेतुनेत्यर्थः. **अत्रे**ति स्वामिनीष्वित्यर्थः. अत्रापि **गोपिकानामि**ति पदादुभयरूपत्वं ज्ञापितं, तथा चोभयमुभयरूपमिति भावः ॥९॥

योजना

स च जगति सर्वोत्तम इति. सर्वेषु जलसम्बन्धिषु कमलपदार्थ उत्तम इत्यर्थः ॥९॥

१. °भागि°. २. इदं स्वतन्त्रं श्रीमत्प्रभुचरणकृतं क्वचित्पुस्तकेषु श्रीसुबोधिन्यन्तःश्लिष्टं दृश्यते.

किञ्चित्कालमभोजने हेत्वभावादिति चेदत्रैवं प्रतिभाति. अत्रत्यं सर्वमलौकिकमतो लौकिकयुक्त्या निर्णेतुं नोचितमन्यथा सरःसरिन्महीध्रेषु कृतं वेणुकूजितं व्रजस्थिताः स्वामिन्य एव कथं शृणुयुर्नान्ये? एतच्चोपपादितं "तद् व्रजस्त्रिय" इत्यत्र. एवं सति भगवदिच्छाया बलिष्ठत्वात् प्रयोजनस्यातिगुरुत्वाच्चादौ व्रजदेवीकर्णहृदयेष्वेव सा प्रविष्टा. अपरञ्च यथोच्छ्वासदशायामास्यपतितमप्युद्गीर्णमेव वस्तु भवति न निगीर्णं तथा भगवता व्यवहितदेशस्थस्वप्रियाकर्णहृदयपूरणैकचित्तेन निजास्याम्बुजाविर्भवच्छ्वासो नादब्रह्माविर्भावहेतुस्तादृशः कृतो यो मार्गत्वेन प्रसङ्गतो रन्ध्रेष्वायातस्तत्र च सुधां पूरितामभीष्टदेशेऽनयदतो न तामितरो भोक्तुं शक्तः. एवं सत्यपि साक्षादधरसम्बन्धो मुखे वेणोरस्तीति सम्भाव्यते तत्पानं वेणुत्वेन निश्चयोप्यतोऽस्य तद्भोगो. व्रजदेवीनां तूक्तरीत्या साक्षाद्भोगस्तस्मान्नैतदवशिष्टं[1] रसस्य, अन्यथा ह्रदिन्यादिषु यथावशिष्टरसपानमुक्तं तथात्रापि वदेयुर्न तु **गोपिकानामिति** पदेन तासामेवात्र स्वत्वं वदेयुः. अपरञ्च वेणोः स्वातन्त्र्येण सुधाभोगो भगवतो[2] मनीषितोऽन्यथा ह्रदिन्यादिषु सुधासम्बन्धो न स्यात्. तथा सति तेषु लीला न स्यात्. यत एतत्सुधासम्बन्धिष्वेव सा चिकीर्षितातो जलस्थलरमणसम्बन्धिषु तत्सम्बन्धः कार्यते. स च वेणुभुक्तसुधांशो यो नादद्वारा निर्गतस्तेनैवेति सर्वमवदातम्. एवं सति व्रजदेवीनां वेणोश्च युगपत्सुधाभोग उपपद्यते. किञ्च **दामोदरत्वेन** व्रजदेव्यधीनस्तदुपभोगोपयोगिसर्वमवशः सम्पादयतीति किमितोऽधिकं वदामः? न हि जलधिरुद्वेलः केनापि निरोद्धुं शक्य इतिदिक्. इदं वेणुवादनं "रन्ध्रान् वेणोरधरसुधये"ति वाक्येन यदुक्तं तदिति जानीमः. यतोऽन्यदापि गवामाह्वाने "ऽनुचरैरि"त्यत्र "गा गोपकैरि"त्यादिषु "नद्यस्तदे"त्यादिषु च लतादीनाञ्चैतत्कार्यमुच्यते. तेनादावेवात्राधिकारसम्पत्त्यर्थं वेणुरन्ध्रेषु यत् सुधापूरणं तत्सामयिकमेवेदमुच्यत इति ज्ञापनायापि **गोपिकानामित्युक्तम्**). ॥९॥

वृन्दावनविहारे चरणानां स्वरूपमाह **वृन्दावनमिति.**

टिप्पणी

वृन्दावनं सखीत्यस्याभासः, चरणानां स्वरूपमाहेति. अत्रेदमाकूतमिति मे भाति. भगवच्चरणमाहात्म्यं सर्वश्रुतिप्रतिपादितम्. तदेव **देवानां पादा** इत्युपक्रम्य **तस्या भाग्याभिनन्दनमित्यन्तेनोक्तम्**. तथा चैतादृक्पदसम्बन्धात् वृन्दावनस्वरूपमुत्तमत्वेन निरूपितं भवति. तत् कथमुक्तमत्र विहारनिरूपणेन चरणानां

---

१. °शिष्टरसस्य. २. °वता.

वृन्दावनं सखि भुवो वितनोति कीर्तिं यद् देवकीसुतपदाम्बुजलब्धलक्ष्मि ।
गोविन्दवेणुमनु मत्तमयूरनृत्यं प्रेक्ष्याद्रिसान्ववरतान्यसमस्तसत्त्वम् ॥१०॥

देवानां पादा भूमिं न स्पृशन्ति, सुतरां देवोत्तमस्य, तत्रापि पुरुषोत्तमस्य.

टिप्पणी

तथेति? अत्रेदमाकूतम्– [1]लोके वेदातीतशुद्धपुष्टिमार्गीयलीलासामग्री हि नान्यत्र प्रसिद्धा. एवं सति तत्कर्तापि तथेति सिध्यति. अत एव "वृन्दावनाद् गतो दूरमि"त्यग्रे वक्ष्यति, यतस्तत्र पुष्टिलीलानङ्गीकारो वक्ष्यते. एवं सत्यन्वयव्यतिरेकाभ्यामियं लीलात्रैवेति फलिष्यति. एवं सति यत्रैव शुद्धपुष्ट्यङ्गीकारस्तत्रैतच्चरणलीलेति ज्ञेयम्. अत एव बृहद्वनेपि "प्रेक्ष्यन्त्य उज्झितगृहा जगृहुः" "सहरामो व्रजस्त्रीणां चिक्रीडे जनयन् मुदम्" "कृष्णस्य गोप्य" इत्यादिनेयमेवोक्ता. कालीयशिरोनृत्ये नैतच्चरणप्राकट्यम्, तत्र पुष्टिलीलायामनङ्गीकारात्. अत एव तत्स्तुतिरपि तादृशी. अतो यत्र पुष्टिमार्गीयभक्तिमार्गप्रकटनं लीलायां, तत्रैतच्चरणारविन्दाविर्भाव इति ज्ञेयम्. अतः सुष्ठूक्तं [2]**(त्वत्)चरणानां स्वरूपमाहेति**; असाधारणधर्मनिरूपणे धर्मिनिरूपणसम्पत्तिवत्, यतो लीलैव

प्रकाशः

वृन्दावनमित्यत्र "वृन्दारण्यं स्वपदरमणमि"त्यादेरयं विमर्शइति ज्ञापनाय तत्स्वरूपं विवरीतुमाहुर्**देवानामित्यादि**. तात्पर्यं त्वेतदाभासे टिप्पण्यामेवाहु**रत्रे**त्यादि. **मे भातीति** आशङ्कारूपं मम भाति. अत्र समाधानं स्फुटीकुर्व**न्त्यत्रेदमि**त्यादि. **तत्र पुष्टिलीलाया अनङ्गीकारादि**ति, दुष्टदमनार्थे तस्मिन् नृत्ये सङ्कर्षणलीलासाङ्कर्येण तथात्वात्. नन्वत्र लीलास्वरूपमेव विविक्तं सिध्यति न तु चरणानामित्यत आहु**रसाधारणे**त्यादि. सिद्धमाहु**रेवं सती**त्यादि. सुबोधिन्यां

लेखः

वृन्दावनमित्यत्र. "बर्हापीडे"तिश्लोके वृन्दावनप्रवेशस्य प्रथमश्लोकोक्तस्यैवानुवादाद् विशेषणधर्माणामेव प्राधान्येन "स्वपदरमणमि"तिवृन्दावनविशेषणव्याख्यान–रूपत्वादस्य तात्पर्यार्थश्चरणस्वरूपनिरूपणमेव वक्तुमुचित इत्याशयेनाभासस्तथोक्तः. तन्निरूपणमुपपादयन्ति **देवानामित्यादिना**. **पुरुषोत्तमस्येति** लोकवेदप्रसिद्धस्येत्यर्थः. [3](**आध्यात्मिकाविति** इन्द्रियरूपावित्यर्थः; विराजो गतिर्न

---

१. लोकवेदातीत मू. पा. २. 'त्वद्' इति मूलपाठे नास्ति. ३. इत्यधिकमेकस्मिन्नादर्शे.

पुरुषोत्तमांशस्य पुरुषस्य मह्याधिभौतिकौ पादावाध्यात्मिकावतीन्द्रियावाधिदैविकावानन्दरूपौ तयोरपि न भूमिसम्बन्धः. भूमावपि दैत्यभूमिरधमा, तत्रापि स्त्रीसम्बन्धिनी तद् **वृन्दावनं;** तस्मिन् भगवतः पादा वर्तन्त इति तस्या भाग्याभिनन्दनं स्वस्यौत्कण्ठ्यख्यापकं स्वस्यापि हृदयदेशो भूमिर्भवति. स्त्रीणां च हृदयं कठिनमपि भवति पर्वता अपि सन्त्यन्तःप्रवाहा नद्यश्च सन्ति रसपूरा रोमपङ्क्तिर्वनमपि भवति स्त्रीसम्बन्धि च. एवं तुल्यतायामप्यत्र चरणौ न स्थाप्येते तत्र स्थाप्येते इतीर्ष्यया वर्णनम्. गुणत्रयेण पूर्वं वर्णनं निर्गुणगोपिका त्वेषेति नात्रासूयेति केचित्. **सखीति** सम्मत्यर्थं, तादृश्यो न बह्व्य इत्येकवचनम्, असूयापक्षेपि तथा. ननु भगवत्पदानि यथा व्यापिवैकुण्ठे भवन्त्येवं वृन्दावनेपि जातानीति किमाश्चर्यम्? तत्राह **भुवो वितनोति कीर्तिमिति**. यदि वृन्दावनं

टिप्पणी

तत्परिचायिका. एवं सति **देवानां पादा** इत्यारभ्य **आधिदैविकावानन्दरूपावित्यन्तेन** यावन्ति चरणरूपाण्युक्तानि तदतीतत्वमेतच्चरणयोर्ज्ञापितं भवति. उक्तेषु पुरुषोत्तमो लोकवेदप्रथितो ज्ञेयः, अयं तदतीत इति ज्ञेयः ॥१०॥

प्रकाशः

तस्या इति वृन्दायाः. **ईर्ष्ययेत्यादि**. एतेनेयं तामसभक्तोक्तिरिति सिद्धान्तो

लेखः

दृश्यते. **आधिदैविकौ** "भूर्लोकः कल्पितः पद्भ्यामि"त्यत्र 'पद्भ्यामि'तिपदेनोक्तावित्यर्थः.) **तयोरपीति** आधिदैविकयोः पुरुषचरणयोरपीत्यर्थः. कुतस्तरां पुरुषोत्तमचरणयोरिति भावः. "द्रक्ष्याम गां द्यां च तवानुकम्पितामि"ति ब्रह्मप्रार्थनया पदस्थापनेपि शुद्धभूमावेव पदस्थापनमुचितमित्याशयेन वृन्दावनस्यातथात्वमाहुर्**भूमावपी**ति. एवं सर्वथाऽयोग्येपि **देवकीसुतपदाम्बुजलब्धलक्ष्मी**त्यनेन लक्ष्मीलाभहेतुपदाम्बुजधारणोक्त्या निःसाधनफलात्मत्वेन लोकवेदातीतत्वमेतच्चरणयोर्ज्ञापितं भवति. **भगवत** इति, एतैर्लक्ष्मीलाभोक्त्या लोकवेदातीतस्येत्यर्थः. ननु तत्र लीलोपयोगिस्थानसद्भावात् पदधारणमुचितमतः स्वस्य कथमभिलाष इत्याशङ्क्य स्वस्यापि तत्तुल्यत्वमाहुः **स्वस्यापीति**. **अन्तःप्रवाहा** इति, सरस्वत्यादिनदीनामिव बहिरप्रकटः प्रवाहो यासां **रसस्य पूरो** यासु तादृश्यो **नद्य** इत्यर्थः, भगवद्रसस्यान्तर्विद्यमानत्वादिति भावः. **केचिदिति**. स्वमतं तु निर्गुणत्वेपि तद्रसस्वभावात् कदाचिदसूया सम्भवत्येवेति भावः. **व्यापिवैकुण्ठे** इति.

व्यापिवैकुण्ठ एव स्यात् तदा न काचिच्चिन्ता, भूमौ तद् वर्तत इति केवलं भूमेः **कीर्तिमेव** [1]**तनोति**– धन्या भूर्यत्र वृन्दावनमस्तीति. भगवतो नित्यस्थितिमिमन्यमानाया वचनम्. पदानि त्वाधिदैविके नित्यान्येव स्थास्यन्ति प्रदर्शयिष्यति च क्वचिद्. भगवांस्त्वपराधीन इति न तत्प्रदर्शने वृन्दावनस्य सामर्थ्यम्. भक्तेः सर्वत्रैव तथात्वात् न वृन्दावनप्रतिष्ठा भवतीति प्रतिष्ठाया निमित्तमाह **यद् देवकीसुतपदाम्बुजलब्धलक्ष्मीति**. **यद्** यस्मात् तद् वनं **देवक्याः पुत्रस्य पदाम्बुजानां लक्ष्माणि** चिह्नानि ध्वजवज्रादीनि तैर्**लब्धा लक्ष्मीर्**येन. स्वस्य स्वच्छन्दसम्बन्धार्थं

प्रकाशः

ज्ञापितः. तेन प्रथमे निर्गुणोक्तिर्ज्ञेया. **नित्यस्थितिमिति** स्वहृदीत्यर्थात्. नन्वेतद् वृन्दावनेपि तुल्यमिति नात्रेर्ष्यावकाश इत्यत आहुः **पदानी**त्यादि. नन्वेवं सति प्रदर्शनस्य कादाचित्कत्वस्य वृन्दावने तौल्यान्नेर्ष्यावकाश इति तद्बीजं व्यक्तीकर्तुमाहुः **प्रतिष्ठाया** इत्यादि **व्यापयतीत्यन्तम्**. व्याख्येयपदशब्दस्यैव सत्त्वाद् विमर्शेऽम्बुजपदं चरणचिह्नमात्रोपलक्षकमित्याशयेनात्र बहुवचनम्. समासस्तु सप्तमीतत्पुरुषः. तथा च **पदे** प्रतिफलिते **यान्यम्बुजानि लक्ष्माणी**त्यर्थः.

लेखः

अप्रकटितं स्थानं व्यापिवैकुण्ठं भूमौ प्रकटं वृन्दावनमिति भेदः. **केवलमिति**, न तु पदाम्बुजेनास्माकमिव तस्य रसानुभव इत्यर्थः. ननु वृन्दावने भगवान् नित्यं तिष्ठत्यतो 'भगवता लब्धलक्ष्मी'त्येव वक्तुमुचितं भवतीत्यत आहुर्**भगवत** इति. **नित्यं स्थितिं** प्रकटस्थितिमित्यर्थः. तिष्ठन्नपि प्रकटो न तिष्ठति, **पदचिह्नानि तु नित्यान्येव** प्रकटान्येव **स्थास्यन्तीति** तुशब्दः. **आधिदैविके** तादृशलीलाधारे **स्थास्यन्ति** प्राकट्ये. तत्र हेतुमाहुर्वृन्दावनं – कर्तृ – स्वभूमेः सार्द्रताकरणेन **क्वचित् प्रदर्शयिष्यति चे**ति आधारस्यापि वृन्दावनस्य "स्वव्यापारे ही"तिन्यायेन कर्तृत्वम्. ननु भगवन्तमेव कुतो न प्रदर्शयति तत्राहुर्**भगवांस्त्वि**ति, स्वतन्त्रत्वान्न तत्र सामर्थ्यम्. ननु स्वतन्त्रत्वेपि भक्तवश्यत्वाद् भक्त्यैव प्रदर्शनीय इत्यत आहुर्**भक्तेरि**ति, तया तु सर्वत्रैव भविष्यति वृन्दावने को विशेषः? चिह्नदर्शनं त्वाधुनिकानामपि जायत इति न भक्तिसापेक्षमिति भावः. [2](**लक्ष्माणी**ति. तथा च मूले **पदस्थितं यदम्बुजं** चिह्नमुपलक्षणेन ध्वजादीन्यपि **तैर्लब्धलक्ष्मी**त्यर्थो

१. करोति. २. इत्यधिकमेकस्मिन्नादर्शे.

देवकीसुतपदप्रयोगः. नन्दगोपसम्बन्धिनी सा. देवक्याः प्रसूतिमात्रं न त्वन्यदिति **सुत**पदम्. स्त्रीप्राधान्यात् स्त्रीषु कृपापि सूचिता. पुष्टिमार्गे तासां प्राधान्यमित्यवोचाम. भक्तिमार्गे चरणौ प्रधानभूतौ, तत्रा**प्यम्बुजं** जलोद्भूतं स्त्रीणामेव हृदये तापहारकत्वेन शोभते. तादृशस्यापि या ध्वजवज्राङ्कुशादिशोभा सा नान्यत्र फलति, वृन्दावने सा प्रतिफलितेति, **पादत्वमेव सम्पन्नमतो** लक्ष्मीरपि तत्र नियतातः **पदाम्बुजैर्लब्धा लक्ष्मीर्ये**नेति. भूमिर्यदि [1]सार्द्रा तदैव भवतीति भूमिकृतैव सा लक्ष्मीप्राप्तिरतो युक्तं च भूमेः कीर्तिं ख्यापयतीति. किञ्च न केवलं लक्ष्मीरेव प्राप्ता किन्तु भक्तिज्ञाने अपि प्राप्ते इत्याह **गोविन्दे**ति. यदा भगवान् वेणुनादं करोति तदा नीलमेघो गर्जतीव भाति, ततो मयूरा मत्ताश्च भवन्ति ततो नृत्यन्ति. यदैव भगवता वेणुनादः क्रियते तदैव देहविस्मरणं नृत्यं च जायत इति भक्त्युद्रेक उक्तः. मयूरा वनमेवेति वृन्दावनप्रशंसा. तादृशं **नृत्यं प्रेक्ष्याद्रिसानुष्ववरतानि** तूष्णीं स्थितान्य**न्यानि** सर्वाण्येव **सत्त्वानि** यत्र[2]. [3]सभगवद्भक्तिज्ञानात् तेषां तूष्णीम्भावलक्षणं ज्ञानमुक्तम्. एको भक्तोऽन्ये सर्वे

प्रकाशः

यद्वात्र मयूरव्यंसकादिसमास इत्याशयेनाहु**र्भूमिर्यदी**त्यादि. एतेन स्वस्य [4]तथाभावाभावात् [5]तदस्थापनमिति दैन्यद्योतनान्निर्गुणत्वोक्तित्वमपि साधितम्. **किञ्चे**त्यादिनापीर्ष्या दैन्य (ईर्ष्यादैन्ये!) एव सूच्य(च्ये!)त इति विभावनीयम्. **मयूरा वनमेवे**ति, वनस्थत्वाद् वनम्. **प्रशंसे**ति उद्रिक्तभक्तित्वात् प्रशंसा ॥१०॥

लेखः

ज्ञेयः.) **पादत्वमेव सम्पन्नमि**ति, ध्वजादिविशिष्टत्वमेव पादत्वमिति भावः. **युक्तश्चे**ति, भूम्योपकृतस्तामुपकरोतीति युक्तम्. प्रतिष्ठाया निमित्तं पूर्वमुक्तम् इदमपि निमित्तमिति **च**कारः. अस्मिन् पक्षे मूले **यद्** यस्माद् **भूमेः** सकाशादित्यर्थः. **मत्तानां मयूराणां नृत्यं** यत्र तादृशं **वृन्दावनं गोविन्दवेणुमनु** जातमिति भक्तिप्राप्तिरुक्ता. नन्विदं तु मयूराणामतो वृन्दावनस्य भक्तिज्ञानप्राप्तिराभासे कथमुक्तेत्यत आहु**र्मयूरा** इति. सततस्थित्याऽसाधारणधर्मतापत्तेर्वनभावापन्नाः, अतो वृन्दावनस्यैव स्वासाधारणधर्मे भक्तिप्राप्त्या प्रशंसोक्तेत्यर्थः. **प्रेक्ष्ये**त्याद्येकं समस्तं पदम्; तादृशं नृत्यमिति समभिव्याहारात् कर्म. **तूष्णीम्भावे**ति, तूष्णीम्भावः कार्यलक्षणं यस्य तादृशं भगवल्लीलाज्ञानमित्यर्थः. **एक** इति मयूर

१. सान्द्रा. २. यस्य. ३. भग°. ४. अनार्द्रत्वात्. ५. पद°.

ज्ञानिनः. नन्वधोबिलेशयाः स्वभावतः कथं ज्ञानिनो भविष्यन्ति, ज्ञानस्य फलमूर्ध्वगमनमित्याशङ्क्या**हाद्रिसानुष्वि**ति. यत्र क्वापि स्थितास्तत्रैव गत्वा पश्यन्तस्तिष्ठन्तीति दोषाभावः स्वस्थानत्याग ऊर्ध्वगमनं चोक्तम् ॥१०॥

एवं रूपवर्णनामुक्त्वा षोढा वेणुं वर्णयन्ति **धन्यास्त्वि**ति षड्भिः—

हरिण्योऽप्सरसो गावः पक्षिणो नद्य एव च ॥(१८)॥
मेघाश्चेति क्रमेणैव कृष्णैश्वर्यादिबोधकाः ।
ईश्वरः पूज्यते लोके मूढैरपि यदा तदा ॥(१९)॥
निरुपाधिकमैश्वर्यं वर्णयन्ति मनीषिणः ।

लेखः

इत्यर्थः, जात्यपेक्षयैकवचनम्. **अन्ये सर्वे** इति नानाजातीया इत्यर्थः. तूष्णीम्भावेन दोषाभाव उक्तः, सानुस्थित्या अन्यद् द्वयमुक्तम् ॥१०॥

रूपवर्णनमिति वेणोरिति शेषः, वेणुं स्वरूपतो वर्णयित्वा धर्मतो वर्णयन्तीत्यर्थः. वपुर्युक्तत्वं वेणोः स्वरूपमिति "बर्हापीडे"तिश्लोके "नादेऽनुभूयमान एवानुभूतं भवति न तु पृथगि"त्यादिना निरूपितमेव. तथा च रसद्वयनिरूपणं चरणनिरूपणमपि वेणुस्वरूपवर्णनमेवेति. भावः. **षोढे**ति ऐश्वर्यादिबोधनहेतुत्वप्रकारेणेत्यर्थः. **धन्यास्त्वि**त्यत्र **वीर्यमि**ति. **देवेष्वि**त्यारभ्यैवं

योजना

धन्यास्त्वित्यादिश्लोकार्थविवृतौ **हरिण्योऽप्सरसो गाव**इत्यादिकारिकाः. तत्रे**श्वरः पूज्यत** इति, अनीश्वरेषु प्रविष्ट ईश्वरत्वसूचकसामग्रीमनाविर्भावयन्नपि **यदा मूढैः पूज्यते तदा निरुपाधिकमैश्वर्यं** सिध्यति. युक्तं चैतद्, ऐश्वर्यसामग्रीसाहित्ये त्वनीश्वरोपि पूज्यो भवेत्, सामग्र्यभावे पूजा तु स्वाभाविकैश्वर्ये एव भवति. किञ्च सामग्रीराहित्येपि बुधः पूजयेदपि स्वरूपज्ञानात्, मूढकृतपूजा तु परमैश्वर्यमेव बोधयति. इदमैश्वर्यं भगवन्निष्ठं भगवत्येव बोध्यते, वीर्ययशसी अपि तथा. **वीर्यं देवेष्वि**त्यादि. अप्सरसो हि देवताः, भगवांश्च मनुष्यवत् प्रतीयमानोऽतो भगवति कामस्तासामसम्भावितः. नहि देवाङ्गनावाञ्छितो रसो मनुष्ये भवति नापि तासामर्थे भगवता

कारिकार्थः

धन्यास्तु मूढमतय इत्यादिश्लोकषट्कोक्तान् हरिण्यादीनाहु**र्हरिण्य** इति. षट्सु श्लोकेष्वैश्वर्यादिनिरूपणमुपपादयितुमैश्वर्यादिलक्षणान्याहु**रीश्वर** इति. **ईश्वरः पूज्यत** इति, **मूढै**र्हरिण्यादिभिरपि पूजनादैश्वर्यम्. **वीर्यं देवेष्वि**त्यादि,

वीर्यं देवेषु तत्रापि स्त्रीषु तत्रापि कामतः ॥(२०)॥
सान्निध्ये पुरुषाणां च मूर्च्छा तेन ततो महत् ।
यशो यदि विमूढानां प्रत्यक्षासक्तिवारणात् ॥(२१)॥
स्वधर्मं योजयेत् तेषु तदा भवति नान्यथा ।
तामसा राजसाश्चान्ये [1]गुणातीताश्च रूप्यते ॥(२२)॥

प्रकाशः

धन्या इत्यत्र कारिकासु **ततो महदिति**, उक्तैश्वर्यान्मर्यादामार्गीय-वीर्यञ्चेत्यर्थः. **अन्य** इति सात्त्विकाः. पक्षिनिरूपकप्रसङ्गत्तो वृन्दावनगोवर्धन-निरूपकाणां गुणातीतत्वे हेतुमाहू **रूप्यत** इत्यादि. **हि**र्हेतौ; यतो हेतो**र्वृन्दावनादि**-

लेखः

मूर्छा जाता **तेन** कारणेन **ततो** देवस्त्रीभ्यो हेतुभ्यो **महद् वीर्यं** बोधितं जातमिति शेषः. **वारणादि**ति ल्यब्लोपे पञ्चमी, **प्रत्यक्षे** तृणादौ या **आसक्ति**स्ततो वारणं सम्पाद्येत्यर्थः. **योजयेदि**ति, पीयूषरूपं **स्वधर्मं योजयेद्** भगवानिति शेषः. **नान्यथे**ति, मर्यादामार्गीयमत्रोपयुक्तं न भवतीत्यर्थः. पीयूषयोजनं गोष्वेव न तु शावेष्विति यशोबोधकत्वकथनेऽत्र गाव एवोक्ताः. **अन्य** इति सात्त्विका इत्यर्थः.

योजना

स्वस्यालौकिकः प्रभावः प्रदर्शितः किन्तु वनितोत्सवचारुवेषवेणुक्वणिताभ्यामेव साधारणस्त्रीणामिव तासां मोहोऽभूत्. अत इदं भगवद्वीर्यमिति **वीर्यं देवेष्वि**त्यादिना वीर्यं निरूपितम् (१९-२०).

कारिकार्थः

"कृष्णं निरीक्ष्ये"ति श्लोके मनुष्यत्वेन प्रतीयमानस्यापि भगवतो देवाङ्गनास्वपि **पुरुषाणां सान्निध्येपि** कामेन **मूर्छा**जननात् महद्वीर्यम्. **यशो यदी**ति, "गावश्चे"-तिश्लोके **विमूढानां** गवां **प्रत्यक्षे** तृणादौ या **आसक्ति**स्ततो वारणं कृत्वा पीयूषरूपं **स्वधर्मं यदि योजयेत्** भगवान् **तदा यशो भवति नान्यथे**त्यर्थः (१८-२१½).

"अक्षण्वतामि"त्यारभ्य "हन्तायमद्रिरि"त्यन्तद्वादशश्लोकोक्तेषु सगुण-निर्गुणभेदानाहु**स्तामसा राजसाश्चे**ति. **अन्ये** इति सात्त्विका इत्यर्थः. गुणातीतान् विवेचयन्ति **वृन्दावनमि**त्यादि. "अक्षण्वतामि"त्यादिश्लोकत्रये क्रमेण तामस-राजससात्त्विकाः, "वृन्दावनं सखी"ति श्लोके गुणातीतं वृन्दावनं निरूप्यते. ततो

१. °तीतश्च.

वृन्दावनं गुणातीतं मुनयश्चापि पक्षिणः ।
गोवर्धनश्च त्रितयं गुणातीतमिह स्थितम् ॥(२३)॥
तद्रताश्चापि लोकेऽस्मिन् गुणातीता भवन्ति हि ।

"यदा खलु वै पुरुषः श्रियमश्नुते वीणास्मै वाद्यत" इतिश्रुतिन्यायेन सर्व एव विहगा भगवदीया अपि परमां श्रियं प्राप्नुवन्ति.

प्रकाशः

त्रयमिह व्रजे **स्थितं गुणातीतं रूप्यते** क्षोभादासक्तिभराच्चेत्यर्थादतो हेतो**स्तद्रता अप्यस्मिंल्लोके** भक्तसमाजे **गुणातीता भवन्ती**त्यर्थः, समानशीलत्व एव रत्युदयादिति भावः (२१-२३½). **उत्कर्षश्चापि वैराग्य** इति **तदेव स्यादि**ति

लेखः

इह स्थितमिति निरूप्येष्वित्यर्थः. निरूपकाणां स्वरूपमाहु**स्तद्रताश्चे**ति, उपलक्षणेन तत्तन्निरूपकास्तथा तथेति भावः. तामसराजससात्त्विकनिर्गुणाः प्रथमपर्याये, राजससात्त्विकतामसनिर्गुणाः द्वितीये, एवमेव तृतीयेपि क्रमः. **लोकेस्मिन्नि**ति भक्तलक्षणे इत्यर्थः. "यो यच्छ्रद्धः स एव स" इतिवाक्यसम्मत्या **हि**शब्दः (२०-२३½).

भगवदीया अपीति, धर्मिसम्बन्धात् सामान्यतः श्रीप्राप्तावपि पूर्वोक्त-न्यायेन **परमां प्राप्नुवन्ती**त्यर्थः. नन्वेवं पक्षिणां श्रीप्राप्त्या भगवद्गुणबोधनं कथं

कारिकार्थः

"धन्यास्त्वि"त्यादिषु त्रिषु हरिण्यादयः सगुणाः, "प्रायो बताम्बे"ति श्लोके पक्षिरूपा मुनयो गुणातीताः. ततो "नद्यस्तदे"त्यादिषु त्रिषु सगुणाः, "हन्तायमद्रिरि"त्यत्र गुणातीतो गोवर्धनः. एतदेवाभिप्रेत्योक्तं **वृन्दावनमि**त्यादि, **वृन्दावनं, पक्षि**रूपा **मुनयः, गोवर्धनश्चे**ति त्रयं **गुणातीतम्.** एवं वर्णनीयभेदानुक्त्वा वर्णनकर्त्रीणामपि तद्वदेव सगुणनिर्गुणभेदाना-हु**स्तद्रताश्चापी**त्यादिना. **अस्मिन्** लीलासृष्टिरूपे **लोके तद्रता**स्तेषु वृन्दावनादिषु गुणातीतेषु रतास्तद्वर्णनकर्त्र्योपि **गुणातीता भवन्ति.** उपलक्षणमेतत्, तेन तत्तन्निरूपकास्तथाविधा इति भावः (२२-२३½).

एवमैश्वर्यादिस्वरूपमुक्त्वा "प्रायो बताम्बे"ति श्लोकोक्तश्रीलक्षणमाहुः **श्रियो हि परमा काष्ठे**ति. यथा भगवान् "यदा खलु वै पुरुषः श्रियमश्नुते वीणास्मै वाद्यत" इति श्रुत्युक्तश्रीलक्षणवीणादिशब्दं शृणोति तथा भगवत्सेवकाः

श्रियो हि परमा काष्ठा सेवकास्तादृशा यदि ॥(२४)॥
ज्ञानोत्कर्षस्तदैव स्यात् स्वभावविजयो यदि ।
हरेश्चरणयोः प्रीतिः स्वसर्वस्वनिवेदनात् ॥(२५)॥
उत्कर्षश्चापि वैराग्ये हरेरपि हरिर्यदा ।

लेखः

सम्पन्नमित्यत आहुः **श्रियो ही**ति. सेवके तत्सिद्ध्या स्वामिनि कैमुत्येनैव सिद्धेति भावः. अयं न्यायस्त्रिष्वपि ज्ञेयः. **हरेश्चरणयोरि**ति, अत्रैवं विभागः— सर्वत्रानासक्तिः सामान्यवैराग्यम्, सैव त्यागविशिष्टा वैराग्ये उत्कर्षः, तत्रापि हरिचरणरतिर्भक्तिमार्गीयं वैराग्यम्, सैव सर्वस्वनिवेदनविशिष्टा तद्वैराग्ये उत्कर्षः, तत्रापि हरेः शीतादिनिवारणरूपा सेवा पुष्टिमार्गीयं वैराग्यम्, सैव भक्तिविशिष्टा तद्वैराग्ये उत्कर्ष इति. तथा चैवमन्वयः— **हरेश्चरणयोः प्रीतिः स्वसर्वस्वनिवेदन**विशिष्टा सती **वैराग्ये** भक्तिमार्गीये **उत्कर्षः**. पूर्वोक्तसामान्य-

योजना

श्रियो हि परमा काष्ठेत्यादि, यदि सेवकाः परमं भोगं कुर्युस्तदा स्वामिनः एव परमं सौभाग्यं स्फुटीभवतीति लोके प्रसिद्धम्. पक्षिणो भगवत्कृतं वेणुनादं शृण्वन्ति. तत्रापि भगवान् नीचैः स्थितो वेणुं वादयति, ते तु द्रुमभुजानारुह्योपरि स्थिता नादामृतमनुभवन्तीति श्रियो भोगः पक्षिणां सिद्धः. ("यदा खलु वै पुरुषः श्रियमश्नुते वीणास्मै वाद्यत" इतिश्रुतौ 'वीणा'पदं मधुरनादानां वेण्वादीनामुपलक्षकमतो वेणुनादश्रवणे श्रियो भोगः पक्षिणां सिद्धः.) इह भगवन्निष्ठा श्रीः पक्षिषु समागता भगवच्छ्रियः कार्यभूता. तथा च कार्यभूतया श्रिया कारणीभूता भगवच्छ्रीर्बोध्यते; तथा ज्ञानमपि नदीषु समागतं कारणभूतं भगवज्ज्ञानं सूचयति. एवं वैराग्यमपि भगवद्धर्मो मेघे कार्यरूपेण समागतः

कारिकार्थः

पक्ष्यादयोपि वेणुनादं शृण्वन्तीति भगवति श्रियः परमा काष्ठा निरूपिता. **ज्ञानोत्कर्ष** इति, सर्वदा वेगवतीनां नदीनां वेगभङ्गेन स्वभावविजयलक्षणं ज्ञानं सेवकेषु निरूपितं, तथा च सेवकानामपि तादृशत्वे भगवति ज्ञानोत्कर्षः कैमुतिकन्यायसिद्धः. वैराग्यं निरूपयन्ति **हरेश्चरणयोरि**ति. **स्वसर्वस्वनिवेदन**सहिता **हरिचरणप्रीति**र्वैराग्यम्, अन्यत्र वैराग्ये सत्येव हरौ प्रीतिसम्भवात्. तत्रापि **वैराग्ये उत्कर्ष**स्तदा स्याद् **यदि हरेः** सर्वदुःखहर्तु**रपि**

भक्त्या च तादृशत्वं च सा सेवा सेवकोचिता ॥(२६)॥

प्रकाशः

पूर्वेणान्वयः. ननु सर्वदुःखहर्तरि दुःखस्यासम्भवदुक्तिकत्वादसङ्गतमिदमित्याशङ्कायामाहु**र्भक्त्ये**त्यादि. **च**स्त्वर्थेऽवधारणे. **तादृशत्वं चे**त्यनेन **स्वसर्वस्वनिवेदनं** समुच्चीयते. तदत्र 'कुसुमावली'पदात् सिद्धं भक्तिश्च 'सखि'पदादिति ज्ञेयम् (२६).

लेखः

वैराग्यतदुत्कर्षावप्यत्र सम्पन्नावित्य**पि**शब्द**च**कारौ. पुष्टिमार्गीयमाहु**र्यदि हरेरपि हरि**र्भवेत्. **तादृशत्वं च भक्त्या** भवेत्, **सा सेवकोचिता सेवा** पुष्टिमार्गीयमुत्कृष्टं वैराग्यमित्यर्थः. अत्रापि पूर्वोक्तवैराग्यतदुत्कर्षसमुच्चयार्थं **च**कारद्वयम्. एवं षण्णां तात्पर्यार्था उक्ताः, आभासेषु तु वाच्यार्था वक्ष्यन्त इति विभागः (२४-२६).

योजना

स्वकारणभूतं भगवदधिकरणकं वैराग्यं बोधयति. **उत्कर्षश्चापि वैराग्ये हरेरपि हरिर्यदि भक्त्या च तादृशत्वं च सा सेवा सेवकोचिते**ति. **हरेः** सर्वदुःखहर्तु**रपि यदि हरिः** स्याद् दुःखहर्ता स्यात् तदा तस्मिन् वैराग्योत्कर्ष इति ज्ञेयं, यतो हरिदुःखहरणं वैराग्यकार्यं, मोक्षान्तफलेषु रागाभावे प्रभुसुखैकाकाङ्क्षयामेव तादृग्भावोदयात्. स भावः कथं स्यादित्याकाङ्क्षयामाहु**र्भक्त्या चे**त्यादि, **भक्त्या**

कारिकार्थः

हरिर्भवेत् सेवको वस्त्राद्युपचारैः सेवया हरेरपि शीतोष्णादिनिवारणेन दुःखहर्ता भवेदित्यर्थः. "भगवतः श्रमो नास्तीति केचित्, अस्तीतिसिद्धान्तः" —तदुपपादितं सुबोधिन्यां दशमस्कन्धे युगलगीताध्याये. श्रमवत् शीताद्यपि ज्ञेयम्. किञ्च "अनश्नन्नन्योभिचाकशीती"तिश्रुत्या भगवतो मर्यादामार्गे भोजनाद्यभावेपि पुष्टिमार्गे भोजनादिकमस्त्येवेत्युपपादितमष्टमाध्यायटिप्पण्याम्. पूतनामोक्षाध्यायटिप्पण्यां च भगवति स्नेहहेतुककार्याणां स्वामिनीकर्तृकरक्षाप्रभृतीनां भ्रमहेतुकत्वशङ्कापरिहारेण सर्वमुपपादितमिति सुष्ठूक्तं **हरेरपि हरिर्यदी**ति. तथा च "दृष्ट्वातपे व्रजपशूनि"ति श्लोके मेघस्य स्वसर्वस्वजलवर्षणेन स्ववपुषा छायाविधानेन च सेवाकरणात् वैराग्यं सिद्धम्. एवं सेवके वैराग्यसिद्धौ भगवति किं वक्तव्यमिति भावः (२४-२६).

एवं श्लोकषट्कतात्पर्यार्थनिरूपणेनैश्वर्यादिषड्धर्मोपपादनाद् भगवत्त्वं समर्थितम् ॥११॥

तत्र प्रथमं हरिणीनां भाग्यमभिनन्दन्ति **धन्या** इति.

धन्यास्तु मूढमतयोपि हरिण्य एता या नन्दनन्दनमुपात्तविचित्रवेषम् ।
आकर्ण्य वेणुरणितं सहकृष्णसाराः पूजां दधुर्विरचितां प्रणयावलोकैः ॥११॥

ज्ञानं हि क्रियाविशेषणीभूतं, क्रियोत्कर्षः पूजायां, सापि चेद् ज्ञानमयैर्द्रव्यैर्भगवद्विषयिणी भवति. भगवज्ज्ञानं स्वज्ञानं च तस्या अप्यङ्गं, तदभावे सर्वं व्यर्थम्. यद्यन्यत्रापि तद् भवेत् तदा तदेवोत्तममिति पक्षमाश्रित्य [1]पूर्वपक्षं व्यावर्तयन्ति **धन्यास्त्विति**. **तुशब्देन** स दोषो न ज्ञायत इत्याशङ्क्यां परिहरन्त्य

टिप्पणी

धन्यास्त्वित्यत्र, **स दोषो न ज्ञायत** इति. दोषस्वरूपमाहुः **न ज्ञायत** इति. मृगीभिर्भगवत्स्वरूपं श्रुत्यादिप्रतिपाद्यत्वेन न ज्ञायत इतिलक्षणो दोष

प्रकाशः

विवृतावन्य**त्रापि तदि**ति ज्ञानरहितेऽर्थेऽपि तादृशं पूजनम्. **पूर्वपक्षमिति ज्ञानं ही**त्यारभ्य **व्यर्थमि**त्यन्तोक्तमित्यर्थः. **स दोषो न ज्ञायत** इत्यस्यार्थं टिप्पण्यामाहु**र्मृगीभिरि**त्यादि. सुबोधिन्यां **स्त्रीणामि**त्यादि, मूढमतित्वादिकं

लेखः

तत्रेति हरिण्यादिष्वित्यर्थः. **तुशब्देन** स्वव्यावर्तने हेतुमाहु**र्ज्ञानं ही**ति. जानातीच्छतियतते इति क्रमादेवं युक्तमिति **हिशब्दः**. **आकर्ण्ये**ति ल्यपा[2]

योजना

स्नेहेन **तादृशत्वं** भगवद्दुःखहर्तृत्व(स्व!)भावः स्यादित्यर्थः. एवं वैराग्यस्वरूपं स्नेहेन तत्सिद्धिं च निरूप्योपदिशन्ति **सा सेवे**त्यादि. **सा** मेघकर्तृका **सेवा** भगवद्दुःखहरणरूपा **सेवकस्य** पुष्टि**स्थस्योचिता** नाम कर्तव्येत्यर्थः. यथा मेघेन स्नेहवशात् प्रेरणमन्तरेणैवातपनिवारणरूपा सेवा भगवतः कृता तथा शास्त्रप्रेरणं विनैव देशकालानुरूपा भगवत्सौख्यसम्पादिका सेवा पुष्टिमार्गीयैः कर्तव्या. सेयं सख्यभक्तिरूपा, "सख्युर्व्यधात् स्ववपुषाम्बुद आतपत्रमि"त्यत्र 'सखि'पदात्. एतद्यथा तथा मया सेवाकौमुद्यां प्रथमप्रकरणे निरूपितमिति ततोऽवधेयम् (२४-२६).

धन्यास्त्वित्यस्य विवरणे **ज्ञानं हि क्रियाविशेषणीभूतमि**त्यादि. ननु हरिणीनां भगवत्स्वरूपज्ञानाभावाद् भगवदवलोकनात्मकपूजामात्रेण कथं धन्यत्वं भविष्यतीत्याशङ्क्य पूर्वपक्षं व्यावर्तयन्ति **धन्यास्त्वि**ति **तुशब्देन**. इह हरिणीनां धन्यत्वकथनात् स्वस्याधन्यत्वसूचनेन न ज्ञानमात्रं धन्यत्वसाधकं किन्तु

१. पूर्वं. २. कृदन्तेन इत्यर्थः.

आहु**र्मूढमतयोपी**ति. स्त्रीणामेवाभिनन्दनं प्रकरणाद्धरिणानां स्त्रियोऽत्र विवक्षिता

लेखः

आकर्णनरूपज्ञानस्य पूजाविषयविषयकस्य गौणत्वमुक्तम्. **पूजा**पदेनोत्कृष्टा क्रियोक्ता, **प्रणयावलोकैरि**त्यनेन ज्ञानमयद्रव्याण्युक्तानि. व्यापारेण व्यापारवानाक्षिप्तः, अवलोकनस्य व्यापारत्वात्, करणत्वं तु नेत्राणामेवेति विभागः. स्वावलोकनरचितत्वपक्षे स्वस्य भगवज्ज्ञानमुक्तं, **भगवता प्रतिपूजितमात्मनि दधुरि**ति भगवदवलोकनरचितत्वपक्षे भगवतो हरिणीज्ञानमुक्तम्. एतेन व्यापारोपि ज्ञानरूप एवोक्तः. एवमस्मासु नास्त्यतः स्वव्यावृत्तिः (स्वासामेवोत्तमत्वमिति पक्षव्यावृत्तिः). **तदेवोत्तममि**ति तदुत्तममेवेत्यर्थः. **पूर्वपक्षमि**ति, सुधाभागित्वाद् गोपिकानामेवोत्तमत्वमिति पक्षमित्यर्थः. **हरिणानामि**ति, कृष्ण-

योजना

भगवद्विषयकपूजनक्रिया धन्यत्वसाधिका. ज्ञानसाहित्ये सा सुतरां धन्यत्वसाधिकेत्याहु**र्ज्ञानं ही**त्यादिना. ज्ञात्वा तदनुरूपं चेत् करोति तदा ज्ञानस्य सार्थक्यमतो ज्ञानस्य क्रियाविशेषणीभूतत्वम्. क्रियास्वपि भगवत्पूजात्मिकैव क्रियोत्कृष्टेत्याहुः **क्रियोत्कर्षः पूजायामि**ति; "तत् कर्म हरितोषं यद्" इति चतुर्थस्कन्धवाक्यात्. सा पूजारूपा क्रिया हरिणीभिः कृतेति तासां धन्यत्वम्. तत्रापि ज्ञानेन्द्रियाधारत्वेन ज्ञानप्रचुरैर्नेत्रात्मकद्रव्यैः कृतेति सुतरां धन्यत्वमित्याहुः **सापि चेदि**त्यादिना. **ज्ञानमयैरि**ति ज्ञानप्रचुरैर्ज्ञानस्वरूपैर्निवेद्यद्रव्यैरित्यर्थः. अयमर्थः— निवेद्यपदार्थानां स्वरूपं भगवत्प्रियत्वं देशकालानुगुणत्वं च ज्ञात्वा समर्प्यन्ते तदा ते पदार्था ज्ञानमया उच्यन्ते. तथेह हरिणीभिः स्वनेत्राणां सौन्दर्यं भगवत्प्रियानेत्रस्मारकत्वेन प्रभुप्रियत्वं च बुद्ध्वा नेत्रैर्भगवान् पूजित इति युक्तं धन्यत्वम्. **भगवज्ज्ञानमि**त्यादि, यादृशदेशकालवैशिष्ट्याद् यादृशवस्त्वपेक्षा भगवतोऽस्ति तादृग्देशकालानुरूपसेवनं मया विधेयमिति सम्प्रति देशकालानुरोधादिदमपेक्षितं भगवत इति ज्ञानं **भगवज्ज्ञानमि**त्यर्थः. मदीयपदार्थेष्वेतस्य वस्तुनः सम्यक्त्वाद् भगवद्विनियोगयोग्यतेति ज्ञानं **स्वज्ञानमि**त्यर्थः. एवमुभयज्ञानस्य पूजाङ्गत्वम्. हरिणीभिस्तथैव कृतं यतो भगवते शृङ्गाररसात्मकाय स्वनेत्रसौन्दर्यप्रदर्शनेन प्रियत्वं सम्पादितम्. एवं पुष्टिजीवैर्यथोचितं प्रियत्वं सम्पाद्यमिति शिक्षा ह्येतस्य ग्रन्थस्य हार्दम्. **भगवज्ज्ञानमपी**त्यन्वयः, **तस्य** भगवत्पूजारूपक्रियोत्कर्षस्य भगवज्ज्ञानमप्यङ्गमित्यर्थः. **तदभावे** इति तस्याः पूजाया अभावे इत्यर्थः. **सर्वमि**ति ज्ञानादिक-

हरिण्यः. सर्वत्रान्या एव वर्णयन्तीति ज्ञातव्यम्. स्वस्याकृतार्थताभावनया दैन्याविभवि भगवान् कृपया वर्ण्यमानसर्वसामग्रीसहितः प्रकटीभूत इति ज्ञापयितु**मेता** इत्युक्तम्. तासां भाग्ये हेतुमाहु**र्या नन्दनन्दनं** निरीक्ष्य[1] **वेणुरणितमाकर्ण्य** भगवत्कृतैः **प्रणयावलोकैर्विरचितां पूजां** स्वस्मिन् **दधुरि**ति. **या** इति पूर्वं भगवदुक्ताः प्रसिद्धाः. नन्दमप्यानन्दयतीति **नन्दनन्दनः**. भक्तोद्धारार्थमेव ब्रह्मवाक्यात् प्रवृत्त उद्धारप्रकरणात् ता अप्युद्धरिष्यतीत्यु**पात्तः** स्वीकृतो **विचित्रो वेषो**[2] येन. अनेन रसाभिनयार्थं प्रवृत्तो भगवानुक्तः. एवं स्वरूपतस्तत्कार्यकर्तृत्वं साधनतश्च फलमुखं[3] कर्तृत्वमुक्तम्. **विचित्र**पदेन सर्व एव रसाः परिगृहीताः.

प्रकाशः

कृष्णसारेष्वपि तुल्यमिति तद्वारणायेदमुक्तम्. **हरिणानां स्त्रिय** इति, न तु नायिकाविशेषाः. भगवतः पूजाधारणे गमकमाहु**र्या** इत्यादि. **पूर्वमि**ति द्वादशाध्याये "नृत्यन्त्यमी शिखिन ईड्य मुदा हरिण्यः कुर्वन्ति गोप्य इव ते प्रियमीक्षणेने"-त्यत्र. **तत्कार्यकर्तृत्वमि**ति उद्धारानुकूलरसकार्यकर्तृत्वम्. **तत्रे**ति हरिणीष्वि-

लेखः

सारसाहित्योक्तेरत्र पुंयोगे ङीष् न तु जातिलक्षणमिति भावः. **सर्वत्रे**ति, गोनिरूपणान्तं केवलाभ्यो**ऽन्या** अन्यपूर्वा **वर्णयन्ति**, अतस्तासामेव **प्रकरणात् सह**-**कृष्णसारा** इत्यनेन हरिणसहिताः स्त्रिय उक्ता न तु केवला इति भावः. **निरीक्ष्ये**ति, अर्थत आकर्णनमेवानेन विवृतं न तु पदान्तराध्याहारः, अग्रे निषेधात्. **ब्रह्मवाक्यादि**ति "अस्त्वित्युक्त" इतिश्लोकोक्तादित्यर्थः. **उद्धार-प्रकरणादि**ति, "प्रकरणं देशकालावि"ति निबन्धे लक्षणमुक्तम्, तथा चोद्धारकालादित्यर्थः. **अनेने**ति वेशे वैचित्र्यकथनान्नृत्यसामयिकत्वसूचनेनेत्यर्थः. **एव-मिति, नन्दनन्दन**पदेन **स्वरूपत**स्तदुक्तम्, वेशस्वीकारकथनेन **साधनत** उक्तम्.

योजना

मित्यर्थः. अङ्गीभूतायाः पूजाया अभावे अङ्गानां ज्ञानादीनां वैयर्थ्यमिति भावः. **समीपे स्वीकार** इति, **उपात्तविचित्रवेषमित्यत्रोप**शब्देन सामीप्यकथनाद्धरिणीसमीपे प्रभुणा वेषो धृतः, तथा च वेषधारणसमये भगवदवयवानां हरिणीदृग्विषयत्वाद् भावविशेषोत्पत्तिर्मृगीगणस्याभूत्. तेन भावेन तादृशरससम्बन्धिनी भगवत्प्राप्तिर्भवित्रीति भावः. **ब्रह्मानन्दस्ये**त्यादि, भगवदवयवावलोकनजन्य-

१. वीक्ष्य. २. वेशः. ३. 'मुखकर्तृ'.

समीपे स्वीकारो ब्रह्मानन्दस्य तत्र प्रवेशनार्थः. **आकर्ण्यत्येव** क्रिया वेणुरणिते भगवति चार्थतः शब्दतश्च. पशुदृष्टिर्विशेषं न गृह्णातीति शास्त्रदृष्टिरुक्ता. पश्चाद् जायमानापि प्रत्यक्षदृष्टिरन्यानुरोधिनीति विद्यमानापि सा[1] न गणिता तदा**ह्या-कर्ण्ये**ति. **वेणो रणितं** [2]सर्वरससाधारणं, यथा रसो बाह्यतो न गच्छति तथा शब्दविशेषो रणितम्. तादृशमपि निकटे गत्वा श्रुतवत्यः. अनेन दैहिका धर्मा निवर्तिताः. **सहकृष्णसाराः** स्वभर्तृसहिताः. अनेन भर्तृनिरोधोपि परिहृतः. सापत्याभावश्च **कृष्णसारा** इत्यनेन, **कृष्ण** एव **सारो** येषामिति **कृष्णसाराः**.

प्रकाशः

त्यर्थः. **नन्दनन्दनं निरीक्ष्ये**ति यदुक्तं तन्मूले नास्तीत्याशङ्**क्याकर्ण्ये**त्यस्य तात्पर्यार्थमाहु**राकर्ण्यत्येवे**त्यादि. तथापि साक्षात्कारः कथमायातीत्यत आहुः **पश्चि**त्यादि. सापत्याभावमुपपादयन्ति **कृष्णे**त्यादिना. **ततोपी**त्यस्यार्थं टिप्पण्या-

लेखः

समीप इति, **उप** समीप **आत्त** इत्यनेन हरिणीनां **समीपे** वेश**स्वीकारो** हरिणीषु स्वरूपानन्दस्य **प्रवेशनार्थः**. वेशसमये निरावृतस्वरूपदर्शनेन तथा भवति, वेशानन्तरदर्शने त्वाच्छादकादिविशिष्टत्वाद् धर्मसहितानन्दानुभवो भवेत्. अत एवात्यनुगृहीतस्यैव समक्षं भगवतः शृङ्गारादिकं कर्तव्यमिति मार्गमर्यादा. **आकर्ण्ये**तिव'न्निरीक्ष्ये'त्येव कुतो नोक्तम्? तस्यापि द्विधा व्याख्यानसम्भवादित्यत आहुः **पशुदृष्टिरि**ति. **सर्वरसे**ति— सर्वे रसा असाधारणा यत्र. **सर्वरससाधारणे**ति पाठे सर्वे रसाः साधारणा यत्र, न त्वेकः कश्चिन्मुख्य इत्यर्थः. **अनेने**ति भयस्वभावानामपि भगवन्निकटगमनेनेत्यर्थः. अर्थत आकर्णनरूपस्य निरीक्षणस्य गमने एव सम्भवा**न्निकटे गत्वे**त्युक्तम्. **निरोधोपी**ति, **ज्ञानं ही**त्यादिना स्वव्यावर्तने हेतुः पूर्वमुक्तः अत्रापि हेतुरुच्यते **इत्यपि**शब्दः, बहुवचनेन

योजना

भावबलेन पूर्वं ब्रह्मानन्दप्रवेशो हरिणीषु तत आधिदैविकस्त्रीविग्रहप्राप्तिस्ततः स्वरूपानन्दस्य हरिणीषु प्रवेशार्थं हरिणीनां निकटे भगवता वेषधारणं कृतमिति फलितम्. तथा "चायं पुनर्ब्रह्मानन्दे जाते तत्राप्याधिदैविकरूपे सम्पन्ने"इति पूर्वफक्किकानिरूपितफलप्राप्तिर्भविष्यतीत्युक्तं भवति. फक्किकास्मारकं **ब्रह्मानन्द**पदमिति ज्ञेयम् ॥११॥

१. लुप्तम्. २. 'रससा'.

अनेन गोपास्तथा न भवन्तीति स्वस्यातथात्वं सूचितमन्यथास्माभिरपि सह गोचारणं कुर्युः. अत एतेऽभिमानसारा एव[1]— धन्यास्ते कृष्णसाराः. स्नेहपूर्व**कावलोकनैर्विरचितां** भगवति **पूजां** धारयामासुः. नेत्राण्येव कमलानि ज्ञानवासितानि ज्ञानोद्भवस्थानानि, तैः पूजा सर्वोत्तमा; तस्याश्च धारणं ततोपि. कृतिरथदिवोक्ता. भगवता च प्रतिपूजितमात्मनि वा दधुः. **सदयावलोकैरि**ति वा पाठः. एतावदेव कर्तव्यं प्राणिनां भगवतश्च ॥११॥

अप्सरसामवस्थामाह **कृष्णं निरीक्ष्ये**ति.

कृष्णं निरीक्ष्य वनितोत्सवचारुवेषं श्रुत्वा च तत्क्वणितवेणुविचित्रगीतम् ।
देव्यो विमानगतयः स्मरनुन्नसारा भ्रश्यत्प्रसूनकबरा मुमुहुर्विनीव्यः ॥१२॥

कृष्णपदार्थात् स्त्रीणां निरोधः सूचितः— आनन्दे दृष्ट आनन्दसाधन आसक्त्यभावो युक्त एव, तत्रापि सदानन्दे. **नि**तरामीक्षणं दिव्यदृष्ट्या. स्वजातीयोद्धारार्थमागत इति विशेषः, तदाहु**र्वनितोत्सवचारुवेषमि**ति. **वनितानामेवोत्सवार्थे चारुर्वेषो**[1] यस्य स. उत्सवो ह्यनेकविधस्तत्तदुत्सवे ते ते भूषिता भवन्त्युत्सवरसानुभवार्थम्. केवलं **वनितानामेवोत्सवो** यत्र, **वनं** यौवन**मिताः** प्राप्ताः प्राप्तवत्यः. वनं सञ्जातमिति वा, 'इतच्'प्रत्ययः. न हि तत्र प्रविष्टः पुनरावर्तते. 'यौवनमि'त्यत्रापि 'यु'मिश्रणार्थे 'वनमि'ति. तासामेवोत्सवो भव-

---

टिप्पणी

इत्यर्थः. **पूजां दधुरित्यत्र, तस्याश्च धारणं ततोपीति**, सर्वोत्तममिति शेषः ॥११॥

प्रकाशः

माहुः **सर्वोत्तममि**ति. तथा च 'धा'धातोरत्र पोषणार्थत्वं तत्र पूर्वकृतिरपेक्षिता सा चाथदिवोक्तेत्यर्थः. **पूजां दधुरि**त्यस्यार्थान्तरमाहु**र्भगवतश्चे**त्यादि. **एतावदि**ति प्रीतिपूर्वकं [2]निरीक्षणं भगवदवलोकनं कृपापूर्वकं भगवतो जीवावलोकनम् (च!) ॥११॥

लेखः

सापत्न्याभाव उक्तः. **भगवति पूजामिति**, स्वकृतावलोकैः प्रियासप्रणयावलोकस्मारणेन भगवतस्तोषणमत्र **पूजा**, ततः (तासु तथाभावजनकं) तादृग्भावेन भगवत्कृतमवलोकनं प्रतिपूजनं ज्ञेयम्. **कृतिरि**ति, अस्मिन् पक्षे प्रतिपूजितरूपा कृतिरर्थादुक्तेत्यर्थः. तोषणस्य धारणं स्थिरता, तथा सति प्रतिपूजितं भवत्येवेति भावः. **तु**शब्दकृतपूर्वपक्षव्यावर्तनमुपसंहारेपि बोध**यन्त्येतावदेवे**ति. सुधाभोगादिकं त्वधिकम्, आवश्यकमेतावदेवे**त्येव**कारः. अत एतस्मिन् पक्षे एतासां धन्यत्वमिति भावः ॥११॥

कृष्णमित्यत्र **आनन्दसाधने** इति आमुष्मिकैहिकफले इत्यर्थः. **दिव्यदृष्ट्ये**ति मानुषभावराहित्येनेत्यर्थः, अन्यथा वक्ष्यमाणावस्था न स्यादिति भावः.

---

१. वाधन्या°. २. निरन्तरमित्यपि पाठः, तत्र निरीक्षणं शेषः.

प्रकाशः

कृष्णं निरीक्ष्येत्यत्र. वनमित्यस्मादितचि कर्तरि जाते **वनिते**ति भवति. "वनिता जातरागस्त्रीस्त्रियोरि"तिकोशश्च. एतौ च रूढियोगौ लौकिकतरुणीसामान्याविति तौ विहाय विशिष्टाभिर्दृष्टिभिः स्वाधिकारेण यद् बुद्धं यश्च भगवद्वेषाशयस्तदुभयमेताभिर्विशिष्टाभिर्वक्त्रीभिर्ज्ञातमिति बोधयितुमतिपरोक्षवादेन **वनितापदयोगानेवाहुर्वनं यौवनमि**त्यादि. अत्र प्रथमपक्षे वर्णद्वयत्वापत्तिर्द्वितीये 'यौ' इत्येकस्यैव. सा च "वर्णागमो वर्णविपर्ययश्च तथापरो वर्णविकारनाशावि"त्युक्तत्वेन पृषोदरादित्वाज्ज्ञेया. योगप्रयोजनमाहु**र्नही**त्यादिना. तथा च दृष्टिभिः स्वस्य स्थिरयौवनत्वं त्रिदशत्वान्निश्चित्य तेन भावेन स्वस्याप्युत्सवयोग्यता ज्ञाता, भगवता तु स्थिरतादृग्भावविशिष्टस्थिरयौवनानामर्थे कृत[2] इति तासां मोह इति वक्त्रीभिर्ज्ञातमिति भावः. योगान्तरमाहु**र्यौवनमि**त्यादि. योगद्वयार्थं सङ्गृह्य सिद्धमाहु**स्तासामेवे**त्यादि. **उपाय उक्त** इति, दिव्यदृष्ट्या दूरादवगत्य भगवदर्थ-

लेखः

विशेष इति, उद्धारविषयसजातीयत्वं हरिणीभ्यो **विशेषः** अप्सरःस्विति शेषः. **तदाहुरि**ति, **तत्** तस्मादेतासु तत्सजातीयत्वबोधनार्थं चारुवेशनिमित्तभूतोत्सववतीनां वनितात्व**माहुरि**त्यर्थः. तथा चायमवान्तरपदस्याभासो ज्ञेयः. **केवलमि**ति. यत्र वेशे कृते सति केवलं वनितानामेवोत्सवो भवत्येतादृशो वेश इत्यर्थकथनं न तु विग्रहः; **वनितोत्सवाय** वनिताभूषणार्थं **चारुर्वेशो** यस्येति विग्रहः. उत्सवस्य भूषणहेतुत्वादुत्सवपदेन भूषणमुक्तमिति भावः. **कृताभरणे**ति,

योजना

कृष्णं निरीक्ष्येत्यत्र **वनं यौवनं इताः प्राप्ताः प्राप्तवत्य** इति. इह **वनिता**शब्दान्तर्गत**वन**शब्देन विपिनं यौवनं च ग्राह्यम्. तत्र विपिनपक्षे **वनं** विपिन**मिताः प्राप्ताः** पुरुषा **वनिताः** भगवदर्थं सकलत्यागं विधाय केवलं वनं

---

१. °र्वेशः. २. वेष इतिशेषः.

त्विति भगवता वेषः[1] कृतः, सर्वाभरणभूषिताः सर्वा एव वनिता 'यथावेषरसं

प्रकाशः

मागमने स उक्त इत्यर्थः. दिव्यदृष्टेः सार्वदिकत्वादिदानीमेव कुत आगमनमित्या-

लेखः

अत्र **कृत**पदं नूतनवाचकम्; भगवतो वेशान्तरस्वीकारे स्वयमपि नूतनाभरणानि परिहितानीत्यर्थः. **यथावेशे**ति, भगवतः पीताम्बरपरिधाने स्वयं नीलाम्बरपरि-

योजना

प्रविष्टा भगवदीयास्तेषा**मुत्सवार्थं चारुर्वेषो** भगवता धृतः. तथा च कोटिकन्दर्पलावण्याधिकसुन्दरं तादृशवेषधारिणं श्रीकृष्णमवलोक्य जातस्त्रीभावाः "पुरुषोत्तमं मां प्राप्स्यन्ती"त्यभिप्रायकं वेषधारणं भगवता कृतमिति विभावनीयम्. यौवनपक्षे **वनं** यौवन**मिताः प्राप्तवत्यो** मृगीदृशस्तासा**मुत्सवार्थं** भावोद्दीपनार्थं **वेष**धारणम्. वनितानां पुंसां वनितानां सुन्दरीणां च सूचनार्थं **प्राप्ता प्राप्तवत्य** इति वारद्वयमुल्लेखः सुबोधिन्याम्. अन्यथा **प्राप्ता**इत्युक्ते **प्राप्तवत्य**इत्युक्तिर्व्यर्था स्यात्, धातूपसर्गप्रत्ययार्थानामैक्यात्. यद्यपि **प्राप्ता** इत्युक्त्याप्युभयग्रहणं सम्भवति तथापि प्रकरणवशात् स्त्रीणामेव ग्रहणं स्यान्न तूभयोरत उभयग्रहणार्थं **प्राप्ताः प्राप्तवत्य** इत्युक्तम्. तथा च **प्राप्ता** इत्युक्त्या **वनिताः** पुरुषा गृहीताः **प्राप्तवत्य** इत्यनेन **वनिताः** स्त्रिय उक्ता इति ज्ञेयम्. एवं सति पुंसां भावोत्पादनार्थं स्त्रीणां च भावोद्दीपनार्थं वेषधारणमिति प्रयोजनद्वयं फलितम्. **न हि तत्र प्रविष्ट** इति, इदं **वनिता**शब्दान्तर्गतवनशब्दस्य विपिनवाचकत्वमादाय पुरुषपक्षे ज्ञेयम्. **तत्र** वने **प्रविष्टः** सर्वत्यागवान् नावर्तत इत्यर्थः. **वन**शब्देन कथं यौवनग्रहणमित्याकाङ्क्षायामाहु**र्यौवनमित्यत्रापि 'यु' मिश्रणार्थे वनमि**ति. 'यौवन'शब्दे 'यावि'तिसप्तमी निमित्तार्थे. 'यु'शब्दो मिश्रणार्थक उकारान्तः; तस्य सप्तम्यां 'यौ' इतिरूपं 'भानौ-विष्णावि'तिवत्. मिश्रणं नायकेन सह विवक्षितम्. एवं **यौ** मिश्रणार्थं **वनं** यौवनमित्यर्थो भवति; यौवनमेव हि नायकेन सह नायिकां सङ्गमयति. तथा च यौवनत्वस्यापि वनत्वव्याप्यत्वाद् वनविशेषो यौवनमतो **वन**शब्देन यौवनग्रहणं सुवचम्. यौवनस्य वनत्वं तु शृङ्गाररसोपयोगिसामग्रीमत्त्वधर्मसाम्येन ज्ञेयम्. **यौवन**शब्दस्यैतादृशी व्युत्पत्तिस्तु निरुक्तपद्धत्या ज्ञेया, "अप्यक्षरवर्णसाम्येन निर्ब्रूयान्न

१. 'वेशः.

पुरुषार्थमनुभवन्ति. अनेनास्मिन्नुत्सवे यासामलङ्कारादिनोत्सवो न जातस्तासां वनितात्वं व्यर्थमेव, यथा रण्डानाम्. तत्रापि **चारु** मनोहरमन्तरप्यलङ्कारहेतुस्तत्र प्रेमज्ञानादिकमलङ्कारा बहिरिवान्तरपि रसानुभवश्च. अनेनाप्सरसां भगवदर्थागमने सर्वोप्युपाय उक्तोऽनुभावकं 'ततो विलम्बेन प्रस्थापकमाह **श्रुत्वा चे**ति, निकटे समागत्य पूर्ववदेव क्वणितस्य[2] श्रवणम्. अत्र वेण्वतिरिक्तकूजितादिक्वणितानां सङ्ग्रहार्थं **तस्य** भगवतः **क्वणितमि**त्युक्तम्. **क्वणितश्च**[3] **वेणुः**, तादृशवेणावाविर्भावं प्राप्तानि **विचित्राणि गीतान्याकर्ण्ये**ति सम्बन्धः. एकेनैव गीतेन मूर्च्छिता जाता इत्येकवचनम्. **विचित्राणि** सर्वरसार्थानि. शृङ्गार एव सर्वे रसा इति नाट्यशास्त्रसिद्धान्तः, अन्यस्य रसत्वमेव न मन्यन्ते. यथा महान्तः सुवर्णाभरणान्येवोपकरणानि[4] च कुर्वन्ति तथा[5] शृङ्गार एव सर्वरसा, अन्यथा रसिकानां रुचिर्नो-

प्रकाशः

काङ्क्षायां विशेषहेतुं स्फुटीकुर्वन्त्य**नुभावकमि**त्यादि. **यद्यपी**त्यादिना व्याख्यातस्य तात्पर्यमाहु**र्नापी**त्यादि. तर्हि किमित्यागता इत्यत आहु**स्तथापी**त्यादि. अपहारं

लेखः

धानमिति वेशानतिक्रमेण शृङ्गारादिषु मध्ये यं रसं भगवान् प्रकटयति तदनतिक्रमेण चेत्यर्थः. **अस्मिन्नुत्सवे** इति, अस्मिन् वेशे कृते सतीत्यर्थः. **सर्वोप्युपाय** इति– दिव्यदृष्ट्या दर्शनं प्रेम ज्ञानादिरन्तर्भगवदनुभवश्चेति. **अनुभावकमि**ति उद्दीपनेन रसानुभावकम्. क्वणितगीतयोः श्रवण**मविलम्बेन** शीघ्रमेव **ततो** विमानाद् भगवति **प्रस्थापकमि**त्यर्थः. **क्वणित**पदस्यावृत्तिमभिप्रेत्य **क्वणितश्चे**ति **च**कारः. तथा च **ततक्वणितं क्वणितवेणुविचित्रगीत**श्चेति समासः. गीतस्य शृङ्गारोद्बोधकत्वेपि सर्वरसार्थत्वमुपपादयन्ति **शृङ्गार एवे**ति. **अन्यस्ये**ति शृङ्गाराङ्गत्वभावापन्नस्येत्यर्थः. **यथे**ति. **उपकरणानि च**काराद् भूषणानि **सुवर्णस्य आसमन्ताद् भरणं** येषु तादृशानि, न तु मध्यावकाशे लाक्षायुक्तानि कुर्वन्ति.

योजना

संस्कारमाद्रियेते"त्यनुशासनात्. **यथावेषरसमि**ति भगवत्कृतवेषं भगवदभिप्रेतरसं चानतिक्रम्येत्यर्थः. अयमत्राभिप्रायः– भगवता वनितानामत्युत्सवार्थे यथा वेषः कृतस्तथा वनिताभिरपि भगवदुत्सवार्थे भगवदभिप्रेतवसनभूषणादिकं ध्रियते. भगवदभिप्रायस्तु भगवद्धृतपीताम्बरादिद्युतिजनकनीलवसनरक्तकञ्चुक्यादिधारणे, तथैवैताभिः कृतमिति वेषानतिक्रमो ज्ञेयः. एवं प्रभुचिकीर्षितशृङ्गारादिरसेप्यानुगुण्याद् रसानतिक्रमः ॥१२॥

१. 'वकं ततोवि'. २. लुप्तम्. ३. लुप्तम्. ४. 'का'. ५. तद्यथा.

त्पद्येत. अत एव **विचित्रं गीतम्.** यद्यपि ता **देव्यो** देवतारूपा पूज्या एव, तत्रापि **विमानेनैव गतिर्यासां**; नापि भोग्या नापि दुःखसहनशीलास्तथापि [1]**स्मरेणैव नुन्नः सारो** यासां, शरीरेन्द्रियापेक्षया मनो बलिष्ठमिति **स्मरेण सारो** विवेकः सर्वोप्यपहृतः. भूमावनागमने पद्भ्यामनागमने स्वतोप्यनागमने हेतव उक्ताः. ततो यद् जातं तदाहु**र्मुमुहुरि**ति. न केवलमन्तरेव हृदयप्रदेशे मोहः किन्तूपर्यधश्चेति— **भ्रश्यत्प्रसूनानि कबरे** यासां **विगता नीवी** च यासामिति केशनीवीबन्धयोर्विश्लेष आमुष्मिकैहिकफलपरित्यागज्ञापकः. देवतात्वान्न[2] मरणं विमानगतित्वान्नाधःपतनं विवेकाभावान्नोपायेनागमनम्. भगवदनुपयोगेऽन्यस्यापि रसो नोत्पद्यतामिति रसाभासो वर्णितः. देवसहितानामपि[3] प्रायेणात्रावतीर्णानां

प्रकाशः

कार्यद्वारा विवृण्वन्ति **भूमावि**त्यादिना. **देवसहिता अपी**ति, केवलानां तासां विमानगतिप्रसिद्ध्यभावात् [4]तथेत्याशयः. तथापि मूले 'देवता'पदाभावादरुच्या पक्षान्तरमाहुः **प्रायेणे**त्यादि. अस्मिन् पक्षेऽवतीर्णानां गोपानामेव पुरुषत्वं बोध्यते, तेन न कारिकाविरोधः. **अस्माकमि**ति तदर्थमेवावतीर्णानामित्यर्थः ॥१२॥

लेखः

तथा सुवर्णमयोपकरणवच्छृङ्गाराङ्गभूता एव रसा इत्यर्थः. **नापी**ति, एतादृशीषु स्मरस्तत्कृतविवेकापहारश्च न भवति तथापि प्रमेयबलात् तथा जातमित्यर्थः. तृतीयचरणीयविशेषणत्रयतात्पर्यमाहु**र्भूमावि**ति, मृत्वा भूमाववतारे इत्यर्थः, देवीनां मरणासम्भवादिति भावः. **पद्भ्यामि**ति, अन्यभयाद् विमानं त्यक्त्वा गुप्ततया पद्भ्यामित्यर्थः. विमानगतीनां भूस्पर्शासम्भवादिति भावः. **स्वत** इति उपायचातुर्येण विमानमेव तत्र नीत्वेत्यर्थः. विवेकापहारादिति भावः. अग्रे विवरणादेवमर्थो ज्ञेयः. असावधानता 'मोह'पदार्थो ज्ञेयः. **देवसहिता अपी**ति, देवानां मरणं नास्तीति प्रथमाध्याये "गिरं समाधावि"तिश्लोके 'अमरा' इतिसम्बोधनेनोक्तमिति व्याख्यातम्. अत एकेन रूपेण योगिन इवात्राप्यवतीर्णाः, पूर्वं रूपं तु तत्र तिष्ठत्येवेति भावः. तथा च **देवपदेन** तत्र स्थिता ज्ञेयाः. द्वितीयगीते "सहसिद्धैरि"ति वक्ष्यते, तन्न्यायेनात्रापि देवसाहित्यमुक्तम्. **केवलानामि**ति स्त्रियो विहाय स्वयमेवावतीर्णानामित्यर्थः. देवलोकस्थाः सर्वा एव

---

१. स्मरणे°. २. देवत्वा°. ३. °सहिता अपि. ४. देवसहिताः.

केवलानां स्त्रियस्ताः स्वपत्यन्वेषणार्थमागता भगवन्तं दृष्ट्वा पूर्वावस्थां सर्वामेव विस्मृतवत्यो, भगवानेव पतिर्भवत्विति, तदास्माकं तथात्वं युक्तमेवेत्यर्थः ॥१२॥

गवां वत्सानां च चरित्रमाह **गाव** इति.

गावश्च कृष्णमुखनिर्गतवेणुगीत-
पीयूषमुत्तभितकर्णपुटैः पिबन्त्यः ।
शावाः स्नुतस्तनपयःकवलाः स्म तस्थु-
र्गोविन्दमात्मनि दृशाश्रुकलाः स्पृशन्त्यः ॥१३॥

चकाराद् गावोपि तथा जाताः. उत्तमाधमयोर्मध्यमाभिलाषो निरूप्यते,

---

प्रकाशः

गाव इत्यत्र **तथा जाता** इति मोहिता जाता इत्यर्थः. मोहे हेतुमाहु**रुत्तमाधमयोरि**त्यादि, सात्त्विकतामसयो राजसदेहाभिलाष इत्यर्थः. नन्वयं मोहो नोक्तहेतुकः किन्तु हेत्वन्तरादित्याशङ्कते **ता** इत्यादि. तर्हि

लेखः

स्त्रियोऽप्सरस इत्याशयेनाभासे **अप्सरसामि**त्युक्तम्. **स्वपत्यन्वेषणार्थमि**ति— **स्वपत्यु**रत्रावतीर्णं यद् रूपं त**दन्वेषणार्थमि**त्यर्थः. भगवदर्थमागमनं तु भयात् न सम्भवत्यतः **प्रायेणै**वमित्यर्थः. निर्भयतया भगवद्दर्शनार्थमागमनं त्विन्द्राभिषेकानन्तरं वक्ष्यते. अत एव द्वितीयगीते तथेति भावः ॥१२॥

गाव इत्यत्र **तथा जाता** इति अभिलषिताप्राप्त्या मुमुहुरित्यर्थः. **उत्तमाधमयोरि**ति, सात्त्विकत्वा**दुत्तमानां** तामसत्वा**दधमानां** देवस्त्रीणां गवां च यथोचितं सायुज्यलक्षणस्य **मध्यमस्य** सेवाफल**स्याभिलाष** इत्यर्थः. सायुज्यस्वरूपं सेवाफलविवृतेरवधार्यम्. देवस्त्रीणामागमनस्याशक्यत्वात् मोह उक्तः, गवां मोहे

योजना

गावश्च कृष्णेत्यस्य विवृतौ **उत्तमाधमयोर्मध्यमाभिलाषो निरूप्यत** इति. **उत्तम**शब्देनात्र हरिण्यः, नेत्रदर्शनेन घोषसीमन्तिनीनेत्रस्मारकत्वेन भगवत्प्रियतया धन्यत्वोक्तेः. **अधम**पदेन गावः, शृङ्गाररसानुपयुक्तत्वात्. अत एवोक्त**मसम्भावितत्वान्मोह** इति. **मध्यमाभिलाष** इति, हरिणीनां भगवद्दर्शनमात्राभिलाषः, गवामन्तर्दर्शनस्पर्शमात्राभिलाषः; अप्सरसां पूर्वप्रकारेण रमणाभिलाषः सर्वोत्तम इति तदपेक्षया मृगीणां गवां चाभिलाषो मध्यम इति

असम्भावितत्वान्मोहः. ता हि वेणुमात्र आसक्तास्तथा कुर्वन्तीति शङ्कां परिहर्तुमाहुः **कृष्णमुखे**ति, **कृष्णमुखान्निर्गतं** यद् **वेणुगीतम्.** ननु बहूनां वादने मुखादर्शन इतरवैलक्षण्यानवधाने वा कथं भगवन्मुखवेणुगीतमिति ज्ञायते? तत्राह **पीयूषे**ति, अमृतं हि तत्. तेन व्यञ्जकान्तराभावेपि स्वत एव ज्ञायते. सदानन्दो वाच्यो मुखं वागधिपतिर्निर्गमनं वाक् वेणुरितरविस्मारको गीतं षड्गुणात्मकमतः

प्रकाशः

'कृष्णगीतपीयूषमि'त्येव वाच्यं न त्वधिकमित्याकाङ्क्षायामाहुः **सदानन्दे**त्यादि. **निर्गमनं वागि**ति, पूर्वमासन्यरूपस्य निर्गमदशायामेव वैखरीत्वेन तदेव सेत्यर्थः. **मुखं वागि**त्यादेस्तात्पर्यं टिप्पण्यां स्फुटम्. नन्वेवं प्रतिक्षणनूतनत्वे रसस्य

लेखः

हेतुमाहु**रसम्भावितत्वा**दिति, स्वाभिलषितसायुज्यस्येति शेषः. **ता ही**ति, गावोन्यकृतवेणुनादे**प्यासक्ताः** कर्णोत्तम्भनं **कुर्वन्तीतिशङ्कां परिहर्तुं** कर्णोत्तम्भन-हेतुवेणुनादस्य कृष्णकृतत्व**माहु**रित्यर्थः. पशूनां तावद्विशेषज्ञानाभावः प्रसिद्ध इति **हि**शब्दः. एतेन कृष्णकृतनादे एव कर्णोत्तम्भनं नान्यनादे इति सूचितम्. **व्यञ्जकान्तरे**ति, स्वरूपमेव स्वव्यञ्जकमित्यर्थः. एतन्नादे विशेषं वक्तुं **पीयूष**-पदस्यार्थमाहुः **सदानन्दो वाच्य** इति. अन्यगीतस्य स्ववक्तृवाचकत्वनियमाभावेपि भगवतोधिकस्य कस्यचिदभावात् भगवत्कृतं गीतं सदानन्दवाचकमेव भवति. अतः सदानन्दकृतगीतस्य सदानन्द एव वाच्यः. अयमस्मिन्नादे विशेषः— अन्यकृतनादस्तु सरिगमादिरूपः स्वरमात्ररूप इति भावः, तस्मान्नाद-निष्ठरसानुभवार्थमत्रैव नादे कर्णोत्तम्भनं नान्यनादे इत्यर्थः. ननु भगवद्गीतस्य सर्वस्यैव सदानन्दवाचकत्वात् पूर्वश्लोकोक्तदेवस्त्रीणां कथं न रसानुभव इत्यत आहु**र्मुखमि**त्यादि. तत्र सामग्री गुप्तैव स्थापितात्र प्रकटितेति पदत्रयेण सूचितमित्यर्थः. "द्वया ह प्राजापत्या" इत्यत्राधिदैविकसहितेन्द्रियस्य कल्याणत्व-कथनेन तादृशशब्दस्यैव प्रमितिजनकत्वाद् देवता वागिन्द्रियं च शब्दनिष्ठरसप्राप्तौ

योजना

भावः. **मुखं वागधिपतिरि**ति भगवन्मुखमग्निरित्यर्थः, अग्नेर्वाग्देवतात्वाद् भगन्मुखस्याग्निरूपत्वाद् वागधिपतित्वम्. तादृश**मुख**पदोक्त्या तापजनकत्वं सूचितम्. तेन भगवन्मुखवेणुगीतपीयूषं पिबतोपि तत्पीयूषस्यातिरसालत्वेन तद्विषयकपरमार्त्या बहुपानं सम्भवतीति प्रयोजनं सिद्धम् ॥१३॥

टिप्पणी

कृष्णमुखनिर्गतेत्यत्र, **मुखं वागधिपतिरि**त्यादि. अत्रायं भावः— पूर्वश्लोके देवस्त्रीणां मोह एवोक्तो, वस्तुसामर्थ्यात्, न तु रसपानमपि. गवां भगवदीयत्वात् भगवत्सङ्गत्वात् प्रियत्वाच्च रसपानमुच्यते. तत्र सुरस्त्रीणां यत्र तथात्वं तत्रैतासां पशुजातीयत्वेन तदसम्भावितमित्याशङ्कानिरासाय नेदं साधारण्येन गानं किन्तु [1]यथैव तासामपि रसानुभवो भवति तथा सर्वसामग्रीप्रकटनपूर्वकमिति ज्ञापनायेति. अत एवाग्रे हृदि प्राकट्यं स्पर्शश्चोक्तः. आधिदैविकसम्बन्धमात्रेण यत्राध्यात्मिकाधिभौतिकयोरपि कार्यकरणसामर्थ्यं, तत्र साक्षादाधिदैविकस्यैव करणत्वे किं वाच्यं कार्यसम्पत्ताविति **वागधिपति**त्वाद्युक्तेस्तात्पर्यम्. एतेन शब्दनिष्ठरसप्राप्तौ साधनसम्पत्तिरुक्ता भवति. किञ्च वाच्यार्थाज्ञाने रसस्वरूपा-ज्ञानात्तत्कार्यासम्भव इति शङ्का **कृष्ण**पदार्थोक्त्या निरस्ता. स्वरूपात्मकत्वादर्थस्य स्वत एव [2]प्रकटत्वाज्ज्ञानसाधनानामनपेक्षणाद् बलवत्त्वाच्च न पशुत्वादिकं प्रतिबन्धकमतः सर्वमवदातम्. अपरञ्च **कृष्णमुखान्निर्गतस्य** तत्रापि परम्परासम्बद्धस्य **पीयूषस्य** यत्रैतादृशत्वं, तत्रापि पशुषु, तत्र साक्षान्मुखपान-कर्त्रीषु किं वाच्यमित्युत्कण्ठाज्ञापनायापि निर्गमनाद्युक्तिरिति ज्ञेयम्. अन्यच्च, मुखस्याग्नित्वेन साक्षात् तत्पानकर्त्रीणां कदाचित्तत्पीयूषं तापमप्युत्कटं जनयति. इदं तु तस्मान्निर्गतत्वेन सदैवानन्दजनकमेव, न तु तथा, तस्माद्भिन्नत्वेन परम्परा-

लेखः

सामग्री. इतरविस्मृतौ निःप्रत्यूहं रसानुभवो भवतीति सापि सामग्रीति ज्ञेयम्. शाब्दबोधे शब्दः करणमतस्तत्सम्बन्धिनो धर्माः सामग्रीति भावः. टिप्पण्यां **वागधिपतित्वाद्युक्तेरित्यादि**पदात् त्रिष्वपि कैमुत्यमुक्तम्. तथा च यत्राधिदैविकस्य करणत्वं वाङ्निर्गमनरूपविषयस्येन्द्रियत्वमितरविस्मारकश्च द्वारं तादृशशब्दाद् रसानुभवे किं वाच्यमिति कैमुत्येन रसपानं सूचितं भवति. भगवति देवतानां गोलकत्वं विषयाणां चेन्द्रियत्वमिति द्वितीयस्कन्धे व्यवस्थापितम्, अतो **मुख**पदं देवतावाचकं **निर्गम**पदं चेन्द्रियवाचकमिति भावः. एवं सामग्रीतो विशेषमुक्त्वा स्वरूपतोप्याहु**र्गीतमि**ति. पूर्वोक्तं गीतं विचित्रं सर्वरसार्थमित्युक्तम्, इदं तु **पीयूष**त्वकथनात् **षड्गुणा आत्मनि** यस्य तादृशं भगवद्रूपमित्यर्थः. अधरपीयूषस्य षड्गुणत्वमग्रे व्युत्पाद्यम्. **अत** इति, सामग्र्या अपेक्षितत्वात् तां

१. यथैतासामपि मू. पा. २. प्रकटत्वात्तद्ज्ञान - मू. पा.

सर्वां सामग्रीं वक्तुमेतावदुक्तम्. अन्यथा 'कृष्णगीतपीयूषमि'त्येव वदेयुः. इतरगीतपीयूषनिवृत्त्यर्थं **कर्णानामुत्तम्भनम्.** प्रतिक्षणं नूतनकर्णत्वात् प्रत्येकपक्षेपि बहुवचनं सङ्गच्छते. **पुट**शब्देन तदर्थमेव [1]कर्णसम्पादनमिति ज्ञापितं; न हि पर्णपुटे पुनः कार्यान्तरं भवति, चषकादिकं तु बह्वर्थं भवेत्. पुटानां बहुत्वं प्रतिक्षणं नूतनरसतां बोधयति, व्यवस्था तु पूर्वोक्तैव. **शावा** बालका हरिणादीनामन्यजीवानां वा[2] गवामेव वा, अतिबालका घोषे वा. **स्नुतं स्तनात्**.

टिप्पणी

सम्बन्धाच्च तद्धर्मासम्भवात्. अत एव साक्षात्सम्बन्धानन्तरं यादृशस्तापस्तादृशो न पूर्वं किन्तु सहजसम्बन्धात्तद्धर्मवत्त्वस्यापि सहजत्वात्कश्चन तापं जनयतीति ज्ञापनाय तावदुक्तमिति. **प्रतिक्षणं नूतनकर्णत्वा**दिति, **पुट**त्वोक्त्या तत्र यथैकेन रसेन पूर्णे द्वितीयरसावकाशो न सम्भवति तथैकैकक्षणसम्बन्धि-नादरसस्यापि[3] तत्त्वात् तेन पूर्णे पुटे द्वितीयादिक्षणसम्बन्धिनां तेषां प्रवेशासम्भवात्तत्पानार्थं द्वितीयादिपुटापेक्षावश्यकीति तथात्वम्. अन्यथा करणाभावेन नादग्रहणासम्भवाद् द्वितीयादिपानमेव न भवेत्. अत्रैवं ज्ञेयं— भगवत्सम्बन्ध्यर्थो न लौकिकेन्द्रियग्राह्यः किन्त्वलौकिकैरेव तैः. प्रभुदित्सा च तत्र हेतुः. तथा च तयैव तावत्साधनसम्पत्तिर्भवतीति नानुपपत्तिः काचित् ॥१३॥

प्रकाशः

नित्यत्वहानिरिति तत्परिहारायाहुर्व्य**वस्थे**त्यादि. "चूतप्रवाले"तिश्लोक एव कारिकाभिः स्फुटीकृतेति प्रणाडीविशेषेणाविर्भावप्रकारभेदेपि न नित्यत्वहानि-

लेखः

वक्तुं मुखेत्यादिपदत्रय**मुक्तमि**त्यर्थः. **अन्यथे**ति पदत्रयस्य सामग्रीप्रकटनतात्पर्य-कत्वाभावे इत्यर्थः. ननु तथाप्युत्तम्भनं किमर्थमित्यत आहु**रितरे**ति. **अतिबालका** इति. किञ्चित्प्रौढा वत्सास्तु गोष्ठ एव तिष्ठन्तीति तेषां तादृशत्वम-सम्भावितमि**त्यति**पदम्. **घोषे वे**ति. सायं गवां घोषे समागमनानन्तरं वा वत्सानामेवम्भावः. तदा प्रौढवत्सानामपि तथा सम्भवती**त्यति**पदं न देयमिति भावः. **स्तनादि**ति गृहीतमिति शेषः. तथा च स्तनगृहीतं पयःकवलं **स्तनपयःकवलं**, मध्यमपदलोपी समासः, **स्नुतं** तद् येषामिति विग्रहः. मातॄणां **स्तनाद्** गृहीतं **पयःकवलं** येषां मुखात् **स्नुतं** बहिर्निर्गतं भवतीत्यर्थः. स्रावे हेतु**र्न**

१. °निष्पाद°. २. लुप्तम्. ३. रसस्यामितत्वात् तेन मू. पा.

पयः कवलरूपं येषां, न तस्य पयसोन्तःप्रवेशः. इदं सन्दिग्धमिति प्रमाणमाहुः **स्मे**ति. **तस्थुर्गावः शावाश्च.** उभयेषामपि तथात्वे हेतुमाहु**र्गोविन्दमात्मनि दृशाश्रुकलाः स्पृशन्त्य** इति. तासां न बहिःसंवेदन यतोऽन्तर्भगवन्तं स्पृशन्ति. तत्रापि **दृशा**वृत्तचक्षुषा भगवन्तं[1] **स्पृशन्त्य**[2] इति न भावनामात्रं किन्त्वाविर्भूत[3]इति ज्ञापितम्, अन्यथा कथं तुल्यता स्फुरति? बहिरदर्शने हेतु**रश्रुकला** इति, अश्रूणां कला यासाम्. **गोविन्द**पदं गवां हृदय आविर्भावे दोषाभावार्थं, यतोऽयं तेषामेवेन्द्रः ॥१३॥

पक्षिणां श्रवणं सङ्गाभावाद् ज्ञानाभावाच्चासम्भावितं मत्वा सम्भावना-

प्रकाशः

रित्यर्थः. नन्विदं सर्वमाविर्भावे सङ्गच्छते तत्रैव किं मानमित्याकाङ्क्षायां मूलाशयमाहु**र्भगवन्त**मित्यादि. तथा च स्पर्शान्यथानुपपत्त्यैवाविर्भावसिद्धिरिति भावः. उपचारव्युदासाय कार्यद्वारापि परिचाय**यन्त्यन्यथे**त्यादि. उक्तमोहप्रयोजिका स्वस्य भगवत्तुल्यतेत्यर्थः ॥१३॥

लेखः

तस्येति, यत इति शेषः. ग्रहणे इव नादश्रवणे गिलनक्रियाया निवृत्तत्वात् **तस्य पयसो नान्तःप्रवेशो** यतोऽतः स्राव इत्यर्थः. **सन्दिग्धमि**ति, ग्रहणगिलनयोर्मध्ये कालस्य दुर्लक्ष्यत्वादिति भावः. **प्रमाणमाहुरि**ति. **स्म**पदस्य प्रसिद्ध्यर्थकत्वात् प्रसिद्धिहेतुभूतं प्रत्यक्षं प्रमाणं **स्म**पदेन सूचितमित्यर्थः. **तस्थुर्गाव** इति, मोहो गवामेव, पयःस्रावश्च शावानामेव, क्रियानिवृत्तिस्तूभयेषामपीत्यर्थः. **तथात्वे** इति क्रियानिवृत्तौ, दृशात्मनि गोविन्दस्पर्शो हेतुरित्यर्थः. **स्पृशन्त्य** इतिस्त्रीलिङ्गप्रयोगेपि वत्सानामपि क्रियानिवृत्त्युक्त्या तद्धेतुः किञ्चित्स्पर्शः समभिव्याहारात् प्राप्त एव, गवां तु पूर्वार्धोक्तरसपानत्वात् सर्वथा तथेति भावः. **तुल्यते**ति, हीनजातीयानां ब्रह्माविर्भावे तुल्यतास्फूर्त्या स्पर्शः सम्भवतीत्यर्थः. **दोषाभावार्थमि**ति, हीननिष्ठत्वेन भावाभासत्वाभावार्थमित्यर्थः. **तेषामेवे**ति गवादीनामित्यर्थः. **इन्द्रः** परमैश्वर्यं प्राप्तः पुष्टिमार्गीयं, तत्र मर्यादातिक्रमो भवतीति भावः ॥१३॥

प्राय इत्यस्याभासे **श्रवणमि**ति नादनिष्ठरसानुभवः शक्तितात्पर्यनिर्धार इत्यर्थः. अत एवानुवादे "सर्वं तत्त्वं ज्ञातवन्त' इति वक्ष्यते. **सङ्गे**ति. मृगीणामिव

१. लुप्तम्. २. स्पृशन्तः. ३. °तमिति.

निरूपणपूर्वकमुपपादयन्ति **प्राय** इति.

प्रायो बताम्ब विहगा मुनयो वनेस्मिन् ।
कृष्णेक्षितं तदुदितं कलवेणुगीतम् ॥
आरुह्य ये द्रुमभुजान् रुचिरप्रवालान् ।
शृण्वन्ति मीलितदृशो विगतान्यवाचः ॥१४॥

एता निर्गुणा अत एव यशोदया सह स्नेहस्तद्गृहकन्यका वा. यथा गवां धनस्य रत्नानां सङ्ग्रह एवमेवोत्तमकन्यकानामपि. द्रव्येण क्रीतास्ता गृहे परिपाल्यन्ते राज्ञां दानार्थे. ता [1]यशोदानन्दगोपकुमारिका **अम्बे**त्याहुः. सिद्धवन्निरूपणे का एता इति सन्देहो भवेदतः **प्राय** इत्याहुः, **प्रायः** प्रायेण. **बत** इति खेदे, कथमेतादृशीं योनिं प्राप्ता इति. हर्षे वा, साधु तैरयमुपायः कृत इति. **अम्बे**ति सम्बोधनं दयार्थं, भगवदाविर्भावादिति केचित्. अतस्तासां वाक्याद् **विहगा मुनय** एव बाहुल्येन. ते हि **मुनयो** मननशीला, जानन्त्यत्र भगवानाविर्भविष्यतीति. अत **एवास्मिन् वने कृष्णेक्षणाः**– कृष्णार्थमेव क्षणो येषां कृष्ण एव वेक्षणं येषाम्. भगवन्तं पश्यन्त एव **तदुदितं कलवेणुगीतं द्रुमभुजानारुह्य शृण्वन्ति.** यावद् भगवतो वेणुनादो न श्रुतस्तावद् रूपमेव पश्यन्तः स्थिता. यदा पुनर्वेणुनादमारब्धवांस्तदोभयं कृतवन्तो. यदा पुनस्ततो भगवान् दूरे गतस्तदोड्डीयान्यत्रगमने वेणुनादरसो गमिष्यतीति तत्रैव स्थिताः. कदाचित् स रसो रसान्तरमुत्पादयिष्यति रसान्तरेण वा प्रतिबन्धो भविष्यतीति नाशङ्कनीयं, यतः **कलमव्यक्तमधुरं वेणुगीतं, ततो** भगवतः सकाशा**दुदितं** नादब्रह्मात्मकं वेणुरप्यव्यक्तमधुरस्ततो मधुर एव रस उत्पद्यत इति. **गीतं** वा भगवदुक्तपरमार्थप्रतिपादकं; तदा **तदुदितमि**ति विशेष्यम्. वेदशाखा इव **द्रुमभुजानारुह्य** पतनमारणादिशङ्काभावात् निश्चिन्ताः **शृण्वन्ति.** मनसो विषयान्तरसञ्चाराभावाय भगवति दूरे गते दर्शनाभावात् मननाभ्यासाच्च **मीलितदृशो** जाताः.

टिप्पणी

प्रायो बताम्बेत्यत्र, **सम्बोधनं दयार्थमि**ति, दयया भगवान्निकट[2] एव

लेखः

कृष्णसारसङ्गाद् गवामिव कृपया स्वत एव ज्ञानसामग्रीप्रकटनेन ज्ञानसम्पादनाद् वा तथा भवतीति भावः. **सम्भावनेति**– मुनित्वनिरूपणपूर्वकमित्यर्थः.

व्याख्याने **भगवदाविर्भावादि**ति. सर्वात्मकस्य भगवतो माता सर्वेषामेव मातेत्येता **अप्यम्बे**त्युक्तवत्य इत्यर्थः. एतद्विषयकपतितत्वस्य वक्ष्यमाणत्वादेवं-व्याख्यानमसमञ्जसमिति **केचिदि**त्युक्तम्. स्वयं तु गृहकन्यकापक्षे तत्त्वे**नाम्बे**ति-व्यवहारो; भिन्नपक्षेपि दयार्थं तथेत्युक्तमेव. मुनित्वं श्रोतॄन् प्रति स्वयमुपपादयन्ति **अत** इति, वक्त्रीणां कुमारिकात्वेन ऋषित्वादित्यर्थः. **ते ही**ति ये विहगास्त इत्यर्थः. मूले **ये** इति पदस्य **ये विहगास्ते मुनयो**ऽत एवं **शृण्वन्ती**ति पूर्वत्रान्वयो

---

१. यशोदां नन्द°. २. भगवन्निकट मू. पा.

प्रकाशः

प्रायो बताम्बेत्यत्र **अत** इति ऋषित्वादित्यर्थः. **रसान्तरमि**ति विजातीयं लौकिकं वा. **मधुर एवे**त्यनेन विजातीयनिवृत्तिरुक्ता **भगवदुक्ते**त्यादिना च लौकिकतन्निवृत्तिः ॥१४॥

लेखः

ज्ञेयः. उत्तरत्रान्वये श्रवणं मुनित्वे हेतुः स्यान्न तु मुनित्वं श्रवणे, तथा चाभासो विरुध्येत. **अत्रे**ति, **अत्र** नादे सुधारूपो **भगवानाविर्भविष्यती**त्यर्थः. **अत एवे**ति, मुनित्वादेव पूर्वोक्तं ज्ञात्वैवं शृण्वन्तीत्यन्वयः. **कृष्णार्थमेवे**ति, **येषां क्षणः कृष्णार्थमेव** भगवद्भावनयैव यातीत्यर्थः. **यावदि**त्यादि **द्रुमभुजानारुह्य** पूर्वं **कृष्णेक्षणा**स्ततस्तादृशा एव **शृण्वन्ति**, ततो **मीलितदृशः शृण्वन्ति.** कृष्णेक्षणत्वे मीलितदृक्त्वं न सम्भवतीत्येवं विभागेन व्याख्यानम्. **तत्रैव स्थिता** इति **मीलितदृश** इति शेषः. **रसान्तरमि**ति, नादः स्वनिष्ठस्वरूपदिदृक्षामव्यक्तत्वान्नोत्पादयिष्यतीत्यर्थः. तथा सत्युड्डीय गमनं स्यादिति भावः. **रसान्तरेण वे**ति, पूर्वानुभूतेन कृष्णेक्षणरसेनोड्डीय गमनं नादस्य मधुरत्वान्न भविष्यतीत्यर्थः, वेणोः कलत्वं व्युत्पादयन्ति **तत** इति. **गीतं वे**ति **मधुरमेवोत्पद्यत** इति पूर्वेणान्वयः. गीतनिष्ठं माधुर्यमाहु**र्भगवदुक्ते**ति. गीतस्य विशेष्यत्वपक्षे **उदितमु**दयं प्राप्तमित्यर्थः, द्वितीये **उदितं** कथितमित्यर्थः. मुखमुद्रणे हेत्वन्तरमपि स्वयमाहुः **कोलाहलश्चे**ति, स्यादिति शेषः ॥१४॥

योजना

प्रायो बताम्ब विहगा इत्यस्य विवृतौ **तदा तदुदितमिति विशेष्यमि**ति. प्रथमपक्षे तु **द्रुमभुजानारुह्य कलवेणुगीतं शृण्वन्ती**त्यर्थः. कथम्भूतं कलगीतम्? **तदुदितं** तेन भगवतोदितं बोधितम्. एवं **कलवेणुगीतमि**ति विशेष्यम्. अस्मिन् पक्षे तु **द्रुमभुजानारुह्य तदुदितं शृण्वन्ती**त्यन्वयः. कथम्भूतं तदुदितं? **कलवेणुगीतमि**ति विपरीतो विशेष्यविशेषणभाव इत्यर्थः ॥१४॥

विशेषेण गता अन्यविषयिका वाचो येभ्यः, भगवदुपयोगिवागत्यागज्ञापनायान्यपदम्. एतच्च सार्वदिकमिति ज्ञेयम्. अन्यथा श्रवणकाले वाचस्तत्प्रतिबन्धकत्वेनैवाभावः सिद्ध इति तदुक्तिर्निरर्था स्यात्. तथा च सदैतद्रसानुभवो हृदीति ज्ञापितं भवति. एतेनास्य नादस्यालौकिकत्वं दुर्लभत्वं चोच्यते, न हि मुनीनामतादृशेऽर्थे आसक्तिः सम्भवति. तेषां शरादिभयाभावार्थमाह **रुचिरप्रवालानिति**, पल्लवा उत्तमाः कोमलपत्राण्याम्रादिस्थितानि दृष्टिमुद्रणेऽपि हेतुरन्यथा प्रवालदर्शनं स्यात्, मुखमुद्रणेऽपि हेतुरन्यथा तेषां भक्षणं स्यात्. कोलाहलश्च सम्भवति, शकुनभाषणमन्योन्यं पदार्थनिरूपणं वा.

[1](यद्यप्युक्ता एते हेतवस्तु साधका एव भवन्ति तथापि मन्मनस्येवं भाति, यतो यन्नादरसपराः स्वरूपरसान्तरायमपि सहन्ते, तेन तात्पर्यान्तरमपि ज्ञेयम्. तथा हि– **भुजपदतात्पर्यं** पूर्वमेवोक्तम्. कदाचिद् वेषशय्याद्यर्थं तत्र भक्तानां प्रभोर्वा तदानयनार्थं तदारोहणे सान्निध्यरसोप्यनुभूतो भविष्यतीत्याशया तत्रारूढा इति विशेषणतात्पर्यम्. नेत्रानिमीलने पल्लवानयनार्थं भक्तानां निःशङ्का प्रवृत्तिर्न स्यादिति तथाकृतिः. वाङ्निरोधहेतुः स्पष्टः). ॥१४॥

भगवद्वेणुनादेन नद्यादिषु जातमाह **नद्यस्तदेति**.

नद्यस्तदा तदुपधार्य मुकुन्दगीतमावर्तलक्षितमनोभवभग्नवेगाः ।
आलिङ्गनस्थगितमूर्मिभुजैर्मुरारेर्गृह्णन्ति पादयुगलं कमलोपहाराः ॥१५॥

यदा मुनयो भगवतानुगृहीता वेणुद्वारा सर्वं तत्त्वं ज्ञातवन्तस्तदा **नद्योपि**

टिप्पणी

स्थापयेदिति भावः. **तेषां शरेति** पल्लवैरेवावृताङ्गत्वेनान्यदर्शनाभावाच्छरादिभयाभाव इति केचित् ॥१४॥

नद्यस्तदेत्यत्र, [2]**सर्वतत्त्वं ज्ञातवन्त** इति, भगवत्स्वरूपात्मकरसतत्त्वं ज्ञातवन्त इत्यर्थः ॥१५॥

योजना

नद्यस्तदेत्यस्याभासे भगवद्वेणुनादेन नद्यादिषु जातमाहेति. **नद्यादिष्वित्यत्रादिपदेन** सरोवरह्रदा गृह्यन्ते. यद्यपि मूले **नदीपदमात्रमस्ति** तथापि व्रजे नद्यन्तरस्याप्रकटत्वात् केवलं श्रीयमुनाया एव विराजमानत्वात् **नद्य** इतिबहुवचनेन सरोवरादीनां ग्रहणमिति ज्ञापयितुं **नद्यादिष्वित्युक्तम्** ॥१५॥

१. इदं स्वतन्त्रं श्रीमत्प्रभुचरणकृतं क्वचित्पुस्तकेषु श्रीसुबोधिन्यन्तःसंश्लिष्टं दृश्यते.
२. सर्वं तत्त्वं मू. पा.

वयमपि कृतार्था भविष्याम इति **तदुपधार्य** मुनीनां ज्ञानोपदेशं निश्चित्य. **तत्** प्रसिद्धं मोक्षदातु**र्गीतं** श्रु**त्वावर्तेन** भ्रमणेन मूर्च्छया **लक्षितो** योऽयं **मनोभवस्तेन** स्तम्भजनकेन **भग्नो वेगो** यासां; स्वाभाविकी गतिः कुण्ठिता. **मनोभवो**ऽत्र विवेकः, अचेतनप्रायाणामपि भगवत्सम्बन्धाकाङ्क्षेत्याहुः. न स्थितिमात्रेण तदासक्तिर्भवत्यौषधादिनापि तथा सम्भवादत आह**आलिङ्गनार्थं स्थगितं** स्थिरीभूतं भगवतः **पादयुगलं कमलोपहाराः** सत्य **ऊर्मिरूपैर्भुजैर्गृह्णन्ति** स्वहृदयकमलं भगवच्चरणारविन्दे दत्वा तत् स्वयं गृह्णन्ति. नदीनामपि देवतात्वात् ताभिः सह नान्या लीला सम्भवत्यत आलिङ्गनार्थमेव स्थितिः. प्रयोजनार्थमुक्तं **मुरारेरिति**. मुरो हि जलदोषात्मकाविद्यारूपस्तस्यारित्वादवश्यं चरणसम्बन्धे नदीगतामविद्यां नाशयिष्यति ॥१५॥

मेघानामाहु[1]र्दृष्ट्वेति.

दृष्ट्वातपे व्रजपशून् सह रामगोपैः सञ्चारयन्तमनुवेणुमुदीरयन्तम् ।
प्रेमप्रवृद्ध उदितः कुसुमावलीभिः सख्युर्व्यधात् स्ववपुषाम्बुद आतपत्रम् ॥१६॥

आतपे शरत्कालसम्बन्धिनि **व्रजपशून्** सर्वदा छायाभ्यासयुक्तान् सर्वदा रक्षका **गोपा** अभितो रतिवर्धको **राम** एतैः सहितमेतैर्वा **सञ्चारयन्तं** सर्वसामग्रीसहितं देवतावेदसहितं धर्मसहितं **तदनु वेणुमुदीरयन्तं** सर्वेषामाधि-

प्रकाशः

नद्य इत्यत्र **भवतीति** ज्ञाता भवतीत्यर्थः ॥१५॥

आतपेति. सामग्रीत्यस्यैव विवरणं **देवतावेदे**त्यादि. **दृष्ट्वे**त्यत्र **अनेनेति**

लेखः

नद्यस्तदेत्यत्र **तदुपधार्ये**त्येतावत आवृत्तिरित्याशयेनाहु**र्निश्चित्ये**ति **श्रुत्वेति**. अत्रत्यकामस्वरूपमाहु**र्मनोभवोत्र विवेक** इति. विवेकसहितोऽत्र मनोभवो न तु देवस्त्रीणामिव नुन्नसारत्वजनकः, तथा सति तासामिव नदीनामपि भगवत्यनागमनं स्यादिति भावः. **विवेक** इति "अर्श आद्यज"न्तम्, विवेकसहित इत्यर्थः. **नदीनामपि देवतात्वा**दिति स्वीकृतमानुषभावस्य तासामपि मानुषत्वेनावतारं विना भोग्यत्वाभावादित्यर्थः. अप्सरसामपि देवीत्वादेवानागमनमुक्तमित्यपिशब्दः. **नदीगतामविद्यामिति** भगवदतुपयोगिदेहसम्बन्धमित्यर्थः ॥१५॥

१. मेघानाहु°.

दैविकानुद्दीपयन्तं सर्वशक्तिसहितो हि ताभिः सह क्रीडति. तदावश्यं छाया-पेक्षितेति **प्रेम्णा** भगवत्स्नेहेन सख्यपर्यन्तं गतेन तादृशेन **प्रवृद्धो** मेघः **स्ववपुषा सख्युरातपत्रं व्यधात्. प्रवृद्धमुदित** इतिपाठे **प्रवृद्धश्चासौ मुदितश्च. प्रेम प्रवृद्धं** यथा भवति तथा **वोदितः**. अतः **कुसुमावलीभिः** सूक्ष्मस्वकणिकाभि"र्मेघपुष्पं घनरस"इति कोशात्. पूर्वमनेन सख्यपर्यन्तं भक्तिः कृतेदानीमात्मनिवेदनं कृतवान्. प्रेम्णैव प्रवृद्धः श्रवणमारभ्य सख्यपर्यन्तमागतः स्नेहवशाद् वा स्थूलो जातः. कामरूपिणस्ते यथाभिलषितं रूपं कुर्वन्ति. प्रकृते भगवत्स्नेहाद् यथाभिलषितं रूपं कृतवान् यावता सर्वेषां छाया भवति. ननु स्वस्यापि क्लेशो भवतीति किं दुःखेन तथा कृतवान्? नेत्याह **मुदित** इति. यावज्जन्म यो भक्त्यैव वर्धते सोऽन्ते कृतात्मनिवेदो भवति. लोकोपकारित्वात् नीलत्वाद् जीवनदातृत्वाच्च सख्यमिति केचित्. सर्वस्वमपि दत्तवानिति ज्ञापयितुं **कुसुमावलीभिः सहे**त्युक्तम्. अनेन साक्षाल्लक्ष्म्या सह भगवतः क्रीडा सूचिता. अत एवाग्रे पुलिन्दीनां स्तोत्रं भविष्यति. गोपैर्गोचारणं बलभद्रेण रक्षा वेणुनादेन प्रबोधनं पश्चाद् रमणमिति शेषवदंस्यापि **सखित्वात्** तादृशेपि समये छायाकरणं युक्तमेव ॥१६॥

पूर्णाः पुलिन्द्य उरुगायपदाब्जरागश्रीकुङ्कुमेन दयितास्तनमण्डितेन ।
तद्दर्शनस्मररुजस्तृणरूषितेन लिम्पन्त्य आननकुचेषु जहुस्तदाधिम् ॥१७॥

वनवासिक्षुद्रजातीयाः पुलिन्दास्तेषां पत्न्यः **पुलिन्द्यः**. भगवन्नैकट्यात् तासामपि भक्तिर्जातेत्याह **पूर्णा** इति. सर्वापेक्षया **पुलिन्द्य** एव **पूर्णाः**, तासां साक्षाद्भगवच्चरणारविन्दरजस्सम्बन्धो वर्तत इति. उरुभिर्गीयत इत्यु**रुगायो** भगवान् सर्वप्रमाणसिद्धः सर्वगुणपूर्णस्तस्य **पदाब्जं** चरणारविन्दद्वयं तत्र यो **राग**स्तत्सहिता **श्रीः**. महता विचारेण हि लक्ष्मीर्भगवन्तं[1] वव्रे. [2]तच्चरणारविन्दभक्ता या लक्ष्मीस्तस्या यत् **कुङ्कुमं** तयैव निष्पादितं दिव्यं कुङ्कुमम्, अर्थात् तयैव भगवच्चरणारविन्दे दत्तं, तत् पुनर्बन्धविशेषे लक्ष्म्या एव **दयिताया** रसदातृत्वेन प्रियायाः **स्तनयोर्मण्डितं** तया वा स्वहृदि[3] स्थापितम्. अथवा लक्ष्म्या दत्तमाधिदैविकीषु शक्तिषु **स्तनेषु मण्डितं** ततश्चरणारविन्दे [4]समागतम्. अथवा **तृणरूषितेन तृणेन** कृत्वा **कुङ्कुममेव** मकरिकापत्रवद् **रूषितं**, तदा तत् **कुङ्कुमसहितं तृणं** भगवद्धस्तस्थितं भूमौ पतति. **तृणेषु** वा **रूषितं** संलग्नं चरणारविन्दात्. तादृशस्य कुङ्कुमस्य **दर्शनेन**; लक्ष्म्या ताभिर्वा सह भगवत्सम्भोग**दर्शनेन** वा, **स्मरकृता रुग्** यासां तास्**तद्दर्शनस्मररुजः**. तदा तच्छान्त्य-

---

प्रकाशः

छायादिकरणकथनेन, तस्यासाधारणलक्ष्मीचिह्नत्वादिति प्रतिभाति. उपष्टम्भाय गमकान्तरमाहु**रत एवे**त्यादि ॥१६॥

लेखः

दृष्ट्वेत्यत्र **सर्वशक्ती**ति ज्ञानक्रियाशक्तिसहित इत्यर्थः ॥१६॥

पूर्णा इत्यत्र **साक्षादि**ति. अलौकिकदेहक्रमेण फलत्रयस्य सेवाफलोक्तस्य सम्पत्तिस्तु रजसैव भवतीति ता एव पूर्णाः. वृन्दावनस्य देवकीसुतपदाम्बुजत्वं पूर्वं व्युत्पादितम्, एतासां सततं तत्र स्थितिरतः साक्षाद्रजःसम्बन्धात् पूर्णा जाताः. पूर्णतास्वरूपं श्लोकान्ते निरूपयिष्यन्ति. एतासां त्वाराधनेन फलसिद्धिरतः साधनानुरूपमेव फलं, तद् वक्ष्यन्त्यग्रिमाध्याये "याताबला" इति श्लोके.

लेखः

उरुगायेत्यस्यावान्तरपदद्वयार्थमाहुः **सर्वे**ति. **रागो**ऽनुराग इत्यर्थः. एतल्लक्ष्म्या दाम्पत्याभावाद् दयितात्वं व्युत्पादयन्ति **रसदातृत्वे**नेति. **तया वे**ति, लक्ष्म्या स्वालङ्कारार्थमेव निर्माय स्वहृदये लिप्तमित्यर्थः. **अथवे**ति, **शक्तिषु लक्ष्म्या** प्रसादत्वेन **दत्तं** ताभिः स्वस्तनेषु मण्डितं, तदा लक्ष्म्या **दयितानां** प्रियाणां शक्तीनां **स्तनेषु मण्डितेने**ति मूलार्थः. **तत** इति, लक्ष्मीस्तनाच्छक्तिस्तनाद्वा बन्धविशेषे भगवच्चरणारविन्दे समागतमित्यर्थः. एतमेव पक्षमाश्रित्य **तृणेषु रूषितमि**ति वक्ष्यते. आद्यपक्षेषु लक्ष्म्या शक्तिभिर्वा स्वस्तनस्थितं पुलिन्दीभ्यो दत्तं ताभिः स्वस्तने तृणेन रूषितमिति **तृणरूषित**पदस्यार्थः. एतस्यैव पदस्यार्थान्तरमाहु**रथवे**ति. अस्मिन् पक्षे भगवता **दयिताया** लक्ष्म्याः शक्तीनां वा **स्तनेषु मण्डितेने**त्यर्थः. "कुङ्कुमेन कुचान् लिम्पन्त्य" इति वक्तव्येपि क्वचिदप्यवयवेषु तल्लिम्पनमाधित्यागहेतुरिति कुचानामीप्सिततमत्वाभावात् **कुचेष्वि-**

योजना

पूर्णाः पुलिन्द्य इत्यस्य विवरणे **तद्द्वारा लक्ष्मीप्रवेशात् ता अप्युपभुक्ता** इति. इह पुलिन्दीभिः सह रमणं भगवतः, **जहुस्तदाधिमि**तिवाक्येनाधित्यागोक्तेः. अन्यथा श्रीसम्बन्धिकुङ्कुमस्याननकुचेषु सम्पर्के कामाधिसम्भव एव स्यान्न तु पीडानिवृत्तिः. अत आधित्यागकथनान्यथानुपपत्त्या रमणं ताभिः सह बोध्यं,

---

१. लुप्तम्. २. अतश्चर°. ३. हृदये. ४. वा समा°.

र्थमाननकुचेषु कुङ्कुमेन लिम्पन्त्यस्तदाधिं जहुः. तत् कुङ्कुमं मुखे स्तनयोश्च दत्वा ता अपि यदोपस्थितास्तदा तद्द्वारा लक्ष्मीप्रवेशात् ता अप्युपभुक्ता[1] **स्तदाधिं जहुरतस्ताः पूर्णाः**. इयमलौकिकी भगवत्कथा. **उरुगाये**तिवचनात् ताभिरपि भगवान् श्रुत इति लक्ष्यते. एतद् वनगमने भवतीत्यस्माकं तदभावादपूर्णत्वमिति. कामस्तु वस्तुतो मनःपीडारूपः ॥१७॥

प्रकाशः

पूर्णा इत्यत्र. नन्वन्तर्भगवत्प्राकट्यस्य सत्त्वात् कथमपूर्णत्वं वदन्तीत्याकाङ्क्षायामाहुः **कामस्त्वि**त्यादि. तथा च तन्नैतन्निवर्तकम् अपितूद्बोधकमतस्तथेत्यर्थः. स्वतन्त्रे[2] **जहुरित्यस्या**न्तर्भावितण्यर्थत्वं ज्ञेयम्. नन्वाभासेन पुलिन्दीनामेतद्विषयकभगवदाधिहारकत्वं स्फुटमेव स्पष्टीकृतमिति समाप्तौ ननु भगवती-(एतासां!)-त्यादिपूर्वपक्षो न प्राप्तावसरः; समाहितौ च पुलिन्दीतापजन्यभगवत्तापहारकत्वं पुलिन्दीनामुक्तमित्याभासविरोधश्चेति चेदुच्यते— एतद्विषयकभगवदाधिहारकत्वं न यादृश-तादृशां किन्तु भगवद्दर्शन-जनितरिरंसाभरतापक्लेशदर्शनजन्य-भगवदाधिप्रयोजिकानामेव. तथा च पुलिन्दीनां तादृशत्वाभावात् कथं तथात्वमिति पूर्वपक्षाशयः. तद्वतां तथेति समाहित्याशयः. तथा च पूर्वोक्ताधिहारकत्वयोग्यतानिरूपकोऽयमग्रिमग्रन्थः. वस्तुतस्तु तद्विषयकोप्याधिरेतद्विषयक एव, लक्ष्मीप्रवेशानन्तरमेव रमणात्. अतोपि पूर्णात्वमाननं युक्तमेवेति भावः ॥१७॥

लेखः

त्युक्तम्. आननकुचेषु स्वात्मानं लिम्पन्त्य इत्यर्थः. **लक्ष्मीप्रवेशादि**ति लक्ष्म्यावेशादित्यर्थः. एतस्य कुङ्कुमस्य लक्ष्म्यसाधारणधर्मत्वात् तद्धारणे लक्ष्म्यावेशादयोगोलकन्यानेन लक्ष्मीत्वमेव सम्पन्नमिति भावः. **अत** इति, रजसा योग्यतासिद्धौ कुङ्कुमधारणेन लक्ष्म्यावेशे जाते सत्युपभोगेन त्यक्ताधित्वादित्यर्थः. अस्माकं त्वाधिरस्तीति भावः. **अलौकिकी**ति, अग्रिमश्लोके तथासूचनादुत्थापनभोगसामायिकीयं कथेति तत्समये तादृशकुङ्कुमप्राप्तिस्ततो लक्ष्म्यागमने सत्येताभिः सह रमणमित्येतद्रमणकथा लक्ष्म्याप्यज्ञातेत्यर्थः. **भगवान् श्रुत** इति, तावत्पर्यन्तं लक्ष्मीसख्यः पुलिन्दीभिः सह भगवत्कथां कथयन्तीति भावः. कामस्याधिजनकत्वं व्युत्पादयन्ति **कामो ही**ति, पीडानिरूपकस्तज्जनक इत्यर्थः ॥१७॥

---

१. इति तदा°. २. द्र. परिशिष्ट (१) पृ. ५९६.

निर्गुणा आहुर्हन्तेति.

हन्तायमद्रिरबला हरिदासवर्यो यद् रामकृष्णचरणस्पर्शप्रमोदः ।
मानं करोति सहगोगणयोस्तयोर्यत् पानीयसूयवसकन्दरकन्दमूलैः ॥१८॥

कथं पुलिन्द्य एतादृश्यो जाता इत्याशङ्कायां भगवद्भक्तसङ्गात् तथात्वं जातमिति गोवर्धनस्य भगवद्भक्तत्वमाहुर्**हन्ते**ति खेदे— यद्यस्माभिरपि गोवर्धने स्थितं स्यात् तदास्माकमपि तथा भवेत् तदभावात् खेदः. **अयमद्रि**र्गोवर्धनो **हरिदासानां** मध्ये **वर्यः**. तत्र हेतुर्**यद्** यस्मात् कारणाद् **रामकृष्ण**चरणारविन्द**स्पर्शे प्रकृष्टो मोदो** यस्येति. स एव भगवदीयेषु श्रेष्ठो यो भक्तिमार्गस्य स्पर्शेप्यानन्दयुक्तो भवति. किञ्च सात्त्विकोऽयं गुणातीतो वाऽतो निर्धनोऽथापि **तयोर्मानं करोति सहगोगणयोः. गावश्च गणा** देवरूपा बालकाश्च, **तयोः पानीयसूयवसकन्दरकन्दमूलै**श्चतुर्भिरातिथ्यं करोति. **पानीयसूयवसे** गवां, **कन्दरा** स्थानं, **कन्दमूलानि** भक्ष्याणि; "तृणानि भूमिरुदकमि"तिवाक्यात् चतुष्टयसम्पत्तिरुक्ता. तत्र कोमलदूर्वा गवां भक्षणार्थेऽन्येषामास्तरणार्थे चोपयुज्यन्ते. भूमिः कन्दरैव, प्रायेणेदानीं वर्षतीति लक्ष्यते. वाक्स्थाने कन्दमूलानि, सर्वाभावे वाचो गणना. सन्तोषो भक्तस्याधिकः. **अबला** इति सम्बोधनं; सर्वासामप्यस्माकं तत्र गमने सामर्थ्याभाव उक्तः. **कन्दा** भर्जनसापेक्षा

लेखः

हन्तेत्यत्र **भगवद्भक्तसङ्गादि**ति, पर्वतप्रेरणया कन्दमूलसमानयने कुङ्कुमप्राप्तिजातेति भावः. **तथा भवेदि**ति त्यक्ताधित्वं भवेदित्यर्थः. **अथापी**ति, दासो हि मानं तनोतीति यावता दासत्वं सिध्यति न तु तद्वर्यत्वमित्येवं व्याख्यानम्. व्रजस्य सर्वसमृद्धिमत्त्वेप्ययं गुणातीतत्वान्निर्धनस्तादृशस्य पानीयकन्दादिकं स्वार्थं सङ्ग्राह्यमेव भवति तथापि प्रयच्छतीत्यर्थः. एवमपि धर्मिष्ठत्वं सिध्यति न दासत्वमित्याशङ्क्याद्यविशेषणसहितेन तत् सिध्यतीत्याहुः

योजना

रमणस्यैव कामाधिनिवर्तकत्वात्. ननु गोपिकानामपि भगवद्विषयककामवत्त्वेन धन्यत्वात् कथं पुलिन्द्य एव पूर्णत्वेन स्तूयन्त इत्याशङ्कायां न कामस्य धन्यताहेतुत्वं, संयोगं विना कामस्य दुःखदत्वात् नास्माकं धन्यत्वमिति तासामाशयः. तं स्फुटयन्ति **कामस्तु वस्तुतो मनःपीडारूप** इति, वियोगावस्थायां भगवद्विषयकः कामः प्रचुरपीडामेव जनयतीति केवलं दुःखानुभवात् न धन्यत्वं, न हि क्षुत् सुखहेतुरपितु क्षुधि सत्यामन्नभोगः सुखकरस्तद्वदिति भावः ॥१७॥

मूलानि तु तथैव भक्ष्याणि. एकरसाभावाय चोक्तमन्नव्यञ्जनभावार्थं वा. तत्राप्यवान्तरभेदा बहव इति बहुवचनम्. अनेनाबलास्वाक्रोशोपि प्रदर्शितो या नवनीतादिभक्षणे विमनस्का जाताः. अतो युक्तमेवापूर्णत्वम्. पूर्वोक्ताः पुलिन्ध इति पर्वतप्रेरणया कन्दमूलादिकं ताभिः समानीयत इति लक्ष्यते ॥१८॥

ननु तथापि वयं सजातीया योग्यास्ता विहाय तस्मिंस्तासु च कथं कृपेत्याशङ्क्याहुर्**गा गोपकैरि**ति.

गा गोपकैरनुवनं नयतोरुदारवेणुस्वनैः कलपदैस्तनुभृत्सु सख्यः ।
अस्पन्दनं गतिमतां पुलकस्तरूणां निर्योगपाशकृतलक्षणयोर्विचित्रम् ॥१९॥

विपरीतं हि भगवच्चरित्रं— साक्षाद् भगवान् न किञ्चित् करोति किन्तु साक्षिमात्रेणैव **गतिमतामस्पन्दनं** भवति **तरूणां** च **पुलकं**[1] तथास्माकं योग्याना-मयोग्यत्वमयोग्यानां पुलिन्दीनां तथात्वमिति. विपरीतसम्पादने हेतुत्रयमाह—

लेखः

सन्तोष इति. अन्ते **पर्वतप्रेरणये**ति, गोवर्धने कामरूपित्वस्य वक्ष्यमाणत्वात् केनचिद्रूपेण प्रेरयतीति भावः ॥१८॥

गा गोपकैरित्यस्याभासे **तस्मिन् कथं कृपे**ति. अस्मन्निष्ठरसं परित्यज्य तन्निष्ठकन्दादिभोग इत्यर्थः. व्याख्याने **विपरीतं ही**ति प्रमेयमर्यादानाशकमित्यर्थः. **नयतोः सतोरे**वं स्वत एव भवतीत्युक्तेरर्थमाहुः **साक्षादि**त्यादि. तथा च यत्र गोवर्धने पुलिन्दीषु च साक्षात्कृतिस्तत्र वैपरीत्ये किं वक्तव्यमिति कैमुत्यपुरःसरं दृष्टान्तो ज्ञेयः. **हेतुत्रयमि**ति कारणत्रयमित्यर्थः. गवां वने नयनं ज्ञानजननद्वारा

योजना

पानीयसूयवसकन्दरकन्दमूलैरित्यस्य व्याख्याने **तत्राप्यवान्तरभेदा बहव इति बहुवचनमि**ति. कन्दमूलेष्ववान्तरभेदानां बाहुल्यात् तेषां सर्वेषामेव भगवते निवेदनात् तेषां सङ्ग्रहार्थं **कन्दमूल**पदयोः कन्दानि च मूलानि चेतिबहुवचनेन विग्रहः कार्य इति भावः. तथा च नात्र समस्तपदगत**कन्दमूलैरि**ति-बहुवचनाभिप्राय उक्तः किन्तु लौकिकविग्रहे **कन्दमूल**पदयोर्बहुवचनान्तत्वेन विवक्षितार्थसिद्धिरिति बोधितम्. तथा च नानाप्रकारककन्दमूलानां समर्पणं हरिदासवर्येण क्रियत इति सिद्धम् ॥१८॥

---

१. °कः.

गोपकैः सहानुवनं गा नयतोः सतोरित्येकः, **वेणुस्वनैरि**त्यपरः, **कलानि पदानि** यत्रेति विशेषणेन चापरः; **पदैश्चरणैर्वा**. गावो वने-वने नीयन्ते सर्वेषामेव वनानां शुद्धिः सम्पाद्यतेऽतो वनानि निर्दुष्टानि भवन्ति. गवां गोपानां च तत्सम्बन्धो भवति, एतदीया शुद्धिर्धर्मश्च तत्र गच्छतः. तत **उदारो** यो **वेणुस्वनो** वेणुर्वोदारस्ततो वेणुभुक्तशेषं ते भुञ्जते, अतस्तेषां **पुलक** उचित एव. ये पुनर्गति-

---

टिप्पणी

गा गोपकैरित्यत्र, **सर्वेषामेव वनानामि**त्यारभ्य **तत्र गच्छत** इत्यन्तम्. **शुद्धिपदे**नाशुद्धिनिवृत्तिरुच्यते. वस्तुतत्त्वाज्ञानहेतुभूततरुत्वस्वभावोऽशुद्धि-पदार्थोऽत्र विवक्षितः. पूर्वं "कृष्णमुखनिर्गते"त्यादिना पशुत्वेपि सति तदुल्लङ्घ्यैत-द्रसानुभाविका सामग्र्युक्तेति तत्फलवत्यो गाव इति तत्सम्बन्धे सति वनस्यापि तरुत्वादिस्वभावोल्लङ्घनपूर्विका रसप्राप्तिर्भवति. गोपेषु रसिकत्वं स्पष्टम्. तदेव **धर्म**पदेनोच्यते. तदेतदुक्त**मेतदीया शुद्धिर्धर्मश्च तत्र गच्छत** इत्यनेन. गोषु 'तस्थुरि'तिपदेन क्रियानिवृत्तेरप्युक्तत्वात्तत्सम्बन्धादत्रापि तथा. वेणुस्वनयोरौदा-र्योक्त्या प्रासङ्गिकमिदं नादकार्यं वस्तुस्वभावजम्, न त्वेतदुद्दिश्य भगवतायं नादः कृत इति ज्ञाप्यते. प्रासङ्गिककार्यकथनेन यत्रैतेष्वेवैतादृश्यं[1] तत्रैतन्नाद-

प्रकाशः

गा गोपकैरित्यत्र टिप्पण्या**मत्रापि तथे**ति वनेपि क्रियानिवृत्तिः. सा "चाद्रिसान्वि"त्यादिना वृन्दावन एवोक्तेत्यतो**ऽस्पन्दनं गतिमतामि**त्यनेन सर्वत्रोच्यत इत्यर्थः. **वेणुस्वने**त्यादिना च कुलवधूत्वं तेषु **पुलक** इति च वैपरीत्य-

लेखः

परम्परया हेतुः पुलके, वेणुस्वनः साक्षाद्धेतुः, वेणुनिष्ठानि कलपदानि पक्षान्तरे भगवच्चरणानि च गतिमतामस्पन्दने हेतुरिति विभागः. **चरणैर्वे**ति अस्मिन् पक्षे कलपद"मर्श आद्यज"न्तं; कलसिञ्जितनूपुरवत्त्वात्. पदानां कलत्वं विवरिष्यन्ति **अत** इति, वने गवां नयनादित्यर्थः. वनानां निर्दुष्टत्वे हेतुमाहुर्**गवामि**ति. गोगोपसम्बन्धेन तन्निष्ठशुद्धिधर्मौ वनेषु गच्छतस्तदा निर्दुष्टानि भवन्तीत्यर्थः. ततो वेणुभुक्तशेषभोगात् पुलको भवति पुष्पमधुधारारूपः. वेणुनिष्ठकलपदानां श्रवणार्थं गतिमतामस्पन्दनं सर्वानुभवसिद्धमिति तदनुक्त्वा भगवच्चरणानां हेतुत्वं साधयन्ति **ये पुनरि**ति. **अत एवे**ति चलनाभावाद्धेतोः, तत्सिद्ध्यर्थमित्यर्थः.

---

१. °वैतादृशं मू. पा.

मन्तस्ते दोहार्थं भगवति समागते मनःपूर्वकं स्वामृतदानार्थं तत्र विघ्नाभावार्थं च सर्व एव तूष्णीं भवन्ति, शब्दशङ्कया चलन्त्यपि न. अत एव भगवतोऽव्यक्तमधुराणि पदानि भवन्ति शनैर्गमनात्. दोहकालोऽयम्, **सख्य** इति सम्बोधनं तत्र गतानां दर्शनेन सम्मत्यर्थम्. अत**स्तनुभृत्सु** स्थावरजङ्गमेषु **चित्रं** भवति. तामवस्थां ज्ञापयति **निर्योगपाशकृतलक्षणयोरि**ति, नितरां योगो [1]याभ्यां गोवत्सयोस्तौ[2] पाशौ **निर्योगपाशौ** निदाने ताभ्यां **कृतं लक्षणं** **ययोः**. हस्तेन तदुभयग्रहणं पादयोर्योजनं वा. अतो भीताः सर्व एव जङ्गमा, अस्मानपि बध्नीतेति. स्थावराणां तु भयात् स्वत एव मधुधाराः.

[3](अथ वात्र विवक्षितलीलां गुप्ततया निरूपयन्ति. गोपकैर्गवां वने निवेशनेन प्रियस्य व्यासङ्गाभावः सूचितः. तत्र[4] स्वच्छन्दरमणार्थं तादृग्भक्तागमनार्थं वेणुस्वनः दूरस्थागमनार्थमादौ तारस्ततो निर्गतानां प्रियस्थितिस्थानज्ञापको मध्यमस्ततो

टिप्पणी

विषयेषु किं वाच्यमिति ज्ञाप्यते. **अतो भीता** इत्यादि. गोनिष्ठरसग्रहणार्थं बन्धनादिप्रयासं करोति तथास्मासु प्रयासं मा करोत्वित्याशयेन प्रभुप्रयासाद्भीताः स्वत एव समर्पयन्तीत्यर्थः. **निदाने** इति पाशनामोक्तिः ॥१९॥ । इति प्रमेयप्रकरणम् ।

प्रकाशः

स्यैव पोषकमिदमपीति ज्ञापितम्. सुबोधिन्यां **तामवस्थामि**ति गतिमदस्पन्द-

लेखः

तामवस्थामिति कलचरणावस्थामित्यर्थः. **गाः नयतोर्वेणुस्वनैस्तरूणां पुलकः निर्योगपाशकृतलक्षणयोः कलपदैर्गतिमतामस्पन्दनम्**— इदं **तनुभृत्सु विचित्रं** भवतीत्यन्वयः. वेणुनिष्ठ**कलपद**पक्षे **वेणुस्वनैरि**त्यस्यावृत्तिर्विशेषणेन विशेष्यलाभो वा ज्ञेयः. **सर्व एवे**ति गोपिकादय इत्यर्थः. **बध्नीत** इति. रामकृष्णौ बध्नीतस्तदा तयोः प्रयास इतिलक्षणकभययुक्ताः अस्पन्दनपूर्वकं रसं समर्पयन्तीति शेषः. तरुषु विशेषमाहुः **स्थावराणां त्विति**. जङ्गमानामस्पन्दनेन प्रतिबन्धाभावमात्रं, रसप्राकट्यं तु भगवदुद्यमेनैव भवति; **स्थावराणां तु** भगवति वनं गते प्रभुप्रयास**भयात् स्वत एव** भगवदुद्यमं विनैव **मधुधारा** भवन्तीत्यर्थः. द्वितीयव्याख्याने **तत्त्वं युक्तमिति**

---

१. येन. २. 'स्स पाशो निर्योगपाशो. ३. इदं स्वतन्त्रं श्रीमत्प्रभुचरणकृतं श्रीसुबोधिन्यन्तःसंश्लिष्टमेव क्वचित्पुस्तकेषु दृश्यते. ४. ततः.

निकटे समागततदर्थं मन्द्रः. तत्तद्भक्तनामग्रहणेनापि स्वनानां बहुत्वम्. अन्याज्ञापनादव्यक्तानि स्वनामत्वेन ज्ञापनान्मधुराण्यतः **कलानि** नामरूपाणि **पदानि** यत्र तादृशैः **स्वनैर्गतिमतामस्पन्दनं तरूणां** च [1]**पुलकमे**तद् **चित्रम्.** एतदागमनं दिवसे, तत् तु सर्वसमक्षमशक्यं भवति, **वेणुस्वनैः** सर्वेषां तथात्वे निःप्रत्यूहं तद् भवति. उक्त**वेणुस्वनैस्तनुभृत्सू**क्तभक्तेषु सत्सूक्त**स्वनैरस्पन्दना**दिकं **चित्रमित्युदारवेणुस्वनैः कलपदैरि**तिपदयोरावृत्त्या पदसम्बन्धो ज्ञेयः. प्रियसङ्गमाभावदशायां तन्वनुसन्धानाभावात् तैरेव तदनुसन्धानात् तथात्वम्. स्वगोष्ठ्यां सर्वा एतादृश्य एवेत्युक्तार्थसम्मत्यर्थं **सख्य** इति सम्बोधनम्. उदारो हि पात्रापात्रविवेकराहित्येन ददात्यल्पेपि बहु चातस्स्थावरेभ्योपि दानेन वस्तुसामर्थ्यात् तेषां तत्त्वं युक्तमतस्तरूणां रसोपयोगिपुष्पमधुधारावत्त्वम्. गवां वने निवेशनोक्त्या दिवासम्बन्ध्येतद् चरित्रमुक्तं, तत आगमनानन्तरं सन्ध्यासम्बन्धि [2]निरूपयन्ति **निर्योगे**त्यादिना. **लक्षणपदेन** गोदोहनानुरूपस्तत्सामयिकस्सर्वोपि वेष[3] उच्यते; [4]एतादृशयोस्सतोरर्थाद्दर्शनेनैवोक्तकार्यद्वयं पूर्वस्मादपि विशिष्टं **चित्रम्.** औदार्येणोक्तरीत्या वेणुनादेनापि तेषां तथात्वं यद्यपि चित्रं तथापि परनिष्ठरसमादातुमुद्यतयोस्तयोस्तेषां[5] तथात्वं ततोपि विशिष्टं, स्वाभाविकस्यापि ज्ञानस्य तिरोधानसम्भवादत एवोपसर्ग उक्तः. वेणुत्वेन ब्रह्मानन्दतुच्छकरणात् तनुरहितेभ्यो मुक्तेभ्योपि तद् ददातीति ज्ञायते परन्तु तेषां तनुराहित्यात् नोक्तकार्यसम्भव इति **वेणुपदतनुभृत्**पदसमभिव्याहारादवगम्यते. [6]गविष्ठं भोग्यं रसमादातुमुद्यतं प्रभुं दृष्ट्वा ताभ्यः स्वप्रयत्नपूर्वकं गृह्णाति, वयं तु प्रभुप्रयत्नं विनैव **स्वयमेव** स्वनिष्ठं रसं समर्पयिष्याम इति तथा कुर्वन्ति. आदौ तरूणां रूपज्ञानं चित्रम्. "निरीक्ष्य रूपं यद् गोद्विजद्रुममृगा" इतिवाक्यात् तेषां रूपज्ञानं मन्तव्यं, तच्च दोहनसमये रूपमहिम्नैव. एतेन स्वरूपसम्बन्धि सर्वं

प्रकाशः

जनिकामित्यर्थः. स्वतन्त्रे **अस्पन्दनादिकमि**ति अन्येषामिति शेषः. **तथा कुर्वन्ती**ति तरवइति शेषः. इदमेव प्रपञ्च्य समर्थयन्ति **आदावि**त्यादिना ॥१९॥

लेखः

पुलकवत्त्वमित्यर्थः. **अत** इति पुलकस्य युक्तत्वादित्यर्थः. **अन्ते तच्चेति, दोहन-**

---

१. पुलक ए°. २. तन् नि°. ३. °श. ४. °योस्तयो°. ५. लुप्तम्. ६. गोनि°.

प्रमेयमर्यादानाशकं स्वरूपानन्ददायकं चेति **चित्रमिति** ज्ञाप्यते. तत्रापि रसवद्भ्यो रसजिघृक्षाज्ञानमतिचित्रम्. एवं सति प्रभो रसवदपेक्षाज्ञानेन स्वस्यापि तथात्वेन स्वोपयोगज्ञानेनापि प्रमुदिताः स्वनिष्ठं प्रकटीकुर्वन्तीति ज्ञायते. अन्तःपूर्णरसस्याधिक्ये स्थानाभावेन प्रतिरोमकूपं बहिर्निस्सारणे रोम्णामपि तथात्वं बहिःपुलकस्सोऽत्र प्रत्यवयवं मधुधाराः पुष्पफलानि चेति ज्ञेयम्.

अथ वा **गा गोपकैरनुवनं नयतोर्वेणुस्वनैर्निर्योगपाशकृतलक्षणयोः कलपदैरु**क्तकार्यद्वयं **चित्रमिति** प्रत्येकं सम्बन्धः. दोहनार्थमतिशनैश्चलनेन नूपुरसिञ्जितमप्यव्यक्तं मधुरं च भवतीति तद्वत्त्वं **पदानां कल**त्वम्. परितो गोवृन्दवेष्टनेन पदाम्बुजानां कादाचित्कं दर्शनमिति वा तेषामव्यक्तता. **लक्षण**पदेनोक्त**पाशा**भ्यां गोपादयोर्योजनेन तासां न गतिराहित्यं किन्तु **कलपदैरे**व, तत् तु गोदोहनचिह्नत्वेनैव कृतमिति ज्ञाप्यते. **पुलक**पदमावृत्त्या पूर्वापरसम्बन्धीति ज्ञेयम्. अतः सर्वरसभोक्ता भगवान् वृन्दावने विजयत इति निरूपितम्.) ॥१९॥

उपसंहर**त्येवंविधा** इति.

एवंविधा भगवतो या वृन्दावनचारिणः।
वर्णयन्त्यो मिथो गोप्यः क्रीडास्तन्मयतां ययुः ॥२०॥

अयमेकप्रकार उक्त, एवंविधाः कोटिशः सन्ति लीलाः. तत्र हेतु**र्भगवत** इति, गुणानां भगवतश्च मिश्रणे कोटिशः प्रस्तारा भवन्ति. किञ्च मर्यादायां परिमिता अपि भवन्ति, **या** पुन**र्वृन्दावनचारिणः** स्वेच्छागतिमतो **भगवतो**ऽतो

लेखः

समये कलपदामृतवेणुगीताभावात् स्वरूपनिष्ठेन **महिम्ना** महत्त्वेन निर्योगपाशादिनैव **रूपज्ञानमि**त्यर्थः. **सर्वमि**ति निर्योगपाशादिकमपीत्यर्थः. **निर्योगे**त्यस्यार्थमाहु**स्तत्रापी**ति. रूपज्ञानेपि रसवद्भ्यः सकाशाद् **रसजिघृक्षा** प्रभोर्जातेति प्रभुमनोधर्म**ज्ञानमतिचित्रमि**त्यर्थः. **एवं सती**ति तादृशमनोधर्मज्ञाने सतीत्यर्थः. तृतीयव्याख्याने **परित** इति. पदानां **कादाचित्कं दर्शनमिति**हेतो**स्तेषां** सिञ्जितानाम**व्यक्तता** भगवदीयत्वनिश्चयाभाव इत्यर्थः. श्लोकव्याख्यानान्ते **अत** इति. "बर्हापीडे"तिश्लोकस्यैव त्रयोदशश्लोकैर्विवरणकथनेन तादृशस्य भगवतो वृन्दारण्यप्रवेशकथनादित्यर्थः ॥१९॥

मर्यादाभावादसङ्ख्याता एव. अत[1] एवं **वर्णयन्त्यो गोप्यस्तन्मयतां ययुः** क्रीडामय्य एव जाता जाग्रत्स्वप्नेषु क्रीडामेव पश्यन्त्य आसक्तिभ्रमन्यायेन. **ययुरि**ति न पुनस्तेषां संसारे समागमनम्. एवं सप्तभिर्मध्यमो निरोधो निरूपितः पञ्चपर्वाविद्यानिवृत्तिपूर्वकमन्तर्भगवत्प्राप्तिरूपः ॥२०॥

॥ इति श्रीमद्भागवतसुबोधिन्यां श्रीमद्वल्लभदीक्षितविरचितायां दशमस्कन्धविवरणे द्वितीये तामसप्रकरणेऽवान्तरप्रमेयप्रकरणे धर्मिनिरूपकसप्तमाध्यायस्य स्कन्धादितः अष्टादशाध्यायस्य विवरणम् ॥

॥ समाप्तं तामसप्रमेयप्रकरणम् ॥

प्रकाशः

एवंविधा इत्यत्र **आसक्तिभ्रमन्यायेने**ति, "त्रिभुवनमपि तन्मयं विरह" इत्यादौ प्रसिद्धेनेत्यर्थः. **यद्वासक्तौ** सत्यां यो **भ्रम** आवर्तस्तन्न्यायेन. यथा समुद्रावर्तपतितो नावर्तते तथासक्तिभ्रमपतितोपीत्यासक्ते रससमुद्रत्वं भ्रमस्य चावर्तत्वं युज्यते. अत एवोक्तमभिज्ञेन केनचि"दावर्ते रससिन्धोः प्रत्यावर्तेत किं मग्न" इति. तथा चैतास्तन्न्यायेन तद्ययुर्न तु मिथ्याभ्रमपतिता इत्यर्थः, सर्वात्मभावस्य ब्रह्मसाक्षात्कारहेतुत्वात्. तदुपपादितं भाष्यतृतीयाध्याये "विद्यैव तु निर्धारणादि"त्यत्र ॥२०॥

॥ इति श्रीपीताम्बरविरचिताष्टादशाध्यायस्य सुबोधिनीटिप्पण्योः प्रकाशः समाप्तः ॥

॥ इति अष्टादशोध्यायः ॥

---

१. अतः परं.

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥
॥ श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः ॥
॥ श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ॥

श्रीमद्भागवतदशमस्कन्धसुबोधिन्यां द्वितीये तामसप्रकरणेऽवान्तरसाधनप्रकरणे प्रथमः स्कन्धादितः एकोनविंशोध्यायः

अतः सप्तभिरध्यायैर्निरोधोत्र निरूप्यते ।
उत्तमः फलपर्यन्तो विद्यानिर्णयपूर्वकः ॥(१)॥

लेखः

एकोनविंशाध्याये **अत** इति एतदनन्तरमित्यर्थः. **अत्र** तामसप्रकरणे इत्यर्थः. **फलपर्यन्त** इति– फलं वैकुण्ठे नयनलक्षणमात्मसमर्पणं, तत् पर्यन्ते यस्येत्यर्थः.

योजना

साधनप्रकरणारम्भे प्रकरणार्थनिरूपणकारिकासु **उत्तमः फलपर्यन्त** इति. प्रमाणप्रकरणे प्रेमात्मको निरोध उक्तः स प्रथमः, प्रमेये आसक्त्यात्मकः स मध्यमः. साधनप्रकरणे व्यसनात्मकः स उत्तमः, अव्यवहितसाधनरूपत्वात्, "यदा स्याद् व्यसनं कृष्णे कृतार्थः स्यात् तदैव ही"ति शास्त्रात्. अतो व्यसनात्मकत्वादु**त्तमो निरोधोऽत्र** साधनप्रकरणे **निरूप्यत** इत्यर्थः. **फलपर्यन्त** इति ब्रह्मानन्दानुभवात्मकावान्तरफलपर्यन्त इत्यर्थः. **विद्यापञ्चकमत्रापीति**, विद्या-

कारिकार्थः

एकोनविंशाध्यायारम्भे सार्धपञ्च **अत** इत्यादि. **उत्तम** इति. प्रमाणप्रकरणोक्तो निरोधः प्रेमात्मकः प्रथमः, प्रमेयप्रकरणोक्त आसक्तिरूपो मध्यमः, एतस्मिन् साधनप्रकरणे उच्यमानो व्यसनात्मको निरोध उत्तम इत्यर्थः. **फलपर्यन्त** इति पञ्चविंशाध्यायोक्तब्रह्मानन्दानुभवात्मकफलपर्यन्त इत्यर्थः (१).

विद्यापञ्चकमत्रापीति, साधनमार्गे यथा वैराग्यसाङ्ख्ययोगतपोभक्तिरूपं

विद्यापञ्चकमत्रापि तस्मिन् जाते सुरेक्षणम् ।

टिप्पणी

एकोनविंशाध्याये प्रकरणार्थनिरूपणे **विद्यापञ्चकमत्रापी**त्यादि. साक्षादसम्भवे परम्परयापि भगवानेव सेव्यः देहेन्द्रियादिकं च तदर्थमेव विनियोक्तव्यं न स्वार्थमपीति निर्णयरूपैका. देहनिर्वाहार्थं प्राणादिधर्मनिवृत्त्यर्थमपि स्वतः सम्भवेऽपि प्रभुरेव प्रार्थनीयः न त्वन्योऽपि; प्रभुश्च लोके नालौकिकं करोति, भगवद्भावे चानुग्रह एव नियामकः न तु साधनमपि शास्त्रीयमिति निर्णयरूपा द्वितीया. इतरभजनं न कार्यं, पारम्पर्यागतमपि[1] धर्मं भगवदिच्छायां सत्यां विसृजेतेति रूपा तृतीया. सर्वावस्थासु हरिरेव सेव्यः, भगवांश्चाक्लिष्टकर्मा रक्षत्येव स्वानिति च तुरीया. माहात्म्यज्ञानपूर्वकः परमस्नेहो[2] भक्तेष्वाधिक्यज्ञानं चेति पञ्चमी. एतत्पञ्चकसम्पत्तौ पूर्णो निरोधः सिद्ध इति स्वकार्ये सम्पन्ने **जाते** पश्चादिन्द्रादिविषयिणीं दृष्टिं कृतवान्. अत एव पश्चान्निरूपितम्. व्रजेन्द्रस्य च भगवदुत्कर्षज्ञानहेतुभूतवरुणदर्शनं कारितवान्. इदमेवोक्तं **तस्मिन् जाते सुरेक्षणमि**त्यनेन (२).

कारिकार्थः

विद्यापञ्चकं तथात्र लीलास्थभक्तेष्वपि विद्यापञ्चकमित्यर्थः. विद्यापञ्चकस्वरूपं च अध्यायपञ्चकतात्पर्यार्थभूतं टिप्पण्यामुक्तं स्फुटम्. तद्यथा— "साक्षादसम्भवेपि परम्परयापि भगवानेव सेव्यो देहेन्द्रियादिकं च तदर्थमेव विनियोक्तव्यं न स्वार्थमपीति निर्णयरूपैके"ति. एतेन एतदध्यायोक्तं कात्यायनीद्वारा भगवद्भजनं वृक्षदृष्टान्तेन गोपेषु परार्थतोपदेशश्च विवृतः. अथ विंशाध्यायतात्पर्यमभिप्रेत्य द्वितीयां विद्यामाहु"र्देहनिर्वाहार्थं प्राणादिधर्मनिवृत्त्यर्थमपि स्वतः सम्भवेपि प्रभुरेव प्रार्थनीयो न त्वन्योपि, प्रभुश्च लोके नालौकिकं करोति भगवद्भावे चानुग्रह एव नियामको न तु साधनमपि शास्त्रीयमिति निर्णयरूपा द्वितीये"ति. एतेन गोपैः क्षुधानिवृत्त्यर्थं भगवानेव प्रार्थितः, भगवांश्च लोकरीत्या याचनमेवोपदिष्टवान् न तु अलौकिकोपायेन ज्ञानादिना क्षुधां निवर्तितवान्, निःसाधनास्वपि विप्रपत्नीषु भगवदनुग्रहो न तुससाधनेष्वपि पुरुषेष्विति विंशाध्यायोक्तोऽर्थो व्याख्यातः. तृतीयां विद्यामाहु"रितरभजनं न कार्यं पारम्पर्यागतमपि धर्मं भगवदिच्छायां सत्यां

---

१. 'गतमपि धर्मं मू. पा. २. परमः स्नेहो मू. पा.

इहैव गमनं चापि वैकुण्ठावधि वर्ण्यते ॥(२)॥

लेखः

अत्रापीति, साधनमार्गीयेषु **विद्यापञ्चकं** निरूपित**मत्रापि** लीलास्थभक्तेष्वपि **निरूप्यत** इति पूर्वेणान्वयः. **तस्मिन् जाते** सति व्यसनान्तनिरोधसिद्ध्या भगवत्कर्तृकमिन्द्रदर्शनं भक्तकर्तृकवरुणदर्शनं च **सुरेक्षणं वर्ण्यत** इति सम्बन्धः. एतेनैतन्निरोधपर्यन्तमन्यत् कार्यं किमपि न कृतवान् किन्तु तदनन्तरमिन्द्रविषयिणीं दृष्टिं कृतवानित्यस्यां लीलायामतिभरो ज्ञापितो भवति. तथा चास्य सुरेक्षणे प्रतिबन्धाभावत्वेन हेतुता भगवल्लोकदिदृक्षाजनकत्वाद् वरुणदर्शनस्य तत्र स्वरूपयोग्यतासम्पादकत्वेन हेतुतेति ज्ञेयम्. **इहैव** वरुणदर्शनाध्याय एवेत्यर्थः. चकारात् शब्दब्रह्मात्मकत्वं च (१-२). एतद्विद्यायाः पञ्चत्वे हेतुमाहुः **ज्ञानमिति**.

योजना

पञ्चकस्वरूपं टिप्पण्यामुक्तं श्रीमत्प्रभुचरणैः. **तस्मिन् जाते सुरेक्षणमि**त्यस्याप्यर्थष्टिप्पण्यामुक्तः. **ज्ञानं कर्म च विद्यायामि**ति, पञ्चप्रकारकं टिप्पण्युक्तं

कारिकार्थः

विसृजेदिति रूपा तृतीये"ति. अनेन पारम्पर्यागतमपीन्द्रयागं नन्दादयस्त्यक्तवन्त इति एकविंशाध्यायतात्पर्यमादायोक्तम्. चतुर्थविद्यामाहुः "सर्वावस्थासु हरिरेव सेव्यो भगवांश्चाश्लिष्टकर्मा रक्षत्येव स्वानिति तुरीया." श्रीगोवर्धनधारणेन भगवान् रक्षितवानिति द्वाविंशाध्याये स्फुटमेव. पञ्चमविद्यामाहु"र्माहात्म्यज्ञानपूर्वकः परमस्नेहो भक्तेष्वाधिक्यज्ञानं चेति पञ्चमी"ति. गर्गोक्तानुवादरूपैर्नन्दवाक्यैर्माहात्म्यज्ञानपूर्वकः स्नेहः, "मुदिता नन्दमानर्चुरि"त्युक्तं भक्तेष्वाधिक्यज्ञानं चेति त्रयोविंशाध्यायार्थमभिप्रेत्योक्तमिति अध्यायपञ्चकोक्तविद्यापञ्चकं विवृतं टिप्पण्याम्. **तस्मिन् जाते सुरेक्षणमिति— तस्मिन्** विद्यापञ्चके सम्पन्ने सत्येव **सुरेक्षणं** भगवत्कर्तृकमिन्द्रदर्शनम्. भक्तेषु विद्यापञ्चकसम्पादनस्यावश्यकत्वात् तावत्पर्यन्तमिन्द्रादिविषयिणीं दृष्टिं न कृतवान् किन्तु विद्यापञ्चके सम्पन्ने पश्चादेव कृतवान्. किञ्च **तस्मिन् जाते सुरेक्षणमि**त्यस्य श्रीनन्दकर्तृकं वरुणदर्शनमिति चार्थः; विद्यापञ्चके सम्पन्ने सति भगवदुत्कर्षज्ञानहेतुभूतवरुणदर्शनं कारितवान्. **इहैव गमनं चापीति— इह** वरुणदर्शनाध्याये **एव** गोपानां **वैकुण्ठगमनं वर्ण्यते** (२).

एतद्विद्यायाः पञ्चत्वे हेतुमाहुः **ज्ञानं कर्म च विद्यायां पञ्चात्मकमिति**

ज्ञानं कर्म च विद्यायां पञ्चात्मकमिति स्थितिः ।
अविद्याकार्यसम्बन्धो नात्रेति विनिरूप्यते ॥(३)॥
स्त्रीपुंसोः सहभावेन तुल्यत्वाच्च निरूपणम् ।
लोकानुसारिणी विद्या कर्मज्ञानात्मिका पुरा ॥(४)॥

टिप्पणी

एतन्निरूपणतात्पर्यमाहुः **अविद्याकार्येति**. अविद्या तत्कार्यं चेति ज्ञेयम्. [1]**स्त्रीपुंसेति**. तयोस्तथानिरूपणे हेतु**स्तुल्यत्वादिति**. अविद्यासम्बन्धाभावस्य तुल्यत्वादित्यर्थः. निरोधस्य वा (३-४).

लेखः

एतद्विद्यायां सत्यां टिप्पण्युक्तपञ्चविधो निर्णयस्तदुत्तरं तथा कृतिश्च भव**तीति-स्थिति**र्मर्यादा विद्यायाः पञ्चत्वे हेतुरित्यर्थः. **अविद्येति, अविद्याकार्यसम्बन्धोऽत्र नास्तीति**हेतोरिति ज्ञापनार्थं विद्यानिरूपणानन्तरं सुरेक्षणं **विनिरूप्यत** इत्यर्थः. **तुल्यत्वात् चेति चकाराद्** धर्मान्तरैरतुल्यत्वमपि. **अन्तःस्थानामिति**,

योजना

ज्ञानं ततस्तदनुकूलं **कर्म चेति** कर्मणोऽपि पञ्चविधत्वम्. तथा हि कात्यायनीव्रतार्चनादि कर्म भगवत्कामनया परम्परया भगवत्सेवनरूपमेव कृतमित्येकं कर्म. गोपैः क्षुत्पीडितैर्भगवानेव क्षुच्छान्त्यर्थं प्रार्थितः अतस्तादृक् प्रार्थनरूपं द्वितीयं कर्म. श्रीनन्दादिभिः परम्पराप्राप्त इन्द्रयागस्त्यक्तो गोवर्धनयागः कृत इति तृतीयं कर्म. वासववृष्टिव्याकुलैर्व्रजजनैर्हरिरेव सेवित इति शरणगमनाख्यं कर्म चतुर्थम्. माहात्म्यज्ञानपूर्वकस्नेहयुक्तं कर्म पञ्चमं श्रीनन्दवाक्येभ्यो गतसन्देहैर्गोपैः कृतम् (१-३). **स्त्रीपुंसोरिति** कुमारिका-तत्पुम्भावरूपवयस्ययो-रित्यर्थः. **तुल्यत्वादिति**— रहस्यलीलानुभवो हि कुमारिकाणां तत्पुम्भाव-सहितानामेव फलप्रकरणे भाव्यतः फलानुभवस्य **तुल्यत्वात्** साधनेपि **सहभावेन**

कारिकार्थः

स्थितिरिति. पञ्चाग्निविद्यादौ अग्निहोत्रदर्शपूर्णमासादिषु च ज्ञानकर्मणोः पञ्चात्मकत्वं प्रसिद्धमिति प्रमाणमर्यादामाश्रित्य अत्रापि ज्ञानकर्मणोः

१. स्त्रीपुंसोरिति मू. पा.

निरूप्यते गोपिकानां गोपानां च विभेदतः ।
एकोनविंशे भोग्यानां कुमारीणां व्रतं यथा ॥(५)॥
अन्तःस्थानां कुमाराणां तथा ज्ञानमिहोच्यते ॥

लेखः

अन्तरङ्गलीलास्थानामित्यर्थः. **यथा तथेति** लोकानुसारेणेत्यर्थः (२-५ $\frac{1}{2}$).

योजना

निरूपणं "वयस्यैरागतस्तत्रे"त्यादावित्यर्थः. **लोकानुसारिणी विद्ये**त्यादि **विभेदत** इत्यन्तम्. गोपिकानां कर्मात्मिका विद्या कात्यायनीव्रतरूपा निरूप्यते. गोपानां ज्ञानात्मिका विद्या "अहो एषां वरं जन्मे"त्या-दिवाक्यैर्भगवदुपदिष्टा निरूप्यते इत्यर्थः. एवं गोपिकागोपभेदेन कर्मात्मिका ज्ञानात्मिका विद्या च निरूपिता. तदेतत् स्फुटमाहु**रेकोनविंशे भोग्यानां कुमारीणां**

कारिकार्थः

पञ्चविधत्वोक्तिरित्यर्थः. भक्तेषु विद्यानिरूपणप्रयोजनमाहु**रविद्याकार्येति**. अविद्या च तत्कार्यं च तयोः सम्बन्धो लीलास्थभक्तेषु नास्तीति भावः (३). अस्मिन्नध्याये स्त्रीणां पुरुषाणां च सहभावेन निरूपणे हेतुमाहुः **स्त्रीपुंसोरिति**. **स्त्रीणां** कुमारीणां **पुंसां** वृन्दावनतरुप्रशंसाप्रसङ्गे वक्ष्यमाणानां गोपानां च **सहभावेन निरूपणे** हेतु**स्तुल्यत्वादिति**, अविद्यासम्बन्धा-भावस्य निरोधस्य वा तुल्यत्वादित्यर्थः. **लोकानुसारिणी विद्येति** लोकानुसारेणात्र कर्म निरूप्यते न तु भगवच्छास्त्रानुसारेण. भगवदर्थं भगवानेव सेव्य इति हि भगवच्छास्त्रे मर्यादा. लोके हि प्रियप्राप्त्यर्थं तदीया दूतिका प्रार्थ्यते, तथात्रापि कात्यायनी प्रार्थ्यते. अत्राध्याये अवान्तरप्रकरणविभागमाहु**रेकोनविंश** इति. अत्राध्याये कर्मप्रकरणं ज्ञानप्रकरणं चेति द्वे प्रकरणे. तत्राद्ये **कुमारीणां व्रतं** द्वितीये **अन्तःस्थानाम**न्तरङ्गलीलामध्य-पातिनां कृष्णस्तोकादीनां गोपानां **ज्ञानं** वृक्षप्रशंसाप्रसङ्गे **उच्यते** इत्यर्थः. यद्यपि साक्षादसम्भवेपि परम्परयापि भगवानेव सेव्य इति ज्ञानं कुमारीणामपि तथापि तद् व्रतात्मककर्माङ्गमेव न तु प्रधानमिति तत् कर्मप्रकरणमेव. गोपानां तु वृक्षप्रशंसाप्रसङ्गे ज्ञानोपदेश एवोक्तो न तु परोपकारात्मकं गोपकर्तृकं कर्मोक्तमि-ति ज्ञानप्रकरणमेव तदित्यवधेयम्. अत्र कर्मप्रकरणे कर्तृदेशद्रव्यमंत्रकालात्मकानि पञ्च कर्माङ्गान्युक्तानि. ज्ञानप्रकरणे च पञ्च पर्वाणि भक्तिधर्मार्थकाममोक्षात्म-कानि पञ्चभिः श्लोकैरुक्तानि. तत्र "हे कृष्ण स्तोके"तिश्लोके भक्तिरूपं महत्पर्वोक्तं, चतुर्भिः श्लोकैर्धर्मादिमोक्षान्तानि चत्वारीति स्पष्टं सुबोधिन्यामिति (४-५ $\frac{1}{2}$).

॥ श्रीशुक उवाच ॥

हेमन्ते प्रथमे मासि नन्दगोपकुमारिकाः ।
चेरुर्हविष्यं भुञ्जानाः कात्यायन्यर्चनव्रतम् ॥१॥

पूर्वाध्याये स्त्रीणां गोपिकानां भगवत्क्रीडायां परमासक्तिर्निरूपिता. ताश्च द्वि-विधा— अनन्यपूर्वा अन्यपूर्वाश्च. अन्यपूर्वास्त्वन्यथैव कृतसंस्काराः, तासां त्यागोऽङ्गं,

टिप्पणी

एकोनविंशाध्यायार्थनिरूपणसन्दर्भे, **अन्यपूर्वास्त्वन्यथैव कृतसंस्कारा** इति. अत्रेदं ज्ञेयम्. स्त्रीणां विवाह एव मुख्यः संस्कारः, समन्त्रकत्वात्. स च स्वर्गादिफलकाग्निहोत्रादावधिकारित्वसम्पादको लोके. प्रकृते चातथात्वाद्भगवत्सम्बन्धस्य च फलत्वेन वक्ष्यमाणत्वात् तत्र चास्याप्रयोजकत्वादेतत्कथनमत्रा[1]प्रयोजकं स्यादिति विवक्षितफलप्रयोजक एव कश्चन धर्मः **संस्कार**शब्दवाच्योऽत्र वाच्यः. स च विवाहजनितः तृतीयपुरुषार्थ-रसविशेषानुभवहेतुरेव. स दम्पत्योर्न सम्भवतीति यतस्तद्रसमर्यादा अत **एवान्यथैवे**त्युक्तं, भगवदीयानामन्यत्र विवाहस्यानुचितत्वात् परन्तु तैः सह सम्बन्धाभावाद् भगवद्रसपोषकत्वाच्चास्य संस्कारत्वम्. एतेनायुक्तत्वमपि परिहृतं, न ह्यनुचितः संस्कारो भवतीत्यनवद्यमखिलम्. किञ्च, **लोकानुसारिणी विद्या कर्मज्ञानात्मिका पुरा निरूप्यत** इति वाक्याल्लोकानुसारेणात्र कर्म निरूप्यते, न तु भगवच्छास्त्रानुसारेण, भगवदर्थं भगवानेव सेव्य इति यतस्तत्र मर्यादा. लोके हि प्रियप्राप्त्यर्थं तदीया दूतिका प्रार्थ्यते तथात्रापि कात्यायनी प्रार्थ्यते. लौकिकी सा यथा

लेखः

अन्यथैवेति विवाहेनैवेत्यर्थः. अत्र टिप्पण्यां विवाहस्य संस्कारत्वं कर्तर्यणमभिप्रेत्योक्तं धर्मस्य संस्कारत्वं भावे घञमभिप्रेत्योक्तमिति बोध्यम्. **तासां त्यागोऽङ्गमि**ति. अत्र 'किञ्चे'ति शेषमभिप्रेत्य टिप्पण्यां **किञ्चे**त्युक्तं; तथा चान्यपूर्वाणामन्यथैव कृतसंस्कारत्वात् त्यागमात्रस्याङ्गत्वेन संस्कारानपेक्षणात्

योजना

व्रतं यथा अन्तःस्थानां कुमाराणां **तथा ज्ञानमिहोच्यत** इति. **अन्तःस्थानां** निरोध्यभ-क्तानामिन्द्रियेषु तदधिष्ठातृरूपेणान्तःस्थितानां कृष्णस्तोकादीनामित्यर्थः (४-५½).

१. °प्रयोजनकं मू. पा.

तदुत्तरत्र वक्ष्यते. अन्यासामसंस्कृतानां [1]संस्कार एव निरूप्यते— विद्याया[2]मयमेव

टिप्पणी

द्रव्यादिदानेन तोष्यते तथेयमलौकिकीत्यलौकिकप्रकारेणेति. **अन्यभजनदोषोपि** नैवं सम्भवति, भगवत्तोषहेतुस्ववपुर्मण्डनतुल्यकक्षत्वेन रसपोषकत्वात्. **विवाहितानां** तु प्रौढात्वेन जातभावाङ्कुराणामनुदिनमेधमान-प्रेमार्द्रार्द्रप्रियेक्षणोक्षणप्ररूढ-तद्रस-पूरमत्तत्वेनान्यस्फूर्तिरहितानां समयविशेषे समागम एवापेक्षितः. स च "निशम्य गीतमि"त्यारभ्य "न न्यवर्तन्ते"त्यन्तेन निरूपयिष्यते. एतदेवाभि-सन्धायोक्तं **तासां त्यागोऽङ्गमि**ति. ननु कुमारीणां व्रतप्रसङ्गे प्रौढानां कथं प्रसङ्गः? इत्थं— मूले **कुमारिका व्रतं चेरुरि**ति कथनेन तदितरासां व्यावृत्तिः सूच्यते. तत्र व्यावर्त्यानां स्वरूपं वाच्यं व्यावर्त्यत्वे हेतुश्चेति युक्तं तदुभयकथनमिति दिक्.

एतदग्रे **अन्यासामसंस्कृतानामि**त्यादि. आदौ भगवदर्थव्रतजक्लेशजभाव-विशेषलक्षणः संस्कारः, अनायासेन प्राप्तात् क्लेशेन प्राप्ते स्नेहातिशयस्यानुभव-साक्षिकत्वात्. ततः "कृष्णचेतस" इति पदोक्तानवरतानेकविधसङ्गम-मनोरथ-रूपस्तज्जनितो भावविशेषश्च सः, येनाग्रे भगवत एव प्रार्थना. तत "उषसी"त्यादिना वक्ष्यमाणप्रकारकः सः. ततः प्रियागमने सति विविधरस-भावगर्भ-परस्परवाग्व्यवहारज-प्रमोदविशेषजभावः सः. ततो "यूयं विवस्त्रा" इति वाक्ये श्रुतेऽग्रिमवाक्यनिरूपितो भावविशेषः सः. ततो वसनदान-तत्सामयिक-भावोद्गारिदृष्टि-विविधस्पर्शैर्जातो भावविशेषः सः. स एव "दृढं प्रलब्धा" इति श्लोकेन शुकेनोक्तः. अत एवासूयाहेतुषु सत्स्वपि न तदुत्पत्तिः, संस्कारस्य दोष-जनकत्वात्. ततोऽग्रिमवाक्यनिरूपितस्तद्विशेषः सः. ततोऽतितुष्टप्रियावलोकन-

लेखः

चान्यासां संस्कारो निरूप्यत इत्यर्थः. **तत्संस्कार** इति भगवत्सम्बन्धप्रयोजकः संस्कार इत्यर्थः. अत्र संस्कारमात्रनिरूपणं, सम्बन्धस्तूभयोरपि सहैव वक्ष्यत इत्येवकारः. टिप्पण्या**मनुदिनमि**ति. **अनुदिनमेधमानो यः प्रेमा तेनार्द्रार्द्रं** यत् **प्रियेक्षणं** तेन **यदुक्षणं** तेन **प्ररूढः** प्रवृद्धो योऽनङ्गवृक्षस्तस्य यो **रसपूरस्तन्मत्तत्वेनेत्यर्थः**. अत्र तत्पदेनानङ्गवृक्षो ज्ञेयः. सुबोधिन्या**माधिदैविकी**ति

१. तत्संस्कार. २. विद्यायामेव.

त्यागात्यागनिर्णयः. अत्यागस्त्यागादुत्तम इति [1]ज्ञापयितुं परीक्षा. **नन्दगोपो** मुख्य इति तत्रैव भोग्याः कन्यका भवन्ति. ता दैवगत्या एकजातीया एव ऋषयः षोडश-सहस्रमिति पुराणान्तरादवसीयते. ता अ'प्यम्बे'ति सम्बोधनात् पूर्वं निरूपिताः. तासामृषित्वादन्यत्र दानमन्यथा भोगं [2]चाशङ्क्य व्रतार्थं प्रवृत्तिः. पूर्वं शरदि तासां चित्तस्थितिर्निरूपितेति **हेमन्ते** व्रतप्रवृत्तिः. तत्रापि "मासानां मार्गशीर्षोऽहमि"ति भगवद्वाक्यात् **प्रथमे मासि** व्रतारम्भः. [3]इदं व्रतमत्रैव प्रसिद्धं— कात्यायन्याधि-

टिप्पणी

वरदानवाक्यश्रवणज-सङ्गमविशेषनिश्चयजः सः. ततो गृहगमनाज्ञाजनित-दुःखभरेणेष्टप्राप्तिसुखभरेण च शबलो भावविशेषश्च सः. तत एकैकस्य क्षणस्यानेककल्पतुल्यत्वभानं सर्वतः सङ्गोपनेन च स्वहृद्येव प्रवर्धमानभावरसपूरतया क्वचिदन्योन्यं तत्कथामृतोद्गिरणनिर्वृत्या सततमनोरथैश्चानुक्षणं साक्षादुपभोगमिव मन्यमाना भवन्तीत्यनेकविधसंस्कारः[4]. अन्तःसाक्षात्सम्बन्धो बहिर्न तथेति च. एवं हि सत्यग्रिमभगवत्सङ्गे मुख्यरसास्वादयोग्यतेत्येषां संस्कारत्वम्. एतदेवाभिसन्धायोक्तं **संस्कार एव निरूप्यत** इति. यद्यपि भगवत्यस्ति सर्वं सामर्थ्यं तथापि तद्रसस्वरूपमेव तथेति तथोच्यत इति भावः. **विद्यायामयमेव त्यागात्यागनिर्णय** इति. अयं त्यागपदार्थः— अयमत्यागपदार्थः, स चैवं कार्यः— अन्यथा न कार्य, इति निर्णयरूपः. अयमेव उक्तरूपसंस्कारनिरूपणलक्षण इत्यर्थः. **तथाहि**— "यदहरेव विरजेत्तदहरेव प्रव्रजेदि"ति श्रुत्या प्रावाहिकाश्रममर्यादायां रागाभावमात्र एव त्याग उपदिश्यते, भक्तिमार्गे न तथेति ज्ञापनाय **विद्यायामिति**. सात्र भक्तिमार्गीयोच्यते; अन्यत्र विद्यात्वमेव नाभिमतमिति सामान्यपदम्. एतासां विषयरागाभावेपि फलरूपो भगवान् गृह एवास्तीति बहिर्गमने प्रयोजनाभावात् बाह्यो न त्यागः किन्तु गृह एव स्थित्वा तत्प्राप्त्यनुकूलो यत्नः. यथा यथा भगवद्भावप्राचुर्यं तथा तथा बहिरङ्गसाधनत्यागोऽन्तरङ्गतत्कृतिश्च. भगवत्सङ्गमभावस्वाभाव्येन यत्त्यक्तं भवति वैदिकमपि, तद् भवतु नाम, न तु स्वबुद्धिपूर्वकः कस्यचित्त्यागः. प्रिय-

१. निरूपयितुं २. वा°. ४. °विधः संस्कारः मू. पा.

३. कात्यायनीव्रताध्याये **हेमन्ते प्रथमे मासीति**प्रथमे श्लोक **इदं व्रतमि**त्यत्र स्वतन्त्रलेखः. **इदं व्रतमिति** क्रियमाणं कात्यायनीव्रतम्. **अत्र** श्रीभागवत एतत्कृतिविषयतयैव प्रसिद्धं,

दैविकी तामसी शक्तिः, दुर्गा पार्वती च राजसी, ब्राह्मणाः सात्त्विकाः. तेषां प्रसाद-

टिप्पणी

तोषार्थमशक्यत्यागा अपि देहिकान्तःकरणधर्मास्त्याज्याः. फलप्राप्तावपि यदा भगवदिच्छा तदैव त्यागः कार्यः, नत्वन्यदापीति व्रतभगवत्प्रार्थन-वसनत्यागाञ्जलिबन्धगृहगमनैर्निर्णीयत इति तथा. अत एवाग्रे त्याग उक्तः. उक्तरूपादन्यथा कृतः त्यागस्त्याग एव न भवति, फलरसाननुभावकत्वादित्यत्यागवदस्य तात्पर्यं ज्ञेयम्. साधनदशायां तु[1] त्यागो न युक्त इति निर्गलितोऽर्थः. एतासां फलप्राप्तावपि पूर्वोक्तसंस्काररीत्या साधनदशैव. वस्तुतस्तु फलप्राप्तिनिश्चय एवाधुना, प्राप्तिस्त्वग्रे. अतो युक्तं गृहगमनम्. ननु "नीवीं प्रति प्रणिहिते च कर" इति न्यायेन तदा स्ववस्त्रमोकार्थमपि तदनुसन्धानं कथं घटते? इत्थम्— सङ्गमभाव एव स्वस्मिन्भगवतोऽतिप्रीत्या स्वान्तरायासहिष्णुत्वभावनयेति बुध्यस्व. अत एव प्रियेण "बध्द्वाञ्जलिं मूर्ध्नी"ति तद्भावपरीक्षैव कृता— उक्तभावेनैव चेदेवं कृतं भविष्यति, तदा दृष्ट्यन्तरायमपि दूरीकरिष्यन्तीति. देवहेलनहेतुकथनेन वसनत्यागे स्वारुचिः सूचिता. साक्षात्तथात्व[2] एव [3]तथाकरणं युक्तम्, न तु तथा भावनायामपीति यतो भगवदाशयः. एतदेवाभिसन्धायोक्तम् — **अत्यागस्त्यागादुत्तम इति ज्ञापयितुं परीक्षे**ति. अत एव मूले "तत्पूर्तिकामा" इत्युक्तम्. पूर्णाङ्गदृष्ट्या पूर्तिं मन्वानस्यातथात्वे सति भवत्यपूर्तिरिति पूर्वोक्तरीत्या तत्पूर्तिकामा एव तथा कृतवत्य इत्यर्थः. वसनात्यागे शीघ्रमेव प्रियान्तिकागमनं स्यात्त्यागेन च विलम्बोऽभवदित्यप्युत्तमत्वे हेतुरिति ज्ञेयम्.

एतदग्रे **ब्राह्मणा सात्त्विका** इत्यारभ्य **सेव्यत** इत्यन्तम्. पद्मपुराणे गीयते—

लेखः

आधिदैविकप्रतिबन्धनाशिकेत्यर्थः. इदं मन्त्रव्याख्याने स्फुटं वक्ष्यते. **तामसीति** तामसानां भगवत्प्रापिकेत्यर्थः. **दुर्गेति**, अत एव राजसप्रकरणे ततो भगवत्प्राप्तिः. पक्षान्तरमाहु**र्ब्राह्मणा** इति. ये इति शेषः, येऽत्र **सात्त्विका ब्राह्मणाः** कुमारिका**स्तेषां ब्राह्मणानामि**त्यन्वयः. विषयता षष्ठ्यर्थः, ब्राह्मणविषयकप्रसादनिरूपिकेत्यर्थः.

१. 'तु' इति मूलपाठे नास्ति. २. संगमभावे. ३. वस्त्रत्यागकरणं.

कात्यायनीति नामनिर्देशः. संहारिका या शक्ति**राधिदैविकी**. तामसानां फलप्रापकत्वात् **तामसीति**

रूपा शक्तिः स्त्री भवति; भगवानेव वा गुणातीतः, तदर्थं सेव्यत इति. अतो **हेमन्ते**

टिप्पणी

दण्डकारण्यवासिनः षोडशसहस्रमृषयः स्वाश्रमान्तिकागत-कोटिकन्दर्पाधिकलावण्य-श्रीकोसलेन्द्र[1]दर्शनजरिरंसाभावभरेण तं प्रार्थितवन्तस्तदीयस्त्रीत्वम्. तदा भगवानेकपत्नीव्रतधरोऽहमधुना, व्रजे वो मनोरथः सम्पत्स्यत इति प्रसादं कृतवान्. त एवैता इति हृदि कृत्वोक्तं **ब्राह्मणा** इत्यादि. [2]आदिवाराहे "कृष्णस्य रमणार्थं हि सहस्राणि च षोडश। गोप्यो रूपाणि चक्रुश्च तत्राक्रीडन्त केशवम् ॥" महाकौर्मे "अग्निपुत्रा महात्मानस्तपसा स्त्रीत्वमापिरे। भर्तारं च जगद्योनिं वासुदेवमजं विभुम् ॥" अत **एवैकजातीया ऋषयः षोडशसहस्रमिति पुराणान्तरादवसीयत** इत्याचार्यैरुक्तम्[2]. अत्रैवं ज्ञेयम्. पुरुषशरीरे सति स्त्रीभावोत्पत्तिरसंभाविता, विरोधात्. एवं सत्येतानतिशुद्धान् कृतपुण्यपुञ्जान् दृष्ट्वा हरिस्तथा प्रसन्नोऽभवद् येनादेयतमसाक्षात्स्वरूपानन्ददित्साविरभूत्. तदनुभवस्तु[3] न पुंस्त्वे केवलस्त्रीत्वे वा, मानाभावात्, द्विजस्त्रीषु तथा प्रपन्नास्वप्यदानात्, क्षुद्रास्वपि पुलिन्दीषु दानात्. किन्त्वचिन्त्यानन्तशक्तेर्भगवतः प्रसादरूपा अपि शक्तयो बह्व्यः सन्ति. तत्राप्यन्तरङ्गतमा सैकाऽस्ति यत्सम्बन्धिजीवे भगवत्स्वरूपानन्दानुभवोऽवश्यंभावी. सा चोक्तरूपस्त्रीत्वलक्षणधर्मरूपैव. अतस्तामेतेषु स्थापितवानिति युक्तस्तदा तेषां स भावः. तदनुरूपो देहः परमधुना सम्पन्नस्तथा भगवदिच्छा यतः.

१. कोशलेन्द्रमू. पा. २-२. अङ्कान्तर्गतं मूलपाठे टीकारूपं वर्तते. ३. तदनुभवश्च मू. पा.

स्वरूपम्. **दुर्गेति** प्रासङ्गिकम्, एतदुपयोगो राजसप्रकरणे स्फुटिष्यति. कात्यायनीस्वरूपविवेचनेऽन्यत् पक्षद्वयमाहु**र्ब्राह्मणा** इत्यादि **भगवानेवे**त्यादि च. एतट्टिप्पण्यां **केवलस्त्रीत्व** इति. ननु किमिदं कैवल्यम्? स्त्रीत्वमात्रं चेत् सर्वत्र तत्सत्त्वात् तदनुभवानापत्तेः. उच्यते—सहकारिसमवधानराहित्यं हि तत्, तच्च **यत्सम्बन्धी**त्यादिना वक्ष्यन्ति स्वयम्. **माने**ति प्रत्यक्षादिचतुःप्रमाणाभावात्, तत्र शब्दप्रत्यक्षाभावयोर्निर्विवादत्वात्. [6]अनेनान्वयव्यभिचारः प्रदर्शितः, [7]अग्रिमेण च व्यतिरेकव्यभिचारः, [8]आसां विशिष्टस्त्रीत्वेन केवलस्त्रीत्वाभावात्. **सैके**ति पूर्वोक्ता **तेषां**[9] **प्रसादरूपा शक्तिः**, शक्तिः सामर्थ्यम्, **एका** मुख्येत्यर्थः. तत्स्वरूपमाहु**र्यदि**ति. एतत्कार्यलक्षणेन मुख्यं तद्रूपमुक्तम्. उक्तशक्तेः पदार्थान्तरत्वशङ्काव्युदासायाहुः **सा चे**त्यादि. **सा** शक्तिः **यत्सम्बन्धी**त्यनेनोक्तमन्तरङ्गप्रसादकारयितृत्वरूपं स्वरूपं यस्य स्त्रीत्वस्य तादृशं **स्त्रीत्वं** तदेव **लक्षणं** स्वरूपं यस्य **धर्मस्य** तादृशभगवद्धर्मरूपा. **एव**कारो व्यवच्छेदार्थः. **अतो**

६. द्विजस्त्रीत्यादीनाम्. ७. पुलिन्दीत्यादीनाम्. ८. पुलिन्दीनाम्. ९. कुमाराणाम्.

टिप्पणी

एतदेवाहुः **तेषां प्रसादरूपा शक्तिः स्त्री भवती**ति. स्त्रीत्वलक्षणधर्मरूपापि स्त्रीरूपा कात्यायनीरूपेत्यर्थः. सैव **तदर्थं** फलपर्यवसानार्थं **सेव्यत** इत्यनेन सम्बध्यते. अथ तेषां स भावो भगवद्भाव इति निश्चितं, दृष्टिद्वारा हृद्यागत एव भगवति तदुत्पत्तेः. "रसो वै स" इत्यादिश्रुत्या च भावरूपत्वेनैव निरूपणान्न धर्मरूपत्वं, किन्तु धर्मिरूपत्वमेवेत्याशयेन पक्षान्तरमाहुः **भगवानेवे**ति[1]. सेव्यो हि सेवके स्वं रूपं सम्पादयति, हृद्यागतेन भावरूपेणास्माकं देहादिकमेवं सम्पादितमिति तद्रूप एव भगवान्सेव्यते. बहिरस्मद्रमणार्थं प्रकटो भवत्वित्येतदर्थं नायिकाभावत्वेन स्त्रीत्वमुच्यते, नैतावता काचिन्न्यूनता सगुणत्वं वेत्येतदाशङ्कानिरासायैव **गुणातीत** इत्युक्तम्. यथाब्धिजामृतदायकं तद्रूपं, तथा स्वीयलोभामृतदायकमिदमिति ज्ञेयम्. एतेन "दिव्यं ददामि ते चक्षुरि"ति वाक्याद् भगवदीयचक्षुषैव यथा भगवान् दृश्यः, तथा स्त्रीत्वेनापि तादृशेनैव भगवान् भोग्य इति ज्ञापितम् ॥१॥

लेखः

अत्र व्रतप्रसङ्गात् सात्त्विकत्वमुक्तम्. **गुणातीत** इति, अस्यापि **स्त्री भवती**त्यनेनान्वयः. अत्र टिप्पण्यां **स्त्रीत्वे**त्याद्युक्तं तत्राकृतिः स्त्रीत्वं देहः स्त्रीति विभेदः. तथा च देहं विना केवलाकृतेस्तादृशभावरूपभगवतश्च केवलस्य बाह्यपूजा न सम्भवत्यतः **स्त्री भवति** प्रतिमायामाविर्भवतीत्यर्थः. उभयविधापि सा **तदर्थं सेव्यत** इत्यर्थः ॥१॥

१. भगवानेव वेति मू. पा.

भगवदनुभवकारयितृत्वाद्धेतोस्तां पूर्वोक्तशक्तिम्. **तदि**त्युक्तभावानुकूलः. **अधुना** श्रीकृष्णावतारसमये. **तथे**ति यतो हेतो'र्नन्दगोपसुत'कृष्णरूपेणैव तन्मनोरथपूर्तीच्छा ततो हेतोरित्यर्थः. निर्गलितमर्थमाहुः **स्त्रीत्वे**त्यादि. उक्तरूप**धर्मरूपापि** सा शक्तिः. स्त्रियो रूपाणि यस्याः सा **स्त्रीरूपा**, ईदृशी या **कात्यायनी तद्रूपा** भवतीत्यर्थः. इदमेवोक्तं **तदनुरूप** इत्यनेन. अथ वा **तस्यो**क्तरूपस्त्रीत्वलक्षण**धर्मस्यानुरूपो** यादृश्युक्त**धर्मरूपा स्त्रीयं शक्ति**स्तादृश एव **देहः**. अत्र भगवत्स्वरूपानुभवसम्पादकत्वरूपसादृश्यम्. स देह इदानीं तैः प्राप्तः. इदमेवोक्तं **स्त्री भवती**ति. तथा च तादृशशरीरविशिष्टा सा शक्तिः कात्यायनीपदवाच्या भवतीत्यर्थः. अथ वोक्तरूपधर्मस्यैव सहायीभूतो देहो लीलासमय उक्तदित्सातः प्राप्तः, ग्रन्थस्वारस्यादुक्तधर्मेणैव. तथा च **स्वानुरूपो देहः** स्वेनैव प्राप्त इति **स्त्री भवती**ति ग्रन्थाशयः. **स्त्रीरूपे**ति तादृशस्त्रीदेहः **कात्यायनी**पदवाच्यस्तद्रूपा भवतीत्यर्थः. यथा जीवो यादृशं देहं प्राप्तस्तत्त्वेनैव व्यवहार्यो भवति तद्वत्[2].

२. इयानेव प्राप्तः.

योजना

हेमन्ते प्रथमे मासीत्यस्य विवृतौ **कात्यायन्याधिदैविकी तामसीशक्तिर्दुर्गापार्वती च राजसी ब्राह्मणाः सात्त्विकाः तेषां प्रसादरूपा शक्तिः श्री भवतीति. तेषां** पूर्वजन्मनि श्रीरामावतारे स्थितानामग्निकुमाराणामुपरि यो भगवत्प्रसादस्तद्रूपा कात्यायनी शक्तिरित्यर्थः. अत **एवाधिदैविकी**त्युक्तम्. न च कात्यायन्याः शिवपत्नीत्वेन शिवशक्तित्वेन प्रसिद्धत्वाद् भगवच्छक्तित्वस्य कुत्राप्यसिद्धत्वात् नेयं भगवच्छक्तिरिति वाच्यं, भौतिक्याः शिवशक्तित्वेप्याधिदैविक्याः भगवच्छक्तित्वात् "श्रियं लक्ष्मीमौपलामम्बिकां गामि"त्युपनिषत्सु एतस्या भगवच्छक्तित्वनिर्धारात्. 'औपलामु'पलस्य पाषाणस्य सम्बन्धिनीं पार्वतीमित्यर्थः. "रासमण्डले पार्वती भगवता शिवाय दत्ते"ति ब्रह्मवैवर्ते स्फुटमभिधानात् च. "परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते" इतिश्रुतेः शक्तीनां बहुत्वात् तत्तत्कार्यार्थं तत्तच्छक्तीनामुपयोग इति तामसानां व्रजस्थानां भगवत्प्राप्तौ कात्यायनी तामसी भगवच्छक्तिर्हेतुरिति ज्ञेयम्, "यदुद्दिश्य व्रतमिदं चेरुरार्यार्चनं सतीरि"तिवाक्यात्. राजसानां भगवत्प्राप्तौ दुर्गा पार्वती च राजसी भगवच्छक्तिः कारणं, "नमस्ये त्वामम्बिकेऽभीक्ष्णमि"ति श्रीरुक्मिणीप्रार्थनावाक्ये "भूयात् पतिर्मे भगवान् कृष्ण" इत्युक्तेः, स्यमन्तकमणिप्रसङ्गे "उपतस्थुर्महामायां दुर्गां कृष्णोपलब्धय"इतिवाक्यात् च. 'कात्यायनी'—'दुर्गा'—'पार्वती'शब्दवाच्यास्तिस्रोपि शक्तयो भगवदीयाः परस्परभिन्ना धर्मविशेषभेदाद् भिद्यन्ते. तथा च कात्यायनीदुर्गापार्वतीभिस्तामसराजसभक्तानां भगवत्प्राप्तिरिति युक्तैव भक्तिमार्गीया पद्धतिः. एतेन कात्यायनी नाम शिवशक्तिः स्वतन्त्रा देवता स्वसेवनसन्तुष्टा सेवकेभ्यः श्रीकृष्णमपि ददातीति वदन्तः प्रत्युक्ताः. श्रीकृष्णप्राप्तये कुमारिकाभिरन्यदेवताश्रयणं कृतमिति वदन्तोपि निरस्ताः, कात्यायन्यादीनां पूर्वोक्तोपनिषद्भिर्ब्रह्मवैवर्तपुराणवाक्यैश्च भगवच्छक्तित्वनिश्चयादिति दिक्. **भगवानेव वा गुणातीत** इति. भगवच्छक्तिः कात्यायनीति पक्षे तामसीत्वं कात्यायन्या उक्तं, पक्षान्तरमाहु**र्भगवानेव** वेति. आधिदैविकस्त्रीविग्रहरूपो भगवानेव कात्यायनीत्यर्थः. तस्य रहस्यलीलौपयिकस्त्रीविग्रहरूपस्य भगवतः स्वरूपमाहु**र्गुणातीत** इति. अत एव सात्त्विकराजसतामसगुणातीतानां व्रजसुन्दरीणां लीलौपयिकविग्रहोऽनया साध्यते ॥१॥

पञ्चमे ऋतौ पञ्चमपुरुषार्थसिद्ध्यर्थं **प्रथमे मासि** मार्गशीर्षे **नन्दगोपस्य कुमारिकाः** सम्पादिताः संरक्षिता **हविष्यान्नमेव भुञ्जानाः कात्यायनीपूजा**लक्षणं माससमाप्यं **व्रतं चेरुः**. नित्यं कात्यायनी पूजनीयेति नियमः ॥१॥

तत्र पूजाप्रकारमा**हाप्लुत्याम्भसी**ति.

आप्लुत्याम्भसि कालिन्द्या जलान्ते चोदितेऽरुणे।
कृत्वा प्रतिकृतिं देवीमानर्चुर्नृप सैकतीम् ॥२॥

कालिन्द्या अम्भसि स्नात्वा. सा हि भगवत्पतित्वकामनया तपः करोति तेन चाग्रे फलं भाव्यतः सफलतपःसम्बन्धित्वेनैतदम्भोपि तादृशमिति व्रतानुकूलं सफलं च तत्र स्नानमितिज्ञापनाय **कालिन्दीपदम्**. तस्याश्चिरेण फलं भाव्यत्र तु शीघ्रमितिज्ञापनाय **आ**पदन्यासः. **जलान्ते** जलसमीपे, **च**कारादागत्य गृहेपि, **देवीं** प्रतिमारूपां **कृत्वा** सिकतामयी**मरुण उदिते** प्रातःसन्ध्यायां सर्वकामनाप्रदायां देवतां ता**मानर्चुः**. **नृपे**ति सम्बोधनमेतावता क्लेशेन भगवान् प्राप्त इति ज्ञापयितुम् ॥२॥

पूजासाधनान्याह **गन्धैरि**ति.

गन्धैर्माल्यैः सुरभिभिर्बलिभिर्धूपदीपकैः।
उच्चावचैश्चोपहारैः प्रवालफलतण्डुलैः ॥३॥

माल्यानि पुष्पाणि. **सुरभिभिरि**त्युभयेषां विशेषणम्. **बलिभिर**हिंस्रैः, ऋषित्वात् तासां परिज्ञानम्. [1]**धूपो** दीपावलयश्च पङ्क्तिरूपा **दीपा**[2] दीपकाः, **उच्चावचानि** सर्वाण्येवानेकरूपाणि. **उपहारा** नैवेद्यद्रव्याणि. **प्रवालाः** पल्लवाः **फलानि तण्डुलाश्च** —एवं नवविधा निरूपिताः ॥३॥

लेखः

आप्लुत्येत्यत्र **सफले**ति कालिन्द्या इति शेषः. सा **सफलतपःसम्बन्धिनी** सफलं तपोऽस्या अस्ति सफलतपस्विनीत्यर्थः. अम्भोऽपि स्वस्नातस्य तपः—स्नानादिरूपं— सफलं करोतीति सफलतपःसम्बन्धीत्यर्थः ॥२॥

गन्धैरित्यत्र **अहिंस्रैरि**ति बाहुलकात् कर्मण्यौणादिको रक् ॥३॥

योजना

गन्धैरित्यत्रो**च्चावचैश्चोपहारैरि**त्यस्य विवृता**वुच्चावचानि सर्वाण्येवानेकरूपाण्युपहारा नैवेद्यद्रव्याणी**ति, अत एव हेमन्तर्तौ अनेकनैवेद्यद्रव्याणि भगवते

---

१. धूपा. २. दीपकाः.

एवं कर्तृदेशद्रव्याणि निरूपितानि,[1] मन्त्रमाह [2]**कात्यायनी**ति.

कात्यायनि महाभागे महायोगिन्यधीश्वरि।
नन्दगोपसुतं देवि पतिं मे कुरु ते नमः ॥४॥
इतिमन्त्रं जपन्त्यस्ताः पूजां चक्रुः कुमारिकाः ॥

ऋषित्वात् मन्त्रदर्शनं, मन्त्रे प्रसिद्धा देवता मन्त्रोपासनया[3] साक्षात्कृता, अर्थस्यापि दृष्टत्वात्, [4]अतः **कात्यायनी**ति परिज्ञानसम्बोधनं— कायं त्याजयतीति कात्या संहारिका शक्तिस्तस्या आधिदैविकं रूपं कात्यायनी[5] फलि(फकि!)रूपम्. पूर्वं भगवान् न प्राप्तस्तत्रावश्यं दुरदृष्टमेव प्रतिबन्धकमिति मन्तव्यं, तपस्तु सिद्धमेव साधनमन्यथाग्रेऽपि न स्याद्, अतः प्रतिबन्धस्याधिदैविकस्य नाशन इयमेव समर्था. ननु प्रतिबन्धकमाधिदैविकं यदि भगवदिच्छयैव स्यात् तदा कथं निवर्तत इत्याशङ्क्याह **महाभाग** इति, अल्पभाग्यत्वे भगवान् नाज्ञापयेद् यशोदायां च जन्म न स्याद् भगवद्दास्यं च न प्राप्नुयात्. त्वया प्रार्थितः प्रियः स्वेच्छामप्येतदनुगुणां करिष्यत्यतो महाभाग्यं तव. आभिमानिकसम्बन्धेन त्वं पुनर्भगिनी भवसि ज्येष्ठात उपकारोपि कर्तव्यः. न च मन्तव्यं तादृशदोषो न मया परिहर्तुं [1]शक्यत इति यतस्त्वं **महायोगिनी** गर्भसङ्कर्षणादिकार्यकरणात्. नन्वाधिदैविकं कथं परिहर्तव्यं? कालादिभ्यो बलिष्ठा हि सा प्रतिबन्धकशक्तिः, तत्राह**ाधीश्वरी**ति— **ईश्वरं** भगवन्त**मधि**कृत्य वर्तसेऽतोऽन्तरङ्गा त्वं शक्तिः. कात्यायन्या गुणत्रयं चोक्तं पदत्रयेण. अतः सर्वप्रकारेण त्वं भगवदीया **नन्दगोपसुतं मे पतिं कुरु** प्रत्येकं भर्तारं कुरु. [2]भगवानशक्य इति न मन्तव्यं; यथा नन्दगोपस्य पुत्रो जातस्तथास्मत्पतिरपि भविष्यति. किञ्च त्वं **देवता**रूपा, अलौकिकेनापि प्रकारेण भगवन्तं पतिं करिष्यसि. प्रत्युपकारस्तु **तुभ्यं नमनम्**, अहङ्कारस्तुभ्यं दत्तस्त्वदीय इति. अन्यत् सर्वं भगवदीयं, प्रतिबन्धके निवृत्ते स एव भविष्यति तथापि वक्तव्योऽपि. स हि माया[3]यवनिका-

---

लेखः

कात्यायनीत्यस्याभासे **एवं कर्त्रि**ति. त्रिभिः श्लोकैस्त्रयं निरूपितम्, अनेन मन्त्र उच्यते, अग्रिमेण कालो वक्तव्यः — एवं पञ्चभिः श्लोकैः पञ्चात्मकं कर्म निरूपितमिति ज्ञेयम्. व्याख्याने, **साक्षात्कृते**ति मध्यमपुरुषप्रयोगादिति भावः. **परिज्ञाने**ति, त्वत्स्वरूपमस्माभिर्ज्ञायत इति स्वपरिज्ञानस्य सम्यग् बोधनमित्यर्थः. **तत्रे**ति भगवत्प्राप्तौ **अदृष्टं** भगवदाच्छादनादिरूपाधिदैविकसामग्रीहेतुत्वादाधिदैविकं **प्रतिबन्धकम्.** तथा चायं भगवत्कृत इति तन्नाशने नान्यः समर्थः किन्त्वियमेव, यतो भगवता लीलाप्रतिबन्ध-निवारणसामर्थ्यमस्यै दत्तमिति भावः. अत्रादृष्टं न कर्मजन्यं किन्तु भगवदीयतत्तदवयवाच्छादका योगमायांशा इति ज्ञेयम्. **नन्विति**, **भगवदिच्छया** चेत् **स्यात् तदा** प्रबलत्वात् **कथं निवर्तत** इत्यर्थः. महाभाग्ये अर्थापत्तिं प्रमाणयन्ति **अल्पे**त्यारभ्य **न प्राप्नुयादि**त्यन्तेन. भाग्यकार्यमुपक्रान्तमाहुस्**त्वये**ति. **अत** इत्यस्य पूर्वेणान्वयः— **तव महाभाग्यं**, हेतुत्रयेण निश्चितं यत इति शेषः, **अतो** हेतोस्**त्वया प्रार्थित** एवं **करिष्यती**त्यर्थः. एवं प्रतिबन्धनिवारणं प्रार्थितम्. अनेनैव फलदानमपि प्रार्थितमित्याहुः **आभिमानिकसम्बन्धेने**ति, भाग्यसाधनहेतुना यशोदायां जन्मनेत्यर्थः. अयं भाग्यकार्यत्वेनोक्तः, अत्रोपकारकभगिनीत्वकारणत्वेनोच्यत इति **पुनः**पदम्. दासीनां प्रभुपत्न्यां मातृत्वव्यवहारस्तत्पुत्र्यां ज्येष्ठभगिनीत्वव्यवहारो लोकसिद्धः. अत्रापि "प्रायो बताम्बे"त्यनेन यशोदायां मातृत्वव्यवहार उक्त इति तत्पुत्र्यामपि ज्येष्ठभगिनीत्वव्यवहारः सिद्ध इति भावः. **नन्वाधिदैविकं कथमि**ति केन प्रकारेणेत्यर्थः. अन्तरङ्गत्वाद् भगवन्तं प्रार्थयित्वेत्युत्तरम्. **कात्यायन्या गुणत्रय**मिति, **अधीश्वरि महायोगिनि महाभागे** इतिपदत्रयेणैश्वर्यवीर्ययशांस्युक्तानीत्यर्थः. **सर्वप्रकारेणे**ति भगवद्धर्मवत्त्वेनापीत्यर्थः. **वक्तव्योपी**ति, आज्ञां विना तथाकर्तुमशक्यत्वादिति भावः. प्रतिबन्धनिवर्तनं विशदयन्ति **स ही**ति. **अयमर्थ** इति, रमणरूपो**ऽर्थो नित्यो**

योजना

समर्प्यन्ते अस्मत्सम्प्रदाये, **भगवानेव वा गुणातीत** इति पक्षे कात्यायन्या भगवद्रूपत्वात् ॥३॥

कात्यायनीत्यत्र— **मन्त्रोपासनया साक्षात्कृते**ति, **पतिं मे कुरु ते नम** इति युष्मच्छब्दप्रयोगाद्देवतासाक्षात्कारो ज्ञायते. **भगिनी भवसि ज्येष्ठे**ति, यशोदायामुत्पन्नत्वादाभिमानिकसम्बन्धेन भगवतो भगिनी भवसीत्यर्थः. "अदृश्यतानुजा विष्णोः सायुधाष्टमहाभुजे"तिवाक्यात्. **ज्येष्ठे**ति, गुणैः कृत्वा **ज्येष्ठा** सर्वतो महती **भवसी**त्यर्थः ॥४॥

---

१. रूपितानि. २. कात्यायिः. ३. मन्त्रोपासनायाम्. ४. °त्यात् कात्या°. ५. °नीयं किंरूपं.

१. शक्य. २. भगवान् शक्य. ३. °जवनिका°.

माच्छाद्य क्वचिदल्पोद्घाटनेन तिष्ठत्यतोऽस्मदर्थं तत्रतत्रोद्घाटिता भवेत्यर्थः. अपराधस्तु न भविष्यति यतस्त्वं पतिं करिष्यसि, कन्यावरयोर्विवाहे [1]यवनिका दूरीक्रियत एव. अयमर्थो नित्यः, प्रत्यगाशीर्मन्त्रत्वाद् जप एवास्य, न कर्माङ्गकरणं[2] "प्रत्यगाशिषो मन्त्रान् [3]जपत्यकरणानि"ति कल्पात्. (अतः परं "तेषां प्रसादरूपा शक्तिः स्त्री भवति" "भगवानेव वा गुणातीत" इतिपक्षद्वये मन्त्रार्थ उच्यते. "भगवतः स्त्रियः कती"ति प्रश्नविषयाः कात्याः – अत एव परीक्षितो राज्ञः प्रश्ने "पत्न्यः कत्यभवन् प्रभोरि"तिवचनम् – अयनं[4] यस्याः सा **कात्यायनी**, ङीबत्र छान्दसो ज्ञेयः. नन्वेतस्या भगवद्योग्यतासम्पादकत्वैकस्वभावायाः स्वस्मिन् स्थितिं चेद् जानन्ति तदा भगवत्सम्बन्धस्यावश्यम्भावित्वेन ज्ञानं च भविष्यत्येवेति कथं व्रतारम्भः ? न च विलम्बाभावार्थ[5] इति वाच्यम्, एतस्याः सर्वतोधिकत्वेनान्याप्रतिबध्यसामर्थ्यात्[6]. न च स्वस्य रसयोग्यवयःसम्पत्तौ, सां स्वत एव विलम्बासहिष्णुर्यतः. न च तादृग्वयःसम्पत्त्यर्थमेव व्रतारम्भ इति वाच्यं, प्रमाणाभावात्, पतित्वकरणस्यैव मन्त्रे श्रूयमाणत्वात् तस्य चैतच्छक्तेरेतद्रूपस्य भगवतो वा प्रवेशेनैव सिद्धत्वादेतत्प्रयोजनं न विद्मः. अथ स्वस्मिंस्तत्स्थितेरज्ञानाद् व्रतारम्भ इति वाच्यं, तथापि वस्तुतस्तत्प्रयोजनं न सिध्यतीति चेद्, उच्यते– मन्त्रे पठ्यमानमेव फलं प्रयोजनम्. न चोक्तन्यायेन तत् सिद्धमिति वाच्यं, तत्तात्पर्यानवगमात्. तथा हि– साक्षात्पुरुषोत्तमरमणे ह्येतासामिच्छा, "मयेमा रंस्यथ क्षपाः यदुद्दिश्य व्रतमिदं चेरुरार्यार्चनं सतीरि"तिभगवद्वचनात्. एवं च सत्युक्तरूपशक्तेर्भगवतो वा प्रवेशस्य प्रयोजनमावेशरमणेनैवान्यथासिद्धं कदाचिद्

लेखः

न तु कादाचित्क इति **पति**पदेन ज्ञाप्यत इत्यर्थः. पत्या सह रमणं सर्वदा भवति जारेण कदाचिदिति भावः. **प्रत्यगाशीरि**ति. ऋचस्त्रिविधाः– प्रत्यक्षकृताः परोक्षकृता आध्यात्मिक्यश्च. ताः क्रमात् मध्यमपुरुष-प्रथमपुरुषोत्तमपुरुष-प्रयोगयुक्ता इति निरुक्ते निरूपितम्. तथा चायं मन्त्रः प्रत्यक्षकृतर्ग्रूप इत्यर्थः. **अवश्यंभावित्वेने**ति प्रकारता तृतीयार्थः, स्थितिज्ञाने एवंप्रकारकभगवत्सम्बन्धज्ञानमप्यासां भविष्यत्येवेति निर्धार इत्यर्थः. **अन्यथासिद्धमि**ति भवत्विति शेषः, **प्रयोजनं** रमणमावेशरमणप्रकारेण सिद्धं भवत्वित्यर्थः. **अंशावतारेणे**ति वामनादि-

---

१. ज°. २. कर्माङ्गं करणं. ३. जपन्त्यः कर°.
४. ता अयनं. ५. °भावार्थं. ६. प्रतिबध्यसामर्थ्यत्वेन.

भगवान् मन्येत, सर्वं सर्वत्र योजयितुं शक्तो यतः. तथा चावेशेनांशावतारेण वा सम्बन्धो मा भूदिति तदर्थं व्रतलक्षणं तदाराधनमारब्धं यथान्यसम्बन्धराहित्येन पुरुषोत्तमसम्बन्धो भवेत्. अत एव भगवता 'सती'त्वं विशेषणमुक्तमेतदभिप्रायेणैव. **नन्दगोपसुत**पदमप्यत एव, तत्रैव पुरुषोत्तमाविर्भावो यतः. एतच्च यथा तथाद्यप्रकरणे निरूपितम्. यथा कंसादिभिया तदज्ञानार्थं गुप्तस्थाने स्थापितो नन्दपुत्रोऽभवत् तथा त्वयैकान्तस्थलेऽन्याज्ञाततया प्रापितोऽस्मद्रमणकर्ता भवत्वित्यप्यस्य पदस्य तात्पर्यं ज्ञेयम्. अत एव बलदेवादिव्यावृत्तिरपि. अत एव तथैवाग्रे करिष्यति[1] भगवान्. (१)उद्देश्य(२)पतित्वविधानप्रार्थना–वाचकयोः पदयोर्मध्ये **देवी**ति सम्बोधनेन मध्यस्थतया कदाचिद् दूतीन्यायेनापि तथाकरणं द्योत्यते, एतदेव तव परमानन्दजनकं, [2]क्रीडेवेति **देवी**शब्देन द्योत्यते. गावो हि स्वतः शुभाशुभयोः प्रवृत्तिनिवृत्तिरहिताः. किं बहुना स्वभक्ष्येऽपि स्वरक्षकप्रेरणायां प्रवृत्तिनिरोधे[3] तूष्णीम्भाव एव तासाम्! तथा चैतादृशीनां पालकस्य सुत इत्यस्माकमप्येतादृशफलसम्बन्धे साधकबाधकज्ञानराहित्येन कदाचित् स्वतोऽन्यथाचिकीर्षायामपि स्वयमेव कृपया ततो निवर्तक इष्टसम्पादकश्च भविष्यतीति **गोप**पदेन ज्ञाप्यते[4]. अपरश्च गोपजातीया हि लोके न महत्त्वेन गण्यन्ते तथा च ब्रह्मवाक्सत्यत्वार्थं स्वयं तादृशस्य पुत्रत्वमङ्गीकृतवान् यः, स स्ववाक्सत्यत्वार्थमस्मत्पतित्वमङ्गीकरिष्यत्येव, निमित्तमात्रं त्वं भवेति ज्ञापनायापि **गोप**पदम्. तेनात्र तव नाधिकः प्रयासो भवितेति सूचितं स्वस्याभिमानाभावश्च. एतादृक्फलसम्पादिकायास्तव प्रत्युपकारस्तु नास्माभिः कर्तुं शक्यः किन्तु यथा "किमासनं ते गरुडासनाये"तिवाक्यात् 'नमो नम' इत्येतावत् "सदुपशिक्षितमि"तिवाक्याच्च भगवति जीवैर्नमनमेव कर्तव्यं भवति कर्तुं शक्यं च, तथास्माभिरपि

लेखः

नेत्यर्थः. **तत्रैवे**ति अदितिरोहिणीव्यावृत्त्यर्थमेवकारः, **तत्रा**विर्भूते. बले तु पुरुषोत्तमस्यावेशः, तथा च बलदेवेन रमणं मा भवत्विति तदाशय इति भावः. **उद्देश्ये**ति. नन्दगोपसुतमुद्दिश्य पतित्वं विधीयते. तथा चोद्देश्यवाचकं **नन्दगोपसुत**पदं, पतित्वविधानस्य तत्प्रार्थनस्य वा बोधकं **पति**पदं, तयोर्मध्य इत्यर्थः. **गोप**पदव्याख्यानान्तरे **तेने**ति गोपसुतस्य पतित्वकरणप्रार्थनेनेत्यर्थः. **स्वस्ये**ति, प्रार्थनयैवं जातं न तु

---

१. °ष्यतीति. २. तव क्रीडैवेति. ३. °निरोधे तु. ४. ज्ञायते.

तुभ्यं नमनमेव कर्तुं शक्यमित्याशयेनाहुस्ते **नम** इति. नमनातिरिक्ताशक्यत्वे तन्महत्त्वं हेतुरिति तदुक्तं **महाभाग** इत्यादिना. भगवता सह योगोऽस्यास्तीति **योगी,** योगे **महत्त्वं** तु नायिकाभावपूर्वकत्वम्. तथा च तादृशे पुरुषेऽ**धीश्वरि** अङ्गीकृत-स्वामित्व इत्यर्थः. तेन साधारणाप्राप्यत्वेन महत्सम्बन्धित्वेन च महत्त्वमुक्तं भवति. एतादृशस्येश्वरो हि भगवानेव भवति; त्वं त्वेतादृशी यदीश्वरोपि त्वदधीनस्तस्मै फलं ददातीत्युपसर्गः[१]. पक्षद्वयेप्येतस्या भगवत्स्वरूपात्मकत्वात् तदधीनत्वेपि नेश्वरे काचित् न्यूनता शङ्कनीया. महायोगवत्त्वे हेतुभूतं पुरुषे[२] विशेषणमाहु**र्महाभाग** इति. भक्तिमार्गेऽङ्गीकार एव भाग्यरूपस्तत्रापि पुष्टिपुष्टावङ्गीकारो महत्त्वम्),अतस्तं मन्त्रं जपन्त्यस्तूष्णीमेव पूजां चक्रुरित्याहे**तीति**. इममेव **मन्त्रं जपन्त्यस्ताः** प्रसिद्धास्तूष्णीं **पूजां चक्रुर्यतः कुमारिकाः** स्त्रीणां विवाहोत्तरमेव मन्त्रसम्बन्धः अयं तु मन्त्रस्ताभिरेव दृष्ट इति, युक्तं तासां जपकरणम्. अनेन क्रियोक्ता ॥४½॥

एवं मासं व्रतं चेरुः कुमार्यः कृष्णचेतसः।
भद्रकालीं समानर्चुर्भूयाद् नन्दसुतः पतिः ॥५½॥

एवमप्रत्यक्षप्रकारेण **मास**पर्यन्तं **व्रतं कुमार्यश्चेरुः**. अनेन काङ्क्षेप्युक्त उपसंहृतश्च, एवं षडङ्गसहिता व्रतरूपा क्रिया निरूपिता. एतस्य व्रतस्य फलं जातमित्याह **कृष्णचेतस** इति, कृष्ण एव चेतो यासां तादृश्यो जाताः. तदा नान्या प्रार्थिता. अतोऽग्रे भगवन्तमेव प्रार्थयिष्यन्ति, चित्तदोषस्य गतत्वात्. [३]आरब्ध-स्यावान्तरफले जातेऽपि परमफलं न जातमिति पुनर्मासान्तरेऽपि व्रतं कृतवत्य

लेखः

स्वसाधनबलेनेत्यभिमानाभाव इत्यर्थः. **अधीश्वरी**ति अधिका चासावीश्वरी चेत्यर्थः. **अत** इति, यतोस्य न कर्माङ्गं करणमत इत्यर्थः. पूर्वेणास्यैकवाक्यता, मध्ये तु व्याख्यानान्तरम्. **इतीत्यत्र यत** इति, अत**स्तूष्णीं चक्रु**रित्यर्थः. तर्ह्येतन्मन्त्रजपोपि न स्यादत आहुः **अयं त्विति**. **अनेन** मन्त्रेण पूजा तु प्रत्यगाशीर्मन्त्रत्वात् न भवतीत्युक्तमेव, **क्रियोक्ते**ति व्रताङ्गभूतं पूजालक्षणं कर्मोक्तमित्यर्थः ॥४½॥

एवमित्यत्र **एवमिदं चेरु**स्ततः **कृष्णचेतसः** सत्योऽग्रिमं कृतवत्य इत्यन्वयः. **भद्रकालीमि**त्यत्र **भगवत्सम्बन्धेति**— भगवत्सम्बन्धो लक्षणं यस्य, यस्मिन् काले भगवत्सम्बन्धो भवत्येव तादृशः काल इत्यर्थः. **निमित्तमि**ति पतित्वे इति शेषः.

१. अधीत्युपसर्गः. २. °षविशेषं°. ३. आरब्धस्य व्रतस्या°.

इत्याह **भद्रकालीमि**ति. कात्यायन्यामेवावस्थाविशेषो देवताविशेषो वा वर्तते यतो भगवत्सम्बन्धलक्षणो भद्रः कालो भवत्यतस्तामेव **भद्रकाली**रूपां **समानर्चु**स्तत्रान्यो मन्त्रः पश्चाद् दृष्टो **भूयान् नन्दसुतः पतिरि**ति. नन्दसुतः स्वयमेव पतिर्भूयात्, निमित्तं काल इति कालाभिमानिनी पूज्यते कादाचित्कत्वात्. अतः कदाचित् सम्बन्धो न सर्वदा जातः. नन्दस्य पुत्रः कृपालुरिति **भूयादि**ति प्रार्थना. भगवन्तमेव प्रार्थयन्ति. अत्र प्रत्येकं प्रार्थनाभावात् समुदायेनापि **रमणम्**, अतोग्रेऽपि वक्ष्यत "एकैकशः प्रतीच्छन्तु सहैवोते"ति. फलवाचकत्वात् पूजायामशेषत्वा[१]न्मन्त्रवद-

टिप्पणी

अत्रैवाग्रे **चित्तदोषस्य गतत्वादि**ति. भ्रमजनको हि दोष इत्युच्यते. एतासां तु पूर्वमपि केवलं भगवदीयत्वाद् व्रताचरणहेतुभूत-संशयहेतुद्वितीय-कोटिस्फूर्तिस्तद्रूपैवेति ज्ञायते. कृष्णचेतस्त्वे भगवत्पतित्व-निश्चयेनेतरकोटिस्फूर्ति-रपि गतेत्येतदभिसन्धायेदमुक्तम्. दोषत्वमत्रानिश्चयस्यैव, तत्र च तादृक्स्नेहो हेतुः, तादृकस्वभावत्वात् स्नेहस्य. अग्रे स्नेहसत्त्वेपि कृष्णचेतस्त्वहेतुक-तत्प्रतियोग्युत्पत्त्या तन्नाश एवेति सर्वं सुस्थम्. सार्वदिकत्वेऽपि पुनः **कृष्णचेतस्त्वोक्त्या** कश्चन विशेषो वाच्यः. व्रतानन्तरमेवोक्तत्वेन तत्फलत्वमेव विशेष इत्याशयेन फलत्वमुक्तम्, अग्रे पुनः साधनोक्त्या चावान्तरफलत्वमिति विवेकः. तेन पूर्वस्माद्वैलक्षण्यं प्राप्यते. **भूयान्नन्दसुत** इत्यत्र, **फलवाचकत्वादि**त्यारभ्य **कृतमि**त्यन्तम्. अत्रायं भावः— पूर्वं

लेखः

तत्र हेतुः **कादाचित्कत्वादि**ति, लक्ष्मीवत् सदा दाम्पत्येन स्थापनेच्छाभावादित्यर्थः. **अत** इति पतित्वस्य कालनिमित्तकत्वादित्यर्थः. **प्रार्थयन्तीति**, "पतिं मे कुर्वि"त्यत्र पतित्वसाधको व्यापारोऽन्यनिष्ठो[२] भवति, अत्र तादृशो व्यापारोऽपि भगवन्निष्ठ एवेति भावः. **फलवाचकत्वादि**ति. पूर्वमन्त्रस्य "पतिं मे कुर्वि"ति पतित्वफलस्य देवतां प्रति प्रार्थनात् पूजाशेषत्वम्, अस्य तु स्वयमेव पतिर्भूयादिति फलस्वरूपमात्रवाचकत्वात् न पूजाशेषत्वमित्यर्थः. तथा च **फलवाचकः**

योजना

एवं मासमित्यत्र **भूयान् नन्दसुतः पतिरि**त्यस्य विवरणे **फलवाचकत्वादि**ति, नन्दसुतः स्वयमेव पतिर्भूयादित्यर्थादस्य मन्त्रस्य फल-

१. °न्मन्त्रप्रत्येकं प्रार्थनेत्यधिकम्. २. कात्यायनीनिष्ठो.

स्याङ्गत्वाभावाय स्वरूपेणैव कीर्तनं कृतम्. **इति**शब्दप्रयोगे गौणता स्यात्. प्रार्थनया भगवान् स्वतो वृत इत्यन्तःकरणधर्मत्वाद् भगवान् पतिर्जातः, परमन्तरेव, "ये यथा मां प्रपद्यन्त"इति वाक्यात्. तदान्तःस्थितभगवद्रूपा निःशङ्का जाताः ॥५½॥

टिप्पणी

माससमाप्यव्रतोपसंहारस्य कृतत्वात्पुनः पूजापूज्यनामभेद-भिन्नमन्त्रकालभेदानां कथनाद्"धृतव्रता" इति प्रभुवाक्याच्चेदं व्रतान्तरमिति गम्यते. अपि च भगवत्पतित्वमात्रार्थत्वाद् व्रतस्य कृष्णाचेतस्त्वेन चान्तस्तन्निश्चयेन भगवदेकसाध्यत्वज्ञानाच्च तदर्थं तत्करणासंभवः किन्त्वतः परं बहिरपि तथात्वमेवापेक्षितम्. तत्र च तादृक्कालस्यैव निमित्तत्वमिति तदभिमानिदेवता चेयमेवेति तथात्वेनैतस्या एवात्र पूजोच्यते. अत एव भगवतैव तस्याश्चतुर्दशनामस्विदं नामोक्तम्. मन्त्रेपि बहिःप्रकटतया पतित्वभवनमेव प्रार्थ्यम्, अन्यथान्तस्तन्निश्चयसत्त्वेन तत्प्रार्थनानुपपन्ना स्यात्. अत एव न पूजाङ्गत्वमस्य,

लेखः

फलस्वरूपवाचक इत्यर्थः. **मन्त्रवदिति**, तथा च "तच्चोदकेषु मन्त्राख्ये"ति लक्षणादेतस्य मन्त्रत्वमेव नास्तीति भावः. **अन्तःकरणधर्मत्वादि**ति प्रार्थनाया इति शेषः. अन्तरेव तथात्वभवनेऽयं हेतुः ॥५½॥

योजना

वाचकत्वं, पतिभवनस्य फलत्वात्. **पूजायामशेषत्वादिति**, **भूयान् नन्दसुतः पतिरि**तिवाक्ये देवतां प्रति प्रार्थना नास्ति किन्तु **नन्दसुतः पतिर्भूयादि**त्याशया **भद्रकालीं समानर्चुर**तः पूजाशेषत्वं नास्तीत्यर्थः. **मन्त्रवदिति**— कात्यायनीमन्त्रवद**स्य** मन्त्रस्य पूजाङ्गत्वाभावायेत्यर्थः. **स्वरूपेणैव कीर्तनमि**ति, **पतिर्भूयादि**ति पतिस्वरूपेणैव भगवतः कीर्तनं न तु भगवत्पतित्वकरणप्रार्थना देवतां प्रतीत्यर्थः. **इतिशब्दप्रयोगे गौणता स्यादिति**, **भूयान् नन्दसुतः पति**रित्यस्याग्रे 'इत्युच्चार्येतिजस्वे'त्यादिना'इति'शब्दप्रयोगं कुर्युस्तदा मन्त्रद्वारा देवतां प्रति प्रार्थनाद् देवताप्रसादादेव भगवल्लाभे स्वकीयस्नेहात्मकभक्तेर्गौणता स्यादित्यर्थः. तदेवाग्रे स्फुटीकुर्वन्ति **प्रार्थनये**त्यारभ्य **पतिर्जात** इत्यन्तेन ॥५½॥

ततः प्रकटतया पूजां परित्यज्य भगवद्गानं कुर्वन्त्यः कालिन्द्यां कामनास्नानार्थं गता इत्याह**उषस्युत्थाये**ति.

उषस्युत्थाय गोत्रैः स्वैरन्योन्याबद्धबाहवः।
कृष्णमुच्चैर्जगुर्यान्त्यः कालिन्द्यां स्नातुमन्वहम् ॥६½॥

-अधुना निःशङ्कतयारुणोदयात् पूर्वमेवो**त्थाय स्वैर्गोत्रैः** कृत्वा **कृष्णमुच्चैर्जगुः**. अत्र **गोत्र**शब्देन नामाप्युच्यते, ततः स्वस्वनामग्रहणेन बोधनं; प्रथमतः प्रबुद्धा अन्यास्तद्गोत्रैः[१] प्रबोधयन्तीति व्यावहारिकोऽर्थः. ते हि सर्वे गोत्र-

---

टिप्पणी

भिन्नविषयकत्वात्. अपरञ्च, पूर्वमन्यप्रार्थना हि कृता. तथा च तन्निर्बन्धेन तथात्वे स्वतोऽतथात्वे नीरसत्वं स्यादित्येवं प्रार्थना. अत एव न पृथग्भगवतः पूजा कृता, पतित्वेन भावनात्. न चैवं पूर्वमन्त्रस्याप्रयोजकत्वेन मन्त्रत्वानुपपत्तिः, भावक्रमस्य तथात्वेनोत्तरभावप्रयोजकत्वात्. अत एव व्रतफलत्वेन कृष्णाचेतस्त्वमुक्तम्. एतच्च यथा तथोपपादितम्. अस्मिन्मन्त्रेऽर्थभावनैव मुख्या, न तु जपोऽपि. अतः स नोक्तः. स्वेष्टप्रकारेण प्रियभावनमेवात्र पूजारूपम्. इदमेव भगवता "मदर्चनादि"त्यनेनोक्तमिति दिक्. किञ्च, 'भगवानेव वा गुणातीत' इति पक्षे तु सर्वमवदातम्. अस्मिन्पक्षे उभयोरैक्येप्युत्तरस्या गुणविशिष्टत्वेन पूर्वस्याः सकाशाद् भेदः सिध्यति. तेन व्रतभेदोऽपि तथा. न चाचार्योक्तावान्तरफलत्व-परमफलत्वानुपपत्तिः, एककार्यत्व एव तत्सम्भवादिति वाच्यम्, स्वामिन्युद्देश्यत्वेन फलस्य परमत्वस्य तन्नान्तरीयक-फलत्वेनेतरत्वस्य च विवक्षितत्वात्. एवं सत्येककर्मसाध्यत्वमप्रयोजकमिति ज्ञेयम्. अत एव पुरुषभेदेनावान्तरफलस्यैव परमफलत्वमपि भवति. अत एव ज्ञानमार्गीयमोक्षेच्छोर्योगेन दोषनिवर्तनं, ज्ञानेन च मोक्षसम्पादनं सङ्गच्छते ॥५½॥

लेखः

उषसीत्यत्र **अरुणोदयादि**ति— अरुणत्वेन प्रतीयमानः सूर्यस्तदुदयात् न तु षट्पञ्चाशन्नाडिकारूपादित्यर्थः. पूर्वत्र स्नानं प्रातःसन्ध्यायामुक्तम्, अत्र ततः पूर्वमिति विभागः. [२](**अरुणोदयादि**ति, अरुणोदयात् पूर्वमेव उत्थाय गानं, तत उषसि जाते स्नानार्थं गमनमिति विभागः). **गोत्रैः कृत्वे**ति प्रबोधनमिति शेषः.

---

१. 'स्तत्तद्गोत्रैः. २. एकस्मिन्नादर्शे एवं वर्तते.

प्रवर्तका ऋषयो यज्ञे प्रवृत्ता अत आर्षज्ञानेन **स्वगोत्रैः** कृत्वा निर्भयाः सत्यः **कृष्णं** सदानन्दं स्वतःपुरुषार्थरूपं **जगुः**. मध्ये भगवन्तं परि**कल्प्यान्योन्याबद्धबाहवो**ऽभवन्, यथा रासे. अतः प्रकटमेव तासां तथात्वं जातमतो जलक्रीडार्थं गोपिकाभिः परिवेष्टितं **कृष्णं** गायन्त्य एव **कालिन्द्यां स्नातुं यान्त्यो** जाताः. गानं मुख्यं, स्नानगमने गौणे. **अन्वहमेवम्** —अनेन हेमन्तनियमो गतः. अन्यान्यपि व्रतानि निवृत्तानि, सर्वमेव गाने प्रतिष्ठितम्. कलिं द्यतीति कलिन्दस्तस्य पर्वतस्य कन्यकापि तद्विधा— अनेन दोषत्रयं परिहृतं भविष्यतीत्युक्तम्, अन्योन्यं कलहो भगवता सह कलहः कलिकालदोषश्च. एतदर्थमेव कालिन्द्यां स्नानं पुनः शुद्धभावाय. उषः सर्वकार्येषु प्रशस्तमिति भगवत्क्रीडार्थं "मुषः प्रशंसते गर्ग" इतिवाक्याद् गमनम्. **अन्वहमिति** नात्र कालोऽपरिच्छिन्नः. अतोऽव्यक्ततया भगवत्स्थिति[1]र्गानमन्योन्यस्पर्धाभावोऽसङ्घा[2]ताभावो दोषाभावश्च सर्वदैव जातो न कदाचिदपि कोऽप्यंशो निवृत्तः॥६½॥

एवं जाते स्वयमपि भगवान् प्रकटो जात इति वक्तुमुपाख्यानमारभते **नद्यामिति**.

नद्यां कदाचिदागत्य तीरे निक्षिप्य पूर्ववत्।
वासांसि कृष्णं गायन्त्यो विजह्रुः सलिले मुदा ॥७½॥

लेखः

तथात्वमिति भगवत्पतिकात्वमित्यर्थः. **अत** इति एतदनन्तरं प्रातरित्यर्थः. मूले एवं **जगुस्तत अन्वहं स्नातुं यान्त्यो** जाता इत्यन्वयमभिप्रेत्याहु**र्गायन्त्य एवेति**. **गानं मुख्यमिति** कालापरिच्छिन्नमित्यर्थः. **स्नानगमने गौणे** इति कालपरिच्छिन्ने इत्यर्थः. **अनेनेति अन्वहमिति**पदेनेत्यर्थः, अन्यथा पूर्ववत् 'मासव्रतमि'ति वदेदिति भावः. **अन्योन्यं कलहः** सापत्न्यरूपः, **भगवता सह कलहो** मानादिरूपः, **कलिकाल**जनितश्चित्ताशुद्ध्या भगवत्येतावत्कष्टेपि नागत इति क्रौर्यादि**दोषा**रोपरूपः. **नात्रेति**, **अन्वहमित्यस्य यान्त्य** इत्यनेनैवान्वयाद् गमनेऽपरिच्छिन्नः कालो न किन्तु दिनैः परिच्छिन्न एवेत्यर्थः. **अत** इति गमनस्यैव परिच्छिन्नत्वाद्, वक्ष्यमाणास्तु सर्वदैव जाता इत्यर्थः. अत एवाभासे गमनमेव परिच्छिन्नत्वेन विधेयत्वाद् वाक्यार्थ उक्तः. **असङ्घाभाव** इति सङ्घः समूहो भगवता सह स्थितिरिति यावत्, न सङ्घो येन तादृशो भगवता सह कलहस्तदभाव इत्यर्थः ॥६½॥

---

१. ज्ञानं. २. लुप्तं.

कदाचिदिति यदा [1]पुनर्भद्रः कालः. कालिन्द्याः प्रयोजनं वृत्तमिति **नदी** निरूपिता. **पूर्ववदेव** गानं कृत्वा तेन गानेन मत्ता विस्मृतात्मानः स्वपरिहितानि **वासांसि तीरे निक्षिप्य** भगवता सह जलक्रीडार्थमेव प्रविष्टा **मुदा सलिले विजह्रुः**. स्नाने मौनवस्त्रपरित्यागौ दोषद्वयं क्रीडा च नियमस्थानां देहविस्मरणं च **मुदे**त्यनेन सूचितम्. एवं चत्वारो दोषा जाताः कर्ममार्गे, भक्तौ तु गुणा ॥७½॥

अतस्तद्दोषपरिहारार्थं कर्मण्यपगते भगवान् स्वयमागत इत्याह **भगवांस्तदभिप्रेत्ये**ति.

लेखः

नद्यामित्यत्र मत्ता इतिं, वस्त्रत्यागो मत्तानामेव भवतीति भावः. आभासेऽवान्तरप्रकरणार्थ उक्तः, वाक्यार्थमाहुः **स्नान** इत्यारभ्य **गुणा** इत्यन्तेन ॥७½॥

कर्मणीति हेमन्तनियमादिरूपे इत्यर्थः. तस्मिन्नपि विद्यमाने एतच्चतुष्टयसम्पत्तौ तु केवलकर्ममार्गीयत्वेन सर्वथा दोषत्वादुपेक्षामेव कुर्यादिति भावः. **स्वयमिति**, पूर्वं भाव्यमानः समागतोऽधुना स्वयमित्यर्थः. **भगवानित्यत्र आनन्दस्तत्रेति**, रसादीनामन्नादिष्विवोपस्थविषयस्यानन्दस्य स्त्रीषु प्रतिष्ठेत्यर्थः.

योजना

नद्यां कदाचिदागत्येत्यत्र **भक्तौ तु गुणा** इति, तत्र मौनपरित्यागो भगवत्कीर्तनार्थं कर्तव्य एव. "शृण्वन् गृणन् संस्मरयंश्च चिन्तयन् नामानि रूपाणि च मङ्गलानि ते क्रियासु यस्त्वच्चरणारविन्दयोराविष्टचित्तो न भवाय कल्पत" इतिदशमस्कन्धे गर्भस्तुतिवाक्यात् क्रियामात्रे भगवत्कीर्तनस्यावश्यकत्वमतो मौनत्यागो गुण एव. वस्त्रपरित्यागस्तु भक्तिजन्यं मदं सूचयन् गुणो भवति. "परस्परं त्वद्गुणवादसीधुपीयूषनिर्यापितदेहधर्मा" इतिवाक्यात् परमभक्तौ देहधर्मा निवर्तन्ते. प्रकृतेपि देहधर्मनिवृत्तिमदेन सूचिता, मदश्च वस्त्रत्यागेन सूचितः, अतो भक्तिजन्यमदाद् वस्त्रत्यागो गुण एव. **विजह्रुरिति**पदेनोक्ता क्रीडापि गुणः, "तुष्यन्ति च रमन्ति चे"ति भक्त्युत्कर्षे क्रीडाकथनात्. देहविस्मरणं च गुणः, "तन्मनस्कास्तदालापास्तद्विचेष्टास्तदात्मिकाः तद्गुणानेव गायन्त्यो नात्मागाराणि सस्मरुरि"तिवाक्यात्. **एवं चत्वारोपि भक्तौ गुणाः** ॥७½॥

---

१. यदा भद्रः.

भगवांस्तदभिप्रेत्य कृष्णो योगेश्वरेश्वरः।
वयस्यैरागतस्तत्र वृतस्तद्व्रतसिद्धये ॥८ १/२ ॥

तासामपराधं ज्ञात्वा तन्निवृत्त्यर्थं समागतः. किञ्च **कृष्णः** स्त्रीणां हितकारी, आनन्दस्तत्र प्रतिष्ठित इति, परं सदानन्द इति दोषो[1] निवर्तनीयः. अन्तःस्थितदोषनिवृत्तौ सामर्थ्यमाह **योगेश्वरेश्वर** इति— योगेश्वरा हि [2]योगबलेनान्तः[3] प्रविश्य तत्र तत्र स्थितं दोषं दूरीकुर्वन्ति; तस्याप्ययमीश्वर इति नास्य प्रवेशोऽपेक्ष्यते. एते हि बालकाः पूतनायां प्रविष्टाः पुनः स्वस्मिन्नागता एतासामाधिदैविकरूपाः, अत एव पुरुषरूपा एव. अनधिष्ठिताः पुनः स्वच्छन्दभोगयोग्या न भविष्यन्तीति दृष्टिद्वारा तेषामपि प्रवेशनम्. तद्भोगार्थं च तैरपि **वृतः** प्रार्थितः, **तत्रैव** स्थाने ताभिरपि **वृतो** "भूयान् नन्दसुत" इति. एतदपि सर्व**मभिप्रेत्य वयस्यैः** सहा[4]**गतस्तत्रैव वृत**श्च. अत**स्तस्य व्रतस्य सिद्धिः** फलं तदर्थम् ॥८ १/२ ॥

टिप्पणी

अत्रैवाग्रे **वयस्यैरागत** इत्यस्य विवरणे, **एते हि बालका** इत्यारभ्य **तद्भोगार्थं चे**त्यन्तम्. अत्रेदं ज्ञेयम्— भगवान्सृष्टिं कुर्वन् कांश्चन जीवान् पुंप्रकृतिकान् कांश्चन स्त्रीप्रकृतिकानसृजत्. शरीरस्यातथात्वेपि तेषां तेषां प्रकृति-

लेखः

भगवत्त्वात् समागतः कृष्णत्वात् चेति मूलवासनया **किञ्चे**त्युक्तम्. **पुनरि**ति, नायिकारीत्या भोगे सिद्धेपि नायकरीत्या पुनर्भोगार्थमित्यर्थः. **दृष्टिद्वारे**ति, "तास्तथावनता दृष्ट्वे"त्यत्रोक्ता या सर्वाङ्गविषयिणी दृष्टिस्तद्द्वारेत्यर्थः ॥८ १/२॥

योजना

भगवानित्यत्र **वयस्यैरागत** इत्यस्य विवृतावे**ते बालका** इत्यारभ्य **तद्भोगार्थ चे**त्यन्तम्. **एतासामाधिदैविकरूपा** इति एतासां पुम्भावरूपा इत्यर्थः. अत्रोपपत्तिस्तु मया प्रमाणप्रकरणसुबोधिनीयोजनायां दृढतया निरूपितास्ति. **अनधिष्ठिता** इत्यादि. एताः कुमारिका एतैस्तत्पुम्भावरूपै**रनधिष्ठिता** विपरीतरसक्रीडायां यः **स्वच्छन्दभोगस्तद्योग्या न** भवन्तीति तद्रसानुभवार्थमेतास्वेते पुम्भावरूपाः स्थापिता इत्यर्थः ॥८ १/२ ॥

१. दोषा निवर्तनीयाः. २. योगे. ३. लुप्तं. ४. गतश्च.

टिप्पणी

स्तथैव भवति. पुंप्रकृतिकास्तु हरिं भजन्ते पुरुषांशप्रवेशात् नेतरे, केवलप्रकृत्यंशवत्त्वात्. अत एव भगवद्भजनविधाने "को नु राजन्निन्द्रियवानि"त्यादौ सर्वत्र पुंलिङ्गेनैवाधिकार्युक्तः. अन्यथा स्त्रीणां हरिभजनमकर्तव्यं स्यात्, अविहितत्वात्. तेन शरीरगतपुंस्त्वस्त्रीत्वे अविवक्षदुक्तरूपमेव विवक्षच्छास्त्रं भजनं विधत्त इति मन्तव्यम्. तथा च जीवेष्वपि पुंस्त्वस्त्रीत्वे स्त इति ज्ञायते. एवं सति पूर्वोक्तर्षयोपि पुंस्त्ववन्तः स्थिताः. ते चात्यन्तं प्रिया इति तत्सम्बन्धि सर्वं प्रियमिति महानुग्रहेण तद्धर्माणामप्यङ्गीकाराच्च तत्सम्बन्धि यत् किञ्चित् तद्वैयर्थ्यं न युक्तमिति तदीयपुंस्त्वाख्यं धर्ममप्येतासु स्थापयितुं तत्र तत्रावतारितवान्. इदमेवाधिदैविकत्वम्[1]. अत एवर्षित्वदशायामुक्तं वचनं सत्यं कृतमित्येते जानन्तीति तान् साक्षित्वेन वक्ष्यति "तदिमे विदुरि"ति. स्त्रीप्रेक्षणादौ सति विकारवत्त्वं सहजस्तद्दोषः, तस्मिन्सत्यपराधः स्यात्, तेन चानर्थसम्बन्धः स्यादिति क्षारेण मलनिवृत्तिवदतिक्रूरायां स्त्रियां पूतनायां प्रथमं सम्बन्धं कारितवान्. एतेषां महापुरुषत्वेपि तदा साप्ययं भगवानयं वा भगवानिति भाववतीति ताननन्तर्निनाय. अत एव तदन्तःस्थितावपि नासुरभावप्रवेशः. तथा सति तत्सम्बन्धजक्लेशेन तपसेव तद्दोषनिवृत्तौ स्वकृते च तेषां भक्षणमिति स्वानन्ददानाय तत्प्राणैः सह तानप्यानीतवान् स्वस्मिन्. कुमारीषूक्तरीत्या प्रसादरूपायाः शक्तेर्भगवतो वा प्रवेशेन तादृग्भोगयोग्यता परं सम्पादिता, सहजं पुरुषत्वं त्वेतासु स्थापितमेव. अन्यथा "यत्राप्यतिशयो दृष्टः स स्वार्थानतिलङ्घनादि"ति न्यायेन कामभाव एव स्यात्, न तु सर्वात्मभावः, स्त्रीस्वभावस्यैव तादृशत्वात्. [2]अत एव प्रौढभावोत्पत्तिः, येन लोकवेदनैरपेक्ष्येण भजनम्. भगवतोपि स्वच्छन्दभोग[3] एतास्वेतासां च. यद्यपि भगवान् विनैव साधनं सर्वं कर्तुं समर्थ इति शक्यं वक्तुं तथापि तत्तद्वस्तुमर्यादास्थापनपूर्वकं भोगे महान् रस इति भगवतैव सर्वरसभोक्त्रा तथा क्रियते. अन्यथा विनापि स्त्रीत्वं स्वानन्दं दातुं समर्थ इति तथैव कुर्यात्. अत एव वात्स्यायनीयानुसारेणैव रमते. "भगवानपि रन्तुं मनश्चक्र" इति वक्ष्यते चेति सर्वमवदातम् ॥८ १/२ ॥

१. "किञ्च, शरीरमात्रसम्बन्धेनाप्यासुराणामपि सम्बन्धः स्याद्, नौकाप्रवाहवदप्रयोजकत्वेन पूर्ववत्साधनानुसारेण फलं भवतीत्यत एवोक्तं सेवाफलविवृता"वासुरोयं जीव" इत्यादिना दिगि"त्यधिकं क्वचित्. २. तत मू. पा. ३. स्वच्छन्दं भोग मू. पा.

ततो भगवान् स्वस्य तासां च मध्ये यदन्तरा स्थितं तद् वस्त्रमिति तानि हृतवानित्याह **तासां वासांसी**ति.

तासां वासांस्युपादाय नीपमारुह्य सत्वरम् ।
हसद्भिः प्रहसन् बालैः परिहासमुवाच ह ॥९½॥

उपादाय स्वसमीपे नीत्वा, स्वान्तःस्थितजगतो महतोप्याच्छादनार्थं, तैराच्छाद्य **सत्वरं** भगवान् **नीपमारूढः. नीपः** कदम्बः, अन्यथान्तःस्थितेष्वाच्छादितेषु दैत्यप्रवेशः स्यात्. "वैष्णवा वनस्पतय" इति न प्रवेशः. अत एव **सत्वरं** यथा भवति तथारोहणं, तासामावरणमन्यत्र स्थापित-

टिप्पणी

अत्रैवाग्रे **तासां वासांस्युपादाये**त्यस्य विवरणे, **उपादायेत्यारभ्यान्यत्र स्थापितमित्यर्थ** इत्यन्तम्. अत्रायमाशयः— वस्त्रग्रहणोक्ते'रादाये'त्येतावतैव सम्भवेऽपि गृहीतस्य ग्रहीतृसामीप्ये अन्यतः प्राप्तेऽपि सामीप्यवाच्युपसर्गकथनं तद्विशेषाभिप्रायकमिति मन्तव्यम्. स एव **स्वान्तःस्थिते**त्यादिना निरूप्यते. तच्चिन्त्यते. "यः पृथिव्यां तिष्ठन्नि"त्यादिश्रुतिनिरूपितत्वेन तस्य नैसर्गिकब्रह्म-धर्मत्वाद् वस्त्रैस्तदाच्छादनकथनं न युक्तिगम्यं, भगवता सह व्यवधानासम्भवाच्च. अत एव तेषु दैत्यप्रवेशोपि तथा. प्रयोजनं चाच्छादनस्य न विद्मः. तदभावार्थं नीपा-रोहणोक्तिरपि तथा. तत्र हि स्वयमारूढः. स्वनिष्ठत्वेन स्वद्वारा जगतस्तत्सम्बन्धो वाच्यः. एवं च सति भगवन्निष्ठत्वेनैव तत्प्रवेशासम्भवे तदारोहणं किमर्थम् ?

उच्यते. एके हि शास्त्रार्थत्वेन हरिं ज्ञात्वा तन्माहात्म्यं च भजन्ते. तदपि न साक्षात्, किन्तु श्रवणादिधर्मद्वारा. वस्तुतस्तु धर्मानेव भजन्ते, तेन वैदिकास्ते. अन्ये च पुत्रत्वादिधर्मपुरःसरमिति लौकिकधर्मद्वारा. अतस्तदनुरूपमेव फलं तेभ्यो हरिर्ददाति. एता हि धर्मिमात्रे पर्यवसितमतयः, न तु तद्धर्मेष्वपि. न वा धर्मद्वारा नारदादिवद् यशोदादिवच्च. अत एव भगवताग्रे वाच्य"मेवं मदर्थोज्झितलोकवेदस्वानामि"ति. अत एव स्वाभाविकलज्जात्यागोऽपि. एवं सति "ये यथा मां प्रपद्यन्त" इति वाक्यादेतदनुरूपमेव भगवतापि कार्यम्,

लेखः

अन्तरा स्थितमिति, प्रतिबन्धनिवृत्तेः प्रार्थितत्वात् "कन्यावरयोर्विवाहे जवनिका दूरीक्रियते" इति विवृतत्वात् च तदर्थं वस्त्राणि **हृतवानिति** ज्ञापयितुमेवमाभास उक्तः. **तासां वासांसी**त्यत्र **किञ्चे**ति, नीपारोहणेन निष्काम-

मित्यर्थः. नितराम् इं कामं पिबतीति नीपः, पातीति वा. अनेन तासु कामः स्थापित

टिप्पणी

सर्वमर्यादात्यागपूर्वकमेतद्भजनमिति. भगवतापि स्वस्वरूपमर्यादाप्येतदर्थं त्यक्ता. अत एव "आत्मारामोपी"ति वक्ष्यते. "साधवो हृदयं मह्यमि"त्यत्र "मदन्यत्ते न जानन्ति नाहं तेभ्यो मनागपी"त्यपि भगवतोक्तम्. अन्यथा अकुण्ठितज्ञानशक्तेस्तदन्याज्ञानकथनमनुपपन्नं स्यात्. एषा हि पुष्टिलीला, अत्र मर्यादामार्गवैपरीत्यं न दोषाय किन्तु गुणाय, मार्गस्यैव तथात्वात्. एवञ्च सत्येतावद्दर्शनं स्वातिरिक्तस्य यथा न भवति तथाच्छादनं कृतमिति बुध्यस्व. "नाहं तेभ्य" इति वाक्याद्यथा ज्ञानं नान्यविषयकं, तथा स्वरूपमप्येतदर्थं प्रकटीभूतमेतदितरासम्बद्धमिति भगवता सह व्यवधानमपि सम्भाव्यते. अलौकिकश्चायमर्थो वचनबलेन भक्तिभावितान्तर्हृदयेन चावगन्तव्यः. अतो न व्यापकत्वेन तदसम्भवः शङ्कनीयः, अन्यथा "हृदिस्थं कुरु केशवम्" "विसृजति हृदयं न यस्ये"त्यादिकमनुपपन्नं स्यात्. श्रुतिरपि "तद्दूरे तदन्तिक" इत्येतदभिप्रायिकैव. धर्मिग्राहकमानसिद्धं वस्त्वेव तथेति नानुपपत्तिः काचित्. यत्तु 'नीपारोहणानुपपत्तिरि'ति तत्रोच्यते— भगवान् हि लीलां कुर्वन् शास्त्रार्थमपि बोधयति. एतद्भाववतामेव साक्षात्पुरुषोत्तमसम्बन्धः, अन्येषां दूरतरः. तेष्वासुरधर्मप्रवेशश्चावश्यकः. स च भगवदधिष्ठितैर्वैष्णवैस्तदुक्तधर्मैः श्रवणादिभिश्च शीघ्रं निरस्य इति ज्ञापनार्थत्वमाच्छादनारोहणयोरित्येतत्तात्पर्यकोऽयं ग्रन्थ इति नोक्तानुपपत्तिः. ननु सेवकेषु सत्सु स्वयमीश्वरः कुतो वस्त्राणि जगृहे ? अगृहीत्वैव तन्निकट[१] एव वा कथं नाकारितवांस्तत्राह **तासामावरणमि**ति. नह्यत्र वसनग्रहणमुच्यते किन्त्वेतासां साक्षाद्भगवत्सम्बन्धेऽन्तरायस्य हरणम्. तच्च नान्यशक्यमिति वस्त्रव्याजेन **तद्धृत्वान्यत्र** पूर्वोक्ते **स्थापितमित्यर्थः**. भगवत्कृतिर्लौकिकवत् प्रतीयते परं वस्तुतस्त्वलौकिकी; तत्त्वेन भानं च भगवद्दृशैव भवति नान्यथेति भावः.

योजना

तासां वासांस्युपादायेत्यस्य विवृतौ **स्वान्तःस्थिते**त्यारभ्य **अन्यत्र स्थापितमि**त्यादेरर्थष्टिप्पण्यां प्रपञ्चितोस्ति, उपपत्तिश्च. **नितराम् इं कामं पिबतीति**

१. तन्निकटस्थ मू. पा.

एव, अन्यथा निष्कामा एव भवेयुः. कामरक्षकश्चेद् भगवता समारूढो; नातः परं निष्कामता तत्रत्यानां शङ्कनीया. किञ्च **हसद्भिर्बालैः** सह **प्रहसं**स्तासां सहजं कामं दूरीकृत्य स्वस्याधिदैविकं कामं प्रहसन्(न!)रूपं तत्र योजितवान्. बालाः पुनर्भगवच्चातुर्यं शैघ्र्यं च दृष्ट्वा स्वकृतार्थतां परिज्ञाय हसन्तो जाताः सन्तोषेण, यतो **बाला** बलकार्यार्थमेव [1]तत्र नीताः. अत एव पुनस्तेषु ज्ञानशक्तिं दास्यति. तेषामपि मायाधिदैविकी तत्र प्रविष्टेति [2]प्रथमाकारणे नागमनम्. एवं कृत्वा **परिहासं** परितो हास्यं यथा भवति तथा सर्वतोऽभिमानिवृत्त्यर्थ**मुवाच.** भगवान् सर्वेश्वरः कथमेवं वदतीत्याश्चर्यमाह **हेति** ॥९ $\frac{१}{२}$ ॥

भगवतो वाक्यमाहा**त्रागत्ये**ति.

टिप्पणी

एतदग्रे **हसद्भिः प्रहसन्बालैरि**त्यत्र, **तेषामपि मायाधिदैविकी**त्यादि. यदि बालान् स्वसम्बन्धित्वेन जानीयुस्तदा पुरुषान्तरत्वज्ञानाभावेन तद्दृष्टिपातेऽपि भयाभावज्ञानात्[3] प्रथमाकारण एवागच्छेयुः. ते च तथा न ज्ञापयन्त्यन्यथा च ज्ञापयन्तीति तत्कापट्यं माया. तथा च पुरुषान्तरत्वज्ञानेन स्वस्य चानन्यत्वेन तच्छङ्कया नागता इति. एतेषामाधिदैविकत्वेन भगवदिच्छानुसारित्वेन च तत्राधिदैविकत्वम्. प्रभोरिच्छा तु रसविशेषार्थं परीक्षासम्पत्त्यर्थं चेति ॥९ $\frac{१}{२}$ ॥

लेखः

ताशङ्काभाव उक्तः, प्रहसन्(न!)रूपकामयोजनेन च तदभाव इति समुच्चयः. **बलकार्यार्थमेवे**ति, तासु स्थापनेन पुंस्त्वप्रकारकरसानुभवार्थमित्यर्थः. **अत एवे**ति, दृष्टिद्वारा स्थापनेन यथोचितभोगानुकूलां **ज्ञानशक्तिं** बालेषु **दास्यती**त्यर्थः ॥९ $\frac{१}{२}$ ॥

योजना

नीप इति. इकारस्य कामबीजत्वं मन्त्रशास्त्रे सिद्धं, तथा च इं कामं पिबति कामभोगं करोतीति यावत्. **बलकार्यार्थमेव तत्र नीता** इति– पुम्भावरमणरूप**बलकार्यार्थं तत्र** वस्त्रग्रहणस्थले **नीता** इत्यर्थः. अस्मिन्नध्याये सुबोधिनीफक्किका बह्व्यो गूढार्था सन्ति, ता यद्यपि व्याख्येयास्तथापि श्रीमत्प्रभुचरणैर्विस्तरेण टिप्पण्यां व्याख्याता इति ततोऽवधेयम् ॥९ $\frac{१}{२}$ ॥

१. तत्रा°. २. °रेणा°. ३. भयाभावज्ञानाभावात् इत्यपि पाठः.

अत्रागत्याबलाः कामं स्वं स्वं वासः प्रगृह्यताम्।
सत्यं ब्रुवाणि नो नर्म यद् यूयं व्रतकर्शि[1]ताः ॥१० $\frac{१}{२}$ ॥

अस्मदीयः कामस्तत्र न गच्छत्यतो**ऽत्रैवागत्य, कामं वास** आच्छादकं

टिप्पणी

अस्मदीयः काम इति. लोके हि क्रियाफलस्य स्वसामानाधिकरण्यवैयधिकरण्यविवक्षयैव गतिक्रियाया'मागमन-गमन'शब्दौ प्रयुज्येते वक्त्रा. तथा **चागत्ये**त्येतावतैव स्वनिकटदेशप्राप्तावत्रेति पदं किमर्थम्? न चाभिमुख्यस्यै**वाङ**र्थत्वेन देशविशेषाकांक्षापूरकत्वे**नात्र**पदं सार्थकमिति वाच्यम्, **स्वं स्वं वासः प्रगृह्यतामि**ति वाक्यादागमनस्य तदर्थत्वादन्यत्र स्थितौ ग्रहणासम्भवात् तत एव तद्योग्यतत्प्राप्तेः, 'दण्डेन घटं कुर्वि'त्यत्र दार्ढ्यस्येव. अपरञ्च. आभिमुख्यपदार्थोऽपि विचारणीयः. न च सांमुख्यमात्रं सः, सम्मुखं स्थित्वा पश्चाद्गच्छत्य'प्यागच्छती'ति प्रयोगापत्तेः. किन्तु वक्तृनिकटदेशसंयोगफलकक्रियाजनकप्रयत्नः सः. इतोऽपि **नात्र**पदं सार्थकम्. न च 'तत्रागत' इतिप्रयोगान्न तथेति वाच्यम्, तत्र प्रयोगद्वयमपि लोके दृश्यते. उक्तरूपाभिप्रायवतस्तु नियमत आङ्प्रयोगो दृश्यत इत्याङोऽत्र शक्तिः. 'तत्रागत' इत्यादौ तु वक्ष्यमाणदेशस्याभीष्टत्वेन तत्र स्वस्थितिमिव मन्यमानस्यौपचारिकः प्रयोग इति त्वयाप्युररीकर्तव्यमिति चेद्,

उच्यते. एतावत्पर्यन्तं भावनयैवैताः सर्वं कृतवत्यः, न तु[2] साक्षाद्भगवत्प्राकट्येन. तच्च साक्षादप्राप्तावेवोचितम्, न तु प्राप्तावपि, एतदतुल्यत्वात्. जातेपि प्राकट्ये पूर्वोक्त[3]स्थितिर्नोचितेति भावितं तत्कार्यं च त्यक्त्वा **अत्र** प्रकटे **मय्यागत्य वासः प्रगृह्यतामि**त्यर्थः. किञ्च एतावत्कालपर्यन्तं भावनयैव कामपूर्तिरासीत्. स च न मुख्यः कामः किन्तु तदाभासः. अतो मुख्यं काममेव ददामि, वासोरूपेण लोके परिदृश्यमानं, परं वस्तुतस्तु मदीयकामरूपमिति सामानाधिकरण्यमुक्तं **कामं वास** इति. अत एवाग्रे न भावनामात्रेण कामपूर्तिः साक्षात्सम्बन्धं विना. एतदेवाभिसन्धायोक्तमाचार्यै**रस्मदीय कामः** इत्यादि. **तत्र** भावनायां मुख्यः कामभावो न भवतीत्यर्थः. **अन्यथे**ति, ईश्वरत्वेन तन्निमित्तक-

१. °कर्षिताः. २. न तु तत्र साक्षाद् मू. पा. ३. पूर्वोक्ते मू. पा.

वस्त्ररूपं, काममयत्वाद् यथेच्छमिति लोकप्रसिद्धिः, सर्वस्यैव कामस्याधिदैविकमत्र तिष्ठतीति अतो वस्त्रसम्बन्धात् पूर्वं निष्कामा एव ताः पुनरपि पूर्वकामवद् वस्त्रवद्[1] वा हरणे ग्रहणं व्यर्थमित्याशङ्क्याह **प्रकर्षेण गृह्यतामिति**. दाने प्रयोजन**मबला** इति, बलमस्मादेव भवतीति. अत एव निरिन्द्रियाः **स्त्रियोऽबला** इत्युच्यन्ते. बहुव्रीहावपि निमित्ततायां स्वार्थं कामदानं वस्त्रदानं च, अन्यथा मर्यादाभङ्गः स्यात्. वासोऽपि मयि स्थितं प्रगृह्यतामिति ध्वनिः, अस्मदीयाभिरेव वा पूर्वपरिग्रहः कर्तव्य इति, अन्यथानिष्टः स्यात्. बालकानां मायया च व्याप्ताइति स्ववाक्येऽप्रामाण्यं ज्ञास्यन्तीत्यत आह **सत्यं ब्रुवाणीति**, सत्यं वदामीत्यर्थः. अनेन स्त्रीष्वनृतं-

लेखः

अत्रागत्येत्यत्र काममयत्वादिति, "सोमाय वास" इत्यत्र "क इदं कस्मा ददात् कामः कामाये"ति श्रुतेरित्यर्थः. **आधिदैविकमिति** स्वरूपमित्यर्थः. **अत्र** वस्त्रेष्वित्यर्थः. **निरिन्द्रिया** इति, इन्द्रियं सामर्थ्यं तद्रहिता असमर्था इत्यर्थः. **बहुव्रीहावपीति**, असमर्थानां भोगासम्भवाद् बलसम्पादनमपि मदर्थमेवेति **स्वार्थमे**वैतद्द्वयदानं षष्ठ्यन्तबहुव्रीहावपि सिद्धम्. 'न बलं याभ्यो' यन्निमित्तकं बलं मम नास्त्यहं भवदधीनोऽतो ददामीत्यर्थः. एवं निमित्ततायां बहुव्रीहौ निमित्त-ताबोधनार्थक-चतुर्थ्यन्तबहुव्रीहावपि तथैव सिद्धमित्यर्थः. **मायया चेति**, परिहासकथनं **चकारार्थः** ॥१०½॥

योजना

अत्रागत्याबला इत्यस्य विवृतौ **बहुव्रीहावपि निमित्ततायामिति निमित्ततायां बहुव्रीहावपी**त्यन्वयः. निमित्तताज्ञापकं बहुव्रीहौ न बलं याभ्य इति विग्रहे यन्निमित्तं मयि बलं नास्ति. सर्वेभ्यो मम बलं, भवतीभ्यस्तु मयि बलं नास्ति. "अहं भक्तपराधीन" इत्यारभ्य "वशे कुर्वन्ति मां भक्त्ये"तिवाक्याद् "यथा भक्तिमतामिहे"त्यादिवाक्यात् च भवदधीनोहं, न भवतीषु मद्बलमिति भावः. **अन्यथेत्यादि**, यदि कामं वस्त्रं वः न दद्यां तदा अबलात्वमेव तिष्ठेत्, न बलम्. तथा सति मदीयकामं विना मया सह रमणे योग्यताया अभावाद् रसन्यूनतैव तिष्ठेत्. तथात्वे **रसमर्यादाभङ्गः स्यादित्यर्थः**. अथ वा ये मद्भक्तास्तादृशं मदानन्दानुभवायोग्यास्तेषु योग्यतामपि सम्पाद्यानन्दानुभवं चेत् न कारयेयं तदा

१. बद्ध्वा.

टिप्पणी

बलाभावस्याभावे **रसमर्यादाभङ्गः स्यादि**त्यर्थः. दत्तस्यादानं ग्रहणम्; तत्र प्रियस्य रसवशात् स्वाधीनत्वे सति तदीयस्यादत्तस्यापि रसाधिक्येन बलाद्वाससो ग्रहणं प्रकर्षः प्रशब्देन ध्वन्यत इत्यभिप्रायेणाहुः **वासोपी**त्यादि. अत्र **स्वं** मदीयं **स्वं** स्वकीयं यथा भवति तथा **प्रगृह्यतामि**त्यर्थः. एतेन भवतीषु नादेयं किञ्चिदस्तीति सूचितम्. सम्बोधनेन पूर्वं बलरहिता अपि मन्निकटे समागत्योक्तरूपबलवत्यो भवत्यो भवन्त्वित्यप्यर्थः सूचितः. वाच्येऽर्थे वाससामेतदीयत्वस्यानुक्तिसिद्धत्वेन तदुक्तिवैयर्थ्यमाशंक्येत, तदपनोदनाय तद्ध्वनितमर्थं पक्षान्तरत्वेनाहुः **अस्मदीयाभिरि**त्यादिना. अधुना ह्येता वस्त्रवत्कामभावमपि त्यक्त्वा विहरन्ति, **मुदे**ति पदाद्भावनयैव पूर्णमनोरथा इति ज्ञापनात्. तथा च सम्बोधनेन स्वातन्त्र्याभावात् स्वानधीनत्वेन[1] स्वकीयत्वं ध्वन्यते, तेन ग्रहणेऽधिकार उक्तो भवति. **स्व**पदाभ्यां च पूर्वसिद्धं स्वत्वमनूद्यत इति ऋषित्वदशायां प्रार्थनाहेतुर्यः कामः पूर्वं, इहैव वा पूर्वकालीनो यः, स ध्वन्यते. एतदेवोक्त**मस्मदीयाभिरेव पूर्वपरिग्रहः कर्तव्य** इत्यनेन. **पूर्वपरिग्रह**स्त्यक्तार्थपरिग्रह इत्यर्थः. **अन्यथे**ति, अस्माभिर्व्रतबलेनैतावत्साधितं तेनैव अन्यदपि साधयिष्यत इति भावे सति भगवदधीनत्वाभावेनोक्तरूपाधिकाराभावात् कर्मफलस्याल्पत्वेन तथाफलत्वेन दत्तवस्त्रपरिग्रहो**ऽनिष्टः स्यात्**. सर्वभावप्रपत्त्यैकलभ्यो रसो हीष्टः, तदितरोऽनिष्टः स स्यादित्यर्थः. एतेन पूर्वं **स्वं** स्वकीयमेवाधुना त्यागात् पुनः **स्वं** यथा भवति तथा **गृह्यतामि**त्यप्यर्थो मूलस्य ध्वन्यते. पूर्ववत् प्रचुरभावयुक्ता भवन्त्विति भावः. भगवतो हि स एवेष्टः, अन्यथा रसाभासः स्यात्. एतदे**वान्यथानिष्टः स्यादि**त्यनेनोच्यते.

योजना

"ये यथा मां प्रपद्यन्त" इतिवाक्योक्तभक्तिमार्ग**मर्यादाभङ्गः स्यादित्यर्थः. वासोपि मयि स्थितम**त्यादीनामर्थष्टिप्पण्यां स्फुट एव. **बालकानां मायये**ति, "हसद्भिः प्रहसन् बालैरि"ति वाक्याद् **बालकानां** हास्यरूपया **मायया व्याप्ताः**. "अस्माकं परिहासो भगवता बालैश्च क्रियते" इति ज्ञानाद् भगवद्वाक्ये प्रामाण्यबुद्धिर्न भविष्यतीत्याशङ्क्य **सत्यं ब्रुवाणी**त्युक्तं भगवतेति भावः ॥१०½॥

१. स्वाधीनत्वेन मू. पा.

वक्तव्यमित्यपि निराकृतम्. नन्वनृतं न भवति, दास्यसि, परं नग्नदर्शनेनोपहासार्थं वदसीत्याशङ्क्याह **नो नर्मेति**, **नर्म नो** न भवति. यद्यपि लोकदृष्ट्या नर्मवद् [1]भाति तथापि वस्तुतो न नर्म. युक्तिमप्याहानर्मत्वे **यद्** यस्माद् **यूयं व्रतेन कर्शि**[2]**ताः**— न हि व्रतिभिः सह नर्मोचितं नापि क्लिष्टैः, अन्यथा नर्म वैरजनकं भवेत् ॥१०½॥

टिप्पणी

अथवा. वीप्सया नायिकाभेदेन यांदृश्या यादृशो भावस्तादृशी तादृशमेव तं गृह्णातु, न विजातीयमित्यर्थो ज्ञाप्यते, विजातीयग्रहणे रसपोषो न स्याद्, एतदेवोक्त**मन्यथे**त्यादिना. उच्छलिते रसे त्वन्या व्यवस्थेति न काचिदनुपपत्तिः, तदर्थमेवैतत्करणं यतः. यद्वा. त्यागात्यागनिर्णयरूपत्वादेतत्प्रकरणस्य तन्निर्णयोऽप्यनेन ध्वन्यत इत्याहुः **अस्मदीयाभिरि**त्यादि. अत्रायमाशयः. अधुनैतासां भाव्यवस्थान्तरस्फूर्तौ हि स्वत्वानुसन्धानपूर्वकं वसनस्थापनं तीरे स्यात् किन्तु रसभरवशेन"इयमेवावस्था मे सार्वदिकी! कदाचित् तदपेक्षायां प्रियस्योत्तरीयमेव ग्रहिष्य!!" इति प्रत्येकं भावोत्पत्तेर्वसनानां त्याग एव कृतः न तु स्थापनमात्रम्. एवं सति त्यक्तार्थपरिग्रहत्वेन तद्ग्रहणं न युक्तं स्यादिति तन्निषेधकवाक्यस्य मर्यादामार्गीयपरत्वात्, धर्मिपराणां वचनानधीनत्वेन केवलं तदधीनत्वात्, तद्दत्तस्य त्यक्तस्यापि ग्रहणं युक्तमेवेति, अन्यथा मर्यादामार्गीयत्वमित्यर्थः.[3] किञ्च केवलवस्त्राणां त्यागोऽभूत्, भगवांस्त्वधुना स्वकीय[4]कामरूपाणि तानि ददातीति त्यक्तार्थतापि नात्र. आचार्यैस्तु लोकदृष्टिमपेक्ष्य समाहितम्, त्यागनिर्णयकथनार्थं च. **वापूर्वपरिग्रह** इत्यत्र नञ्प्रश्लेषो वा कार्यः. यद्वा. **पूर्व**पदेन पूर्वः पुंस्त्वाख्यो धर्म उच्यते, तदभावे सर्वभावप्रपत्तिर्न स्यादित्युक्तम्. तेन पूर्वं दण्डकारण्ये पुरुषा एव गोकुले समागत्य स्त्रियो जाता इति पूर्वसम्बन्धं स्वस्य स्मारय**न्नत्रागत्याबला** इत्यनेन सम्बोध्य कर्तव्यमाह— **सः** [5]तच्छब्दस्य पूर्वपरामर्शित्वेन पूर्वः पुंस्त्वाख्यो धर्मः **प्रगृह्यतामिति**. अत्र **स्व**शब्दस्याव्ययरूपस्य कथनात् तद्विशेषणत्वं, ध्वनितेऽर्थे लिङ्गादेरविवक्षितत्वेनापि तथा, क्रियाविशेषणं वा. सर्वभावप्रपन्नाभ्य एव स्वानन्दं शृङ्गाररसरीत्यैव दास्यति. स च मानखण्डितादिभावैरेव पूर्णो भवति. सर्वात्मभावस्फूर्तौ च न तत्सम्भव इति कदाचित् तत्सम्भवः कदाचिन्नेति विकल्पेन गृह्यतामित्याह **वा**शब्देन. विसर्गालोपश्छान्दसः. इति मूले ध्वनितोऽर्थो ज्ञेयः ॥१०½॥

१. भवति. २. कर्षिता. ३. 'मार्गीयत्व इत्यर्थः. मू. पा. ४. स्वीय° मू. पा.
५. "**वास** इति पदे **वा** इति **स** इति पदच्छेदेन व्याख्यानं ज्ञेयम्"— एतट्टिप्पणं मूले नास्ति.

किञ्चास्मत्स्वरूपविचारेणापि नानृतमेतद् भवतीत्याह **न मयोदितपूर्वमिति**.

न मयोदितपूर्वं वा अनृतं तदिमे विदुः।
एकैकशः प्रतीच्छध्वं सहैवोत सुमध्यमाः ॥११½॥

वेत्यनादरे समुच्चयार्थं च; **मया वा** कदाचिद**प्युदितपूर्वमनृतं** [1]न भवति. **उदितमुक्तं** पूर्वमुदितपूर्वम्. **मया** वा जगत्कर्त्रा हेतु**नोदितः पूर्वः** स्वजातीयो यस्य. मत्तः कदाचिदप्य**नृतं नो**त्पन्नमिति **वै** निश्चयेन वा. तत्रैत आधिदैविका ऋषयः साक्षिणोत **इमे विदुः**, त्यक्ताधिदैविकत्वात् तन्मायामोहितत्वाच्च परं भवतीनां सन्देहः. आगमने प्रकारमाहै**कैकशः प्रतीच्छध्वमिति— एकैकश** एकैका समागत्य स्वं स्वं वस्त्रं [2]गृह्णातु. तदा प्रत्येकं भोगः. अथ वा [3]सर्वथा निर्मत्सरा [4]अत्यन्तभक्ताश्चेत् तदा **सहैव वोता**पि. अयं पक्षः साधीयान्. नन्वकर्तव्यं भगवान् कथमुपदिशतीत्याशङ्क्याह **सुमध्यमा** इति, शोभनं मध्यमस्थानं यासाम्. **सुमध्यमा** इति शुद्धान्तःकरणाः, सर्वबन्धसिद्ध्यर्थं च पूर्णज्ञानदृष्ट्या दृष्टाः सर्वतो भद्रा भवन्तीति ॥११½॥

एवं भगवतोक्ता अपि नागता इत्याह **तस्येति**.

तस्य तत् क्ष्वेलितं दृष्ट्वा गोप्यः प्रेमपरिप्लुताः।
व्रीडिताः प्रेक्ष्य चान्योन्यं जातहासा न निर्ययुः ॥१२½॥

तस्य निरोधकर्तुर्भगवतस्त**त्** प्रसिद्धं **क्ष्वेलितं दृष्ट्वा.** अनेन वाक्यार्थो न विचारितः. किञ्च तस्य तमवसरं दृष्ट्वा **तस्य क्ष्वेलितत्वं** निश्चित्य रसमध्ये स्वप्रवेशं मत्वा **गोप्यो** विशेषविचाररहिताः केवलं **प्रेम्णा परिप्लुता** जाताः. प्रथमतः स्नेहेनैव निमग्नाः, ततो जातान्तःसम्बन्धा बहिःसंवेदने जाते **व्रीडिता** जाताः. तदा प्रत्यक्षतो भुक्ता[5] इवात्मानं मन्यमानाः संवादार्थ**मन्योन्यप्रेक्षणं**[6] कृतवत्यः. तदान्योन्य-

लेखः

न मयोदितेत्यत्र **मया वे**ति, मत्कर्तृकं जगत् **नानृतं** किन्तु सत्यमेवेत्यर्थः ॥११॥

तस्येत्यत्र अनेनेति क्ष्वेलितत्वकथनेनेत्यर्थः. तथा च विचाराभावात् क्ष्वेलितत्वज्ञानम्. हेत्वन्तरमप्याहुः **किञ्चेति. अन्योन्येति**, अन्योन्यं सम्बन्ध-

१. °मनृतं भवति. २. परिगृह्णातु. ३. सर्वा.
४. अत्यन्तं. ५. भुक्त्वा. ६. °न्योन्यं.

सम्बन्धसंवेदनाभावात् कौतुकं तद्रसं विदित्वा **जातहासा** जाताः. लोकरीत्यापि जातहासाः. तदा न **निर्ययुर्न** निर्गता जलाद् बहिः ॥१२ १/२॥

एवं ब्रुवति गोविन्दे नर्मणाक्षिप्तचेतसः।
आकण्ठमग्नाः शीतोदे वेपमानास्तमब्रुवन् ॥१३ १/२॥

भगवांस्तासामन्तर्भावं दृष्ट्वा पुनः पूर्ववदेवाह. तदा पुन**रेवं ब्रुवति** भगवति सति **नर्मणा** परिहासवचनेनापातत एव प्रतीतेन हास्यरसजनके**नाक्षिप्तचेतस** एव भूत्वार्थमविचार्य बहिर्निर्गते भगवान् कोपं करिष्यति[१] निर्लज्जा इति वा ज्ञास्यतीत्या**कण्ठमग्ना** जाता, यथा न कोप्यवयवो दृष्टो भवतीति. ततो लौकिकरसभयाभ्यामाविष्टचित्ता जाता [२]जातबहिःसंवेदनत्वा**च्छीतोदे वेपमाना** जाताः. ततो देहभावस्य दृढत्वे विस्मृतपूर्वभावाः साक्षिभिश्च व्यामोहिता**स्तं** भगवन्तं प्रति किञ्चिद**ब्रुवन्** ॥१३ १/२॥

तासां वाक्यमाह **मानयं भो कृथा** इति.

मानयं भो कृथास्त्वां तु नन्दगोपसुतं प्रियम्।
जानीमोऽङ्ग व्रजश्लाघ्यं देहि वासांसि वेपिताः ॥१४ १/२॥

भर्तृत्वात् न नामग्रहणं, **भो** इति सम्बोधनं बालकव्यावृत्त्यर्थं च. **नयो** न्यायोऽन्यायं **मा** कार्षीः. वयमद्यापि कुलस्त्रियः पुरुषान्तरदृष्ट्या न दृष्टाङ्गा, अतः साम्प्रतं बालानां दृष्ट्या न द्रष्टव्यास्त्वद्वाक्येन चागन्तव्यं, तथा सति यद्यपीश्वर-वाक्यकरणे नाधर्मस्तथाप्यन्यायो भवति[३] नीतिलोकविरुद्धमित्यर्थः. नैवं मन्तव्यं

लेखः

संवेदनाभावस्तस्मात्; तस्याः सम्बन्धस्तया तस्याः सम्बन्धस्तया न ज्ञायत इत्यर्थः. **कौतुकमि**ति, स्वस्या एवान्तःसम्बन्धो नान्यासामिति मत्वेत्यर्थः ॥१२ १/२॥

योजना

एवं ब्रुवति गोविन्द इत्यत्र **साक्षिभिश्च व्यामोहिता** इति. एतासां पुम्भावरूपा एते बाला एतासु सवपिक्षारहिता भगवत्येतासां स्वाच्छन्द्यसम्पादनेन भगवत्कार्यसाधका अतः **साक्षिशब्देन व्यवह्रियन्ते**. तैः साक्षिरूपबालैर्हास्यं कृत्वा **व्यामोहिता** भगवान् बालाश्चास्मान् हसन्तीति ज्ञात्वा यथार्थज्ञानरहिता जाता इत्यर्थः ॥१३ १/२॥

---

१. °तीति. २. बहिः°. ३. भवतीति लोक°.

मामेता न जानन्तीति, तथा सत्यविचार्य करणादेता एव दुष्टा इति, तत्राहु**स्त्वां तु जानीम** इति. परमार्थतो ज्ञानमस्माकं हितकारि न भवतीति **तु**शब्दस्तं पक्षं व्यावर्तयति. किन्तु **नन्दगोपस्य सुतं जानीमः**. तेन प्रभुपुत्रत्वमुक्तं, न हि प्रभुपुत्रोऽनीतिं करोति. किञ्चास्माकं **प्रियो** भवान् परमप्रीतिविषयः, अनेन त्वद्दृष्ट्या न द्रष्टव्या इति नास्माकमभिप्रायः. **अङ्गे**ति सम्बोधनं च स्वस्याङ्गतां ज्ञापयति.[१] (अथ वा **प्रियं सुतं जानीम** इति सम्बन्धः. प्रभोः प्रियः पुत्रो हि न कञ्चन गणयत्यतिलालनवशात्, **तेनानयम**पि कदाचित् चिकीर्षति. तं **मा कृथा** इति हृद्युच्छलद्रसाब्धिवीचिरूपा सहासवक्रोक्तिः). नन्वस्त्वन्याय इति चेत् तत्राहु**र्व्रजश्लाघ्यमि**ति, व्रजे सर्वत्र भवानेव श्लाघ्य. एवं सत्यपकीर्तिः स्यात्— केषाञ्चित् चित्ते स्त्रियो धर्षयतीति केषाञ्चित् त्वयुक्तं प्रदर्शयतीति. अतः कारणात् निर्गमनात् पूर्वमेव **वासांसि देहि**. दयार्थमाहु**र्वेपिता** इति ॥१४ १/२॥

दण्डमप्यङ्गीकुर्वन्ति **श्यामसुन्दर ते दास्य** इति.

श्यामसुन्दर ते दास्यः करवाम तवोदितम्।
देहि वासांसि धर्मज्ञ नो चेद् राज्ञे ब्रुवामहे ॥१५ १/२॥

सुन्दरेति सम्बोधनात् न प्रतारणा. अतुल्यत्वात् स्त्रीत्वं परित्यज्य दासीत्वमाहु**स्ते** न तु त्वत्सम्बन्धिन एतेषां वा. ननु दर्शनाकाङ्क्षा दास्येन निवर्तत इति चेत् तत्राहुः **करवाम तवोदितमि**ति. **दास्य** एव, यद् वक्ष्यसि केवलस्तत् करिष्याम इत्यर्थः. अत**स्तवे**त्येकवचनमिदानीमुक्तं तु बहूनां वाक्यमित्यभिप्रायः. तर्हि दास्योपि भवतेति चेत् तत्राहु**र्देहि वासांसी**ति. दासीत्वसिद्ध्यर्थं वा वासांसि देहि दास्यसिद्ध्यर्थं वा. किञ्च धर्मशास्त्रे "कन्यायोनिं पशुक्रीडां नग्नस्त्रीं प्रकटस्तनीं

लेखः

श्यामसुन्दरेत्यत्र **तर्ही**ति उक्तकरण इत्यर्थः. **दास्योपी**ति, मत्सम्बन्धिनामपीति शेषः. इदं तु न करिष्यामो, वासांसि देहीत्युत्तरम्. एवं सत्युक्तकारित्वं नायातीत्यरुच्या पक्षान्तरमाहुः **दासीत्वसिद्ध्यर्थं चे**(वे!)ति, वस्त्रपरिधाने द्वयमपि सेत्स्यतीति भावः. दासीत्वं धर्मविशेषः. दासस्य कर्म दास्यं, कर्मणि यक्, उक्तकारित्वमित्यर्थः ॥१५ १/२॥

---

१. इत्यधिकं कचन श्रीमत्प्रभुचरणानाम्.

उन्मत्तं पतितं क्रुद्धं यन्त्रस्थं नावलोकयेदि''ति नग्नाया दर्शननिषेधादत आहुर्**धर्मज्ञे**ति. एवमप्यदानेऽतिक्लेशे सति निर्गता अप्यनिर्गता वा बहुकालमपि कष्टमनुभूय पश्चाद् **राज्ञे ब्रुवामहे** नन्दं ज्ञापयिष्यामः. नवविधा वा नवपदैरुक्ताः— राजसराजस्या वचनं **मानयं भो कृथा** इति; राजसतामस्या वा. राजसराजस्या **नन्दगोपसुतमि**ति. **प्रियमि**ति राजससात्त्विक्याः. **व्रजश्लाघ्यमि**ति सात्त्विकराजस्याः. **वेपिता** इति सात्त्विकसात्त्विक्याः. **श्यामसुन्दर ते दास्य** इति सात्त्विकतामस्याः. **करवाम तवोदितमि**ति तामससात्त्विक्याः. **धर्मज्ञे**ति तामसराजस्याः. अतिरिक्तं शिष्टाया इति ॥१५$\frac{1}{2}$॥

एवं तासां वचनानि श्रुत्वा दैविकमोहिता इति तदवगणय्य स्वेच्छयापि तथा जातेति लौकिकयुक्त्या ताः प्रबोधयति **भवत्य** इति.

॥ श्रीभगवानुवाच ॥

भवत्यो यदि मे दास्यो मयोक्तं वा करिष्यथ ।
अत्रागत्य स्ववासांसि प्रतीच्छन्तु शुचिस्मिताः ॥१६$\frac{1}{2}$॥

टिप्पणी

माऽनयं भोः कृथा इति श्लोकस्य विवरणे उक्ता राजसादयो ये गुणास्ते स्वामिनीभावानामन्योन्यं वैजात्यं ज्ञापयितुं दृष्टान्तरीत्या, न तु प्राकृततद्वत्त्वाभिप्रायेण. अथवा "न तदस्ति पृथिव्यां वा" इति वाक्याद् गुणरहितं वस्तु त्रिलोक्यां न सम्भवतीति ग्रहिलवादिनं प्रत्युच्यते. अत्रैते भावा एव तद्रूपाः, न तु प्राकृता अत्र सन्तीति. एतेनात्र प्रकृतिरपि भिन्नैवेति ज्ञाप्यते. सा च स्थायिभावरूपैवेति ज्ञेयम्. अत एव भगवता पृथिव्यादय उक्ताः न तु सामान्यतः, लीलाया अलौकिकत्वेनाजन्यत्वेन च पृथिव्यादिमध्यपातित्वाभावाद्, ब्रह्मवत्. एतद्विद्वन्मण्डने प्रपञ्चितमस्माभिः ॥१५$\frac{1}{2}$॥

योजना

श्यामसुन्दरेत्यस्य विवृतौ **दासीत्वसिद्ध्यर्थं वे**ति: भोग्यदासीत्वसिद्ध्यर्थं वासांसि देहि, वस्त्रभूषणादियुक्तानामेव भोगौचित्यात्. इदं च महतोऽनुग्रहस्य कार्यम्, एतावाननुग्रहश्चेदधुना न क्रियते तदा सामान्यानुग्रहः कर्तव्य. इत्याशयः — तमुद्घाटयन्ति **दास्यसिद्ध्यर्थं वे**त्यनेन, परिचर्याकरणार्थं वा वस्त्राणि देयानि. न हि परिचारिका वस्त्ररहिताः शोभन्तेऽतो वस्त्रदानं कार्यमित्याशयोऽस्मिन् पक्षे ॥१५ $\frac{1}{2}$ ॥

[1]यद्यस्मद्वाक्यानुसारेण न प्रवृत्तिस्तदा स्ववाक्यानुसारेण वा प्रवृत्तिरस्तु. भवतीनामपि स्वात्मानं प्रति वाक्यद्वयं "श्यामसुन्दर ते दास्यः" — "करवाम तवोदितमि"ति. दासीत्वे दास्ये वा न लोकानौचित्यं भावनीयम्. [2]तत्रैव चेद् वाक्यं कर्तव्यं तर्ह्य**त्रागत्य स्ववासांसि प्रतीच्छन्तु.** उभयोरपि वाक्याकरणेऽसत्याभिनिवेशात् नाश एव. दासीत्व ईश्वरसुखमेव कर्तव्यं, न तासां काचित् मर्यादातोऽन्यदर्शनमपि न दोषाय. मनसि निष्ठैषा वाक्यप्रकरणे तु वाङ्निष्ठान्यथा देहनिष्ठा तथा सति नाशः. "पतिं मे कुर्वि"ति प्रभौ पतित्वस्य प्रार्थितत्वात् स्वस्य भार्यात्वमभिमतं पूर्वमित्यधुना **यदीत्युक्तम्** ॥१६$\frac{1}{2}$॥

ईश्वरभावेन भगवतोक्तमिति वाक्यार्थापरिज्ञानेपि समागता इत्याह **तत** इति.

ततो जलाशयात् सर्वा दारिकाः शीतवेपिताः ।
पाणिभ्यां योनिमाच्छाद्य प्रोत्तेरुः शीतकर्शिताः ॥१७$\frac{1}{2}$॥

जलानामाशयाद् जडानामाशयाद् जलानामभिप्रायो न गन्तव्यमित्यज्ञानां मर्यादायां यतो शुद्धिसम्भावना तदपेक्षया भगवद्वाक्यनिष्ठाः श्रेष्ठाः. **सर्वा** इतीश्वरवाक्येन सर्वगुणतिरोभावः. **दारिका** इति शुको, बालत्वं ज्ञापयितुम् अन्यथा सदसो राज्ञश्च भावोऽन्यथा भवेदिति. नन्वत्यन्ततामस्यः कथं वाक्यनिष्ठा

टिप्पणी

अत्रैव **ततो जलाशयादि**त्यत्र मूले **तत** इत्यानन्तर्यमात्रमुक्तम्, न तु 'श्रुत्वे'त्यादिज्ञानवाचकम्. तत उक्तं **वाक्यार्थापरिज्ञानेपी**ति. स **चेश्वरवाक्य-(सुख!)मेव कर्तव्यमि**त्यादिनोक्तः. **ईश्वरवाक्येने**त्यादि. **माऽनयं भो कृथा** इति श्लोकविवरणे ये राजसराजसादयो गुणा उक्तास्तद्भाववशात् तादृशवचनान्येवोक्तवत्यो, न त्वागताः. तदा प्रभुणा दासीत्वादेवागन्तव्यमित्यनुक्त्वा **यदीत्युक्तं** यत्, तेनानागमने दासीत्वमपि न सेत्स्यतीति ज्ञापितम्. तच्चानिष्टमिति भयरस उत्पन्नः सर्वान् भावांस्तिरोहितानकरोदितीश्वरवाक्येन तेषां तिरोभावे सर्वासामेकरूपत्वेनैकेनैव रूपेण सर्वा आगता इत्यर्थः. **नन्वत्यन्ततामस्य** इति, परपुरुषत्वादात्मानं बालेभ्यो न दर्शयिष्यामो, भगवदुक्ता अपीत्याग्रहस्तमशब्देनोच्यते, बालेषु स्वधर्मत्वेन पुरुषान्तरत्वाभावेपि तथात्वेनाज्ञानात्. एवं सति भगवद्वाक्यादागमनं न सम्भाव्यत इति कथमागता इत्यर्थः. एतत्समाधानेऽयमाशयः— स्वनिकटे

---

१. यदा. २. स्वस्यैव.

जातास्तत्राह **शीतवेपिता** इति, बहिःकम्पोन्तः**शीतेन कर्शिताश्च** स्वभावाधीना एवोत्थिताः. अतो जातिर्वर्णिता, परीक्षार्थं प्रमेयं निरूप्यमिति. अकथने शुकस्य मूर्धा विपतेत् ॥१७ १/२॥

टिप्पणी

समानेयाः सर्वथा परीक्षार्थं बालकस्वरूपं च न ज्ञापनीयम्. एवं सति तदुभयसम्पत्त्यर्थं लीलोपयोग्याधिदैविकः कालो मुख्यः सेवकः स्वधर्मं शीतमन्तर्बहिश्चाविश्चकार जलान्तःस्थितौ बाधकम्. अत एवेतः पूर्वं जलविहारेपि न शीतमभूत्. तेन तत्र स्थातुमशक्ताः [1]कर्शनोक्त्या पूर्वोक्ताग्रहस्यापि तिरोधानादागता इति. एतदेवोक्तं **स्वभावाधीना एवे**त्यनेन. नन्वेवं कालाधीनत्वं स्यान्न भगवदधीनत्वमिति चेत्, स्यादेवं यद्याज्ञया नागतं स्यात्. नत्वेवम्, पूर्वं स्वोक्तयोः पश्चाद् भगवदनूदितयोर्दास्योक्तकारित्वयोः सिद्ध्यर्थमेवागमनात्. यतो भगवता तथैवोक्तम्, **यदि**पदेनाधुनानागमने पूर्वोक्तं द्वयमपि न सेत्स्यतीति ज्ञापनात्. अतोऽग्रेपि भगवदुक्तकरणं सम्पद्यतामिति मत्वा यत्रागमनं तत्रैतत्सामयिकोक्तकरणं स्वतःसिद्धमिति बुध्यस्व. शीतोक्तिरुक्ताग्रह-दार्ढ्यज्ञापनायेति ज्ञेयम्— एवंभूता अपि पूर्वं न निर्गता इति, ततः एवंभूतोक्त्यनन्तरं त्वागता एवेत्यर्थः. **यदी**ति पदं श्रुत्वा स्वाग्रहविपरीते प्रियाग्रहं ज्ञात्वा स्वेष्टप्रतिबन्धं च ज्ञात्वा तथा चक्रुः. तत्रापि स्वप्रधानाङ्गमाच्छाद्येति निगूढाशयः. तेन कश्चन स्वाग्रहमत्यक्त्वैवागता इति **स्वभावाधीना एवे**त्युक्तमाचार्यैः. भगवदनभिमतकरणे कालधर्मा बाधन्त इत्यपि ज्ञापनाय शीतोक्तिर्ज्ञेया. सम्भवदुक्तिकः पूर्वमस्माभिरुक्त आशय इति सर्वमवदातम् ॥१७ १/२॥

लेखः

तत इत्यत्र. **परीक्षार्थमि**ति परित ईक्षा विचारस्तदर्थं **प्रमेयं निरूप्यमि**ति **अतो** हेतो**र्जातिः** स्वरूपं तथाच्छाद्येत्यनेन वर्णितमित्यर्थः. ननु तथापि स्वभावाधीनत्वविचारः प्रकारान्तरेण वक्तव्यो न तु सभायामेवं वक्तव्यमित्यत आहुः **अकथन** इति. "सर्वभिदादन्यत्रेमे" इतिन्यायेन लीलास्था भगवद्रूपास्तेषु लौकिकत्वमानने सङ्कोचेन सभायां तदकथनं स्यात् तथा सति ब्रह्मणो लौकिकत्व-

१. कर्षणोक्त्या मू. प.

भगवानाहता वीक्ष्य शुद्धभावप्रसादितः।
स्कन्धे निधाय वासांसि प्रीतः प्रोवाच सस्मितः ॥१८ १/२॥

ततो **भगवान्** आ सर्वत **अहता**[1] न केनाप्यंशेन दुष्टा **वीक्ष्य**, अभिविधौ सन्धिरार्षः, अन्यार्थं सङ्गृहीता इतीषद्धता वा. ज्ञानदृष्टिः सर्वत्र न व्याप्तेत्यत-

टिप्पणी

ज्ञानदृष्टिः सर्वत्र न व्याप्तेत्यादि. अत्रेदं ज्ञेयम्. भगवत एतत्सर्वाङ्गदिदृक्षाति-

लेखः

मानने शाकल्यस्येव शुकस्यापि भवेदित्यर्थः ॥१७ १/२॥

भगवानाहता इत्यत्र **अन्यार्थमि**ति, बालदृष्ट्यर्थं सङ्ग्रहज्ञानात् स्वभावाधीनत्वेन सर्वत्र ज्ञानदृष्टिव्याप्त्यभावादीषद्दोषयुक्ता इत्यर्थः. **ततः पुनरि**ति,

योजना

ततो जलाशयात् सर्वा इत्यस्य विवृता**वकथने शुकस्ये**ति. यदि लौकिकभावं तासु मत्वा रहस्यवर्णनं शुको न कुर्यात् तथा सति शुकस्य मूर्धा तथा भवेत्. शुकस्तु तासां साक्षात्पुरुषोत्तमात्मकत्वं ज्ञात्वा पुरुषोत्तमस्य सर्वाङ्गवर्णने दोषाभाववदेतासामपि गूढाङ्गवर्णनं कृतवानतो न दोषः. वस्तुत एताः साक्षात् श्रीकृष्णस्वरूपाः. "न स्त्रियो व्रजसुन्दर्यः पुत्र ताः श्रुतयः किले"ति भृगुं प्रति ब्रह्मवाक्यमनुसन्धाय श्रीशुकेन रहस्यवर्णनं कृतम्. अन्यथा मूर्ध्नोऽन्यथाभावः स्यात्, "मूर्धा ते विपतिष्यती"तिश्रुतेः ॥१७ १/२॥

भगवानाहता इत्यस्य विवृतौ **आ सर्वतः अहता न केनाप्यंशेन दुष्टा** इति. **आ सर्वत** इति इह अभिविधावाकारः स च ङित्, आङ् इत्यर्थः. "ईषदर्थे क्रियायोगे मर्यादाभिविधौ च यः एतमातं ङितं विद्याद् वाक्यस्मरणयोरङिदि"ति-महाभाष्योक्तेरभिविधावाकारस्य ङित्त्वम्. तथा च ङित्त्वात् "निपात एकाजनाङ्" इतिसूत्रस्य प्राप्त्यभावात् न प्रगृह्यसञ्ज्ञा. ततश्च **आ अहता** इति दीर्घः सुखेन भवतीति ज्ञेयम्. **अभिविधौ सन्धिरार्ष** इति "मर्यादाभिविधौ च यः एतमातं ङितं विद्यादि"तिवाक्याद् अभिविधावाकारस्य ङित्त्वात् "निपात एकाजनाङ्" इतिसूत्रप्राप्तिनिषेधात् सन्धिः. स च सन्धिरार्षः, ऋषिणा महाभाष्यकारेणाभिविधावाकारस्य ङित्त्वोक्तेः. प्रगृह्यसञ्ज्ञानिषेधादृषिप्रणीतत्वा-

१. आह ता न.

स्त्याज्या इति मत्वापि **शुद्धभावेन** तासां शुद्धान्तःकरणेन **प्रसादितो** जातः. ततः पुनर्ज्ञानशक्तिमाविर्भाव्य वृक्षस्य[1] **स्कन्धे वासांसि** स्थापयित्वा तासामा[2]वरणानि वैष्णवानि कृत्वा पश्चात् तासां निदानं श्रुत्वाल्पमोहं कृत्वा **स्मितसहितो**ऽन्यथा मुक्ता एव भविष्यन्तीति. **प्रकर्षेणोवाच** यथा वाक्यमङ्गीकुर्युः ॥१८$\frac{1}{2}$ ॥

टिप्पणी

प्रचुरेपि(ति!) तत्प्रतिघाते रोषोऽभवदिति तद्भाववर्णनं कृत**मतस्त्याज्या** इत्यनेन. मध्ये **प्रसादित**त्वोक्त्यायमर्थो लभ्यते. यत्र पाण्यन्तरायमपि न सहते, तत्र वस्त्राणि कथं ददातीति शङ्काभावाय वृक्षस्कन्धनिधानतात्पर्यमाहुः **तासामावरणानी**त्यादि. अत्रायमाशयः. पूर्वं भगवदन्तरायत्वेनान्यत्र स्थापितमित्युक्तम्, अतः परं यथा वैष्णवसङ्गो भगवत्प्रापकस्तथैतद्वस्त्राणामपीति वृक्षस्कन्धे निधानेन तादृग्धर्मयुक्तान् कृत्वेत्यर्थः. तेषां परार्थता भगवतैवानुपदं वक्ष्यते यत इति भावः. एतेषां तत्प्रापकत्वं रसोद्बोधकत्वेन, तेन तादृक्संस्थानविशेष(षा!)कृतिरपि लक्ष्यते. तदानीं प्रीतियुक्तत्वे विशेषहेत्वपेक्षायां तमाहुः **तासां निदानं श्रुत्वे**ति. वयस्यसहिते त्वयि सति वाक्यादनागमनमागमनं वा साध्वसाधु वेति वयं न विद्मः. केवलं त्वदीयाश्च वयम्. अतः किं कृते किं मनुते भवानिति शङ्कितहृदयासु यथोचिता रक्षा त्वयैव कार्येत्यादिरूपं श्रुत्वानन्यत्वं ज्ञात्वा तथा जात इत्यर्थः. यद्वा **निदानं** निजं स्वरूपमित्यर्थः. तथा च पद्मिनीनां नीवीषु पद्मगन्धो भवतीति यदा वृक्षस्कन्धे विविच्य स्थापितास्तास्तदा मधुपकुलाकुलतया तदीयझङ्कृतिश्रवणमेव निदानश्रवणम्, तेन स्वानुरूपनायिकोत्तमत्वज्ञानेन रसभावोद्बोधात्तासु प्रीतोऽभवदित्यर्थः ॥१८$\frac{1}{2}$ ॥

लेखः

पूर्वं पश्यन्नपि तथाच्छादनं दृष्ट्वा रोषेणापश्यन्निव जात**स्ततः** शोभनमध्यं दृष्ट्वा प्रसन्नः **पुनः** पश्यन् जात इत्यर्थः ॥१८$\frac{1}{2}$ ॥

योजना

दार्ष इत्यर्थः. **ज्ञानदृष्टिः सर्वत्र न व्याप्ते**ति, एतदर्थष्टिप्पण्यां स्फुट एव. **तदावरणानि वैष्णवानि कृत्वा पश्चात् तासां निदानं श्रुत्वे**त्यादेरर्थष्टिप्पण्यां विस्तरेणोक्तः ॥१८$\frac{1}{2}$ ॥

---

१. वृक्षस्कन्धे. २. तदा°.

भगवद्वाक्यमाह **यूयमिति.**

यूयं विवस्त्रा यदपो धृतव्रता व्यगाहतैतत् तदु देवहेलनम् ।
बद्ध्वाञ्जलिं मूर्ध्न्यपनुत्तयेंऽहसः कृत्वा नमो वो वसनं प्रगृह्यताम् ॥१९$\frac{1}{2}$ ॥

"अप्स्वग्निर्देवताश्च तिष्ठन्त्यतो नाप्सु मूत्रपुरीषं कुर्यात् न निष्ठीवेत् न विवसनः स्नायाद् गुह्यो वा एषोऽग्निरेतस्याग्नेरनतिदाहाये"तिश्रुतेर्विवस्त्रस्नाने तत्र स्थिताग्नेर्देवताभ्यो वा व्रतादिसर्वनाशो भवेदिति तत् प्रतिविधातव्यम्. भगवान् हि तत्कर्मसिद्धये समागत इति स्वतन्त्रतया फलदानात् कर्मसाद्गुण्यार्थमाह यतो **यूयं धृतव्रता**स्तथाभूता अपि **विवस्त्रा यदपो व्यगाहत** विशेषेण विलोडितवत्यः क्षोभमुत्पादितवत्यः. क्रीडया वस्त्राभावेन च दृष्टादृष्टाभ्यामेतदालोडनं **तत्** प्रसिद्धमेव **देवहेलनम्, उ** इति निश्चये. एवं दोषं निरूप्य प्रायश्चित्तं निरूपयत्य**ञ्जलिं बद्ध्वा मूर्ध्नि** स्थापयित्**वांहसोऽपनुत्तये** पापनाशाय **नमः कृत्वा वो** युष्माक**मेतद् वसनं प्रगृह्यता**मिति. या क्रियाशक्तिरभिमानरक्षार्थं स्थापिता सापराधनिवृत्तये योजनीया, तत्रापि ज्ञानसहिता. एतावतैव देवता तुष्यति, क्रियामूलस्यापि ज्ञानशक्तिव्याप्तेः. एषैव [1]प्रौघरूपा शक्तिरिति तद्विदः. सा चेद् ज्ञानेन व्याप्ता फलं सिद्धं कृतार्थोऽपि भवति ॥१९$\frac{1}{2}$ ॥

टिप्पणी

बद्ध्वाञ्जलिमित्यत्र. **क्रियाशक्ति**र्बाहू इत्यर्थः. **क्रियामूलस्यापी**ति बाहुमूलस्यापीत्यर्थः ॥१९$\frac{1}{2}$ ॥

लेखः

यूयमित्यत्र **तत्रापी**ति, योजनेऽपि मज्ज्ञानशक्तिसहिता कर्तव्या. मूर्धपर्यन्तं योजने तथा भवतीति भावः. **एषैवे**ति, क्रियाशक्तिरेव **प्रकृष्ट ओघः** प्रवाहस्तद्रूपा

योजना

यूयं विवस्त्रा इत्यस्य विवृतौ **या क्रियाशक्तिरभिमानरक्षार्थं स्थापिते**ति करयोः क्रियाशक्तिरूपत्वाद् यौ करौ लज्जारक्षार्थं स्थापितौ तौ नमस्कारकरणे मूर्ध्नि स्थापनेन विनियुज्यापराधनिवृत्तिः कर्तव्येति भावः. **तत्रापि ज्ञानसहिते**ति मज्ज्ञानसहितेत्यर्थः. मूर्ध्नि हस्तयोजने मज्ज्ञानविषयता भवतीति भावः. **क्रियामूलस्यापी**ति, हस्तयोर्मूर्ध्नि स्थापने **क्रियामूलस्य** दोर्मूलस्यापि भगवज्ज्ञानशक्तिव्याप्तत्वं भवतीत्यर्थः. एवं सति सम्यङ्निरीक्षणाद् भावविशेषो

---

१. प्रौढ°.

ताः पुनर्भगवदभिप्रायमपि ज्ञात्वोक्तादप्यधिकं कृतवत्य इत्याहेत्यच्युतेनाभिहिता इति.

इत्यच्युतेनाभिहिता व्रजाबला मत्वा विवस्त्राप्लवनं व्रतच्युतिम्।
तत्पूर्तिकामास्तदशेषकर्मणां साक्षात् कृतं नेमुरवद्यमृग् यतः ॥२० ½॥

केनाप्यंशेन च्युतिरहितेन पूर्णशक्तिमताभिहिता उक्ता वचनद्वारा प्राप्तज्ञाना **व्रजाबलाः** स्वभावतश्चातुर्यादिदोषरहिता **विवस्त्राप्लवनं व्रतच्युतिं मत्वा** हृदयेऽपि संवादं प्राप्य **तत्पूर्तिकामा** न तु देवतापराधनिवृत्तिमात्रपरास्तादृशेऽर्थे **तस्य** वा व्रतस्याशेषकर्मणां च **साक्षात् कृतं** कर्मभिरयं साक्षात् फलरूपेण सम्पादितः. फले जाते साधनन्यूनता व्यर्थेति फलदृष्ट्यस्तादृशं भगवन्तं **नेमुर्भ**गवते नमस्कारं

लेखः

प्रावाहिकी शक्तिरिति यावत्. **तद्विद** इति, कर्मणां बहुफलत्वस्य शास्त्रसिद्धत्वादिति भावः. ज्ञानशक्तिर्ब्रह्मैकफलेति तद्व्यावर्तनायैवकारः. **सा चेद् ज्ञानेन व्याप्ता** भवति तदा मोक्षरूपं मुख्यं **फलं सिद्धं भवति,** "ज्ञानिनस्तदभिव्यक्तौ कर्तुर्मोक्षः क्रमाद् भवेदि"तिसिद्धान्तात्. अत्रापि प्रावाहिकाभिमानरक्षिका क्रियाशक्तिर्मज्ज्ञानशक्त्या **व्याप्ता चेद्** भवति तदा प्रावाहिकत्वत्यागेनानन्यत्वसिद्ध्या **फलं** भगवत्सम्बन्धलक्षणं **सिद्धं भवति.** कर्मसाद्गुण्यमपि भवतीत्याहुः **कृतार्थोपीति,** कृतः साधितः अर्थो व्रतरूपो येन तादृश इत्यर्थः. सामान्यविवक्षया पुंस्त्वम् ॥१९ ½॥

अभिप्रायमपीति, वाक्यश्रवण**मपि**शब्दार्थः. **उक्तादप्यधिकमिति** उक्तकरणं किञ्चित् सङ्कोचेनापि भवति, तथा सति सर्वथा दर्शनं न स्यादतस्तथा दिदृक्षां **ज्ञात्वा तत्पूर्तिकामा** निःशङ्कतया तथा **कृतवत्य** इत्यर्थः. साष्टाङ्गप्रणामपक्षे तदेवाधिकं ज्ञेयम्. **इत्यच्युतेनेत्यस्य** व्याख्याने, **तादृशेऽर्थे** इति. तथा च तत्पदं सप्तम्यन्तमव्ययमिति भावः. पक्षान्तरमाहु**स्तस्य वेति.** अस्मिन् पक्षे

योजना

भगवत्याविर्भवतीति भावः. **एषैवेति– एषा** लज्जारक्षार्थं स्थापिता पाणिरूपा क्रियाशक्तिः **प्रौघरूपा** प्रकृष्ट ओघः प्रवाहस्तद्रूपा. भगवदनभिप्रेतकरणात् प्रवाहसम्बन्धिनीं संसारमेव जनयेदिति हार्दम्. **सा चेद् ज्ञानेन व्याप्तेति. सा** क्रियाशक्तिः, इयं भगवत्सेवायामेव योजनीयेत्याकारक**ज्ञानेन** युक्ता भवति तदा प्रवाहगतिं परित्यज्य भगवत्सम्बन्धादलौकिकी भवन्ती पुष्टिमार्गफलं साधयतीत्यर्थः ॥१९ ½॥

कृतवत्यः, साष्टाङ्गप्रणाममिति केचित्. तथा करणे हेतु**र्यतोऽवद्यमृग**वद्यमार्जनं यतो नमस्काराद् भवति– देवतापराधे शान्तेऽपि कर्मच्छिद्रस्य जातत्वात् फलं न भविष्यतीत्युभयमेकेन यथा भवेत् तथा कृतवत्यः. यद्वा **तस्य** भगवतः **पूर्तिकामा** इत्यर्थः. न च **व्रतच्युतिमि**तिपूर्वोक्तत्वेन तत्परामर्श एव **तत्**पदेनाकारीति वाच्यं, व्रततदन्याशेषकर्मफलत्वेन भगवन्निरूपणवैयर्थ्यापत्तेः. किञ्च "दृढं प्रलब्धा" इत्याद्यसूयाहेतूक्त्यनुपपत्तिः, व्रतपूर्तिपक्षे तदर्थमेव सर्वमुक्तं भगवता कारितं[1]चेत्यसूयाहेतुत्वाभावात् तेषाम्. न हि स्वहितवाचा कृत्या वा तदारोपः सम्भवति प्रत्युत तद्वैपरीत्यमिति. ननु व्रतच्युतिं मत्वा कथं तदुपेक्षां कृत्वा प्रियमेव नेमुः ? तत्राह **तदशेषे**ति पूर्ववत्. न चैवं **व्रतच्युतिं मत्वे**ति कथनवैयर्थ्यमिति वाच्यं, तत्कालीनभावप्रौढिनिरूपणार्थत्वात्. अन्यथा विशेषणवैयर्थ्यापत्तिरित्युक्तमेव ॥२० ½॥

तदा भगवान् सन्तुष्टः प्रादादित्याह **तास्तथेति.**

तास्तथावनता दृष्ट्वा भगवान् देवकीसुतः।
वासांसि ताभ्यः प्रायच्छत् करुणस्तेन तोषितः ॥२१ ½॥

यदि चातुर्येणावनताः स्युस्तदासन्तुष्ट एव भवेत्, परं **तथावनता** न तु चातुर्यार्थमत**स्तथा दृष्ट्वा.** तथा ज्ञाने हेतु**र्भगवानिति,** प्रसादे हेतु**र्देवकीसुत** इति. तदा **वासांसि ताभ्यः प्रायच्छत्.** चतुर्थ्या सम्प्रदानादपूर्वदानं सूचितम्. [2](अत एवार्थ(र्था!)विशेषेऽपि 'दाञ्दाणोर'त्र दाण एव प्रयोगः कृतो यतोऽस्य[3]पूर्वनिवृत्तिरपूर्वयच्छादेशेनापूर्वरूपवत्त्वमेवमत्रापि देवेषु केवलवस्त्रत्वनिवृत्तिमपूर्वभगवद्भावात्मककामरूपतां च सम्पाद्य तानि दत्तवानिति ज्ञाप्यतेऽत एव

लेखः

तत्पदस्याग्रिमपदेन सह द्वन्द्वः. **फले जाते** इति भगवति समागत इत्यर्थः. एतस्य **तादृशं नेमुरि**त्यनेनान्वयः. **व्यर्थेति– विरुद्धोऽर्थः** फलं यतः, पतित्वलक्षणे फले प्रतिबन्धिकेत्यर्थः. **तादृशमिति** तादृक्फलसम्पादकमित्यर्थः. **कर्मछिद्रस्येति,** क्रीडया कर्मण्यन्तरायस्य जातत्वादित्यर्थः ॥२० ½॥

तास्तथेत्यत्र तथा ज्ञाने इति, मदभिप्रायं ज्ञात्वा मत्पूर्तिकामा एवं कृतवत्य इत्यान्तरभावज्ञाने इत्यर्थः. भगवत्त्वादेवं ज्ञात्वा **देवकीसुत**त्वात् तुष्टो जातः,

१. कारितं वे°. २. चिह्नान्तर्गतं श्रीमत्प्रभुचरणानामधिकमेतत् कचन. ३. पूर्वरूप° 'पूर्ववत्त्व°.

'प्रेष्ठसङ्गमसञ्जने' वस्त्रदानमेव हेतुत्वेनोक्तं 'परिधाय स्ववासांसी'ति. अत एव 'स्व'पदमप्युक्तं, नायिकानां प्रियविषयकोत्कटभावस्यैव स्वकीयत्वादन्यथा न वदेत् प्रयोजनाभावात्.) अर्थात् तासामेव प्रकर्षेण दत्तवान् यथा तासु पूर्वोक्तः कामः सिद्धो भवत्यत एव जलक्रीडादिषु वस्त्रोत्तारणपरिधाने नापेक्षिते. नन्वेवंविधवस्त्रदाने को हेतुः? तत्राह **करुण** इति, परमकरुणया[1] दुःखप्रहाणेच्छानन्दाविर्भावनरूपा तासूत्पन्ना. ननु तर्हि मुक्तिमेव दद्यात्, कुतो वस्त्राणि दत्तवान् ? तत्राह **तेन तोषित** इति– **तेन** मुग्धभावेन साष्टाङ्गनमस्कारेण[2] तोषं प्रापितः. अतस्तोषः सञ्जातः, ततो ब्रह्मभूतानामेव तासां भगवता सह रमणमपि भविष्यति. रसरक्षार्थमेव वस्त्रदानम्. अनेनान्यादर्शनमपि सेत्स्यति ॥२१$\frac{1}{2}$ ॥

ननु ता अनेकविधा, वस्त्रपरिधानानन्तरं पूर्ववासनयाक्षिप्तो दोषः कथं नोत्पन्न इत्याशङ्क्याह **दृढं प्रलब्धा** इति.

दृढं प्रलब्धास्त्रपया च हापिताः प्रस्तोभिताः क्रीडनवच्च कारिताः।
वस्त्राणि चैवापहृतान्यथाप्यमुं ता नाभ्यसूयन् प्रियसङ्गनिर्वृताः ॥२२$\frac{1}{2}$ ॥

लौकिकदृष्टिस्तासां जाता न वेति विचार्यते. भगवद्वचने च विश्वासो भगवति च स्नेहस्तस्य च परमाप्तत्वं स्वस्य च दोषस्फूर्तिस्तन्निवृत्तेरनन्योपायत्वं चान्यथा सर्वथा निरभिमानानां 'पुनर्जिज्ञासा नोपपद्येत[2]. **दृढम**[3]त्यन्तं **प्रलब्धा**, "यूयं

टिप्पणी

वस्त्रदाने लोके वेदे च मुक्तेरेव परमफलत्वप्रसिद्धिरिति तस्या भक्तिमार्गेऽल्पत्वं प्रकटीकर्तुमाहुः **ननु तर्हि मुक्तिमेव दद्यादि**त्यादि. सर्वदुःखाभावरूपत्वेन मुक्तेरुक्तरूपकरुणत्वस्य तदैवोपपत्तेरिति भावः. एतददाने हेतुत्वेन विशेषणव्याख्यानेन येषु नायं तोषस्तेभ्य एव मुक्तिदानम्, न त्वेवंभूतेष्वपीति भावः सूचितः. तथा च तदल्पत्वं स्पष्टमेव ॥२१$\frac{1}{2}$ ॥

लेखः

अतस्तथा प्रादादित्यर्थः. **करुण** इत्यत्र अतिशायने मत्वर्थीयमभिप्रेत्याहुः **परमे**ति दुःखप्रहाणस्यानन्देषत्तिरोभावरूपत्वात् परमत्वेन सर्वथानन्दाविर्भावार्थमाहु**रानन्दाविर्भावने**ति, तन्निरूपिका तज्जनिकेत्यर्थः. **ततो ब्रह्मभूतानामि**ति आविर्भूतानन्दानामित्यर्थः. एवंविधतोषाभावे ब्रह्मभावमात्रसम्पादनेन मुक्त्यैव तत् सम्पादयेद्, अत्र तु **ततस्**तोषाद्धेतो**स्तासां रमणमपि भविष्यति**, अतो रमणोपयोग्यवयवादिसामग्रीसम्पादकैवंविधवस्त्रदानेन ब्रह्मभावं सम्पादितवानित्यर्थः ॥२१$\frac{1}{2}$ ॥

दृढमित्यस्याभासे **पूर्ववासनये**ति, "भवत्यो यदि मे दास्य" इतिवाक्यश्रवणात् **पूर्वं** तासामनेकविधत्वं भावैरुक्तं तद्वासनयेत्यर्थः. व्याख्याने **वस्त्राण्य-**

टिप्पणी

दृढं प्रलब्धा इत्यत्र, लौकिकदृष्ट्यभावस्याविचार्यत्वे बाधकमाहुः **अन्यथे**ति. असूयाहेतुत्वेन लोके ये धर्माः प्रसिद्धास्तेष्वनुभूयमानेष्वपि तदसम्भवश्चेत्, तदा सिद्धमलौकिकत्वं भावस्येति तात्पर्येण मूले ते निरूपिताः. न च स्नेहमात्रमेतेनोक्तमिति वाच्यं, तद्वतीनामपि खण्डिताकलहान्तरितादीनामसूयासम्भवाद्, ईश्वरेऽसूयानिष्टहेतुरिति शास्त्रज्ञानवतां स्नेहरहितानामपि तदसम्भवाच्च. न च खण्डितादीनां सङ्गाभावात्तथात्वमत एवात्राप्यन्ते विशेषणं तथेति वाच्यं, यदा प्रलम्भनादिस्तदा वक्ष्यमाणसङ्गाभावात् तत्सम्भवात् खण्डितादीनां प्रियं प्रत्येव तथोक्तेः सङ्गाभावाभावश्च. न च पूर्वकालीनः स तथा, उत्तरेण सङ्गेन तद्बाधात्. न च पूर्वकालाधिकरणकसङ्गाभावस्तदाप्यस्ति तस्यात्यन्ताभावरूपत्वाद् विशिष्टाप्रसिद्धावपि खण्डशः प्रसिद्धेरिति वाच्यम्, उत्तरकालीनातिरिक्तस्य सङ्गस्य प्रतियोगित्वे मानाभावात् गौरवाच्चात्यन्ताभावत्वाभावात्. न चैतेन दोषमात्राभाव उपलक्ष्यते एतास्विति वाच्यं, दोषाणां हि मूलमभिमानस्तदभावश्चाञ्जलिबन्धपर्यन्ताज्ञाकरणेनैवोक्त इति पुनस्तदुक्तिवैयर्थ्यापत्तेः. तदेतदुक्तं **सर्वथा निरभिमानांनामि**त्यनेन. एवं च सति सङ्गे सत्यपि लौकिकरीत्या भावे सत्यसूया भवतीति तदभावोक्त्या लौकिकदृष्ट्यभाव एवोक्तो भवति. स च न रूक्षः किन्तु महारस इति ज्ञापनाय प्रत्येकविशेषणनिर्धारणीयार्थानाहु**र्भगवद्वचने चे**त्यादिना. एतासामेतादृशो विशुद्धभावो येन वसनद्वारापि सम्बन्धं साक्षादिवान्वभवन्निति मूले **प्रियसङ्गनिर्वृता** इत्यनेनोक्तं तदभावहेतुभूतेन. अन्यथा हेतुत्वेनोक्तदृढप्रलम्भाद्यव्यवहितोत्तरक्षणेऽसूयोत्पत्तौ प्रतिबन्धकाभावादुक्तानुपपत्तिरिति भावः ॥२२$\frac{1}{2}$॥

१. °करुणाया. २. °प्रणामेन.

१. च पुन°. २. °पद्यते. ३. °मत्यर्थं.

विवस्त्रा यदप" इति "अत्रागत्य स्ववासांसी"तिवाक्यात्. **त्रपया च हापितास्त्याजिता**, लज्जा हि तासां सर्वस्वं, दोषारोपो गुणाभावश्चोक्तः. **च**कारादपत्रपया **च हापितास्त्याजिताः**. "भवत्यो यदि मे दास्य" इति तद्वाक्यमेव पुरस्कृत्य ता निर्जिता इति **प्रस्तोभिताः**. **स्तोभ**वाक्यं वृथावाक्यं, **प्र**कर्षस्तस्यापकारहेतुत्वम्, अतः **प्रस्तोभिता** "मूर्ध्नि बद्ध्वाञ्जलिमि"ति **क्रीडनवच्च कारिता** यथा बालो यथैव कार्यते तथा कारिताः तासां **च** पुनर्**वस्त्राण्यपहृतान्येव**. एवं पञ्चविधदोषैरपि **ता** भगवन्तं **नाभ्यसूयन्**. अभ्यसूया ह्यन्तर्दुःखे भवति. तानि [१]च वाक्यानि महाग्नौ जलमिव. भगवता स्वरूपेणै[२]वानन्दं प्रापितासु न तैर्दुःखमुत्पादयितुं शक्तम्. स्वानन्देनैव निर्वृताः, भगवदीयैरप्याधिदैविकै[३]र्वाक्यैर्नापकारः कर्तुं शक्यः. तत्र हेतुः **प्रियस्य** भगवतः **सङ्गेन** वस्त्रद्वारा प्रियस्य सङ्गस्तेन **निर्वृताः**, प्रमेयबलेन प्रमाणं दुर्बलं जातमित्यर्थः. अनेन 'प्रायच्छदि'ति 'प्र'शब्देन परिधापनमप्युक्तं 'करुणा'पदेन च तदानीन्तनोऽन्यो योग्योऽप्युपचारः सूचितोऽतो **निर्वृता** भगवति स्वस्मिन् दोषाभावाद् दोषं नारोपितवत्यः ॥२२$\frac{१}{२}$॥

ततो यद् जातं तदाह **परिधाये**ति.

परिधाय स्ववासांसि प्रेष्ठसङ्गमसज्जिताः ।
गृहीतचित्ता नो चेलुस्तस्मिंल्लज्जायितेक्षणाः ॥२३$\frac{१}{२}$ ॥

स्वस्ववासांसि परिधाय प्रेष्ठस्य सङ्गमे तृतीयपुरुषार्थे **सज्जिता** जाता

टिप्पणी

परिधायेत्यस्य विवरणे, **रसाकरा जाता** इति, रसः शृङ्गाररसः, स हि स्वयोग्येष्वेवाङ्गेषु प्रकटीभवतीति स्वशास्त्रे सिद्ध इत्यङ्गानामतादृक्त्वे रसाश्रयत्वमपि न स्यादिति तादृशत्वमत्र जातमिति ज्ञापनायैव धनुःकवचादिसम्पन्नाः रणार्थं सज्जिता वीरा **प्रेष्ठसंगमसज्जिता** जाता इत्युक्तमित्यर्थः; वाससां कामरूपत्वात् तदनन्तरं तथात्वमुक्तम्. ननु कुमारीणां तदैवोक्तरूपत्वमनुपपन्नमित्याशङ्क्य विपक्षे बाधकमाहुः **अन्यथे**ति, तादृग्वयोङ्गा-

लेखः

पहृतानीति, परीक्षार्थं क्रीडनवत्कृतिबोधकवाक्योत्त्यनन्तरमपि नमस्कारं विना न दत्तानीत्यर्थः. अत एवैतद्विशेषणस्य **तन्निवृत्तेरनन्योपायत्वमि**त्यर्थ उक्तः ॥२२$\frac{१}{२}$॥

१. तानि वाक्या॰ २. ॰णानन्दं. ३. लुप्तं.

रसाकरा जाता इत्यर्थः. अन्यथाश्रयभङ्गः क्षीणरसता वा स्यात्. एवं देहव्यवस्था निरूपिता. अन्तःकरणव्यवस्थामाह **गृहीतचित्ता** इति, गृहीतं चित्तं याभिर्यासामिति वा. सम्बन्धिनः कर्तुश्चापेक्षितत्वाद् भगवच्चित्तं ताभिर्गृहीत मित्य[१]भिप्रायो ज्ञातो वस्त्रपरिधानेनैव, भगवता च तासां चित्तमपहृतं 'तोषित' इति. एवं चित्तव्यतिषङ्गेऽङ्कुर उत्पन्ने ततः क्रियाशक्तिः कुण्ठिता जातेत्याह **नो चेलु**रिति. अन्यत्र ज्ञानशक्तिरपि कुण्ठितेति वक्तुं **तस्मिन्** रस एव तस्या विनियोगमाह— **लज्जायितेक्षणा** लज्जां प्राप्तानीक्षणानि यासां भगवति लज्जयार्पितानि वा.

टिप्पणी

दिसम्पत्त्यभावे कामशास्त्रोक्त-नखदन्तताडनादिव्यापारोद्बोधनीय-रसानामाश्रयाभावः स्यादित्यर्थः. तथाच मूलोक्त**संगम**पदार्थबाधप्रसंग इति भावः. उक्ताभावेपि यथाकथञ्चित्संगमे पूर्णरसाभावेन **क्षीणरसत्वं वा स्या**दित्यर्थः. पूर्वं दारिकात्वकुमारीत्वोक्त्याधुना च रसाकरत्वनिरूपणेन "भगवानेव गुणातीत" इत्यादिनोक्तभगवत्स्वरूपात्मिकैवासां देहेन्द्रियान्तःकरणादिरूपा सामग्रीति ज्ञाप्यते, कालक्रमं विनैव तदैव तथात्वादिति. **लज्जायितेक्षणा** इत्यत्रे, **पूर्वस्वदोषे**ति, प्रथमाकारणेऽनागमनं दोषः. वस्तुतस्त्वधुना प्रियप्रकटितरसभरभरितत्वेन तदन्या-

लेखः

परिधायेत्यत्र **अङ्कुरे उत्पन्ने** इति स्मरस्य द्वितीयदशायां जातायामित्यर्थः. अग्रे सङ्कल्पादिदशासु क्रियानिवृत्त्यभिप्रायेणाहुः **क्रिये**ति ॥२३$\frac{१}{२}$ ॥

योजना

गृहीतचित्ता इत्यस्य विवृतौ **सम्बन्धिनः कर्तुश्चापेक्षितत्वा**दिति कस्य चित्तं गृहीतमिति सम्बन्धिजिज्ञासायां गृहीतं चित्तं यासामिति विग्रहेण सम्बन्धिन्यो गोपकुमार्यो निरूपिताः. केन चित्तं गृहीतमिति कर्तृजिज्ञासायां गृहीतं चित्तं याभिरितिविग्रहेण चित्तग्रहणकर्त्र्यो गोपकुमारिका उक्ता इत्यर्थः. एवमुभयोश्चित्तग्रहणे उभयोः परस्परहेतुतेति भावः. **तस्मिन् लज्जायितेक्षणा** इत्यस्य विवृत्तौ **भगवति लज्जयार्पितानि वे**ति, अस्मिन् पक्षे 'लज्जार्पितेक्षणा'इतिपाठो ज्ञेयः. **शरीरान्तःकरणेन्द्रियवृत्तय उक्ता** इति, **परिधाय स्ववासांसी**त्यनेन शरीरवृत्ति**र्गृहीतचित्ता** इत्यनेन अन्तःकरणवृत्तिः **लज्जायितेक्षणा** इत्यनेनेन्द्रियवृत्तिरुक्ता ॥२३ $\frac{१}{२}$ ॥

१. ॰मभि.

पूर्वस्वदोषानुसन्धानादिति केचित्. वस्तुतस्तु तदेयं भावदृष्टिः. एवं तासां शरीरान्तःकरणेन्द्रियवृत्तय उक्ताः ॥२३½॥

तदा यदुचितं तद् भगवान् कृतवानित्याह **तासां विज्ञायेति**.

तासां विज्ञाय भगवान् स्वपादस्पर्शकाम्यया ।
धृतव्रतानां सङ्कल्पमाह दामोदरोऽबलाः ॥२४½॥

तासां सङ्कल्पं विज्ञायाहेति सम्बन्धः. **भगवानिति** सर्वसामर्थ्यमुक्तं, तेन ज्ञात्वा यथोचितं तत् करिष्यतीति सिद्धम्. उत्पत्त्या चोपपत्त्या च ज्ञातवानिति विशब्दार्थः. तत्र विषयनिर्धारमाह— न हि ता लौकिका इव विवाहार्थमागता नापि भोगार्थं नापि लोकविरोधेन नापि ज्ञानार्थं किन्तु सर्वथा विचारेण भक्त्यर्थमेव[1]आगतास्तदाह **स्वपादस्पर्शकाम्ययेति, स्वस्य** भगवत एव, तत्रापि भक्तिरेव, भक्तावपि स्पर्श एव, न तु श्रवणादिसख्यपर्यन्ता तस्या एव कामना. न केवलं कामनामात्रं, तदर्थं देहेन्द्रियादीनामपि विनियोगं कृतवत्य इत्याह **धृतव्रतानामिति**, धृतं कात्यायन्यर्चनव्रतं याभिः. धारणेन व्रतनिवृत्तिर्निराक्रियतेऽन्यथा 'कृतव्रतानामि'त्येवोक्तं स्यात्. **सङ्कल्पो** मानसो नियमः. अनेन सर्वोपि सङ्घात एतासामुत्तमभक्त्यर्थमेवेति निश्चित्य पश्चादाह यथा भक्तिर्भवति तथोपायम्. नन्वेवं निर्बन्धकथने को हेतुः ? तत्राह **दामोदर** इति, अनेन गोपिकावश्यता निरूपिता, यत्र तथा वश्यो जातस्तत्रैवमपि वश्यो भविष्यतीति. प्रथमतस्तासां सम्बोधनमाह**अबला** इति, रससम्बोधनमेतदुभयोरन्योन्यवशत्वज्ञापकं— भगवान् **दामोदरस्तास्त्वबला** इति ॥२४½॥

तासां हृदये स्वाभिप्रायो ज्ञापनीय इति यदासीत् तत्राह **सङ्कल्पो विदित** इति.

टिप्पणी

नुसन्धानमसम्भावितमिति तत्समयोचितभावदृष्टिरेवैषेत्याहुः **तदेयं भावदृष्टिरिति** ॥२३½॥

लेखः

तासामित्यत्र तत्रेति उत्पत्त्युपपत्तिभ्यां ज्ञाने जाते इत्यर्थः. **लोकविरोधेनेति**, स्त्रीणां पुरुषान्तरसख्ये लोकविरोधो भवति न तु चरणस्पर्श इत्यर्थः. एतत्कामनया ज्ञानार्थत्वाभावो ज्ञेयः. **सम्बोधनमाहेति**, स्वरूपस्य सम्यग् बोधनं येन. **तासां** स्वरूपबोधकम**बला**इतिपदं भगवद्वाक्यात् **प्रथमत आहे**त्यर्थः ॥२४½॥

---

१. लुप्तम्.

सङ्कल्पो विदितः साध्व्यो भवतीनां मदर्चनात् ।
मयानुमोदितः सोऽसौ सत्यो भवितुमर्हति ॥२५½॥

भवतीनामभिप्रायो **विदितः,** अनेन न वक्तव्य इति ज्ञापितम्, अन्यथा रसस्त्वपुष्टः स्यादत एव भगवानपि नोच्चारयति[1]. तत्रायुक्तः सङ्कल्प इतिशङ्कां वारयति **साध्व्य** इति. साध्वी सर्वदोषविवर्जिता पतिव्रतेति यावत्. अतोऽधिकारिणा कृतः **सङ्कल्प** सफलो भवति. अनेनान्यस्मै देयाः केनाप्यंशेन विनियोगान्तरं च निवारितम्. **भवतीनां** च सर्वासामेव(वा!)[2]ज्ञातस्वरूपाणाम्. यद्यपि कात्यायन्यर्चनेनायमर्थः सिद्धस्तथापि **मदर्चनाद्** द्वितीयवारमहमेवार्चितः. प्रबुद्धा हि देवतार्च्यत इति तदैव ज्ञानं, परमर्चनं मत्स्पर्शि न भवतीत्यसत्यो भवति, देवताज्ञाव्यतिरेकेण च कृतेति फलदोपि न भवति. तदिदानीं सन्तोषाद् द्वयं पूर्यते. **मयानुमोदित** इति, तत्र **मयानुमोदित** इति **स सङ्कल्पोऽनु** पश्चात् **मोदित** इति मोदं प्रापितः. **स** प्रसिद्धः

टिप्पणी

सङ्कल्पो विदित इत्यत्र, **भवतीनामित्यस्य** विवृतिः **सर्वासामेवाज्ञातस्वरूपाणामिति**. स्वरूपतो धर्मतश्चेति द्वेधा वेदनं सम्भवति, इह तु **भवतीनां सङ्कल्प** इति पदन्यासेन सङ्कल्पस्यैव वेदनम्, न तु स्वरूपस्यापीति ज्ञाप्यते, स्वरूपस्य रसात्मकत्वेनानुभवैकवेद्यत्वादग्रे वेदनं भावि, संप्रति तु सङ्कल्प एव विदित इति रसोक्तिः. "लोकवत्तु लीलाकैवल्यमि"ति न्यायाद्रसमर्यादयैव भगवानेतत्स्वरूपानुभवं करिष्यतीत्याशयेनैवमुक्तम्. **मयानुमोदित** इत्यत्र, **अनेन**

लेखः

सङ्कल्प इत्यत्र **तदैव ज्ञानमिति**, प्रबुद्धाया एवार्चने देवतायाः पूजकसङ्कल्पज्ञानं भवतीत्यर्थः. **परमर्चनमिति**, अर्चनस्य भावनासिद्धत्वात् साक्षात्स्पर्शाभावेन स सङ्कल्पोऽसत्यः स्वरूपतो भवेद्. देवताज्ञां विनापि कृतेऽर्चने सति स सङ्कल्पोऽतिफल**दोपि न भवति** फलतोऽप्यसत्यो भवेत्. **द्वयं पूर्यत** इति, सङ्कल्पस्य स्वरूपतः फलतश्च सत्यत्व**मसौ-सत्य**-इति पदाभ्यामुच्यत इत्यर्थः. **तत्रेति** श्लोकोत्तरार्धे इत्यर्थः. पूर्वमुक्तं प्रतीकमुत्तरार्धस्य ज्ञेयम्. सङ्कल्पस्य फलदत्वं विवृण्वन्ति **स सङ्कल्प** इत्यारभ्**येति भाव** इत्यन्तेन. **स त्ववस्त्विति**, **स** तु सङ्कल्पो

---

१. °येत्. २. ज्ञाताज्ञातस्व°, अज्ञाततत्त्व°.

पूजायामभिव्यक्तो भावपूर्वकदृष्टिपूर्वकपुष्पादिपदार्थानां भाविते भगवति समर्पणरूपः. स त्ववस्तुसमुदायरूप इत्यसत्य एव स्वरूपतो, ज्ञापकः परं जातः. तज्ज्ञापितमा**हासावि**ति, इदानीमहं प्रत्यक्षोऽन्तःकामश्च दत्तो भावोद्गारिणी दृष्टिश्चेयं, निवेद्यं तु सर्वमेवातः पूर्वाकृतितुल्यमेतत् साम्प्रतं जायमानं सर्व**मेवासावि**त्युच्यते. **स** स्वरूपतः **सत्यो**पि फलतोपि **सत्यो भवितुमर्हति**, सत्यात् स[१]त्यं फलमुचितमिति. अतो **योग्यत्वादेव** फलं भविष्यति, न चिन्ता कर्तव्येति भावः. अनेन कार्याधीनत्वाद् गोपिकाधीनमेव फलमिति वाचनिकोऽपि सन्देहो निवारितः ॥२५½॥

ननु कालान्तरेऽन्यां सामग्रीं प्राप्येयं सामग्री विशकलिता पूर्वावस्थामेव प्राप्स्यति न त्वेवंरूपा स्थास्यतीत्याशङ्क्य सामान्यन्यायेन परिहरति **न मयी**ति.

टिप्पणी

कार्याधीनत्वादित्यादि, **असावि**तिपदेनोक्तोऽर्थः **कार्य**पदेनोच्यते फलं च भगवद्रमणं, तच्चैतन्निवेदितदेहेन्द्रियादिभोगरूपमेव तच्चोक्तकार्यमध्यपाति; कार्यं चैतत्कर्तृकत्वेनैतदधीनमिति तथा. **असावि**ति पदोक्तपूजाया भगवति विविधरसभावजनकत्वेन तत्पूर्वक-स्मितविलासेक्षणादिभिरेतद्भावः पूर्यते, नान्यथेति परस्परं भोग एवाद्भुतः सम्पद्यते. इदं चोक्तपूजामध्यपाति, पूज्यकर्तृकनिवेदितभोगस्य पूजामध्यपातित्वात्. एतस्या एव रसमर्यादाक्रमेण पुष्टाया अग्रिमफलसाधकत्वमिति सुष्ठूक्तं **गोपिकाधीनमेव फलमि**ति. अत एवाधुना न रमणम्. तेन कृष्णचेतस्त्वेन मानसनिश्चये सत्यपि "यदि मे दास्य" इति वचनेन "यूयं विवस्त्रा" इत्यादिवचनेन च जनितो यः फले संशयः सोऽपि निवारित इत्यर्थः ॥२५½॥

लेखः

भावनासिद्धत्वाद् वस्तुसमुदायो रूपे यस्य तादृशो न भवति अतः **स्वरूपतोऽसत्यः परं** त्वधुना स्वरूपतः सत्यः सन् फल**ज्ञापको जात** इत्यर्थः. **तद्ज्ञापितमि**ति फलजननमित्यर्थः. **असावि**ति, **अर्हती**त्यन्तस्य प्रतीकमिदं न तु पदमात्रस्य. **कार्याधीनत्वादि**ति फलस्येति शेषः. फलं कार्याधीनं, कार्यं च गोपिकाधीनमतः फलस्यापि गोपिकाधीनत्वं सम्पन्नमित्यर्थः ॥२५½॥

नन्विति, भगवति निवेदितः सङ्घातोऽनिवेदिभिः सङ्गं प्राप्यानिवेदितो

---

१. सत्यफलम्.

न मय्यावेशितधियां कामः कामाय कल्पते।
भर्जिताः क्वथिता धाना भूयो बीजाय नेशते ॥२६½॥

अयं सामग्र्याः संस्कारो, यथा संस्कृतो [१]ब्राह्मणोऽसंस्कृतैर[२]पि सहितो नासंस्कृतो भवति नापि पुनःसंस्कारो भवत्यतो भगवति [३]समर्पिता सर्वा सामग्री भगवदीया जाता. कोटिसूर्याधिकज्ञानाग्निरूपो भगवांस्तत्र सर्वं बु[४]द्ध्यधीनमिति बुद्धिश्चेत् समर्पिता तदा सर्वमेव समर्पितमिति बुद्धिसमर्पणमेवाह **मय्यावेशितधियामि**ति. न केवलं समर्पिता **किन्त्वावेशिता** तदुपर्येव स्थापिता. बुद्ध्यधीनः काम, इच्छा हि ज्ञानाधीनेति. "कामः सङ्कल्प" इत्यादिश्रुतौ "सर्वं मन एवे"ति निरूपणं मनोधर्मत्वात्. "मनसस्तु परा बुद्धिर"तो बुद्ध्यधीनं सर्वम्. यथा राजनि निगृहीते राज्यमेव तदधीनं भवत्येवं बुद्धौ निवेदितायां सर्वमेव निवेदितमतः पूर्वावस्थायां यद् रूपं तत् तेषां न भवति. कामो हि पुरुषात्मकः, "काममय एवायं पुरुष" इतिश्रुतेः. यदि **कामः कामाय** न क्लृप्तस्ततोऽग्रे तस्मात् सङ्घातात् न सङ्घातान्तरमुत्पत्स्यते किन्तु स एवान्तिमः सङ्घातो भवति, धिया सह कामस्यापि दग्धत्वात्; काममयश्च सङ्घातः. तत्र दृष्टान्तेनावेशनमात्रेण तस्याकार्यत्वं साधयति **भर्जिता** इति, यवादयो हि भर्जिता धाना भवन्ति, धानास्तु भ्रष्टयवा इति. धनं हि धनोत्पादकं तथा यवा यवोत्पादका न तु धानावस्थायाम्. अतः पूर्वावस्थां परित्यज्य ये सम्बन्धमात्रेण तदीया भवन्ति ते न तत्कार्यं कुर्वन्ति. केषाञ्चिद् बीजानां केवलाग्निना बीजशक्तिर्न गच्छति तेषां जलाग्निसंयोगेन गच्छतीति **क्वथिता** इत्युक्तम्. उपलक्षणमेतद्, यावता यस्य बीजशक्तिर्गच्छति ततस्तदनन्तरं तत् कार्यक्षमं न भवतीत्यतो **धाना** जाता **भूयो बीजाय नेशते** न समर्था भवन्ति. अथ "वान्नं धानासु लीयते धाना भूमौ प्रलीयन्त" इत्यत्र 'धाना'शब्देन बीजान्युक्तानीत्यत्रापि तथैवेति ज्ञेयम्. तेन **भर्जिता** इत्युक्तिर्युक्ता. अतो **मयि**

लेखः

भविष्यतीत्यर्थः. **न मयीत्यत्र अयमि**ति भगवति बुद्ध्याद्यावेश इत्यर्थः. **अत** इति बुद्ध्यावेशस्य संस्कारत्वादित्यर्थः. **जाते**त्यत्र तथाऽसंस्कृता न भवतीति शेषो ज्ञेयः. **अकार्यत्वमि**ति, न कार्यं कामान्तरं यस्मात् तादृशत्वमित्यर्थः. धनस्यावस्थाविशेषो धानं, तस्येदमित्यण्. धनावस्थायां यवा यवोत्पादका **न तु** भ्रष्टत्वेन **धानावस्थायाम्**. तस्यामवस्थायां धनसम्बन्धिनो यवा न तु धनरूपा इत्याहुः

---

१. संस्कृतैः सङ्गतोपि. २. लुप्तम्. ३. सर्वा सामग्री समर्पिता. ४. भावि.

समर्पितः **कामः** पुनः कामान्तरं न जनयिष्यति. सुतरां, पूर्वावस्थां न प्राप्स्यति तथा सति, जनयेदे"वाधिकं तत्रानुप्रविष्टमि"ति ॥२६½ ॥

यत्र क्वापि तिष्ठन्तु न प्राकृतत्वं भविष्यत्यतो गच्छतेत्याह **यातावला** इति.

यातावला व्रजं सिद्धा मयेमा रंस्यथ क्षपाः ।
यदुद्दिश्य व्रतमिदं चेरुरार्यार्चनं सतीः ॥२७½ ॥

पुनः स्वकीयत्वेन सम्बोधनं स्नेहं सूचयति. सह पर्यटनं तु बलकार्यं, यथा भूमिर्नान्यत्र नीयते भौमा एव च नीयन्ते तथापि संस्कारार्थं कर्षणवत् क्रियया व्याप्रियत इति भवानेव वा स्थित्वा तथा करोत्वित्याशङ्क्याह **सिद्धा** इति. न भवतीषु किञ्चित् साध्यमस्ति किन्तु **सिद्धा** एव भवत्यः, अतो **व्रजं यात** गच्छत. अलौकिकीं च दृष्टिं दत्त्वाह **मयेमा रंस्यथ क्षपा** इति— **इमाः** परिदृश्यमाना **क्षपा**

टिप्पणी

अत्रैव **यातावला** इत्यस्य विवरणे, **यथा भूमिरि**त्यादि. अस्य कामस्य कामान्तरानुत्पादकत्वेन[1] दृष्टान्तीकृता धाना इति तद्व्यञ्जितोऽर्थोऽत्रोच्यते. ते हि पूर्वावस्थायां भूमावुप्ता अङ्कुरोत्पादकाः. तत्र न हि विजातीयाङ्कुरानुत्पत्त्यर्थं रक्षार्थं भूरन्यत्र नीयते, किन्तु तदुत्पादका भौमा दोषा एव निरस्यन्ते. प्रकृते तु भगवानस्मानतः परं यत्र कुत्रापि स्वसङ्ग एव नयत्विति स्वामिनीनां हृदयम्. तच्चाधुना रसपोषाय लौकिकविरोधाद्रसाभाससम्भवाच्च न कर्तव्यमत इयमाज्ञेति. यद्वा. **भौमा एव** भूसम्बन्धिनो हलादय एव परं भूसमीपं **नीयन्त** इत्यर्थः. तेन यथासम्भवं भवतीरुद्दिश्य सन्ध्यादिष्वहमेव व्रजमागमिष्य इति भावः. **मयेमा**

लेखः

सामान्येन **अत** इति. **सुतरामि**ति, कदाचित् कामान्तरजननेऽपि मत्सम्बन्धिनमेव जनयिष्यति न तु पूर्वसिद्धमित्यर्थः ॥२६½ ॥

योजना

यातावला इत्यस्य विवृतौ **तथापि संस्कारार्थं कर्षणवत् क्रियया व्याप्रियत इती**त्यादि. यद्यपि भौमा एवान्यत्र नीयन्ते भूमिस्तु नान्यत्र नीयते तथापि भूमिः कर्षणादिक्रियया व्याप्रियते; तथा वयमपि भजनोपयोग्यतासम्पादनेन संस्कार्या इत्यर्थः. **मयेमा रंस्यथ क्षपा** इत्यस्य विवृतौ **इमाः परिदृश्यमानाः क्षपा मय्येव**

१. °नुत्पादकत्वे मू. पा.

मय्येव विद्यमानाः क्षपा रात्रीर्**मया** सह **रंस्यथ** रमणं करिष्यथ. अत्यन्तसंयोगे द्वितीया. रमणसहितास्ताः प्रदर्शिता इति न सन्देहः. नन्वेतदेव कथं फलं, नित्यसम्बन्धोऽन्यो वाहोरात्रसम्बन्धः कथं नोच्यते इत्याशङ्क्याह **यदुद्दिश्ये**ति, रमणमेवोद्दिश्येदं **व्रतं चेरुरार्यायाः** कात्यायन्या **अर्चन**लक्षणम्. स्वार्चनस्य तु सत्यत्वे विनियोगो, रमणं तु तद्व्रतफलम्. तत्र तु मास एव नियामको, रात्र्यन्ते च पूजनमतो रात्रावेव परिमितकाले रमणं, न दिवसे नाप्यपरिमितकाले. किञ्च

टिप्पणी

रंस्यथेत्यत्र, **रमणसहितास्ता** इति. आसां क्षपाणामेतन्मात्रभोगार्थमेवाविर्भावादेतज्ज्ञापको धर्मविशेषः क्षपासु वर्तत इति तद्दर्शनेन स्वरमणनिश्चयोऽभूदित्याशयेनेदमुक्तमिति ज्ञेयम् ॥२७½ ॥

लेखः

यातावला इत्यत्र क्षपारमणयोरत्यन्तसंयोगस्यार्थमाहुः **रमणे**ति. अत्र करणे ल्युड् **इति**हेतोः **सन्देहो न** स्थित इत्यर्थः. अक्षरार्थोऽयमिति ज्ञेयम्. **नित्यसम्बन्धः** सर्वदा सम्बन्धोऽन्तर्गृहगतानामिव. तथा सति तासामिवासामपि द्वितीयरसानुभवो न स्यादित्यरुच्याहुः **अहोरात्रे**ति. कदाचिदह्नि कदाचिद् रात्रावेवं प्रत्यहमित्यर्थः ॥२७½ ॥

योजना

विद्यमाना इति. अत्रेदं ज्ञेयम्— इयं वस्त्रहरणलीला हेमन्तर्तौ दिवा जाता, तत्र **इमाः क्षपा** इत्युक्तिः कथं सङ्गच्छेत ? रात्रौ चेद् रात्रिसाजात्यात् शरत्कालसम्बन्धिन्यो रात्रयो गृह्येरन्. शरदि ऋतौ चेद् दिवा कथनेऽपि शरत्सम्बन्धिनीनां रात्रीणां ग्रहणं स्यात्. प्रकृते तु हेमन्तर्तुर्दिनं **चेतीमाः क्षपा मया** सह **रंस्यथे**त्युक्तिर्विरुद्धा, शरत्कालसम्बन्धिरात्रिषु रमणस्य जायमानत्वाद्, "भगवानपि ता रात्रीः शरदोत्फुल्लमल्लिका"इति वाक्यात्. एवं **सतीमाः क्षपा** इति कथं भगवतोक्तमित्याशङ्क्याहु**रिमाः परिदृश्यमानाः क्षपा मय्येव विद्यमाना** इति. इमाः क्षपा अलौकिक्यो भगवद्रमणैकाधिष्ठानभूता रमणसहिता नित्याः प्रापञ्चिकरात्रिभ्यो भिन्ना अलौकिकी या शरत् तत्सम्बन्धिन्यः. अतो हेमन्तर्तौ दिवापि ता रात्रयः प्रदर्शिता, **मयेमा रंस्यथ क्षपा** इत्यत्रेदंशब्दप्रयोगात्, "इदमस्तु सन्निकृष्टं समीपतरवर्ति चैतदोरूपं अदसस्तु विप्रकृष्टं तदिति परोक्षे विजानीयादि"तिवाक्यादिदंशब्दस्य सन्निकृष्टवाचकत्वात् ॥२७½ ॥

सतीर्हि सतीरूपाः, पूर्वसवर्णोऽत्र. सतीनां न दिवसे रमणं नापि सर्वदा **यथेष्ट**मिति, अतो विवाहितान्यायेन रमणं भविष्यतीति भावः. प्रथमवाक्यसमागमने तु भगवदाज्ञाकरणादक्षयमेव फलं भवेत्, कर्मफलं तु क्षयिष्णु ॥२७½॥

ततो भगवताज्ञप्ता आज्ञोल्लङ्घनभीता व्रजं गता इत्याह **इत्यादिष्टा** इति.

॥ श्रीशुक उवाच ॥

इत्यादिष्टा भगवता लब्धकामाः कुमारिकाः।

ध्यायन्त्यस्तत्पदाम्भोजं कृच्छ्रान्निर्विविशुर्व्रजम् ॥२८½॥

यद्यपि कामो महांस्तथापि भगवदिच्छया बाध्यते. मनोरथश्च प्राप्तः परं साक्षाद्विवाहाभावात् **कुमारिका** एव. तासां रसान्तरव्यावृत्त्यर्थं भक्तिमाह **ध्यायन्त्यस्तत्पदाम्भोजमि**ति, हृदि भगवच्चरणकमलं ध्यायन्त्यः. **कृच्छ्रादि**ति कष्टं प्राप्य मध्ये गन्तुमशक्ताः कथञ्चिद् **व्रजं निर्विविशु**र्गृहगमनाज्ञया तादृशस्तापो वृत्तो येन जीवनमपि तत्कालीनं न [१]सम्पद्येत यदि पदाम्भोजध्यानं न स्यात्. तस्मिन् सति तद्विषयस्याम्भोजत्वेन तापहरणाद् जीवनसम्पत्तिरभूत्. तथापि **कृच्छ्रादि**त्युक्तेस्तद्ध्यानं तापकार्यप्रतिबन्ध एवोपक्षीणं न तु तद्धरणेऽपीति ज्ञाप्यते. एवं साधिकैस्तत्त्वैस्तासामर्धभक्ति[२]र्निरूपिता तत्त्वातिक्रमश्च ॥२८½॥

अथ ज्ञानं निरूप्यते[३]ऽन्यथा गोपालानामनर्थपर्यवसानं स्यात्. तैर्यद्यन्यार्थता

टिप्पणी

अत्रैवोपसंहारे **तासामर्धभक्ति**रिति, अङ्गसङ्गाभावादर्धत्वम् ॥२८½॥

अत्रैवाग्रिमप्रकरणार्थनिरूपणे, **अन्यथा गोपालानामनर्थपर्यवसानं स्यादि**ति. अत्राथ **गोपैरि**त्यनेनोक्ता गोपाला उच्यन्ते, न तु पूर्वोक्ताः, विनियुक्तत्वात्.

लेखः

इत्यादिष्टा इत्यत्र. यावत्कामस्याजातत्वाल्लब्धकामत्वं कथमित्यत आहुः **यद्यपी**ति. **मनोरथश्चे**ति, पतित्वं च प्राप्तं, **सिद्धा** इति वचनादित्यर्थः ॥२८॥

योजना

इत्यादिष्टा भगवतेत्यत्र **साधिकैस्तत्त्वैरि**ति सार्धैरष्टाविंशतिभिः श्लोकैरित्यर्थः. **तासामर्धभक्तिरि**ति **अङ्गसङ्गाभावादर्धत्वमि**ति भगवता टिप्पणीकारेणोक्तम् ॥२८½॥

---

१. सम्पद्यते. २. °श्च साधने. ३. रूप्यते°.

बुध्येत तदा क्रमेण भगवदर्थमेव सर्वमिति ज्ञातं भवेदतस्तेभ्यः परार्थतां विद्यां प्रथमपर्वरूपां भगवान् बोधयितुं स्थानान्तरे जगामेत्याह**ाथे**ति दशभिः.

अथ गोपैः परिवृतो भगवान् देवकीसुतः।

वृन्दावनाद् गतो दूरं चारयन् गाः सहाग्रजः ॥२९½॥

अथ भिन्नप्रक्रमेण **गोपैर्वृतो भगवान्** भक्तोद्धारार्थं प्रवृत्तो **वृन्दावनाद् दूरं गतो** वृन्दावनं परित्यज्याग्रे गतो, वृन्दावनस्य तु स्त्रीप्राधान्याद् ज्ञानं न भविष्यतीति. तत्र गतानां ज्ञानार्थं प्रथमतो धर्ममाह **चारयन् गा** इति. पूर्वं तु न गोभिः सहितो नापि गोपालसहितो नापि बलभद्रसहितः, पश्चादेव च ते मिलितास्तस्मिन्नेवावसरे. तदुक्त्वा ज्ञापित**मथ गोपैरि**ति ॥२९½॥

टिप्पणी

गोपपदेनैव च तद्व्यावृत्तिः, तेषु तदभावात्. अत एव मूले तेषु वयस्यत्वादिकमेवोक्तं न तु गोपत्वमपि. स्तोकादयो यदि व्रजस्थं वस्तुमात्रं न केवलं भगवदर्थं किन्त्वन्यार्थमपीति जानीयुस्तदा पूर्ववृत्तान्तं श्रुत्वा प्रभौ दोषारोपं कुर्युः. स एव चानर्थरूपः. यदि तदर्थमेव सर्वमिति जानीयुस्तदोक्तवैपरीत्यमित्यर्थः. अत्रैव **वृन्दावनाद् गतो दूर**मित्यस्य विवरणे, **वृन्दावनस्य स्त्रीप्राधान्या**दित्यादि. अत्रोपक्रान्तत्वात् परार्थताज्ञानमेव **ज्ञान**पदेनोच्यते. भगवदीयव्रजस्त्रीणां तु रसभावभरेणास्मदर्थमेव प्रभुप्राकट्यमिति ज्ञानं दृढम्. अत एव वक्ष्यन्ति च "व्यक्तं भवान् व्रजजनार्तिहरोऽभिजात" इति. एवं सति तद्वने तद्विपरीतज्ञानं न सम्भवतीत्यर्थः. भगवदतिरिक्ते वस्तुनि तूपेक्षेति तस्मिन् [१]तदर्थत्वात्तदर्थत्वज्ञाने अपि न सम्भवत इति भावः ॥२९½॥

लेखः

अथेत्यस्याभासे **प्रथमपर्वरूपामि**ति, "विद्यापञ्चकमत्रापी"त्यत्र टिप्पण्यामुक्तं यत् प्रथमं पर्व तद्रूपामित्यर्थः ॥२९॥

योजना

अथ गोपैः परिवृत इत्यस्याभासे **विद्यां प्रथमपर्वरूपामिति.** "वैराग्यं साङ्ख्ययोगौ च तपो भक्तिश्च केशवे पञ्चपर्वेति विद्येयं यया विद्वान् हरिं विशेदि"तिवाक्ये वैराग्यं प्रथममुक्तमतः **प्रथमपर्वरूपामि**त्यस्य वैराग्यरूपामित्यर्थो ज्ञेयः. वैराग्ये जाते परोपकारार्थता फलिष्यति ॥२९॥

---

१. तदर्थत्वातदर्थत्व° मू. पा.

तदा[1] कियद् दूरे गत्वा श्रान्तेषु सर्वेषु क्वचिद् छायामुपविष्टेषूपदेशार्थं किञ्चिदाहेत्याह **निदाघेति**.

निदाघार्कातपे तिग्मे छायाभिः स्वाभिरात्मनः।
आतपत्रायितान् वीक्ष्य द्रुमानाह व्रजौकसः ॥३० १/२॥

निदाघकाले **योऽर्कस्तस्यातपे तिग्मे**ऽपि **स्वाभि**श्छाया**भिरात्मनः** स्वस्यात**पत्रायितान्** श्वेतच्छत्राकारेण समागच्छतः [2]पूर्ववर्णितान् वृक्षान् **वीक्ष्य व्रजौकसो** गोपान् प्रत्या**ह,** व्रजजातापेक्षया वनजाता एव वृक्षाः समीचीना इति. पञ्चपर्वा विद्यां बोधयिष्यति वृक्षदृष्टान्तेन. वृक्षेषु चतस्रो विद्याभेदा[3] गोपेष्वेका. [4]यथा ता अपि चतस्रो भवन्ति तदर्थमुपदेशः. यद्यपीदानीं न निदाघकालो नाप्येत आतपत्रायिताः किन्तु तेषां पूर्वावस्थामेव स्मृत्वा साम्प्रतं तान् **द्रुमान्** दृष्ट्वाह ॥३० १/२॥

अत्रैकादशमुख्याधिकारिणो गोपा एकादशेन्द्रियाधिष्ठातृरूपास्ते चेत् परार्थास्तदा सर्वं सिद्धमिति तान् सम्बोधयति **हे कृष्णेति**.

हे कृष्ण स्तोक हे अंसो श्रीदामन् सुबलार्जुन।
विशालर्षभ तेजस्विन् देवप्रस्थ वरूथप ॥३१ १/२॥

भगवतो नामकरणे अन्या अपि गोपिकाः स्वपुत्रनाम तथा कृतवत्यः. [5]**स्तोको** द्वितीयः, **अंसु**रपरः, **श्रीदामा सुबलोऽर्जुनो विशाल ऋषभस्तेजस्वी देवप्रस्थो वरूथप**श्च. वरूथपो मनसस्तन्निकटस्थानि[6] निकटस्थस्यैव कृष्णो वाचः. स्तोको

टिप्पणी

निदाघार्कातप इत्यत्र, **व्रजजातापेक्षयेति**. भगवदन्तिकागमने निवारकत्वाद् वृक्षाणां चैतद्रमणानुकूलत्वात्तथात्वमिति भावः. यद्वा, व्रजजाता वृक्षा एवात्रोच्यन्ते. तेषु लीलाविशेषानुपयोगात्तथात्वम् ॥३० १/२॥

लेखः

[7]**हे कृष्णेत्यस्याभासे इन्द्रियाधिष्ठातृरूपा** इति, इन्द्रियाधिष्ठातारो रूपेषु

योजना

निदाघार्कातप इत्यत्र **व्रजजातापेक्षया वनजाता** एवेत्यस्यार्थष्टिप्पण्यां पक्षद्वयेन स्फुटमुक्तः ॥३०॥

---

१. लुप्तम्. २. पूर्वं व°. ३. विद्या गो°. ४. यथैता.
५. स्तोकोपि. ६. °टस्थो. ७. इत्यधिकमेकस्मिन्नादर्शे.

रसस्य, एकत्रोभयसत्त्वात्. पुनरन्येषां भिन्नतया सम्बोधनम्. अंसुर्घ्राणस्य, श्रीदामा चक्षुषः, सुबलो बाह्वोः, अर्जुनः श्रोत्रयोः, विशालस्त्वचः, ऋषभः पादयोः. अवशिष्टस्तेजस्वी, पाकज्ञापकत्वात्. एतेषां भगवता सह संव्यवहार इति महत् पर्व सिद्धं तत् सम्बोधनेन निरूपितम् ॥३१ १/२॥

द्वितीयमाह **पश्यतेति**.

पश्यतैतान् महाभागान् परार्थैकान्तजीवनान्।
वातवर्षातपहिमान् सहन्तो वारयन्ति नः ॥३२ १/२॥

धर्मः प्रथमं, सर्वपरित्यागेन परार्थता द्वितीयं, सर्वत्र भगवद्बुद्धिस्तृतीयं, तस्य ज्ञापिका सर्वसेवा, अकामश्चतुर्थो– भगवदीयानां चेदेतच्चतुष्टयं तदा कृतार्थता भवतीति. प्रथमो यादृशो धर्मोऽपेक्ष्यते तादृशमाह **पश्यतेति**. आदौ धर्मसन्देहे धर्मात्मानो द्रष्टव्या. धर्मो हि भाग्यवतामेव फलति, अन्यथा विघ्नः स्यात्. भाग्यं च महतः, तस्य ज्ञापकं यशः सर्वैरुच्यमानं, तदाह **महाभागानिति**. धर्मस्वरूपमाह **परार्थेति**. जीवनं तदुपकरणं च स्वस्य तत्र परार्थमेव चेद् जीवितं तदान्ते धर्मो

टिप्पणी

परार्थैकान्तजीवनानित्यत्र. परार्थजीवनानित्येतावतैव चारितार्थ्येऽपि य**देकान्त**पदयोः कथनं तत्तात्पर्यमाहुः **तदा अन्ते धर्म** इत्यादि. जीवनस्य परार्थसाधनत्वेन तत्पूर्वकालीनस्य तस्य तथात्वं वाच्यम्. तथा चोत्तरक्षणे जायमानः

लेखः

येषामित्यर्थः. व्याख्याने, **पाकज्ञापकत्वादिति**. अश्रुआदयः पायुकार्यं, तैरन्तः खेदपाको जायते; तेजसाप्योदनादिपाको जायते इति भावः[1] ॥३१ १/२॥

पश्यतेत्यत्र प्रथमं पर्वेति, वृक्षेषु चतुष्टयमध्ये प्रथममित्यर्थः. **वातवर्षे**त्यत्र

योजना

हे कृष्ण स्तोकेत्यस्याभासे **अत्रैकादश मुख्याधिकारिणो गोपा** इति, कृष्णसञ्ज्ञकगोपादयो वरूथपान्ता एकादशेत्यर्थः. **इन्द्रियाधिष्ठातृरूपा** इति निरोध्यभक्तानामेकादशेन्द्रियाणामधिष्ठातृरूपा इत्यर्थः. "भूमावुत्तारितं सर्वं वैकुण्ठमि"ति कृष्णोपनिषत्सु कृष्णावतारपरिकरस्य वैकुण्ठस्थत्वोक्तेरेते सखायो वैकुण्ठवासिनो व्रजस्थनिरोध्यभक्तानामेकादशेन्द्रियाधिष्ठातारो भगवता सहैवावतीर्णा इति बोध्यम्. व्रजस्थानामलौकिकत्वेन प्रपञ्चातीतत्वात् तदिन्द्रियाधिष्ठातृता प्रपञ्चातीतवैकुण्ठस्थपरिकरभूतानामेवोचितेति ॥३१॥

---

१. इत्यधिकमेकस्मिन्नादर्शे.

निरूपितः स हि मुख्यो"ऽन्ते या मतिः सा गतिरि"तिसामान्यपक्षं व्यावर्तयति. **परार्थमेवैकान्ततो जीवनं** वर्तते येषामिति. [1]एकान्तजीवनत्वात् न स्वार्थपरार्थत्वरूपमध्यमत्वं, स्वार्थं त्वधमम्. एवं स्वरूपतोऽन्ततो धर्मं निरूप्य [2]बाह्यधर्ममाह **वातवर्षे**ति. जीवनेन हि वर्धते शरीरं, सा वृद्धिः परेच्छयैव. यदि च[3] परो वृद्धिं न मन्यते, तावतैव दारुणा कार्यमिच्छति. एवं जीवनं चेत् परार्थता भवति तथा धर्मोऽपि यदि परार्थ एव भवेत्. केवलश्चेदधमः. उभयार्थश्चेत् काम्यो मध्यमो, यथोपवासाः. विद्यमानमन्नमन्येभ्यो दत्त्वा तदभावे रन्तिदेवस्येव ते[4] मोक्षहेतवः.

टिप्पणी

परार्थः पूर्वक्षणीयजीवनस्यान्ते भवति. स च न प्रासङ्गिकस्तथा किन्तूद्देश्यत्वेन मुख्यः. एतदर्थ**मेक**पदम्. एतदेवोक्त**मन्ते या मतिरि**त्यादिना. एवं सति **परार्थ एवैको** मुख्यो**ऽन्ते** यस्येति मूलार्थः सम्पद्यते. अस्मिन्नेव पक्षे योजनान्तरमप्याहुः **एकान्तत** इति. **यथोपवासा** इत्यादि. एतस्यैव विवरणं **विद्यमानमि**त्यादिना क्रियते. तथाहि **तद्दत्त्वा** स्थितस्य **रन्तिदेवस्य तदभावे** अन्नाभावे सति ये जाता उपवासा**स्ते**

लेखः

पूर्वार्धे आन्तरो धर्मो निरूपित इत्यान्तरमेव जीवनं निरूपितम्, अत्र बाह्यो धर्मो निरूप्यत इति जीवनमपि बाह्यं निरूपणीयमिति तमाहुः **जीवनेन ही**ति. वृद्धिर्बाह्यं जीवनमिति भावः. **न मन्यते** इत्यत्र तदेति शेषः— **वृद्धिं** तेषां वातादिसहनेन तद्वारणं **न मन्यते** तदा **तावतैव कार्यमिच्छति** तदा तथैव भवतीति शेषः. **तथे**ति. **यदी**त्यस्यानन्तरं 'भवेत्'-'तदे'तिपदद्वयं शेषः; यावदन्नदानादिकं परो मन्यते तावत् चेद् भवेत् तदा परार्थ एव भवेदित्यर्थः. **केवलश्चेदि**ति स्वार्थ एव चेदित्यर्थः.

योजना

परार्थैकान्तजीवनानित्यत्र **अन्ते धर्म** इत्यादेरर्थष्टिप्पण्यां स्फुटः, **वातवर्षे**त्यत्र **सा वृद्धिः परेच्छयैव यदि च परो वृद्धिं न मन्यते तावतैव दारुणा कार्यमिच्छती**ति. **सा** वृक्षाणां **वृद्धिः परेच्छयैव** परस्य रथकारादेरिच्छया भवति. तदेव स्पष्टयन्ति **यदी**त्यादिना. **परः** काष्ठाद्याकाङ्क्षी **वृद्धिं न मन्यते** नेच्छति किन्तु सूक्ष्मस्यैव वृक्षस्य छेदनमिच्छति तदा वृद्धिर्न भवत्यतो वृक्षवृद्धिः परेच्छयैवेत्यर्थः. **उभयार्थश्चेदि**ति स्वार्थत्वपरार्थत्वोभयविशिष्टश्चेदित्यर्थः. **निर्हेतुश्चेदि**ति, एतस्यार्थ-

---

१. एकान्तत्वात्. २. बाह्यं. ३. लुप्तम्. ४. लुप्तम्.

स्वतोप्यभावेऽन्यतः पोषणे तेषां दुःखाभावाय मध्यमः, तदुभयाभावे क्लेशात्मकः. निर्हेतुश्चेदधमोऽपि महान्. सकामश्चेत् मध्यमः. अन्यापकारी त्वधमाधमः. तत्रोत्तममाह, **वातवर्षा आतपो हिमश्च** त्रयः कालगुणाः, आद्यश्चतुर्णां सहकारी. **एतान् सहन्तोऽन्येषामेतान् वारयन्ति,** तत्रापि **नो**ऽस्माकम्. अनेन प्रमाणं प्रत्युपकाराभावश्चोक्तः. बाह्यमेतदेव तपः, अनशनादिकं तु प्रायश्चित्तमिति न धर्मत्वेन परिगणितम्. अन्ये सर्वे भेदा हीनाः ॥३२ $\frac{1}{2}$॥

एवं धर्मं निरूप्य परोपकारलक्षणमर्थरूपं निरूपय**त्यहो** इति.

टिप्पणी

तस्य **मोक्षहेतवो** जाता इत्यर्थः. तथा चैतादृशास्त उत्तमा इति भावः. **स्वत** इति स्वत एवान्नाभावे सति, न तु दानप्रयुक्त इत्यर्थः. ईदृशस्यान्यतोऽन्नप्राप्तिसम्भवेऽपि स्वस्यापेक्षासत्त्वेऽपि तत्पीडाभावाय तद्दत्तान्नाग्रहणेन य उपवासः स मध्यम इत्यर्थः. **तदुभयाभाव** इति. स्वतः परतश्चान्नाभावे सत्यन्नकामनायां सत्यां य उपवासः स तथेत्यर्थः. **निर्हेतुश्चेदि**ति, ईदृशोऽपि चेदनेनोपवासेनास्येष्टं स्वस्य वा करिष्य इति संकल्पं न कुर्यात्तदा स उत्तमः, तस्मिन्सति मध्यमः. अग्रे स्पष्टम्. **वातवर्षातपहिमानि**त्यत्र, **आद्यश्चतुर्णामि**ति, **चतुर्णां** मध्य **आद्यस्त्रयाणां सहकारी**त्यर्थः. यद्वा. मन्दोऽनिलः स्वसजातीयानेकसहकारेण महत्कार्यमपि करोतीत्याशयेनेदमुक्तम्. तथा च यथाश्रुत एव ग्रन्थो बोद्धव्यः ॥३२ $\frac{1}{2}$ ॥

लेखः

निर्हेतुश्चेदित्यादिना अधर्मेऽपि त्रैविध्यं विवृतम् ॥३२$\frac{1}{2}$ ॥

योजना

ष्टिप्पण्यां स्फुटः. **आद्यश्चतुर्णामि**ति **चतुर्णां मध्ये** इति टिप्पण्यां; **चतुर्णां** वातवर्षातपहिमानां **मध्ये आद्यो** वातः वर्षातपहिमानां **सहकारी.** अतो वर्षापि वातेन सहकृता पीडयति, एवं ग्रीष्मे आतपः शीतकाले हिमं चेति वातस्य सहकारित्वम् ॥३२ $\frac{1}{2}$ ॥

अहो एषां वरं जन्म सर्वप्राण्युपजीवनम् ।
सुजनस्येव येषां वै विमुखा यान्ति नार्थिनः ॥३३ $\frac{१}{२}$ ॥

एषामेव वरं जन्म देहग्रहणानन्तरजीवितं येषां न स्वार्थापेक्षा. तदुपपादयति **सुजनस्येवेति** दृष्टान्तेन. **अहो** इत्याश्चर्यम्, एतादृशमपि जन्म जायत इति [१]यत्र स्वकार्यं नास्त्येव. भगवतोऽप्यवतारे लीला भवति. यद्यपि सा परार्था तथापि लोकप्रसिद्ध्या[२] स्वार्थापि भवत्यतो भगवतोऽप्याश्चर्यम्. केवलं कर्मफलभोगे मण्डूकानामिव परार्थता न स्यादत **एषामेव जन्म वरम्.** तत्र हेतुः **सर्वप्राणिनामुपजीवनं** यस्मिन्निति. ये हि सर्वान् जीवयन्ति ते सफलजीवनाः. तद् येन भवति तत् सुजनेषु प्रसिद्धं— यथा सतां गृहे समागतोऽ**र्थी** याचको विद्यमानेऽर्थे **विमुखो** न गच्छति. तादृशो दुर्लभ इत्येकवचनम्. **येषामिति** सर्वनाम्ना वृक्षाः सर्वे तद्विधा एवेत्याधिक्यं निरूपितम्. **वै** निश्चयेनैव[३] ग्रहीतुं योग्याः. तत्रार्थित्वे सम्पन्ने विमुखा न भवन्ति. अग्रेऽपि **वीनां मुखे** न प्रविशन्ति यदि दारूणि भवन्ति. नापि कालमुखे पतन्ति यदि वृक्षभिक्षुका एव भवन्ति ॥३३ $\frac{१}{२}$ ॥

एवमर्थोत्तमतां निरूप्य कामोत्तमतां निरूपयन्नेतेषां कामजनितमपि सर्वं परार्थमेवेत्याह **पत्रेति.**

टिप्पणी

विमुखा यान्ति नार्थिन इत्यत्र, **अग्रेऽपि वीनां मुखे न प्रविशन्तीत्यादि. अग्रेऽपि** देहत्यागानन्तरमपीत्यर्थः. **वीनां** पक्षिणां गृध्रादीनां मुखानि भक्षणार्थं भवन्ति येषु ते **विमुखास्तादृशाः** सन्तो **न यान्ति**, दारुषु सत्सु देहस्य भस्मीभावात्. **विशब्दस्य** कालवाचकत्वेपि तथा. **वृक्षमात्रभिक्षुकाः** परमहंसाः ॥३३ $\frac{१}{२}$ ॥

लेखः

अहो इत्यत्र **तद्येनेति, तत्** सफलजीवनत्वं **येन** सर्वोपजीवनेन **भवतीत्यर्थः. सर्वनाम्नेति**, महासञ्ज्ञाकरणे अन्वर्थत्वाशयस्वीकारादिति भावः. **ग्रहीतुमिति** स्वसाधर्म्येणेति शेषः ॥३३ $\frac{१}{२}$ ॥

योजना

विमुखा यान्ति नार्थिन इत्यत्र **अग्रेऽपि वीनां मुख** इत्यादेष्टिप्पण्यां स्फुटोऽर्थः ॥३३ $\frac{१}{२}$ ॥

---

१. अत्र. २. प्रसिद्धा. ३. निश्चयेन.

पत्रपुष्पफलच्छायामूलवल्कलदारुभिः ।
गन्धनिर्यासभस्मास्थितोक्मैः कामान् वितन्वते ॥३४ $\frac{१}{२}$ ॥

पत्राणि संयोगिद्रव्याणि, यथा केशा दन्ताश्च. तत्र पत्राणां सर्वोपयोगो न केशानां कथञ्चन. **पुष्पाणि** रजोरूपाणि, तानि सर्वपुरुषार्थसाधकानि स्त्रीणां तु तासामप्यपकारजनकानि. **फलानि** पुत्रा इव, तेषामर्थे परमन्यान् घातयन्ति न तु तान् प्रयच्छन्ति. **छाया** गृहमिव— न तत्र सर्वः प्रविशति प्रविष्टोऽपि तापयुक्तो भवति शीतवद् भयं च प्राप्नोति व्यसनानि च वृष्टिवत्. **मूलं** तेषां धर्म एव— प्राणिनां धर्मे पशवो हन्यन्तेऽत्र तु मूलमन्येभ्यः प्रयच्छन्त्यौषधार्थम्. तथा **वल्कलानि** च परिच्छदा घटपटादय इव. **दारूणि** काष्ठानि शुष्काणि. उपभुक्तशेषमपि नान्यस्मा उपकरोति, स्त्रीशरीरादिषु तथा प्रसिद्धिः. **गन्धश्चन्दनादिषु** कीर्तिवत् प्रसिद्धनामानोऽपि नाम्नापि नोपकुर्वन्ति. **निर्यासस्तदन्तःसारो** वाक्यरूपः, **भस्म** तदभाववत्, मृतोऽपि प्रेतवत् श्राद्धादिकारणाद् वापकरोत्येव, इदं तु क्षालनादावुपयुज्यते. **अस्थीन्यङ्गालास्ते** सर्वत्र तैजसेषूपकुर्वन्ति. एतेषां त्वस्थि न कस्याप्युपकरोति प्रत्युत दोषे निमित्ततामापाद्यते "नारं स्पृष्ट्वे"त्यादौ. **तोक्माः** सूक्ष्मवृक्षाः शाखारूपा दासादिवत्. एवं सर्वैरेव सर्वेषां **कामान् वितन्वते** ॥३४ $\frac{१}{२}$ ॥

किञ्च न केवलं परार्थं कुर्वन्ति स्वार्थमपि किन्तु परार्थमेवातो मोक्षरूपा विरक्ता ज्ञानिनः पूर्णस्वार्था इति वक्तुमाहै**तावदिति.**

एतावद् जन्मसाफल्यं देहिनामिह देहिषु ।
प्राणैरर्थैर्धिया वाचा श्रेय एवाचरेत् सदा ॥३५ $\frac{१}{२}$ ॥

एतावद्धर्मवद्[१] **जन्म** तत् सफलमत **एतावदेव** वक्ष्यमाणरूपमेव **जन्मसाफल्यं देहिनां** गृहीतदेहानां **देहिषु** गृहीतदेहेषु. देहग्रहणं भगवदिच्छया

लेखः

पत्रेत्यत्र शीतवदिति. छाया तापशीतवृष्टिनिवारिका भवति, गृहे तु त्रयमपि जायते. तत्र शीतस्थानीयं भयं वृष्टिस्थानीयानि व्यसनानि ॥३४॥

एतावदित्यत्र सामान्यतो **देहिनां** मध्ये विशेषतो **देहिषु** गृहीतदेहेष्वित्यर्थः. विशेषं विवृण्वन्ति **देहग्रहणमिति. स्वस्यान्येषां** पुत्रादीनां च **देहग्रहणं** येषां **भगवदिच्छयैव** न तु स्वक्रियया स्वप्रारब्धेन तादृशेषु देहिविशेषेष्वेतावत्साफल्य-

---

१. यद् जन्म.

स्वस्यान्येषामपि, तत्र न स्वक्रिया काचित्. ततः संस्कारैः सिद्धे ज्ञाने यदि सर्वतुल्यता तदा न कोऽपि पुरुषार्थः. भगवान् पुनः सर्वार्थं सर्वं सृष्टवांस्ततः स्वयमपि सर्वं स्वकीयं सर्वार्थं कुर्यात् तदा भगवानिव भवेदित्यवतारतुल्यतया जन्म सफलं भवति; नो चेत् प्रवाहतुल्य एव. परार्थमेव स्वमिति स्वार्थता न सम्भवत्येव, तदाह **प्राणैरर्थैरि**ति. एते चत्वारः प्राणादयः सर्वपुरुषार्थोपयोगिनोऽपि धर्मादिषु प्रत्येकं स्वातन्त्र्येण क्लृप्ताः. अतः प्राणैर्यः साध्यो धर्मस्तं परार्थमेव कुर्यात्. अर्थाः स्पष्टा एव. बुद्धिः कामरूपा सविषयत्वात्. वागुपदेशरूपा मोक्षदायिनी. एवं सर्वेषां चतुर्भिः सर्वपुरुषार्थाः साधनीयाः. एतदपि **सदा** ॥३५½ ॥

इतीति समाप्तिः 'एवमुपदिश्ये'ति नोक्तं पूर्ववत्. अन्यथेयं लीला न स्यात्. यथा भगवतः क्रिया वर्णिता (उक्ता) एवं वाक्यान्यप्युक्तानि. ततो यत् कृतवांस्तदाह **इति प्रवाले**ति.

इतिप्रवालस्तबकफलपुष्पदलोत्करैः।
तरूणां नम्रशाखानां मध्येन यमुनां गतः ॥३६½ ॥

तेषां परार्थत्वं यत् प्रसिद्धं तत् प्रदर्शयंस्तेषां **मध्येन** मार्गेण **यमुनां गत** इति सम्बन्धः. येषु वृक्षेषु पञ्चाङ्गानामु**त्करा** वर्तन्ते राशयः. **प्रवालाः** कोमलपत्राणि, **स्तबकाः** पुष्पाणां पत्राणां वा, **फलानि पुष्पाणि** च **दलानि** च केवलानि; तैः

टिप्पणी

[1]**एतावज्जन्मे**त्यत्र, **यदि सर्वतुल्यते**ति. ज्ञाने जातेऽप्यज्ञवत्स्वार्थपरता चेत्तदा तथेत्यर्थः. अत्रैव **एतावज्जन्मे**त्यस्य विवरणे— यथा पुमान् कुण्डलवान् कुण्डली भवति; न हि तत्र कुण्डलातिरिक्तं कुण्डलित्वमस्ति, तस्यैव विशेषणत्वात्, तथात्रापीत्याशयेनाहुः **एतावदि**त्यादि ॥३५॥ इति एकोनविंशोध्यायः ॥

लेखः

मित्यर्थः. **तत** इति, भगवदिच्छया देहग्रहणात् **सिद्धे**ऽपि **ज्ञाने** जन्मसाफल्यं वक्ष्यमाणधर्मेणैव भवतीत्यर्थः ॥३५॥

योजना

इति प्रवालेत्यत्र **पञ्चाङ्गानामि**ति प्रवालस्तबकफलपुष्पदलानामित्यर्थः ॥३६॥

---

१. एतावज्जन्मेत्यस्य विवरणे मू. पा.

पञ्चविधैरपि समूहै**र्नम्राः शाखा** येषाम्. एतावदपि दत्त्वा विनीतास्तेषां मध्ये गमनं तद्धर्मसम्बन्धाय. यमुनापि पुनरेतादृशधर्मवतीति तत्र गतः ॥३६½ ॥

तत्र गतस्य कृत्यमाह **तत्रे**ति.

तत्र गाः पाययित्वापः सुमृष्टाः शीतलाः शिवाः।
ततो नृप स्वयं गोपाः कामं स्वादु पपुर्जलम् ॥३७½॥

तत्र [1]यमुनायां **गा अपः पाययित्वा ततो गोपाः स्वयम**पि भगवान् **कामं** यथेच्छं **जलं पपुः**. प्रातरेव गृहात् निःसृता भोजनाभावात् क्षुधिता भगवदिच्छया च लब्धभक्षा अपि गृहगमनप्रत्याशारहिताश्च जलमेव पपुः. **आपः** स्त्रीप्रकृतिका

लेखः

तत्र गाः पाययित्वाप इत्यस्य विवरणे **आपः स्त्रीप्रकृतिका** इत्यादि. तत्र हरिधना आहुः— "यमुनायां वृक्षवत्... [2]परार्थताज्ञानं तु स्वामिनीविजातीय..... "इयं तव कथाधिके'...... तत्सजातीयभावा गाः पायितवान्......... जलमात्रं

योजना

तत्र गाः पाययित्वाप इत्यस्य विवृतावापः **स्त्रीप्रकृतिका** इति, स्त्रीणां प्रकृतिर्याभिस्ताः स्त्रीप्रकृतिका इति बहुव्रीहिर्व्यधिकरणपदः. **स्त्री**शब्देन व्रजसुन्दर्यो ग्राह्याः, **प्रकृति**पदं स्वभाववाचकं, तथा च व्रजरत्नरूपगोपनितम्बिन्यस्तासां

---

१. तत्र हरिधना आहुः—यमुनायां वृक्षवत् परार्थतामात्रधर्मवत्त्वं निरूपितम्. गवां तत्सम्बन्धेनापि तादृशज्ञानमुदेष्यति. तच्चानुचितं, तासां स्वामिनीसजातीयभाववत्त्वादेतच्च "गावश्च कृष्णमुखे"तिश्लोके तादृशसामग्रीविशेषप्रकटनेन प्रभुणा स्वबलेन तथाभावसम्पादनं स्पष्टमभिहितं, तद्रसस्य प्रभुयोग्यत्वात्, न हि तद्विजातीयभावानां सम्बन्धिरसं प्रभुर्भुङ्क्ते "गन्धरूपमि"ति जन्मोत्सवाध्यायीयकारिकायां स्वामिनीष्वेव भगवद्भोग्यविषयपञ्चकरूपत्वनिरूपणादत एव "रसो नवनीतस्ये"त्युक्तमाचार्यैः. परार्थज्ञानं तु स्वामिनीविजातीयभाववतामेव, तासां त्वस्मदर्थमेव प्रभुप्राकट्यमिति ज्ञानेन तद्वस्तुषु स्वीयत्वावबोधस्य दृढत्वादतः पानकर्मवाचक-जलस्यैकत्वेपि तद्वाचकपदद्वयतात्पर्यमाचार्याः निरूपयन्ति **स्त्रीप्रकृतिका** इति. यमुनाजले द्वैविध्यमस्ति— स्वामिनीसहितक्रीडासम्बन्धित्वेन तद्भावजनकत्वमत एव "तव कथाधिके"त्युक्तं तत्स्तुतावाचार्यैः, दोषमात्रनिवर्तनेन सादृश्यात् स्वरूपेण भगवद्भावजनकत्वमत एवोक्तं

२. परार्थज्ञानमितिपाठः.

अतः स्वजातीयाः पायिताः **सुमृष्टा** उज्ज्वलाः पङ्कादिदोषरहिताः **शीतला** गुणवत्यः **शिवाः** परिणामत आरोग्यकराः. **जलं** [1]नपुंसकमपि **कामरूपं स्वादु** स्वादिष्ठमनेनाधिकमपि पातुं शक्यत इत्युक्तम् ॥३७$\frac{१}{२}$ ॥

एवं जात आपातत एव क्षुत् निवृत्तेति विशेषं प्रार्थयितुं भगवन्तं विज्ञापयामासुरित्याह **तस्या** इति.

तस्या उपवने कामं चारयन्तः पशून् नृप ।
कृष्णरामावुपागम्य क्षुधार्ता इदमब्रुवन् ॥३८$\frac{१}{२}$ ॥

कालिन्द्या **उपवने पशूंश्चारयन्त** एव **कृष्णरामावुपागम्य** तालफलन्यायेन किञ्चिद् वचन**मब्रुवन्.** गोपा इत्यविवेकिनः. सर्वत्र राजन्निति सम्बोधनं स्नेहेन

लेखः

कामरूपत्वाद्... प्रभुविवृतौ बोधाभावेन चित्तमन्यथयितव्यं सद्भिरिति सङ्क्षेप" इति ॥३७$\frac{१}{२}$ ॥

गोपा इतीति, "विशेषतश्चेदाज्ञा स्यादि"ति सिद्धान्तो दैहिकभिन्नकार्ये इतिविवेकाभावो गोपत्वादित्यर्थः ॥३८॥

योजना

प्रकृतिर्भगवद्विषयकपरमस्नेहजन्यो भावविशेषस्तत्सम्पादिका याः श्रीयमुनाया आपस्तास्तु गाः पायितवान्. तत्पानेन गवां भावविशेषो भगवति जातः. यच्छ्रीयमुनायां नपुंसकप्रकृतिकं जलं तद्गोपान् पायितवान्. तत्पानेन गोपानां भगवदन्तरङ्गलीलावलोकनादौ पुम्भावरूपो दोषो न भवेत्. अयं विवेक**स्तत्र गाः पाययित्वाप** इत्यत्र स्त्रीलिङ्गेन सूच्यते, **कामं स्वादु पपुर्जलमि**ति नपुंसकलिङ्गेन सूच्यते. अन्यथैकस्यैव जलस्य गवां गोपानां च पाने **पाययित्वापः पपुर्जलमि**तिपर्यायपदद्वयं न ब्रूयात् ॥३७$\frac{१}{२}$ ॥

"**स्मरपितुः श्रियं बिभ्रतीमि**"ति विवृतं च तथैव प्रभुचरणैः. अतो या **आपः स्त्रीप्रकृतिकाः** स्त्रीस्वभावाः स्वप्रवेशेन स्त्रीस्वभावसम्पादिकास्तास्तत्सजातीयभावा वा **गाः पायितवान्** यथा तासां स एव स्वीयत्वाभिमानरूपो भावः स्थिरीभवति. गोपेभ्यस्तु जलमात्रं कामरसत्वाद् भगवद्भावजनकं नपुंसकत्वाद् भगवद्विषयकदोषारोपमूलभूत-पुम्भावरूपदुःस्वभावविजयसाधकं पायितवानिति नात्र प्रभुविवृतौ बाधाभावेन चित्तमुन्मथयितव्यं सद्भिरितिसङ्क्षेप इति.

१. नपुंसकमिति.

कथायां रसोत्पादनार्थम्. राजन्निति सम्बोधनेन महत्त्वं सूच्यत इति सर्वार्थे भगवानेव वक्तव्य इति विद्याफलमन्ते सूचितम् ॥३८$\frac{१}{२}$ ॥

॥ इति श्रीभागवतसुबोधिन्यां श्रीमद्वल्लभदीक्षितविरचितायां दशमस्कन्धविवरणे द्वितीये तामसप्रकरणेवान्तरसाधनप्रकरणे ऐश्वर्यनिरूपकप्रथमाध्यायस्य स्कन्धादित एकोनविंशाध्यायस्य विवरणम् ॥

॥ इति एकोनविंशोध्यायः ॥

॥ द्वितीयः स्कन्धादितः विंशोध्यायः ॥

कर्मज्ञाने वैदिके तु विंशत्यध्याय उक्तवान् ।
उभयोर्निर्णयो यादृक् सोऽप्यत्र विनिरूप्यते ॥(१)॥

टिप्पणी

विंशतितमेऽध्यायेऽध्यायार्थसन्दर्भे, **उभयोर्निर्णयो यादृगित्यादि. उभयो**र्ज्ञानकर्मणोः. भगवत्सम्बन्धं विना कर्मापि न सत्त्वशोधकम्, अन्यथा गोपवाक्यैरेव भगवद्भावः स्याद्विप्राणाम्. तथापि कर्मणो वैदिकत्वात् तस्य च भगवत्येव तात्पर्यवत्त्वात् पर्यवसानं भक्तावेव. तदपि न स्वतः किन्तु भक्तसङ्गादेव, भक्त्यभावे वैयर्थ्यं च. 'भक्ताया' इति वचनादेकस्याः प्रसङ्गेनान्यासामप्यङ्गीकारः. तादृशीनामपि सङ्गेन पुंसां भक्तिः. "गृह्णन्ति नो न पतय" इतिवाक्यं श्रुत्वा हि तत्समाधानपूर्वकं प्रभुर्गमनमेवोक्तवान्, सम्पन्नं च तदेव. तेनान्यशेषतया भजनं प्रभुर्न मनुते, तेन च भगवदन्तराय एव भवति. अतो न पुरुषार्थसिद्धिरिति ज्ञाप्यते. अन्यासामपि स्नेहवत्त्वेऽपि प्रसादविषय एव तद्धेतुत्वेन भक्तत्वोक्त्याऽन्यभावतो वैलक्षण्यमेतद्भावे ज्ञाप्यते. तच्च सर्वात्मभावत्वमेवेति ज्ञेयम्. पुष्टिलीलायामङ्गीकार एवात्र प्रसादः, न तु शीघ्रं मुक्तिः. पूतनादिसाधारण्येन प्रसादविशेषोक्तिरत्र विरुद्धा भवेत्. शरीरस्य मर्यादामार्गीयत्वेन तन्नाशपूर्वकं देयं दत्तवानिति हृदयम्. एवंरूपस्तयो**र्निर्णयोऽप्युच्यत** इत्यर्थः (१).

लेखः

विंशेऽध्याये कारिकायां **कर्मे**ति, विप्रतत्पत्न्योर्मर्यादापुष्टिभेदेन द्विविधे **कर्मज्ञाने उक्तवानि**त्यर्थः (१).

योजना

विंशत्यध्यायार्थोक्तौ **कर्मज्ञाने वैदिके त्वि**ति. "इत्युक्ता यज्ञपत्न्यस्ता यज्ञवाटं पुनर्गताः ते चानसूयवः स्वाभिः स्त्रीभिः सत्रमपारयन्नि"तिवाक्योक्तं **वैदिकं कर्म,** "देशः कालः पृथग् द्रव्यं मन्त्रतन्त्रर्त्विजोऽग्नयः देवता यजमानश्च क्रतुर्धर्मश्च यन्मय" इतिवाक्योक्तं **वैदिकं ज्ञानं विंशत्यध्याये उक्तवानि**त्यर्थः (१). **साक्षाद्**

कारिकार्थः

विंशाध्यायारम्भे **कर्मज्ञाने** इति. **कर्मज्ञाने** इति– विप्रतत्पत्न्योर्मर्यादा-

साक्षाद्भगवतोक्तं हि यथा पूर्वं न भासते ।
परम्परोक्तमप्येवं स्त्रिया[१] भावस्तथापरः ॥(२)॥

टिप्पणी

ननु "नन्वद्धा मयि कुर्वन्ती"ति "प्राणबुद्धिमनःस्वात्मे"त्यादिना च स्वस्मिन्सहजप्रियत्वोक्त्या स्वेतरेषु प्रीतेरौपाधिकत्वेनापुरुषार्थत्वं स्फुटमेव भगवतोक्तमिति तच्छ्रुत्वापि कथं पत्न्यो गृहान् गता इत्यत आहुः **साक्षाद्भगवतोक्तं ही**ति. **यथा** यथावत् तात्पर्यज्ञानपूर्वकं **पूर्वमेव न भासत** इत्यर्थः. गोपद्वारा ब्राह्मणेभ्यो यदुक्तं तत्**परम्परोक्तम्,** उत्तमाधिकाररहितानामिति शेषः. एतच्च "प्रायःश्रुते"तिश्लोकविवरणे स्फुटीभविष्यति.

ननु देहत्यागोत्तरावधिकोत्कटभावोऽवश्यं पूर्वमप्यन्येषामपि ज्ञातः सम्भवतीति कथं प्रतिबन्धकरणमुपपद्यत इत्यत आहुः **स्त्रिया भाव** इति. **परः**[२] सर्वासां पत्नीनां भावेभ्य उत्कृष्टः सर्वात्मभाव इति यावत्. **स्त्रिया** उत्तमनायिकाया **भावस्तथा यथा पूर्वं न भासत** इत्यर्थः, वस्तुन एव तथात्वादिति भावः. यद्वा. तर्हि पत्नीनां परम्परोक्तभानं कथमित्यत आहुः **स्त्रिया भाव** इति. यथा प्रभुवाक्यं दुर्बोधं तथा स्त्रीणां भाव एवोत्कृष्ट इत्यर्थः. तथा च प्रियसम्बन्धिवार्ताश्रिवण-

योजना

भगवतोक्तं हीति, इदं स्फुटं टिप्पण्याम्. **स्त्रिया भाव** इति, एतत्तु बहुप्रकारेण स्फुटीकृतं टिप्पण्याम् (२).

कारिकार्थः

पुष्टिभेदेन द्विविधे **कर्मज्ञाने उक्तवानि**त्यर्थः. ननु "नन्वद्धा मयि कुर्वन्ती"त्यादि भगवद्वाक्यं श्रुत्वापि कथं पत्न्यो गृहान् गता इत्यत आहुः **साक्षाद्भगवतोक्तं ही**ति. **यथा** यथावत् तात्पर्यज्ञानपूर्वकं **पूर्वमेव न भासते** इत्यर्थः. गोपद्वारा ब्राह्मणेभ्यो यदुक्तं तत् **परम्परोक्तं,** तदपि उत्तमाधिकारहीनानां **पूर्वं न भासते** इत्यर्थः. ननु पत्नीनां भगवद्विषयकार्त्यतिशयं दृष्ट्वा देहत्यागसम्भावनायामपि कथं प्रतिबन्धकरणमुपपद्यते इत्यत आहुः **स्त्रिया भावस्तथा पर** इति. **परः** सर्वासां पत्नीनां भावेभ्य उत्कृष्टः **स्त्रिया** उत्तमनायिकाया **भावो, यथा पूर्वं न भासत** इत्यर्थः; वस्तुन एव तथात्वादिति भावः. एतच्च टिप्पण्यां प्रकारचतुष्टयेन व्याख्यातम् (१-२).

१. स्त्रियो. २. परः मू. पा.

पूर्वाध्याये विद्या पञ्चपर्वोपदिष्टा तेन मोहः सर्वोप्यपगतो. दैहिका धर्मास्तु नापगतास्तेऽपि चेदपगता भवेयुस्तदा कृतार्था भवन्तीति तद् विनिश्चित्य सर्वे गोपालाः परमाधिकारिणो विज्ञापयन्ति **राम रामे**ति.

॥ गोपा ऊचुः ॥

राम राम महावीर्य कृष्ण दुष्टनिबर्हण ।
एषा वै बाधते क्षुन्नस्तच्छान्तिं कर्तुमर्हथ ॥१॥

आदरे वीप्सा. नाम्ना "रमन्ते योगिनोऽनन्ते सत्यानन्दे चिदात्मनि इति राम-

---

टिप्पणी

जनितोत्कटभावेनैवागताः, न तु वचनतात्पर्यं ज्ञात्वेति भावः. जात्यभिप्रायेणैकवचनमुक्तम्. यद्वा. ननु "प्रसीदन्नि"तिवाक्यात्प्रसादस्तस्यामवश्यं वाच्यः, स च देहत्यागः सद्योमुक्तिर्वेति न वक्तुमुचितम्, एतयोः पूतनादिसाधारणत्वादन्यस्य स्पष्टतयानुक्तवात् तत्कार्यं न किञ्चित्पश्याम इत्यत आहुः **स्त्रिया भाव** इति. **यथा** व्रजसीमन्तिनीनां **तथास्या** अपि **भावः परः** सर्वोत्कृष्टः सर्वात्मभावरूप इत्यर्थः. तथाच यथैतासु लीलां कृतवानेवमेवास्यामपीति. मर्यादामार्गीयत्वाद्देहो नाशितः. यदीयमत्रागता स्यान्न निवर्तेतैव, सर्वात्मभाववत्त्वात्. अतोऽत्र प्रतिबन्धकं मर्यादादेहं नाशयित्वा[1] नीतवानित्ययमेव प्रसादः, अन्यथा "ये यथा मामि"ति प्रतिज्ञा न संगच्छेतेति भावः. यद्वा. नन्वेकस्यामेव प्रसादे को हेतुरत आहुः **स्त्रिया** इति. **परः** सर्वासां भावेभ्य उत्कृष्टोऽस्या भावोऽतस्तथेत्यर्थः (२).

लेखः

राम रामेत्यस्याभासे **कृतार्था भवन्तीति— कृतः** साधितः सर्वं परार्थं कुर्यादिति भगवदुपदिष्टोऽ**र्थो** यैस्तादृशा भवन्तीत्यर्थः. व्याख्याने **अयं हीति** प्रथम-

योजना

राम राम महावीर्येत्यत्र **राम**पदनिरुक्तौ "रमन्ते योगिनोऽनन्ते" इतिश्रुति-रुपन्यस्ता. यद्यपीयं श्रुतिः रामतापनीये वर्तते इति रघुवरविषयकास्ति, न बल-रामविषयका, तथा "पीति रामपदेनासौ परं ब्रह्माभिधीयत" इतिपरब्रह्मवाचकत्व-मस्याः श्रुतेर्दृश्यते. प्रकृते बलरामे पूर्णपुरुषोत्तमावेशात् पुरुषोत्तमत्वमेवास्ती-

---

१. नाशयित्वाऽनीतवा° मू. पा.

पदेनासौ परं ब्रह्माभिधीयते"ऽतो यथात्मनि रतिर्भवति तथा कर्तव्यमिति प्रार्थना. तत्र सामर्थ्यमाह **महावीर्ये**ति, अयं हि ज्ञानात्मकः श्रुतिरूप आवेशी च. भगवन्तं च प्रार्थयन्ति **कृष्ण दुष्टनिबर्हणे**ति. "क्षुत् खलु वै मनुष्यस्य भ्रातृव्य" इतिश्रुतेः सदानन्दतिरोभावरूपा सदानन्दादेव गच्छतीति **कृष्णे**ति सम्बोधनम्. यदीयं (यद्य-पीयं) क्षुद् बाधिका मृत्युरूपापि भवति तथापि निवारणीयेति ज्ञापयितुमाहु**र्दुष्टनिबर्हणे**-ति, सर्व एव दुष्टास्त्वया निवार्यन्त इति. स्त्रीनिवारणे नास्माकं सामर्थ्यं, न हि विद्यया स्त्रिया क्षुद्रूपा स्त्री निवर्तते, तदाहु**रेषा वै बाधते क्षुत् न** इति. ननु तदभावे सद्यः

लेखः

चरणीयपदत्रयस्यार्थत्रयमुक्तं— प्रथम**राम**पदेन योगिरमणस्थानत्वाद् **ज्ञानात्मक** उक्तः, द्वितीयेन सङ्कर्षणत्वात् **श्रुतिरूपः, महावीर्ये**त्यनेन**नावेशयुक्तः** महासामर्थ्य-स्यावेशकार्यत्वात्. **सदानन्दे**ति, भ्रातृव्यत्वेन दुष्टत्वात् सत्तिरोभावो, दुःखस्वरूप-त्वादानन्दतिरोभावः. अभावः प्रतियोगिनैव नाश्यो भवतीति **एवकारः**. अस्याः दुष्टत्वे प्रमाणत्वेन श्रुतिरुक्ता. **एषे**त्यत्र स्त्रीत्वमक्षरार्थस्तदाभासमाहुः **स्त्रीनिवारणे** इति. **विद्यया स्त्रिये**ति. सर्वं भगवदीयमिति ज्ञानमुपदिष्टं, तथा च "पारतन्त्र्यं

योजना

त्यस्याः श्रुतेर्बलदेवेऽप्युपन्यासो युक्त एवेत्याकलितव्यम्. बलरामे पुरुषोत्तमावेशे किं प्रमाणमिति चेत् श्रूयतां— भगवता बलदेवं प्रति वृन्दावनस्य वृक्षपश्वादिस्वरूपं निरूपयता "गोप्योऽन्तरेण भुजयोरपि यत्स्पृहा श्रीरि"ति भगवदेकभोग्यायाः श्रीलक्ष्म्याः स्पृहानिरूपणं मानं, भगवदेकभोग्यानां श्रीगोपिकानां भुजान्तःसम्बन्धनिरूपणं च मानमिति बोद्धव्यम्. **अतो यथात्मनि रतिरि**त्यादि— **आत्मनि** स्वस्मिन् रामस्वरूपे **यथा**स्माकं **रतिर्भवति तथा कर्तव्यं;** यतस्त्वयि रामे रतिर्योगिनामेव भवत्यतो वयमपि योगयुक्ताः कर्तव्याः. योगे हि क्षुत्पिपासापारतन्त्र्यं निवर्तिष्यत इति भावः ॥१॥

कारिकार्थः

राम राम महावीर्येत्यत्र **रमन्ते योगिनो ह्यस्मिन् चिदानन्दे परात्मनि इति रामपदेनासौ परंब्रह्माभिधीयते.** यद्यपीयं श्रुती रामतापनीस्था दाशरथिविषया तथापि बलदेवेऽपि पुरुषोत्तमावेशेन परब्रह्मत्वादुदाहृता. पञ्चमस्कन्धनिबन्धे "रामः कदाचित् पुरुषोत्तम" इत्यादिना दाशरथेरपि पुरुषोत्तमत्वं निर्णीतं, नवमस्कन्धेऽपि "अथवा रघुनाथो हि पुरुषोत्तम उच्यत" इति ॥१॥

शरीरपातः स्यात् ततो लीला भगवता सह न स्यादित्याशङ्क्याहुस्तच्छान्तिं **कर्तुमर्हथेति**, तस्याः शम एव कर्तव्यो यथा न बाधते. यथाज्ञानादिदोषनिवृत्तौ शास्त्रमुपायस्तथा क्षुन्निवृत्तावपि ज्ञानरूप एव कश्चनोपायो वक्तव्य इति भावः ॥१॥

भगवांस्तु संसारस्याग्रपश्चाद्भावेन गमनं स्यादिति विचिन्त्य सुतरां स्त्रीणामुपकारार्थं[1], तत्रापि ब्राह्मणस्त्रीणां [2]पुरुषाधिकाररहितानां, धर्ममार्गमपि स्थापयितुं, प्राप्तज्ञानानां भिक्षाटनमेव मुख्यमिति विचिन्त्य, प्रथमं पुरुषभिक्षामुक्तवान्, द्रव्ये हि तेषां स्वाम्यमिति. अलौकिके[3]रुपायैः [4]स्त्रीमुक्तिर्न स्यात् सर्वेषां च सत्सङ्गो न स्यात्, ततः सम्प्रदायोच्छेदश्च स्यादभिमानाभावाद् दीनता तु नास्त्येव, भगवत्कृपया नापि लोकेऽतो भगवान् याचनमेवोपदेष्टुकाम उत्तरं दत्तवानित्या**हेती**ति.

लेखः

तथेतरदि"तिवाक्याद् भगवदधीनत्वलक्षणस्त्रीत्वं ज्ञाने प्रकारतया वर्तते, तथा च ज्ञानस्य विषयाकारत्वात् स्त्रीत्यर्थः ॥१॥

अग्रपश्चाद्भावेनेति, पूर्वस्य संसारस्य नाश उत्तरस्य चानुत्पादः स्यादित्यर्थः.

योजना

संसारस्याग्रपश्चाद्भावेनेति. ज्ञानोपदेशेन संसारे निवर्तनीये अग्रपश्चाद्भावेन संसारगमनं भविष्यति न तु युगपदिति क्रमेण संसारधर्मा निवर्तनीया इतीच्छया ज्ञानोपदेशं न कृतवानपि तु पुरुषभिक्षामुपदिष्टवानित्याहु**र्भगवांस्त्वि**त्यारभ्य **उक्तवानि**त्यन्तेन. **ततः सम्प्रदायोच्छेदश्चे**ति, सत्सङ्गाभावे भक्तिमार्गसम्प्रदायोच्छेदो भवेदित्यर्थः, "सत्सङ्गेन विनोद्धवे"त्येकादशस्कन्धे उद्धवं प्रति भगवद्वाक्यात्. ननु भिक्षार्थगमने गोपानां दीनता भविष्यतीत्याशङ्क्याहु**रभिमानाभावाद् दीनता तु नास्त्येवे**ति. समानस्याग्रे याचने दीनता भवति, अभिमानस्य विद्यमानत्वात्. एतेषां दीक्षितानां पूज्यत्वात् पूज्ये चाभिमानस्याभावाद् दीनता नास्तीत्यर्थः. ननु वस्तुतो दीनताया अभावेऽपि लोके तथा प्रसिद्ध्या दीनता स्यादित्याशङ्क्याहु**र्भगवत्कृपया नापि लोके** इति. **भक्ताया विप्रभार्याया** इत्यस्य विवरणे **ज्ञानं हि ब्रह्मात्मकमि**त्यारभ्य **कार्यक्षमं भवतीत्यन्तम्** —एतस्यार्थष्टिप्पण्यां स्फुटः ॥२-३॥

१. सुतरामुपकारार्थं. २. पुष्ट्यधि°. ३. अलौकिके तूपाये स्त्रीणां. ४. स्त्रीणां मुक्ति°.

॥ श्रीशुक उवाच ॥

इति विज्ञापितो गोपैर्भगवान् देवकीसुतः ।

भक्ताया विप्रभार्यायाः प्रसीदन्निदमब्रवीत् ॥२॥

एवं **गोपैर्विज्ञापितो**ऽपि **भगवान्** सर्वसमर्थोऽपि **देवकीसुतः** परमकृपालुः सुतरां स्त्रीषु कृपावान् भक्तिमार्गप्रवर्तको **भक्ताया विप्रभार्यायाः प्रसीदं**स्तस्याः प्रसादं करिष्य**न्निदं** वक्ष्यमाणं याचनरूप**मब्रवीत्**.

ज्ञानं हि ब्रह्मात्मकं बीजरूपं, तद् ब्रह्मणैव चेत् परिपुष्यते, तदा ब्रह्मयोग्यं भवति. यथा बीजं ब्राह्मण्यामेव पुष्टं ब्राह्मणान्नेनैव[1] वृद्धिं[2] गतं ब्रह्मसंस्कारैर्ब्रह्मणा वेदेन च व्याप्तं ब्रह्मभावाय कल्पते, तथेदानीमपि जातं ज्ञानं ब्राह्मणान्नेनैव चेत् पुष्टि-

टिप्पणी

भक्ताया विप्रभार्याया इत्यस्य विवरणे, **ज्ञानं हि ब्रह्मात्मकमि**त्यारभ्य **कार्यक्षमं भवतीत्यन्तम्**. अत्रायमाशयः. पूर्वाध्याये हि सर्वमत्रत्यं भगवदर्थमिति ज्ञानमुपदिष्टम्. एवं सति स्वविनियोगानर्हत्वज्ञानेन वस्तुमात्रे तथाकरणे व्यवहारविरोधेन च लीलाविरोधः स्यात्. अत एव क्षुन्निवारणस्यावश्यकत्वेन भगवदीयवस्तूपयोगभिया नूतनप्रार्थनम्. अन्यथा फलादिभ्य एव तत्सम्भवे प्रार्थनं व्यर्थं स्यात्. तेन यदुपयोगकरणे प्रभोरिङ्गितमस्ति तस्य तथाकरणं, यत्रातथात्वं न तत्र तथेति ज्ञानमपेक्षितम्[3]. तत्रापि यदीदं मयैव भोक्तव्यमित्याग्रहः स्यात्तदैव बाललीलायां रसः स्याद्, अन्यथा शान्तरसमध्यपातित्वेन रसाभासः स्यात्. इदं चोपदिष्टज्ञाने जाग्रति न सम्भवतीति प्रथमं लोकानुरूपं पर्यवसानतो भगवद्गामि यज्ज्ञानं तद्यतो भवति तदिदमन्नमिति तथोक्तवान्, अन्नस्वामिनां बहिर्मुखत्वात् समर्पणकर्त्रीणां च भक्तत्वादुभयत्वं तस्येति. अन्नस्य ज्ञानपोषकत्वं श्रुतिसिद्धम् ॥२-३॥

लेखः

इतीत्यत्र. ज्ञानाद्युपायेन शान्तेर्विज्ञापितत्वात् तदननुरूपं सामर्थ्याननुरूपं च याचनोपदेशनमिति तत्र विशेषणयोर्हेतुत्वं न सम्भवतीति 'अपि'शब्दार्थपरतया व्याचक्षते **विज्ञापितोपी**ति. विज्ञापनसामर्थ्ययोरननुरूपमपि याचनोपदेशनं देवकीसुतत्वाद् भक्तायाः प्रसादार्थं कृतवानित्यर्थः ॥२॥

१. °नैव च. २. पुष्टिं. ३. ज्ञानमप्यपेक्षितम् मू. पा.

मेति तदा कार्यक्षमं भवति. तत्रापि ब्राह्मणाः पूर्णज्ञानकर्मनिष्ठा न तु यादृशास्तादृशाः. अन्नमूलकमेव हि [1]ज्ञानम्, "अन्नेन प्राणा" इत्यादिपरम्पराश्रुतौ[2] "विज्ञानेनात्मानं वेदयती"त्यन्तभूतायां तथैव निरूपणात्. "तस्मादन्नं ददत्[3] सर्वाण्येतानि ददाती"ति च ब्राह्मणदत्तमेवान्नं भुक्तं सद् [4]ज्ञानं जनयति, तद्द्वारा सर्वदानाद्, ज्ञानं ब्राह्मण एव प्रतिष्ठितमिति. अन्यान्ने तु ज्ञानादिकमन्योक्तमेव स्यात् ततश्च न तद् ब्रह्मज्ञानं भवेदतो भगवान् प्रथमं ब्राह्मणस्वरूपमाह, पश्चाद् याचनं वक्ष्यति, **प्रयाते**ति.

प्रयात देवयजनं ब्राह्मणा ब्रह्मवादिनः ।
सत्रमाङ्गिरसं नाम ह्यासते स्वर्गकाम्यया ॥३॥

देवा इज्यन्तेऽस्मिन्निति **देवयजनं** यज्ञभूमिस्तेषां भेदाः श्रुतावनेके, [5]अयथाभूते देशे यज्ञो न कर्तव्य इति ज्ञापनार्थाः. **ब्राह्मणा** एव सर्वे, न तु याज्यः कश्चित् क्षत्रियस्ते च स्वधर्मैरवदाताः, तदाह **ब्रह्मवादिन** इति ब्रह्मवदनशीलाः[6]. **ब्रह्म** [7]वेदो वेदार्थश्च, तादृशा मुख्याधिकारिणः. **आङ्गिरसं सत्रं** चतुर्विंशतिरात्रं चत्वारः षडहा [8]**नामे**ति प्रसिद्धम्. **स्वर्गकाम्यये**"त्यङ्गिरसो वै सत्रमासत ते सुवर्गं लोकमायन्नि"तिश्रुतेः स्वर्गो भगवत आनन्दांशो भगवदवतारो "देवेभ्यो वै स्वर्गो लोकस्तिरोभवदि"त्यत्र निर्णीतोऽतस्ते सर्वोत्तमाः सत्रिणः ॥२-३॥

तत्र गत्वा याचनं कर्तव्यमित्याह **तत्र गत्वे**ति.

तत्र गत्वौदनं गोपा याचतास्मद्विसर्जिताः ।
कीर्तयन्तो भगवत आर्यस्य मम चाभिधाम् ॥४॥

अस्मद्विसर्जिता अस्मत्प्रेषिता[9] न तु स्वतन्त्रतयान्यथा गमनेप्यपराधः स्यात्. स्वनाम्ना न याचनीयं तदाहा**र्यस्य** बलभद्रस्य **मम चाभिधां** नाम **कीर्तयन्तो याचत** ॥४॥

तथैव कृतवन्त इत्याहे**त्यादिष्टा** इति,

लेखः

प्रयातेत्यत्र **अतस्ते सर्वोत्तमा** इति, स्वर्गकामनायामपि तस्य भगवदानन्दांशत्वेन कर्मणो विकृतत्वाभावादित्यर्थः ॥३॥

---

१. ज्ञातं. २. परम्परया. ३. ददन्. ४. भावं. ५. न यथा°. ६. ब्रह्मवादशीलाः. ७. लुप्तम्. ८. नाम्नेति. ९. °त्प्रेरिता.

इत्यादिष्टा भगवता गत्वायाचन्त ते तथा ।
कृताञ्जलिपुटा विप्रान् दण्डवत् पतिता भुवि ॥५॥

भगवतादिष्टा नान्यथा कर्तुं शक्ता अतस्तत्र **गत्वा तथैव ते** याचितवन्तः. तेषां याचने प्रकारमाह **कृताञ्जलिपुटा** इति, कृतोऽञ्जलिपुटो यैः, अगवार्थमेतत्. **दण्डवत् पतिता भुवि** ब्राह्मणानयाचन्तेति सम्बन्धः ॥५॥

तेषां याचनवाक्यान्याह त्रिभिर्हे **भूमिदेवा** इति.

हे भूमिदेवाः शृणुत कृष्णस्यादेशकारिणः ।
आप्तान् जानीत भद्रं वो गोपान् नो रामचोदितान् ॥६॥

भूमौ प्रत्यक्षदेवा ब्राह्मणाः[1]. **शृणुते**ति श्रवणार्थं प्रार्थयन्ते. के भवन्त इत्याकाङ्क्षायामाहुः **कृष्णस्यादेशकारिण** इति– सदानन्दस्य भगवतः फलरूपस्य वयमाज्ञाकारिणः. तथापि किं प्रमाणं भगवद्वाक्य इत्याकाङ्क्षायामाहु**राप्तान् जानीते**ति. आप्तवाक्यं शब्दः, प्रमाणम्. यथादृष्टार्थवादिन आप्ताः. किमुच्यत इत्याकाङ्क्षायामाहु**र्भद्रं व** इति, प्रथमत आशिषो याचकैर्वक्तव्या इति. अथ वा यदुच्यते तद् भवतां **भद्र**मेव. वयं च जात्या **गोपा रामेण** बलभद्रेण च [2]प्रस्थापिताः. भगवान् सदानन्दो न हि भक्तान् याचने प्रवर्तयते. यदपि भगवतोक्त-'मस्मद्विसर्जिता' इति तदपि वाक्यत्वाद् वेदमध्ये प्रविष्टं बलभद्र एव प्रविशत्यतो **रामचोदिता**निति युक्तम् ॥६॥

एवं पूर्वपीठिकामुक्त्वा याचनमाहु**र्गाश्चारयन्ता**विति.

गाश्चारयन्तावविदूर ओदनं रामाच्युतौ वो लषतो बुभुक्षितौ ।
तयोर्द्विजा ओदनमर्थिनोर्यदि श्रद्धा च वो यच्छत धर्मवित्तमाः ॥७॥

गाश्चारयन्तौ धर्मप्रवर्तका**वविदूरे** निकट एव स्थितौ **रामाच्युतौ** ब्रह्म-परमानन्दौ **वो** युष्माकमन्नं [3]**लषतः**. तत्र हेतु**र्बुभुक्षिता**विति, अन्यथा न याचेयातां,

---

योजना

गाश्चारयन्तावित्यत्र **ब्रह्मपरमानन्दा**विति, **ब्रह्मे**ति **राम**पदस्यार्थः, "रमन्ते योगिनोऽनन्त" इति श्रुतेः. **परमानन्द** इति **अच्युत**पदस्यार्थः, **अच्युत**पदेन कृष्णाभिधानात्. कृष्णस्य परमानन्दत्वं "कृषिर्भूवाचक"इति श्रुतेः ॥७॥

---

१. °णा इति. २. स्थापिताः. ३. लषतोभिलषतः.

न हि कश्चिद् याचकं याचते. **बुभुक्षिताविति**[1] भगवद्वाक्यात्, 'कीर्तयन्तो भगवत' इति भगवद्वचनात्. अभिप्रायमज्ञात्वा क्षुधामेव ज्ञातवन्तः. अभिप्रायस्तु तैर्भगवानेव याचत इति ज्ञातो, यथा महान् प्रभुः सेवकं याचयित्वा ददाति तथा ब्राह्मणयाचनं कृत्वा देयमिति. अत उक्तं **बुभुक्षिताविति. द्विजा** इति सम्बोधनमज्ञानाद् रूढ्या वा. **तयो** रामकृष्णयो**रोदनं यच्छत.** क्षुधैव पात्रता निरूपिता, **अर्थित्व**मपि द्वितीयमङ्गम्, अन्यथैकादश्यामपि क्षुधितायान्नं देयं स्यात्. तत्रापि **यदि श्रद्धा**स्तिक्यबुद्धिस्तदा देयम्, एतयोदनि वयं कृतार्था भविष्याम इति. **च**कारात् यद्योदनोऽस्ति. **यदि** वा **वो** युष्माकमेव, न त्वन्यस्य प्रसङ्गादागतः. अत्र सर्वत्र विधिनिषेधपरिज्ञानं भवतामेव वर्तत इत्याहुर्हे **धर्मवित्तमा** धर्मविदां मध्येऽतिशयिताः ॥७॥

ननु दीक्षितानामन्नमभोज्यं, "न दीक्षितवसनं परिदधीत नास्य पापं कीर्तयेत् नान्नमश्नीयादि"ति, तत्राहुर्**दीक्षाया** इति.

दीक्षायाः पशुसंस्थायाः सौत्रामण्याश्च सत्तमाः ।
अन्यत्र दीक्षितस्यापि नान्नमश्नन् हि दुष्यति ॥८॥

दीक्षातः पूर्वं भोक्तुं शक्यते. ततो **दीक्षा**दिवसेषु न भोक्तव्यं **पशुसंस्था**दिवसेषु च न भोक्तव्यं, **सौत्रामण्याश्च** सुत्येऽहनि न भोक्तव्यं यदा सुराग्रहाः. अथ वा **दीक्षाया** दीक्षामारभ्य **पशुसंस्थाया** अन्यत्र पशुसंस्थापर्यन्तं न भोक्तव्यं **सौत्रामण्यां** च. "संस्थिते वाग्नीषोमीये हुतायां वा वपायामि"तिवाक्यात् सौत्रामण्यां तु सुराप्राधान्या"दन्नस्य वा एतच्छमलं यत् सुरे"ति शमलसम्बन्धान्न भोक्तव्यम्. द्रव्यनिर्देशः कृतो न वेति सन्देहात् स पक्षो नोक्तः. **अन्यत्रै**तद्व्यतिरिक्तस्थले **दीक्षितस्याप्यन्नमश्नन् न दुष्यति. हि** युक्तश्चायमर्थः, तदुपपादितं श्रुतिप्रदर्शनेन ॥८॥

एवं सोपपत्तिके याचने कृतेपि ते न दत्तवन्तस्तत्र हेतुरश्रवणं तत्रापि हेतुर्बालकोक्तमिति, "असंस्कृता न परिभाष्या" इति "न स्त्रिया न शूद्रेण सम्भाषेते"ति च. तथापि भगवन्नाम्ना याचितवन्त इत्यदाने तेषां दोष एवेति

लेखः

गाश्चारयन्तावित्यत्र अत इति क्षुधाज्ञानादित्यर्थः ॥७॥

दीक्षाया इत्यत्र **पशुसंस्थाया अन्यत्रे**ति भोक्तव्यमिति शेषः ॥८॥ **अश्रवणमिति** ग्राह्यत्वेनाश्रवणमित्यर्थः.

---

१. °विति कीर्त.....भगवद्वाक्यात्.

मन्यमानः शुक आहे**ती**ति.

इति ते भगवद्याच्ञां शृण्वन्तोपि न शुश्रुवुः ।
क्षुद्राशा भूरिकर्माणो बालिशा वृद्धमानिनः ॥९॥

ते हि **भगवद्याच्ञां शृण्वन्तोपि** सन्तो **न शुश्रुवु**र्दत्तचित्ता न जाताः. तत्र हेतवः **क्षुद्राशा**इत्यादिपदोक्ताश्चत्वारः. **क्षुद्रे**ऽल्पेऽर्थ **आशा** येषां; स्वर्गानन्दो हि क्षुद्रः परमानन्दापेक्षया, "अस्यैवानन्दस्यान्यानि मात्रामुपजीवन्ती"तिश्रुतेः. साङ्गादेव वैदिककर्मणः फलावश्यम्भावः. ते ह्येवं मन्यन्ते प्रमाणबलनिष्ठा[1]— भगवान् हि सर्वात्मकः सर्वत्रैव वर्तते विशेषेणाभिव्यक्तिपक्षेऽपि यज्ञोऽपि भगवान्; सर्वस्यापि प्रारब्धमूर्तिरिव सन्तोषणीया. ततो यथा यज्ञापराधो न पतति तथा विधेयमन्यथा विधिनिषेधौ न स्याताम्. प्रायेणैतैर्द्रव्यनिर्देशः कृत— "आज्यं पशवः पुरोडाशीया एते मे यज्ञार्था यावद् यज्ञ उपयोक्ष्ये तावन् मे यज्ञार्थं शेषाद् ब्राह्मणा भुञ्जीरन्नि"ति. अतो 'ब्राह्मण'पदश्रवणाद् भगवतेऽपि न दत्तवन्तो रूपान्तरपरिज्ञानात्[2]. एवं तेषां **क्षुद्राशा.** किञ्च **ते** हि भूरिकर्माणः, यद्यल्पे कर्मणि तावानपि स्वर्गः स्यात् तथापि न कुर्युरतो महतापि यज्ञेन यावान् स्वर्गो भवति तावान् भगवतेऽन्नदानेनापि भवत्यधिकोपि सर्वयज्ञात्मकत्वात् तथापि न कृतवन्तः, कर्मतारतम्येन फलतारतम्यमिति न्यायाद् अन्यथा—पूर्णाहुत्या सर्वे लोकाः सिद्धा इति—सत्रारम्भ एव व्यर्थः स्यादतो यथा समानफलान्यपि नाल्पानि कर्माणि क्रियन्ते तथैतदपि न कृतवन्तो, "न ददाति न पचत" इति वाक्याच्चातो **भूरिकर्माणः** स्थूल एव कर्मण्यासक्तास्तत् कर्म नष्टं भवेदिति शङ्कया न दत्तवन्तो, [3]यतो **बालिशा** अज्ञाः. कर्म हि देवताप्रीतिहेतुस्ताश्च देवता आधिदैविकभूता भगवति सन्तुष्ट एव सन्तुष्यन्ति नान्यथातो"ऽर्के चेन् मधु विन्देते"ति न्यायेन सर्वफलरूपे भगवति सर्वदेवतारूपे चोपस्थितेऽल्पसाधनेनैव परितुष्यमाण आदरमकृत्वा वस्तुज्ञानाभावेऽभिव्यक्त्यभावाद् यज्ञस्य च स्वरूपानभिज्ञानादन्यथा मूलेऽनादरासम्भवात् कर्मणो बह्वन्तरायत्वात् केवलं भ्रान्त्येदमेव कर्तव्यमिति प्रवृत्ता बालिशा एव.

लेखः

इति ते इत्यत्र **दत्तचित्ता** इति, श्रवणेऽपि चित्ते ग्राह्यत्वेन न गृहीतवन्त इत्यर्थः ॥९॥

---

१. °निष्ठो. २. °विज्ञानात्. ३. किञ्च.

किञ्च यथैतत् सर्वं न जानन्ति तथा स्वदोषमपि न जानन्त्यन्यथान्यो वा बोधयेत्. स्वस्य मौढ्याज्ञाने हेतुर्**वृद्धमानिन** इति– वयमेव त्रयीवृद्धा वेदार्थं जानीम इत्यसदाग्रहः ॥९॥

तेषामज्ञानं सर्ववस्तुयाथात्म्यनिरूपणेन प्रकटयति **देश** इति.

देशः कालः पृथग् द्रव्यं मन्त्रतन्त्रद्विजाग्नयः ।
देवता यजमानश्च क्रतुर्धर्मश्च यन्मयः ॥१०॥

देशादय एकादश द्वादश वा, कस्यापि ते स्वरूपं न जानन्ति. ज्ञात्वा हि कर्म कर्तव्यम्. तत्र **देशा** देवयजनानि, **कालो** वसन्तादिः. **पृथगि**ति सर्वत्र भेदः, **पृथग् द्रव्याणि** वा. **मन्त्र** ऋगादि, **तन्त्र**मानुपूर्वी क्रियासमुदायो वा. **द्विजा** ब्राह्मणा, "भार्गवो होता भवती"त्यादिभेदाश्च. **अग्नयो** बहुधा भिन्ना आहवनीयादयः. **देवता** अग्न्यादयः, **यजमानो** ब्राह्मणादिः "सिक्तरेता" इत्यादिभेदाश्च. **क्रतुर्**यज्ञाधिष्ठात्री देवता, **धर्मो** यज्ञः, चकारात् तदङ्गादिकं सर्वमेव. आध्यात्मिकभेदेन वा **क्रतुर्**यज्ञो **धर्म**स्तज्जनितमपूर्वमिति ॥१०॥

नन्वेतत् सर्वं ब्रह्मात्मकमतः प्रकृते कथमुपालम्भः? तत्राह **तद् ब्रह्मे**ति.

तद् ब्रह्म परमं साक्षाद्भगवन्तमधोक्षजम् ।
मनुष्यदृष्ट्या दुष्प्रज्ञा मर्त्यात्मानो न मेनिरे ॥११॥

यदेतत् सर्वं **तद् ब्रह्म,** तत्रापि **परमम्. ब्रह्म**शब्देन चत्वार उच्यन्ते– वेदो ब्राह्मणजातिश्च चतुर्मुखः परब्रह्म च, अतोऽन्यव्यावृत्त्यर्थं **परम**शब्दः. स एवायं **साक्षाद्;** औपचारिककार्यांशसगुणपक्षा व्यावर्तिताः. ततोऽप्याधिक्यमाह **भगवन्तमि**ति, षड्गुणैश्वर्यसम्पन्नं पुरुषोत्तमम्. भगवच्छब्दवाच्यस्य प्राकृतत्वव्युदासायाहा**धोक्षजमि**ति, **अधोऽक्षजं** ज्ञानं यस्मात्. तर्ह्येतादृशे वस्तुनि प्रकटे स्वप्रकाशे कथं तेषामज्ञानम् ? तत्राह **मनुष्यदृष्ट्ये**ति, अन्यथाज्ञानादज्ञानं; यद्यन्यभावस्फूर्तिर्न स्याद् विचारे ज्ञानोपाये च[१] प्रवृत्तिः स्यात्. अन्यथाज्ञाने हेतुमाह **दुष्प्रज्ञा** इति, दुष्टा प्रज्ञा येषां, बुद्धिदोषात् सर्वत्रैव तेषामन्यथाज्ञानं तथा प्रकृतेऽपि जातमित्यर्थः. नन्वत्रान्यथाज्ञानं भवितुं नार्हति, समानधर्माभावात् विषयत्वाभावादारोपायोग्यत्वात् स्वप्रकाशत्वाद् विषयः सर्वथा शुद्ध, इति कथं [२]तत्रान्यथाबुद्धिरिति चेत् तत्राह **मर्त्यात्मान** इति. न ह्यत्र तेषां बुद्धिर्विषयं स्पृशति

१. वा. २. तथान्यथा°.

लेखः

तद्ब्रह्मेत्यत्र अन्यथाज्ञानासम्भवे हेतुमाहुः **समाने**ति, समानः स्वाधिकरणवर्ती स्वसमानाधिकरणो धर्म इत्यर्थः. रजतत्वं स्वसमानाधिकरणधर्मस्य चाकचिक्यस्य शुक्तौ सत्त्वात् तत्रारोपयोग्यमतो बुद्ध्या रजतत्वारोपेण शुक्तेस्तत्प्रकारज्ञानविषयत्वम्. मनुष्यत्वं तु स्वसमानाधिकरणधर्मस्य भगवत्यभावात् न तत्रारोपयोग्यमतो बुद्ध्या मनुष्यत्वारोपासम्भवेन भगवतो मनुष्यत्वप्रकारकज्ञानविषयत्वाभावात् तदसम्भवः इत्यर्थः. अन्यथाज्ञानकथनादन्यथाख्यातिपक्षेणैव व्याख्यातम्. समानधर्माभावे हेतुमाहुः **स्वप्रकाशत्वादि**ति, **स्वप्रकाशत्वा**द्धेतो**र्विषयो** ब्रह्मरूपः **सर्वथा** सर्वप्रकारेण **शुद्धः**, न तत्र केनापि प्रकारेण मनुष्यत्वसमानधर्मः सम्भवतीति भावः. **कथमि**ति तदेति शेषः, असम्भवे सतीत्यर्थः. **विषयं स्पृशति** विषयौत्पत्तिकधर्मान् न विचारयतीत्यर्थः. तद्विचारे हि समानासमानधर्मविचारो भवतीति भावः.

योजना

मनुष्यदृष्ट्या दुष्प्रज्ञा मर्त्यात्मानो न मेनिरे इत्यत्र **न ह्यत्र तेषां बुद्धिर्विषयं स्पृशती**ति. इदमत्र ज्ञेयम्. भ्रमो द्वेधा– सोपाधिको निरुपाधिकश्च. तत्र सोपाधिको भ्रमो घटादौ शङ्खः पीतः सिता कट्वीत्यादौ. तत्र ह्यधिष्ठानस्य घटस्य चक्षुषा ग्रहणे भ्रमरिकोपाधिं पुरस्कृत्य माया भगवतः शक्तिस्तत्र घटे मिथ्याभूतं भ्रमणमुत्पादयति. तत् मायिकं भ्रमणं सत्यो घटश्चेत्युभयं चक्षुषा गृह्यते. तदुक्तं "ऋतेर्थं यत् प्रतीयेत" इत्यस्य सुबोधिन्यां "विषयता मायाजन्या विषयो भगवानि"ति. विषये घटे भ्रमणरूपो धर्मो विषयताशब्दवाच्यः. तदुक्तं तत्रैव सुबोधिन्यां "विषये विषयता काचित् स्वीकर्तव्ये"ति. सा **विषयता** भ्रमणरूपा **मायाजन्या, विषयो** घटो **भगवानि**ति फक्किकार्थः. तत्रायं घट इति ज्ञानं विषयजन्यं, भ्राम्यतीतिज्ञानं विषयताजनितं, तत्र चक्षुरिन्द्रियं विषयं विषयतां च स्पृशति, ततो घटो भ्राम्यतीति प्रत्ययः. तत्र ये बालास्तेषां मनस्यस्माकं भ्रमरिकोपाधिवशात् मायाकल्पितं भ्रमणं प्रतीयते न स्वतो भ्रमणमस्तीति ज्ञानाभावः. तेषां बुद्धेस्तमोगुणाभिभूतत्वाद् वस्तुतोऽयं घटो भ्राम्यतीति प्रतीतिरुत्पद्यते. भागवतसिद्धान्ते ज्ञानमात्रं प्रति बुद्धेः कारणत्वाद् बुद्धिदोषेण तथाप्रतीतिः. तथा च तमोगुणाभिभूता बुद्धिर्घटं भ्राम्यन्तमेव निर्धारयति. तथा सति तेषां बुद्धिः शुद्धं घटं न गृह्णाति किन्तु स्वकल्पितं भ्राम्यन्तमेव घटं गृह्णाति. चक्षुरिन्द्रियं तु शुद्धमेव घटं मायिकभ्रमणसहितं स्पृशति, तत्सामान्यज्ञानं मनइन्द्रियजन्यं, तत्र घटो भ्राम्यतीति अन्यथाप्रतीतिः. मनः-

किन्तु [1]मध्य एवावलम्बते यथा [2]भ्रमदृष्टेर्भूम्यादयः. न हि कदाचिदपि भूम्यादीनामावर्तोऽस्ति. अतोऽन्तरेव दृष्टिभ्रमणं स्वाधिकारादारोप्यते. विषयधर्माणां हेतुत्वे रजतभ्रमवदन्यः[3] स्यात् तस्यापि कालान्तरे स्यात्. अत एव[4] ते मानुषभावे-

---

लेखः

मध्य एवेति, मध्यधर्मानेव विचारयतीत्यर्थः. **भूम्यादयः** प्रतीयन्त इति शेषः, भूम्यौत्पत्तिकधर्मविचारो न जायत इत्यर्थः. स्थिरत्वस्य भूम्यौत्पत्तिकत्वमाहुः **विषये**ति, विषये चेदावर्तः स्यादित्यर्थः. **अन्यस्यापि** अभ्रमतोऽपीत्यर्थः. **तस्यापी**ति भ्रमतोऽपी-

योजना

सहितेनेन्द्रियेण घटो भ्राम्यतीति प्रतीत्यनन्तरं तमोगुणविशिष्टा बुद्धिर्बालानां भ्राम्यन्तमेव घटं निश्चिनोति. स घटो बुद्धिकल्पितो बुद्धावेव तिष्ठति न तु बहिः. बहिस्तु शुद्ध एव घटो मायोत्पादितभ्रमणयुक्तोऽस्ति. स चक्षुषा गृह्यते न तु बुद्ध्या. अतो न चक्षुषा गृहीतस्य मिथ्यात्वं किन्तु बुद्धिकल्पितस्यैव मिथ्यात्वम्. एवं सतीन्द्रियाणां शुद्धघटसम्बन्धेऽपि तमोगुणाभिभूताया बालबुद्धेर्न शुद्धघटसम्बन्धः. तदेतदुक्तं **न ह्यत्र तेषां बुद्धिर्विषयं स्पृशतीत्यारभ्य स्वाधिकारादारोप्यत** इत्यन्तेन. **तेषाम**ज्ञानां **बुद्धिर्विषयं न स्पृशति,** इन्द्रियाणि तु विषयं स्पृशन्ति. मन इन्द्रियेण संयुक्तं विषयं गृह्णदपि न संशयं भ्रमात्मकं निश्चयात्मकं वा ज्ञानमुत्पादयितुं शक्नोति अपि तु सामान्यज्ञानमुत्पादयति. विशेषज्ञानं तु बुद्धिरुत्पादयति, "संशयोथ विपर्यासो निश्चयः स्मृतिरेव च स्वाप इत्युच्यते बुद्धेर्लक्षणं वृत्तितः पृथगि"ति तृतीयस्कन्धे कपिलवाक्ये संशयादिज्ञानानां बुद्धिवृत्तित्वकथनात्. तत्र सत्त्वगुणसहिता बुद्धिर्निश्चयात्मकं ज्ञानं जनयति, रजःसहिता संशयात्मकं, तमःसहिता भ्रमात्मकमिति विवेकः. निरुपाधिके भ्रमे शुक्ताविदं रजतमित्यादौ तु न रजतं मायाजनितं किन्तु तमोगुणयुक्तबुद्धिकल्पितम्. तद् रजतं बुद्ध्यैव गृह्यते अन्तरेव तिष्ठति, न चक्षुषा गृह्यते. मनःसंयुक्तचक्षुर्गृह्यमाणायां शुक्तौ सत्यां रजतसंस्कारप्राबल्यात् तमोगुणयुक्ता बुद्धी रजतं निर्माति. तद् बौद्धं रजतं बुद्ध्या गृह्यते. तदुक्तं वेदस्तुता"वन्तरा त्वयि विभाति मृषैकरस" इत्यस्य सुबोधिन्यां "रजतं तु तदनन्तरं बुद्ध्या जन्यते विषयीक्रियते चे"ति. अत इन्द्रियेण शुक्तिरेव गृह्यते, बुद्ध्या रजतं विषयीक्रियते. अत इन्द्रियेण संयुक्तायाः शुक्तेः सकाशादन्यस्य

---

१. मध्यममेवा° २. भ्रमदृष्टेः. ३. °दन्यथापि, °दन्यस्यापि. ४. एते.

नैव व्याप्ता मनुष्या एव वयमिति मन्यमाना भगवन्तमपि तथैव मन्यन्ते. यथा चौरः[1] सर्वानेव [1]चौरान् जानाति, तथा मूर्खा देवमप्यागतं स्वसमानमेव मन्यन्ते, यथा व्याधस्तपस्विनम्, इतरवैलक्षण्याज्ञानात्. तस्मात् स्वदोषादेव निर्दुष्टे विषयेऽन्यथास्फूर्तिः. अत एते **मर्त्यात्मान** आत्मानमपि मर्त्यं कृतवन्तः परमात्मनस्तथाकरणे कः प्रयासः? अतो भगवच्छास्त्रं दृष्ट्वापि **न मेनिरे** नाङ्गीकृतवन्तः ॥११॥

लेखः

त्यर्थः. **मनुष्या एवे**ति जीवं देहरूपं मन्यमाना इत्यर्थः. **मर्त्यं कृतवन्त** इति जीवं देहरूपं मानितवन्त इत्यर्थः. **अत** इति, स्वधर्मस्यैव मानितस्य मर्त्यत्वस्य विचारका,

योजना

रजतस्य ख्यातिः अन्यख्यातिरिति सिद्धान्तः. सोपाधिकभ्रमे शङ्खः पीत इत्यादौ न विषयधर्माणां भ्रमहेतुत्वमपि तु काचकामलादिरूपोपाधिना भ्रमहेतुत्वमित्याहु**र्विषयधर्माणां हेतुत्व** इत्यादि. **रजतभ्रमवदन्यस्यापि स्यादि**ति, यथा रजतभ्रमो विषयनिष्ठचाकचक्यधर्ममादायोत्पद्यते न तथा शङ्खः पीत इत्यादौ विषयधर्मेण भ्रमः. तथा सति यथैकस्योत्पन्नो रजतधर्मोऽपरस्याप्युत्पद्यते, न तथैकस्योत्पन्नः शङ्खे पीतिमभ्रमोऽपरस्य कामलदोषरहितस्याप्युत्पद्यते, विषये पीतत्वाभावात्. तदेतदाहुः **रजतभ्रमवदन्यस्यापि स्यादि**ति. किञ्च यस्य 'शङ्खः पीत' इति भानं जातं तस्यापि कामलोपाधिनिवृत्तौ न जायते. यदि विषयधर्माणां हेतुत्वं स्यात् तदा विषयधर्माणां सर्वेषां तुल्यत्वात् कालान्तरेऽपि कामलादिनिवृत्तावपि स्यादित्याहु**स्तस्यापि कालान्तरे स्यादि**ति. स निरुपाधिकभ्रमोऽधिष्ठानज्ञाननाश्यः, सोपाधिकभ्रमः पीतः शङ्ख इत्यादिरूपस्त्वधिष्ठानस्य पीतरूपाभाववत्त्वज्ञाने सत्यपि जायमानत्वात् नाधिष्ठानज्ञाननाश्य किन्तूपाधिनाशनाश्य इति विभेदः. प्रकृते भगवदिच्छया प्रदर्शितानामवास्तवमनुष्यधर्माणां भक्तिराहित्येन बुद्धिदोषाद् भगवति प्रतीयमानत्वाद् भगवति मनुष्यबुद्धिः, तथा चायं सोपाधिकभ्रम इति ज्ञेयम्. यदा भगवदिच्छया भगवद्भक्तिराहित्यरूपोपाधिनाशस्तदा अयं भ्रमो निवर्तिष्यते इति बोध्यम्. भ्रमस्वरूपस्य विशेषविचारस्तु मया प्रमेयरत्नार्णवे ख्यातिविवेके स्फुटीकृत इति विशेषजिज्ञासायां ततोऽवगन्तव्यः ॥११॥

१-१. चो°.

ततो यद् जातं तदाह **न ते यदोमिति प्रोचुरिति.**

न ते यदोमिति प्रोचुर्न नेति च परन्तप।
गोपा निराशाः प्रत्येत्य तथोचुः कृष्णरामयोः ॥१२॥

ओमित्यङ्गीकारे नेति [1]निषेधे. निषेध उपायान्तर एव प्रवृत्तिः स्यात् तेषां धर्मेण वा तुष्टा भवेयुः. **नेत्यसत्ये,** सत्यनिवृत्तेः सिद्धत्वात्. अतो **निराशाः. परन्तपेति** सम्बोधनं स्वाधिदैविकशुकं प्रति कोपनिषेधार्थमागतं, राज्ञो वा. महद्भाग्ययोगे ह्यतिथिर्विमुखो न गच्छतीति तद्भाग्याभिनन्दनार्थम्. **प्रत्येत्य** व्याघुट्य समागत्य **कृष्णरामयोः** पुरतस्त**थोचुः** ॥१२॥

लेखः

न तु भगवद्धर्मस्य स्वप्रकाशत्वस्य, अतो भगवति मनुष्यदृष्ट्या तद्वाक्यं न मेनिरे इत्यर्थः. **भगवच्छात्रमिति,** वेदादिकं **दृष्ट्वापि** तत्तात्पर्याज्ञानात् मर्त्यात्मत्वमित्यर्थः. **मर्त्यो** मर्त्यत्वेन मानित **आत्मा** येषामिति विग्रहः ॥११॥

न ते यदोमित्यत्र निषेधाभावे निराशत्वं कथमित्याशङ्क्याहु**र्नेतीति.** असत्याभिनिवेशे वस्तुयाथात्म्यज्ञानाभावे **नेतिं** वदेयुः. सा सत्यनिवृत्तिस्त्ववचनेपि सिद्धैव, तादृशज्ञाने अवचनं कथं स्यादिति. अतो **नेति**वचनाभावेऽपि तेषामज्ञानं निश्चित्य निराशा जाता इत्यर्थः. **परन्तपेति,** इदं राज्ञः **सम्बोधनं** निरोधलीलारम्भे स्वस्मि**न्नागतं स्वाधिदैविकशुकं** भगवन्तं **प्रति कोपनिषेधार्थम्** उक्तमिति शेषः. त्वं परन्तपत्वात् मदाविष्टं भगवन्तं पश्यसि, अतः प्रत्यक्षत एव तत्र कोपाभावं पश्येति भावः. राज्ञः शुकाविष्टभगवद्दर्शनं स्फुटं कुत्रापि नोक्तमित्यरुच्या पक्षान्तरमाहुः **राज्ञो वेति.** कोपनिषेधार्थमिति शेषः. तद् व्युत्पादयन्ति **महदिति,** तव तादृशं भाग्यं वर्तते तेषां नास्तीति भाग्याभावादेवं कृतवन्तः. अतो मूढेषु न कोप उचित इति भावः ॥१२॥

१. लुप्तम्.

योजना

न ते यदोमिति प्रोचुरित्यस्य विवृतौ **नेत्यसत्ये सत्यनिवृत्तेः सिद्धत्वादिति.** ब्राह्मणा यद् ओमिति नोचुस्तत्तु सत्ये, तथैव ब्राह्मणानामभिप्रायात्. यत् नेति नोचुस्तत् तु **असत्ये**-यतस्तेषामदानेऽभिप्रायस्ततो '**ने**'त्येव कथनस्य युक्तत्वं, तथापि 'ने'ति नोचुरतो निषेधकरणाभावस्य ज्ञापको यो **नकारः** स असत्ये इत्यर्थः, निषेधस्य ब्राह्मणाभिप्रेतत्वात्. तथा च **नेतीति** निषेधस्य निषेधबोधको नेत्यसत्य इति भावः. एवं निषेधनिषेधो ब्राह्मणानां हृदये असत्याभिनिवेशं बोधयति. तथा सति सिद्धमाहुः **सत्यनिवृत्तेः सिद्धत्वादिति,** असत्ये सति सत्यनिवृत्तिः सिद्धा. यत्र असत्यं तत्र सत्यावलम्बिना सत्यैव निवृत्तिः न तु तत्र स्थितिः, अतो **गोपा निराशाः** प्रत्यागता इत्यर्थः. **परन्तपेति सम्बोधनं स्वाधिदैविकशुकं प्रति कोपनिषेधार्थमागतमिति,** दशमस्कन्धीयलीलानिरूपणाय शुके भगवानाविष्टः, "वैयासकिः सभगवानथ विष्णुरातमि"तिवाक्यात्, "भगवता सह वर्तमानः सभगवानि"ति विवरणात्. तथा च शुके आविष्टो भगवानाधिदैविक शुक उच्यते, **आधिदैविकं शुकं** भगवन्तं **प्रति परन्तपेति सम्बोधनमि**त्यर्थः. शुकेन 'परन्तपे'ति सम्बोधनं स्वाविष्टं भगवन्तं प्रत्युक्तम्. तत्र प्रयोजनमाहुः **कोपनिषेधार्थमागतमिति,** "गोपा निराशा आगता" इति शुकमुखात् श्रुत्वा शुकाविष्टो भगवान् क्रोधं कुर्यात् तस्य क्रोधस्य निषेधार्थमित्यर्थः. **परं** क्रोधात्मकं शत्रुं **तापयतीति परन्तपः,** तस्मात् परन्तपत्वात् क्रोधो न कर्तव्य इति हार्दम्. ननु स्वाविष्टं भगवन्तं प्रति सेवकः शुकः क्रोधो न विधेय इति कथमुपदिशेदित्याशङ्क्याहुः **आगतमिति,** शुकस्य तत्सामयिकलीलाभावना-पारवश्या**दागतं** निःसृतं, न तु शुकेन विचार्योक्तमित्यर्थः. **राज्ञो वेति, राज्ञः** परीक्षितो वा **परन्तपेति** सम्बोधनमित्यर्थः. प्रयोजनं तु **कोपनिषेधार्थमागतमिति** पूर्वोक्तमेव. राजा हि परमवैष्णवो "गोपा निराशाः प्रत्यागता" इति श्रुत्वा क्रोधं कुर्यात्. तं निषेधति शुकः— यतस्त्वं **परं** शत्रुं क्रोधरूपं **तापयसीति परन्तपो**ऽसि अतो ब्राह्मणानामनयेऽपि क्रोधो न कर्तव्यः, ब्रह्मण्यदेवत्वात् श्रीकृष्णस्य तत्सेवकत्वात् तवेति भावः ॥१२॥

तदुपाकर्ण्य भगवान् प्रहस्य जगदीश्वरः ।
व्याजहार पुनर्गोपान् दर्शयँल्लौकिकीं गतिम् ॥१३॥

गोपानां खेदादिकं दृष्ट्वा, भगवद्वैमुख्ये क्रोधं च, तन्निवृत्त्यर्थं हास्यं कृतवान्. ननु क्रोधः कर्तव्य आज्ञोल्लङ्घनात्, कथं [1]हास्यं ? तत्राह **जगदीश्वर** इति, जगतः स एवेश्वरः, तथैव ते [2]प्रतिबोधिताः. तेषां पूर्वखेदस्य विस्मृतत्वात् **पुनराह**, तेषां गमनाङ्गीकारार्थे [3]प्रबोधनं च कृतवान्– **लौकिकी गतिरे**तादृशी क्वचित् प्राप्यते क्वचिन्न क्वचिदुत्तराभावश्च ॥१३॥

भगवद्वाक्यमाह **मां ज्ञापयते**ति.

मां ज्ञापयत पत्नीभ्यः ससङ्कर्षणमागतम् ।
दास्यन्ति काममन्नं वः स्निग्धा मय्युषिता धिया ॥१४॥

यज्ञे यजमानपत्न्यः पत्न्य एवोच्यन्ते निर्दुष्टत्वज्ञापनाय, "तस्मात् स्त्रियो निरिन्द्रिया अदायादीरपि पापात् पुंस उपस्तितरं वदन्ती"तिश्रुतेः[4]. अतो निर्दुष्टत्वात् **मां पत्नीभ्यो ज्ञापयत ससङ्कर्षणं** बलभद्रसहित**मागतम्**. याचनं तु न कर्तव्यमयाचिता एव दास्यन्तीत्याह **दास्यन्तीति**. **कामं** यथेष्टं तद् **वो** युष्मभ्यं; [5]तस्यान्नदोषो निरूपितः **काम**पदाद् **व**इतिपदाच्च. दाने हेतुः **स्निग्धा** इति, **मयि** ताः

टिप्पणी

[6]**मां ज्ञापयतेत्यत्र, तस्यान्नदोषो निरूपित** इति. पूर्वं **यथेष्टमिति काम**पदं व्याख्यातम्, अधुना तस्यान्नविशेषणत्वमभिप्रेत्य तत्तात्पर्यमुच्यते. दोषः[7] स्वभोगे ज्ञेयः, स कथं निरूपित इत्यत आहुः **कामपदादि**ति. अत्रेदमाकूतम्. अन्नं हि पुरुषस्वामिकं भवतीति तदन्नं तैः स्वर्गकामनया यज्ञसम्बन्धिदेवतान्तरोद्देशेन सङ्कल्पपूर्वकं निष्पादितत्वात् सकाममपि कामप्राचुर्यात् कामरूपमेव जातमिति ज्ञापनाय तथा विशेषणम्. तेन तेषामभक्तत्वं सूचितम्. तथा चान्योद्देशेन कृतमभक्तसम्बन्धि स्वभोगयोग्यं न भवतीति दोषोक्तिः. [8]किञ्च, **मां ज्ञापयत**

लेखः

मां ज्ञापयतेत्यत्र निर्दुष्टत्वेति, पत्युः स्त्री पत्नीति पुंयोगेन पतिव्रतात्वज्ञाप-

१. हास्यमिति. २. प्रबोधिताः. ३. प्रबोधं. ४. तै. सं. ६/५/८/२.
५. तस्मान्न दोषो, तस्यान्नस्य दोषो. ६. 'मामि'त्यारभ्य 'सर्वमवदातमि'त्यन्तं शोधपत्रमेकस्मिन्नेव पुस्तके लब्धम्. एतन्मूलपाठे नास्ति. ७. 'दोष अत्र स्वभोग्यत्वाभावो ज्ञेयः' इति कुत्रचित् पाठः. मू. पा. ८. किंच पूर्वं 'मां मू. पा.

टिप्पणी

पत्नीभ्यः इत्युक्त्वा दानसमयेऽपि **मह्यं दास्यन्तीति**[1] पात्रान्तरोक्त्या चोक्तदोष एवान्नस्य स्फुटीभवतीत्याशयेनोक्तं **व इति पदाच्चे**ति. न च पूर्वोत्तरवाक्ययोः कथं संगतिरिति वाच्यं, तासां भक्तत्वात् मदागमने ज्ञापिते मत्सम्बन्धित्वं ज्ञात्वा **वो** युष्मभ्यमपि **दास्यन्तीति** ज्ञापयितुमादौ स्वकथनम्, अग्रे [2]दोषत्वमन्नस्य ज्ञापयितुं **व** इति कथनमित्युपपत्तेः. अन्यथा यथा भगवतोक्तं **वो दास्यन्ति** तथा ता अपि तेभ्य एव दद्युः, न तु [3]स्वमत्रानयेयुः. तर्हि कथं तदन्नमेताभिरानीतं भगवानङ्गीकृतवानिति चेद्, अत्रैवं प्रतिभाति. पत्न्या आत्मनोऽर्धत्वात्तदन्ने तासामंशो[4] भवितुमर्हति. स च तासां भक्तत्वादुक्तदोषरहित एवेति मन्तव्यम्. तथा सति तस्य पूर्वमपृथग्भावात् समुदिताभिप्रायेण दोषोक्तिः. ततस्ताभिर्भगवदर्थं स्वांशे पृथक्कृते तदङ्गीकरणमावश्यकं प्रभोः, "भक्त्युपहृतमश्नामी"ति वचनात्.

यद्वा. "अन्नमादाय भाजनैरि"ति भाजनोक्त्या पृथग्भावासंभवेपि यथा तदन्ने पूर्वमन्योद्देशो दोषहेतुरभूद्, एवं पश्चाद्भगवदुद्देशस्तस्मिन्निवृत्तिहेतुरभूत्[5]. अतः सर्वमेवान्नमङ्गीकरणयोग्यमित्युपपद्यते. न च तासां भक्त्या पुमंशः कथमदुष्टो भवतीति शङ्कनीयं, तत्सम्बन्धात्तेषामपि भक्तत्वस्य वक्ष्यमाणत्वात्.

अथवा, **कामं यथेष्टमि**ति पक्षेऽपि तत्तात्पर्योक्ति**स्तस्यान्नस्य दोष** इति. अत्रायमर्थः. [6]आधिदैविकं यज्ञं संपादयितुं पुंभिराधिदैविकयज्ञात्मकस्य भगवतस्तदाज्ञयाध्यात्मिकानां[7] गोपानां याच्ञाभङ्गः कृतः. सोऽत्र **दोषपदेनो**च्यते. तथा सति कथमाधिभौतिकोऽपि स संपत्स्यत इति ज्ञात्वा साक्षादाधिदैविके दातुमशक्यत्वादाध्यात्मिकेभ्यो **वो** युष्मभ्यं यावता तृप्तिर्भविष्यति तावद् **दास्यन्ति.** तेन चाधिदैविकस्य तृप्तिर्भविष्यति,[8] आधिभौतिकश्च[9] संपत्स्यत इत्याशयेनोक्तं **कामपदाद् व इति पदाच्चे**ति. अन्यथा [10]यज्ञीयान्नस्य यज्ञार्थमस्थापयित्वा यथेष्टदान-कथनानुपपत्तेः. तास्तु "यथा तरोर्मूलनिषेचनेने"ति [11]ज्ञानेनाधिदैविकद्वारेणैव सर्वं तत्रैव भवत्विति सर्वमन्नमानीतवत्य इति सर्वमवदातम् ॥१४॥

१. दास्यन्ती'ति वक्तव्ये तथानुक्त्वा 'वो दास्यन्ती'ति मू. पा. २. सदोषत्व° मू. पा.
३. स्वयमत्रा° मू. पा. ४. तासामप्यं° मू. पा. ५. देशस्तन्निवृत्ति° मू. पा.
६. आधिभौतिकं मू. पा. ७.°याध्यात्मिकयज्ञात्मकानां गोपानां च मू. पा.
८. भविष्यतीति मू. पा. ९. आधिदैविकश्च मू. पा. १०. यज्ञार्थीयान्नस्य मू. पा.
११. न्यायेनाधि° मू. पा.

स्निग्धाः प्रेमवत्योऽतो मदागमने ज्ञापिते परितुष्टा एव **दास्यन्ति**, यथा प्रियवार्ताहर्त्रे दानम्. किञ्च **धिया** पुन**र्मय्येवोषितास्**ताः सङ्घाते बुद्ध्या मयि तिष्ठन्ति, शेषेण तत्र, बुद्ध्येत्युपलक्षणं; ज्ञानशक्त्यान्तःकरणेन चात्र तिष्ठन्ति, बाह्यक्रियया देहेन च तत्र. अतो ज्ञानशक्तिर्मय्येव तिष्ठतीति **दास्यन्ति** ॥१४॥

ते पुनर्बालाः पूर्ववदेव गत्वा तथैव[1] याचितवन्त इत्याह **गत्वे**ति.

गत्वाथ पत्नीशालायां दृष्ट्वासीनाः स्वलङ्कृताः।
नत्वा द्विजसतीर्गोपाः प्रश्रिता इदमब्रुवन् ॥१५॥

अथ भिन्नप्रक्रमेण, येन मार्गेण यया रीत्या पूर्वं गता न तथेति. **पत्नीशाला** भिन्नैव प्राग्वंशे सदसि वा भवति, परं प्राग्वंश एव यत **आसीना** निश्चिन्ताः **सुष्ठ्वलङ्कृता**श्च. अनेन[2] सौभाग्यसहितास्ता निरूपिताः. पूर्ववदेव **नत्वा प्रश्रिता** विनीताः सन्त **इदं** वक्ष्यमाण**मब्रुवन्.** ब्राह्मणसम्बन्धान्नमनं **सती**त्वाद् विनयः ॥१५॥

तेषां वाक्यमाह द्वयेन **नम** इति.

नमो वो विप्रपत्नीभ्यो निबोधत वचांसि नः।
इतोऽविदूरे चरता कृष्णेन प्रेषिता वयम् ॥१६॥

वैदिकार्थापरिज्ञानाद् **विप्रपत्नीभ्य** इत्युक्तं, तत्राप्यनवधानतानिवृत्त्यर्थं **निबोधते**त्याहुः. के भवन्त इत्याकाङ्क्षायामाहु**रितो** निकट एव **चरता** परिभ्रमता लीलाकर्त्रा **कृष्णेन** सदानन्देन **वयं प्रेषिता** इति.

कार्यनिवेदनं वा प्रयोजनमाहु**र्गाश्चारयन्नि**ति.

गाश्चारयन् स गोपालैः सरामो दूरमागतः।
बुभुक्षितस्य तस्यान्नं सानुगस्य प्रदीयताम् ॥१७॥

लेखः

नायेत्यर्थः. **ताः सङ्घाते** इति निर्धारणे सप्तमी; सङ्घातमध्ये **बुद्ध्या** अन्तःकरणेन **मयि तिष्ठन्ति, शेषेण** देहेन्द्रियप्राणै**स्तत्र** तिष्ठन्तीत्यर्थः ॥१४॥

नमो व इत्यत्र **वैदिकार्थे**ति, यज्ञे यजमानपत्न्यः पत्न्य एवोच्यन्त इतिज्ञाने पत्नीपदमात्रमेव वदेयुरित्यर्थः ॥१६॥

---

१. लुप्तम्. २. अनेनैव.

ते त्वन्यान्नं न गृह्णन्त्यतो भगवतोक्तमपि स्त्रीभिर्दत्तमप्यन्नं स्वयं न गृहीतवन्तः किन्तु भगवदर्थमेव याचन्ते, तेषां स एव धर्म इति. दोषकीर्तनं त्वज्ञानात्. गवां [1]चारणमावश्यकमिति तदनुरोधेन तृणवति देशे समागतो **गोपालै**श्च सहितः. अनेन [2]स्वागमने सर्व एवागच्छेरन्निति बाधकमुक्तम्. **सराम** इति आदरार्थे कार्यान्तराभावार्थे च. अतो वा दोषकीर्तनम्. अतो **बुभुक्षितस्य तस्य** ससेवकस्य तस्यैवा**न्नं** तत्र गत्वा **दीयता**मिति. प्रकर्षो यथायोग्यम् ॥१६-१७॥

ततो यद् जातं तदाह **श्रुत्वाच्युत**मिति.

श्रुत्वाच्युतमुपायान्तं नित्यं तद्दर्शनोत्सुकाः।
तत्कथाक्षिप्तमनसो बभूवुर्जातसम्भ्रमाः ॥१८॥

'चरते'तिवचनात् सोऽपि पश्चादागच्छतीत्युक्तम्, अत आ**होपायान्त**मिति, उप समीप आगच्छन्तम्. पूर्वं तु तास्तत्र गता, इदानीमत्र भगवान् समायाति. मनोरथस्तु पूर्वशेष इति समागमन इतिकर्तव्यतानभिज्ञाः **ससम्भ्रमा जाताः**. किञ्च

लेखः

गाश्चारयन्नित्यत्र, **अन्यान्न**मिति, भगवत्सम्बन्धरहितमित्यर्थः. **स्त्रीभिर्दत्तमपी**ति सम्भावनाया**मपि**शब्दः, सम्भावितदानविषयीभूतमपीत्यर्थः. **दोषकीर्तन**मिति भगवतो बुभुक्षाकथनमित्यर्थः ॥१७॥

श्रुत्वाच्युतमित्यत्र **मनोरथस्त्वि**ति, अस्माभिस्तत्र गत्वैवमेवं कर्तव्यमितिम-

योजना

गाश्चारयन्नित्यत्र, **दोषकीर्तनं त्वज्ञाना**दिति, "बुभुक्षितस्य तस्यान्नमि"त्यनेन भगवति बुभुक्षितत्वदोषकथनं तु अज्ञानात्. "मायामनुष्यस्य वदस्व विद्वन्" "गूढः कपटमानुष" इत्यादिवाक्यैर्मनुष्यासाधारणधर्माणां भगवति मायया प्रतीतिर्न तु वस्तुतो भगवति मनुष्यधर्माः सन्त्यतः "क्षुत् खलु वै मनुष्यस्य भ्रातृव्य" इतिश्रुतेः क्षुधो मनुष्यासाधारणधर्मत्वात् न भगवति बुभुक्षितत्वमित्याकारकशास्त्रार्थस्याज्ञानादित्यर्थः ॥१७॥

श्रुत्वाच्युतमुपायान्तमित्यत्र **पूर्वं तु तास्तत्रागता** इति. **ता** यज्ञपत्न्यः **पूर्वं** स्वमनोरथेन **तत्र** भगवत्समीपे **आगता** इत्यर्थः. **मनोरथस्तु पूर्वशेष** इति–रमण**मनोरथः पूर्वं** विचारितस्य भगवन्निकटगमनस्य **शेष**भूतः. भगवन्निकटे यदा

---

१. °मवश्यमिति. २. मदागमने.

नित्यं तद्दर्शनार्थमुत्सुकाः, अतः शीघ्रमपि गन्तव्यं, क्षुधित इति सामग्र्यपि नेयातोऽपि सम्भ्रमः. किञ्च **तस्य** भगवतः **कथाभिराक्षिप्तं मनो** यासां, यत्र क्वापि स्थितं मनस्तत **आसमन्ताद्** दूर एव **क्षिप्तम**तो भगवति गतमतो मनोरथबाहुल्यात् किं कर्तव्यमिति **ससम्भ्रमाः** ॥१८॥

इदानीन्तनं बलिष्ठमिति विचार्य ससामग्रीका [1]आगता इत्याह **चतुर्विधमि**ति.

चतुर्विधं बहुगुणमन्नमादाय भाजनैः।
अभिसस्रुः प्रियं सर्वाः समुद्रमिव निम्नगाः ॥१९॥

भक्ष्यं पेयं चोष्यं लेह्यमित्यन्यथा भोजनं न स्यात्. भक्ष्ये दन्तानां विनियोगोऽन्यद् गौणं, चोष्ये परितः स्थितांशानां, लेह्ये जिह्वायाः, पेयेऽन्तःस्थितस्य वक्त्रस्यातश्**चतुर्विधमे**व सर्वं भोजनं भवति. **गुणा** व्यञ्जनानि धर्मा वा, **बहवो गुणा** यत्र. **अन्नं** साधारणम्, अपेक्षितादप्यधिकम्. **भाजनै**र्येष्वेव स्थितं नतूद्धृत्य. **अभिसस्रुर**भिसरणं कृतवत्य आभिमुख्येन गमनं, समुदायशक्त्या सर्वथा गमनं प्रतीयते. तत्र हेतुः **प्रियमि**ति, प्रियं प्रति हि सर्वेषां गमनम्, अतः **सर्वा** एव. बह्वीनां कथमेकत्र गमनमेकदेत्याशङ्क्य दृष्टान्तेन परिहरन् प्रतिबन्धाभावमाह **समुद्रमिव निम्नगा** इति. **निम्नगा** नद्यो मध्ये पर्वतादीनामपि प्रतिबन्धं न मन्यन्ते, न हि तासां देवाः पतयो भवन्ति किन्तु समुद्र एव, तथात्रापि. निम्न एव गच्छन्तीत्युच्चैरहङ्कारे स्थिताः पतयो नाङ्गीकृताः ॥१९॥

प्रतिबन्धाभावमाशङ्क्याह **निषिध्यमाना** इति.

लेखः

नोरथस्तु पूर्वं चिन्तितस्य स्वगमनस्य **शेष**भूतः; समागतस्तु भगवानतो मनोरथं विस्मृत्य **ससम्भ्रमा** एव **जाता** इत्यर्थः ॥१८॥

चतुर्विधमित्यत्र **धर्मा वे**ति मधुरत्वादय इत्यर्थः. **साधारणमि**ति सर्वासां साधारणं, न तु पृथक्कृतमित्यर्थः. **समुदायेति**, **अभिसरण**पदस्य समुदायार्थेनेत्यर्थः ॥१९॥

योजना

गमनं स्यात् तदा रमणमनोरथः सिध्येत्, भगवांस्त्वत्र आयात्यतः परं कथं मनोऽभिलाषः सेत्स्यतीति **ससम्भ्रमा जाता** इति हार्दम् ॥१८॥

---

१. गता.

निषिध्यमानाः पतिभिर्भ्रातृभिर्बन्धुभिः सुतैः।
भगवत्युत्तमश्लोके दीर्घश्रुतधृताशयाः ॥२०॥

उदासीनानां भाषणं निषिद्धमतः सम्बन्धिभिरेव निषिद्धाः, बलवद् बाधकं च तत्. पितरोऽत्र नोक्ता, अन्यथोत्पत्तिविरोधः स्यात्. उपपत्तिविरोधे तु शास्त्रं बलिष्ठम्. तासां चतुर्विधपुरुषार्थाश्चतुर्भिर्देया– धर्मदः **पतिरर्थदो भ्राता** अभिलषितार्थदातारो **बान्धवाः सुता** मोक्षदाः. तेषां निषेधे तत्तत्पुरुषार्थहानिस्तथापि पञ्चममेव पुरुषार्थं मन्यमाना गता एवेत्याह **भगवतीति**. भगवांस्तु षड्गुणः स्वयं चैकोतः सप्तपुरुषार्थास्तत्र सिध्यन्ति[1]. किञ्**चोत्तमश्लोक** इति, **उत्तमैः** सिद्धपुरुषार्थैरपि **श्लोक्यते**तो भक्तिरप्यष्टमः पुरुषार्थः. किञ्च कामितो हि पुरुषार्थो भवति न त्वकामितोऽतो धर्मादीनामपुरुषार्थतैव; किन्तु भगवानेव पुरुषार्थ इत्यभिप्रायेणाह **दीर्घश्रुतधृताशया** इति– **दीर्घ**कालपर्यन्तं यः **श्रुतो** यद्वा **श्रुतं** तस्मिन् तेन वा **धृत आशयो** याभिः. यथा फलश्रवणेन फले चित्तं भवति तथा भगवति चित्तं न त्वन्यत्र. निषेधोऽत्र वाचनिक, ऋत्विजां कर्मवैयग्र्यात्. न [2]ह्यन्यभार्या अन्येन स्प्रष्टुं [3]शक्या यागनाशश्च स्यादतो यजमानपत्नीव्यतिरिक्ताः सर्वा एव गता एकरूपाश्च. ऋत्विजां मिश्रप्रतिषेधात् "यूनः स्थविरान् वे"ति. यजमानस्तु विसदृशोऽपि भवत्यतो गता एव ॥२०॥

गतानां समागमनप्रकारमाह **यमुनेति**.

लेखः

निषिद्ध्यमाना इत्यस्यान्ते **यजमानस्त्वि**ति, सर्वेषां यजमानत्वेप्यातिदेशिकं तत्, मुख्योऽत्र **यजमान**पदेनोच्यत इति ज्ञेयम् ॥२०॥

यमुनेत्यस्याभासे. एतासां सर्वात्मभावाभावात् पूर्वोक्तमभिसरणमेव मुख्यं, दर्शनं तु तत्प्रकारत्वेन गौणमित्यभिप्रेत्य **प्रकार** एव वाक्यार्थ उक्तः. व्याख्याने. **क्रूरे**ति तनुनवत्वोपलक्षणेन प्रतिबन्धकमात्रनिवर्तिकेत्यर्थः. अतस्तदुपवने प्रति-

योजना

भगवत्युत्तमश्लोक इत्यस्य विवृतौ **पञ्चममेव पुरुषार्थमि**ति, स्वतन्त्रभक्तिरूपं पुष्टिमार्गभजनाख्यं पुरुषार्थमित्यर्थः ॥२०॥

यमुनोपवन इत्यस्य विवृतौ **यमुना**पदतात्पर्यमाहुः **यमुना क्रूरे**ति, भगव-

---

१. "न्तीति. २. ह्यन्यस्य, त्वन्यस्य. ३. शक्या इति.

यमुनोपवनेऽशोकनवपल्लवमण्डिते ।
विचरन्तं वृतं गोपैर्ददृशुः साग्रजं स्त्रियः ॥२१॥

यमुनोपवने विचरन्तं स्त्रियो ददृशुरिति सम्बन्धः. जलस्थलक्रीडायोग्यभूमिः सूचिता. उपवने पुष्पाणि फलानि च[1] सर्वदा भवन्ति, तथाविधान्येवारोप्यन्त इति. **यमुना** क्रूरेत्युपवनरक्षा [2]यमभागाभावश्च. गतानामुभयपरित्यागे शोकः स्यादिति तन्निवृत्त्यर्थमाह**ाशोकानां नवपल्लवैर्मण्डित** इति, अनेन शय्या अपि निरूपिताः. तादृशे विभावादियुक्ते **गोपैर्मुग्धैर्वृतं** **विशेषेण** हंसगत्यादिना गच्छन्तं **साग्रजं** क्रियाशक्तिसहितं सर्वतो रक्षणसमर्थं **ददृशुः** स्वाभिलषितप्रकारेण दृष्टवत्यो, यतः **स्त्रियः** ॥२१॥

स्त्रीदृष्टं भगवन्तं वर्णयत्यन्यथा भगवच्चरित्रं न भवेदन्योपसर्जनत्वाद्. वर्णितं तु भगवतैव [3]तथा क्रियत इति तादृशरूपप्राकट्येन निश्चीयते. **श्याममिति.**

श्यामं हिरण्यपरिधिं वनमालिबर्हधातुप्रवालनटवे[4]षमनुव्रतांसे ।

लेखः

बन्धका नायास्यन्तीति भावः. तात्पर्यान्तरमाहुः **यमेति**, तद्दोषपरिहारार्थमेव यमुनोत्पादनात्. सामान्यतोऽपि भगिन्यां न भ्रातुर्भागः, अतस्तत्र गतानां भगवत्सम्बन्ध एव भवति न तु पुनः संसारे समागत्य यमसम्बन्ध इति भावः. **उभयपरित्यागे** इति— भगवदप्राप्त्या बुद्ध्या यत्र स्थितास्तत्परित्यागः, गृहत्यागाच्छेषेण यत्र स्थितास्तत्परित्यागः. अप्राप्तावपि तादृगवस्थित्या प्राप्तिनिश्चयात् न शोक इति भावः ॥२१॥

अन्योपसर्जनत्वादिति, दर्शनस्याभिसरणाङ्गत्वादित्यर्थः. **तथा क्रियते** इति

योजना

त्सम्बन्धे यावन्ति प्रतिबन्धकानि तेषां विनाशिकेत्यर्थः. तथा च स्वोपवनस्य भगवदेकक्रीडौपयिकत्वात् तद्वनविनाशकस्य विनाशं कथं न कुर्यादित्यर्थः. **यमभागाभावश्चेति**, यमस्य कालरूपत्वात् कालस्य सर्वभक्षकत्वादेतदुपवनमपि कदाचिदन्यथा कुर्यात् तदत्र यमुनासम्बन्धात् न करोत्येव, भगिनीसम्बन्धेन तद्रक्षाकरणस्यैवोचितत्वादिति **यमुनापदतात्पर्यम्** ॥२१॥

---

१. लुप्तम्. २. °भोगा°. ३. यथा. ४. °वेश°.

विन्यस्तहस्तमितरेण धुनानमब्जं कर्णोत्पलालककपोलमुखाब्जहासम् ॥२२॥

आदौ वर्णः शृङ्गाररसात्मको, गौरो रजोरूप एव स्यात् तैजसश्च, शुक्लो जलप्रकृतिको अव्यक्तरसो, अन्नमेव हि सर्वरसात्मकं भोग्यं च. केवलं तद् रसजनकं न भविष्यतीति[1] तयोरपि सम्बन्धो निरूप्यते— **हिरण्यपरिधिं वनमालिनमिति.** सुवर्णमेखलैव परिधिरूपा कुण्डलमुकुटकण्ठाभरणानि च पीताम्बरं कङ्कणाङ्गदादीनि च. अनेन परिधिसहितः सहस्रमूर्तिः श्यामश्चन्द्रो निरूपितः. वनमाला वर्ततेऽस्येति, सर्वपुष्पमयी सा शुभा. अन्येऽपि सर्वे रसास्तत्र सन्तीति ज्ञापयितुं साधनत्रयमाह **बर्ह-**

लेखः

स्वरूपं तद्दर्शनविषयीभूतं क्रियत इत्यर्थः. **श्याममित्यत्र रजोरूप** इति, रसोद्दीपिका सामग्री 'रजः'पदेनोच्यते इति टिप्पण्यां पूर्वमुक्तम्. तथा च रसोद्दीपको न तु रसरूप **इत्येवकारः**, गौरस्य शृङ्गारोद्दीपकत्वात् शृङ्गारस्य च श्यामत्वादिति भावः. **तैजसश्चेति**, श्रुतौ तेजसो लोहितत्वादिति भावः. **केवलमिति**, रसपक्षे उद्दीपकरहितं गुप्तरसरहितं च अन्यस्य **रसजनकं न** भवतीत्यर्थः. **केवलमिति**, **बर्हेत्यनेन**

योजना

श्यामं हिरण्यपरिधिमित्यस्य विवृतौ **वर्णः शृङ्गाररसात्मक** इति शृङ्गारस्य श्यामरूपत्वात्. **गौरो रजोरूप** इति **हिरण्यपरिधिमित्यनेनो**क्तानां सुवर्णमेखलाद्याभरणानां गौरत्वात्. तत्स्वरूपमाहुः **गौरो रजोरूप एव स्यात् तैजसश्चेति.** **वनमालिबर्हे**त्यनेनोक्तायाः वनमालायाः स्वरूपमाहुः **शुक्लो जलप्रकृतिकः अव्यक्तरस** इति, सुवर्णमेखलादिरूपतैजसैः वनमालारूपजलप्रकृतिकैः सहितस्य श्यामवर्णस्य स्वरूपमाहुः **अन्नमेव हि सर्वरसात्मकं भोग्यं चे**ति. "यदग्ने रोहितं रूपं तेजसस्तद्रूपं यच्छुक्लं तदपां यत् कृष्णं तदन्नस्ये"तिश्रुतावन्नस्य श्यामतोक्ता. **अन्नशब्देन** पृथिव्युच्यते. प्रकृते **श्यामं हिरण्यपरिधिमित्यनेन** स्वरूपस्य श्यामत्वोक्तेरन्नरूपतोक्ता. 'अन्न'शब्देन पृथिवी, पृथिव्यां च सर्वे रसाः सर्वेषां भोग्यत्वं च, अतोऽत्रापि श्यामत्वकथनात् सर्वरसात्मकत्वं सर्वभोग्यत्वं च सिद्धम्. तत्र स्वरूपस्य शृङ्गाररसात्मकत्वात् तद्भाववतीनामेव भोग्यमिति गूढाशयो बोध्यः. **अनेन परिधिसहितः सहस्रमूर्तिः श्यामश्चन्द्रो निरूपित** इति. **अनेनेति** **श्यामं हिरण्यपरिधिमिति-**विशेषणविशिष्टश्यामस्वरूपकथनेनेत्यर्थः. **परिधिसहित** इति परिधिरूपसुवर्ण-

---

१. °तीतीतरयोरपि.

धातुप्रवालेति. त्रयाणामन्योन्यसम्बन्धात् सर्व एव रसाः— बर्हश्चित्र[१] एव धातवोऽनेकविधाः शुभ्रादयो मिश्राः, प्रवाला आरक्ता एव. एतैरपि कृत्वा **नटवेषो**[२] **यस्य**, केवलं रसं धर्मिसहितमपि रसं दातुमुपस्थितः. किञ्च लीलामपि सामग्रीरूपां स्वयमेव[३] करोतीत्या**हानुव्रतांसे विन्यस्तहस्तमितरेण धुनानमब्जमि**ति. लीलायाः प्राधान्यख्यापनार्थं स्वस्य परवशत्वं बोध्यते. स्वातन्त्र्ये[४] रसो गुप्तो भवती**त्यनुव्रतस्य** स्वसमानधर्मशील**स्यांसे** स्कन्धे **हस्तं विन्यस्य** युग्मरसं ख्यापयन्, विश्वमेव कमलात्मकं भ्रामयति सर्वमेवान्यथा करिष्यामीति ज्ञापयन्, निर्भयतां सम्पादयति. परमनुव्रतत्व एवाणुमात्रान्यथाभावेऽपि नैवमयं रसः क्रियापर्यवसायीति स्कन्ध एव कृतिर्निरूपिता. उभयोरेकत्र व्यापृतौ[५] रसो न स्यादिती**तरेणे**त्युक्तम्. कम्पने

लेखः

नटवेषकथनात् **केवलो** रस उक्तः, पूर्वविशेषणत्रयेणेतरसम्बन्धविशिष्टशृङ्गाररसात्मकत्वकथनाद् **धर्मसहित** उक्तः. **सामग्रीरूपामि**ति, तादृशलीलां दृष्ट्वा रस उद्बुद्धो भवतीति रसोद्बोधे लीला सामग्री. **स्वातन्त्र्ये** इति, रसस्य **स्वातन्त्र्ये** प्राधान्ये सति **गुप्तो** रक्षितो **रसो भवती**त्यर्थः. **उत्पलानामि**ति, कमलस्य ब्रह्माण्डात्मकत्वेन रूपमर्यादाहेतुत्वादिति भावः ॥२२॥

योजना

मेखलामुकुटकण्ठाभरणपीताम्बरकङ्कणाङ्गदादिसहित इत्यर्थः. **सहस्रमूर्तिः श्यामश्चन्द्र** इति, **परिधि**पदात् सूर्याचन्द्रमसोर्द्वयोः प्राप्तावपि श्यामवर्णत्वेन शृङ्गाररसरूपताया उक्तत्वात् शृङ्गाररसे च चन्द्रस्यैव योग्यत्वाच्चन्द्रत्वमेवेति तथोक्तम्. सहस्रमूर्तित्वं तु सुवर्णमेखलादीनां स्वरूपविचारेणोक्तम्. द्वितीयस्कन्धसुबोधिन्यां ये वराहादयोऽवतारास्ते सर्वे भगवतः प्रादेशमात्रत्वादिधर्माणामवताररूपा इत्युपपादितम्. तत्र मेखलाया वामनावतारत्वं, पीताम्बरस्य पृथ्ववतारत्वम् —एवं सर्वेषाम् आभरणानामवतारेष्वभिनिवेशः. तथा च मेखलादयो वामनादिमूर्तयस्ताभिः सहितः श्रीकृष्णश्चन्द्र इति फलितम्. तत्र "[६]अवतारा ह्यसङ्ख्येया हरेः सत्त्वनिधेर्द्विजा" इतिसूतवाक्यादवताराणामनन्तत्वम्, अनन्तावताराणामाभरणादिमूर्तित्वम्, एवं सहस्रमूर्तिसाहित्यम्. **केवलं रसं धर्मसहितमपी**ति, **बर्हे**तिपदेन नाट्यानुसारिवेषकथनात् केवलरस उक्तः,

---

१. °त्रमेव. २. नटवद् वेषो, नटवेशो. ३. स्वयमपि.
४. स्वातन्त्र्येण. ५. व्यावृत्तौ. ६. भाग. १/३/२६.

मकरन्दः स्रवतीति रसार्थमेव तथाकरणम्. ज्ञानक्रिययोर्मर्यादायाः शास्त्राणामङ्गानां भक्तेर्विरोधमाशङ्क्य परिहरति **कर्णोत्पलालककपोलमुखाब्जहासमि**ति. **कर्णयोरुत्पले येऽलका** नालसहितकमलस्थितभ्रमरा इव **कपोलयोर्मुखे** च **हास्यं** यस्येति. तेष्वपि हाससम्बन्धः कपोलयोर्मुखे च. सर्वेषामेव कमलत्वं कपोलयोर्मुखस्यैव वा. कर्णयोर्योगसाङ्ख्यत्वं प्रवृत्तिनिवृत्तिशास्त्रत्वं च. उत्पलानां

टिप्पणी

अत्रैव **श्यामं हिरण्यपरिधिमि**त्यस्य विवरणे, **ज्ञानक्रिययो**रित्यारभ्य **सर्वविरोधः परिहृतो भवती**त्यन्तम्. ननु स्वरूपस्योक्तरूपत्वे तासां व्याघुट्य गमनं सर्वथा विरुद्धम्. तथाहि. ज्ञानं हि क्रियापर्यवसायि. तथाच **बर्हधातुप्रवाले**त्यादिविवरणे केवलधर्मसहित-रसदानार्थोपस्थिति-परवशत्व-युग्मरसख्यापनादिक्रियया तदनुरूपमेव भगवज्ज्ञानमपीति ज्ञायते. तथा च व्याघुट्य गमनमेतदुभयविरोधि. इत एव मर्यादाविरोधः. न हि भगवज्ज्ञानादि विरुद्धं भवितुमर्हति. "कृष्णाङ्घ्रिपद्ममधुलिट् न पुनर्विसृष्टगेहेष्वि"त्यादिभागवतं शास्त्रं रसशास्त्रं च तादृशमतस्तद्विरोधः. अङ्गानि भगवत्प्रेम्णः प्राचीनश्रवणादीनि विभावकानुभावकादीनि च. भगवत्सङ्गतानामन्यत्रापि पतित्वेन भजनमिति भक्तेर्विरोधः. व्यामोहेन समाधानस्यायमाशयः. यदि पूर्वोक्तरूपेष्वेकस्यापि स्फूर्तिः स्यात्, स्यात्तत्कार्यमेव. किन्तूक्तानां मूलरूपे मोहकसम्बन्धात् कस्यापि न स्फूर्तिरिति न तत्कार्यसम्भव इति. यद्वा. भगवतो ब्रह्मत्वेन तज्ज्ञानशक्तेरपि सर्वसमत्वेन विकाराजनकत्वादुक्तरीतेश्च तज्जनकत्वात् तथा. तत्क्रियाशक्तिरपि योगशास्त्रादिनिरूपिता मनःसमाधिहेतुत्वेनोक्तरूपैवेति तथा. ब्राह्मणीष्वेवंभावप्राकट्यं मर्यादाविरोधि. शास्त्राणि स्वस्वाधिकारानुसारेण भगवद्भजनं विदधते.

योजना

"केवलो नाट्ये प्रसिद्ध" इतिवेणुगीताध्यायसुबोधिन्यां निर्धारितत्वात्. **केवल**शब्देन विप्रयोगशृङ्गाररसो ज्ञेयः. **श्यामं हिरण्यपरिधिं वनमाली**त्येभिर्विशेषणैर्धर्मसहितो रस उक्तः. धर्मसहितस्तु संयोगशृङ्गाररसो बोध्यः, "धर्मसहितः सम्भोगे" इति वेणुगीतसुबोधिन्यामुक्तत्वात्. **ज्ञानक्रिययो**रित्यारभ्य **विरोधः परिहृतो भवती**त्यन्तग्रन्थस्यार्थष्टिप्पण्यां स्फुटः. **कर्णयोरुत्पले ये अलका** इत्यादि. नालस्थानापन्नौ कर्णौ, तत्र ये उत्पले तत्र अलका भ्रमरस्थानीया इत्यर्थः ॥२२॥

मर्यादारूपत्वम्. अलकानां शास्त्रत्वं विद्वत्त्वं वा. कपोलयोर्भक्त्यङ्गत्वं मुखस्य भक्तित्वम्. सर्वेषामेव सरसत्वायाब्जत्वम्. तत्र **हासो** यस्येति सर्वव्यामोहात् सर्वविरोधः परिहृतो भवति[1].

एवं भगवत्स्वरूपमुक्त्वा तत्र तासां स्वरूपमाह **प्राय** इति.

प्रायःश्रुतप्रियतमोदयकर्णपूरैर्यस्मिन्निमग्नमनसस्तमथाक्षिरन्ध्रैः।
अन्तः प्रवेश्य सुचिरं परिरभ्य तापं प्राज्ञं यथाभिमतयो विजहुर्नरेन्द्र॥२३॥

प्राचुर्येण **श्रुताः प्रियतमस्याभ्युदयरूपा** गुणास्त एव **कर्णपूराः** कर्णाभरणानि तद्द्वारा भगवत्यन्तःप्रविष्टे **यस्मिन् निमग्नमनसो** जाता, यथा गृहे

टिप्पणी

तथा सति शुभं फलम्, विपरीते विपरीतमिति. एतासां विवाहितपुंभजनस्यैव तथात्वादुक्तरीतेश्चातथात्वहेतुत्वेन तथा. शास्त्रोक्तरीत्यैव भजनं भक्त्यङ्गमिति तद्वैपरीत्येन भावजनकरीतिप्राकट्यमङ्गविरोधि. जारत्वेन ह्यत्र भजनं स्यात्, तच्च भक्तिविरोधि. व्यामोहसमाधेरयमाशयः. लोकेयो हि येन यदर्थं व्यामोहितः क्रियते स तदनुगुणमेव करोति, न तु [2]स्वानुगुणम्. तथाच पूर्वोक्तानामेवंभावेन भजन एव तात्पर्यमधुना सम्पन्नमिति तेषां पुष्टिमार्गीयत्वकरणान्न विरोधगन्धोऽपीति. यद्वा. **ननु स्वरूपस्योक्तरूपस्योक्तरूपत्व** इत्यादिनास्मदुक्ताशङ्कानिरासायाहुः **सर्वव्यामोहादिति**, **सर्वासां** पत्नीनां **सर्वांशे** वा तासामेव **व्यामोहो** भगवता कृत इति पूर्वोक्तभगवदीयज्ञानक्रियादेः कार्यासम्पत्तिरभवदेतासु, तेन गेहं गताः. अत्रेदमाकूतम्. तासां गृहगमनोक्त्या भगवदीयज्ञानक्रियादिकार्यासम्पत्तिः स्पष्टैवेति ज्ञानाद्युक्तिर्निरर्थेति शङ्कानिरासायावश्यं तत्प्रयोजनं वाच्यम्. तच्च मर्यादादेहं त्याजयित्वा पुष्टिमार्गीयं तं प्रापयित्वा समानीता या, तन्निमित्तं प्रभुणा तादृशा धर्माः प्रकटीकृता इति तस्यां तत्कार्यं सम्पन्नम्. एतदर्थमप्राकट्यादेतासु तत्कार्यासम्भवेऽपि न विरोधः. अत एवैतद्दर्शनमस्मिन् श्लोके नोक्तम् किन्तु पूर्वस्मिन्नेव. परन्तूभयदृष्टं रूपमेकमेवेति पूर्वेणास्य श्लोकस्य संगतिः कृता. प्रतीयमानानामपि धर्माणामेतद्धृदयानारोहो व्यामोहादिति. पूर्वमप्रतीतिरेव धर्माणामुक्ता, संप्रति प्रतीतावपि हृदयाप्रवेश उच्यत इति विशेषः.

१. अत्र स्वतन्त्रलेखो वर्तते. २. न स्वानुगुणम्. मू. पा.

गङ्गापूरे समागते गृहं निमग्नं भवति. **तमेव** भगवन्तमन्तःस्थितं पुनः प्रकारान्तरेणा**क्षिरन्ध्रैरन्तः प्रवेश्य तापं जहुः**. पूर्वं शब्दात्मकः प्रविष्टः कर्णद्वारा, इदानीमक्षिद्वारा[1] रूपात्मकः प्रविशत्यतो**ऽथे**ति भिन्नप्रक्रमः. तेन तु सांसारिका एव तापाः परिहृता न त्वलौकिका, अनेन त्वलौकिकाः परिह्रियन्ते, तदाह **तापं जहुरिति**. ननु तापः सर्वाङ्गेषु प्रविष्टः कथमन्तःप्रवेशनमात्रेण शान्त इत्याशङ्क्याह **सुचिरं परिरभ्येति**, अन्तर्बहुकालमालिङ्गितवत्यस्ततः सर्वतापपरित्यागः. ननूपशान्ता एव तापा न तु नष्टा इति चेदित्याशङ्क्य तास्तत्रैव लीना इति वदन् स्वरूपतोऽपि तापनाशमाह दृष्टान्तेन **प्राज्ञं यथाभिमतय** इति. **प्राज्ञं** सुषुप्तिसाक्षिणं स्वात्मानमेव भगवद्रूपमहङ्कारवृत्तयः प्राप्य तत्रैव लीना भवन्त्येवमेता भगवत्येव सायुज्यं प्राप्तवत्यः. परं संस्कारशेषा अतः पुनर्बहिर्गमनमन्यथा सायुज्यमेव स्यात्, **प्राय**ग्रहणेन सर्वे भगवदीया गुणा न श्रुता [2]अन्यथा मोहयतीति ज्ञानेन मुग्धा भवेयुः. किञ्च[3] **श्रुत** एव, न दृष्टः कोप्यनुभावः. किञ्च **प्रियतम**त्वेनैव **श्रुतो** न तु साधनत्वेन. **उदय** इति कोमला एव भावाः **श्रुताः**. तेपि **कर्ण** एव प्रवाहत्वेन प्रविशन्ति न तु सर्वाङ्गे[4] दृष्टानन्तर्याभावादतो **मन** एव **निमग्नं** न तु देहादिः. इदानीमप्येता ज्ञाननिष्ठा अन्तरेव सत्कारं कृतवत्यः सायुज्यं च प्राप्तवत्यः. ज्ञानं हि तमोरूपं

टिप्पणी

प्रायःश्रुतेत्यत्र, **कर्णपूर**पदतात्पर्योक्तौ, **दृष्टानन्तर्याभावादिति**, दृष्टं दर्शनम्, तदानन्तर्याभावादित्यर्थः. यद्युक्तानां भावानां तदनुरूपस्वीयभावैः साक्षादनुभवानन्तरं श्रवणं स्यात्, तदा पूर्वानुभवसंवादेन सर्वाङ्गे तद्रसाविर्भावः स्यात्. अत्र तु तथात्वाभावान्न तथेति भावः ॥२२-२३॥

लेखः

प्रायःश्रुतेत्यत्र अलौकिका इति भगवद्विरहजा इत्यर्थः. **ननूपशान्ता एवे**ति. परिरम्भस्य भेदघटितत्वात् प्रियपरिरम्भे तद्विरहजतापशान्तिवदत्रापि स्यादित्यर्थः. अत्रैतत्परिरम्भेऽभिमतीनां प्राज्ञप्राप्तिदृष्टान्तः, तथा च भेदाघटितपरिरम्भात् तापनाश इति भावः. **प्रियतमत्वेनैवे**ति, तथा च कामभाव एव न तु भक्तिसाधनत्वज्ञानेन शुद्धभाव इत्यर्थः. **इदानीमपी**ति भक्तिनिष्ठायामपीत्यर्थः.

१. 'मप्यक्षि'. २. नान्यथा. ३. किं श्रुत. ४. सर्वाङ्गैः.

रजोरूपा भक्तिः सत्त्वरूपः सङ्ग इत्यतः सुषुप्तिदृष्टान्तः. तापनिवृत्तिः फलमन्यथा गततापा नेत्रपेयमेव भगवल्लावण्यामृतं पपुः. **नरेन्द्रे**ति सम्बोधनं ध्यानार्थममोहार्थं च ॥२२-२३॥

ततो भगवता यत् कर्तव्यं तदाह **तास्तथे**ति.

तास्तथा त्यक्तसर्वाशाः प्राप्ता आत्मदिदृक्षया ।
विज्ञायाखिलदृग्द्रष्टा प्राह प्रहसिताननः ॥२४॥

तथा पूर्वोक्तप्रकारेण **त्यक्ता** ऐहिकपारलौकिक**काशा** याभिः, **आत्मनः** स्वस्य **दिदृक्षया प्राप्ताः** केवलं भगवान् द्रष्टव्यः. मर्यादायां ह्येतावदेव, श्रुतो[1] हि भगवान् मनोनिदिध्यासितव्यश्च (मतो निदिध्यासितश्च) साक्षात्कर्तव्य इति. तत् त्वेतासां जातमतो रूपप्रकारविलक्षणं वचनमाह **विज्ञाये**ति. तासां स्वरूपं **विज्ञाय प्रहसिताननो** भूत्वा **प्राह**. दर्शनानन्तरभावव्यामोहार्थं हासः, प्रकर्षेण कथनमबाधितस्य. नन्वेवं कथनमयुक्तमिति चेत् तत्रा**हाखिलदृग्द्रष्टे**ति, **अखिलदृशां** सर्वबुद्धीनां **द्रष्टा** सधर्माणां धर्मिणां यत्र प्रवृत्तिः. केवलधर्मिणां[2] प्रवाहवत् सर्वत्र गच्छतां धर्मिणां बाधकसहितानां सधर्माणां पश्चादेवोत्पन्नबाधवतां[3] सर्वमिव[1] प्रवृत्तिं जानाति. अत एता[2] अन्तिमपक्षनिमग्ना इति तथोक्तवान् ॥२४॥

भगवतो वाक्यमाह **स्वागतमि**ति चतुर्भिः,

पूर्वानुवादस्तत्रैव उपपत्तिश्च तद्विधाम् ।
मर्यादायां प्रवेशश्च ततो गन्तव्यबोधनम् ॥(३)॥

स्वागतं वो महाभागा आस्यतां करवाम किम् ।
यन्नो दिदृक्षया प्राप्ता उपपन्नमिदं हि वः ॥२५॥

आदौ जातमनुवदति लौकिकन्यायेन– **वो** युष्माकं **स्वागतं** सुष्ठ्वागमनं जातमिति कुशलप्रश्नः. बाह्यं तु देयं किमपि नावशिष्यत इत्याह **महाभागा** इति. महत्त्वमान्तरमपि भाग्यं सूचयति, तेन सर्वसमृद्धिः साक्षात्कारश्च सिद्धो निरूपितः. समागतानां खेदाभावाया**हास्यता**मिति. उद्देश्यमर्थं पृच्छति **करवाम किमि**ति. अनेनासङ्ग्रहे सङ्ग्रहः कारणीयोऽन्ते च शुद्धा गतिः, तद् वक्ष्यति 'यज्ञपत्न्यस्तथापर' इति, वैष्णवैः सह सङ्गश्च. अतस्तेषां याज्ञिकानां ज्ञानं, ततः शुद्धानां समागमने सर्वथैव प्रपत्तिः स्यात्, तदा तद्द्वारा एता अप्यन्यथा भवेयुरतो यावद् युक्तं तावत् करिष्याम इत्याह. ननु नाधिकं किञ्चित् कर्तव्यं किन्तु द्रष्टुमेवागता इति चेत् तत्राह[3] **यन् नो**ऽस्माकं **दिदृक्षया** समागतास्त**दुपपन्नम्. व** इतिबहुवचनेन केवलो भावो निवारितः, अत आ**होपपन्नमिदं हि व** इति, सर्वसामग्रीसहितो भगवान् द्रष्टव्य इति ॥२५॥

ननु मर्यादायां ज्ञानमार्गे चैतद् भवत्यस्माकं तु प्रेमाधिकमस्तीति कथमेतावन्मात्रत्वं युक्तं तत्राह **नन्वद्धे**ति.

नन्वद्धा मयि कुर्वन्ति कुशलाः स्वार्थदर्शिनः ।
अहैतुक्यव्यवहितां भक्तिमात्मप्रिये यथा ॥२६॥

नन्विति कोमलसम्बोधने. स्नेहोऽपि मर्यादायामेव युक्तोऽत ए**वाद्धा** साक्षात्– न तु कामनार्थं भक्तिं **कुर्वन्ति**. **मयी**त्यनेनात्मता निरूपिता, एक-

---

लेखः

ज्ञानं हीति एतासामिति शेषः. मनोनिमज्जनं ज्ञानं, कामभाववत्त्वात् तमोरूपत्वं युक्तमिति **हि**शब्दः. अत एवाभिमतिदृष्टान्त इति भावः. सादरावलोकनं मुखविषयकत्वाद् भक्तिः, तत्र हाससम्बन्धाद् रजोरूपत्वम्. सुचिरं परिरम्भः सङ्गः, तस्य शान्तिरूपत्वात् सत्त्वरूपत्वम्. **अन्यथे**ति ज्ञानभक्तिसङ्गैरित्यर्थः. एतेनैतच्छ्लोकार्थ उपसंहृतः, महावाक्यार्थमाहुः **नेत्रे**ति. तथा च "ददृशुः स्त्रिय" इत्यत्रोक्तस्याभिसाराङ्गदर्शनस्य भगवच्चरित्रत्वकथनायेदं श्लोकद्वयमिति भावः. **नरेन्द्रे**ति. ध्याने नरस्य विशेषतोऽधिकारात् तच्छ्रेष्ठस्य च मोहाभावादित्यर्थः ॥२३॥

योजना

प्रायःश्रुतेत्यस्य व्याख्याने **ज्ञानं हि तमोरूपमि**ति, यज्ञपत्नीनां भगवज्ज्ञानं तमोरूपं, भगवति कामित्वेन बोधात्. **रजोरूपा भक्तिरि**ति, एतासां **भक्तिः रजोरूपा** राजसीत्यर्थः. **सत्त्वरूपः सङ्ग** इति, **सुचिरं परिरभ्ये**त्यनेनोक्तः परिरम्भरूपः **सङ्गः सत्त्वरूपः** सात्त्विक इत्यर्थः ॥२३॥

कारिकार्थः

स्वागतं वो महाभागा इत्यादिश्लोकचतुष्टयवाक्यार्थानाहुः **पूर्वानुवाद** इति. एकेन **पूर्वानुवादः**, द्वाभ्या**मुपपत्तिः**, "तद्यात साध्व्यो यजनमि"त्येकेन **गन्तव्यबोधनम्**. अतो विप्रपत्नीनां **मर्यादायां प्रवेशो** बोधितः (३).

---

१. श्रुतौ. २. धर्माणां. ३. बाधवतां च तां.

१. °मेव च तां. २. एव. ३. तत्राहुर्यन्.

वचनेनान्ये व्यावर्तिताः. **कुर्वन्ती**ति नेदमपूर्वं किन्तु परम्परयैव [1]तत् सिद्धं यतस्ते **कुशलाः**— सर्वाणि साधनान्यनेन प्रकारेणानायासेन सिद्धानि भवन्ति फलं च. किञ्च **स्वार्थकुशला**स्तेऽन्यत् सर्वमिन्द्रियादिगामि भवतीदमेव परमात्मगामीति यावत् न भगवति प्रेम तावत् नात्मनि, तत एव तत्रायातीति, यावत् नात्मनि स्नेहस्तावदन्यरागो न गच्छत्यतस्ते **स्वार्थदर्शिनः**. अत **ए**वा**हैतुकीमव्यवहितां** देहेन्द्रियादिभिर्व्यवधानमप्राप्तां **भक्तिं** प्रेमलक्षणां **यथात्मनि** प्रीतिविषये कुर्वन्ति

टिप्पणी

नन्वद्धा मयीत्यत्र, **यावन्न भगवति प्रेमे**त्यादि. अत्रायं भावः. भक्तिमार्गे स्वतन्त्रपुरुषार्थत्वं भगवत एवेति निरुपधिस्नेहस्तद्विषयक एव भवति. तदुपयोगित्वेन स्वात्मादेः परं तथात्वमिति वस्तुस्थितिः. अत एव "यर्ह्यम्बुजाक्ष न लभेय भवत्प्रसादं जह्यामसूनि"ति महिषीवचनं गीयते. [2]एवं **यथा** विषयिणामात्माध्यासप्रयुक्तस्नेहविषयत्वे(!)षु देहेन्द्रियादिषु स्वात्माज्ञानेऽपि परमस्नेहः, तथा भगवत्स्नेहरहितानामपि मुमुक्षूणां विषयवैराग्यमिति ज्ञेयम् ॥२६॥

लेखः

नन्वद्धेत्यस्य टिप्पण्यां **एवं सती**ति, भक्तिमार्गे भगवति स्नेहात् तदुपहिते आत्मनि स्नेहः तेनान्यरागाभावः सम्भवति, मुमुक्षोस्तु भगवति स्नेहाभावात् तदुपहिते आत्मनि कथं स्नेहः सेत्स्यति. तथा च वैराग्यमपि कथं सेत्स्यतीत्याशङ्क्य दृष्टान्तमाहुः **यथे**ति, यथा विषयिणामात्मनो अज्ञानेन तत्र स्नेहाभावेऽपि तदुपहिते देहादौ स्नेहः तथा मुमुक्षूणां भगवति स्नेहाभावेऽपि तदुपहिते आत्मनि स्नेहस्तेन विषयाणामात्मनाशकत्वात् तत्र वैराग्यं, विषयिणां देहोपघातके द्वेषवदित्यर्थः. तथा चोपहितज्ञानमेव स्नेहे हेतुस्तथापि मूलास्पर्शात् तद् वैराग्यं दृढं न भवतीत्याशयेन सुबोधिन्यां तथोक्तमत एव भरतस्य पुनर्विषया-

योजना

नन्वद्धा मयीत्यत्र **मयीत्यनेनात्मते**ति "अहमात्मात्मनां धातः प्रेष्ठः सन् प्रेयसामपि अतो मयि रतिं कुर्याद् देहादिर्यत्कृते प्रिय" इति तृतीयस्कन्धे ब्रह्माणं प्रति भगवद्वाक्यात्. **यावत् न भगवति प्रेमे**त्यादीनामर्थष्टिप्पण्यां स्फुटः ॥२६॥

१. वैतत्. २. एवं सति यथा मू. पा.

तथैव कुर्वन्ति. ज्ञानिनामात्मा दृष्टान्तस्ततोऽग्रिमकक्षाभावात् लोकेऽपि स्वस्य प्रीतिविषये भर्त्रादौ, लोके [1]हि पदार्थो ज्ञानार्थं सिद्ध इति ॥२६॥

एतदुपपादयति **प्राणे**ति.

प्राणबुद्धिमनःस्वात्मदारापत्यधनादयः ।
यत्सम्पर्कात् प्रिया आसंस्ततः को न्वपरः प्रियः ॥२७॥

प्राणादयः सर्व आत्मसम्बन्धात् प्रिया, आत्मापि परमात्मसम्बन्धात्. परमानन्दो ह्यात्मरूपः प्रियो, न केवलमात्मनः प्रियत्वं नाप्यानन्दस्य, परानन्दे दुःखितजीवे[2] च[3] व्यभिचारादतः प्राणादिषु स्नेह औपाधिकः, सहजो मयि. अतः को वापरः प्रियो भवेत्! **प्राणा** इन्द्रियाणि प्राणाश्च **बुद्धि**र्मनोनियामिका **मनश्च स्वं** शरीरं धनादिकं **वात्मा** देह आत्मैव वा **दाराः** स्त्रियोऽ**पत्यानि** पुत्रा **धनं** पश्वा**दयो** यावत्किञ्चिद् आत्मसम्बन्धि. **यस्यात्म**नो मम सम्बन्धात् **प्रिया आसंस्ततो** मत्तो, **न्वि**ति वितर्के, **को** वा **प्रियः** स्यात्! **अपरश्च**, नियम्यस्त्वप्रियो भवति ॥२७॥

अतः कार्यस्य सिद्धत्वाद् गृहं यातेत्याह **तद् याते**ति.

तद्[4] यात देवयजनं पतयो वो द्विजातयः ।
स्वसत्रं पारयिष्यन्ति युष्माभिर्गृहमेधिनः ॥२८॥

यद्यप्यहमात्मा तथापि बहीरमणे बुद्धिरन्यथा भविष्यतीति न तत् कर्तव्यम्. यतो भवत्यः साध्व्यः पतिव्रताः संस्कारैश्च संस्कृता अतो **देवयजनं यात.** किञ्च **वो** युष्माकं **पतयो द्विजातयो** ब्राह्मणजातीया अतः संस्कारनाशे यज्ञो न सिध्येदतस्ते **स्वसत्रं युष्माभिः** कृत्वा **पारयिष्यन्ति** पारं नेष्यन्ति. यतो **गृहमेधिनो** गृहस्था भार्यासहिता एव कर्माधिकारिणस्तस्मात् कार्यस्य सिद्धत्वात् स्वरक्षासम्भवात्

लेखः

सक्तिरिति भावः. सुबोधिन्यां **भर्त्रादावि**ति, आत्मा दृष्टान्त इति शेषः. **ज्ञानार्थमि**ति दृष्टान्तेनालौकिकज्ञानार्थमित्यर्थः. अत एव "न वा अरे पत्युः कामाये"त्यादिना पत्यादिदृष्टान्तेनात्मा बोधित, इति **लोके हीति हिशब्दः** ॥२६॥

अपरश्चेति, परो नियामकः न परो नियम्य इत्यर्थः, अन्यस्त्वेतादृशः, अतोऽ**प्रियो भवतीत्यर्थः** ॥२७॥

१. लोकेपि. २. जीवेपि. ३. लुप्तम्. ४. प्रयात साध्व्यो यजनम् इति विजयध्वजपाठः.

परोपकारात् तेषां च जातियज्ञगार्हस्थ्यसम्पादकत्वाद्[1] गन्तव्यमित्यर्थः ॥२८॥

पत्न्यस्तु सर्वपरित्यागेन समागताः कृतसाक्षात्काराः पुनः पूर्वावस्था प्राप्तुमयुक्तेति सञ्चिन्त्य गमनाभावं प्रार्थयन्ति **मैवमिति**.

॥ पत्न्य ऊचुः ॥

मैवं विभोऽर्हति भवान् गदितुं नृशंसं सत्यं कुरुष्व निगमं तव पादमूलम् ।
प्राप्ता वयं तुलसिदाम पदावसृष्टं केशैर्निवोढुमतिलङ्घ्य समस्तबन्धून् ॥२९॥

गृहगमनं त्वनुचितमेव कर्तव्यं च, तथापीश्वरवाक्यात् कर्तव्यं चेत् तदा कर्तव्यतायां वान्ताशित्वेन महद् भयमाशङ्क्य विज्ञापयन्ति— **विभो** हे समर्थ सर्वप्रकारेणापि सर्वं कर्तुं सम**र्थैवं**(र्थ **एवं**!) **गदितुं भवान् नार्हति.** अनर्हे हेतुमाह **नृशंसमिति**, इदं हि क्रूरं वाक्यं स्वरूपतः फलतोऽर्थतश्च. आदौ पुष्टिमार्गप्रवर्तनार्थं भगवानवतीर्णः कथं मर्यादां स्थापयति? नापीयं मर्यादा, त्यागानन्तरं पुनर्ग्रहणविधानात्. यद्यपि स्त्रीणां त्यागो नोक्तस्तथापि त्वय्यवतीर्ण उचितः, स्त्रीणामर्थ एवानन्दस्य प्रकटितत्वादतोऽन्यदा फलरूपानन्दाभावाद् भोग्यत्वेन तासामन्यगामित्वावश्यकत्वात् त्यागोऽनुचितो भवतु नाम, प्रकृते तु तद्वैपरीत्यात् तस्यैव भोगपर्यवसानादुचित एव त्यागस्तथा सति पुनः परिग्रहः क्रूरो भवति. किञ्च दयाभावाच्च, संसारदवानलात् निर्गतं पुनस्तत्र प्रवेशयतीति. अथ यदि तेनैव प्रकारेण पुरुषार्थसिद्धिस्तथापि न प्रेषणीया यतस्त्वं सर्वसमर्थः अत्रैव तथाप्रकारं सम्पादय-- स्वयं तद्रूपो भूत्वा क्वचित् तिष्ठास्मान् वान्यथा प्रदर्शयात्मनि वा प्रवेशय वृक्षादिभावं वा प्रापयादृश्यान् वा कुरु. एवं सर्वोपायेषु विद्यमानेषु स एव कुतः क्रियते ?

लेखः

मैवं विभोर्हतीत्यत्र आदाविति प्रकारत्रये आदौ स्वरूपतः क्रूरत्वे इत्यर्थः. फलत आहुः **नापीयमिति**, विरुद्धविधानात् फलतः क्रूरत्वमित्यर्थः. **अत** इति अवतीर्णे सत्युचितत्वादित्यर्थः, अन्यदा फलरूपानन्दाभावेऽयं हेतुः. **उचित एवेति** फलानुभावकत्वादिति भावः. अर्थतः क्रूरत्वमाहुः **किञ्च दयेति**, दयाभावबोधकत्वादित्यर्थः. दयाभावं विवृण्वन्ति **संसारेति**. **तद्रूप** इति पतिरूप इत्यर्थः. **अन्यथेति**, गोपिकादिरूपा अस्मानन्येभ्यः प्रदर्शयेत्यर्थः. मूलपदार्थमाहुः **प्रेमेति**, प्रेमप्राप्ता

१. 'सम्भावक'.

सिद्धत्वादिति चेत् तत्राहुः **सत्यं कुरुष्व निगममिति, निगमो** वेदस्त्यागे न पुनर्ग्रहणमिति— "तस्मात् न्यासमेषां तपसामतिरिक्तमाहुः" "न च पुनरावर्तते न च पुनरावर्तत" इति, "मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यत". एवमनेकविधो निगमोऽसत्यो भवेद् यदि त्यागानन्तरं त्वयैव चेद् ग्राहितः स्यादतः स्वनिगमं सत्यं कुरुष्व. ननु "मामुपेत्ये"ति वाक्याद् न भवतीनां परावृत्तौ दोषो, भिन्नतया तिष्ठन्तीति चेत् तत्राहुस्**तव पादमूलं प्राप्ता वयमिति**, प्राणिनस्त्वेतावद्दूरे स्वप्रयत्नो— यत् तव चरणयो**र्मूलं**, प्रेम रजश्छाया [1]चित्ते [2]तदवलम्बिनि स्थितिर्वाधोभाग इति सेवानिवेशो वा. एवं कृते शिष्टं त्वयैव कर्तव्यं न त्वधः पातनीयम्. ननु स्त्रियो भवत्यः कामयुक्तास्तथा सत्यनुचितं लोकशास्त्रावतारविरुद्धं कथं कुर्यामितो व्याघुट्य गमनमेवोचितमिति चेत् तत्राहुस्**तुलसिदाम पदावसृष्टं केशैर्निवोढुमिति.** न वयमनुचितकर्माभिलाषिण्यः किन्तु सम्पूर्णं दिनं सेवां विधाय स्वामिनो निद्रासमये निद्रिते वा पादसंवाहने क्रियमाणे पादयोः समर्पितं **तुलसीदाम** प्रसादत्वेन त्वया दत्तमस्पर्शे वा दूरादुत्सृष्टं परमपुरुषार्थत्वेन प्राप्य महाप्रसादरूपं **केशैः** केशसम्बन्धिभिर्वेण्यापीडादिभि**र्नि**तरां **वोढुं तव पादमूलं प्राप्ता** इति सम्बन्धः. नन्वेतावदेव चेत् तत्रैव तुलसिदाम प्रेषयिष्यामि तत्राहु**रतिलङ्घ्य समस्तबन्धूनिति**, सर्वे बान्धवाः पतिपुत्रादयस्त्यक्ता अतस्तद्विरोधादपि न तत्र स्थितिः सम्भवति ॥२९॥

किञ्च तेषामुपकारार्थं गन्तव्यमिति यदुक्तं तदपि न सम्भवतीत्याहु**र्गृह्णन्ती**ति.

लेखः

इत्यर्थः. **रजः** रजोधारितवत्य इत्यर्थः. **छाया** छायामाश्रित्य तदनुगा इत्यर्थः. त्रयमुक्तम्, मूलप्राप्तिं प्रकारान्तरेण व्याकुर्वन्ति **चित्ते** इति, **चरणावलम्बिनि चित्ते स्थितिस्तन्निष्ठतेत्यर्थः. अध** इति चरणाधोभागे स्थितिं **स्वामिनो निद्रासमय** इत्यादिना विवरिष्यन्ति. **पादयोः समर्पितमिति**, चरणाभरणस्थले पुष्पाभरणवत् बद्धमित्यर्थः. मुक्तेषु केशेषु तुलसिदामस्थापनं न सम्भवतीत्याशयेन **केशपदस्यार्थमाहुः केशसम्बन्धिभिरिति. न तत्र स्थितिरिति**, तदा तुलसिदामप्रेषणे कुत्रेति भावः ॥२९॥

१. वित्ते. २. 'दवि'.

गृह्णन्ति नो न पतयः पितरौ सुता वा
न भ्रातृबन्धुसुहृदः कुत एव चान्ये ।
तस्माद् भवत्प्रपदयोः पतितात्मनां नो
नान्या भवेद् गतिररिन्दम तद् विधेहि ॥३०॥

ते परिग्रहमेव न करिष्यन्ति, तद्वाक्योल्लङ्घनेनागतत्वाद्. भर्तुरग्रहणे पितृगृहे स्थातव्यमित्यपि पक्षो निराक्रियते **पितराविति**. **सुता वा** भिन्नतयान्नं दास्यन्तीति, बान्धवा [1]वा स्वमध्ये स्थापयिष्यन्तीति, **सुहृदो** मित्राणि वोपकरिष्यन्तीति. प्रत्यक्षं बन्धुसाहसस्य कृतत्वादन्ये सुतरामेव न ग्रहीष्यन्ति. अथ यदि जातिपरित्यागेन यत्र कचित् स्थातव्यं तर्ह्यत्रैव स्थातव्यम्. अत्र स्थितानां स्वर्गो न भविष्यतीति चेत् मास्त्वित्याहु**र्भवत्प्रपदयोः पतितात्मनां नान्या गतिर्भवेदि**ति[2]. पादाग्रे पतितानां पादगतिरेव गतिः, यथोपानहः प्रपदपतितवस्त्राणां वा. तथास्माकम**न्या** स्वर्गादिगतिर्मा भवतु भर्तृभिः सहितातः पादगतिमेव **विधेहि**. दास्यो भूत्वा त्वत्सङ्गे सर्वत्र पर्यटनम्. भर्त्रादिभयं तु तव नास्त्येव, तदाहुर्हे **अरिन्दम** शत्रुनाशक, **तद्** गमनमेव **विधेह्या**ज्ञापय ॥३०॥

एवम्प्रार्थनायां बाधकादेवं वदन्तीति सद्यः सञ्जातबाधकं प्रति समाधत्ते **पतय** इति.

॥ श्रीभगवानुवाच ॥

पतयो नाभ्यसूयेरन् पितृभ्रातृसुतादयः ।
लोकाश्च वो मयोपेता देवा अप्यनुमन्वते ॥३१॥

त्यागाग्रहणसम्भावनैव नास्त्यभ्यसूयामपि न करिष्यन्ति, पित्रादयोऽपि

लेखः

गृह्णन्तीत्यत्र सर्वत्र पर्यटनमिति कुर्वन्त्यो भवामेति शेषः ॥३०॥

पतय इत्यत्र **त्यागे**ति. नास्त्येवेत्ययोगव्यवच्छेदक **एव**कारः ॥३१॥

योजना

गृह्णन्ति नो न पतय इत्यत्र **गमनमेव विधेही**ति, भगवद्गमनेऽस्माभिरपि तत्रैव भगवत्सङ्गे गन्तव्यमिति भावः ॥३०॥

पतयो नाभ्यसूयेरन्निति **त्यागाग्रहणसम्भावनैव नास्ती**ति, भवतीनां

---

१. लुप्तम्. २. भवेत्.

पूर्वपूर्वोपाधिरहिताः. न हि पितुः कामोस्ति न हि भ्रातुर्लोभोस्ति. किञ्च **लोकाः** सर्व एव न दोषारोपं करिष्यन्ति. तत्र हेतु**र्मयोपेता भवतीर्देवा अप्यनुमन्वते** सन्माननं करिष्यन्ति. अशास्त्रे(स्त्र!)युक्ते हि सर्वेषामसम्मतिर्नत्वात्मनि कस्याप्यसम्मतिः, अन्यथा स्वस्पर्शे स्वार्थगमनेपि त्यागः स्यात् ॥३१॥

नन्वेवं सति लोकवेदविरोधाभावात् सङ्गोऽप्यस्त्विति चेत् तत्राह **न प्रीतय** इति.

न प्रीतयेऽनुरागाय ह्यङ्गसङ्गो नृणामिह ।
तन् मनो मयि युञ्जाना अचिरान् मामवाप्स्यथ ॥३२॥

इहास्मिन्नवसरे**ऽङ्गसङ्गो नृणां प्रीतये न** भवति. अङ्गेन सङ्ग आत्मनैव सङ्ग

टिप्पणी

पतयो नाभ्यसूयेरन्नित्यत्र, **पित्रादयोपि पूर्वपूर्वोपाधी**त्यादि. पतिपितृभ्रातृसुतादीनां मध्ये पूर्वस्यैतन्निषेधप्रयोजको यो धर्मः स उत्तरे नास्तीत्यर्थः. एतदेव विवृतं **नही**त्यादिना. पितुस्तत्सुतदत्तपिण्डे लोभादेतन्निषेधः सम्भवति, स न भ्रातरि. भ्रातुः स्वसृसौभाग्येच्छा भवति तथा, सुते तु न सा, अस्य मातुर्निर्दोषत्वमपेक्ष्यम्, अन्येषां तदपि नेत्यर्थः. यद्यप्यन्यधर्माभावोऽनसूयायां न हेतुः, तथापि स्वनिष्ठतादृग्धर्माणामप्यधुना नाशात् तदुपलक्षकोऽयं ग्रन्थ इति ज्ञेयम्. एवं सत्यागमनसमये प्रतिबन्धकृतिहेतुभूतपत्यादिनिष्ठधर्मा एव **पूर्वपूर्वोपाधि**शब्देनोच्यन्त इत्यपि ज्ञेयम् ॥३१॥

लेखः

न प्रीतय इत्यत्र **बाधितत्वादि**ति, भगवत्यङ्गाङ्गिभावाभावादित्यर्थः ॥३२॥

योजना

पतयो**ऽभ्यसूयामपि न करिष्यन्ती**त्युक्तौ **त्यागस्य अग्रहणस्य** च **सम्भावनैव नास्ती**त्यर्थः. त्यागश्च अग्रहणं च त्यागाग्रहणे, त्यागाग्रहणयोः सम्भावना त्यागाग्रहणसम्भावनेति समासः. त्यागो नाम पुनरस्वीकारः, अग्रहणं तात्कालिकोऽस्वीकारः. **पूर्वपूर्वोपाधिरहिता** इत्यस्यार्थष्टिप्पण्यामुक्तः ॥३१॥

न प्रीतयेनुरागायेत्यत्र अङ्गयोरिति न वक्तव्यमिति. यज्ञपत्नीनामङ्गवत्त्वेपि भगवतोऽङ्गवत्त्वाभावात् सिद्धान्ते भगवदङ्गस्य भगवदभेदाङ्गीकारात् "केवलानुभवानन्दस्वरूपः सर्वबुद्धिदृगि"ति वसुदेवस्तुतौ उक्तत्वात् ॥३२॥

उचितो मनसा वा न त्वङ्गेनाङ्गयोरिति न वक्तव्यं, बाधितत्वादतो लोकविरुद्धत्वान्न कर्तव्यम्. किञ्चैतद्धि भक्त्यर्थं कर्तव्यं, यथाधिकः स्नेहो भवतीति, तदपि न भविष्यतीत्याह**ानुरागायेति**, भवतीनामप्येत**दनुरागाय न** भविष्यति **नृणाम**प्येतज्ज्ञाने. किञ्च सङ्गः परं प्रतिबन्धकः सायुज्येऽतो **मय्येव मनो युञ्जाना अचिरा**च्छीघ्रमेव **मामवाप्स्यथ.** अनेनान्या गतिरपि निवारिता. ऋजुमार्गेण सिध्यतोऽर्थस्य वक्रेण साधनमयुक्तमित्येवमुक्तम् ॥३२॥

भगवतोनुल्लङ्घ्यवाक्यं तथैव कृतवत्य इत्याह**ेत्युक्ता** इति.

इत्युक्ता द्विजपत्न्यस्ता यज्ञवाटं पुनर्गताः ।
ते चानसूयवस्ताभिः स्त्रीभिः सत्रमपारयन् ॥३३॥

अयं यज्ञः प्राथमिक इति सर्वत्र द्विजग्रहणमत एवाग्रे जन्मत्रयं वक्ष्यन्ति. समाप्तिपर्यन्तं तु द्विजत्वमेव. ननु दीक्षितविमितादन्यत्रगमने यज्ञनाशश्रवणात् कथं प्रवासो? "गर्भो वा एष यद् दीक्षितो योनिर्दीक्षितविमितं यद् दीक्षितो दीक्षितविमितात् प्रवसेद् यथा योनेर्गर्भः स्कन्दति तादृगेव[१] तद् यानि दीक्षितव्रतानि तानि पत्न्या" इतिश्रुतेः कथं यज्ञपूर्तिरिति चेत् सत्यं, मुख्या न गता नापि तेषामपि स्वर्गप्राप्तिः किन्तु पदप्राप्तिरेव, अग्रे तेषामपि भक्तत्वेन निरूपणात्, संस्कारा एते फलोपकारिणो न तु यज्ञोपकारिणः, "विवदमान आर्त्विज्यं बलीय" इतिन्यायेनापि न तासां मुख्यत्वम्. कर्मसमयेऽपि ता आगता एवेत्याह **यज्ञवाटं पुनर्गता** इति. भगवदुक्तं तथैव जातमित्याह **ते चे**ति, **अनसूयव** एव **ताभिरे**व पत्नीभिः स्व**सत्रमपारयन्** समाप्तं कृतवन्तः ॥३३॥

मुख्या न गतेत्याह **तत्रैके**ति.

तत्रैका विधृता भर्त्रा भगवन्तं यथाश्रुतम् ।
हृदोपगुह्य विजहौ देहं कर्मानुबन्धनम् ॥३४॥

तासु मध्य **एका धृता स्वभर्त्रा** यजमानेन. ततोऽनर्थ एव जात इत्याह **यथा-**

लेखः

सत्रमपारयन्नित्यत्र. एकस्याः मरणेऽपि सत्रे यजमानस्यापि मरणे तत्प्रतिनिधिः षष्ठस्य तृतीये व्यवस्थापित इति प्रतिनिधिस्थापनेन सत्रपूरणमिति भावः ॥३३॥

---

१. 'शे'.

श्रुतं भगवन्तं हृदोपगुह्य देहं विजहाविति. त्यागे हेतुः **कर्मानुबन्धनमि**ति, कर्मानुबन्धनं यस्माद्, अपकारित्वात् त्याग. आत्मनोऽधिकारार्थमेतत्परिग्रह, उपकारस्त्वेतावानेव. स चान्यथैव सिद्धो— भगवानेवोपगूढ इति भगवदालिङ्गिताया न स्थानान्तरं मृग्यते तच्छक्तीनामिव. यदैव पुनः कर्मसम्बन्ध आत्मनस्तदैव तेन बध्यत इति कर्मार्थि तत्र न गन्तव्यमवसरस्तु कर्मण इति तस्मात् त्याग एव श्रेष्ठो, यज्ञ इदानीं समारूढ इति. कर्माधीनत्वाभावात् न कर्मभोगो वक्तव्यो, गोपिकाना-

---

लेखः

तत्रैकेत्यत्र **स्थानान्तरमि**ति देहान्तरमित्यर्थः. **देवतारूपाया** इति,

योजना

तत्रैका विधृतेत्यत्र **अपकारित्वात् त्याग** इति, देहस्य पतिनिरोध्यत्वेन भगवत्सम्बन्धे प्रतिबन्धकत्वादपकारित्वमवगत्य त्यागः कृत इत्यर्थः. **आत्मनः अधिकारार्थम् एतत्परिग्रह** इति. भगवदीयानां देहपरिग्रह **आत्मनो** जीवस्य भगवत्सेवाधिकारार्थं; न हि देहरहितेन केवलजीवेन हरिसेवा कर्तुं शक्यते अतो देहपरिग्रह इत्यर्थः. **उपकारस्त्वेतावानेवे**ति, जीवे देहकृत उपकारस्तु भगवत्सेवारूपः. स उपकारः शरीरेण चेत् सिध्येत् तदा देहः समीचीनो, यदि न सिध्येत् तदा तु देहः सर्वदोषनिधिः परमापकारकर्तेति. तदेवाहुः **एतावानेवे**ति. **स चान्यथैव सिद्ध** इति, अन्येन प्रकारेण मानसिकालिङ्गनेनैव सिद्धः, "हृदोपगुह्य विजहौ" इति-वाक्यात्. तदेवाहुः **भगवानेवोपगूढ** इति. **स्थानान्तरमि**ति, भगवन्निकटस्थानेतर-स्थानं भगवदालिङ्गिताया न भवितुमर्हति. यावद् देहस्तावत् पत्या सह कर्मसम्बन्ध आवश्यकः, कर्मणि कृते पुनर्बन्धसम्भावना, अतो देहत्याग एव श्रेष्ठ इति तं कृतवतीत्यर्थः. **यज्ञ इदानीं समारूढ** इत्यारभ्य **वक्तव्य** इत्यन्तम्. यज्ञे जायमाने मध्ये भगवतौदनयाचनाद् यजमानैरदत्ते यज्ञपत्नीभिः सर्वां सामग्रीं विधाय भगवन्निकटगमनाय प्रस्थिते भर्त्रा निरुद्धैका देहं जहौ. अतो यज्ञात्मककर्मणोऽसिद्धत्वादसिद्धस्य नियामकत्वाभावात् न कर्माधीनता, अतो न भोगो वक्तव्यः. तत्र विलक्षणो दृष्टान्तः **गोपिकानामिव,** फलप्रकरणे वक्ष्यमाणानामन्तर्गृहगतगोपिकानां यथा भगवद्विरहजन्यदुःखानुभवेन पापक्षयो भगवदालिङ्गनजन्यपरमसुखानुभवेन पुण्यक्षयो निरूपितस्तथैतस्या न निरूपित इत्यर्थः. **देवतारूपायाः पत्न्या** इत्यादि. "यज्ञो वै यजमान" इतिश्रुतेराधिदैविकयज्ञस्याधिष्ठानं यजमानस्तथाधिदैविक-

मिव. देवतारूपायाः पत्न्या अधिष्ठानात् कालकर्मस्वभावा निवृत्ता, भगवानालिङ्गित इति, भगवानपि. अतस्तस्या मुक्तिः सिद्धा ॥३४॥

तस्यामन्तःसमागतायां तां बालकांश्च भोजितवानित्याह **भगवानपी**ति.

भगवानपि गोविन्दस्तेनैवान्नेन गोपकान् ।
चतुर्विधेनाशयित्वा स्वयं च बुभुजे प्रभुः ॥३५॥

यद्यप्यन्यथापि सर्वसामर्थ्यमस्ति, आज्ञयापि क्षुत् निवर्तयितुं शक्या, त**थापि** गवां सर्वस्य धर्मस्यापीन्द्र इति धर्मरक्षार्थं भक्तिरक्षार्थं स्ववाक्यरक्षार्थं च **तेनैवान्नेन** भक्ष्यादि**चतुर्विधेन** सम्पूर्णरसात्मकेन **गोपकानाशयित्वा** भोजयित्वा **स्वयं च बुभुजे, च**काराद् बलभद्रोऽपि. स्वस्य भोजनं पूर्ववत्. इदानीं पत्न्या भुक्तमतो 'व'इतिवचनं न विरुध्यते. नन्वेतदपूर्वं कथं कृतवान् ? तदाह[1] **प्रभुरि**ति ॥३५॥

वैदिके ज्ञानकर्मणी निरूप्योपसंहरत्**येवमि**ति.

एवं लीलानरवपुर्नृलोकमनुशीलयन् ।
रेमे गोगोपगोपीनां रमयन् रूपवाक्कृतैः ॥३६॥

लेखः

दिवुधातोः क्रीडार्थत्वादन्तर्भगवदालिङ्गिताया इत्यर्थः. **भगवानपीति** अन्तर्यामिरूपोऽपि निवृत्त इति शेषः. अत कृष्णे **मुक्तिः सिद्धे**ति भावः ॥३४॥

भगवानपीत्यत्र धर्मेति, प्राप्तज्ञानानां भिक्षयैव निर्वाह इति धर्मरक्षार्थमित्यर्थः. **भक्ती**ति, भक्तायाः प्रसादार्थमित्यर्थः. **स्ववाक्ये**ति, आज्ञया क्षुन्निवारणे प्रेषणवाक्यमयथार्थं स्यादित्यर्थः ॥३५॥

योजना

यज्ञपत्न्या अधिष्ठानं यजमानपत्नी. अतो **देवतारूपाया** आधिदैविकयज्ञ**पत्न्या अधिष्ठानं** यजमानपत्नीदेहस्तस्मात् **कालकर्मस्वभावा निवृत्ता** इत्यर्थः. तत्र हेतु**र्भगवानालिङ्गित इती**ति. यज्ञात्मककर्मण असिद्धत्वात् तत्कृतप्रतिबन्धाभावं निरूप्य कालकर्मस्वभावानां निवृत्तिमुक्त्वा भक्तिमार्गीयत्वादन्तर्यामिणि लयासम्भवादन्तर्यामी भगवानपि निवृत्त इत्याहुः **भगवानपीति. निवृत्त**स्तिरोभूत इति यावत्. अतः सा परमभक्ता पुरुषोत्तमे मुक्तिं प्राप्तेति सिद्धम् ॥३४॥

१. तत्राह.

लीलार्थमेव नरवपुर्नृलोकं सर्वमेव लौकिकं वैदिक**मनुशीलयन्** [1]स्वधर्मैर्योजयन्नुभयविधानपि भगवच्छास्त्रानुसारिणः कुर्वन् **गोगोपगोपीनां** मध्ये **रेमे,** सम्बन्धी वा भूत्वा. द्वितीयार्थे वा षष्ठी; ता **रमयन्** स्वयमपि **रेमे. रूपेण** गा **वचनेन** गोपान् **कृतै**र्गोपीः, सर्वत्र सर्वं वा. सच्चिदानन्दास्त्रयो निरूपिता रमणकरणरूपाः, स्वस्य रमणे त्रयोऽपि सम्बन्धिनः ॥३६॥

एवं ज्ञानकर्मणी द्विविधे निरूप्य तयोः फलं भक्तिं निरूपयत्**यथे**ति. एका हि भगवतः कृतिरनेककार्यसाधिका— तेषां द्विजानां प्रबोधनं [2]बालकशिक्षार्थं पत्न्या मुक्त्यर्थं तेषां प्रबोधार्थं[3] मर्यादास्थापनाद्यर्थं चातो वाक्येन प्रबोधितानां द्विजानां वाक्यान्याह भक्तिबोधकानि.

पश्चात्तापो विगर्हा च हेतुस्तस्य च[4] रूप्यते ।

टिप्पणी

अथानुस्मृत्येत्यस्याभासे, **एवं ज्ञानकर्मणी द्विविधे** इति. विप्रतत्पत्न्योर्मर्यादापुष्टिभेदेन द्विविधे ते निरूप्ये इत्यर्थः.

लेखः

अथेत्यत्र **प्रबोधनमि**ति वाक्यैः प्रबोधनरूपाकृतिरित्यर्थः. कारिकासु **तस्य**

योजना

रमयन् रूपवाक्कृतैरित्यस्य विवृतौ **सच्चिदानन्दास्त्रयो निरूपिता** इति, **त्रयः** पदार्थाः रूपवाक्कृतरूपाः **सच्चिदानन्दा** इत्यर्थः; त्रयोऽपि प्रत्येकं सच्चिदानन्दरूपा न तु रूपादिष्वेकैकमिति ज्ञेयम् ॥३६॥

अथानुस्मृत्येत्यादीनामर्थनिरूपिकासु कारिकासु **पश्चात्तापो विगर्हा चे**त्यादि. "अथानुस्मृत्ये"तिश्लोके **पश्चात्तापः**, "दृष्ट्वा स्त्रीणामि"त्यस्मिन् **विगर्हा, तस्य** विगर्हणस्य **हेतु**"र्धिग्जन्म न" इत्यस्मिन्, **तथात्वे** भगवद्वैमुख्ये माया **हेतुरि**ति

कारिकार्थः

अथानुस्मृत्य विप्रास्ते इत्यादीनामध्यायसमाप्तिपर्यन्तानां चतुर्दशानां श्लोकानां वाक्यार्थानाहुः **पश्चात्ताप** इत्यादिभिश्चतुर्भिः. **पश्चात्ताप** इत्यादि "अथानुस्मृत्य विप्रास्ते" इत्येकेन **पश्चात्तापः,** "दृष्ट्वा स्त्रीणां भगवती"त्यनेन स्वनिन्दा, "धिग् जन्मे"त्यनेन **तस्य** विगर्हणस्य **हेतुः,** "नूनं भगवतो माये"त्यनेन

१. °धर्मे योज°. २. बाल°. ३. °धनार्थं. ४. निरूप्यते.

तथात्वे चापि हेतुर्हि स्वहीनत्वं च कर्मभिः ॥(४)॥
संस्काराणामहेतुत्वं भक्तेरन्यच्च साधनम् ।
स्वभक्तेर्बोधनं[1] हेतुरन्यथा नोपपद्यते ॥(५)॥

योजना

"नूनं भगवत" इत्यस्मिन् उक्तम्. "अहो पश्यत नारीणामि"त्यनेन तासामुत्कर्षो भक्त्या बोधित इति **स्वस्य** भक्त्यभावात् **हीनत्वं कर्मभिरि**त्युक्तम् (४). "नासां द्विजातिसंस्कार" इत्यादिना संस्काराणां व्यतिरेकव्यभिचारदर्शनात् संस्काराणां भक्तिं प्रति न कारणतेति तदेवाहुः **संस्काराणामहेतुत्वमि**ति, भक्तिं प्रत्यहेतुत्वमित्यर्थः. "अथापि ह्युत्तमश्लोके" इत्यनेन **भक्तेः साधनम् अन्यत्** संस्कारादितरदित्यर्थः. तदाहुः **भक्तेरन्यच्च साधनमि**ति, संस्कारादिभ्योऽन्यद् भगवदनुग्रहरूपमित्यर्थः. मूले संस्कारादिमतामप्यस्माकं न भक्तिरित्युक्त्वान्वयव्यभिचारो दर्शितः, अतोऽन्वयव्यतिरेकोभयव्यभिचारदर्शनान्न संस्कारादीनां भक्तिकारणत्वमिति सिद्धम्. **स्वभक्तेर्बोधनं हेतुरि**ति– **स्वभक्तेर्बोधनं** भगवत्कर्तृकयाचने **हेतुरि**त्यर्थः. यजमानानां भगवद्विषया या भक्तिस्तस्या उद्बोधनमेव याञ्चाप्रयोजनमिति भावः. **अन्यथा नोपपद्यत** इति, यदि भक्तेरुद्बोधनं न कर्तव्यं स्यात् तदा भगवान् न याचेत. तदुक्तम् "अन्यथा

कारिकार्थः

तथात्वे वैमुख्ये मायामोहरूपो **हेतुः. स्वहीनत्वं च कर्मभिरिति, स्व**शब्दो विप्रपरः, तथा च भगवद्वैमुख्येन कर्मणामाधिदैविकत्वासम्पत्त्या कर्मरहितत्वमेव विप्राणामित्यर्थः. एतदपि "नूनं भगवतो माये"त्यस्मिन्नेव श्लोके बोधितम्. तदुक्तमेतच्छ्लोकव्याख्याने सुबोधिन्यां "द्विजा इतिसम्बोधनमस्य यज्ञस्याधिदैविकवैमुख्येन असम्पन्नत्वादि"ति. "अहो पश्यत नारीणामि"तिश्लोकस्तु प्रक्षिप्तः, सुबोधिन्यां व्याख्यानाभावात् (४). **संस्काराणामहेतुत्वमि**ति, "नासां द्विजातिसंस्कार" इति "तथापि ह्युत्तमश्लोक" इतिश्लोकद्वयेन संस्काराणां भक्तिहेतुत्वं नास्ति किन्तु **भक्तेः** संस्कारेभ्योऽन्यदनुग्रह एव **साधनमि**त्युक्तम्. **स्वभक्तेर्बोधनमि**ति, "ननु स्वार्थविमूढानामि"तिश्लोके **स्वभक्ते**र्विप्राणां भक्ते**र्बोधनमुद्**बोधनं भगवतो याचने **हेतुरि**त्युक्तम्. "अन्यथा पूर्णकामस्ये"तिश्लोकार्थमाहु**रन्यथेति, अन्यथा** विप्राणां

---

१. °र्बोधने.

तथात्वसाधनं तस्य कर्मवैयर्थ्यबोधनम् ।
द्वाभ्यां रूपद्वयोक्त्यैव स्त्रीसम्बन्धात् कृतार्थता ॥(६)॥

लेखः

चेति विगर्हणस्येत्यर्थः. **तथात्वे** इति वैमुख्ये इत्यर्थः. **स्वभक्तेरि**ति– **स्वस्य** विप्राणां **भक्तेर्बोधनमुद्**बोधो भगवतो याचने **हेतुरि**त्यर्थः. **तथात्वे**ति, **तस्य** भगवतो याचनार्हत्वं **साधनमि**त्यर्थः. **कर्मे**ति **द्वाभ्यां** श्लोकाभ्यां देशादिभिः कर्मस्वरूपं भगवत्स्वरूपं चेति **रूपद्वयोक्त्या** स्वकृतकर्मणो **वैयर्थ्यबोधनं**, "मूढा न विद्महे" इत्यनेन ज्ञानरूपफलाजनकत्वबोधनमित्यर्थः. तर्हि भक्तिरपि कथं सिद्धेत्याशङ्क्य स्वयमेव समादधते **स्त्रीसम्बन्धादि**ति. भक्तिजनकत्वेन कृतार्थता भक्तसम्बन्धात् न

योजना

पूर्णकामस्ये"तिश्लोकेन (५). **तथात्वसाधनं तस्ये**ति, **तस्य** भगवत्कर्तृकयाचनानर्हत्वस्य **साधनम्** उपपादनं "हित्वान्यान् भजते यं श्रीरि"तिश्लोकेनेत्यर्थः. **कर्मवैयर्थ्यबोधनमि**ति, **द्वाभ्यां कर्मवैयर्थ्यबोधनमि**त्यन्वयः. **रूपद्वयोक्त्यैवे**ति, "देशः कालः पृथग् द्रव्यमि"त्यनेन कर्मस्वरूपं "स एष भगवान् साक्षादि"त्यनेन भगवत्स्वरूपमुक्तम् –एवं रूपद्वयोक्त्या स्वकृतकर्मणो वैयर्थ्यमुक्तम् "अपि मूढा न विद्महे" इत्यनेनेत्यर्थः. **स्त्रीसम्बन्धात् कृतार्थते**ति, "अहो वयं धन्यतमा येषां नस्तादृशीः स्त्रिय" इतिश्लोके स्त्रीसम्बन्धात् कृतार्थतोक्तेति ज्ञेयम् (६).

कारिकार्थः

प्रबोधस्य याचनफलत्वाभावे याचनं **नोपपद्यत** इत्यर्थः (५). "हित्वान्यान् भजते यं श्रीरि"तिश्लोकार्थमाहुः **तथात्वसाधनं तस्ये**ति, **तस्य** भगवतो याचनानर्हत्वसाधनमित्यर्थः. **कर्मवैयर्थ्यमि**ति, "देशः कालः पृथग् द्रव्यमि"तिश्लोकेन कर्मस्वरूपमुक्तं, "स एष भगवान् साक्षादि"त्यनेन भगवत्स्वरूपमुक्तमित्येवं **द्वाभ्यां** श्लोकाभ्यां **रूपद्वयोक्त्या** स्वकृत**कर्मणो वैयर्थ्यबोधनमि**त्यर्थः. तर्हि भक्तिरपि कथं सिद्धेत्याशङ्क्याहुः **स्त्रीसम्बन्धात् कृतार्थते**ति. एतच्च "अहो वयं धन्यतमा" इतिश्लोकार्थकथनं ज्ञेयम्. यद्यप्ययं श्लोको विगीतस्तथापि सुबोधिन्यां व्याख्यात इति तदर्थोऽपि कारिकायां सङ्गृहीतः, सहस्रनामादौ प्रक्षिप्ताध्यायार्थसङ्ग्रहवत्. तथा च भक्तसङ्गादेव भक्तिर्न तु स्वकृतकर्मणेति कर्मणो वैयर्थ्यमेवेति भावः (६). **क्षमापनमि**त्यादि, "नमस्तुभ्यं भगवत" इतिश्लोकेन **नमस्कारैः क्षमापनं**, "स वैष आद्यः

क्षमापनं नमस्कारैः प्रार्थनाभिर्निरूप्यते ।
अनागमनमिच्छातो भक्त्यैवेत्थम्मतिर्भवेत् ॥(७)॥

प्रथमतोऽनुतापमाहाथानुस्मृत्येति.

अथानुस्मृत्य विप्रास्ते अन्वतप्यन् कृतागसः ।
यद् विश्वेश्वरयोर्याच्ञामहन्म नृविडम्बयोः ॥३७॥

भगवदीयानां वाक्यं स्मृत्वा तन्मूलभूतं भगवद्वाक्यं तद्द्वारा**नुस्मृत्य** कर्मजडतां विहाय भक्त्यनुसारिणो भूत्वा **विप्राः** पश्चादेव जायमानज्ञानाः **कृतागसो** भूत्वा पत्नीनिरोधेन निषेधेनावाच्यकथनेन भक्तमारणेन जातापराधा अनुतापं.

लेखः

तु केवलकर्मणस्तत्फलमित्यर्थः. ततो द्वाभ्यां **नमस्कारैः प्रार्थनाभिश्च** अपराध**क्षमापनं**, तत एके**नानागमनम्** –एवं चतुर्दशप्रकारापि **मतिर्भक्त्यैव भवेद्**, अत आभासे भक्तिरवान्तरप्रकरणार्थ उक्त इति भावः (७).

योजना

क्षमापनं नमस्कारैरिति, ''नमस्तुभ्यं भगवते''इति श्लोके नमस्कारैः क्षमापनमुक्तम्. **प्रार्थनाभिरि**ति, **प्रार्थनाभिः क्षमापन**मित्यन्वयः. ''स वैष आद्यः पुरुष'' इतिश्लोके प्रार्थनाभिश्च क्षमापनमित्यर्थः. **अनागमनमिच्छात** इति, यद्यपि भगवद्दर्शनार्थमिच्छास्ति तथाप्यनागमनं कंसभयादिति ''इतिं स्वाघमनुस्मृत्ये''ति श्लोकेनोक्तमित्यर्थः. **भक्त्यैवेत्थं मतिरि**ति, पश्चात्तापं कृत्वा भगवद्वैमुख्यनिन्दादिरूपा भगवद्भक्तस्वस्त्रीसङ्गसभाजनापराधक्षमापनादिरूपा **मतिर्भक्त्यैव भवेद्** यतः पूर्वमप्येते ब्राह्मणा भक्ताः स्थिता अतः एतादृशी सद्बुद्धिर्जातेत्यर्थः (७). **यद्विश्वेश्वरयोरि**त्यस्य विवृतौ **वस्तुतो भगवतैवे**त्यारभ्य **न विरुद्धानि भवन्ती**त्यन्तग्रन्थस्यार्थष्टिप्पण्यां स्फुटः ॥३७॥

कारिकार्थः

पुरुष'' इत्यनेन **प्रार्थनाभिः क्षमापनमि**त्यर्थः. **अनागमनमिच्छात** इति, **इच्छात** इति ल्यब्लोपे पञ्चम्यर्थे तसिल् सप्तम्यर्थे वा. तथा च भगवद्दर्शनेच्छां प्राप्य वा इच्छायां सत्यामप्यपराधक्षमापनार्थं विप्राणां व्रजे अनागमनं कंसभयादेवेत्यर्थः. तदुक्त''मिति स्वाघमनुस्मृत्ये''तिश्लोकेन, कंसभयप्रकारश्च व्याख्यातः सुबोधिन्याम् (७).

कृतवन्तः. सर्वापराधापेक्षयेश्वरवाक्योल्लङ्घनं महान् दोष इति तं निरूपयन्ति[१] **यद् विश्वेश्वरयोरि**ति. **विश्वेश्वरयोरि**ति द्विवचनं काल-पुरुषोत्तमपरं शब्दब्रह्म-परब्रह्मपरं वा. याच्ञा बालद्वारौदनविषयिणी. वस्तुतो भगवतैवाज्ञाभङ्ग कारितः. प्रथमतो भक्तकृपया तथोक्त्वापि बलिवाक्यात् परम्परयापि दूरीकृतवान् ''न पुमान् [२]मामुपाव्रज्य भूयो याचितुमर्हती''ति.

ब्राह्मणानामयं धर्मः स्नेहाच्चापि न बाध्यते ।

टिप्पणी

यद्विश्वेश्वरयोर्याच्ञामित्यत्र, **विश्वेश्वर**पदतात्पर्यमाहुः **वस्तुतो भगवतैवे**त्यादि. विश्वस्यैवेश्वरो नियामकः प्रवर्तको निवर्तकश्च यत इति भावः. **बलिवाक्यात् परम्परयापी**त्यादि. यद्यपि 'मामि'ति पदात् बलिना स्वविषयकमेवोक्तमिति न भगवद्धर्मनिरूपकं तद्वाक्यमिति भाति, तथापीश्वरस्यैवेदृशं वाक्यं भवतीत्यैश्वर्यधर्मरूपत्वात् तस्य च भगवदीयस्यैव बलौ सत्त्वाद्भगवद्वाक्यमेव[३] पर्यवस्यतीति भावः. ननु याच्ञाभङ्गश्चेद् भगवत्कर्तृक एव, तदा विप्रापराधत्वेनास्य कथनं कथम् ? अपरञ्च पत्नीनां दीक्षितविमितात् प्रवासं न ददातीति विध्युल्लङ्घनं च कारितवानिति प्रत्युत विप्रापकारकृतिरापद्यत इत्याशङ्क्याहुः **ब्राह्मणानामयमि**ति. **अयं** सत्रलक्षणो **धर्मो**ऽन्नसमर्पणेन **न बाध्यते**, ''शेषाद् भुञ्जीरन्नि''ति विधेरन्नदानस्य विहितत्वाद्यज्ञार्थनिर्दिष्टाज्यादेः शेषभूतान्नातिरिक्तवस्तुदानस्यैव निषेधस्य कृतत्वा''दन्नहीनं दहेद्राष्ट्रमि''ति-

लेखः

यद् विश्वेश्वरयोरित्यत्र **तथोक्त्वापी**ति, याचनवाक्यमुक्त्वापि **भक्तकृपया** हेतुभूतया पुनः प्रेषणेन भक्तायाः प्रसादार्थं **प्रथमत आज्ञाभङ्गः कारितः**; द्वितीय-वारं पत्नीषु प्रेषणे त्वाज्ञा सिद्धैवेति भावः. **बलिवाक्यादि**ति. तथा च बलियाचना-नन्तरं भगवतो याचनमनुचितमत इयमाज्ञैव न तु याचनमिति भावः. एतस्य टि-प्पण्यां **न ददातीति विध्युल्लङ्घनं चे**ति– ''प्रवासं न ददाती''तिवाक्योल्लङ्घनं ''न ददाति न पचत'' इति अन्नदानविध्युल्लङ्घनं **च कारितवानि**त्यर्थः. द्वितीयविध्यु-ल्लङ्घनस्य समाधानमाहुः **ब्राह्मणानामि**ति. अन्नदानविधिं व्यवस्थया स्थापयन्ति **अयमित्यारभ्येति भाव** इत्यन्तेन. प्रथमस्य समाधानमर्थापत्त्या निरूपयन्ति **किञ्चाग्रे**

१. निरूपयति. २. मामुप°. ३. वाक्यत्वमेव मू. पा.

टिप्पणी

वाक्यादावश्यकत्वाच्चेति भावः. किञ्च, अग्रे फलदर्शनादपि साधनवैगुण्यं न वक्तुं शक्यमित्याहुः **स्नेहाच्चापी**ति. यद्यपि तदीयान्नस्वीकारेण भक्तसङ्गेन च तेषां भक्तिर्जाता, तथाप्यग्रे तेषां कर्मफलासम्भवाद्वैदिककर्मणो वैयर्थ्यासम्भवादेतत्फलत्वेनापि भगवता भक्तिरेव सम्पादितेति ज्ञापनाय**पि**शब्दः. यच्चोक्तं **याच्ञाभङ्गश्चेदि**त्यादि, तत्राहुः **भिक्षारूपेणे**ति. भगवता विहितैव सा बाध्यत इत्यर्थः. **लौकिकी** तु विप्रैरेवेति युक्तमपराधत्वेन कथनं याच्ञाभङ्गस्येति भावः. अतो याच्ञापराणि भगवद्वचनानि लौकिकतत्परत्वान्न विरुध्यन्त इत्याहुः **न्यासभूताव**ित्यादि. यद्वा. ननु भक्तवाक्यपरिपालकत्वाद्भगवतः कथं बलिवाग्विरुद्धं स्त्रीषु याचनं कृतवानित्यत आहुः **ब्राह्मणानामि**ति. बलिवाक्येन वर्णाश्रमधर्मत्वेनोक्ता स्नेहप्रयुक्ता च या याच्ञा सा न बाध्यते. कन्यादिविषयिणी सा **लौकिकी,** सापि तथा. किन्तु दैन्यप्रयुक्तैव सा बाध्यत इत्यर्थः. प्रकृते च न दैन्यप्रयुक्ता सा, "भक्तायाः प्रसीदन्नि"ति वाक्यादिति भावः. अत एव तादृग्वचनैरविरोध इत्याहु**र्न्यासभूताव**ित्यादि ॥३७॥

लेखः

इति. यदि विध्युल्लङ्घनं स्यात् तदा भक्तिरूपं फलं नोत्पद्येतेत्यर्थः. द्वितीयस्यापीदं समाधानं सम्भवतीति **किञ्चे**ति समुच्चयः. प्राप्तज्ञानानां भिक्षाटनमेव मुख्यमिति भिक्षारूपाया विहिताया याच्ञाया अयुक्तत्वात् तद्बाधो अदानसम्पादनेन भगवता सम्पादनीयो लौकिक्यास्त्वयुक्तत्वाभावाद् तद्बाधो विप्रैरेव कृत इत्याहुः **भगवते**ति. तथा च भिक्षांशो भगवता बाधितो लौकिकांशो विप्रैरिति भावः. सुबोधिन्यां **न वे**ति, मर्यादामार्गीयत्वेन स्वस्य ग्रहणे **अयुक्तं तेषां** सम्बन्धि देहादिकं स्वोपयुक्तं **न** कृतं किन्तु व्याघुट्य प्रेषिता एव. अतोपि **न बाध्यते** विध्युल्लङ्घनं न जातमित्यर्थः ॥३७॥

कारिकार्थः

एतच्छ्लोकविवरणे एव **ब्राह्मणानामि**ति. इदं टिप्पण्यां पक्षद्वयेन व्याख्यातम्. तथा हि **ब्राह्मणानामि**ति, **अयं** सत्रलक्षणो **धर्मो** अन्नसमर्पणेन **न बाध्यते,** अन्नदानस्यावश्यकत्वादिति भावः. किञ्चाग्रे विप्राणां भगवद्विषयकस्नेहात्मकफलदर्शनादपि साधनवैगुण्यं न वक्तुं शक्यमित्याहुः **स्नेहाच्चापी**ति. "अथानुस्मृत्य विप्रास्ते" इत्यादिना भगवति स्नेहदर्शनादपि धर्मबाधो न जात इति ज्ञायत

भिक्षारूपेण सा याच्ञा बाध्यते न तु लौकिकी ॥(८)॥

"न्यासभूतौ प्रयच्छ मे" "तथापि याचे तन्नः प्रयच्छे"ति "तत्तन्निवेदयेदि"त्यादिवाक्यानि न विरुद्धानि भवन्ति. न वा तेषामयुक्तं वा किञ्चिद् गृहीतम्. नन्विमौ बालकौ कथमीश्वरौ तत्राहु**र्नृविडम्बयोरि**ति, **नृणां विडम्बं** विडम्बनं याभ्यां, केवलं मनुष्यरसमभिनयेन प्रदर्शयतः. एवं स्वस्यापराधित्वं निरूपितम् ॥३७॥

तस्य दण्डं कुर्वन्तः स्वगर्हां कुर्वन्ति **दृष्ट्वे**ति.

लेखः

दृष्ट्वेत्यस्याभासे **गर्हां कुर्वन्ती**ति. 'वयं दुष्टा' इत्यादिरूपा गर्हा ग्रन्थाद्

कारिकार्थः

इत्यर्थः. अत्र "न पुमान् मामुपव्रज्य भूयो याचितुमर्हती"तिबलिवाक्यसत्यत्वार्थं भगवतैव आज्ञाभङ्गः कारित इत्युक्तं सुबोधिन्याम् एतट्टिप्पण्यां च. ननु याच्ञाभङ्गश्चेद् भगवत्कर्तृक एव तदा याच्ञाभङ्गस्य विप्रापराधत्वेन कथनं कथमित्याशङ्क्याहु**र्भिक्षारूपेणे**ति, भगवता विहितैव **याच्ञा बाध्यत** इत्यर्थः. बलिवाक्यसत्यत्वाय ब्राह्मणांस्तथा प्रेरयित्वा भगवतैवाज्ञाभङ्गः कारितो यद्यपि तथापि **भिक्षारूपेण** अदानेपि लोकरीत्या गोपेभ्यो दानमुचितमेवेति लोकरीत्याप्यदाना**ल्लौकिकी याच्ञा** विप्रैरेव **बाध्यत** इति युक्तमपराधत्वेन कथनं याच्ञाभङ्गस्येति भावः. ननु सर्वापि जीवकृतिर्भगवत्प्रेरणाधीनैवेति को विशेष इति चेत्, सत्यं, भगवत्प्रेरणं हि द्विविधम्– एकं जीवादृष्टानुरूपम् अपरं स्वातन्त्र्येण विशेषेच्छयेति. प्रकृते भिक्षारूपेण याच्ञाभङ्गो भगवता स्वतन्त्रप्रेरणया कारित इति तस्मिन्नंशे न विप्रापराधः, लौकिकयाच्ञाभङ्गस्तु स्वादृष्टानुरूपप्रेरणया भगवता कारित इति विभेदः. अथ टिप्पण्युक्तद्वितीयव्याख्यानानुसारेण व्याख्यायते. ननु भक्तवाक्यपरिपालकत्वाद्भगवतः कथं बलिवाग्विरुद्धं स्त्रीषु याचनं कृतवानित्यत आहुः **ब्राह्मणानामि**ति. याच्ञा हि चतुर्विधा– वर्णाश्रमधर्मरूपा स्नेहप्रयुक्ता लौकिकी दैन्यप्रयुक्ता चेति. तत्र बलिवाक्येन वर्णाश्रमधर्मरूपा स्नेहप्रयुक्ता च या याच्ञा सा न बाध्यते, कन्यादिविषयिणी लौकिकी याच्ञापि न बाध्यते, किन्तु दैन्यप्रयुक्तैव सा बाध्यत इत्यर्थः. प्रकृते च न दैन्यप्रयुक्ता सा, "प्रसीदन्निदमब्रवीदि"ति वाक्यादिति भावः (८).

दृष्ट्वा स्त्रीणां भगवति कृष्णे भक्तिमलौकिकीम् ।
आत्मानं च तया हीनमनुतप्ता व्यगर्हयन् ॥३८॥

स्त्रीणां कृष्णेऽलौकिकीं भक्तिं दृष्ट्वा तया हीनमात्मानं व्यगर्हयन् —पुष्टिभक्तेरेषैव स्थितिः. **भगवान्** षड्गुणैश्वर्योऽपि **कृष्णः** सदानन्द एव जातो, धर्मोपसर्जनत्वेन धर्म्येव जातः. फलरूपत्वात् स्त्रीणां तत्र भक्तिः, पुरुषास्तु धर्मपरा अतस्तया रहिताः. तदुभयमाह **स्त्रीणां कृष्णे भक्तिमिति.** दोषाभावायाह**लौकिकीमि**ति. तारतम्यपरिज्ञानं पदार्थयाथात्म्यं भक्तिभावाभावौ च यो जानाति स भक्तः. अत एते[1] तद्विधा इति निन्दैषा स्तुतिरेव. न केवलं ज्ञानं तेषां [2]बाधकमुत्पन्नं किन्तु क्रियापि, तदाह **अनुतप्ता** इति ॥३८॥

ननु कथमात्मविगर्हात्मनि सत्पदार्थानां विद्यमानत्वादन्यथा सद्विरोधे तेषामनिष्टमेव स्यादित्याशङ्क्य स्वस्मिन् विद्यमानानां सत्त्वेन प्रतिभासमानानां बीजाभावादसत्त्वमेवेति ख्यापयन्ति **धिग् जन्मे**ति.

लेखः

बहिरेवेति ज्ञातव्यम् अतोऽत्र श्लोके गर्हैव वाक्यार्थः. अग्रिमश्लोके गर्हाहेतुर्वाक्यार्थो न तु गर्हाविवरणं, तत्र तथैव व्याख्यास्यते. व्याख्याने. **पुष्टीति**, स्वदोषपरिज्ञानं भगवदनुग्रहाद् भवेदित्यर्थः; अयोगव्यवच्छेदक **एवकारः**. **षड्गुणैश्वर्य** इति, षड्गुणेष्वैश्वर्यं यस्येत्यर्थः. **परिज्ञानमि**ति, करणव्युत्पत्त्या परिज्ञापकं धर्ममित्यर्थः. **बाधकमि**ति, स्वस्यैव कृतार्थताभिमाने बाधकमित्यर्थः. **क्रियापी**ति अश्रुपातादिरूपेत्यर्थः ॥३८॥

बीजाभावादिति, सत्त्वबीजस्य भगवत्साम्मुख्यस्याभावादित्यर्थः. **अधोक्षजे** इत्यस्याभासे **तत्रे**ति यज्ञपराणामपि भगवद्वैमुख्ये इत्यर्थः ॥३९॥

योजना

दृष्ट्वा स्त्रीणामित्यस्य सुबोधिन्यां **धर्मोपसर्जनेन धर्म्येव जात** इति, ऐश्वर्यादिधर्मान् गौणीकृत्य तेषामस्फुरणं कृत्वा यज्ञपत्नीनां हृदये **धर्म्येव** "आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानादि"ति श्रुतेरानन्दरूप एव स्फुरितः. कोटिकन्दर्पाधिकलावण्य एव तासां हृदये स्फुरित इति भावः. **स्त्रीणां तत्र भक्तिरि**ति, केवलधर्मिणि साक्षान्मदनमोहनस्वरूपे श्रीकृष्णचन्द्रे कामभावेन स्त्रीणां भक्तिरित्यर्थः ॥३८॥

---

१. एव. २. बाधम्.

धिग् जन्म नस्त्रिवृद् विद्यां धिग् व्रतं धिग् बहुज्ञताम् ।
धिक् कुलं धिक् क्रियादाक्ष्यं विमुखा ये त्वधोक्षजे ॥३९॥

[1]धिक्कारो दह्यतामित्यर्थे— प्राणे गते शरीरं दह्यत एव तथा जन्मादीनां प्राणभूता भक्तिस्तदभावे दाह एवोचितः. **त्रिवृद् जन्म** शुक्लसावित्रयाज्ञिकरूपम्. **विद्यामपि धिक्.** सापि **त्रिवृद्** विद्या वेदत्रयसहिता. **व्रतं** "न देयमि"त्यादि; तदपि **धिक्. बहुज्ञतामि**ति, धर्मसूक्ष्मपरिज्ञाने ये हि बहुज्ञास्ते लोकविरुद्धमपि कुर्वन्ति, तथैतत् कृतं; तां च बहुज्ञतां **धिक्.** अथ कुलीना इति वंशे कलङ्कसम्बन्ध इति स्त्रीणां निवारणं; तत् **कुलमपि धिक्.** क्रियादक्षतामपि **धिग्** यया भगवत्यवहेला[2] भवत्यन्यथा पुरुषार्थं साधयिष्यामोऽशक्तपरैव हि भक्तिरिति यथान्धपङ्ग्वादयः क्रियायामसमर्था अन्यत्र युज्यन्ते तथा भक्तावपीति. एवं यत् **क्रियादाक्ष्यं** तदपि धिक्. तत्र [3]बीजाभावं हेतुमाह **ये वयमधोक्षजे विमुखाः.** नन्वेतदेव कथं ? यज्ञोऽपि भगवानेवातो ये यज्ञपराः कथं भगवद्विमुखा इतीमं पक्षं तुशब्दो व्यावर्तयति. तत्र हेतु**रधोक्षज** इति, अधोऽक्षजं यस्मादिति. ज्ञानेऽप्यात्मसाक्षात्कारः, कर्मणि च क्रियारूपेऽलौकिके च रूपे ज्ञानवताम्. भक्तौ तु न साक्षात्कारः फलं, जायमानमप्यङ्गतामापद्यते. केवलरसभक्षका इक्षुभक्षकेभ्योऽपि सरसा. अत

टिप्पणी

विमुखा ये त्वधोक्षज इत्यत्र, **ज्ञानेप्यात्मसाक्षात्कार** इत्यादि. इन्द्रियजन्यज्ञानस्य पुरुषोत्तमाविषयत्वं प्रदर्शयन्ति **ज्ञानेऽपी**त्यादिना. मनोजन्यात्मसाक्षात्कारफलकज्ञानमार्गस्यात्ममात्रपर्यवसायित्वम्. कर्ममार्गस्याधिकारिभेदेन द्वैविध्यम्. बहिर्मुखानां तु **क्रियारूपे** भजनम्, तेनैवादृष्टद्वारा फलसिद्धिरिति यतस्तन्मतम्. श्रुतितात्पर्य**ज्ञानवतां त्वलौकिके** यज्ञरूपे भजनमितीन्द्रियजज्ञानकृत्यविषयत्वेनाधोक्षजत्वं सिद्धमित्यर्थः. भक्तिमार्गे भगवत्साक्षात्कारो "नाहं वेदै" "र्न तु मां शक्यसे द्रष्टुमि"त्यादिवाक्यैर्नेन्द्रियजन्य इति भावः. दृष्टेऽपि भगवति यावत्सर्वेन्द्रियैः साक्षान्नानुभूयते न तावत्स्वास्थ्यमिति **न साक्षात्कारमात्रं फलम्.** "दर्शयन् मुहुर्मनसि स्मरं यच्छसी"ति वाक्याद् दर्शनस्याग्रेतनभोगोपयोगित्वेनाङ्गत्वम्. यथेक्षुदण्डस्य रससम्बन्धाद् भक्ष्यत्वम्, तथा भगवदानन्दलेशसम्बन्धेनान्येषां रूपाणां भजनीयत्वमित्याशयेनेक्षुदृष्टान्तः.

---

१. धिगिति धिक्कारे. २. भगवद्धेला. ३. बीजभाव°.

[1]एतादृशो भक्तिमार्गो भगवता प्रकटित इति रूपान्तरपुरःसरं ये पक्षास्ते [2]सर्व एव पूर्वपक्षाः ॥३९॥

ननु वैमुख्ये ज्ञानवतां को हेतुस्तत्राह **नूनं भगवत** इति.

नूनं भगवतो माया मायिनामपि मोहिनी ।
यद् वयं गुरवो नृणां स्वार्थे मुह्यामहे द्विजाः ॥४०॥

मायया हि पूर्वस्थितं ज्ञानादिकमाच्छाद्यतेऽतो ये शिष्याः प्राकृतास्तेषां तद् ज्ञानमाच्छाद्य नूतनमुत्पादनीयमन्यथा पूर्वविरोधान्नोत्पद्यते ज्ञानम्. अतो गुरवः सर्व एव मायाविनः. तदत्र विपरीतं भगवन्मायया कृतं— ते स्वमायया स्वबुद्धिमेवाच्छादितवन्तः प्राकृतीं च बुद्धिं गृहीतवन्तः. तदाह **नूनं** निश्चयेन **भगवतो माया मायिनामपि** व्यामोहजनिका **यद् वयं** लोकानां **गुरवः** प्राकृतीं बुद्धिमाच्छाद्य स्वबुद्धिदातारस्ते स्वबुद्धिमेवाच्छाद्य प्राकृतीं बुद्धिमेव गृहीतवन्तः. भगवन्मायायाश्चैतत् कार्यं [3]प्राकृत्यामेव बुद्धौ, तथात्वमाच्छाद्यातथात्वं ग्राह्यत इति. अन्यथा भगवान् भगवच्छास्त्रं वा किं ग्राहयेद् भक्तिं वा कथं ग्राहयेद्, ज्ञानेन प्रतिरोधात्. सहजं प्राकृतं भक्तिर्नाशयितुमसमर्था. सूक्ष्मा हि सातो गुरुमाययाच्छादितेऽलौकिके च ज्ञाने सम्पन्ने तस्मिन्नपि ज्ञाने लब्धपदे भगवन्मायया पश्चादाच्छादित आगतं प्राकृतत्वममूलकमिति भगवच्छास्त्रेण भक्त्या वा तत् निराकृत्य स्वकीयं तत्र स्थाप्यत इति भगवन्माया मायिनां व्यामोहिकेति **नूनं** नात्र

टिप्पणी

केवलरसात्मकः स्वयमधुनैव प्रकट इतीतः पूर्वमेव ते पक्षाः कर्तव्यत्वेन स्थिताः, नत्वतः परमपीत्याहुः **अत एतादृश** इत्यादि ॥३९॥ इति विंशोध्यायः ॥

लेखः

नूनमित्यत्र अतो ये इति. **मायया** मूलज्ञानाच्छादनाद्धेतोः **प्राकृता** लौकिकज्ञाना इत्यर्थः. **अन्यथा भगवानिति**, प्राकृत्यां बुद्धौ प्राकृतत्वानाच्छादने इत्यर्थः. **ज्ञानेनेति** प्राकृतज्ञानेनेत्यर्थः ॥४०॥

योजना

विमुखा ये त्वधोक्षज इत्यस्य विवृतौ **ज्ञानेऽप्यात्मसाक्षात्कार** इत्यारभ्य **ते सर्वे पूर्वपक्षा** इत्यस्यार्थष्टिप्पण्यां स्फुटः ॥३९॥

---

१. एव तादृशो. २. सर्वेपि. ३. °ताया°.

पूर्वपक्षसम्भवः. **द्विजा** इतिसम्बोधनमस्य यज्ञस्याधिदैविकवैमुख्येनासम्पन्नत्वात् ॥४०॥

किञ्च**अहो**[1] इति.

[1]**अहो पश्यत नारीणामपि कृष्णे जगद्गुरौ ।**
दुरन्तं भावं योऽविध्यत् मृत्युपाशान् गृहाभिधान् ॥
नासां द्विजातिसंस्कारो न निवासो गुरावपि ।
न तपो नात्ममीमांसा न शौचं न क्रियाः शुभाः ॥४१॥

अहो इत्याश्चर्ये— नरेषु दुर्लभं नारीषु भवति, **भावं पश्यत.** घुणाक्षरन्यायेन कादाचित्कं व्यावर्तयति **दुरन्तमिति.** ननु स्त्रीणां पुरुषेषु भावो भवत्येवेति किमाश्चर्यमित्याहुः **कृष्णे जगद्गुराविति**, सदानन्दो जगद्गुरुश्च; तस्मिन्. नारीणां भावो कामिष्वेव वर्तते न तु भगवत्यत आश्चर्यम्. ततः किमत आह **योऽविध्यदिति**, **यो** भावो **गृह**संज्ञकान् **मृत्युपाशानविध्यद**च्छिनत् तं **भावं** भक्तिं **पश्यतेति** ॥

नन्वस्य यज्ञस्य मुख्यफलाभावेऽप्युत्तरमीमांसान्यायेन चित्तशुद्धिपरत्वं भवत्वतो धिकारोऽनुचित इति चेत् तत्राहु**र्नासामिति.** संस्काराणामहेतुत्वमन्वयव्यतिरेकव्यभिचारात्, संस्काररहितासु स्त्रीषु भक्तिसम्भवात् संस्कारवत्स्वस्मासु तदभावात्. तदाहु**रासां** स्त्रीणां **द्विजातिसंस्कार** उपनयनं नास्ति. **नापि गुरौ निवासो** वेदाध्ययनं **तपः** स्वधर्मः श्रौतस्मार्तकर्माणीन्द्रियनिग्रहो वा स्नानादिना क्लेशसहनं वा. **नाप्यात्ममीमांसा**त्मविचारो **नापि शौचं नापि शुभाः क्रिया** अग्निहोत्रादयः ॥४१॥

एवं भक्त्यधिकरणे साधनाभावं निरूप्य भक्तिमाहु**रथापीति**.

अथापि ह्युत्तमश्लोके कृष्णे योगेश्वरेश्वरे ।
भक्तिर्दृढा न चास्माकं संस्कारादिमतामपि ॥४२॥

नन्वस्या भक्तेः संस्कारा न साधनभूता यथा जार इतीमामाशङ्कां व्यावर्तयन्त्यु**त्तमश्लोक** इति. **उत्तमै**रपि व्यासवाल्मीकिपराशरादिभिः **श्लोक्यते** कीर्त्यत इत्यनेन प्रमाणोत्कर्ष उक्तः. प्रमेयोत्कर्षमाह **कृष्ण** इति, फलोत्कर्षोप्युक्तः.

---

१. अत्र श्लोकतद्व्याख्यानं च क्वाचित्कमेव.

साधनोत्कर्षमाह **योगेश्वरेश्वर** इति, **योगेश्वराणामपीश्वरे** नियन्तरि. सापि **भक्तिर्दृढा** पत्यादिभिः प्रतिबद्धापि न विहतेति तैलधारावदनवच्छिन्ना सर्वतोऽधिका. अन्वयव्यभिचारमाहुर्न **चास्माकमि**त्यष्टचत्वारिंश**त्संस्कारवतामपि** ॥४२॥

ननु तासां जन्मान्तरे संस्काराः सिद्धाश्चर्षण्य एता अन्यथा भर्तृपरित्यागो न स्यादतः पुरुषा एवैते पूर्वजन्मनि, गोपिका इव. भवतां च "जन्मान्तरसहस्रेषु तपोध्यानसमाधिभिर्नराणां क्षीणपापानां कृष्णे भक्तिः प्रजायत" इत्यतो भवतां बहुजन्मसंस्कारा न जाता इत्याशङ्क्याश्चर्येण तस्य समाधानमाहुः—

ननु स्वार्थविमूढानां प्रमत्तानां गृहेहया ।
अहो नः स्मारयामास गोपवाक्यैः सतां गतिः ॥४३॥

नन्विति कोमलसम्बोधने. **ननु** सत्यमेवमेव **स्वार्थविमूढानां गृहेहया प्रमत्तानां नोऽस्माकं गोपवाक्यैः** पूर्वस्थितिं **स्मारयामास.** वयमपि भगवदीया [१]एव पूर्वं स्थितास्ततो दैत्यावेशाद् दैत्यप्रभुदेशे स्थित्या तैः पाल्यमानास्तदन्नभोजिनो विस्मृतस्वरूपा जातास्तच्च भगवान् गोपवाक्यमिषेण स्मारयामासान्यथान्यान्नं किं भगवान् याचते ? अस्मांश्च पुनः स्वकीयान् जानाति. अहो अत्याश्चर्यमेतत्— कथं वाक्यमात्रेण प्रबोध इति, अलौकिकसामर्थ्यं हि भगवतः, **अहो** इति तस्यानुकरणम्. अनेन पूर्वोक्तपक्षा निराकृताः. स्त्रियोऽप्येताः स्वस्यैव भगवतो दास्यो वयं च दासा, नात्र सन्देहः. अन्यथा प्रतिकूलतर्कं वक्ष्यन्ति. **स्वार्थे** भगवत्सेवायां **विमूढा. गृहेहया** इति कृत्यचिन्ता गृहधर्माश्च. तत्रापि **प्रमत्ता**स्तच्चिन्तया भगवत्सेवायां वा प्रमत्ता. अतः स्वसेवकान् स्मारितवान्, साक्षादुपदेशेऽनधिकारिणो मत्वा **गोपवाक्यैः**.

लेखः

अथापीत्यत्र अष्टाचत्वारिंशदिति. अधुना अपरसंस्काराभावेप्युत्तमदेहान्यथानुपपत्त्या पूर्वजन्मनि सिद्धा एवेत्यर्थः ॥४२॥

चर्षण्य इति. "यज्ञपत्न्यस्तथापरे" इतिवाक्येन तादृशलीलाविषयत्वादेता अपि वक्ष्यमाणशक्तिमत्य इत्यर्थः.

---

१. लुप्तम्.

तथाकरणे हेतुः **सतां गतिरि**ति, सतामयमेव गतिः, यद्येवं भगवानुपेक्षेत तदा सन्तो नष्टा एव भवेयुः ॥४३॥

एतत् सर्वं याचनान्यथानुपपत्त्या कल्प्यते. तत्रान्यथोपपत्तिं कल्पयित्वा परिहर**न्त्यन्यथे**ति.

अन्यथा पूर्णकामस्य कैवल्याद्याशिषां पतेः ।
ईशितव्यैः किमस्माभिरीशस्यैतद् विडम्बनम् ॥४४॥

भगवतस्तु नापेक्षितं किञ्चित्. नापि दुःखनिवृत्तिस्तत्साधनं वा; नापि सुखं तत्साधनं वा, **पूर्णकाम**त्वात्. तस्य हि कामाः पूर्णा उत्पन्ना विषयैर्न पूर्यन्ते लौकिकवत् किन्तु पूर्णा एवाविर्भवन्ति, अतो नित्यविषयास्ते. तथा सति यान्नकामना भगवत्याविर्भूता सान्नसहितैवेति सिद्धेऽर्थे याचनमनुपपन्नम्. परमुद्देशान्तरं चेत् तदा सिद्धमपि दूरीकृत्य[१] साधनान्तरं करोति, असाधनं वा बोधयति. तस्मादस्मत्प्रबोध एव याचनफलम्. किञ्च **कैवल्याद्याशिषां पति**र्भगवान्. **कैवल्यं** केवलता सङ्घातनिवृत्त्या केवलस्थितिः प्रत्यापत्तिरूपम्. तत् प्रथमं फलं, ततः पूर्वं दुःखमेवातः कैवल्ये प्राप्ते ततः स्वरूपेण भजनं तत आनन्दाविर्भावस्ततो भगवति प्रवेशो भक्तिर्वा. तदनन्तरं धर्मा भगवदीया भगवदाज्ञापनरूपा अर्थाश्च

योजना

कैवल्याद्याशिषां पतेरित्यस्य विवरणे **ततो भगवति प्रवेशो भक्तिर्वे**ति. कैवल्यप्राप्त्यनन्तरं **स्वरूपेण** शुद्धजीवरूपेण **भजनं, तत**स्तिरोहितस्य स्वकीय**ानन्दस्याविर्भावः**. ततः पक्षद्वयं— मर्यादाभक्तानां भगवति प्रवेशः, पुष्टिमार्गीयाणां तु फलरूपा भक्तिरित्याहुः **भगवति प्रवेशो भक्तिर्वे**ति. इदं त्ववधेयं— धर्मादयः कैवल्यान्ताः पुरुषार्था इति सर्वत्र प्रसिद्धिः. श्रीमद्भागवते तु **कैवल्याद्याशिषां पतेरि**तिवाक्यात् कैवल्यं प्रथमकक्षा. तत्स्वरूपं सुबोधिन्यां **कैवल्यं केवलता सङ्घातनिवृत्त्ये**त्यारभ्य **कामाश्चे**त्यन्तेन विवृतम्. अत एव कैवल्यं ज्ञानादेव श्रुतौ निरूपितं "ज्ञानादेव हि कैवल्यमि"ति. नैतावता भक्तेः काचित् क्षतिः. सङ्घातनिवृत्त्या केवलस्थितिस्वरूपं कैवल्यं ज्ञानादेव भवति, अध्यासनिवर्तकत्वात् ज्ञानस्य. न हि कैवल्यमात्रं परमपुरुषार्थः, कैवल्यस्य प्रथमकक्षात्मकत्वात्,

---

१. दूरीकृत्वा.

तदीयाः कामाश्च. एवं **कैवल्याद्या** या **आशिषस्तासां पतिरयं** दाता नियामकः. तथा सति गोपानां क्षुदेव न स्यात् नापि तैः प्रार्थ्येत. लोकानामपि कैवल्यादिदाता, न हि तान् सङ्गते स्थापयति येन क्षुद् भवेदतः क्षुधमप्युत्पाद्य विद्यमानेप्यन्ने तददत्वा बोधनार्थमेवात्र प्रेषितवान्. **किञ्चेशितव्यैरस्माभिः किं** स्यात् ? वय**मीशितव्या** दासा; न हि दासान्नं भुज्यते, तेभ्यो दीयत एव. न हि महाराजस्य दिनमात्रव्यवस्थामपि कश्चिद् दासः सम्पादयितुं शक्तः. नाप्यस्माभिस्तस्याग्रे कृत्यमत **ईशस्यैतद**नुकरणमात्रं न तु याचनम्. अनुकरणं तु रसोत्पत्त्यर्थमिति निश्चयः. न हि नटस्य योगिभावप्रदर्शने किञ्चित् कृत्यमस्ति विना रसोत्पादनं, तथा भगवद्याच्ञानुकरणमपि बोधनार्थमेव[1] ॥४४॥

ननु पूर्णोप्यवतारं कृत्वा लीलया नट इव लौकिकं सम्पादयत्यतो याच्ञा युक्तेति चेत् तत्राहु**र्हित्वान्यानि**ति.

हित्वान्यान् भजते यं श्रीः पादस्पर्शाशयासकृत् ।
आत्मदोषापवर्गेण तद्याच्ञा जनमोहिनी ॥४५॥

यदि याचनीयं, लक्ष्मीरेव वक्तव्या, किं भिक्षुकैः ? न च मन्तव्यं लक्ष्मीः कार्यान्तरव्यापृतेति, **यान्यान्** सर्वानेव **हित्वासकृद् भजते,** तत्रापि **पादस्पर्श आशा**मात्रम्. सा चेदाज्ञां प्राप्नुयात्, कृतार्थैव भवेत्. तां विहायान्ययाचनमन्यार्थमेव. ननु लक्ष्म्यां चाञ्चल्यमस्त्यतस्तदा न स्थितेति चेत् तत्राहु**रात्मदोषापवर्गेणे**ति.

योजना

कैवल्याद्याशिषां पतेरितिवाक्यात्. परमपुरुषार्थस्तु पुरुषोत्तमनित्यलीलाधामप्रवेशः. स च पुरुषोत्तमानुग्रहजन्यपुष्टिभक्त्यैकलभ्यः, "मत्प्रसादात् परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतमि"ति भगवद्गीतासूक्तत्वात्, "एको वशी सर्वगः कृष्ण ईड्य एकोऽपि सन् बहुधा यो विभाति तं पीठगं ये तु भजन्ति नित्यं तेषां सिद्धिः शाश्वती नेतरेषामि"त्याथर्वणिके गोपालतापनीयोपनिषद्भ्यश्च. "पीठगं" सिंहासनस्थमित्यर्थः. "भजन्ती"त्यनेन सेवा उक्ता, 'भज् सेवायामि'तिधात्वर्थात्. गीतासु "स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतमि"त्यत्र 'शाश्वत'पदात् गोपालतापिन्यां "सिद्धिः शाश्वती"त्युक्त्या नित्यलीलाधामप्रवेशो भक्तानां फलत्वेन निरूपितः, 'शाश्वत'शब्दस्य 'नित्य'शब्दपर्यायत्वात् ॥४४॥

---

१. °मिति.

आत्मनो दोषश्चाञ्चल्यं, त**स्यापवर्गो** निवृत्तिः पुनरुत्पत्तिरहिता. एवमेव हि भगवत्सेवकानां धर्मः. ननु लोकाः पूर्वमप्याहुर्बलिर्याचितो भगवतेति तथेदानीमपि भविष्यतीति चेत् तत्राहु**स्तद्याच्ञा जनमोहिनी**ति. जनानेव व्यामोहयत्यन्यथा स्वस्मिन्नेव शरीरे त्रैलोक्यं प्रदर्शितं व्यर्थं स्यात्. स्वस्यैव सिद्धत्वात् न याचनमिति स ज्ञापितो, लोकास्तु व्यामोहिताः ॥४५॥

देशः कालः पृथग् द्रव्यं मन्त्रतन्त्रर्त्विजोऽग्नयः ।
देवता यजमानश्च क्रतुर्धर्मश्च यन्मयः ॥४६॥

किञ्च देशादयः सर्वे तदात्मका एव. तथा सति तत्रादानबुद्धिर्मोहनव्यतिरेकेण कथं [1]भवेदत इदमपि याचनं मोहनार्थमेव. "पुरुष एवेदं सर्वमि"तिश्रुत्यनुसारेण[2] सर्वे पदार्था भगवदात्मका इति ज्ञायन्ते तथापि यो मोहः स याच्ञयैव ॥४६॥

ननु स पुरुषो यदात्मकं [3]जगदस्मिन्नप्येतस्मिन्नज्ञानाद् दानमुचितमेवेत्याशङ्क्याहुः **स एष** इति.

स एष भगवान् साक्षाद् विष्णुर्योगेश्वरेश्वरः ।
जातो यदुष्वित्यशृण्म ह्यपि मूढा न विद्महे ॥४७॥

स पुरुष एवायं **भगवां**स्ततोऽप्यधिकः पुरुषोत्तमः. किञ्च **साक्षादयं** यज्ञ आधिदैविको **विष्णु**र्ब्राह्मणभोजनसङ्कल्पेऽपि **योगेश्वराणामप्ययमीश्वरः** स्वामी. एतादृशो **यदुषु जात इत्यशृण्म**[4] श्रुतवन्तो[5] वयं, तथापि पूर्वसंस्काररलोपाद्

योजना

स एव भगवानित्यस्य विवृतौ **साक्षादयं यज्ञ आधिदैविकविष्णुरि**ति. अयमर्थः— यदि यज्ञ एवास्माकं परमेश्वर इतिबुद्धिस्तदाप्ययं श्रीकृष्ण आराधनीयः, आधिदैविकयज्ञरूपत्वात्, आधिदैविकयज्ञस्य विष्णुरूपत्वाद्, "यज्ञो वै विष्णुरि"तिश्रुतेः. ननु ब्राह्मणेभ्य एव भोजनार्थमन्नं देयं नान्येभ्य इति कथं गोपेभ्यो देयमित्याशङ्कायामाहुः **ब्राह्मणभोजनसङ्कल्पेऽपी**ति. ब्राह्मणभोजनसङ्कल्पे "एको विष्णुर्महद्भूतं पृथग्भूतान्यनेकशः त्रींल्लोकान् व्याप्य भूतात्मा भुङ्क्ते विश्वभुगव्यय" इतिपद्यते. तत्रापि **विष्णु**शब्द एतस्य श्रीकृष्णस्यैव वाचकोऽतः श्रीकृष्णार्थं गोपेभ्यो देयमेवेति हार्दम् ॥४७॥

---

१. न सम्भवेत्. २. सर्वं श्रुत्यनुसारेण पर्यवसानाः. ३. तस्मिन्न°
४. इत्याशृण्म. ५. शृण्वन्तो.

विशेषमौढ्याद् भगवन्तं **न विद्महे.** एवं स्वापराधः समर्थितः ॥४७॥

तस्यापराधस्य क्षमापनार्थं नमन्ति **नम** इति. अत्रैकः श्लोको विगीतः सोपि व्याख्यायते.

अहो वयं धन्यतमा येषां नस्तादृशीः स्त्रियः ।
भक्त्या यासां मतिर्जाता अस्माकं निश्चला हरौ ॥४८॥

अहो इत्याश्चर्ये, **वयमिति**[१] श्लाघायां– **धन्यतमाः** कृतार्था **येषामस्माकं तादृश्यः स्त्रियो यासां भक्त्या** स्मारकत्वेनोपस्थितया**स्माकम**पि **हरौ मतिर्निश्चला जाते**ति ॥४८॥

नमस्तुभ्यं भगवते कृष्णायाकुण्ठमेधसे ।
यन्मायामोहितधियो भ्रमामः कर्मवर्त्मसु ॥४९॥

तुभ्यं भगवते नम इति अपराधेन दीनभावे जात आविर्भूतो भगवानिति लक्ष्यते. अन्यथा **तुभ्यमि**ति न वदेयुः. अनेन तेषामपराधो गत इति निश्चितम्. तस्य षड्गुणान् दृष्ट्वा नमस्यन्ति **भगवत** इति. दृष्टादृष्ट्योः साङ्कर्याभावार्थमेवमुच्यते. स्वरूपमपि ज्ञातवन्तः **कृष्णाये**ति. तस्य पूर्णज्ञानशक्तिं दृष्ट्वाहु**रकुण्ठा मेधा** बुद्धिर्यस्येति. यद्यपि **भगवच्छ**ब्देनैव नित्यज्ञानवत्त्वं प्राप्तं तथापि यथा "सर्वस्येशान" इतिश्रुतेरैश्वर्यं साधारणं, तथा 'सर्वज्ञ' इति श्रुतेर्ज्ञानमपि, तादृशमेव 'भगवत्'पदेनोच्यते. एवं सति "मदन्यत् ते न जानन्ति नाहं तेभ्यो मनागपी"तिवाक्यात् केवलभक्तविषयकं स्वीयत्वेन यद् ज्ञानं पुष्टिमार्गीयं तदत्र **मेधा**शब्देनोच्यते. तदस्मद्विषयकं पूर्वमासीत्. मध्येऽस्माकं बाहिर्मुख्येऽपि[२] तस्याकुण्ठितत्वेन तत्कार्यमेव याच्ञारूपं प्रबोधं कृतवान्न तूपेक्षामिति भावः. नाप्यस्माकमय[३]मपराधो भ्रान्तत्वादिति वदन्तो भ्रमस्त्वत्कृत एवेत्याहु**र्यन्मायये**ति. भगवन्माययैव व्या**मोहित**बुद्धयः **कर्म**मार्गेषु **भ्रमामो**ऽन्यथा ज्ञाने भक्तौ वा मतिः

योजना

यन्मायामोहितधिय इत्यस्य विवरणे **शुद्धे वा वैदिके कर्मणी**ति, निष्कामतया क्रियमाणेऽग्निहोत्रादिसोमान्ते नित्यकर्मणीत्यर्थः, तस्य पञ्चविधस्य नित्यकर्मणो भगवत्प्रापकत्वात्. एतच्च तत्त्वदीपे सर्वनिर्णयप्रकरणे जागरूकम् ॥४९॥

---

१. वयं धन्य°. २. बाहिर्मुख्येन. ३. लुप्तम्.

स्याच्छुद्धे वा वैदिके कर्मणि. यत् **कर्मवर्त्मस्वे**वाभासरूपेषु, तत्रापि निश्चयाभावात् केवलं **भ्रमामो**ऽतो मोहिता एव ॥४९॥

वाचापि क्षमापयन्ति **स वैष** इति.

स वैष आद्यः पुरुषः स्वमायामोहितात्मनाम् ।
अविज्ञातानुभावानां क्षन्तुमर्हत्यतिक्रमम् ॥५०॥

क्रियया स्वापराधक्षमापनं न भवति दुर्बलत्वादतः **स वा** भगवानेव वा, यस्यास्माभिरपराधः कृतः स **एवैषो**ऽग्र आविर्भूतः. अनेन ज्ञायते क्षमां करिष्यतीति. किञ्च **आद्यो**ऽयं सर्वेषां पितातः पुत्राणामपराधमिव सहिष्यति. किञ्च **पुरुषो**ऽयमन्तर्याम्यतस्तत्प्रेरणयैव कृतमिति युक्तमस्य सहनम्. किञ्च **स्वमायामोहितात्मनाम**तस्तस्यैव मायया मोहितचित्तानामत एव **न विज्ञातो** भगवदीयो**ऽनुभावो** यैस्तादृशाना**मतिक्रमम**पराधं **क्षन्तुमर्हति** स्वधर्मविचारेणापि क्षमा युक्तेत्यर्थः ॥५०॥

एवमपराधक्षमां कारयित्वा निवृत्तव्यापारा जाता, न तु स्वयं तत्र गत्वा लोकन्यायेन क्षमां कारितवन्तः. तत्र हेतुमाह**इती**ति.

इति स्वाघमनुस्मृत्य कृष्णे ते कृतहेलनाः ।
दिदृक्षवो व्रजमथ कंसाद् भीता न चाचलन् ॥५१॥

स्वाघं स्वापराध**मनुस्मृत्य ते** ब्राह्मणाः **कृष्णे**[१] विद्यमानेऽपि **कृतहेलना** अपि **दिदृक्षवो**ऽप्युदवसाया**थ** भिन्नप्रक्रमेण **व्रजं** प्रति **न चाचलन्.** तत्र हेतुः **कंसाद् भीता** इति– तत्र गते कंसो[२] भगवानयमिति ज्ञात्वा कदाचिदपकारं कुर्याद् व्रजस्य; तदा महानयमपराधो भवेदतो व्रजं [३]प्रति न गताः ॥५१॥

॥ इति श्रीभागवतसुबोधिन्यां श्रीमद्वल्लभदीक्षितविरचितायां दशमस्कन्धविवरणे द्वितीये तामसप्रकरणेऽवान्तरसाधनप्रकरणे वीर्यपरनामधर्मनिरूपक- द्वितीयाध्यायस्य स्कन्धादितो विंशाध्यायस्य विवरणम् ॥

॥ विंशोध्यायः ॥

---

१. कृष्णेपि. २. कंसोपि. ३. लुप्तम्.

॥ तृतीयः स्कन्धादितः एकविंशोध्यायः ॥

एकविंशे हैतुकस्य कर्मणो विनिवारणम् ।
कृत्वा तद् वैदिकं चक्रे युक्त्यैवेति निरूप्यते ॥(१)॥
यथा प्रबोधिता विप्रा एवं देवा अपि स्वयम् ।
महतां महती शिक्षा उत्तरोत्तरमुत्तमा ॥(२)॥
स्त्रीणां वस्त्राणि जगृहे विप्राणां तु स्त्रियः सतीः ।

योजना

एकविंशाध्यायार्थोक्तौ **हैतुकस्य कर्मणो विनिवारणमिति**. "इन्द्रो वृष्टिं करोति तयान्नान्युत्पद्यन्ते तैर्वयं जीवाम इति हेतोरिन्द्रोस्माभिर्यष्टव्य" इति ज्ञानेनेन्द्रयागस्य कृतत्वाद् विधिस्पर्शाभावाद् हैतुकत्वं एतस्येन्द्रयागस्य. तं निवारयित्वा गोवर्धनयागः कृतस्तत्र गोवर्धनस्य भगवद्रूपत्वाद् भगवद्यागस्य सर्ववेदविहितत्वाद् **वैदिकत्वमतो** गोवर्धनयागं कारितवानित्यर्थः. अत एव श्रीनन्देन भगवन्तं प्रत्युत्तरदाने स्वकृतेन्द्रयागस्य हैतुकत्वमेवाभाणि "पर्जन्यो भगवानिन्द्र" इत्यादिना. भगवतापि श्रीनन्दकृतेन्द्रयागस्य वेदमूलकत्वाभावात् केवलयुक्तिसिद्धत्वात् तन्निवारणे "कर्मणा जायते जन्तुरि"त्यादिना युक्तीः प्रदर्श्य श्रीगोवर्धनयागकरणेऽपि "वयं वनौकसस्तात नित्यं शैलनिवासिन" इत्यनेन युक्तय एव प्रदर्शिताः. तदेतदाहुः **कृत्वा तद्वैदिकं चक्रे युक्त्यैवेति निरूप्यते** इति (१). **यथा प्रबोधिता** इत्यादि, यज्ञपत्नीनामनुग्रहात् तद्भर्तारो बोधिता एवं इन्द्रमानभङ्गेन सर्वे देवाः शिक्षिता इत्यर्थः (२). एकोनविंशविंशैकविंशाध्यायलीलया सिद्धाननुग्रहानाहुः **स्त्रीणां वस्त्राणीति**. **स्त्रीणां** कुमारिकाणां **वस्त्राणि जगृहे** वस्त्रग्रहणद्वारा ता

कारिकार्थः

एकविंश इत्यादि. एकविंशाध्याये **हैतुकस्य** "पर्जन्यो भगवानिन्द्र" इत्याद्युक्तप्रकारेण नन्दादियुक्तिसिद्धस्य **कर्मण** इन्द्रयागस्य **विनिवारणं कृत्वा** भगवान् **युक्त्यैव** "वयं गोवृत्तयोऽनिशमि"त्याद्युक्तप्रकारेण **तत्** कर्म गोसवात्मकं **वैदिकं चक्रे इति निरूप्यते** इत्यर्थः. गोसवस्य वेदाप्रसिद्धत्वेऽपि भगवदुक्तत्वेन वैदिकत्वं ज्ञेयम् (१). **यथा प्रबोधिता** इत्यादि स्पष्टम् (२). शिक्षाधिक्यं प्रदर्शयन्ति **स्त्रीणां वस्त्राणीत्यादि**, वस्त्रहरणात् पत्नीहरणस्याधिक्यं ततो हविर्हरणस्येति,

देवानां तु हवींष्येव येषु ते सुप्रतिष्ठिताः ॥(३)॥
तामसान् राजसांश्चैव समुद्धृत्य मनीषया ।
सात्त्विकोद्धरणेयं[1] तु यागभङ्गं चकार ह ॥(४)॥

पूर्वाध्याये ब्राह्मणा नागता इत्युक्तं, तथा सति गोकुले वैदिको यज्ञो न प्रवर्तत इत्याशङ्क्य **भगवानपि** [2]सर्वनिरपेक्षोऽपि स्वार्थं तत्र यज्ञं कारितवानित्याह **भगवानपीति**.

॥ श्रीशुक उवाच ॥

भगवानपि तत्रैव बलदेवेन संयुतः ।
अपश्यन्निवसन् गोपानिन्द्रयागकृतोद्यमान् ॥१॥

एवम्प्रकारेण **तत्रैव** गोकुले **बल**भद्रसहितो **नितरां वसन्** निरोधं कुर्वन्नन्यार्थं[3] प्रवर्तमानान् दृष्टवान्. तदाह **गोपानिन्द्रयागकृतोद्यमानिति, इन्द्रयागार्थं कृत उद्यमो** यैर्वृद्धैर्गोपैस्तान**पश्यत्**. एतेन शुकस्याश्चर्यमपि ज्ञापितं भवति. तथा हि— यत्र विहितत्वेनापि कृतः [4]श्रवणादिपरम्पराभगवत्सम्बन्धी धर्मस्तिष्ठति, न तत्रान्यधर्मसम्बन्धः सम्भवतीह तु नैसर्गिकैश्वर्यादिमान् साक्षाद्धर्मी वसन्नन्यधर्मासहिष्णुषु स्वैश्वर्यादिषु जागरूकेषु सत्स्वपि तत्रापि स्वयमन्यधर्ममपश्यत् स्वकिरणनाश्यं तमःपुञ्जं तरणिरिव. अत एव **निवासोक्तिरपिपदं भगवत्पदं** [5]च. क्रियाशक्ति-

---

योजना

अङ्गीकृतवान्. **विप्राणां** यजमानानां **स्त्रियः जगृहे** तद्द्वारा ब्राह्मणानङ्गीचकार. **देवानां हवींषि** गोवर्धनस्थरूपेण **जगृहे** हविर्ग्रहणद्वारा देवाननुजग्राहेत्यर्थः (३). **तामसान् राजसानित्यादि** जीवविशेषणानीमानि. **तामसान्** जीवान् कुमारिकारूपान् **राजसान्** ब्राह्मणान् **सात्त्विकान्** देवानित्यर्थः. एवमध्यायत्रयसिद्धं प्रमेयमुक्तम्. ब्राह्मणानां राजसत्वं कर्मठत्वात्, "कर्मश्रद्धा तु राजसी"तिभगवद्वाक्यात् (४).

कारिकार्थः

तदेवाहुर्**येष्विति**, देवानां प्रतिष्ठाया हविरधीनत्वात् (३). **तामसानित्यादि तामस्यः** कुमारिकाः, पुंस्त्वमविवक्षितं, **राजसा** विप्राः **सात्त्विका** देवाः (४).

---

१. °णे यत्. २. निरपेक्षोपि. ३. °न्यार्थप्रव°. ४. श्रवणादिः. ५. वा.

प्रधानेन देवत्वेन भजनधर्मविरोधिनाशकेन साहित्यमप्याश्चर्यहेतुः. [1]एतावत्पर्यन्तं निवासमात्रं कृतवान्न त्वन्यधर्मबाधनमपि, अत एतावत्कालपर्यन्तं यागकरणमित्यभिप्रेत्यापि **निवासोक्तिः**. शनैःशनैर्निरोधं कर्तुमिच्छा[2] न त्वेकदैव सर्वप्रकारकं तं कर्तुं, तथा सति लीलारसो न स्यादत इयदवधि नैतत्करणमिति चिरकालवर्तमानताबोधकशतृप्रत्ययेन ज्ञाप्यते. यद्यपि वर्तमानत्वमात्रमर्थस्तस्य तथाप्यखण्डदण्डायमानो वासश्चिरकालीन इति तस्य वर्तमानत्वबोधने यादृशः स तादृशस्य[3] तथात्वमायातीति तथा. इदं दर्शनं तेषु स्वज्ञानशक्तिस्थापनरूपमन्यथा पारम्पर्यागतत्वेनोपपत्तिमत्त्वेन चाकरणे [4]सुखाप्तिहेतुत्वेन चेन्द्रयागं जानतां लोकरीतिपरिनिष्ठितबुद्धीनां बालभाषितेन कथमेतादृशं कर्म त्याज्यमित्येव ज्ञानं स्यान्न तु भगवदुक्ताङ्गीकारः. अतः पूर्वमेतादृशीं[5] स्वज्ञानशक्तिं बीजवद् गुप्ततया तेषु स्थापयित्वा तदुद्बोधकानि वचनानि वदिष्यति तेन सर्वेष्टसिद्धिरिति ज्ञेयम् ॥१॥

तच्च भगवद्भक्तैर्भगवता निरुद्धैर्न कर्तव्यमिति तन्निषेधार्थं तन्मतं पूर्वपक्षीकृत्य सिद्धान्तं वक्तुं प्रस्तावनामाह **तदभिज्ञ** इति.

तदभिज्ञोऽपि भगवान् सर्वात्मा सर्वदर्शनः।
प्रश्रयावनतोऽपृच्छद् वृद्धान् नन्दपुरोगमान् ॥२॥

भगवान् हि सर्वज्ञः लोकन्याये**नापि** पूर्ववर्षे कृतत्वात्[6] **तदभिज्ञः सर्वेषामन्तरात्म**त्वाच्च सर्वज्ञानशक्तिमत्त्वाच्च **सर्वेष्वेव दर्शनं** यस्येति. एवम्भूतो**ऽपि प्रश्रयेण** विनयेना**वनतो** भूत्वाजानन्निव **नन्दपुरोगमान् वृद्धानपृच्छत्** ॥२॥

प्रश्नमेवाह **कथ्यतामिति**.

॥ श्रीभगवानुवाच ॥

कथ्यतां मे पितः कोयं सम्भ्रमो व उपागतः।
किं फलं कस्य [7]वोद्देशः केन वा साध्यते मखः ॥३॥

पितरितिसम्बोधनमुत्तरत्रयपरिज्ञानार्थम्. अनुशिष्टेन हि भाव्यं पितुः पुत्रेणेत्यत एव **मे** मह्यं **कथ्यतां कोऽयं**[8] **सम्भ्रमो व उपागत** इति. **सम्यग् भ्रमो** यत्र

१. अत्र शुकाशय / अत्रायमाशयः, एता°. २. °च्छामि. ३. तादृशतथा°. ४. °प्राप्ति°. ५. °मेव तादृशीं. ६. कृतवान्. ७. चो°. ८. वा.

तादृशः **को** वा पदार्थः समागत इति; **सम्भ्रम** उत्सवप्रयत्नो वा. अलौकिकश्चेत् तस्य विधानं वक्तव्यमित्याह **किं फलमिति**. आदौ कर्मणः फलं ज्ञातव्यमन्यथा प्रवृत्तिरेव न स्यात्, "प्रयोजनमनुद्दिश्य न मन्दोऽपि प्रवर्तते" इतिन्यायात्. किञ्च **कस्य [1]वोद्देशः** [2]कमुद्दिश्यैतत् कर्म प्रवृत्तमिति का देवतेत्यर्थः. **केन वा** द्रव्येण **साध्यत** इति. सर्वत्र हि द्रव्यदेवताफलानि वक्तव्यानि. महान् सम्भ्रम इति प्रायेणायं **मखो** महान् यागः. वेदे त्वप्रसिद्ध इति तदुपहासोऽपि ॥३॥

एतत् सर्वं विशेषाकारेण वक्तव्यमिति पुनराहै**तद् ब्रूहीति**.

एतद् ब्रूहि महान् कामो मह्यं शुश्रूषवे पितः।
न हि गोप्यं हि साधूनां कृत्यं सर्वात्मनामिह ॥४॥

किं ततः स्यात्? तत्राह **महान् कामो मह्यमिति**, अयं **महानेव कामो**ऽभिलषितोऽर्थः, तद्विषयिणीच्छा वा, अतः **शुश्रूषवे मह्यं** वदेति. अज्ञत्वज्ञापनाय पुनः **पितरि**तिसम्बोधनं, बाला हि पितरं बहुधा सम्बोधयन्तीति. ननु गोप्यमेतन्न बालेभ्यो वक्तव्यमिति चेत् तत्राह **न हि गोप्यं** हीति. इदं **न गोप्यं** प्रतिभाति, महान् सम्भ्रमो दृश्यत इति. किञ्च **साधूनां न** किञ्चिद् **गोप्यम्**, अन्यथा साधुत्वमेव न स्यादतो **हि** द्वयं युक्तम्. किञ्च **साधूनां कृत्यमेव नास्ति** कुतः

टिप्पणी

एकविंशाध्याये, **एतद् ब्रूहि महान्काम** इत्यत्र. **शुश्रूषव** इत्यग्रे कथनात् 'सन्'प्रत्ययेनेच्छैवोक्तेति **कामपदार्थमन्यमाहुः अभिलषितोऽर्थ** इति. यद्यप्यन्यद्वारा कथनेऽपि शुश्रूषानिवृत्तिः सम्भवति, तथापि **शुश्रूषवे मह्यं** साक्षाद्भगवत्कथनलक्षणो**ऽर्थो महानि**ति प्रातीतिकोऽर्थः. वस्तुतस्तु यागभङ्गलक्षणोऽर्थस्तथेति हृदयम्. तथाप्यन्यभजननिवारणपूर्वकस्वभजन एव प्रभुतात्पर्यमिति पक्षान्तरमाहुः **तद्विषयिणीच्छा वेति**, स्वयागविषयिणी सेत्यर्थः ॥४॥

लेखः

एकविंशेऽध्याये **न हि गोप्यं** हीत्यत्र **अतो हि द्वयमिति** मूलोक्तं हिशब्दद्वयमित्यर्थः ॥४॥

१. चो°. २. °मुपदि°.

पुन**र्गोप्यं कृत्यं** भविष्यति? साधवोऽत्र शास्त्रीयाः "कृपालुरकृतद्रोह" इत्यादिधर्मयुक्ताः. तेषामगोप्यकार्यत्वे हेतुः **सर्वात्मना**मिति. **सर्वेष्वेवात्मा** हृदयं येषां; ते हि सर्वहिते रताः. तत्रापीहास्मिंल्लोके **न** तेषां **कृत्यं गोप्यम्.** अनेन भगवच्छास्त्रं कदाचिन्न वदेयुरपि, न तु लौकिकं किञ्चित् ॥४॥

ननु "नव गोप्यानि सर्वथे"तिशास्त्रात्[१] कथमगोप्यमिति चेत्, तत्राहा**स्तस्वपरदृष्टीना**मिति.

अस्तस्वपरदृष्टीनाममित्रोदासविद्विषाम्।
उदासीनोरिवद् वर्ज्य आत्मवत् सुहृदुच्यते ॥५॥

अस्ता गता[२] **स्वः परश्चे**त्यवान्तरभेद**दृष्टि**र्येषां, परबुद्धौ सत्यां गोप्यशास्त्रं न तु तदभावे. किञ्च **न मित्रमुदासीनो विद्वेषी** च येषां, तेषु बुद्धिभेदाभावात्, तत्कृता मित्रोदासीनरिपवोपि न सन्ति. तस्मात् सर्वत्र तुल्यबुद्धिरेव कर्तव्येत्युपदेशोऽपि. अथ यदि नास्मिन् ज्ञानेऽधिकारस्तस्मिन्नपि पक्षे द्वयी गतिः कर्तव्या त्याज्यात्याज्यभेदेन, त्रिविधगतौ तु बुद्धिरतिनष्टा स्यात् सगुणापि भवेदतो द्वयमेव कर्तव्यमिति. चतुर्णां भेदद्वयमेवाह**ोदासीन** इति. आत्ममित्रोदासीनरिपव इति चतुर्धा. तत्रात्मा मित्रं चैकमुदासीनोऽरिश्चैकोऽतः कार्येषू**दासीनोऽरिवद् वर्ज्यः** शत्रुवन्निराकार्यः **सुहृ**न्मित्रं **त्वात्मवदुच्यत** इति प्रमाणम् ॥५॥

ननु वक्तव्यं भवति परं न ज्ञायत इति चेत्, तत्राह **ज्ञात्वाज्ञात्वे**ति.

ज्ञात्वाज्ञात्वा च कर्माणि जनोऽयमनुतिष्ठति।
विदुषः कर्मसिद्धिः स्यात् तथा नाविदुषो भवेत् ॥६॥

यमर्थं ज्ञात्वा जनोऽनुतिष्ठत्यज्ञात्वा चानुतिष्ठति, तत्रापि **कर्माणि**

लेखः

अस्तस्वपरेत्यत्र **द्वयी गतिरि**ति बुद्धेरिति शेषः. **त्रिविधगताविति**, तथा सति संशयरूपत्वात् मनस्त्वं भवेत्, बुद्धेश्चित्तत्वे स्थितिः, बुद्धिमात्रत्वे किञ्चित्कालेन नाशः. मनस्त्वे तु तदैव नाश इति **बुद्धिरतिनष्टा** भवेदित्यर्थः. **सगुणापी**ति, चित्तत्वे निर्गुणत्वं गतिद्वये निश्चयात्मकत्वात् चित्तत्वं भवेदपि, तृतीयगतौ तु मनस्त्वात् चित्तत्वसम्भावनापि नास्तीति **सगुणा भवेत्,** नाशसमुच्चयार्थ**मपि**शब्दः ॥५॥

१. °ति शास्त्रं न तु शास्त्रात्. २. °ताः.

वैदिकानि. तत्र ज्ञानमावश्यकं, **कर्माणि ज्ञात्वा** तत्सम्बन्धिपदार्थोऽनुष्ठेयो नान्यथा. ततः किं स्यादत आह **विदुषः कर्मसिद्धिः स्या**दिति. यस्तु जानाति तस्यैव **कर्मसिद्धिः** कर्मफलं स्याद्, "यदेव विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदा वा तदेव वीर्यवत्तरं भवती"तिश्रुतेः. वीर्यवत्तरमेव फलजनकम्. अथ वा सम्पूर्णं फलं ज्ञानेन भवत्यल्पं तु फलमज्ञात्वापि भवतीत्याह **तथा नाविदुषो भवे**दिति, **अविदुषस्तथा** फलं **न भवेत्** ॥६॥

आदौ चैतद् वक्तव्यं– किमेतत् कर्म वैदिकं स्मार्तं लौकिकं [१]वेति ? एतदभावेऽकर्तव्यमेवेत्याशयेनाह **तत्रे**ति.

तत्र तावत् क्रियायोगो भवतां किं विचारितः।
अथ वा लौकिकस्तन्मे पृच्छतः साधु भण्यताम् ॥७॥

तत्रान्यकथनापेक्षया प्रथममेतद् वक्तव्यम्– अयं **विचारितः क्रियायोगः किं** वैदिकः स्मार्तो **वाथ वा लौकिकः** कुलदेशधर्म इव ? [२]एतदेतेषामवान्तरनिर्णयरूपं **पृच्छतो मे साधु** यथा भवति तथा **भण्यतां** युक्तिपूर्वकं प्रमाणपूर्वकं वक्तव्यमित्यर्थः ॥७॥

एवं भगवता पृष्टो यादृशज्ञानेनेन्द्रयागं कृतवन्तस्तं प्रकारमाह **पर्जन्य** इतिचतुर्भिः,

हैतुकं शास्त्रमाश्रित्य भौतिकेन्द्राय लोकतः।
भ्रमात् परम्पराप्राप्तं कुर्वन्तीति निरूप्यते ॥(५)॥

॥ नन्द उवाच ॥

पर्जन्यो भगवानिन्द्रो मेघास्तस्यात्ममूर्तयः।

लेखः

पर्जन्य इत्यस्याभासे **यादृशज्ञानेने**ति यत्प्रकारकज्ञानेनेत्यर्थः ॥८॥

कारिकार्थः

पर्जन्यो भगवानिन्द्र इत्यत्र **हैतुक**मिति. **भौतिकेन्द्राये**ति, आधिदैविकेन्द्रस्य भगवद्बाहुरूपत्वादयमिन्द्र आधिभौतिक इत्यर्थः (५).

१. चेति. २. एतदेवमेवान्तर°.

तेऽभिवर्षन्ति भूतानां प्राणनं जीवनं पयः ॥८॥

हेतुशास्त्रमूलत्वात् प्रथमं हेतुमाह. **पर्जन्यो** नाम वृष्टिकर्ता देवः, स **भगवानेव**. अन्यथा तद्रेतसान्नादिकं जायत इति भगवतो जगत्कर्तृत्वं न स्यादतः पर्जन्यो भगवानेव. **मेघाः** पुनस्तस्यात्मनो देहस्य **मूर्तयो**ऽवयवाः. **त** एव हि सर्वेषामेव **भूतानां प्राणन**रूपमाप्यायनजनकं [1]जीवनजनकं **पयो** जलं **वर्षन्ति**. अतः सर्वजगद्रक्षकः पर्जन्य एव. जलान्नाभ्यामेव हि[2] जीवन्ति सर्वे प्राणिनः, अत उपकारी परमैश्वर्यं प्राप्त **इन्द्र** एव सर्वोपास्यः ॥८॥

अतस्तद्भजनं सर्वे कुर्वन्तीत्याह—

तत् तात वयमन्ये च वार्मुचां पतिमीश्वरम् ।
द्रव्यैस्तद्रेतसा सिद्धैर्यजन्ति क्रतुभिर्नराः ॥९॥

तत् तातेति. स्नेहेन सम्बोधनमप्रतारणाय. **वयं** वैश्या **अन्ये** क्षत्रिया ब्राह्मणाश्च सुतरां ये केचित् [3]सस्योपजीविनस्ते सर्वे **वार्मुचां** मेघानां **पतिमिन्द्रं** पोषकत्वे**नेश्वरं तद्रेतसै**व बीजभूतेन जलेन **सिद्धै**र्व्रीह्यादिभिः **क्रतुभिर्ना**नाविधैरेव यागै**र्नराः** सर्व एव मनुष्या **यजन्ति** मनुष्याधिकारित्वाच्छास्त्रस्य ॥९॥

ततस्**तच्छेषेण** यज्ञशिष्टान्नेन त्रिवर्गफलसिद्ध्यर्थं जीवन्तीत्याह—

तच्छेषेणोपजीवन्ति त्रिवर्गफलहेतवे ।
पुंसः पुरुषकाराणां पर्जन्यः फलभावनः ॥१०॥

तच्छेषेणेति. **तस्ये**न्द्रस्य यज्ञस्य वा[4] **शेषेण** शिष्टान्नेन[5] शेषत्वं वा प्राप्यो**पजीवन्ति** तच्छेषमन्नमुपजीवन्ति. **त्रिवर्गफलस्य हेतु**र्जीवनं, जीवनार्थमन्नम्. तद्वास्यं वोपजीवन्तीत्यर्थः. ननु स्वपौरुषेणान्नमुत्पाद्य स्वत एव जीवन्ति किमिन्द्रेण कार्यमित्याशङ्क्याह **पुंस** इति. पुरुषस्य ये **पुरुषकाराः** पौरुषाणि कृष्यादिव्यापारास्तेषां **पर्जन्य** एव **फलं भावयति**, अन्यथा वृष्ट्यभावे पुरुषप्रयत्नो व्यर्थ एव स्यादतः स्वसामर्थ्ये विद्यमानेष्युपजीव्य इन्द्रः ॥१०॥

टिप्पणी

पर्जन्यो भगवानित्यत्र, अन्यथा तद्रेतसेत्यादि. भगवदतिरिक्तस्यैकस्याखिलजगदुत्पत्तिस्थितिहेतुत्वं न सम्भवतीत्येतत्परोऽयं ग्रन्थः ॥८॥

१, २. लुप्तम्. ३. स्वस्यो°. ४. वि°. ५. शिष्टेनान्नेन.

किञ्च परम्परया प्राप्तोऽयं धर्मोऽतः कर्तव्योऽकरणे प्रत्यक्षमेवानिष्टं स्यादित्याह **य एवमि**ति.

य एवं विसृजेद् धर्मं पारम्पर्यागतं नरः ।
कामाद् लोभाद् भयाद् द्वेषात् स वै नाप्नोति शोभनम् ॥११॥

यथा ग्रामदेवता अपूजितास्तत्कालमेव ग्रामं दहन्त्यतः पूजनीयाः, "प्राप्तसेवापरित्यागो द्वेषमूलमिदं स्मृतमि"ति. **एवम्**प्रकारेण **पारम्पर्यागतं धर्म**त्वेन क्रियमाणं स्वयं **नरो** भूत्वा **यो** विसृजेत् **स शोभनं** शुभफलं **न प्राप्नोति**. त्यागे हेतुचतुष्टयं— कामक्रोधलोभा अन्यभयात् प्रतिबन्धश्च. तानाह **कामादि**ति. कामे कर्तुरस्वास्थ्यं, यावता कालेन यागः क्रियते तावान्[1] कालो भोग एव व्याप्रियत इति कालसङ्कोचादकरणं **काम**हेतुकम्. **लोभो** द्रव्यगतो दोषः; द्रव्यं स्वार्थे तिष्ठत्वित्यकरणम्. **भय**मन्यस्मात् क्लेशभयं वा. **द्वेषो** देवताविषयकः प्रमाणविषयको वा. एवं चतुर्भिर्हेतुभिरभजनेऽनिष्टमेव फलं, शुभफलाभावो वा; शुभफले[2] प्रतिबन्धो वा भवेत्. एवं हेतुवादमाश्रित्य लौकिकस्मार्तवैदिकानां सम्बन्धरहितमपि कर्म कर्तव्यमिति निरूपितम् ॥११॥

तद् भगवान् सर्वधर्मरक्षकः [3]पाखण्डधर्मनिराकरणकर्ता दूषितवानित्याह **वचो निशम्ये**ति.

॥ श्रीशुक उवाच ॥

वचो निशम्य नन्दस्य तथान्येषां व्रजौकसाम् ।
इन्द्राय मन्युं जनयन् पितरं प्राह केशवः ॥१२॥

नन्दस्य वचो निशम्य तथान्येषां, सम्मत्यर्थं पुरोहितानामपि, **व्रजवासिनः** सर्वे मूर्खा एवेति विचिन्त्याधिभौतिक इन्द्रो वृथा भक्षयतीति दृष्टो[4] धर्मो न भवतीती**न्द्राय मन्युं जनयन् पितरं** नन्दं प्रति भगवान् **प्राह**. ननु देवद्रोहं कुतः

लेखः

वचो निशम्येत्यत्र **दृष्टे धर्म** इति. इदमग्रिमाध्यायकारिकायां स्फुटीकरिष्यते ॥१२॥

योजना

वचो निशम्येत्यस्य व्याख्याने **भौतिक इन्द्र** इति. वेदेनाविहिते युक्तिकल्पिते

---

१. तावत्कालो. २. °फलप्रति°. ३. पाषण्ड°. ४. दृष्टे.

कृतवान्? जाते वा भगवतः किं स्यात्! तत्राह **केशव** इति, ब्रह्मशिवयोरपि मोक्षदाता कोऽयं वराक इन्द्रः! ततः पाषण्डधर्मैर्ब्रह्मादीनां [1]देवत्वमेव गच्छतीति तन्निवृत्त्यर्थमेवं कृतवानित्यर्थः ॥१२॥

प्रथमतो भगवान् हेतुपक्षं वारयति **कर्मणेति**.

॥ श्रीभगवानुवाच ॥

कर्मणा जायते जन्तुः कर्मणैव विलीयते।
सुखं दुःखं भयं क्षेमं कर्मणैवाभिपद्यते ॥१३॥

हेतुवादे हृदयारूढे साक्षाद्ब्रह्मवादो न वक्तव्य इति तेषां तन्निष्ठात्याजनार्थं कालकर्मस्वभाववादा [2]उपपन्नाः. तत्रापि कालवादो गूढः शीघ्रं हृदयारूढो न भवत्यतो ज्योतिर्विद एव तत्र निपुणाः; कर्मस्वभाववादौ तूपपत्तावुत्पत्तौ [3]चोपयुज्येते. अत [4]उपपत्त्यर्थं प्रथमतः कर्मवादमाह **कर्मणा जायत** इति. यादृशं हि शुभाशुभं कर्म, तेन कृत्वा प्राणी, देवस्तिर्यङ् मनुष्यो वा भवति. यतः सर्वं जायते यस्मिन् प्रतिष्ठितं, येन च लीयते तदेवोपास्यं भवत्यतः प्राणी **कर्मणा जायते** कर्मणैव, च म्रियते शुभाशुभभोगे समाप्ते विपरीते कर्मणि म्रियते. स्थितावपि कर्मैव हेतुरित्याह **सुखं दुःखमिति**. जीवन् प्राणी कदाचित् सुखं प्राप्नोति कदाचिद् दुःखं [5]प्राप्नोति कदाचिद् भयं कदाचिद् क्षेममिति. एतत् सर्वं कर्माभावे नोपपद्यते ॥१३॥

ननु [6]कथं कर्मणः कारणत्वं ? जडं हि कर्म, फलं हि चेतनस्य चेतन एव प्रयच्छति, स्वामिसेवकयोस्तथादर्शनात्. तस्मादीश्वरवाद एव सत्यो न कर्मवाद इति चेत्, तत्राह**ास्ति चेदि**ति.

लेखः

कर्मणेत्यत्र उत्पन्ना इति वक्तव्यत्वेन भगवन्मनसीति शेषः ॥१३॥

योजना

कर्मणि वेदोक्तकर्मणेज्यमान आधिदैविक इन्द्रो बलिं न गृह्णाति, श्रद्धया क्रियमाणत्वाद् ग्रहणमप्यावश्यकमतो भौतिकरूपेण भक्षयतीति तथोक्तम्. किञ्च वेदस्यापि वेदत्वं भगवद्वाक्यादतः श्रीनन्दं प्रति गोवर्धनयागकरणार्थं यानि वाक्यानि हरिणोक्तानि तानि वेदरूपाण्येव, भगवद्गीतावत्. तथा सति तदुक्तत्वादन्नकूटयागस्य वैदिकत्वम् ॥१२॥

---

१. वेदत्व°. २. °त्प°. ३. °वोप°. ४. एवोप°. ५. लुप्तम्. ६. ननु जडं.

अस्ति चेदीश्वरः कश्चित् फलरूप्यन्यकर्मणाम्।
कर्तारं भजते सोऽपि न ह्यकर्तुः प्रभुर्हि सः ॥१४॥

आदावीश्वर एव नास्ति, प्रयोजनाभावात्. कर्मसिद्धान्तानभिज्ञो हि मूर्ख ईश्वरं मन्यते. वेदो हि बोधयति कर्म, फलसाधनत्वेन; कृते च कर्मणि फलं भविष्यतीति, यथा भोजने तृप्तिर्यथा बीजावापे फलं यथा शयने निद्रैवमलौकिकेऽपि कर्मणैव फलं भवति. न चानधिष्ठितं[1] कथं साधयेदिति वाच्यं, चेतनो हि जीवस्तस्याधिष्ठाता. न च [2]कर्मानित्यमिति कथं फलसाधकं ? कर्मणो नित्यत्वात्, तदानीमेव सूक्ष्मस्वर्गजननाद् बीजाद् गर्भाधानवददृष्टद्वारा वा. अन्यथानुपपत्त्या कल्पितमदृष्टं तादृशमेव कल्पनीयं यदितरानधिष्ठितमेव फलं जनयतीति. अस्तु वेश्वरः कल्प्यमानोऽप्यकिञ्चित्कर एव सूपकारवद् जीवशेष एव भवेद्, यादृशं यस्य कर्म तादृशं तस्मै सिद्धं कृत्वा प्रयच्छतीति. तदाह**ान्यकर्मणां**[3] जीवकर्मणां फलनिरूपक **ईश्वरः कश्चिदस्ति चेत् सोपि कर्तारमेव भजति** तत्कर्मफलं तत्कर्त्रे प्रयच्छति, नान्यस्मै; **सोपि न ह्यकर्तुः प्रभुः**. स्वतन्त्रेश्वरवादे तु वैषम्यनैर्घृण्ये स्यातामतः सर्वथेश्वरवादः [4]समीचीनो न. हैतुकोऽयमीश्वरो निषिध्यते, न प्रामाणिकः, तस्य [5]हेतुनापि निषेधासम्भवात्; न ह्यप्रयोजकोऽपि भर्ता निषेद्धुं शक्यते ॥१४॥

तस्मात् प्रमाणाभावे हेतुसिद्ध ईश्वरो नाङ्गीकर्तव्यः, तदाह **किमिन्द्रेणेति**.

किमिन्द्रेणेह भूतानां स्वं स्वं(!) कर्मानुवर्तिनाम्।
अनीशेनान्यथा कर्तुं स्वभावविहितं नृणाम् ॥१५॥

इह कर्मफलदाने **स्वं स्वं(!) कर्मानुवर्तिनां**[6] **भूतानामिन्द्रेण किं** कार्यम् ? कर्मानुवृत्तिरीश्वरेणापि निषेद्धुं न शक्यत उपजीव्यत्वादत ईश्वरं साधयन्ननीश्वरमेव साधयति. तदाह**ानीशेनान्यथा कर्तुमिति**, **अन्यथा कर्तुमनीशेना**समर्थेनेश्वरेण **किं** प्रयोजनम् ? ननु कर्मकरण ईश्वरो हेतुर्भविष्यति, "तं साधु कर्म कारयति यमुन्निनीषति तमसाधु कर्म कारयति यमधो निनीषती"तिश्रुतेः. अयमपि पक्षो [7]नाङ्गीकर्तव्योऽन्यथोपपत्तेः. कर्मकरणे स्वभाव

---

१. वानधिष्ठितं कथं वा. २. °निष्ठ°. ३. °न्यथा. ४. वादोसमीचीनः. ५. हेतुना. ६. °र्तिभूतानाम्. ७. हेतुत्वेनाङ्गीकृतः कर्तव्यो°.

एव हेतुः— यदि सत्त्वमभिव्यक्तं साधु कर्म करोति, रजश्चेन्मध्यमं, तमश्चेदधममिति. ततो **नृणां स्वभावविहितमेव** कर्म स्वभावेनैव सिद्धम् **अन्यथा कर्तुं** समर्थो न भवतीश्वरोतो नाङ्गीकर्तव्य इत्यर्थः ॥१५॥

ननु स्वभावप्रबोधनार्थमीश्वरोऽङ्गीकर्तव्य इति चेत्, तत्राह **स्वभावतन्त्रो हि जन** इति.

स्वभावतन्त्रो हि जनः स्वभावमनुवर्तते ।
स्वभावस्थमिदं सर्वं सदेवासुरमानुषम् ॥१६॥

यदि स्वभावः परिच्छिन्नो देशतः कालतश्च स्यात् तदा [1]तत्प्रबोधार्थमीश्वरोऽङ्गीकर्तव्यः स्यात्. स्वभावस्त्वादौ जीवं वशीकरोति. तदा जीवः स्वभाववशगो भवति. तदा बन्धे पतित इव **स्वभावतन्त्रः** सन् **स्वभावमेवानुवर्तते** यस्य यः स्वभावो भवति सात्त्विकादिः. नन्वस्वभाववशानामर्थ ईश्वरोऽङ्गीक्रियतां, तत्राह **स्वभावस्थमिदं सर्वमि**ति, **सर्वमे**व जगत् स्वभाव एव तिष्ठति. **देवाः** सात्त्विका **असुरा** राजसा **मानुषा**स्तामसास्त्रिविधैरपि जीवैः **सहितं** जगत् **स्वभावस्थमे**व ॥१६॥

ननु लोकान्तरगमनार्थमीश्वरोऽपेक्ष्यतेऽन्यथा गते देहे मार्गापरिज्ञानात् फलदेशे कथं गच्छेदित्याशङ्क्याह **देहानुच्चावचानि**ति.

देहानुच्चावचान् जन्तुः प्राप्योत्सृजति कर्मणा ।
शत्रुर्मित्र[2]मुदासीनः कर्मैव गुरुरीश्वरः ॥१७॥

उच्चावचाननेकविधान् **देहा**नयं **जन्तु**र्जीवः **प्राप्य प्राप्योत्सृजति** अव्यवहितकर्मणा देहान्तरं प्राप्य पूर्वं त्यजतीत्यर्थः; तत् **कर्मणै**व. ननु समानेऽपि देहे कश्चित् कदाचित् शत्रुर्भवति मित्रं भवत्युदासीनश्च तत्र को हेतुरिति चेत् तत्राह **शत्रुर्मित्रमु[2]दासीनः कर्मै**वेति. अन्यथा तेभ्योऽशुभशुभफलभावा[3] न स्युः. किञ्च **गुरु**रपि **कर्मैव,** न हि तादृशादृष्टाभावे गुरुरुपदिशति फलति वा. **ईश्वरो**पि **कर्मैव,** फलदानात् ॥१७॥

अतस्तमेव पूजयेदित्याह **तस्मा**दिति.

तस्मात् सम्पूजयेत् कर्म स्वभावस्थः स्वकर्मकृत् ।
अञ्जसा येन वर्तेत तदेवास्य हि दैवतम् ॥१८॥

१. °बोधना°. २, २. उदा°. ३. °फलाभावा.

कर्मैव सम्पूजयेत् सम्मानयेत्. तस्य सम्माननप्रकारमाह **स्वभावस्थः** सन् **स्वकर्मकृद्** भवेदिति. यस्य यः स्वभावो ब्राह्मणादिस्तदनुसारेण स्ववर्णाश्रमविहितं कर्म कर्तव्यमन्यथा पतितः स्यात्. फलं प्रयच्छतु मा वेश्वरोस्तु न वा, [1]कर्म कर्तव्यमेव. एवं सत्य**ञ्जसा** सामस्त्येनानायासेन येनैवोपायेन प्रकारेण **वर्तेत** जीवेत[2] **तदेवास्य दैवतम्.** (हि!) युक्तश्चायमर्थः, सद्वासद्वा यत्र प्रतिष्ठितस्तद् दैवतमिति ॥१८॥

अन्यथात्वे बाधकमाह**आजीव्ये**ति.

आजीव्यैकतरं भावं यस्त्वन्यमुपधावति ।
न तस्माद् विन्दते क्षेमं जारान्नार्यसती यथा ॥१९॥

एकतरं भावमाजीव्य प्रथमं [3]तदनुवृत्तिं कृत्वा पश्चाद् **योऽन्यमुपधावति** तत्र परितोषमकृत्वाधिकफलार्थमन्यं चेत् पक्षमवलम्बते तदा **न तस्मात् क्षेमं विन्दते** सोऽपि मन्यते मामपि त्यक्ष्यतीति. अमन्यमानं प्रति दृष्टान्तमाह **जारान्नार्यसती यथे**ति, न हि जारो भरणपोषणादिकं करिष्यति नापि सम्भोगं सर्वदा, परलोकस्तु नास्त्येव. तस्मात् कर्मण आवश्यकत्वात् [4]स पक्षो न त्याज्यः ॥१९॥

वर्तेत ब्रह्मणा विप्रो राजन्यो रक्षया भुवः ।
वैश्यस्तु वार्तया जीवेच्छूद्रस्तु द्विजसेवया ॥२०॥

किञ्च कर्मोपजीवका एव सर्वे, यतो ब्राह्मणो **ब्रह्मणा** वेदेन **वर्तेत** तस्य [5]वेदाध्ययनादिनैव जीवनम्. **राजन्यस्तु भुवो रक्षया** जीवेत[6], **वैश्यस्तु वार्तया जीवेत. शूद्रस्तु द्विजसेवया** तेषां सेवायां क्रियमाणायां ते यद् दद्युस्तेन **जीवेत.** तुशब्देनान्यपक्षा निराक्रियन्ते ॥२०॥

एवं सर्वेषामेव वर्णानां स्वकर्मणैव जीवनमिति निर्धार्य वार्तायामिन्द्रो हेतुभिरपेक्षित इत्युक्तस्तन्निराकरणार्थं वार्तां विभजति **कृषी**ति.

कृषिवाणिज्यगोरक्षाकुसीदं तुर्यमुच्यते ।
वार्ता चतुर्विधा तत्र वयं गोवृत्तयोऽनिशम् ॥२१॥

कृषिः कर्षणं, **वाणिज्यं** व्यापारो, **गोरक्षा** गोचारणं, **कुसीदं** वृद्धिजीविका, तत् **तुर्यं** चतुर्थं पूर्वाभाव एवोपजीव्यमिति, अन्यथा तन्निन्दितमुपपातकमध्ये

१. कर्म तु. २. जीवेत् तदेव°. ३. तदनुप्र°. ४. लुप्तं. ५. °ध्यापना°.
६. स्वधर्मस्तस्येत्यधिकं क्वचित्.

गणनात्. एवं चातुर्विध्यमुपपाद्य तस्य प्रकृतोपयोगमाह **वार्ता चतुर्विधेति. तत्र** प्रकारेषु **वयमनिशं** सर्वदैव **गोवृत्तयो**ऽतः कृष्यभावात् नेन्द्रेण प्रयोजनमिति भावः ॥२१॥

अस्तु वा कृषिस्तथापि नेन्द्रस्योपयोग इत्याह **सत्त्वमिति**.

सत्त्वं रजस्तम इति स्थित्युत्पत्त्यन्तहेतवः ।
रजसोत्पद्यते विश्वमन्योन्यं विविधं जगत् ॥२२॥

उत्पत्तिस्थितिप्रलयार्थं **रजःसत्त्वतमांसि** स्वीकृतानि सन्त्यतस्त्रयोऽपि गुणाः **स्थित्युत्पत्त्यन्तहेतवः**. समुदायेन निरूप्य प्रत्येकोपयोगं निरूपयति **रजसोत्पद्यते विश्वमिति**. अवश्यं हि रजो जगदुत्पादयति; यदि मेघान् रजो न प्रेरयेत् तदा कथमुत्पादयेत् ? यदीन्द्रादयोऽप्यङ्गीकर्तव्यास्तेऽपि गुणाधीना इति न तेषां स्वातन्त्र्यम्. किञ्च**ान्योन्यं** [१]चैतदुत्पद्यते; सर्वत्र रजः प्रविष्टमित्यतो बीजादङ्कुरोऽङ्कुराद् बीजं, पितुः पुत्रः पुत्रात् पुनः पिता "प्रजामनु प्रजायन्त" इतिश्रुतेः. किञ्च **विविधमपि जगदु**त्पद्यतेऽचित्रात् चित्रं चित्रादप्यचित्रं, विकलात् सकलः सकलाद् विकल इति. अत एतत् सर्वं रजस एवोत्पद्यत इति वक्तव्यम्. एकस्यैव [२]तथाङ्गीकारे लाघवं स्यादतो जीवसृष्टिः कर्मणा जडसृष्टी रजसेति जडसृष्ट्यर्थमपि नेश्वरापेक्षा. एवं सामान्यत ईश्वरवादो निराकृतः, श्रुतिसिद्धस्तु न निराकृत[३] इत्यवोचाम ॥२२॥

इदानीं वृष्ट्यर्थमिन्द्रोऽपेक्षित इतिमतं विशेषाकारेण निराकरोति **रजसा चोदिता** इति.

रजसा चोदिता मेघा वर्षन्त्यम्बूनि सर्वतः ।
प्रजास्तेनैव सिध्यन्ति महेन्द्रः किं करिष्यति ॥२३॥

मेघा वर्षन्ति, तेषामन्ता रजोगुणोऽस्ति स हि विक्षेपकोऽतस्तेन विक्षिप्ता

लेखः

सत्त्वं रजस्तम इत्यत्र **जीवसृष्टिरिति** जीवस्य देहयोगवियोगौ सुखादिप्राप्तिश्चेत्यर्थः ॥२२॥

---

१. वैत°. २. तस्या°. ३. निराक्रियत.

वर्षन्त्येव, यथा राजानः कौतुकिनः. अन्यथेन्द्राज्ञया वर्षणपक्षे जलेऽयुक्तभूमौ च वृष्टिर्न स्यादतो रजोविक्षेपादेव **यथासुखं** वर्षन्त्यत आवश्यकत्वाल्लाघवाच्च[१] नाज्ञा नियामिका किन्तु रज एव. अत**स्तेनैव** रजःप्रेरणवर्षेणैव **प्रजाः सिध्यन्ति** जीवन्ति. एवं सति **महेन्द्रः किं करिष्यति!** तत्कार्यमन्यथैव सिद्धमिति ॥२३॥

अस्तु वा 'तुष्यतु दुर्जन' इतिन्यायेन महेन्द्रकार्यं, तथापि नास्माकं तदुपयोगस्तदाह **न नः पुरो जनपदा** इति.

न नः पुरो जनपदा न ग्रामा न गृहा वयम् ।
नित्यं वनौकसस्तात वनशैलनिवासिनः ॥२४॥

नोस्माकं **पुरो** नगराणि **न** सन्ति **न** वा **जनपदा** देशा **न** वा **ग्रामा** हट्टा **ना**पि **गृहाः**. इन्द्रस्य हि लोकपालकत्वं वृष्टिसाधकत्वं यागभोक्तृत्वं दिग्देवतात्वं च चतुर्विधत्वमप्यस्माकं नोपयुज्यते— पुराभावात् न तेन रक्षा कर्तव्या, नापि तस्याधिपत्यं देशाभावात्, न कृष्यादौ तदुपयोगो ग्रामाभावादाहिताग्नेरिवेन्द्रो हविर्न ग्रहीष्यतीति न भयं, गृहाभावान्न दिगादिपरिज्ञानापेक्षा. किञ्च वयं **वनौकसः,** अस्वामिकं वनमितिशास्त्रम्. **ताते**तिसम्बोधनं स्नेहार्थमप्रतारणार्थं च. किञ्च **नित्यं** सर्वदा **शैले** निवसामः. "वैष्णवा हि वनस्पतयः" **विष्णुः** पर्वतानामधिपतिः, अतो वैष्णव एव याग उचितः ॥२४॥

तत्र विष्णोर्द्वयमङ्गं— ब्राह्मणा गावश्च, मन्त्रा एकत्र प्रतिष्ठिता हविरेकत्र. अद्रिर्गोवर्धनः स्वयमेव देवतातो वैष्णव एव यागः कर्तव्य इति वक्तव्ये **गवां ब्राह्मणानामद्रेश्च मख आरभ्यतामि**त्याह **तस्मादि**ति.

योजना

रजसा चोदिता मेघा इत्यस्य विवृतौ **यथा राजानः कौतुकिन** इति, यथा रजोगुणेन विक्षिप्ता राजानः कौतुकिनो द्रव्यं प्रयच्छन्ति एवं रजोगुणेन विक्षिप्ता मेघा अम्बूनि वर्षन्ति ॥२३॥

तस्माद् गवामित्यस्याभासे अद्रिर्गोवर्धनः स्वयमेव देवतेति. देवता नाम विष्णुरित्यर्थः, नन्दग्रामवरसानुपर्वतौ शिवब्रह्मरूपौ गोवर्धनो विष्णुरूप इति पुराण उक्तत्वात् ॥२५॥

---

१. °वत्वाच्च.

तस्माद् गवां ब्राह्मणानामद्रेश्चारभ्यतां मखः ।
य इन्द्रयागसम्भारास्तैरयं साध्यतां मखः ॥२५॥

यदि युक्तिरेव प्रमाणं तदा श्रुत्यनुसारिण्येषा भवतीति गिरिवनेचराणामेष एव याग उचितः. चकारादङ्गदेवताः सर्वा एव वैदिक्यः परिग्राह्याः. **अयमिति** गोसवात्मकः. "अयाजयद् गोसवेने"तिवाक्याद् गोसत्रादयमतिरिक्त एव लौकिकोऽस्य विधानं भगवानेव वक्ष्यति. अनेनैतद् ज्ञापितं– युक्तिसिद्धमपीश्वरयुक्तिसिद्धमेव ग्राह्यं नतु [१]लौकिकयुक्तिसिद्धमिति. नन्विन्द्रार्थे द्रव्याणि सम्पादितानि कथमेतैरन्यसाधनं? तत्राह **य इन्द्रयागसम्भारा** आज्यादय**स्तैरेवायं मखः साध्यतां, मख**पदेन च सर्वदेवोपकारो ज्ञापितस्तत्र त्वेक एवेन्द्रस्तुष्यतीति. अज्ञानात् कृते सर्वत्रैवं व्यवस्था– अन्यस्मै दत्तमपि हविराच्छिद्यान्यस्मै देयमिति. "यस्य हविर्निरुप्तं पुरस्ताच्चन्द्रमा अभ्युदेति त्रेधा तण्डुलान् विभजेद् ये मध्यमाः स्युस्तानग्नये दात्रे पुरोडाशमष्टाकपालं [२]निर्वपेद् ये स्थविष्ठास्तानिन्द्राय प्रदात्र" इत्याद्यभ्युदयेष्टौ कालभ्रमात् प्रवृत्तेष्टिरन्यथा क्रियते तथा प्रकृतेऽपि युक्तिभ्रमादिन्द्रार्थमपि सम्भृता अन्यार्थमेव कर्तव्याः ॥२५॥

तस्माद् यागादत्र विशेषमाह **पच्यन्ता**मिति.

पच्यन्तां विविधाः पाकाः सूपान्ताः पायसादयः ।
संयावापूपशष्कुल्यः सर्वदोहश्च [३]गृह्यताम् ॥२६॥

लौकिकोत्सवपुरःसरे तु प्राकृतानां महानुत्साहो भवतीति स्त्रीणामप्यत्रोपकारो भवतीति च. **विविधाः पाका** भर्जनजलपचनतैलघृतदुग्धदध्यादिषु च पाकाः परिगृहीतास्तेन नानाविधानि भक्ष्याणि सेत्स्यन्ति. तेषां सर्वेषा**मन्ते सूपः** कर्तव्यः. पक्वान्नादीनां करणे भूयान् कालो लगत्यतः प्रथमतः सूपकरणे सोऽम्लतामापद्यते. **पायसं** हि बहुदुग्धेऽल्पीयांसस्तण्डुला दत्ता अल्पाग्नावेव पच्यमाना महता कालेन पच्यन्त इति पायस**मादौ** कर्तव्यम्. अथ [४]वा देवानां प्रथमतः पाको, मध्ये लौकिकानां महतां, प्राकृतानां सूपमात्रमिति. ततो यत् कर्तव्यं तदाह– **संयावो** गोधूमचूर्णसारांशाः पूर्वदिवस एव पच्यमाना महता कालेन सिद्धा भवन्ति; सोऽपि ग्राह्यः. **अपूपा** गुडमिश्रितचूर्णनिष्पादितपाकाः[५] स्नेहद्रव्येषु. **शष्कुल्यो** नालाकारेण भ्रमद्वर्तुला भक्ष्यविशेषाः. **सर्व** एवाद्यतनो **दोहो** [३]**गृह्यतां** दुग्धस्य विक्रयादि-

१. °लौकिकसिद्ध°. २. कुर्यात्. ३. गु°. ४. लुप्तम्. ५. °दिताः पाकः.

विनियोगो न कर्तव्यः. चकारादशक्यं वत्सेभ्य एव देयमिति ॥२६॥

हूयन्तामग्नयः सम्यग् ब्राह्मणैर्ब्रह्मवादिभिः ।
अन्नं बहुविधं तेभ्यो देयं वो धेनुदक्षिणाः ॥२७॥

ततोऽलौकिको देवानामर्थे होमः कर्तव्य इति **सम्यग्** विधानपूर्वकम्. **ब्राह्मणाः** स्वरूपत उत्तमा, **ब्रह्मवादिनो** ज्ञानतः. ततो होमानन्तरं, "प्रत्यक्षदेवता ब्राह्मणा" इति, **तेभ्योऽन्नं बहुविधं** पक्वान्नादिसहितं **देयम्. वो** युष्माभिः युष्माकं वैतत् [१]कर्तव्यं, ब्राह्मणान् प्रति **वो** युष्मभ्यमिति. **धेनवश्च दक्षिणा**त्वेन देयाः ॥२७॥

ततोऽन्येभ्यो देयमित्याह**अन्येभ्य** इति.

अन्येभ्यश्च श्वचाण्डालपतितेभ्यो यथार्हतः ।
यवसं च गवां दत्वा गिरये दीयतां बलिः ॥२८॥

क्षत्रियवैश्यादि[२]सर्ववर्णेभ्यस्ततः **श्वचाण्डालपतितेभ्यश्च.** एते बहिर्बलिभुजोऽतोऽन्ते[३] दैवतत्वात् निरूपिताः "श्वचाण्डालपतितवायसेभ्यो बलिरि"ति. परं यथायोग्यम्. ततो गोभ्यो **यवसं** देयं चारणार्थं न प्रस्थापनीयास्ततो **गिरये** पर्वताय **बलिर्देयः**; सर्वमेवान्नमुत्तमं पर्वतसमीपे राशीभूतं कर्तव्यम् ॥२८॥

स्वलङ्कृता भुक्तवन्तः स्वनुलिप्ताः सुवाससः ।
प्रदक्षिणं च कुरुत गोविप्रानलपर्वतान् ॥२९॥

ततः सर्व एव वयं स्त्रियो बालाश्च **स्वलङ्कृता भुक्तवन्तः** कृतभोजनास्ततश्चन्दनादिलेपनयुक्तास्तत उत्तमकञ्चुकादिवस्त्राणि परिधाय गोवर्धनस्य

योजना

हूयन्तामग्नय इत्यत्र **अलौकिको देवानामर्थे होम** इति. **लौकिक**शब्दः स्मृतिपुराणोक्तवाचकः, अतो **ह्यलौकिक**शब्देन वेदोक्तो गृह्यते. तथा च वेदोक्तहोमः कार्य इति फलति. **देयं वो धेनुदक्षिणा** इत्यस्य विवृतौ **वो युष्माभिरिति. वो युष्माभिरि**त्यत्र तृतीयायां व इति वैदिकप्रक्रियया साध्यम्. **ब्राह्मणान् प्रति वो युष्मभ्यमिती**ति. नन्दादीन् प्रति यदा भगवत उपदेशस्तदा तु **वो युष्माभिरि**त्येवं ज्ञेयम्. यदा पुनः पुरोहितादीन् **ब्राह्मणान् प्र**त्युक्तिस्तदा **वो युष्मभ्यमि**ति चतुर्थी ज्ञेयेत्यर्थः ॥२७॥

१. कर्म. २. लुप्तम्. ३. °न्तेदे°.

प्रदक्षिणं कुरुत, चकाराद् वृन्दावनस्यापि. **गवां विप्राणामग्नीनां** च प्रदक्षिणं कर्तव्यम्. **पर्वता** अन्येऽपि तत्समीपस्थाः, आचाराद् गोवर्धन एव वा ॥२९॥

ननु किमेतद् वैदिकं, वैदिकादिष्वन्यतरदाहोस्विद् युक्तिसिद्धं? केवलयुक्तिसिद्धत्वे पूर्वयुक्तिसिद्ध इन्द्रयाग एव कथं न क्रियत इत्याशङ्क्याह **एतद् मम मतमि**ति.

एतन्मम मतं तात क्रियतां यदि रोचते ।
अयं गोब्राह्मणाद्रीणां[1] मह्यं च दयितो मखः ॥३०॥

भवद्भिरिन्द्रो वाहं वा परिग्राह्यो. मत्परिग्रह **एतन्मम मतं** कर्तव्यमिन्द्रपरिग्रहे त्विन्द्रयागः कर्तव्य**स्तात** इति सम्बोधनादत्र स्नेहोऽप्यधिकः सेत्स्यत्यतः **क्रियताम्.** तथापि निर्बन्धेन न कर्तव्यं, तथा सत्यश्रद्धया कृतमकृतं स्यात्. किञ्**चायं** यागो **गवां ब्राह्मणाद्रीणां[2] मम च दयितः,** चकाराद् देवानामपि प्रियश्चायं यागो यतो **मह्यं** मत्सम्प्रदानकमेव. एवं सर्वथा तत्परित्यागेनैतत् कर्तव्यमिति ज्ञापितम् ॥३०॥

हृदयपूर्वकं भगव[3]ता ज्ञापितमिति तेषां हृदये समागतमिति वदन् तथा कथने हेतुमाह **कालात्मने**ति.

॥ श्रीशुक उवाच ॥

कालात्मना भगवता शक्रदर्पं जिघांसता ।
प्रोक्तं निशम्य नन्दाद्याः साध्वगृह्णन्त तद्वचः ॥३१॥

अयं दुष्टनिराकरणार्थं **कालात्मा** जातः कालस्यात्माधिदैविकरूपोऽन्तर्यामी वा जातः. तादृशोऽपि न स्वरूपात् प्रच्युत इत्याह **भगवते**ति. तथाकथने हेतुः **शक्रदर्पं जिघांसते**ति, गर्वस्तस्य दूरीकर्तव्यस्तदुपकारार्थं समागते भगवति तेनावश्यमनुवृत्तिः कर्तव्या. तथा सति लीला पुष्टा भवति भूयांश्च निरोधः कर्तव्यो न भवति. अनुवृत्त्यकरणं च गर्वाद्; ऐश्वर्यं च तत्र हेतुः. अधिकारित्वात् तन्न निराकर्तव्यमतो भ्रमशास्त्रप्राप्तमेव तस्य निराकृतवान्. अतस्तेन **प्रोक्तं निशम्य** साधनं श्रुत्वा मुख्या एव **नन्दाद्याः साधु** तद्वाक्यं यथा भवति **तथागृह्णन्त** तदुक्तोर्थोऽङ्गीकृतः ॥३१॥

१, २. °दीनां. ३. °त आ°.

ततस्तथैव कृतवन्त इत्याह **तथा चे**ति.

तथा च व्यदधुः सर्वं यथाह मधुसूदनः ।
वाचयित्वा स्वस्त्ययनं तद्द्रव्येण गिरिद्विजान् ॥३२॥

विधानपूर्वकं कृतवन्त इति वक्तुं **वाचयित्वा स्वस्त्ययन**मित्युक्तवान्. **स्वस्ति**वाचनं पुण्याहवाचनं, ततः पूज्यानामर्चा ग्रहाणामिव निमन्त्रणप्रायमेतत् ॥३२॥

उपहृत्य बलीन् सर्वानादृता यवसं गवाम् ।
गोधनानि पुरस्कृत्य गिरिं चक्रुः प्रदक्षिणम् ॥३३॥

ततः **सर्वा**नेव **बलीनुपहृत्य** ग्रहेभ्यो दिग्देवताभ्यस्तदङ्गेभ्यश्च यथोक्तप्रकारेण बलीन् दत्वा पूजाप्रकारानुपहारांश्च. ततः [1]स्वयमत्यादरयुक्ता **गोधनान्य**ग्रे कृत्वा **गिरिं प्रदक्षिणं चक्रुः** प्रकर्षेण दक्षिणो यथा भवति तथा. यद्यपि सामान्यकथनेनैव विशेषः समायाति तथाप्यन्यूनान[2]तिरिक्तं कृतमिति वक्तुं विशेष उच्यते ॥३३॥

प्रदक्षिणायां विशेषमाह**अनांसी**ति.

अनांस्यनडुद्युक्तानि ते चारुह्य स्वलङ्कृताः ।
गोप्यश्च कृष्णवीर्याणि गायन्त्यः सद्द्विजाशिषः ॥३४॥

अन्यथा क्लेशः स्याद् भगवत्परता च न स्यादतो**ऽनांस्यनडुद्युक्तानि** कृतानि. ततोऽनांस्यलङ्कृतान्यनडुहश्च. **ते** गोपालास्तान्**यारुह्य** चकारादनारुह्याप्यन्या-नारोप्य[3] **सुष्ठ्वलङ्कृता** जाता येऽलङ्कारा अधो न भवन्ति. **गोप्योऽप्यारुह्य प्रदक्षिणं चक्रु**रिति सम्बन्धः. **च**कारादन्याश्च स्त्रियः, **कृष्णस्य** सदानन्दस्य स्वार्थमेवावतीर्णस्य **वीर्याणि** पूतनानिराकरणादीनि **गायन्त्यो** जाताः. अनेन कर्मण्यङ्गवैकल्यं च निराकृतम्. **सत्यो द्विजाशिषश्च** जाताः, **सतां द्विजानां सतां** वा भगवदीयानां **द्विजानां** च. अनेनास्मिन् यागे ब्राह्मणानामतिसन्तोषः स्त्रीणां चेति निरूपितम् ॥३४॥

योजना

अनांस्यनडुद्युक्तानीत्यस्य विवरणे **अनडुहश्चे**ति **आरुह्ये**त्यनेनान्वयः. तथा सति द्वितीयान्तमेव कर्म युक्तमिति **अनडुहश्चे**त्युक्तम्. अनांसि अलङ्कृतानि अनडुहश्च अलङ्कृतानिति फलितम् ॥३४॥

१. स्वयमप्यत्या°. २. °नाति°. ३. अन्यान् वारो°.

ते हि प्राकृता गोपाला दृष्टमेव मन्यन्तेऽतो विश्वासार्थं रूपान्तरं कृतवानित्याह **कृष्णस्त्विति.**

कृष्णस्त्वन्यतमं रूपं गोपविश्रम्भणं गतः ।
शैलोस्मीति वदन् भूरि बलिमादद् बृहद्वपुः ॥३५॥

अत्यन्तमन्यो**ऽन्यतमो**ऽस्माद् रूपादतिविलक्षणोऽतिस्थूलो रूपान्तरमेव. तत् पर्वतस्याधिदैविकं रूपमितिपक्षं व्यावर्तयति तुशब्दः. **गोपानां विश्रम्भणं** विश्वासं[1] **गतः** विश्वासो यत्र तादृशे रूपे, दृष्ट एव तेषां विश्वास इति. विश्वासो भगवद्विषयक इति [2]**तमादत्** तं **बलिं** बुभुजे तदा गोपैः कस्त्वमिति पृष्टः **शैलोस्मीति वदन्. इति**शब्दः प्रकारवाची— कश्चित् प्रति गोवर्धनोस्मीति कश्चित् प्रति शैलोऽस्मीति कश्चित् प्रति पर्वतोऽस्मीत्येवं वदन्. एवं **भूरिबलिमादत्** पक्वान्नादिकं बहु भक्षितवान् पर्वतस्थान् सर्वानेव तर्पितवान् ॥३५॥

योजना

कृष्णस्त्वन्यतमं रूपमित्यत्र तत्पर्वतस्याधिदैविकं रूपं इतिपक्षं व्यावर्तयति तुशब्द इति. पर्वतस्याधिदैविकं रूपमिदं न भवत्यपि तु श्रीगोवर्धनस्थायिशुद्ध-पुष्टिपुरुषोत्तमस्वरूपमिदमित्यर्थः. अत्र गोवर्धनस्थायिपुरुषोत्तमस्वरूपेण सह नन्दराजकुमाररूपपुरुषोत्तमस्य सहैव भोजनं, रूपद्वयस्यैकत्वात्. तथा च एकं नन्दराजकुमारात्मकं रूपं गोपान् प्रति गोवर्धनस्थायिस्वरूपपूजां शिक्षयन् स्वयं गोवर्धनं पूजयति. तस्मिन् शिक्षकस्वरूपे नन्दस्य पुत्रभावदार्ढ्यात् मत्पुत्रस्यायं देवः कल्याणं करोत्विति बुद्ध्या श्रीनन्दः स्वयं गोवर्धनं पूजयन् स्वबालकेन श्रीकृष्णेन पूजां कारयति. अत एनां लीलामेनं भावं च समाश्रित्यास्मन्मार्गे श्रीनवनीतप्रियो भगवान् गोवर्धनं पूजयति. नन्दराजकुमारस्य गोवर्धनस्थस्वरूपस्य च सहभोजनात् गोकुलस्थगोवर्धनस्थस्वरूपयोः एकत्र भोजनलीलां प्रदर्शयितुं भगवदाज्ञां प्राप्य श्रीविट्ठलेश्वरैः श्रीनवनीतप्रियादिस्वरूपाः श्रीगोकुलतः समानीय श्रीगोवर्धनधरेण महान्नकूटोत्सवसमये सह स्थापिताः सहैव भुञ्जते, श्रीमद्भागवतरीत्या गोकुलस्थ-

---

१. विश्वासार्थं. २. तदादत् तं.

ततः केषाञ्चित् सन्देहोऽपि भवेदिति सर्वान् प्रदर्श्य नमस्कारं करोति.

तस्मै नमो व्रजजनैः सह चक्रेऽऽत्मनात्मने ।
अहो पश्यत शैलोऽसौ रूपी नोऽनुग्रहं व्यधात् ॥३६॥

[1]**व्रजजनैः सह तस्मै नमश्चक्र आत्मना** स्वेनैव**आत्मने** स्वस्मै. आकारस्त्वत्र वैदिकप्रक्रियया[2] लुप्तः. **आत्मने**ति द्वारान्तरनिषेधाय स्वरूपस्य करणता. तत्र तत्र स्थिता मायापसारितेति ज्ञापयितु**मात्मन** इत्युक्तम्. सर्वथा तदेवैतदिति वचनमप्या**हाहो पश्यते**ति. **असौ शैलः** सर्वात्मकत्वादानन्दमयस्य बीजस्य

लेखः

अहो पश्यत इत्यत्र **आनन्दमयस्येति. तथात्वाद्** भगवत्त्वादित्यर्थः. "आनन्दाद्ध्येवे"त्यादिश्रुतेरानन्दमयः सर्वबीजं; स च भगवद्रूप इति सर्वैरपि

योजना

गोवर्धनस्थपुरुषोत्तमस्वरूपयोः सहभोजनात्. रूपद्वयस्यात एव पृथग्दर्शनमुक्तं "तस्मै नमो व्रजजनैः सह चक्रेत्मनात्मने" इति. अतोऽत्रैकं रूपं नन्दराजनिकटे तिष्ठत् गोवर्धनस्थस्वस्वरूपं नमस्करोति. तथा च व्रजस्थानां सर्वे भावाः श्रीकृष्ण एव स्थिताः, परं नन्दराजकुमारत्वेन; श्रीकृष्णे देवभावो न स्थित इति देवभावेनान्यस्य भजनं करिष्यन्ति. तथा सति निरोधो न सेत्स्यत्यतो देवभावस्यापि स्वस्मिन् स्थापनार्थं श्रीगोवर्धनस्थायिस्वरूपस्य पूजनं कारितवान्. तेषां हृदि माहात्म्यज्ञानजननार्थं स्वयमपि पूजितवान्. अनया लीलया व्रजस्थानां देवो गोवर्धनस्थायी भगवान् पुरुषोत्तम इति सिद्धम्. अत एव गोवर्धनस्थायी श्रीगोवर्धननाथोऽस्मत्सिद्धान्ते पुष्टिमार्गे देव इति तत्र देवत्वव्यवहारो देवमन्दिरवत् तत्र ध्वजस्थापनादीति पुष्टिस्थैर्विभावनीयम् ॥३५॥

अहो पश्यतेत्यत्र. ननु भगवता स्वस्वरूपस्य **असौ शैल** इति शैलत्वं कथमुक्तमित्याकाङ्क्षायामाहुः **असौ शैलः सर्वात्मकत्वादि**ति. **असौ** भगवान् **शैलः**, तत्र हेतुः **सर्वात्मकत्वादि**ति, "ऐतदात्म्यमिदं सर्वं" "पुरुष एवेदꣳसर्वं" "स सर्वं भवती"त्यादिश्रुतेः. तदेवोपपादयन्ति **आनन्दमयस्य बीजस्य तथात्वादि**ति.

---

१. **तस्मा** इति व्रज°. २. "मन्त्रेष्वाङ्यादेरात्मन" इतिसूत्रात् मन्त्रेष्वाङि परे सत्यात्मशब्दस्यादेर्वर्णस्याकारस्य लोपो भवतीत्यर्थः.

तथात्वादतस्तन्नाम्नैव व्यपदिश्यते. **पश्यते**तिप्रबोधनं विशेषज्ञापनार्थं; प्रमाणवस्तुपरतन्त्रेऽपि सावधानार्थं विधिर्युक्त एव. ननु शैलो गोवर्धनः पृथग् दृश्यते; कथ**मसौ शैल** इति ? तत्राह **रूपी**ति, **असौ** रूपवान् कामरूपो ह्ययम्, अतो भवतां सन्तोषार्थमेतादृशरूपं कृत्वा भुङ्क्ते इत्यर्थः. एतदप्यानन्द एव सङ्गच्छते. किञ्च **नो**ऽस्माक**मनुग्रहं व्यधाद्** दत्तार्थस्वीकाराद्, अन्यथा प्रदर्शयेदेवात्मानं न तु भुञ्जीत. **न** इति सामान्योक्तिर्नमस्कारवत् समर्थनीया ॥३६॥

एवं तस्य स्वरूपमुक्त्वाग्रेऽपि भजनसिद्ध्यर्थं प्रार्थयतेत्या**हैष** इति.

एषोऽवजानतो मर्त्यान् कामरूपी वनौकसः ।

हन्ति ह्यस्मै नमस्यामः शर्मणे आत्मनो गवाम् ॥३७॥

अप्रार्थनायां बाधकं वदन्नवज्ञामात्रेऽपि बाधकमा**हावजानतो**ऽवज्ञां कुर्वतः किमयं करिष्यतीति. **मर्त्यान्** मरणधर्मयुक्तानिदं महदनिष्टमिष्टानिष्टवार्ता दूरे; वस्तुतो **हन्त्येव**. तस्य हनने सामर्थ्यं प्रकारं चाह **कामरूपी**ति, **कामं** यथेष्टं **रूप**वानतः शस्त्री भवति व्याघ्रो भवति सिंहो भवति. पलायनं त्वशक्यं यतः सर्वे **वनौकसः** वनमेवौकः स्थानं येषामित्यतस्तान् हन्त्येव. अहनन उपायमा**हास्मै नमस्याम** इति; अप्रतारणार्थमात्मानुप्रवेशः. हेतुवादोऽयमितीतरनिषेधे तात्पर्यान्नात्यन्तमाग्रहः

लेखः

नामभिर्भगवान् व्यपदेष्टव्यः. **एतदपी**ति, **आनन्दे** बीजे सति तस्य सर्वतः सूक्ष्मत्वात् तत्कार्यस्य कामरूपत्वं **सङ्गच्छत** इत्यर्थः. **नमस्कारवदि**ति, यथात्मनात्मने नमनं तथा स्वेनैव स्वस्यानुग्रह इत्यर्थः ॥३६॥

योजना

"एतमानन्दमयमात्मानमुपसङ्क्रामती"तिश्रुतेरस्यानन्दमयत्वम्, आनन्दमयस्य बीजत्वं कारणत्वात्, कारणत्वं "तस्माद् वा एतस्मादात्मनः आकाशः सम्भूत" इत्यादिश्रुतेः. "आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्त" इत्यत्र आनन्दमयस्य कारणत्वोक्तेर्बीजत्वं ज्ञेयम्. बीजस्य समवायिकारणत्वात् कार्यस्य तदात्मकत्वम्, अतः कारणरूपो भगवान् शैलरूप इति शैलत्वकथनं युक्तमेव. **रूपी नोऽनुग्रहं व्यधाद्** इत्यत्र **नमस्कारवत् समर्थनीये**ति, यथा स्वेन स्वस्मै शैलरूपिणे नमस्कारः कृतस्तेषां व्रजवासिनां तस्मिन् स्वरूपे माहात्म्यज्ञानजननार्थं; **नोऽनुग्रहं व्यधादि**ति अनुग्राह्याणां मध्ये **न** इतिपदेन स्वस्यापि निवेश उक्त इत्यर्थः ॥३६॥

कर्तव्यः. **आत्मनः शर्मणे गवां च शर्मणे**, व्याघ्रादीनामुभयोपद्रवजनकत्वात्. नमस्कार एव महतां प्रतिविधिः, तदाह **हि**शब्दः. एवमग्रेऽपि तथाकरणसिद्ध्यर्थमेतत्परित्यागे भयं च जनयितुं तथोक्तवान्. ईश्वरवाक्यात्[1] तथैव च भवेत् ॥३७॥

एवं कारयित्वा बोधयित्वा च पुनः स्वस्थानं प्रापितवानित्युपसंहर**तीती**ति.

इत्यद्रिगोद्विजमखं वासुदेवप्रणोदिताः ।

यथा विधाय ते गोपाः सहकृष्णा व्रजं ययुः ॥३८॥

अद्रिगोद्विजानां मखं वैष्णवमखं कृत्वा **वासुदेवेनैव** प्रकर्षेण **नोदिता** विशेषाकारेण तत्र तत्र तथा तथा बोधिता **यथा** यथावद् **विधाय** भगवदावेशेनैतत्[2] कृत्वा पुन**स्त** एव **गोपा** भूत्वा फलसहिता **व्रजं ययुः** स्वस्थानं प्राप्तवन्तः. अन्ते प्रत्यापत्तिरुक्ता, अन्यथा तज्जनितमन्यदेव किञ्चित् फलं स्यादिति शङ्का स्यादतः प्रत्यापत्तिरुक्ता ॥३८॥

॥ इति श्रीमद्भागवतसुबोधिन्यां श्रीमद्वल्लभदीक्षितविरचितायां दशमस्कन्धविवरणे द्वितीये तामसप्रकरणेऽवान्तरसाधनप्रकरणे यशोनिरूपक-तृतीयाध्यायस्य स्कन्धादितः एकविंशाध्यायस्य विवरणम् ॥

टिप्पणी

इत्यद्रिगोद्विजमखमित्यत्र. वासुदेवत्वेन शुद्धसत्त्वाकारमन्तःकरणं कृत्वा कर्मोपयोगिश्रद्धासामर्थ्याद्युपयोगित्वेन तत्राविर्भूय सर्वं कारितवानित्याशयेन **वासुदेवप्रचोदिता** इत्युक्तम्. प्रेरणे प्रकर्षोऽप्ययमेव, अन्यथा न वदेत्. अग्रे च गमने गोपानां मुख्यत्वं प्रभोस्तु गौणत्वमुक्तमित्यनावेशस्तदा सूच्यत इति तदुभयतात्पर्यमाहुः **भगवदावेशेनैत**दित्यादि ॥३८॥ इत्येकविंशोध्यायः ॥

योजना

इत्यद्रिगोद्विजेत्यत्र **वासुदेवेनैवे**त्यादेरर्थष्टिप्पण्यां स्फुटः ॥३८॥

॥ इति एकविंशोध्यायः ॥

---

१. 'वाक्याच्च. २. 'नैव तत्.

॥ चतुर्थः स्कन्धादितः द्वाविंशोध्यायः ॥

हेतुशास्त्रमिदं यस्माद् दृष्टार्थमुपयुज्यते ।
अदृष्टार्थं तथा चान्यत् तद् ज्ञापयति निश्चितम् ॥(१)॥
[1]हैतुके फलभोक्तायमिन्द्रो विघ्नं चकार ह ।
वृष्टिरूपं ततः कृष्णः शैलधारी बभूव ह ॥(२)॥
उभयोर्हैतुकत्वार्थमेवं भगवता कृतम् ।

टिप्पणी

द्वाविंशाध्यायार्थोक्तिसन्दर्भे, **तद् ज्ञापयति निश्चितमि**ति, दृष्टार्थ-फलककर्माधिष्ठाता दृष्टानिष्टजननद्वारा स्वत्यागे सति स्वानुभावं ज्ञापयतीत्यर्थः. अदृष्टानेकसाधनवत्त्वेऽपि गोवर्धनात्मकदृष्टसाधनेनैव रक्षणे तात्पर्यमाहुः **उभयोर्हैतुकत्वार्थमि**ति, एतज्ज्ञापनार्थमित्यर्थः. "तच्छेषेणोपजीवन्ती"तिवाक्यात् स्वोपजीव्यान्नजनकत्वेनेन्द्रो यष्टव्य इति व्रजराजेनोक्तं यथा, तथा भगवतापि "वयं गोवृत्तयोऽनिशं" "वनशैलनिवासिनश्चा"त उपजीव्यत्वाद्धेतो"र्गवादीनां मख आरभ्यतामि"त्युक्तमित्युभयोर्हैतुकत्वम्. **एवं भगवता कृतमि**ति, दृष्टमेवा-निष्टमन्यप्रतीत्या दृष्टेनैव तद्वारणं चेत्यर्थः. अन्यथा "गोपाये स्वात्मयोगेने"तिपदं विरुध्येत. त(य!)द्रूपेण भुक्तं य(त!)द्रूपेणैव रक्षितवानिति तत्त्वम् (१-४).

कारिकार्थः

द्वाविंशाध्याये **हेतुशास्त्रमि**त्यादि **तज्ज्ञापयति निश्चितमि**ति. एतच्च टिप्पण्यां व्याख्यातं, तद्यथा— "दृष्टार्थफलककर्माधिष्ठाता स्वत्यागे[2] सति दृष्टानिष्टजननद्वारा स्वानुभावं ज्ञापयतीत्यर्थः". **दृष्टोऽर्थः** भूतेभ्यो जीवनदानं, **तत्फलकं कर्म** इन्द्रयागः, **दृष्टानिष्टं** गोष्ठजिघांसया वृष्टिकरणम् (१). **उभयोर्हैतुकत्वार्थमि**ति व्रजराजकृतेन्द्रयाग-भगवदुक्तगवादियागयोर्हैतुकत्वज्ञाप-नार्थमित्यर्थः. "तच्छेषेणोपजीवन्ती"तिवाक्यादिन्द्रयागस्य यथा व्रजराजयुक्ति-सिद्धत्वं तथा गवादियागस्य "वयं गोवृत्तयोऽनिशं" "नित्यं शैलनिवासिन" इत्यादिवचनेन भगवद्युक्तिसिद्धत्वमिति उभयोर्हैतुकत्वम्. **एवं भगवता कृतमि**ति, वृष्टिरूपं दृष्टमेवानिष्टं लोकप्रतीत्या दृष्टेनैव श्रीगोवर्धनेन वृष्टिवारणं चेत्यर्थः.

---

१. हेतु°. २. तत्त्यागे इति पाठः.

निषिद्धभोगिनो बुद्धिर्नष्टा भवति सर्वथा ॥(३)॥
इतीन्द्रस्य महामोहवाक्यान्याह विशेषतः ।
द्वाविंश ईर्यते कृष्ण इन्द्रेण [1]विनिपीडितम् ॥(४)॥
व्रजं गोवर्धनं धृत्वा सम्यक् पालितवानिति ॥

पूर्वध्याये इन्द्रयागभङ्गो निरूपितस्ततः क्रुद्ध इन्द्रो व्रजपीडार्थं वृष्टिं करोतीति निरूप्यते **इन्द्र** इतिदशभिः—

क्रोधोद्यमौ च वाक्यानि चतुर्भिः सर्वनाशनात् ॥(५)॥

टिप्पणी

दशश्लोक्यां प्रतिवाक्यार्थोक्तौ **सर्वनाशनादि**ति सर्वपुरुषार्थनाशनादित्यर्थः, तेषामेतत्सङ्ख्यावत्त्वादिति भावः (५).

लेखः

इन्द्र इत्यत्र **वाक्यानि चतुर्भिरि**ति. पञ्चमश्लोकस्तु चतुर्णामेवोपोद्बलक इति भावः ॥१॥

योजना

द्वाविंशाध्यायविवरणे **इन्द्रस्तदात्मनः पूजामि**त्यादिदशश्लोकार्थनिरूपणे **क्रोधोद्यमौ च वाक्यानि चतुर्भिः सर्वनाशनात् पीडाहेतुफलान्युक्त्वा सन्धिमाहेतरेण ही**ति कारिका. तत्र "इन्द्रस्तदे"तिश्लोके **क्रोधः**, "गणं सांवर्तकं नामे"तिश्लोके **उद्यमः**, ततो **वाक्यानि चतुर्भिः**. तत्रैष क्रमः— "अहो श्रीमदमाहात्म्यमि"त्येकं, "यथादृढैरि"ति द्वितीयं, "वाचालं बालिशमि"ति तृतीयम्, "एषां श्रियावलिप्तानामि"ति चतुर्थम्; एवं चत्वारि वाक्यानि. ततो मध्ये "अहं चैरावतं नागमि"तिश्लोकः मेघानां व्रजागमनस्य पश्चाद् व्रजनाशार्थं मघवदागमनं हि तदर्थम्. अत इन्द्रस्य व्रजनाशार्थमागमनं सन्धौ परिणतत्वात्

कारिकार्थः

वस्तुतस्तु "गोपाये स्वात्मयोगेने"तिपदात् स्वात्मयोगेनैव रक्षणमिति भावः (३).

इन्द्रस्तदात्मनः पूजामित्यादिदशश्लोकीप्रतिपाद्यानर्थानाहुः **क्रोधोद्यमौ** इति. द्वाभ्यां क्रमेण क्रोधोद्यमौ. चतुर्भिरिन्द्रवाक्यनिरूपणे हेतुमाहुः **सर्वनाशनादि**ति, सर्वपुरुषार्थनाशनादित्यर्थः; पुरुषार्थानां चतुःसङ्ख्याकत्वादिति भावः. **पीडे**त्यादि.

---

१. विनिरूपितम्.

पीडाहेतुफलान्युक्त्वा सन्धिमाहेतरेण हि ॥

योजना

सन्धिशब्देन व्यवह्रियते. "अहो श्रीमदमाहात्म्यमि"त्यादिचतुर्णां वाक्यानाम् "इत्थं मघवताज्ञप्ता" इत्यारभ्य "नादृश्यत नतोन्नतमि"त्यन्तानां त्रयाणां वाक्यानां सन्धौ पठितत्वात् **सन्धि**शब्देन व्यवह्रियते. "अहं चैरावतम्"इत्यनेन स्वागमनमिन्द्रेण पठितम्, अत इन्द्रकर्तृकव्रजागमनस्य सन्धित्वम्. अथ वा यद्यपि शक्रेण "व्रज-नाशार्थं व्रज आगमिष्यामी"त्युक्तं तथापीन्द्रकर्तृकव्रजागमनं तु भगवच्चरणस्पर्शार्थं जातमिति तदागमनस्य सन्धिरूपत्वमेव जातमिति सन्धित्वमुक्तम्. **सन्धि**शब्दः कलहनिवारककृतिवाचकः. तत "इत्थं मघवताज्ञप्ता" इत्यनेन **पीडोक्ता**, ततो "विद्योतमाना" इत्यनेन पीडायां **हेतुरुक्तः**, ततो "जलौघैरि"त्यनेन दृष्टेः **फल-मुक्तम्**— एवं दश श्लोकाः. तथा च क्रोधोद्यमयोः श्लोकद्वयं, तत इन्द्रवाक्य-निरूपकाश्चत्वारः "अहो श्रीमदे"त्यारभ्य "पशून् नयत संक्षयमि"त्यन्ताः श्लोकाः; एवं षट् श्लोकाः. तदनन्तर"महं चैरावतमि"ति सन्धिश्लोकः. तदनु "एवं मघव-ताज्ञप्ता" इति पीडानिरूपणश्लोकः, "विद्योतमाना" इति हेतुनिरूपकः, "स्थूणा-स्थूले"ति फलनिरूपकः; एवं दश. तदुक्तं **पीडाहेतुफलान्युक्त्वे**ति. न चैवं सति **पीडाहेतुफलान्युक्त्वा सन्धिमाहे**त्युक्तिर्विरुद्धा, सन्धिनिरूपणस्य पीडादिनिरूपणात् पूर्वमुपलभ्यमानत्वादिति वाच्यम्, "अहं चैरावतं नागमि"त्यनेन निरूपितात् सन्धि-पदार्थात् पूर्वं पीडां कुरुत विद्योतनादि कुरुत स्थूणास्थूलावर्षधाराभिर्गर्तादि कुरुत

कारिकार्थः

"इत्थं मघवताज्ञप्ता" इत्यनेन **पीडा**, "विद्योतमाना" इति श्लोकेन पीडा**हेतुः**, "स्थूणास्थूले"त्यनेन वृष्टिरूपं **फलम्**, "अहं चैरावतं नागमि"ति श्लोकेन **सन्धि**रूपमिन्द्रागमनम्. यद्यपि "नन्दगोष्ठजिघांसये"ति वाक्याद् विग्रहार्थमेव इन्द्रेण स्वागमनमुक्तं तथापि "गोलोकादाव्रजत् कृष्णं सुरभिः शक्र एव चे"त्युक्तप्रकारेण सन्ध्यर्थमेव इन्द्रागमनं जातमिति **सन्धिमाहेतरेण ही**त्युक्तम्. अत्र यद्यपि सन्धिश्लोकात् पूर्वं पीडाहेतुफलानि इन्द्रेण स्फुटं नोक्तानि तथा च कारिकायां **पीडाहेतुफलान्युक्त्वे**ति **क्त्वा**प्रत्ययान्तप्रयोगानुपपत्तिस्तथापि "पशून् नयत संक्षयमि"ति वचनाद् "इत्थं मघवताज्ञप्ता"इति पदाच्च पीडाहेतुफलानामपीन्द्राज्ञप्तत्वं ज्ञेयम्, अतो नानुपपत्तिः (५½).

आदौ तस्य क्रोधमाहेन्द्र इति.

॥ **श्रीशुक उवाच** ॥

इन्द्रस्तदात्मनः पूजां विज्ञाय विहतां नृप ।

गोपेभ्यः कृष्णनाथेभ्यो नन्दादिभ्यश्चुकोप सः ॥१॥

तदा गोकुलगमनसमय एव **आत्मनः पूजां विहतां** ज्ञात्वा, **नृपे**ति सम्बोधनं राज्ञां तथात्वज्ञापनाय, **गोपेभ्यश्चुकोप.** ननु गोपा अज्ञाः; कथं कोपस्तेषु ? तत्राह **नन्दादिभ्य** इति, नन्दो हि महान्. तर्हि कोप उचित इति चेत्, तत्राह **कृष्णनाथेभ्य** इति, कृष्ण एव नाथो येषाम्. नन्विन्द्रः शुद्धसत्त्वपरिणामरूपः कथमेवं कृतवान्? तत्राह **स** इति, [1]निषिद्धभागभोक्ता ॥१॥

न केवलं कोपमात्रं किन्तु प्रयत्नमपि चकारेत्याह **गणमि**ति.

योजना

जलौघैर्भुवं प्लाव्यमानां कुरुतेतीन्द्रेण मेघान् प्रत्याज्ञापनात्. एवं पीडाहेतुफलान्युक्त्वा "अहं चैरावतं नागमि"त्यनेन सन्धिमुक्तवान् इन्द्र इत्यर्थः. युक्तं चैतत्, इन्द्रोक्तिं विना मेघाः कथं कुर्युः ? अतः **पीडाहेतुफलान्युक्त्वा सन्धिमाहे**ति यदुक्तं तत् सम्यगेव. इन्द्रः **पीडाहेतुफलान्युक्त्वा** "अहं चैरावतं नागमारुह्यानुव्रजे व्रजमि"त्यनेन **सन्धिमाहे**तिकारिकार्थः फलितः. यद्यपि पीडाहेतुफलानि शक्रोक्तौ मूले नोपलभ्यन्ते तथापि "इत्थं मघवताज्ञप्ता मेघा" इत्यादिशुकोक्तश्लोकत्रये मेघकर्तृकपीडाहेतुफलानामुपलभ्यमानत्वात् पीडा-हेतुफलानि व्रजे मेघैः कृतानि, तानि चेन्द्राज्ञां विनानुपपन्नानीतीन्द्रवाक्यानि पीडाहेतुफलबोधकान्याक्षिपन्ति. तथा चेन्द्रः पीडाहेतुफलानि मेघान् प्रत्याज्ञप्त-वानिति ज्ञायते. अतः इन्द्रः **पीडाहेतुफलान्युक्त्वा सन्धिमाहे**तिकारिकार्थो युक्त एव. "इत्थं मघवताज्ञप्ता" इत्यत्र पीडा स्पष्टैव, "पीडयामासुरोजसे"तिवाक्यात्. पीडा कथं भवेदित्याकाङ्क्षायां "विद्योतमाना विद्युद्भिरि"त्यनेन विद्युत्स्तनयित्नु-तीव्रम-रुज्ज्वलशर्करावृष्टयः पीडायां हेतवो निरूपिताः, अतोऽस्मिन् श्लोके हेतुनिरूपणम्. "स्थूणास्थूला वर्षधारा"इत्यनेन व्रजभूमेर्जलप्लावनरूपं प्रलयदृष्टिफलमुक्तम्, अतोऽस्मिन् श्लोके फलनिरूपणम्. एवं पीडाहेतुफलानि मेघकृतानि श्रीशुकेनोक्तानि त्रिभिः. एतानि पूर्वमिन्द्रेण मेघान् प्रत्याज्ञारूपेणोक्तानीति सर्वं सुस्थम् (५½).

---

[1] निषिद्धान्न°, निषिद्धयाग°.

गणं संवर्तकं[1] नाम मेघानां चान्तकारिणाम् ।
इन्द्रः प्राणोदयत् क्रुद्धो वाक्यं चाहेशमान्युत ॥२॥

गणो हि बहूनां सङ्घातो भवति, **संवर्तकः** प्रलयकर्ता, **नामे**ति प्रसिद्धौ, अतः प्रसिद्ध एवायं संवर्तको गणः. समुदाय एव नाशशक्तिरिति पक्षनिराकरणार्थं प्रत्येकमपि मेघानां तथात्वमाह **मेघानां चान्तकारिणामि**ति. **अन्तकारिणां मेघानां गणं** [1]**संवर्तकं** च **गणं** प्रेषयामास; तथा सति प्रत्येकसमुदायाभ्यां सामान्यतो विशेषतश्च नाशो भवति. तस्याज्ञा कर्तव्येतिज्ञापनार्थ**मिन्द्र** इति. "इदि परमैश्वर्ये"; परमैश्वर्यं प्राप्तस्य **वाक्यम**नुल्लङ्घ्यमतः **प्राणोदयत्** प्रकर्षेण तदैवाविचारं प्रेषितवान्. तत्र हेतुः **क्रुद्ध** इति. एवं तस्य मानसदोषमुक्त्वा वाचनिकं दोषमाह **वाक्यं चाहे**ति. यतोऽय**मीशमान्य**हमेवेशस्त्रैलोक्यस्येति मन्यते. **उता**पि, **वाक्यमप्याहे**त्यर्थः. एतेनायुक्ततमत्वमुक्तं भवति ॥२॥

वाक्यमाह चतुर्भिः.

॥ इन्द्र उवाच ॥

अहो श्रीमदमाहात्म्यं गोपानां काननौकसाम् ।
कृष्णं मर्त्यमुपाश्रित्य ये चक्रुर्देवहेलनम् ॥३॥

परम्परया सिद्धो [2]हैतुको न त्याज्य आधुनिक[3]स्त्याज्य इति मन्यते. **अहो** अत्याश्चर्य[4]– सर्वथा विवेकरहिता **गोपाः** कथमेवं मर्यादोल्लङ्घनं कृतवन्त इति स्वहृदय एवाह. **श्रीमदस्य माहात्म्यमहो** आश्चर्यं यतः श्रीमदाद् **ये गोपा देवहेलनं चक्रु**स्तत्रापि न महान्तः किन्तु **गोपा.** न वा तेषां सत्सङ्गः सम्यग्देशस्थितिर्वा किन्तु **काननौकसः**. एतादृशानामपि श्रीर्मदं करोति ! ननु न श्रीमदात् तैरेवं कृतं किन्तु भगवद्वाक्यादतस्तेषां को दोष इति चेत्, तत्राह **कृष्णं मर्त्यमुपाश्रित्ये**ति. देवा अमर्त्या मनुष्या मर्त्याः. भगवान् सदानन्दोऽपि मनुष्यवेषं कृतवान्, तस्य परिग्रह एव तेषां दोषः. **उप** समीप **आश्रयणं**– न केवलं यागान्तरं कृतवन्तः किन्तु **देवस्येन्द्रस्यैव हेलनं**, तद्द्रव्यैरेव कृतमिति ॥३॥

लेखः

अहो श्रीमदेत्यत्र **तस्य परिग्रह एवे**ति मर्त्यवाक्यस्य परिग्रह इत्यर्थः ॥३॥

१-१. सांवर्तकं. २. हेतु°. ३. आधुनिकश्च त्याज्यः. ४. °श्चर्ये.

ननु भगवता कर्ममार्ग एव समीचीन उक्तः कथं दूष्यत इत्याशङ्क्याह **यथादृढैरि**ति.

यथादृढैः कर्ममयैः क्रतुभिर्नाम नौनिभैः ।
विद्यामान्वीक्षिकीं हित्वा तितीर्षन्ति भवार्णवम् ॥४॥

अदृढैः क्रतुभिर्ये भवार्णवं तितीर्षन्ति ते मध्य एव निमग्ना भवन्ति. न हि स्वेन नीयमानया नौकया तरणं सम्भवति. सापि स्वकर्मण्येव प्रेर्यत इति द्विगुणः क्लेशः. तदाह **कर्ममयैरि**ति, कर्मैव तेषां स्वरूपम्. तदप्यदृढं प्रायश्चित्तबाहुल्यात्. **क्रतुभिरि**ति **नाम**मात्रं यतस्ते **नौनिभा** नौकासदृशा दर्शनार्थमेव नौकातुल्याः. तान्यपि कर्माणि यदि चित्तशुद्ध्यर्थं कुर्यात् तदा भवतु वारादुपकारकत्वं; तदपि नास्तीत्याह **विद्यामान्वीक्षिकीं हित्वे**ति. कर्म त्वविद्या; विद्यान्वीक्षिकी. अन्वीक्षण**मन्वीक्षा** श्रवणानन्तरं पुनरात्मानुसन्धानम्. "विद्यां चाविद्यां च यस्तद् वेदोभयं सहे"त्यत्र केवलाविद्यायाः प्रतिषेधात् [1]तदाह **हित्वे**ति. यथा ते **तितीर्षन्ति** न तु तरन्ति तथैवैत ईश्वरवादं निराकृत्य केवलकर्मवादेन स्वनिर्वाहेच्छामपि न तरन्ति, निर्वाहं न प्राप्नुवन्त्यतः कृतस्य कर्मणो वैयर्थ्यात् तेन पालयितुं न शक्यत इति सुखेन तद्विघातः कर्तव्य इति भावः ॥४॥

तस्य भगवति दोषवशाद् विपरीता बुद्धिर्जाता, षड्गुणैश्वर्यसम्पन्ने षड्दोषवचनात्. तत्र भगवत ऐश्वर्यमप्रतिहतं; तदनुसारेणैवान्यत्रैश्वर्यं दूरीकर्तुं यथार्थान्येव वाक्यान्युक्तानीन्द्रस्य तु बुद्ध्यानीश्वरस्तथोक्तवानित्यत आह **वाचालमि**ति.

वाचालं बालिशं स्तब्धमज्ञं पण्डितमानिनम् ।
कृष्णं मर्त्यमुपाश्रित्य गोपा मे चक्रुरप्रियम् ॥५॥

बहुभाषी **वाचालः**, अनीश्वर ईश्वरवद् वक्ता; वैराग्याभावो [2]वानेनोक्तः, स्वार्थं बहूक्तवानिति. **बालिशो** ज्ञानरहितः, यस्तु वीर्यरहितोऽशक्यं कर्तुं वाञ्छति स तथोच्यते, ज्ञानाभावः स्पष्ट एव. **स्तब्धो**ऽनम्रस्तादृशस्य कीर्त्यभावः स्पष्टः, विनीतस्यैव तथा. आत्मानमेव पण्डितं मन्यत इति **पण्डितमानी,** न तस्य श्रीः, विपर्ययो वा– कीर्त्यभाव एवानेनोच्यत इति. **अज्ञो** ज्ञानरहितः स्पष्ट एव. **मर्त्यो** मनुष्यः, न स विरक्त ईश्वरो वा. **कृष्ण** इति प्रसिद्धः. एवं विपरीता बुद्धिरिन्द्रस्य.

---

१. तत्राह. २. अनेनैवोक्तः.

अथ वा **कृष्णं** सदानन्दमपि विपरीतषड्गुणं तत्त्वे**नोपाश्रित्य** भगवत्यपि विपरीतां बुद्धिं सम्पाद्य सर्वे **गोपा** [1]अल्पबुद्धयो **मेऽप्रियं** यागभङ्गं कृतवन्तः. यदि भगवन्तं वा परमेश्वरं जानीयुस्तदापि न खेदः. वस्तुतस्तु **वाचा अलं** पूर्णं यत्र— यत्र वाग् न प्रवर्तते— स पूर्णः सर्ववेदकर्ता सर्वथा नाश्रितः किन्तू**प** समीपेऽल्पमे**वाश्रित** इति. किञ्च **बालिनोपि शं** सुखं **यस्मात्**— स हि शत्रुपक्षपाती रावणमित्रं; तस्यापि मोक्ष-दाता. बालमस्यास्तीति पुच्छवान् मर्कटः प्रतिपादितः. उत्कर्षस्तु— वेदानामप्यगम्यः कृपालुता (यां!) तु बालिनमपि मोचयति. **स्तब्धो** ब्रह्मभूतो, "वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येकस्तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वमि"तिश्रुतेः. यदि भगवान् नम्रः स्यात् सत्यादि-लोकानां नाश एव भवेदतो भगवान् स्वयमनम्रोऽन्यान् नामितवान्. पण्डितान् मानयतीति **पण्डितमानी** विद्यावतः पूजयत्यतः पूजनार्थं विद्यामुपदिष्टवान्. न विद्यते **ज्ञो,** यस्मात् सर्वज्ञोऽयम्. यतोऽयं **कृष्णः** सदानन्दः, यत्र हि धर्मी तिष्ठति स धर्मसहित[2] एव भवति, अतो **गोपा मर्त्यं** शरीर**मुपाश्रित्य** शरीरधारिणो भूत्वा. **मेऽप्रियं** न विद्यते प्रियं यस्मात्, न ह्यन्यस्ततः प्रियोऽस्ति, तं भगवन्तं कृतवन्तः ॥५॥

यथा मम नित्यं प्रियजनको भवति तथोत्तरोत्तरं[3] कृतवन्तस्तथा[4] तथा धर्मान् सम्पादितवन्त इति सरस्वती अतो विपरीतां बुद्धिमाश्रित्य भक्तद्रोहं कर्तुमाज्ञापय**त्येषामिति.**

टिप्पणी

कृष्णं मर्त्यमित्यस्य द्वितीयार्थोक्तौ **अथवा कृष्णमि**त्यादि. **विपरीतषड्गुणमि**ति **मर्त्य**पदव्याख्यानम्. मर्त्यस्यानीश्वरत्वादिधर्मनैयत्येन विपरीतषड्गुणा लक्ष्यन्ते.

तथा च शङ्खे [5]गृह्यमाणेऽपि पीतिमारोपवत् स्वधर्मारोपं सदानन्दे कृतवन्त इति मे अप्रियं चक्रुरित्यर्थः. **तत्त्वेनोपाश्रित्ये**त्यस्यैव विवरणं **भगवत्यपी**त्यादिना कृतम् ॥५॥

लेखः

वाचालमित्यत्र. **अथ वे**तिपक्षे **वाचालमि**त्यादिपदपञ्चकस्यार्थो वक्ष्यमाणरीत्यैव ज्ञेयः— एतादृशं महान्तमपि **मर्त्यत्वेन** अनीश्वर-त्वादिप्रकारेणोपाश्रित्येत्यर्थः. **अलं पूर्णमि**ति अल्धातोः पचाद्यजन्तम् ॥५॥

---

१. गोपाला अबुद्धयो. २. धर्मयुक्तः. ३. तथोत्तरं. ४. °वन्तो यथा तथा.
५. गृह्यमाणपीतिमा° मू. पा.

एषां श्रियावलिप्तानां कृष्णेनाध्मायितात्मनाम् ।
धुनुत श्रीमदस्तम्भं पशून् नयत सङ्क्षयम् ॥६॥

एषां गोपानां **श्रिया** धने**नावलिप्तानां** गर्विष्ठानां, **कृष्णेनाध्मायित** आत्मा येषां, यथा स्तब्धो वायुरन्तःप्रविष्टो देहिनमाध्मापयति, तादृशस्योपवासेषु कृतेषु तदाध्मानं गच्छति, अतः **श्रीमदस्तम्भं धुनुत.** श्रीमदस्यापि मूलं पशवोऽतो भवन्तो गत्वा **पशून् सङ्क्षयं नयता**तिवृष्ट्या पाषाणवर्षणेन च सम्यक् क्षयं नयत ॥६॥

गोपालास्तु कन्दरादिष्वपि स्थातुं शक्ता अतस्तेषां वधार्थं कृष्णेन सह युद्धसम्भवादैरावतमारुह्याहमागमिष्यामीत्या**हाहं चैरावतं नागमि**ति.

अहं चैरावतं नागमारुह्यानुव्रजे व्रजम् ।
मरुद्गणैर्महावीर्यैर्नन्दगोष्ठजिघांसया ॥७॥

ऐरावतोऽक्षयो गजो जले स्थले च युद्धसमर्थोऽतस्त**मारुह्यानु** पश्चाद् भवद्गमनानन्तरं **व्रज** [1]आगमिष्यामि. प्रसङ्गादागमनं निराकरोति **व्रजमि**ति. ननु बहवो गोपाला, एकस्त्वं, बलभद्रश्च बल्यतः कथं युद्धमिति चेत्, तत्राह **मरुद्गणैरि**ति, **महावीर्यै**रतिबलिष्ठै**र्मरुद्गणैः** सह. तत्र गतस्य प्रयोजनमाह **नन्दगोष्ठजिघांसये**ति, नन्दगोष्ठस्य घातनेच्छया. इच्छया[2] गतस्तदिच्छां [3]पूरयति, अतो मारयिष्यामीत्यर्थः ॥७॥

ततो यद् जातं तदा**हेत्थमि**ति.

॥ श्रीशुक उवाच ॥

इत्थं मघवताज्ञप्ता मेघा निर्मुक्तबन्धनाः ।
नन्दगोकुलमासारैः पीडयामासुरोजसा ॥८॥

मघवतेन्द्रे**णाज्ञप्ता मेघाः** पूर्वं शृङ्खलाबद्धास्ते **निर्मुक्तबन्धनाः** कृतास्ततो **नन्दगोकुलमासारै**र्धारासम्पातै**रोजसा** बलेन वायुसहिताः **पीडयामासुः** ॥८॥

टिप्पणी

अहं चैरावतं नागमित्यत्र, **अक्षयो गजो जले स्थले चे**त्यादि. अमृतमथनप्रस्ताव एवोत्पन्नत्वेनामृतधर्मा अप्यस्मिन्सन्तीत्यक्षयत्वम्. पूर्वं जल एव स्थितत्वादधुना च स्थले सत्त्वात्तथेत्यर्थः ॥७॥

---

१. व्रजे समाग°. २. लुप्तम्. ३. वारयति.

पीडायां प्रकारमाह **विद्योतमाना** इति.

विद्योतमाना विद्युद्भिर्नदन्तः स्तनयित्नुभिः ।
तीव्रैर्मरुद्गणैर्नुन्ना ववृषुर्जलशर्कराः ॥९॥

विद्युद्भिर्विद्योतमानाः सात्त्विकोत्कर्षः; **स्तनयित्नुभिश्च नदन्तो** गर्जनं कुर्वन्त**स्तीव्रैर्वायुगणैर्नुन्ना जलशर्करा ववृषुरिति** तामससम्पत्तिः. विद्योतनेनाक्षिप्रतिघातः, स्तनयित्नुभिः श्रोत्रप्रतिघातः, जलेन प्राणप्रतिघातः, शर्कराभिः शरीरस्य. स्वाधीनाश्च तेषां विद्युतः सन्ति ता नात्र विवक्ष्यन्ते किन्तु या वज्ररूपा विद्युतः ताभिर्विद्योतनम्. स्वतोऽपि शब्दकरणं मेघानां, परं **स्तनयित्नुभिस्तथा**[1]. स्तनयित्नवो वायुरूपा अतिनिष्ठुराः. **जलमयाः शर्कराः** करकास्तत्रापि वायुवेगेन पतन्तः पीडयन्ति ॥९॥

ततो वृष्टिं कृतवन्त इत्याह **स्थूणेति**.

स्थूणास्थूला वर्षधारा मुञ्चत्स्वभ्रेष्वभीक्ष्णशः ।
जलौघैः प्लाव्यमाना भूर्नादृश्यत नतोन्नतम् ॥१०॥

स्थूणास्तम्भवत्[2] **स्थूला वर्षधाराः** प्रति **मुञ्चन्ति श्वभ्राणि** यैः— एकां धारां प्रत्येको गर्तो मेघेन क्रियते— एवं सर्वेष्वेव मेघेषु सत्सु **अभीक्ष्णशो जलौघैः प्लाव्यमाना भूः नतोन्नतं** नतमुन्नतं वा यथा भवति, नतोन्नता वा. वस्तुतः सर्वत्रैव गर्ता जातास्तथापि निम्ना वोन्नता वा पादस्थापनार्थं[3] विचार्यमाणापि **जलौघैः प्लाव्यमाना भूर्नादृश्यत** ॥१०॥

ततो यद् जातं तदाहात्यासारेति.

अत्यासारातिवातेन पशवो जातवेपनाः ।
गोपा गोप्यश्च शीतार्ता गोविन्दं शरणं ययुः ॥११॥

अत्यन्तं धारासम्पाते**नातिवातेन** च **पशवो जातवेपना** जातकम्पा जाताः. अतो **गोपा गोप्यश्च** [4]त्रिविधा अपि **शीतपीडिता गोविन्दं** गवां गोपगोपीनां चेन्द्र

लेखः

स्थूणेत्यत्र मुञ्चन्तीति स्वात्मानमिति शेषः. मेघैर्भूमिशैथिल्ये प्रतिधारं गर्तो जायत इत्यर्थः ॥१०॥

---

१. °स्तदा. २. स्थूणा स्तम्भस्तद्वत्. ३. °र्थे. ४. विविधा.

लौकिकेन्द्रेण पीड्यमानाः **शरणं ययुः** ॥११॥

एषां शरणगतावागमनप्रकारमाह **शिर** इति.

शिरः सुतांश्च कायेन प्रच्छाद्यासारपीडिताः ।
वेपमाना भगवतः पादमूलमुपाययुः ॥१२॥

स्व**शिरः सुतांश्च** स्वस्यैक**कायेन प्रच्छाद्यासारेण पीडिताः** सन्तो **वेपमाना भगवतः पादमूलमुप** समीप[1] एवा**ययु**रागताः. **शिरो**त्यन्तमुदरे समागतं **सुतांश्च**, शरीरेणोभयोः **प्रच्छादनं** भगवद्दर्शनार्थं दयार्थं च. **आसारेण पीडिता** भक्तिमार्गं त्यक्तवन्तोऽन्यथा भगवद्रक्षार्थमेव यत्नं कुर्युर्न तु स्वरक्षार्थं भगवन्तं प्रार्थयेयुः. किञ्च **वेपमाना** जाता अतो देहस्थितिं सन्दिग्धां मत्वा **पादमूलमाययु**स्तेषु कृपया भगवान् निकट एवागतस्तत **उपेत्युक्तमा** सर्वतः **पादयोर्मूलम**न्तर्जातभक्त्या शरीरेण समीपमागता अपि मनसा पादमूले[2] प्रविष्टाः ॥१२॥

तादृशानां विज्ञापनमाह **कृष्ण कृष्णेति**.

कृष्ण कृष्ण महाभाग त्वन्नाथं गोकुलं प्रभो ।
त्रातुमर्हसि देवात् नः कुपिताद् भक्तवत्सल ॥१३॥

सम्भ्रमाद् वीप्सा. **गोकुलं त्रातुमर्हसी**ति विज्ञापना. ननु स्तोत्रं कृत्वैव सर्वे विज्ञापनां कुर्वन्ति ततः [3]कथमस्माद् विज्ञापनमिति चेत्, तत्राहुर्हे **महाभागेति**— महद् भाग्यं यस्येति, के वयं[4] वराकाः स्तोत्रे ? व्यासादय एव महान्तो निरन्तरं स्तुवन्त्यतो महाभाग्यवतोऽल्पैः किं कर्तव्यमिति. अथ वा यथा भवन्तो वेपमानास्तथाहमपीति न वक्तव्यं, त्वं तु **महाभागो**ऽलौकिकसर्वभाग्ययुक्तोऽतोऽलौकिकेन प्रकारेण **त्रातुमर्हसी**त्यर्थः. सर्वथा रक्षायां हेतु**स्त्वन्नाथमि**ति, त्वमेव नाथो यस्य. किञ्च **गवां कुलं** गावः सर्वैरेव पाल्यास्त्वं च **प्रभुः** पालनक्षमः पालनसमर्थोऽतो बहूनां हेतूनां विद्यमानत्वात् **त्रातुमर्हसि.** ननु लौकिक एवोपायः कर्तव्यः कम्बलवस्त्रादिभिर्गृहैर्गुहादिभिर्वा, किं मत्प्रार्थनयेति चेत्, तत्राहु**र्देवादिति.** प्राकृतापकारे हि प्राकृतैः प्रतिक्रियायं त्वपकारो **दैव** इन्द्रेण कृतः. तर्हि स एव प्रार्थ्यतामिति चेत्, तत्राहुः **कुपितादिति.** स हि कोपं प्रापितोऽपकारकरणादतः

---

१. समीपमेवा°. २. °तले. ३. °मकस्माद्. ४. केवलं.

कुपितो मारयत्येव. ननु दैन्यं दृष्ट्वा न मारयिष्यतीति चेत्, तत्राहुर्हे **भक्तवत्सले**ति. भवानेव **भक्तवत्सलः,** स तु निर्दय एवातस्त्वयैव वयं पालनीयाः ॥१३॥

एवं विज्ञापितः कर्तव्यं विचारितवान्– किमिन्द्रो मारणीयो मेघा वा निवारणीया वृष्टिस्तम्भो वा कर्तव्य एतेभ्यो वालौकिकं सामर्थ्यं देयमन्यत्र वा नेया अन्यद् वा कर्तव्यमिति. तत्र प्रथममुपद्रवनिदाननिर्धारमाह **शिलावर्षे**ति.

शिलावर्षनिपातेन हन्यमानमचेतनम् ।
निरीक्ष्य भगवान् मेने कुपितेन्द्रकृतं हरिः ॥१४॥

शिलानां वर्षणरूपो यो **निपातो** निरन्तरपतनं सर्वतस्तेन **हन्यमानं** गोकुलं **निरीक्ष्य कुपितेन्द्रकृतमेव मेने.** यद्यपि तैरुक्तमेव तथापि किं वासनया वदन्त्याहोस्वित् सत्यमेव ? लौकिकास्तु [1]पौर्वापर्यमेव दृष्ट्वा अहेतुमपि हेतुं मन्यन्ते तथैव किं यागभङ्गानन्तरमेव वृष्टिजतिति वदन्त्याहोस्वित् तथैवेति भवति विचारणा. [2]ज्ञानेऽप्यर्थनिराकरणार्थमनूद्यतेऽन्यथाविमृश्यकारित्वं शङ्क्येत ॥१४॥

ततस्तेषामुपद्रव इन्द्रकृत इति निश्चित्य हन्यमानत्वात् शीघ्रं प्रतीकारं कर्तुं विचारयतीत्याह**ापर्तावि**ति द्वाभ्याम्.

[3]अपर्त्वत्युल्बणं वर्षमतिवातं शिलामयम् ।
स्वयागे निहतेऽस्माभिरिन्द्रो नाशाय वर्षति ॥१५॥

अचेतनत्वान्न तद्वचनापेक्षा क्षणमात्राविलम्बश्च. भगवत्त्वात् सर्वसाधनपरिज्ञानम्. वृष्टिरेतादृशी स्वाभाविक्यपि भवतीति तन्निराकरणार्थ**मपर्तावि**त्युक्तम्. मर्यादाकालोऽयमतः कलाविव न यदा कदाचिद्

टिप्पणी

शिलावर्षनिपातेनेत्यस्याभासे, **अन्यद्वा कर्तव्यमि**ति. अधुना स्वमिन्प्रवेशोऽन्यशब्दार्थो ज्ञेयः ॥१४॥

लेखः

शिलावर्षेत्यस्याभासे **किमिन्द्र** इति. इन्द्रमारणमेघनिवारणवृष्टिस्तम्भान्यत्रनयनानां विमर्श"स्तत्र[4] प्रतिविधिमि"तिश्लोके, अवशिष्टयोर्द्वयो "स्तस्माद्[5] मच्छरणमि"तिश्लोके वक्ष्यत इति विभागः ॥१४॥

१. पूर्वापर्य°. २. °प्यर्थो. ३. अपर्ताबुल्बणम्.
४. भा० १०/२२/१६. ५. भा० १०/२२/१८.

वृष्टिस्तत्राप्यत्युल्बणमतिभयानकमृतावप्येतादृशं दुर्लभमिति. **अत्यन्तं वातो** यत्र, वायुना हि नीयन्ते मेघाः. तत्रापि **शिलामयम**ल्पं जलं करका बह्व्यः. एवं चतुर्भिर्दोषै**रिन्द्र** एव **वर्षती**ति ज्ञायते. आर्षज्ञाने नित्यज्ञाने वा तर्को यदि न सहकारी स्याद् विरुद्धो वा भवेत् तदा लोकानामार्षज्ञानप्रतीतिर्न भवेत् कार्ये जातेऽपि काकतालीयप्रसङ्गः स्यादतस्तर्को युक्तो ज्ञानसहकारी. तदाह **स्वयाग** इन्द्रयागे **नितरां हते** गोकुलनाशार्थमेवे**न्द्रो वर्षती**ति ॥१५॥

तर्हि किं विधेयमित्याकाङ्क्षायामाह **तत्र प्रतिविधिमि**ति.

तत्र प्रतिविधिं सम्यक् साधये योगमायया ।
लोकेशमानिनो मौढ्याद्धरिष्ये श्रीमदं तमः ॥१६॥

नात्रेन्द्रो दूरीकर्तव्यस्तथा सति क्लिष्टकारित्वं स्यादधिकारस्यैव तथात्वेन स्वतो दोषाभावाद्. वृष्टिनिवारणे तु स्वतो युद्धं कुर्यात्. तत्र मारणामारणाभ्यां पूर्वदोषानिवृत्तेर्वृष्टिस्तम्भे मेघान् मारयेत्, मेघनाशेऽग्रिमकार्यं न स्यादतः प्रतिविधानमेव कर्तव्यम्. तदाह **तत्र प्रतिविधिं साधय** इति. यद्यन्यत्रैते नीयेरंस्तदा तत्रापि भवेत् स्थानच्युतिर्वा स्यादितराश्रयणं वा भवेदतोऽनेन गोवर्धनेनौदनो भुक्त इत्ययमेव साधनीकर्तव्यः, प्रतिकृत्या तस्य क्लृप्तत्वात्. तदाह **सम्यगि**ति. नन्वेते पाषाणाः समुदायीभूता[1] पर्वतव्यपदेशं लभन्ते नात्रैकोऽवयव्यत उत्तोलनेऽपि पाषाणानां पातः स्यादवतीर्णस्य लौकिकन्यायेन प्रवृत्तस्य पुष्टिकार्यपरस्य न प्रशासनन्यायेन पर्वत उपरि स्थापयितुं शक्योऽतः कथमुद्धरणमिति चेत्, तत्राह **योगमायये**ति. योगमायात्र कार्ये स्वीकृता यथा गर्भसङ्कर्षणे; तदत्र पर्वतधारणेऽपि

टिप्पणी

तत्र प्रतिविधिमित्यत्र **योगमाये**त्यस्याभासे, **न प्रशासनन्याये**नेति. "एतस्यैवाक्षरस्य प्रशासने गार्गि द्यावापृथिवी विधृते तिष्ठत" इति श्रुत्युक्ततद्धारणवदत्र तन्न सम्भवतीत्यर्थः ॥१६॥

लेखः

तत्र प्रतिविधिमित्यत्र **प्रतिविधि**पदेन गोवर्धनोद्धरणरूपप्रतिविधिकथने हेतुमाहुः **प्रतिकृत्ये**ति. भावप्रधानमिदं, प्रतीकारत्वेन गोवर्धनोद्धरणस्यैव भगवता क्लृप्तत्वादित्यर्थः ॥१६॥

१. °भूते.

विनियोज्या यथा न कोऽप्यंशः पतेत्. तस्या बलसिद्ध्यर्थं स्वक्रियाशक्तिस्तत्र प्रयोजनीया. ननु किमेतावता क्लेशेन; पूर्वमेवायमुपद्रवः कथं न विचारितः? तत्राह **लोकेशमानिन** इति– अहमेव लोकेश इति स्वात्मानं मन्यते न त्वधिकारिणमिति. ननु वस्तुत एवायं लोकेश इति चेत्, तत्राह **मौढ्यादि**ति, न ह्यधिकारीशो भवति. एतदुपपादितं "स वै पतिः स्यादि"त्यत्र. स एक एवेतरथा मिथो भयमित्यत इन्द्रो नेश्वरो, **मौढ्यादे**व तथा मन्यते. तस्य स मोहः **श्रीमदेन** जातस्त**मो**ऽज्ञानमेवातो **हरिष्ये** ॥१६॥

ननु किं तदज्ञानहरणेनेत्यत आह **न हीति.**

न हि मद्भावयुक्तानां सुराणामीशविस्मयः।
मत्तोऽसतां मानभङ्गः प्रशमायोपकल्पते ॥१७॥

[1]**मद्भावः** शुद्धसत्त्वं देवत्वं वा पूज्यत्वमैश्वर्यं वा. षण्णां[2] यत्र स्थितिस्तत्राज्ञानं न तिष्ठेदित्यन्यथा स न मद्भावः[3] स्यात्. भक्तिस्तु नात्र विवक्षिता विस्मयसामानाधिकरण्याभावादत ऐश्वर्यसत्त्वादेरज्ञानसहकारित्वं न युक्तमित्युभयोरप्यन्यतरनिराकरणे कृपालुत्वात् तम एव हरिष्ये. **ईशा** वयमिति विशेषेण **स्मयो** गर्वो न हि लोकेऽपि भवति, जाते वा सोऽधिकारी स्थाप्यते. लोकन्यायेन त्वकरणं कृपालुत्वादेवाक्लिष्टार्थं च. ननु मानभङ्गापेक्षयाधिकाराभाव एव श्रेष्ठ इति चेत्, तत्राह **मत्तोऽसतामि**ति. यद्ययं मानभङ्गोऽन्यतः स्यादयुक्तं स्यात् लज्जाकरश्च भवेत्. **मत्तः** सर्वेश्वरात् **मानभङ्ग** उचित एव नात्यन्तं लज्जाकरः. यद्यप्येक एवेन्द्रस्तथा भवेत् तदा निराकर्तव्यः स्यात्; सर्व एव तथा जाता इति प्रधानशिक्षया सर्व एव शिक्षणीयाः. तदाह**सतामि**ति, सर्व एव लोकपाला असन्तो जाता इति. अन्यथाऽन्योऽप्येतादृश एव स्यात्, ततोऽनवस्था भवेत्. तस्माद**सतां मानभङ्ग** एकद्वारा कृतः सर्वेषामेव **प्रशमाय भवत्युप** समीपे च **कल्पते** शीघ्रं च भवति, प्रत्येककरणे बहु कर्तव्यं स्यात्. एतद् राजमन्त्रणम् ॥१७॥

नन्वेतेभ्य एव आवश्यकत्वाल्लाघवादिदानीमेव कथं न मुक्तिर्दीयते ? मानभङ्गस्तु प्रकारान्तरेणापि भवति गोवर्धनस्य तूद्धरणमलौकिकं ज्ञानोपदेशो वा कर्तव्योऽलौकिकं सामर्थ्यं वा देयं बृहस्पतिद्वारेन्द्रो वा निवारणीयोऽत एतावति प्रकारे सति गोवर्धनोद्धरणमेव कुतः क्रियत इत्याशङ्क्याह **तस्मादि**ति.

१. सद्भावः. २. षण्णां हि धर्माणां यत्र. ३. मद्भक्तः. ४. लुप्तम्.

तस्मात् मच्छरणं गोष्ठं मन्नाथं मत्परिग्रहम्।
गोपाये स्वात्मयोगेन सोऽयं मे व्रत आहितः[1] ॥१८॥

अहमेव **शरणं** यस्य, नापि ज्ञानं नापि भक्तिरन्यथावतारप्रयोजनं न स्यात्, पुष्टिमार्गश्च न भवेत्. तत्रापि **गोष्ठं,** न हि गाव उपदेशयोग्याः. इदानीं तु मुक्तिर्भक्तिमार्गविरोधिनी, तदाह **मन्नाथमि**ति, अहमेव **नाथः** स्वामी यस्यातः[2] स्वामिसेवकभावनाशकत्वात् नेदानीं मुक्तिर्युक्ता. किञ्च **मत्परिग्रहमि**ति, **मम परिग्रहो** यत्र. मया सर्वे सङ्घाता एव परिगृहीतास्तत्र यद्येकोऽप्यंशो गच्छेत् तदा प्रतिज्ञाविरोधः स्यात्. तथा सति विशेषाभावात् सर्वनाश एव भवेदतो यथा ते जीवाः परिगृहीता एवं[3] तेषां देहा अप्यतो **गोपाये.** साधनं तु **स्वात्मयोगेने**ति, पर्वतधारणे योगमायायाः करणत्वमेतेषां सर्वथा रक्षायां स्वात्मयोग एव. यथा वायुनिरोधे

टिप्पणी

गोपाये स्वात्मयोगेनेत्यत्र, **पर्वतधारण** इत्यारभ्य **भविष्यन्ती**त्यन्तम्. अत्र हि द्वयं कार्यम्– आसाराद्रक्षा पर्वतधारणेन, एतेषां जीवदेहादिरक्षा च. अन्यथा पर्वतधारणेऽपि प्रलयकालीनमेघानां स्तनितादिभिरेतत्प्राणस्थितिर्न स्यात्. तदेतदुक्तं **पर्वतधारण** इत्यारभ्य **योग एवे**त्यन्तेन. तेनात्मयोगेन गोपाये. स्वात्मयोगेन गोपाय इति मूलार्थो विवक्षितः, अन्यथा **स्व**पदं न वदेत्. अथवा **स्व**श्चात्मयोगश्च तयोः समाहारस्तथा. युज्यते फलमनेनेति **योगः** साधनं सामर्थ्यं शक्तिरिति यावत्. आत्मनः सा योगमायैवेति सैवोक्ता. एवं सति स्वेन तत्प्राणादिरक्षा स्वरूपानन्ददानेन. तदुक्तं 'क्षुत्तृड्व्यथामि'त्यनेन मूले. तथाचाद्रिधारणं तेनासाराद्रक्षेति भावः ॥१८॥

लेखः

तस्मान् मच्छरणमित्यस्याभासे **अलौकिकं सामर्थ्यमि**ति, "ब्राह्मेण जैमिनिरुपन्यासादिभ्य" इति मते इव जीवानां देहादिकं विनैव लीलाकरण-सामर्थ्यमित्यर्थः. एतस्य समाधानं **मत्परिग्रहमि**त्यनेन भविष्यति, **बृहस्पति-द्वारे**त्यस्य समाधानं **स्वात्मयोगेने**त्यनेन. एवम्प्रकारेण न तु प्रकारान्तरेणेत्यर्थः. व्याख्याने. **नापि भक्तिरि**ति. ज्ञानोपदेशकथनेन "ज्ञानयोगश्चे"त्यादि-वाक्यैस्तयोरैकार्थ्याद् भक्तिदानमप्याक्षिप्तमेवेति ज्ञेयम्. **स्वात्मयोग एवे**ति,

१. आस्थितः इत्यपि पाठः. २. यस्येत्यतः. ३. एवमेतेषां.

इन्द्रियाणि सर्वोपद्रवरहितानि भवन्ति तथैतेष्वहमात्मानं स्थापयिष्यामि. ततो मयि स्थिता मदभ्यन्तरस्थितपूर्वभुक्तान्नभोजिनो भूत्वा सुखिता भविष्यन्तीत्ययमेव पूर्वकृतभोजनोपयोगः. ननु [1]किमेतावत्क्लेशेन? तत्राह **सोऽयं मे व्रत आहित** इति.

शरणागतसंरक्षा सर्वभावेन सर्वथा ॥(६)॥
"कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति" ॥
"सङ्ग्रामे च प्रपन्नानां तवास्मीति च यो वदेत् ॥(७)॥
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद् व्रतं मम" ॥

तस्मात् सर्वथा स्वव्रतं[2] पालनीयमिति स्वधर्मनिर्वाहार्थमेव **गोपाये.** नन्वेतद् व्रतमेव किमिति गृह्यते ? तत्राह**ायं व्रतः** पूर्वमेव **मयाहितः** स्वीकृत **आस्थितो** वाऽतो गृहीतस्य त्यागाभावात् पालनमेवोचितम् ॥१८॥

लेखः

स्वात्मनः स्वरूपस्य **योग** एतेषु स्थापनमित्यर्थः. समाहारपक्षे मूलस्थ**स्व**पदस्यैव विवरणमिदम्, अव्यापारस्य करणतासम्भवात्. **स्वं** स्वात्मनो **योगः** स्थापनमित्यर्थः. व्यापारवतः करणत्वमते एतादृशप्रयोगेषु लक्षणेत्याद्यन्यत्र विस्तरः. स्वरूपस्थापनेन रक्षणं व्युत्पादयन्ति **यथे**ति. **वायोर्निरोधे** प्राणायामैरन्तःस्थापने इन्द्रियाणां वाय्वधीनत्वा**दिन्द्रियाण्युपद्रवरहितानि** बहिर्गमनरहितान्यन्तर्निष्ठानि भवन्ति. **तथा** मत्स्वरूपस्यैतदन्तःस्थापने एतेषां मदधीनत्वादेतेऽन्तर्निष्ठा भविष्यन्तीत्यर्थः. **आत्मानं स्थापयिष्यामि** तदा एते उपद्रवरहिता अन्तर्निष्ठा भविष्यन्तीति शेषः. **तत** इति, एतेषामन्तर्निष्ठत्वादन्तश्च मम स्थितत्वात् **मयि स्थिता** मन्निष्ठा इत्यर्थः. **सुखिता** इति, मद्भुक्तान्नप्रभावरूपसामर्थ्येन स्तनितादिप्रतिघातरहिता इत्यर्थः. **इती**ति, एवं स्वात्मयोगेन रक्षेत्यर्थः ॥१८॥

कारिकार्थः

तस्मान् मच्छरणं गोष्ठमित्यत्र शरणागतसंरक्षेत्यादि स्फुटम् (६-७). अत्रैव **प्रथममि**त्यादि. एतच्च विस्तरेण व्याख्यातं टिप्पण्याम्, अक्षरार्थस्तु स्फुट एव (८-९). **अन्यथे**त्यादि. **अन्यथा** विशेषाङ्गीकाराभावे इन्द्रार्थमुद्दिष्टं **भगवान् कथं**

---

१. °मेतावता. २. °व्रजं.

प्रथमं क्लेशसम्बन्धः पूर्वपाषण्डधर्मतः ॥(८)॥
शरणागमने बुद्धिर्यागानुष्ठानतोऽभवत्[1] ।
मर्यादा[2]स्थापनार्थाय शरणागतिवर्णनम् ॥(९)॥

टिप्पणी

"तस्मान्मच्छरणं गोष्ठमि"ति वाक्योक्त्यनन्तरं प्राप्ताशङ्कानिरासायाहुः **प्रथमं क्लेशसम्बन्ध** इत्यारभ्य **ततो भवे**दित्यन्तम्. नन्वीदृक्परिग्रहे नन्दादीनामन्यभजनमसम्भवि. कथञ्चित्सम्भवे वा ततो निवर्तनमेवोचितम्, न तु यागोपदेशोऽपि, स्वरूपेणैवैतत्परिग्रहात्साधनानन्तरान[3]पेक्षणात्. न चाधुनैवायं परिग्रह इति वाच्यं, "स्वगोकुलमनन्यगतिमि"त्यादिवाक्यैः सार्वदिकत्वात्. किञ्च, स्वस्य सर्वज्ञत्वेन व्रजपरिग्रहस्य च पूर्वसिद्धत्वेन शरणागमनप्रार्थनपर्यन्तं तूष्णींभावोऽनुपपन्न इति चेत्तत्राहुः **प्रथममि**त्यादि. अत्रायं भावः. अत्र परिग्रहेणैव सर्वं न तु सोऽप्यन्यसाधनसाध्य इति ज्ञाप्यते. एवं सति पूर्वं विपरीतसाधनवत्त्वेऽपि स्वपरिग्रहेणैव तन्निवर्तनोक्तौ तत्सम्पद्यते, न तु पूर्वमेव तदभावोक्तौ. अत एवेतरसाधनासाध्यत्वोक्तिपूर्वकं "यमेवैष वृणुते तेन लभ्य" इति श्रुतिरप्याह. इदमेवोक्तं **प्रथमं क्लेशे**त्यर्धेन (८).

यागोपदेशप्रयोजनमाहुः **शरणागमन** इत्यादि. अन्यथा भगवद्वचनादिन्द्रयागे त्यक्तेऽस्माभिः क्लेशः प्राप्त इत्यसूयैवोत्पद्येत. तथा सति सर्वो निरोधो व्यर्थः स्यात्. परिग्रहस्य स्वतः प्राबल्यज्ञापनायैतेषां लोकसाधारणी रीतिर्यत उच्यते अतो नासूयानुत्पत्तिशङ्कापि. पूर्वं देहेन्द्रियादीनामन्यत्र विनियुक्तत्वादपि तत्सम्भवः. अत एव तादृशत्वे इन्द्रियादीनां निरोधो न सम्भवतीति स्वकर्मणि विनियुक्तवांस्तानि तद्वस्तूनि च. तथा सति पूर्वदोषापगमात्प्रभौ न दोषारोपः, तच्छरणागमने च बुद्धिरभूत्. न च स्वरूपबलेनैव परिग्रहादेतन्नैरर्थ्यमिति वाच्यं, परिग्रहान्तःपातित्वादस्य. परिग्रहो हि तेषां तदीयस्य च वाच्यः, तेषां च परिग्रहीतृनिष्ठत्वाभावे परिग्रहस्वरूपासम्भवात्. न च शरणागमनेन परिग्रहोऽन्यथासिद्ध इति वाच्यं, तस्यैव रक्षाहेतुत्वात्. **शरणागतिवर्णनं** तु भगवत्परिगृहीता भगवन्तमेवैहिके पारलौकिके चार्थे प्रार्थयन्ति नान्यमिति भक्तिमार्गीयमर्यादाज्ञापनार्थं, परिग्रहोऽप्यनेन सिद्ध इति ज्ञापनार्थं च.

---

१. °तो भवेत्. २. °रक्षणा°. ३. साधनान्तरान° मू. पा.

अन्यथान्यगृहीतार्थं गृह्णीयाद् भगवान् कथम् ।
अतो यागोपदेशश्च दूरोपायतया मतः ॥(१०)॥

टिप्पणी

अन्यथेन्द्रापराधेऽनिष्टं दृष्ट्वा "अतः परं त्वद्यागमेव करिष्यामोऽस्मान् रक्षे"तीन्द्रमेव प्रार्थयेयुः. इदमेवोक्तं **मर्यादास्थापनायेत्यनेन**. अथवा मादकार्थमत्तस्येतरागणनवत् परिग्रहस्वभावेनैव "को वा वराक इन्द्रोऽस्माकं कस्य वा भयमि"ति स्मयेन प्रभुमपि चेन्न प्रार्थयेयुस्तदापि रक्षणीया एव स्युः, परन्त्वेतद्भावानुसारेणैव. तथा सति गोवर्धनोद्धरणं न स्यात्, वृष्टिनाश एव कर्तव्यः स्यात्. एवं सति गोवर्धनोद्धरणेऽन्यापेक्षाराहित्यपूर्वकप्रियेक्षण-केवलभगवदीयत्व-माहात्म्यज्ञान-'गोविन्द'नामधारणाभिषेकादिलीला यास्तासामननुभवोऽसम्भवश्च स्याद्, एतज्जनितनिरोधश्च न स्यात्. तथा सत्येतन्निरोधार्थमेव सर्वकरणमिति नियमरूपा या मर्यादा सा भज्येत अतस्तद्रक्षणाय तथेत्यर्थः. किञ्च अस्य साधनप्रकरणत्वात् साधनमार्गानुसारेण या लीला कृता सैवात्रोच्यते. अतोऽन्ययागनिषेध-स्वयागकारण-शरणागमन-तदनन्तररक्षणादिकथनं च युक्तमिति भावः (९).

विपक्षे बाधकमाहुः **अन्यथेति**. य"श्चैतान्सर्वतः पृथक्कृत्यात्मसात् करिष्यामी"तीच्छयैव यागभङ्गादिकं न कृतं स्यात् तदेन्द्रार्थमुद्दिष्टत्वेन तच्छेषीभूतमन्नं नोरीकृतं स्याद्, अन्येनाप्यन्नेन गोसवसम्भवात्. तथा सति गोकुले तदीयोंऽशः स्थापित एव भवेत्. अत एव प्रभुणोक्तं "य इन्द्रयागसम्भारास्तैरेवायं मखः साध्यताम्, नान्यैरि"ति. अतः केवलात्मसात्करणेनाग्रे केवलस्वरूपानन्ददानार्थमेव यागोपदेश इत्याहु**रतो यागोपदेश** इत्यादिना. किञ्च, एवमनन्यभक्तिमार्गः सिध्यति, अन्यथान्यसंवलितैव सा स्यात्. यावति कृते भक्ताः कालकर्मादिभ्यो मुक्ताः सन्तः केवलं स्वीया भवन्ति तावति क्रियमाणे सति

कारिकार्थः

गृह्णीयात् ? अतः केवलात्मसात्करणेनाग्रे स्वरूपानन्ददानार्थमेव यागोपदेश इत्याहुः **अतो यागोपदेशश्चे**त्यादिना. किञ्चैवमनन्यभक्तिमार्गः सिध्यति अक्लिष्टकर्मत्वं च स्यादित्याहुः **भक्तिमार्ग** इति (१०).

भक्तिमार्गस्तथाक्लिष्टकर्मत्वं च ततो भवेत् ॥

अतो भगवानेवं विचार्य तान् प्रति तथोक्त्वा विश्वासार्थं श्रुतिविरोधपरिहारार्थमाधिदैविकसम्पत्त्यर्थं मायागोवर्धनादीनां प्रबोधनार्थं च तथोक्त्वा गोवर्धनोद्धरणं कृतवानित्याह**इत्युक्त्वे**ति.

इत्युक्त्वैकेन हस्तेन कृत्वा गोवर्धनाचलम् ।
दधार लीलया कृष्णश्छत्राकमिव बालकः ॥१९॥

अयं गोवर्धन उत्तोलितः संश्चलः स्यात्. तथा सति स्वरूपनाशो भवेदचलो हि सोऽत **एकेन हस्तेन गोवर्धनमचलं** कृत्वा **दधारे**ति सम्बन्धः. गा वर्धयतीति **गोवर्धन** आधिदैविकस्य नामेति पूर्वं [1]व्यवस्थापितः. स चलोऽपि भवेत्.

टिप्पणी

यदानुषङ्गिकमिन्द्रमानभङ्गादिकं भवति तद् भवतु नामेत्य**क्लिष्टकर्मत्वं** च स्यादित्याहु**र्भक्तिमार्ग** इति (१०$\frac{1}{2}$).

इत्युक्त्वैकेन हस्तेनेत्यस्याभासे, **विश्वासार्थमि**त्यादि. सार्धेनाद्येन गोपानां रक्षिष्यत्येवेति विश्वास उत्पादितः. स्ववचनकृतिहेतुकत्वज्ञाने सत्यवश्यं तत्प्रतिकृतिर्भवतीति तज्ज्ञापना**यापर्तावि**त्याद्युक्तम्. यतो वचनेन यागे कृते प्रत्यक्षं देवो दृष्टः. तदुक्तं "कृष्णस्त्वन्यतममि"त्यनेन. इन्द्रदमने क्रियमाणे "त्विन्द्रस्य युज्यः सखे"ति **श्रुतिविरोधो** भवेत्. तत्र श्रीमदहरणोक्त्या हितकर्तृत्वेन स **परिहृतः**. आधिदैविकस्य सर्वत्रैव भगवद्रूपत्वात् तद्युक्तस्य च मदासम्भवादस्य च तद्युक्तत्वात् तद्रहितत्वेन मानभङ्ग **आधिदैविक**सम्मत एवेति ज्ञापनायोक्तं "न हि मद्भावयुक्तानामि"ति. अन्यथा 'मद्भावयुक्तानामि'ति न वदेदिति भावः. "गोपाये स्वात्मयोगेने"त्यनेनोक्तरीत्या तयोः **प्रबोधनम्. आदि**पदेन गोवर्धनस्थवृक्षपक्ष्यादय उच्यन्ते. तेषामावरणाभावान्नाशस्य चानिष्टत्वात् तेष्वपि स्वयोगो ज्ञाप्यते. अन्यथे**त्युक्त्वा दधारे**ति न वदेत्, वचनं विनापि गोवर्धनोद्धरणेन रक्षासम्भवादिति भावः ॥१९॥ ॥ इति द्वाविंशोध्यायः ॥

लेखः

इत्युक्त्वैकेनेत्यत्र पूर्वं व्यवस्थापित इति, "एषोऽवजानतो मर्त्यानि"त्यत्र

---

१. [1]स्थापितम्.

तस्याप्यचलता सम्पादिता धारणार्थमेकया क्रियाशक्त्या पालनलक्षणयान्यथा सेवायामपि प्रवृत्तश्चेच्चलनं स्यात्. अथवाल्पो **गोवर्धनो** लम्बो विकृतश्च **तमेकेन हस्तेन** यादृश उद्धर्तव्यस्तादृशं कृत्वा पश्चाद् **दधार.** एवं सति क्लेशो भवेत्, किं वा प्रयोजनमित्याशङ्क्याह **लीलयेति**, लीलायां क्लेशो रसाय भवति, लीलामात्रेण कृतमित्यक्लेशश्च. ननु सर्वेश्वरो भगवान् कथमेवमचलं चलं विधाय स्वतःस्थित-मन्यथाकृत्वा पालनं [1]कृतवान्, प्रकारान्तरेणापि पालनसम्भवात् ? तत्राह **छत्राकमिव बालक** इति, यथा बाला लीलायां छत्राकं स्थिरमपि राजलीलां बोधयितुं तत उत्पाट्य मस्तकोपरि स्थापयन्ति. तथा सति बाललीला सा भवेदन्यथा मर्यादाभङ्गो दोषाय स्यादत एवेन्द्रो न निवृत्तः. पौरुषस्याप्रकटितत्वादनायासेऽपि दृष्टान्तः. वस्तुतो रक्षा भगवतैव कृता न तु गोवर्धनेनाप्युद्धृतेन. न हि छत्राकं क्वचिद् वृष्टिं वारयति वृष्ट्या नाशसम्भवाच्चातोऽप्रयोजकत्वमपि ज्ञापयितुं दृष्टान्तः. तथोद्धृतवान् यथा मध्ये गर्तो भवति प्रान्तभागश्चोन्नतो गर्ताधिकप्रदेशे च तद्गता छाया ॥१९॥

एवं धृत्वा शरणागताना**हाथे**ति.

अथाह भगवान् गोपान् हेऽम्ब तात व्रजौकसः ।
यथोपजोषं विशत गिरिगर्तं सगोधनाः ॥२०॥

उपायं कृत्वैव समाधानवचनमुक्तवान्न तु पूर्वमित्यानन्तर्यार्थोऽथशब्दः. **भगवानिति** पर्यवसानपरिज्ञानम्. **गोपानिति** धर्मपरान्, अन्यथा भगवद्वाक्ये विश्वासो न भवेद् विपरीतक्लेशानुभवात्. अत"स्तान् प्रत्याहे"ति वक्तव्ये **गोपानाहे**त्युक्तम्. तेष्ववान्तरभेदं वक्तुं स्थानविशेषनिर्देशार्थं स्नेहेन विशेषतः सम्बोधयति **हेऽम्ब हे तात हे व्रजौकस** इति. राजसादित्रैविध्यं च प्रदर्शितं सर्व एव पाल्यन्त इतिज्ञापनार्थम्. **यथोपजोषं** यथासुखं **गिरिगर्तं विशत.** सर्वेषामेव स्थितौ

लेखः

"गवां शर्मणे" एतन्नमस्कारकथनेनेत्यर्थः. **अन्यथेति**, अचलत्वसम्पादनाभावे भगवता चालनेन चलनधर्माविभवि, अन्यार्थं चलनाभावेपि हरिदासवर्यत्वात् सेवाप्रवृत्तौ, **चलनं स्यादेव.** अचलत्वसम्पादने त्वचलत्वाविरोधेन या सेवा "पानीयसूयवसकन्दरकन्दमूल"प्रकटनरूपा तामेव करिष्यतीत्यर्थः. भगवता अचलत्वं सम्पाद्यैवोत्थापनात् न चलत्वमिति भावः ॥१९॥

---

१. पालितवानिति.

महत् स्थानमस्तीति [1]बोधितम्. **गोधनसहिता** गाव एव धनानि येषां गोभिर्धनैश्च सह वा ॥२०॥

उपरि मद्धस्तं दृष्ट्वा[2] त्रासो न कर्तव्य इत्याह **न त्रास** इति.

न त्रास इह वः कार्यो मद्धस्ताद्रिनिपातनात् ।
वातवर्षभयेनालं तत्त्राणं विहितं मया ॥२१॥

इहास्मिन् गर्ते प्रविष्टै**र्मद्धस्तादद्रिपातनाद्धेतोस्त्रासो न कार्यो** न पतिष्यति यतः. ननूभयोर्भययोरेकमङ्गीकर्तव्यं, ततो वरं वृष्टिभयमेवास्त्वित्याशङ्क्याह **वातवर्षभयेनालमिति**. वातवर्षभयं न कर्तव्य**मलं**शब्दो निवारणेऽतस्तद्भयं मास्त्वत्र तु शङ्का न कर्तव्या. आगन्तव्यमित्याशङ्काभावमुपपादयति **तत्त्राणं विहितं मयेति**, **तस्य** भयस्य **त्राणं** रक्षणं प्रतीकारस्तद् **मया विहितं,** न ह्युपायः कदाचिदप्यनुपायतामापद्यते, **मयेति** वचनात्, न भ्रान्तेन कृतं, कृतत्वात् न कर्तव्यम् ॥२१॥

ततस्ते तथैव कृतवन्त इत्याह **तथेति**.

तथा निर्विविशुर्गर्तं कृष्णाश्वासितमानसाः ।
यथावकाशं सधनाः स[3]प्रजाः सोपजीविनः ॥२२॥

पतनभयाभावार्थमाह **कृष्णाश्वासितमानसा** इति. **यथावकाशमि**त्युक्तार्थस्थापनम्. **सधना** गोसहिताः[4] पुत्रादिसहिता **उपजीवी** सेवकादिर्विप्रादिश्च तत्सहिताः ॥२२॥

ततो वृष्टिः सप्तरात्रं जाता, भगवतो गुणानां च मर्यादायां प्रतीक्षार्थम्. यद्यग्रेऽपि भवेत् म्रियेतैवेन्द्रो मेघाश्च, तदुपरि सहनं भगवतो नास्त्यत एव यो

लेखः

क्षुत्तृड्व्यथामित्यस्मात् पूर्वं **प्रतीक्षार्थमिति**, "सप्तसु मध्ये एकोऽपि चेदुपेक्षेत तदा सर्वथोपद्रवं करिष्यामी"ति सप्तानां प्रतीक्षार्थमित्यर्थः. **तदुपरीति**, अतः परं

योजना

क्षुत्तृड्व्यथामित्यत्र सप्तदिवसधारणस्य तात्पर्यनिरूपणे **ततो वृष्टिः सप्तरात्रं जाता भगवतो गुणानां च प्रतीक्षार्थमिति**. अत्रायमभिप्रायः— शक्तिमान् हि

---

१. ज्ञापितम्. २. °वापि. ३. °व्र°. ४. °गोधन°.

भगवदीयेभ्यो विचार्यापकारं करोति स सप्तरात्रं प्रतीक्षते. एतन्मध्ये चेद् भगवता परिपालितस्तदा न करिष्याम्युपेक्षितश्चेत् करिष्यामीत्यविचार्योपद्रवकर्ता तु सप्तरात्रं करोति. यदि तावत्कालं [1]जीवितस्तदा निवर्तते स्वनाशभयात्. एवं व्यवस्था सर्वत्र.

लेखः

रक्षकाभावात् नष्टा एव भविष्यन्तीत्युपद्रवकर्तारमेव मारयेदित्यर्थः. अत्र**अविचार्योपद्रवकर्ता** इन्द्र इति ज्ञेयम्.

योजना

शक्तिभिः सर्वं करोति. यथानेकशस्त्रवान् यथासौकर्यमेकैकेन शस्त्रेण मारकान् परिहृत्य दीनान् रक्षति एवमैश्वर्यादिषड्गुणवान् भगवान् प्रत्यहमेकैकेन गुणेन वृष्ट्यादिकृतदुःखं परिहृत्य श्रीगोकुलं रक्षितवान्. एवं षट्सु दिनेषु षड्भिर्गुणैः रक्षा, सर्वगुणवैशिष्ट्येन यद् रक्षणं तद् धर्मिरूपेण रक्षणमेवं सप्त प्रकारा रक्षणे. तत्र प्रथमदिवसे ऐश्वर्येण रक्षणे जायमाने एकस्मिन् दिने रक्षित्वा द्वितीये तृतीये चतुर्थे वा श्रीकृष्णो व्रजस्योपेक्षां करिष्यति तदा व्रजनाशो भवितेत्याशयात् प्रलयकर्त्रीं वृष्टिं शक्रः सम्पादितवान्. सेयं **भगवतो गुणानां च प्रतीक्षा** नाम. ततोऽष्टमदिवसे कुतो वृष्टिर्नाभूदित्याशङ्क्य तदाशयं विवृण्वन्ति **तदुपरि सहनमि**त्यादिना. **तदुपरी**ति गुणगुणिकृतरक्षानादरेण सप्तदिवसोपरीत्यर्थः. अयमाशयः— गुणषट्ककृतरक्षामविचार्य सप्तमदिवसे वृष्टिः कारिता. एवं यदि धर्मिरूपेण कृतां रक्षामविगणय्याष्टमदिवसे वर्षेत् तदा धर्मिणोऽनादरे भगवानिन्द्रं मारयेत्. तदुक्तं **यद्यग्रेऽपि तद् भवेत् म्रियेतैवेन्द्रो मेघाश्चे**त्यनेन. एवं सति इन्द्रानुजिघृक्षया न तादृशीं बुद्धिं हरिरुत्पादितवान्. अपि तु सद्बुद्धिं शक्राय दत्तवान्, यया सप्तमीं रक्षामवलोक्य वासवो वृष्टिं वारितवान्. तदग्रे वक्ष्यन्ति "सप्तमदिवसस्य रात्रिशेषे वारणमि"ति. **अत एवे**त्यारभ्य **एवं व्यवस्था सर्वत्रे**त्यन्तम्. **विचार्ये**ति, विचार्योपद्रवकर्ता त्वनेन भगवद्भक्तेनायमपराधः कृत एतस्मै दण्डो देयो न वेति सन्दिह्य भगवता यस्य रक्षार्थं यत्नः कृतस्तस्मै दण्डो न देय इति निश्चिनोति, ततो न दण्डयति. एवं सप्तरात्रं प्रतीक्षणं भगवतो गुणानां च.

---

१. जीवितं.

ततो भगवान् सप्तरात्रं तथा स्थित इत्याह **क्षुत्तृडिति.**

क्षुत्तृड्व्यथां सुखापेक्षां हित्वा तैर्व्रजवासिभिः।
वीक्ष्यमाणो दधावद्रिं सप्ताहं नाचलत् पदात् ॥२३॥

क्षुत्तृड्भ्यां जायमानां **व्यथां** सोढ्वा **सुखस्य** निद्रादेर**पेक्षां** त्यक्त्वा

लेखः

क्षुत्तृडित्यत्र **हित्वे**त्यस्यैव विवरणं **सोढ्वे**ति, न तु पदान्तराध्याहारः, अग्रे तथान्वयकथनात् ॥२३॥

योजना

अत्र **विचार्यो**पद्रवकर्ता देवादिर्ज्ञेयो, यस्य भगवत्कृतभक्तरक्षाया भक्तोपेक्षायाश्च ज्ञानमस्ति, न तु यः कश्चित् साधारण इति ज्ञेयम्. तथा च सप्तरात्रमध्ये यदा कदाचिद्रक्षोपाये भगवता कृते भगवद्रक्षितस्य नाशाभावमवगत्य विचारकुशलस्तु भक्तान् नापकरोति. ननु यदा कश्चिद् भक्तानुपद्रावयेत् तदा भगवान् पालयेदतः पूर्वमेव कथं ज्ञायेत यदयं भगवता रक्षित उपेक्षितो वेति चेत्, न, उपद्रवसम्भावनयापि भक्तरक्षार्थम् उपायकरणात्, "प्राग्दिष्टं भक्तरक्षायामि"ति नवमस्कन्धे शुकवाक्यात् उपद्रवशङ्कयैव अम्बरीषभूपभक्तरक्षार्थं चक्रस्थापनस्य सिद्धत्वात्. भगवत्कृततादृग्रक्षावबोधो देवादीनामलौकिकप्रकारेण जायत एव. अत एव चेतसा भगवत्स्मरणमनेन कृतमनेन न कृतमिति ज्ञानं यमदूतानामुत्पद्यते. अन्यथा भगवत्स्मर्तॄन् कथं न नयन्ति कथं वा भगवत्स्मरणरहितान् नयन्ति? तदुक्तं "जिह्वा न वक्ति भगवद्गुणनामधेयं चेतश्च न स्मरति तच्चरणारविन्दं कृष्णाय नो नमति यच्छिर एकदापि तानानयध्वमसतोकृतविष्णुकृत्यानि"ति षष्ठस्कन्धे यमेन. तथा च देवादीनाम् अलौकिकप्रकारेण भगवत्कृतरक्षोपेक्षोभयज्ञानं मन्तव्यम्. एवं सति **विचार्यो**पद्रवकर्ता तु **सप्तरात्रं प्रतीक्षत** इति यदुक्तं तत्र विचार्योपद्रवकर्ता तु देवादिर्ज्ञेयः, अलौकिकद्रष्टृत्वात्. **अविचार्योपद्रवकर्ता त्विति** यथेन्द्रस्तथेत्यर्थः. स्पष्टमेतद्, इह विचार्योपद्रवकरणे सप्तरात्रप्रतीक्षोक्ता, अविचार्योपद्रवकरणे सप्तरात्रपर्यन्तं करणमिति यदुक्तं तत्र न सप्तरात्रपर्यन्तमेव प्रतीक्षा सप्तरात्रपर्यन्तमेवोपद्रवकरणमिति नियमोऽस्ति, अपि तु सप्तरात्रपर्यन्तं प्रतीक्षा सप्तरात्रपर्यन्तमुपद्रवश्चेति परमावधिरुक्त इति ज्ञेयम्.

क्षुत्तृड्व्यथां सुखापेक्षां हित्वेत्यत्र व्यथायास्त्यागासम्भवात् पदान्तरेण

तैर्व्रजवासिभिर्निरीक्ष्यमाणो भगवानद्रिं **दधौ.** न दीर्यत **इत्यद्रिः;** सोपि वृष्ट्या मध्ये न दीर्णो भगवानपि **पदादपि न चलितः.** अत्र **हित्वेत्यनेनैव** सम्बध्यते **क्षुत्तृड्व्यथामिति**, दर्शनेनान्नभोजनेन वान्यथा गोपानां कथं धैर्यं भवेत् ? एवं सप्तरात्रं धृत्वा तान् व्रजस्थान् सर्वेभ्यः पृथक्कृत्य स्वीयानेव कृतवानिति निरूपितम्. सप्ताङ्गानि प्राणिनो भवन्ति– देवर्षिपितर आत्मात्मीयावैहिकः पारलौकिकश्चेति. यद्येतेषां मध्ये कश्चिदप्येतान् पालयेत् तदा तेषां [1]वा भवेयुर्यदि ते सर्व एवाशक्ताः प्रतिपक्षा वा तदा नातः परं तेषां सम्बन्ध इति. अत एव प्राणान्तःकरणधर्मत्याग उक्तस्तेषां शुद्धभगवद्भावे बाधकत्वात्. एतेन प्रभुस्वरूपातिरिक्तं स्मृतवन्तोऽपि

योजना

सम्बन्धः कर्तव्य इत्याहुः **क्षुत्तृड्भ्यां जायमानां व्यथां सोढ्वेति. सोढ्वेत्यध्याहार्यम्.** अस्मिन् पक्षे **सोढ्वेतिपदाध्याहारदोषशङ्कया** प्रकारान्तरेण व्याचक्षते **अत्र हित्वेत्यनेनैव सम्बध्यते क्षुत्तृड्व्यथामितीति**. तथा च **क्षुत्तृड्व्यथां हित्वेत्यन्वयं** विधाय व्यथाया अपि त्यागो वाच्यः. व्यथात्यागः कथं सम्भवतीत्याकाङ्क्षायामाहुः **दर्शनेन अन्नभोजनेन वेति. वीक्ष्यमाण** इति पदादासक्तिर्निरूपिता. सा च प्रपञ्चविस्मरणपूर्विकैव वाच्या, स्कन्धार्थनिरोधस्य तादृशत्वात्. अतो निखिलप्रपञ्चविस्मरणे क्षुत्तृडादिविस्मरणमर्थादायातमिति स एव 'त्याग'पदार्थः. **अन्नभोजनेन वेति**, भगवत्कृतेनान्नकूटान्नभोजनेन वेत्यर्थः. भगवद्भुक्तस्य सर्वतृप्तिजनकत्वेन व्रजवासिनां सर्वेषां तृप्तिर्जातेति क्षुत्तृड्व्यथा-सुखापेक्षा-त्यागः युक्त एवेति भावः. अत एव प्रथमस्कन्धे "शाकान्नशिष्टमुपभुज्य यतस्त्रिलोकीं तृप्ताममंस्त सलिले विनिमग्नसङ्घ" इतिवाक्याद् भगवत्कृतभोजनस्य सगणदुर्वासस्तृप्तिजनकत्वमुपलभ्यते. **सप्ताङ्गानि प्राणिनो भवन्ती**ति **प्राणिन** इति षष्ठी, **प्राणिनो** जीवस्य हिताचरणे सप्ताङ्गानि भवन्तीत्यर्थः. सप्ताङ्गानि गणयन्ति **देवर्षिपितर** इत्यादिना. स्वयमपि स्वसामर्थ्येन स्वहितमाचरती**त्यात्मोक्तः. आत्मीयः** पुत्रादिः, **ऐहिकः** स्वदेहसम्बन्धिभिन्नः स्वरचितोपकारः, **पारलौकिको** यागादिधर्मः. एतैः सप्तभिर्यदा व्रजवासिनो न रक्षितास्तदा व्रजवासिनां नैतेषु कदाचिदपि प्रीतिसम्भवः किन्तु स्वरक्षके श्रीगोवर्धनधर एव प्रीतिर्व्रजस्थानां

---

१. लुप्तम्.

नेत्युक्तं भवति; भगवद्रक्षणमेतादृशमिति च ज्ञापितम्. सपदि रक्षाग्रे च सुखमेतेन भविष्यतीत्यनुसन्धानेन वीक्षणे वीक्षणस्य तच्छेषत्वं स्यात्, तथा सति भक्तिमार्गीया सा रक्षा न भवेदिति सर्वमन्यथा स्यादत एव **तैरि**ति पूर्वोक्तं [1]केवलभगवदधीनत्व-मेतादृग्रक्षणे हेतुत्वेन परामृष्टं, पारम्पर्यागतस्यापीन्द्रयागस्य भगवद्वचनमात्रेण पूर्वं त्यक्तत्वात्. **दधावि**ति 'डुधाञ् धारणपोषणयोरि'त्यस्य रूपं, ते**नाद्रिं** धृतवान् पोषितवांश्च. **सप्ताहमि**त्यत्यन्तसंयोगे द्वितीया. **अहः**शब्दो रात्रिदिनवाची. अचल-त्वस्थापनार्थं **नाचलदिति पदादी**षदपि. गतिः पादस्य सहजेति स निर्दिष्टः ॥२३॥

तत इन्द्रो युद्धार्थं समागत्यालौकिकं दृष्ट्वा भीतः सन् मेघान् [2]न्यवर्तयदित्याह **कृष्णे**ति.

कृष्णयोगानुभावं तं निशम्येन्द्रोऽतिविस्मितः।
निःस्तम्भो भ्रष्टसङ्कल्पः स्वान् मेघान् सन्न्यवारयत् ॥२४॥

लीलार्थमवतीर्णस्य सर्वयोगाधिपतेरप्रच्युतस्वरूपस्य **तं** [3]गोवर्धनोद्धरणलक्षण**मनुभावं निशम्य** श्रुत्वा मेघद्वा**रेन्द्रोऽतिविस्मितो** जातस्ततो **निःस्तम्भो** गतगर्वो **भ्रष्टसङ्कल्पो**ऽपि जातः स्वोत्कर्षमपि त्यक्तवान् मारयिष्यामीतिसङ्कल्पं च त्यक्तवांस्ततः **स्वान् मेघान् सम्यङ् न्यवारयत्** ॥२४॥

ततो यद् जातं तदाह **खमि**ति.

खं व्यभ्रमुदितादित्यं वातवर्षं च दारुणम्।
निशम्योपरतं गोपान् गोवर्धनधरोऽब्रवीत् ॥२५॥

सप्तमदिवसस्य रात्रिशेषे निवारणम्. तत आकाशो **व्यभ्रो** जात **उदित आदित्यो** यस्य. एवमुपरितनवृष्ट्यभावं ज्ञात्वा **गोवर्धनं** धृत्वैव भगवा**नब्रवीत्**, **वातयुक्तं वर्षं चकारात्** शिलावर्षं मेघांश्च, **दारुणमतिमारकमुपरतं निशम्य**, **गोपानि**ति पूर्ववद् धर्मपरान् ॥२५॥

योजना

समुद्भूतेति ज्ञेयम्. **सप्ताहं नाचलत् पदादि**त्यस्य व्याख्याने **गतिः पादस्य सहजेति स निर्दिष्ट** इति, यथा व्रजवासिभिः सहजः क्षुत्तृड्रूपो धर्मो भगवदर्थं त्यक्तस्तथा प्रभुणापि स्वाभाविकश्चलनरूपश्चरणधर्मस्त्यक्तः, **"ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव** भजाम्यहमि"तिवाक्यादिति भावः ॥२३॥

---

१. केवलं २. पर्यवारयत्. ३. °रणमनुभावं.

भगवद्वाक्यमेवाह **निर्यातेति.**

निर्यात त्यजत त्रासं गोपाः सस्त्रीधनार्भकाः ।
उपारतं वातवर्षं व्युदप्रायाश्च निम्नगाः ॥२६॥

त्रासं च त्यजत वातवर्षकृतम्. **गोपा** इति सम्बोधनं गवां पालनमावश्यकमिति. प्रथमतो बहिर्दृष्ट्वा पश्चात् सामग्री नेयेति शङ्कां वारयन्नाह **सस्त्रीधनार्भका** इति, स्त्रियो धनान्यर्भका बालाश्चेति तैः सहिता एव निर्गच्छत. यतो **वातवर्षमुपारतं निम्नगाः** सूक्ष्मनद्यो **व्युदप्रायाः** क्वचिद् [1]गभीर एवोदकं नान्यत्रेति. तेषां जिज्ञासाभावादेतदुक्तम् ॥२६॥

प्रवेशवदेव निर्गता अपीत्याह **ततस्त** इति.

ततस्ते निर्ययुर्गोपाः स्वं स्वमादाय गोधनम् ।
शकटाटोपकरणं स्त्रीबालस्थविराः शनैः ॥२७॥

तत्र सर्वं पृथगेव स्थितमिति ज्ञापयितुं **स्वं स्वं गोधनमादाय** सर्वे निर्गताः. **शकटानामाटोपकरणं** यथा भवति तथा; यथा निर्भया हृष्टा निर्गमने महान्तं सम्भ्रमं कुर्वन्ति तथा कृत्वा निर्गता इति तेषामानन्दः सूचितः. ततोऽन्येऽपि **स्त्रीबालस्थविराः शनैरेव** निर्गता अव्यग्राः ॥२७॥

सर्वेषु निर्गतेषु भगवत्कृतमाह **भगवानपीति.**

भगवानपि तं शैलं स्वस्थाने पूर्ववत् प्रभुः ।
पश्यतां सर्वभूतानां स्थापयामास लीलया ॥२८॥

यथा ते स्वस्वकार्यार्थं निर्गता एवं **भगवानपि तं शैलं स्वस्थाने** तस्यैव[2] स्थाने **पूर्ववदेवा**नुपूर्वीं विधाय स्थापितवान्. अनेन प्रथनेनैकत्रकरणपक्षेऽपि यथापूर्वं स्थापितवानिति लक्ष्यते. अत्र स्थापने ग्रहणे वा न किञ्चिन्मायिकमिति ज्ञापयितुं **पूर्ववदेव** स्थापितवान्. तदाह **पश्यतां** [3]**सर्वभूतानामिति**, यथा हस्तस्थितं पात्रं यथास्थानं स्थाप्यते तथैव **लीलया स्थापयामास** ॥२८॥

लेखः

निर्यातेत्यत्र तेषामिति, तेषां गोपानां विचारसामर्थ्याभावात् स्वयमेवोक्तमित्यर्थः. **जिज्ञासा**पदेन विचारः ॥२६॥

---

१. गम्भीर. २. स्वस्यैव स्थाने. ३. सर्वदिवानां.

एतद् भगवता लीलया कृतमपि लोके चेत् तथात्वेन न प्रसिद्धं स्यात् तदा[1] लीलात्वं न भवेदिति माहात्म्यदर्शनानन्तरमपि गोपानां पूर्ववदेव स्थितिमाह **तमिति.**

तं प्रेमवेगान्निभृता व्रजौकसो यथा समीयुः परिरम्भणादिभिः ।
गोप्यश्च सस्नेहमपूजयन् मुदा दध्यक्षताद्भिर्युयुजुः सदाशिषः ॥२९॥

यदैव भगवान् गोवर्धनं स्थापयामास तदैव **तं** भगवन्तं **प्रेमवेगात् परिरम्भणादिभिर्यथा** यथावत् **समीयुः**. ते हि भगवदालिङ्गनार्थं प्रतीक्षन्त एव स्थिता यतः, [2]यतः प्रेम्णो वेगस्तेषु स्थितो; हृदये पूर्णं प्रेम बहिरपि निस्सरतीति प्रेम्णो [3]वेगः. अत एव **यथावद्** यस्य यथोचितं तथा स कृतवान्. प्रेम्णैव **नितरां भृताश्च गोप्यो**ऽपि. तथा विशेषमप्याह **सस्नेहमपूजयन्निति**, तैः सर्वैरेवायं देव इति ज्ञातस्तेन लौकिकीमपि क्रियां वैदिकीं कृतवन्तो, भावद्वयस्य विद्यमानत्वादतः स्नेहपूर्वकं पूजां कृतवन्तः. **मुदेति** पूजायामुत्साहस्तेन लौकिकीत्वेनान्यथाबुद्धिर्न बाधिकेति सूचितम्. **दध्यक्षताद्भिरिति** पूजासाधनानि– जलानि चरणक्षालनादौ, दध्यक्षता अलङ्कारार्थे, मार्जनार्था वापः. लौकिकी तद्देशप्रसिद्धेयं पूजा– दध्ना तिलकं दत्वा तदुपर्यक्षतान् स्थापयित्वाप उपरि भ्रामयित्वा पिबन्तीति. **सदाशिषश्च युयुजु** "जीव पालये"त्यादिरूपाः. सन्तोषादेव न तु स्वाधिकारेण, देवत्वेन ज्ञातत्वात् ॥२९॥

एवं साधारणीं [4]प्रतिपत्तिमुक्त्वा चतुर्भिः कृतां [5]विशेषप्रतिपत्तिमाह **यशोदेति.**

यशोदा रोहिणी नन्दो रामश्च बलिनां वरः ।
कृष्णमालिङ्ग्य युयुजुराशिषः स्नेहकातराः ॥३०॥

आदौ स्त्रीनिर्देशः स्नेहाधिक्याद्, अनयैवानुपूर्व्या [6]स्नेहतारतम्यमपि ज्ञातव्यम्. **च**कारात् श्रीदामादयोपि. **बलिनां** मध्ये **वर** इति बलभद्रविशेषणं तस्याप्याश्चर्यमेतदिति ज्ञापयति. **कृष्णं** सदानन्दम्. एते ह्यन्तरङ्गाः ज्येष्ठाश्चात **आलिङ्ग्याशिषो युयुजुः स्नेहेन च कातरा** जाताः ॥३०॥

माहात्म्यदर्शनाद् [7]देवतानामपि स्वापराधनिवृत्त्यर्थमुत्सवकार्यमाह **दिवीति.**

---

१. तथा. २. स्थिता यतः प्रेम्णो. ३. वेगेन. ४. प्रपत्ति°. ५. °प्रपत्ति°.
६. तत्स्नेह°. ७. देवाना°.

दिवि देवगणाः साध्याः सिद्धगन्धर्वचारणाः ।
तुष्टुवुर्मुमुचुस्तुष्टाः पुष्पवर्षाणि पार्थिव ॥३१॥

देवगणा वस्वादय, एकः कश्चिद् भक्तो भवतीति **गणपदप्रयोगः. साध्या** अपि देवभेदास्तथा **सिद्धा गन्धर्वा** अप्सरसश्च **चारणाश्च तुष्टुवुः पुष्पवर्षाणि मुमुचुस्तुष्टाश्च** जाताः— वाचिककायिकमानसिकव्यापारा निरूपिताः. **पार्थिवेति** सम्बोधनं महत्कर्मकरणानन्तरं राज्ञामप्येवं [1]तद्वश्यैः क्रियत इति ज्ञापनार्थम् ॥३१॥

समागतानां देवानामेतदुक्त्वेन्द्रभयात् तत्रत्या न करिष्यन्तीत्याशङ्क्य परिहरंस्तत्र स्थितानामप्युत्सवमाह **शङ्खे**ति.

शङ्खदुन्दुभयो नेदुर्दिवि देवप्रणोदिताः ।
जगुर्गन्धर्वपतयस्तुम्बुरुप्रमुखा नृप ॥३२॥

शङ्खा दुन्दुभयश्च नेदुः. शङ्खशब्दो वैदिको **दुन्दुभि**शब्दो लौकिक इत्युभयोर्निर्देशः. स्वयमेव नेदु**र्देवप्रणोदिताश्च नेदुः. गन्धर्वादीनां पतयो** विश्वावसुप्रभृतयो **जगुर्गा**नं कृतवन्तः. त्रयो मुख्या विश्वावसुस्तुम्बुरुर्नारदश्चेति तत्र मध्यमो निरूपित**स्तुम्बुरुप्रमुखा** इति स उभयात्मक इति. पुन**र्नृपे**ति सम्बोधनं तथादर्शनाद् विश्वासाय ॥३२॥

एवं भगवल्लीलामुक्त्वोपसंहरति **तत** इति.

ततोऽनुरक्तैः पशुपैः परिश्रितो राजन् स गोष्ठं सबलोऽव्रजद्धरिः ।
तथाविधान्यस्य कृतानि गोपिका गायन्त्य ईयुर्मुदिता हृदिस्पृशः ॥३३॥

देवादीनां शब्दादिश्रवणानन्तरमत्यन्त**मनुरक्तैः पशुपैः परिश्रित** एव सन् भगवान् **गोष्ठमव्रजद्** यतो **हरिः**. पशुपानां चारणार्थं गमनं निषिद्धं, गवां तेषां चापेक्षाभावात्. तदुपपादितम्, अतोऽनुरागबाहुल्यात् पशुपैः परिश्रित एव गतः. **राजन्नि**ति पूर्ववत्, प्रायेण क्लिष्ट इति पुनःपुनः सम्बोधनम्. **स** इति तथा समर्थोऽपि;

लेखः

दिवीत्यत्र अप्सरसश्चेति. "रूपमिति गन्धर्वा गन्ध इत्यप्सरस" इतिश्रुतौ साहचर्याद् **गन्धर्व**पदेनाप्सरसोऽप्युक्ता इति भावः ॥३१॥

---

१. तद्व°.

न हि तादृशो गोष्ठे स्थातुं युक्तो भवति. तत्रापि **सबलः** बलभद्रसहितस्तथाप्य**व्रजद्** यतो **हरिः**. अथवैतादृशालौकिकसामर्थ्यवतो द्वारकावदिहाप्युत्कृष्टं स्थानं निर्माय स्थातुमुचितं न तु गोष्ठ इत्यत आह **स** इति. "ते ते धामानी"त्यादि-श्रुतिभिर्वैकुण्ठादप्यधिक**मस्य** सहजं स्थानमस्तीति निरूपितमस्तीति तथा प्रसिद्धो वेद[1] इति तत्रैव गमनमुचितमावश्यकमपीत्यर्थः. यथा राजाऽन्यत्र कार्यं कृत्वा स्वराजधानीमेव गच्छति तथेति ज्ञापनाय सम्बोधनम्. गोपीनां गमने भगवत्सङ्गो नास्तीत्याशङ्क्याह **तथाविधानी**ति. गोवर्धनोद्धरणसदृशानि पूतनासुपयःपानादीन्यनेनैव रूपेण **कृतानि. गोपिका** विशेषानभिज्ञा अतः **कृतान्येव गायन्त्यो** व्रजमी**युः**. तत्र गतानां संसारनिवृत्त्यर्थमाह **मुदिता हृदिस्पृश** इति, **मुदिता** इति पूर्वदुःखनिवृत्तिः, अद्भुतभगवल्लीलादर्शनेन माहात्म्यज्ञानपूर्वकस्नेहातिशयो गोपानामधुना जात इति [2]प्रियनिकटगमने प्रतिबन्धं ते न करिष्यन्ति; करणे वा सपदीवाद्भुतरीत्याप्यस्मान् पालयिष्यतीति ज्ञात्वापि **मुदिताः**. भगवतो **हृदिस्पृशो** जाता **हृदि** भगवन्तं वा **स्पृशन्ती**ति — एतेनेतरेभ्योऽधिकोऽन्तरङ्गः सङ्ग एतासामुक्तः. एवं दुःखनिवृत्तिपूर्विका भगवदासक्तिर्निरूपिता ॥३३॥

॥ इति श्रीमद्भागवतसुबोधिन्यां श्रीमद्वल्लभदीक्षितविरचितायां दशमस्कन्धविवरणे द्वितीये तामसप्रकरणेऽवान्तरसाधनप्रकरणे श्रीनिरूपकचतुर्थाध्यायस्य स्कन्धादितो द्वाविंशाध्यायस्य विवरणम् ॥

॥ इति द्वाविंशोध्यायः ॥

---

१. देव. २. °निकटा°.

॥ पञ्चमः स्कन्धादितः त्रयोविंशोध्यायः ॥

अज्ञानमन्यथाज्ञानं कृष्णगं विनिवार्यते ।
त्रयोविंशे समत्वाय निरुद्धानामशेषतः ॥(१)॥
पूर्वपक्षश्च सिद्धान्तः फलं चेति निरूप्यते ।
अप्राकृतत्वं सम्बन्धो द्वयं स्थाप्यमिहोक्तिभिः ॥(२)॥
विरोधात् प्राकृतत्वेन सम्बन्धस्त्यज्यते पुरा ।
जातस्तादृश एवात्र न सन्देहस्तथा परः ॥(३)॥

टिप्पणी

त्रयोविंशाध्यायार्थोक्तौ **अज्ञानमि**ति, निरुद्धानामज्ञानादि **कृष्णगं** कृष्णविषयकं **निवार्यत** इत्यर्थः. प्रयोजनमाहुः **समत्वाये**ति. गोवर्धनोद्धरणेन कृतो यो निरोधः स तु सर्वेषां समान इति तज्ज्ञापनाय तथेत्यर्थः (१). **प्राकृतत्वेने**ति स्वनिष्ठो हेतुः. **जातस्तादृश एवे**ति, **तादृश एव** अप्राकृत एव प्रकट इति. **अत्र** भगवत्यप्राकृतत्वस्वसम्बन्धित्वयोर्विरोधाभावान्न **सन्देह** इति **परः** सिद्धान्त**स्तथा**

योजना

त्रयोविंशाध्यायार्थोक्तौ **अज्ञानमि**ति, एतस्यार्थष्टिप्पण्यां स्फुटः, **समत्वाये**त्यस्यापि. **विरोधात् प्राकृतत्वेने**ति, स्वेषु **प्राकृतत्वेन** प्राकृतैरस्माभिरेतस्य श्रीकृष्णस्य कथं सम्बन्धः स्यात् ? गोपैर्भगवता सह दैहिकः **सम्बन्धस्त्यज्यते पुरा** पूर्वपक्षे इत्यर्थः. एतावता श्रीनन्दं प्रति गोपकृतप्रश्नस्याशय उक्तः. सोऽयं पूर्वपक्षरूपः; श्रीनन्ददत्तोत्तराशयमाहुः **जातस्तादृश एवात्रे**ति. अस्यार्थष्टिप्पण्यां स्फुटः; अप्राकृतोऽपि वस्तुस्वभावात् मत्पुत्र इति अप्राकृतत्वं मत्पुत्रत्वं द्वयमपि वास्तवमिति श्रीनन्ददत्तोत्तराशयः. सोऽयं सर्वोपनिषदां सिद्धान्तः (१-३).

कारिकार्थः

त्रयोविंशाध्याये **अज्ञानमि**त्यादि, निरुद्धानामज्ञानादि **कृष्णगं** कृष्णविषयकं **निवार्यते** इत्यर्थः. प्रयोजनमाहुः **समत्वाये**ति, गोवर्धनोद्धरणेन कृतो यो निरोधः स तु सर्वेषां समान इति समत्वज्ञापनायेत्यर्थः (१). **पूर्वपक्षश्चे**त्यादि. "ततो नो जायते शङ्का व्रजनाथ तवात्मजे" इत्यन्तेन ग्रन्थेन **पूर्वपक्षः**, "श्रूयतां मे वचो गोपा" इत्यादिना **सिद्धान्तः**, "मुदिता नन्दमानर्चुः कृष्णं विगतविस्मया" इत्याश्चर्याभावः **फलम्**. इह भगवत्य**प्राकृतत्वं** पुत्रत्वरूपः **सम्बन्धश्चे**ति **द्वयं स्थाप्यम्** (२).

माहात्म्यदर्शनं हेतुः पूर्वपक्षे तथा परे ।
गर्गवाक्यानि तज्ज्ञानं फलमित्येष निश्चयः ॥(४)॥

पूर्वाध्यायान्ते गोकुले समागताः सर्व इत्युक्तम्, आगतानां सन्देहो वर्ण्यते भगवति पूर्वपक्षरूपः. आदौ पूर्वपक्षनिरूपणार्थं तेषामुद्योगमाह**एवंविधानी**ति.

॥ श्रीशुक उवाच ॥

एवंविधानि कर्माणि गोपाः कृष्णस्य वीक्ष्य ते ।
अतद्वीर्यविदः प्रोचुः समुपेत्य सुविस्मिताः ॥१॥

गोवर्धनोद्धरणरूपाणि बहूनि भगवतः **कर्माणि** दृष्ट्वा धर्मिस्वरूपमज्ञात्वा हेत्वभावेनैवैतत् कार्यमाहोस्विद् धर्मी[१] हेतुः ? तथा सति न स[२] नन्दपुत्र इति निश्चि**त्यातद्वीर्यविदो** भगवतः क्रियाशक्तिमज्ञात्वा **सुविस्मिता** विकसितवदनाः सर्वे सम्भूय नन्दसमीपमागत्य **प्रोचुः** ॥१॥

टिप्पणी

उच्यत इत्यर्थः (३). गर्गवाक्यानि **परे** सिद्धान्ते **तथा** हेतव इत्यर्थः. **तज्ज्ञानमि**ति भगवत्स्वरूपज्ञानं **फलमि**त्यर्थः (४).

एवंविधानीत्यस्य विवरणे, **हेत्वभावेनैवेतत्कार्यमि**ति, अति-प्राकृतबुद्धितुल्यत्वज्ञापनायैवमुक्तमिति ज्ञेयम्. तेन भगवन्माहात्म्यं सूचितं भवति. यद्वा, **हेतु**त्वेन प्रतीयमानो यः प्रभुस्तदन्यो**न्याभाव**वता तदतिरिक्तेनेत्यर्थः ॥१॥

कारिकार्थः

प्राकृतत्वेनेति, अस्मासु गोपेषु **प्राकृतत्वेन** भगवत्सम्बन्धो **विरुद्ध** इति हेतोः **सम्बन्धस्त्यज्यते** न मन्यते इति **पुरा** पूर्वपक्ष इत्यर्थः. सिद्धान्तमाहुः **जातस्तादृश एवे**ति, **तादृश एव** अप्राकृत एव प्रकट इतिहेतो**र्न सन्देह** इति **परः** सिद्धान्त**स्तथो**च्यते इत्यर्थः. तथा च गोपानां प्राकृतत्वेनाप्राकृतेन भगवता सह सम्बन्धः कथं सम्भवतीति संशये भगवत्यप्राकृतत्वसम्बन्धित्वयोर्विरोधाभावान्न सन्देह इति सम्बन्धः सिद्धः (३). एतदुपपादयन्ति **माहात्म्यदर्शनं हेतु**रित्यादिना. **परे** सिद्धान्ते **गर्गवाक्यानि** हेतव इत्यर्थः. **तज्ज्ञानमि**ति भगवत्स्वरूपज्ञानं **फलमि**त्यर्थः (४).

---

१. धर्महेतुः. २. लुसम्.

बालकस्य यदेतानि कर्माण्यत्यद्भुतानि वै ।
कथमर्हत्यसौ जन्म ग्राम्येष्वात्मजुगुप्सितम् ॥२॥

कर्माणि तु दृष्टान्यहे[१]तुकानि च[२] न भवन्ति, तस्मान्नायं नन्दस्य पुत्रो भवितुमर्हत्यलौकिककार्यकर्तृत्वात्. तदाहुर्यद् यस्मादेतानि **कर्माण्यत्यद्भुतानि बालकस्य** दृश्यन्ते **वै** निश्चयेन. किमतो यद्येवम् ? तत्राहुः **कथमर्हत्यसौ जन्मे**ति, **ग्राम्येष्वस्मासु** कर्मग्रस्त **इवात्मनो** महतो **जुगुप्सितं** निन्दितं **जन्म कथमर्हति** ? कर्मणेन्द्राद्यपेक्षयापि[३] महानिति निश्चीयते, तथा सति कथमधमेष्ववतारः ? न हि स्वेच्छया कश्चित् स्वस्य हीनतां सम्पादयति. कर्माधीनता तु नास्त्येव, कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं सामर्थ्यात्. अतो जुगुप्सितं जन्म नार्हति ॥२॥

अलौकिकानि कर्माण्याह **यः सप्तहायन** इति.

यः सप्तहायनो बालः करेणैकेन लीलया ।
कथं बिभ्रद् गिरिवरं पुष्करं गजराडिव ॥३॥

षड्गुणा भगवांश्च तेषां तत्तच्चेष्टाः सर्वा एवात्र समागता अतश्चेष्टारूपः[४] कालः. **एकेन करेण** स्वयं **सप्तहायनो**ऽपि भूत्वा **कथं गिरिवरं बिभ्रद्** जातः ? तत्रापि **लीलया** कदाचिदङ्गुलीष्वपि समानयति वेणुं वादयन्. अडभावो वा छान्दसः— **अबिभ्रदि**ति. एते तु यथादृष्टमनुवदन्तीति नात्र विचारणीयम्. **गिरिवरं** पर्वतश्रेष्ठम्. अनायासे दृष्टान्तः **पुष्करं गजराडिवे**ति, न हि मत्तगजस्य कमलधारणे कश्चन प्रयासोऽस्ति. अथ वा **सप्तहायन एकेन करेण गिरिवरं बिभ्रत् कथं बालक** इति. तस्मान्नायं तव पुत्रो नापि बालकः ॥३॥

अबालकत्वे हेत्वन्तरमाह **तोकेने**ति.

तोकेनामीलिताक्षेण पूतनाया महौजसः ।
पीतः स्तनः सह प्राणैः कालेनेव वयस्तनोः ॥४॥

आसमन्तात् **मीलिताक्षेण तोकेना**तिबालकेन **पूतनाया महौजसो**ऽतिसमर्थायाः **प्राणैः सह स्तन्यं पीतम्**. यद्यपि पूर्वं प्राणाः पीता इति न ज्ञातं तथाप्युत्तरोत्तरं सामर्थ्यदर्शनात् पूर्वकार्याण्यप्येतद्धेतुकानीत्येवावधार्यते. पाने तयापि न ज्ञानमित्येतदर्थं दृष्टान्तमाह **कालेनेव वयस्तनोरि**ति, यथा **तनोः**

१. °है°. २, ३. लुप्तम्. ४. °रूपंकालः.

शरीरस्य **वयः** प्रत्यहं क्षीयमाणमपि **कालेन**; पुरुषो न जानाति तथा भगवता पेपीयमानाः प्राणाः पूतनया न ज्ञाता. अन्यथा प्रतिक्रियां कुर्यात् पलायेत वा. तस्मादेवमलौकिकं सामर्थ्यं बाल्येऽपि ॥४॥

हिन्वतोऽधः शयानस्य मास्यस्य चरणावुदक् ।
अनोऽपतद् विपर्यस्तं रुदतः प्रपदाहतम् ॥५॥

किञ्चाधःशयानस्य **हिन्वतश्चरणौ** चालयतो, "हिम् चलन(हि गतौ वृद्धौ च!)" इति. **मास्यस्य** मासत्रयपरिमितस्य. सङ्ख्यानुक्तिर्वर्षाभावार्था; नाद्यापि वर्षः परिच्छेदको नाप्ययनं किन्तु मासा एव परिच्छेदकाः. अत एव **चरणावुद्[१]** ऊर्ध्वं **हिन्वतः** सतः, न तु तदर्थं हिन्वतः, तथापि **विपर्यस्तं** सद**नः** शकट**मपतत्**. पादचालने निमित्तमाह[२] **रुदत** इति, अनेनाशक्तिर्दृढीकृता. तत्रापि **प्रपदेन** पादाग्रेण **आ** ईषद्धतं सत् **विपर्यस्तं** विपरीतं सदपतत्— साधनाल्पत्वं कार्यमहत्त्वं चोक्तम् ॥५॥

क्रमेण भगवच्चरित्रं वदन्तस्तृणावर्तवधमाहु**रेकहायन** इति.

एकहायन आसीनो ह्रियमाणो विहायसा ।
दैत्येन यस्तृणावर्तमहन् कण्ठग्रहातुरम् ॥६॥

अय**मेकहायन** एकवार्षिक **आसीन** उपविष्टो न तु चलितुं समर्थस्तादृशोऽपि **दैत्येन विहायसा** नीतो निरालम्ब एवाकाशे त**महन्** मारितवान्. तत्रापि न युद्धं किन्तु **कण्ठग्रहेणैव[३]**, यदैव कण्ठे गृहीतस्तदै**वातुरो** जातः. मातुः प्रदर्शनादिकमप्रसिद्धमिति न तद्वर्णनम् ॥६॥

ततः क्रमाद् जातं[४] यमलार्जुनभङ्गमाहुः **क्वचिदि**ति.

क्वचिद्धैयङ्गवस्तैन्ये मात्रा बद्ध उलूखले ।
गच्छन्नर्जुनयोर्मध्ये बाहुभ्यां तावपातयत् ॥७॥

हैयङ्गवस्य स्तैन्ये निमित्ते शिक्षार्थं **मात्रोलूखले** योजितस्तादृशोऽप्य**र्जुनयोर्मध्ये बाहुभ्यां गच्छन्**. पश्चादुलूखलस्य भारत्वात् पादद्वयेन सहोलूखलस्याकर्षणमेव, गमनं तु बाहुभ्यामेव. **बाहुभ्यां वापातयत्**. यथादृष्टवचना हि ते. तेषामेतदेवाश्चर्यमुभयोः पातनमुभाभ्यामिति ॥७॥

१. उदक्. २. °माह. ३. °ग्रा°. ४. ज्ञातं.

वने सञ्चारयन् वत्सान् सरामो बालकैर्वृतः ।
हन्तुकामं बकं दोर्भ्यां मुखतोऽरिमपाटयत् ॥८॥

ततो वृन्दावने बलभद्रसहितो **वत्सांश्चारयन्** **बालकैर्वृतो** विशेषसामर्थ्यमप्रकाशयन्नपि **हन्तुकामं बकमरिं** शत्रुभूतं, न तु प्रासङ्गिकं, **मुखत एवापाटयत्.** एतत् सर्वजनीनम्. बालानां पलायनमप्यशक्यम्. स तु विपाटितवानेव. वत्सबकयोर्व्यत्यासेन कथनमनवधानात् क्रमाग्रहणात्. नाप्येतेषां क्रमे तात्पर्यं; बाहुभ्यां पातनं बाहुभ्यामुत्पाटनमिति बाह्वोः सामर्थ्यकथनार्थं यमलार्जुनयोर्भङ्ग[1]कथनानन्तरं बकनिरूपणम् ॥८॥

अतः पश्चात् एकहस्तसाध्यं वत्सासुरवधमाहुर्**वत्सेष्विति**.

वत्सेषु वत्सरूपेण प्रविशन्तं जिघांसया ।
हत्वा न्यपातयत् तेन कपित्थानि च लीलया ॥९॥

वत्सरूपेण जिघांसया वत्सेषु प्रविशन्तं तदानीमेव ज्ञात्वा, मारयितुमागत इति, प्रथमत एव तं परिभ्रामणेन **हत्वा तेन कपित्थानि न्यपातयत्, च**कारात् तमपि वृक्षशाखां वा. महाबलकार्यं तत्, तादृशमपि **लीलया** कृतवान् ॥९॥

ततो धेनुकवधमाहु[2]**र्हत्वा रासभदैतेयमिति**.

हत्वा रासभदैतेयं तद्बन्धूंश्च बलान्वितः ।
चक्रे तालवनं क्षेमं परिपक्कफलान्वितम् ॥१०॥

बहवो धेनुकसदृशा हता इति "प्रधानेन व्यपदेशा भवन्ती"तिन्यायेन बलभद्रेण[3] सहभावमात्रं, वस्तुतो भगवतैव हत इति **हत्वा रासभदैतेयमित्युक्तम्.** **रासभो** भूत्वा **दैतेयो** धेनुकस्**तद्बन्धवो**ऽपि रासभास्तानपि **हत्वा** बलभद्रसहित**स्तालवनं क्षेमं चक्रे,** यो हि तत्र गच्छति स [4]क्षेमं न प्राप्नोतीति. फलं तु स्वभावत एव प्राप्नोतीत्याह **परिपक्कफलान्वितमिति**, परिपक्कैः फलैरन्वितम् ॥१०॥

लेखः

त्रयोविंशे **हत्वेत्यत्र बहव** इति, एतद्वधस्य बलदेवकृतस्य भगवत्कृतत्वकथने एतेषामावेशाज्ञानात् न्यायान्तरमाहुः **प्रधानेनेति**, सैनिककृतं राजकृतमेवेति भावः. तत्सदृशा बहवो अनेन मारिता इति प्राधान्ये हेतुः ॥१०॥

---

१. निरूपणा°. २. °माह ह°. ३. भद्रः. ४. अक्षेमं.

प्रलम्बं घातयित्वोग्रं बलेन बलशालिना ।
अमोचयद् व्रजपशून् गोपांश्चारण्यवह्नितः ॥११॥

एवं धेनुकवधोऽपि लोकानां हितार्थमेव न त्वहितार्थम्. मारणक्रमाद् धेनुकवधानन्तरं प्रलम्बवधो निरूप्यते, मध्ये जातं कालीयदमनमग्रे वक्ष्यन्ति. **उग्रमपि प्रलम्बं बल**भद्रेण **घातयित्वा** बलभद्रे घातकशक्तिं दत्वा, स्वस्य मारकत्वे प्रयोजनाभावात्. **व्रजपशून् गोपांश्चारण्यवह्नितोऽमोचयद्** दावानलात् मोचितवान् ॥११॥

वह्निसाम्याद् विषाग्निमपि निरूपयन्त्या[1]**शीविषमिति**.

आशीविषं तमाहीन्द्रं दमित्वा विमदं ह्रदात् ।
प्रसह्योद्वास्य यमुनां चक्रेऽसौ निर्विषोदकाम् ॥१२॥

आशी [2]नाम विषदंष्ट्रा[3] तत्र **विषं** यस्य, स्वाभाविकविषादधिकविषयुक्तो**ऽहीन्द्रः** सर्पश्रेष्ठस्**तं** प्रसिद्धं कालियमन्यैः स्मर्तुमपि भीयते तादृशं **ह्रदाद्** ह्रदं प्राप्य ह्रदमध्ये **दमित्वा प्रसह्य** बलाद् **ह्रदादुद्वास्य** दूरीकृत्य **यमुनां निर्विषोदकां चक्रे.** अनेन यद् गरुडस्यासाध्यं यमादीनां देवानामपि; अन्यथा गरुडः शत्रुं मारयेद् यमुनां वा यमादिः शुद्धां कुर्यात्. दमनं च सुतरामशक्यं निर्विषकरणं च ॥१२॥

एतत् सर्वं बाह्यं निरूप्यान्तरं निरूपयन्ति **दुस्त्यज** इति.

दुस्त्यजश्चानुरागोऽस्मिन् सर्वेषां नो व्रजौकसाम् ।
नन्द ते तनयेऽस्मासु तस्याप्यौत्पत्तिकः कथम् ॥१३॥

अस्मिन् कृष्णे **सर्वेषामेव** [4]**नो**ऽस्माक**मनुरागो**ऽपि **दुस्त्यजः,** न ह्यन्योद्भवे सम्बन्धिनि साधारणसम्बन्धमात्रेण वित्तात् पुत्रात् प्राणादप्यधिकः स्नेहो भवितुमर्हति. तर्हि पुत्र एवास्य न भवत्यकस्मादेवागत इति मन्तव्यं, तत्राहु**र्नन्द ते तनय** इति. क्वचिद् गुर्वादिषु कस्यचित् स्नेहोऽपि भवेत् न तु **सर्वेषां,** न वा **व्रजौकसां** ज्ञानमस्ति, अतो वस्तुसामर्थ्यादेवैवं जायत इति. किञ्च **तस्याप्यस्मास्वौत्पत्तिक** एव स्नेहो नान्येषां बालकानाम्— एतत् **कथं** भवेत् ? अतो वस्तुसामर्थ्यात् क्रिया-

---

योजना

दमित्वा विमदं ह्रदादित्यस्य विवृतौ **ह्रदं प्राप्येति. ह्रदादिति** ल्यब्लोपे पञ्चमीति भावः ॥१२॥

---

१. °यत्या°. २. नां°. ३. °ष्ट्राः. ४. नोस्माकं सर्वेषामेव.

सामर्थ्याच्च धर्मविचारेण धर्मिविचारेण वा महान् भवतीति कथं तव पुत्रो भवेत् ? ॥१३॥

आस्तां तावदन्यदिदमधुना जातम[1]त्याश्चर्यमित्याहुः **क्व सप्तहायनो बाल** इति.

क्व सप्तहायनो बालः क्व महाद्रिविधारणम् ।
ततो नो जायते शङ्का व्रजनाथ तवात्मजे ॥१४॥

सप्तहायनो बालः क्व महाद्रिविधारणं च क्व ? अतः कार्यकारणयोर्लोकन्यायेन विरोधात् **तवात्मजे नः शङ्का जायते** अस्माकमेतदतिसन्दिग्धं— तव पुत्रो भवति न वेति. विधिपक्षे कृतार्था भविष्यामोऽविधिपक्षे[2]ऽपराधाः क्रियन्त इति को वेद किं[3] भविष्याम इति भवति विचारणा ॥१४॥

एवं पूर्वपक्षे कृते नन्दः सिद्धान्तमाह **श्रूयतामिति.**

॥ नन्द उवाच ॥

श्रूयतां मे वचो गोपा व्येतु शङ्कावचोऽर्भके ।
एनं कुमारमुद्दिश्य गर्गो मे यदुवाच ह ॥१५॥

भगवानद्भुतकर्मेति पूर्वपक्षसिद्धान्तयोर्व्यत्यासोऽन्यथैतद् भगवच्चरित्रं न

टिप्पणी

श्रूयतां मे वच इत्यत्र, **पूर्वपक्षसिद्धान्तयोर्व्यत्यास** इति. नन्दस्यात्मनो देहाज्जातत्वाभावेन तथात्वं सिद्धान्तो भवितुमर्हति यद्यपि; तथापि "एतादृश एव स्वात्मज" इति भगवता लीलार्थं तद्बुद्धिः सम्पादितेति तथात्वम्. न चास्या भ्रमरूपत्वेनास्य सिद्धान्ताभासत्वं न तु वस्तुतस्तथात्वमिति वाच्यं, हेत्वसिद्धेः, भगवता तथैव लीलार्थमङ्गीकारात्. नित्यस्यैवंभावोऽनुपपन्न इत्याशङ्कानिरासाय तादृशस्य तथात्वे हेतुमाहु**रद्भुतकर्मेती**ति. लौकिकोपपत्तिरहितं ह्यद्भुतम्. तथाचात्र तद्राहित्यं भूषणं, न तु दूषणम्, अद्भुतकर्मत्वलक्षणस्वरूपसम्पादकत्वात्. अत एव "तस्मान्नन्दात्मजोऽयं त" इति गर्गोक्तिरपीति भावः ॥१५॥

योजना

श्रूयतां मे वच इत्यत्र **पूर्वपक्षसिद्धान्तयोर्व्यत्यास** इति. अस्यार्थष्टिप्पण्यां स्फुटः ॥१५॥

---

१. °मि°. २. °प्यप°. ३. किं वा.

भवेत्. नन्दस्तु "स तादृश एव कश्चित् महापुरुषो मम गृहे जात" इति मन्यते गर्गवाक्याद्, "यथा भगवदवताराः क्वचिद् भवन्ति तथायमपि मम गृहेऽवतीर्ण" इति. अतः सम्बन्धोऽप्यस्ति माहात्म्यं चोपपद्यत इति गर्गवाक्यानि वक्तुमुपक्रमते **श्रूयतामि**ति. हे **गोपा,** भवन्तो न विचारणक्षमा अतो **मे वच** एव[1] **श्रूयतां** सर्वैरेव भवद्भिः. ततः किं स्याद् ? अत आह **व्येतु शङ्कावचोऽर्भक** इति, **अर्भके** बालके शङ्कावचनमपगच्छतु मत्पुत्रो भवति न वेति. ननु [2]त्वद्वाक्यं कथं प्रमाणं वादिवाक्यस्याप्रमाणत्वात्, तत्रा**हैनं कुमारमुद्दिश्ये**ति, यदायं **कुमारो** बालक एव स्थितस्तदैव **गर्गो मे** मह्यं मां बोधयितुं किञ्चि**दुवाच. ह**ेत्याश्चर्ये, कथमेवं ज्ञातवानिति ॥१५॥

गर्गवाक्यानि पूर्वं व्याख्यातान्यपि पुनरापाततो व्याख्यायन्तेऽनुवादात्. **वर्णास्त्रय** इत्यादीनि वाक्यान्यष्टश्लोकैरुक्तानि.

वर्णास्त्रयः किलास्यासन् गृह्णतोऽनुयुगं तनूः ।
शुक्लो रक्तस्तथा पीत इदानीं कृष्णतां गतः ॥१६॥

किलेति प्रसिद्धे, **अस्य** बालस्य पूर्वं **त्रयो वर्णा** जाताः. **वर्ण**शब्दो रूपविशेषे [3]जातिविशेषे च वर्तते, तत आह **शुक्लो रक्तस्तथा पीत** इति, **इदानीं कृष्णः** कृष्णवर्णत्वं प्राप्तः. सत्यादिष्वेवं भवति, रामो रामो रामो वा. **इदानीं** त्वद्गृहे वर्तमानसमीपे कलौ वा कृष्णाधर्मं कृष्णत्वं प्राप्तः, न तु कृष्णः, [4]मध्यन्दिने सवितरि मण्डलस्थकृष्णत्ववदिति **कृष्ण**नामनिरुक्तिः ॥१६॥

टिप्पणी

वर्णास्त्रय इत्यत्र, **वाक्यान्यष्टश्लोकैरुक्तानी**ति. नामकरणसमये गर्गेण छन्दोऽननुरोधेनैव **वाक्यान्युक्तानि,** तथैव नन्दैरपि, तान्येव व्यासेन **श्लोकै**रुपनिबद्धानीति तथोक्तम्. यद्य"प्यासन्नि"त्यादीनि तानि सप्तैव, तथापि "मन्ये नारायणस्यांशमि"त्यादिकं गर्गवाक्यफलितार्थनिरूपकत्वेन तद्रूपमेवेत्याशये**नाष्टसङ्ख्योक्ता** ॥१६॥ इति त्रयोविंशोऽध्यायः ॥

लेखः

वर्णास्त्रय इत्यत्र **वर्ण**शब्दस्य जातिविशेषपक्षे आहुः **राम** इति, परशुरामरघुनाथबलरामा ब्राह्मणक्षत्रियवैश्याः. बलो भगवदावेशाद् "व्रजेशसुत"

---

१. लुप्तम्. २. तद्वाक्यं. ३, ४. लुप्तम्.

वासुदेवनिरुक्तिमाह **प्रागयमिति.**

प्रागयं वसुदेवस्य क्वचिद् जातस्तवात्मजः ।
वासुदेव इति श्रीमानभिज्ञाः सम्प्रचक्षते ॥१७॥

क्वचिद् देशविशेषे कालविशेषे वा **वसुदेवस्यायं** पुत्रो **जातः**, अतो येऽ**भिज्ञा** एतन्मर्म जानन्ति ते **वासुदेव इति प्रचक्षते.** वस्तुतस्तु **वसु**शब्देन धनं; वसुरूपो देवो वसुदेवो लक्ष्मीस्तस्याः पति**र्वासुदेव** इति. तदाह **श्रीमानि**ति. **इती**ति तत्रापि सम्बध्यते. **इति**शब्दस्तदन्ते वा योजनीयः ॥१७॥

न केवलं नामद्वयमेव भगवतः किन्त्वन्यान्यपि बहूनि सन्तीत्याह **बहूनी**ति.

बहूनि सन्ति नामानि रूपाणि च सुतस्य ते ।
गुणकर्मानुरूपाणि तान्यहं वेद नो जनाः ॥१८॥

रूपाण्यपि सन्ति. ते सुतस्येति सम्बन्धस्थापनार्थम्. रूपनाम्नोर्हेतुमाह **गुणकर्मानुरूपाणी**ति— तावन्तो गुणास्तावन्ति च कर्माणि प्रतिरूपनामभेदेन कर्तव्यान्यतस्तेषामनुरूपाणि. तत्र प्रमाणमाह **तान्यहं वेदे**ति. बाधाभावमाह **नो जना** इति, जनास्तु न जानन्ति ॥१८॥

एवं नामान्युक्त्वा भगवतः कार्याण्याहै**ष** इति.

एष वः श्रेय आधास्यद् गोपगोकुलनन्दनः ।
अनेन सर्वदुर्गाणि यूयमञ्जस्तरिष्यथ ॥१९॥

एष एव **वो** युष्माकं **श्रेय आधास्यदा**धास्यति. [1]"छन्दसि लुङ्लङ्लिट" इति भविष्यदर्थे लङ्. पूतनादिवधस्य कृतत्वात् भूतार्थताप्यस्ति. किञ्च **गोपगोकुलयोर्नन्दन** आनन्दजनको भविष्यति. किञ्च**ानेनैव सर्व**[2]**दुर्गाणि** सङ्कटस्थानानि **यूयं तरिष्यथ**, परमनायासेनैव ॥१९॥

अत्रार्थे पूर्वसम्मतिमाह **पुरानेने**ति.

पुरानेन व्रजपते साधवो दस्युपीडिताः ।
अराजकेऽरक्ष्यमाणा जिग्युर्दस्यून् समेधिताः ॥२०॥

पृथुरूपेणान्येन वा. **व्रजपत** इति सम्बोधनमज्ञानं नाश्चर्यमिति बोधनार्थम्. **साधवः** सर्व एव **दस्युभिः पीडिता दस्यून् जिग्युः**. रावणादयोपि **दस्यवोऽराजके चारक्ष्यमाणाः** स्थितास्तदानेनैव **समेधिता दस्यून् जिग्युः**. पृथावेव[3] तत् स्पष्टम् ॥२०॥

य एतस्मिन् महाभागाः प्रीतिं कुर्वन्ति मानवाः ।
नारयोऽभिभवन्त्येतान् विष्णुपक्षानिवासुराः ॥२१॥

किञ्च **य एतस्मिन् महाभागाः** परमभाग्यव्यतिरेकेण परं नास्मिन् प्रीतिर्भवत्येतादृशे[4] **प्रीतिं कुर्वन्ति** ते **मानवा** अपि भूत्वा शत्रून् जिग्युः. तदाह **नारय** इति, **अरय एतान् नाभिभवन्ति** यतो **विष्णुपक्षान्** विष्णुः पक्षे येषां, वैष्णवा**नासुरा**

लेखः

इति व्युत्पादितं पूर्वम्. **इदानीं त्वद्गृहे कृष्णतां गतः** दास्यमार्गं प्रकटितवानिति भावः ॥१६॥

बहूनीत्यत्र रूपनाम्नोरिति बहुत्वे इति शेषः. **प्रमाणमाहे**ति, ब्रह्मविदां ज्ञानमेतत्प्रमाजनकमित्यर्थः. **बाधाभावमाहे**ति, अन्येषां जनत्वात् तद्ज्ञानेन बाधो न शङ्कनीय इत्यर्थः ॥१८॥

योजना

शुक्लो रक्तस्तथा पीत इत्यस्य विवृतौ **रामो रामो रामो** वेति. **वर्णास्त्रयः किलास्यासन्नि**त्यत्र **वर्ण**शब्दो ब्राह्मणादिवर्णवाचक इत्याश्रित्येदमुक्तम्. तथा च **रामः** परशुरामः ब्राह्मणो **रामो** दाशरथिः क्षत्रियो **रामो** बलरामो वैश्यः, बलदेवे श्रीकृष्णावेशात् श्रीकृष्णस्य नन्दपुत्रत्वात् नन्दस्य वैश्यत्वात्. **न तु कृष्ण** इति, "यत् कृष्णं तदन्नस्ये"तिश्रुत्या पृथिव्याः कृष्णरूपत्वमुक्तं तत्पार्थिवं कृष्णरूपं श्रीकृष्णे नास्तीत्यर्थः. तर्हि कथं श्यामत्वं प्रतीयत इत्याकाङ्क्षायामाहुः **मध्यंदिने सवितरि मण्डलस्थकृष्णत्ववदि**ति. **सवितरि** तेजोमये प्रतीयमानं श्यामत्वं यथा न पार्थिवं तथेदमपि न पार्थिवं किन्तु वस्तुस्वभावात् प्रतीयत इत्यर्थः. न चौपाधिकमिति वाच्यं, "यदादित्यस्य नीलं भा" इति छान्दोग्य 'आदित्यस्ये'तिषष्ठ्या सूर्यसम्बन्धित्वकथनादुपाधिसम्बन्धाकथनाच्च ॥१६॥

प्रागयं वसुदेवस्येत्यत्र वसुरूपो देवः वसुदेवः लक्ष्मीः तस्याः पतिरिति तथा च वसुदेवस्यायं वासुदेवः तस्येदमित्यण् ॥१७॥

विष्णुपक्षानिवासुरा इत्यत्र. ननु **विष्णुपक्षानिवे**ति दृष्टान्तोऽनुचितः, एतस्यैव विष्णुत्वात् न ह्येकस्यैव दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकभाव, इत्याशङ्क्याहुः **लौकिकी**

---

१. पा. सू. ३/४/६. २. °र्वाण्येव. ३. °वैतत्. ४. °शे ये.

असुरावेशिनो, यथा लोकेऽपि, **नाभिभवन्ति.** लौकिकी कथेयमिति दृष्टान्तः ॥२१॥

एवं भगवत्सामर्थ्यमुपपाद्योपसंहरति **तस्मादिति.**

तस्मात् नन्द कुमारोयं नारायणसमो गुणैः ।
श्रिया कीर्त्यानुभावेन तत्कर्मसु न विस्मयः ॥२२॥

अत्र पाठभेदः. **अयं कुमारो,** हे **नन्द, नारायणसमो; गुणैः** कृत्वा नारायणतुल्यः **श्रिया कीर्त्यानुभावेन** च नारायणतुल्यः. एतावद् गर्गवाक्यं, स्वयमाह **तत्कर्मसु न विस्मय** इति. **तस्य** भगवतः **कर्मसु** गोवर्धनोद्धरणादिषु **विस्मयो न** कर्तव्यः ॥२२॥

एतादृश एवायं मम गृहेऽवतीर्ण इति ममाप्यत एवात्र न विस्मय इति सम्मत्यर्थं स्ववृत्तान्तमाहे**त्यद्धे**ति.

इत्यद्धा मां समादिश्य गर्गे च स्वगृहं गते ।
मन्ये नारायणस्यांशं कृष्णमक्लिष्टकारिणम् ॥२३॥

अद्धा साक्षात् **मां** प्रति **सम्यगादिश्य** भगवत्स्वरूपमुक्त्वा **गर्गे स्वगृहं गते कृष्णं** '**नारायणस्यांश**मेवाहं **मन्ये.** चकारादहमपि **गृहे** गत्वा. पुरुषोऽत्र **नारायण**स्तस्यायम**ंशा**वतार इत्येतावद् ज्ञातवान् न त्वधिकम्; अधिकमग्रे वक्ष्यति. ब्रह्मांशोऽयमित्यस्मिन्नर्थे न केवलं वाक्यं प्रमाणं किन्त्वनुभवोऽप्यस्तीत्या**हाक्लिष्टकारिणमि**ति, न क्लिष्टं कदाचित्[२] कृतवान् करोति वा. यदि जीवः स्यात् क्लिष्टं कुर्याद्; व्यसनैः पीडितो हि तथा करोति न त्वपीडितः. व्यसनाभावस्तु ब्रह्मण्येव यतः कृष्णो ब्रह्मेत्यहं **मन्ये** ॥२३॥

एवमुपदेशे यद् जातं तदा**हे**ती**ति.

योजना

कथेयमिति दृष्टान्त इति. इयं गर्गेणोक्ता लौकिकानां बुद्धिमाश्रित्योक्तेति **लौकिकी,** अतो दृष्टान्तोक्तौ न दोष इत्यर्थः ॥२१॥

मन्ये नारायणस्यांशमित्यत्र **अधिकम् अग्रे वक्ष्यती**ति, **अक्लिष्टकारिणमि**त्यनेन विशेषणेन ब्रह्मत्वं वक्ष्यतीत्यर्थः ॥२३॥

---

१. °यणांश°. २. कदापि.

इति नन्दवचः श्रुत्वा गर्गगीतं व्रजौकसः ।
दृष्टश्रुतानुभावस्य कृष्णस्यामिततेजसः ।
मुदिता नन्दमानर्चुः कृष्णं च गतविस्मयाः ॥२४॥

गर्गेण पूर्वं **गीतं** वस्तुतो गर्गादपि पूर्वसिद्धं तदिदानीं **नन्दवचः,** तत् **श्रुत्वा व्रजौकसो**ऽत्यन्तासम्भावनारहिता **मुदिता** जाता इति सम्बन्धः. न केवलं वाक्यप्रामाण्यं, स्वयमपि कृष्णं तथाभूतं दृष्टवन्त इत्याह **दृष्टश्रुतानुभावस्ये**ति, दृष्टः श्रुतश्चानुभावो यस्य; **अमितं** च **तेजो** यस्य. स्वरूपतोपि सदानन्दस्य सम्बन्धि गर्गवाक्यं तत् श्रुत्वा **मुदिताः** सन्तो **नन्दमानर्चुः कृष्णं च गतविस्मया**श्च जाताः. "महान् नन्दो यस्यैतादृशः पुत्र" इति नन्दपूजा, भगवांस्तु पूजनीय एव. आश्चर्याभावः फलम्. एवमध्यायत्रयेण सन्देहाभावपूर्वकमुपधर्मनिवृत्तिपूर्वकं भगवन्माहात्म्यं भगवद्धर्मश्च स्थापितः ॥२४॥

एतादृशधर्म[१]प्रवर्तकं भगवन्तं शुको नमस्यति **देव** इति.

देवे वर्षति यज्ञविप्लवरुषा वज्राश्मपरुषानिलैः ।
सीदत्पालपशुस्त्रि आत्मशरणं दृष्ट्वानुकम्प्युत्स्मयन् ॥
उत्पाट्यैककरेण शैलमबलो लीलोच्छिलीन्ध्रं यथा ।
बिभ्रद् गोष्ठमपात् महेन्द्रमदभित् प्रीयात् न इन्द्रो गवाम् ॥२५॥

स भगवान् **गवामिन्द्रो नो**ऽस्माकं **प्रीयात्** प्रीतो भवतु. स एव प्रीतो भवति यः कस्यचित् कदाचित् प्रीतो भवति, अतस्तस्य प्रीतिलीलामाह. **देव** इन्द्रे **वर्षति** सति. वर्षणमपि न यादृच्छिकं किन्तु **यज्ञविप्लवरुषे**न्द्रयागस्य **विप्लवो** नाशस्तेन **रुड्** रोषो. न केवलं वृष्टिमात्रं किन्तु **वज्राश्मपरुषानिलैः** सह. वज्रोश्मा परुषानिलश्च सात्त्विक[२]तामसराजसा निरूपिताः. ततः किमत आह **सीदत्पालपशुस्त्री**ति, सीदन्तः पालाः पशवः स्त्रियश्च यत्र व्रजे तत् सीदत्पालपशुस्त्रि. तादृशम**प्यात्मशरणमा**त्मैव शरणं रक्षको[३] यस्य तादृशं **दृष्ट्वानुकम्पी** जातः कृपावान् जातः. ततस्तद्दुःखनिवृत्त्यर्थ**मुत्स्मयन्नू**र्ध्वं स्मितं कुर्वन् गोपानामज्ञानं स्थापयन्ने**वैककरेण**

लेखः

देवे इत्यत्र **सीदत्पालपशुस्त्रि** इति **गोष्ठमि**त्यस्य विशेषणं, **व्रजे** इति त्वर्थकथनम् ॥२५॥

---

१. °स्थापकं. २. °राजसतामसाः. ३. रक्षकं.

शैलं गोवर्धन**मुत्पाट्याबलो** बालो यथा **लीलयोच्छिलीन्ध्रमुत्पाट्य** बिभर्ति तथा **बिभ्रद् गोष्ठमपाद्** रक्षितवान्. न केवलं गोष्ठरक्षैव फलं किन्तु **महेन्द्रमदभिद्** महेन्द्रस्यापि मदं भिनत्ति **गवां चेन्द्रो** गोविन्द इत्याख्यां बिभर्ति –भाव्यर्थोऽयम्. स **प्रीयादि**ति प्रार्थना ॥२५॥

॥ इति श्रीमद्भागवतसुबोधिन्यां श्रीमद्वल्लभदीक्षितविरचितायां
दशमस्कन्धविवरणे द्वितीये तामसप्रकरणेऽवान्तरसाधनप्रकरणे
ज्ञाननिरूपकपञ्चमाध्यायस्य स्कन्धादितस्त्रयोविंशाध्यायस्य विवरणम् ॥

॥ इति त्रयोविंशोध्यायः ॥

॥ षष्ठः स्कन्धादितः चतुर्विंशोध्यायः ॥

चतुर्विंशे भगवतो अभिषेको निरूप्यते ।
स्तुतिः शिक्षा तथेन्द्रस्य कामधेन्वादिभिः कृता[1] ॥(१)॥
यथा रक्षा सुसंसिद्धा मदाभावस्तथा यदि ।
तदैव भगवत्कार्यं सर्वं सफलतां व्रजेत् ॥(२)॥
गोरक्षा चेद्धरिकृता नाधिदैविकगामिनी ।
तया वा दासभावश्चेत् न चाप्यङ्गीकृतः क्वचित् ॥(३)॥

टिप्पणी

चतुर्विंशाध्यायतात्पर्योक्तौ, **गोरक्षा चेदित्यारभ्य जायत** इत्यन्तस्यायं भावः— साजात्यमात्रेणाप्यखिललौकिक-गवाधिदैविकगामिनी पालनलीला पुरुषोत्तमातिरिक्तस्य न सम्भवतीति तत्त्वप्रमापिका तादृग्रूपसुरभिप्रपत्तिः. तदुक्तं "भवताऽलोकनाथेन सनाथा वयमच्युत" इति सुरभ्या. लोकभिन्ना 'अलोका' अलौकिक्य इति यावत्. तासां 'नाथेन' पालनकर्त्रा त्वया 'वयमपि सनाथाः' पालिता भवाम इत्यर्थः. लीलास्थपदार्थमात्र इयं व्यवस्थेति ज्ञापना'यालोके'ति सामान्योक्तिः, अन्यथोक्तरीत्या 'लोकनाथे'ति[2] वदेत्. तत्र हेतु'रच्युते'ति, धर्मतोऽपि च्युतिराहित्येन पालनलक्षणो धर्मो यद्यस्मद्गामी न स्याद्गोत्वाविशेषात्

लेखः

चतुर्विंशे **गोरक्षेतिसार्धेन** सुरभिस्तुतिश्लोकत्रयार्थः क्रमेणोक्तः. **तदेयमिति**,

योजना

चतुर्विंशाध्यायार्थोक्तौ **कामधेन्वादिभिः कृत** इति, **अभिषेक**विशेषणमेतत्. **गोरक्षा चेद्धरिकृतेत्यारभ्य जायत** इत्यन्तस्यार्थष्टिप्पण्यां स्फुटः. **अतो हेतूक्तिरप्येषेत्यस्यार्थः सत्फलेत्यस्यार्थष्टिप्पण्यां** स्फुटः (१-५).

कारिकार्थः

चतुर्विंशाध्याये **चतुर्विंश** इत्यादि. **चतुर्विंशा**ध्याये **कामधेन्वादिभिः कृतोऽभिषेकः** इन्द्रकृता **स्तुतिः** भगवत्कृते**न्द्रस्य शिक्षा** च **निरूप्यत** इत्यर्थः (१). **गोरक्षेत्यादि. गोरक्षेतिसार्धेन** सुरभिस्तुतिश्लोकत्रयार्थः क्रमेणोक्तः. **तदेयमिति.**

---

१. °तः, ताः. २. °ऽलोकनाथेति मू. पा.

स्वयं वा स्वामिभावेन न स्वीकुर्यात् मुरद्विषम् ।
तदेयं भगवल्लीलाप्रमाणं नैव जायते ॥(४)॥
अतो हेतूक्तिरप्येषा सत्फला वर्ण्यते स्फुटा ।
इन्द्रयागश्च भविता यस्मादिन्द्रो हरिः स्वयम् ॥(५)॥

टिप्पणी

तदास्मदंशे स च्युतः स्यादित्यर्थः. **तदेयमि**ति, **लीला**पदं भावप्रधानम्, **भगवल्लीलाप्रमाणमि**ति समस्तं पदम्. तथा **चेयमु**च्यमाना लीला **भगवल्लीलात्वे प्रमाणं** तथेत्यर्थः (३-४). ननु हेतुवादसिद्धत्वेनेन्द्रयागश्चेद् भग्नः तदा प्रकृतेऽपि "भवता लोकनाथेने"त्यादिना रक्षकत्वादिहेतूक्तिपूर्वक एवेन्द्राभिषेकः कृत इति को विशेष इत्यत आहुः **अतो हेतूक्तिरपी**ति. यतो यागभङ्गकरणप्राप्तसदोषत्व-शङ्कापरिहाराय तद्भङ्गतदपूर्वकारणपालनानां [१]केवललीलात्वं ज्ञापनीयं, तच्चाधिदैविकगामित्वनिरूपणेन भवतीति तद्रूपमेव, **अतो**ऽत्र **हेतूक्तिरपि एषा** लीलारूपैवेत्यर्थः. अत एव "भवाय भवे"ति "कृष्णेऽभिषिक्त एतानी"त्यादिना सत्फला वर्ण्यत इत्याहुः **सत्फले**ति. किञ्च पारम्पर्यगतमर्यादाभङ्गोऽप्येवं न जात इत्याहु**रिन्द्रयागश्चे**ति. अग्रेऽपि प्रतिवर्षं गोसवं करिष्यन्तीति **भविते**त्युक्तम्. एतेन लीलासम्बन्धिलोकपालादयोऽपि न भगवदतिरिक्ता इति ज्ञापितमिति दिक् (५).

लेखः

गोरक्षाया **भगवल्लीलात्वे प्रमाणभूता** सुरभिप्रपत्तिर्न **जायते** न स्यादित्यर्थः. **अत** इति प्रपत्तेः प्रमाणत्वादित्यर्थः (३-५).

कारिकार्थः

लीलापदं भावप्रधानं, **भगवल्लीलाप्रमाणमि**ति समस्तं पदं, तथा **चेयमु**च्यमाना लीला **भगवल्लीलात्वे प्रमाणं न** स्यादित्यर्थः (३-४). **अतो हेतूक्तिरपी**ति. **अत** इन्द्रयागभङ्ग-गोसवकरण-गवादिपालनानां गोरक्षाया आधिदैविकगामित्वादिनिरूपणेन केवललीलात्वज्ञापनादेव "भवता लोकनाथेने"त्यादिना सुरभिकृतभगवदभिषेके रक्षकत्वादि**हेतूक्तिरप्येषा** लीलारूपैवेत्यर्थः. अन्यथा हेतुवादसिध्देन्द्रयागाद् विशेषो न स्यात्. अत एव "कृष्णेऽभिषिक्त एतानी"त्यादिना सत्फला वर्ण्यत इत्याहुः **सत्फले**ति (५).

---

१. केवलपुरुषोत्तमलीलात्वं देवकार्यकृतिर्व्यूहकार्यत्वादित्यर्थः. (इदं टिप्पणं न ग्रन्थकर्तॄणाम्).

पूर्वाध्याये सन्देहाभावो निरूपितोऽतो भगवदुक्तमेव कर्तव्यमिति स्थापितम्. तद् यदि परम्परयेन्द्रयागत्वेन प्रसिद्धं कर्म नेन्द्रयागत्वमापद्येत तदा प्रसिद्धिविरोधः स्यादिति भगवत इन्द्राभिषेको निरूप्यते. न केवलं भगवानेव स्वयमिन्द्रो जातः किन्तु सर्वैरेवेन्द्राभिषेककर्तृभिरिन्द्रः कृत इति वक्तव्यम्. तदर्थमिन्द्रस्य कामधेनोश्चागमनमाह **गोवर्धन** इति.

॥ श्रीशुक उवाच ॥

गोवर्धने धृते शैल आसाराद् रक्षिते व्रजे ।
गोलोकादाव्रजत् कृष्णं सुरभिः शक्र एव च ॥१॥

गोवर्धने शैले धृत इन्द्रमानभङ्गादिन्द्रः समागतोऽन्यथा भगवान् गोवर्धनधारणेन क्लिष्ट इव तत् स्मृत्वेन्द्रं मारयेदतः क्षमापनीय इति. **आसाराद्** धारासम्पाताच्च **रक्षिते** गोकुले स्ववंशो रक्षित इति **सुरभिः** समागता. न हि प्राकृतैः स्ववंशीयैर्भगवत्पूजा कर्तुं शक्यातः स्वयमागता. **च**कारादन्येऽपि तदीया देवा उत्सवार्थं समागता इति ज्ञातव्यम् ॥१॥

तत्र प्रथममपराधनिवृत्तिः कारणीयेतीन्द्रस्योपाख्यानमुच्यते. तत्र समागत इन्द्रो भगवन्तं प्रार्थितवानित्याह **विविक्त** इति.

विविक्त उपसङ्गम्य व्रीडितः कृतहेलनः ।
पस्पर्श पादयोरेनं किरीटेनार्कवर्चसा ॥२॥

एकान्ते भगवत्समीपं गतो; भक्ता अपकृता इति कदाचित् तेऽनिष्टं वदेयुः. लज्जां च हेतुत्वेन वक्ष्यति. अप्रार्थिते सर्वनाशो भविष्यतीति प्रार्थनावश्यकी, अत एकान्ते निकटे गतः. तत्रापि **व्रीडितो** लज्जितः, **कृतं हेलनं** येनेति भीतश्च. अत **एनं** भगवन्तं **पादयोः पस्पर्श, अर्कवर्चसा किरीटेन** भुग्नपृष्ठः शिरो भगवत्पादयोः

टिप्पणी

गोलोकादाव्रजदित्यत्र **न हि प्राकृतैः स्ववंशीयैरि**ति, प्रकृतं लीलाकरणं तत्सम्बन्धिभिरित्यर्थः. तथा सति लीलारसविरोधः स्यादिति भावः॥१॥

लेखः

विविक्त इत्यस्याभासे **तत्रेत्यारभ्येत्याहे**ति श्लोकद्वयेनेति शेषः. समागमनं तु पूर्वानुवादः, प्रार्थनाङ्गं नमस्कारो **विविक्त** इत्यस्यार्थः, प्रार्थनाकरणं "दृष्टे"त्यस्यार्थः. तथा च साङ्गप्रार्थनाकरणं श्लोकद्वयार्थः ॥२॥

[1]स्थापितवान्— महत एतत् सर्वापराधक्षमापकम् ॥२॥

एवं नमस्कारं कृत्वा स्तोत्रं कर्तुमारेभे **दृष्ट** इति.

दृष्टश्रुतानुभावस्य कृष्णस्यामिततेजसः ।
नष्टत्रिलोकेशमद इन्द्र आह कृताञ्जलिः ॥३॥

ननु देवा नानृतं वदन्ति[2] नाप्यारोपेणायं च भगवतो नोत्कर्षं जानात्यन्यथापराधं न कुर्याद् विपरीतबुद्धिश्चातः कथं स्तोत्रमिति चेत्, तत्राह **दृष्टश्रुतानुभावस्येति— दृष्टो** गोवर्धनोद्धरणलक्षणः **श्रुतः** पूतनासुपयःपानादि**रनुभावो** यस्य. किञ्च न केवलं दृष्टश्रुतानुभावमात्रत्वमन्यदप्यधिकमस्तीति ज्ञापयति. यथा जाज्वल्यमानोऽग्निः सर्वमेव धक्ष्यतीति ज्ञायते तथा भगवत्तेजोऽपि परिदृश्यमानं सर्वं कर्तुं समर्थमित्यवसीयते, तदाह**ामिततेजस** इति. अत एव **नष्ट**'**त्रिलोकेशो**ऽहमि'ति **मदो** यस्यात **इन्द्र** इति नाममात्रं, भगवदधिकारी **कृताञ्जलिः** स**न्नाह**ाग्रे वक्ष्यमाणम् ॥३॥

भगवन्तं स्तौति दशभिः प्राणश्लोकैः,

क्रियाशक्तिप्रधानोऽयं बाह्यश्चायं तथाविधः ।
पुरुषार्थप्रसिद्ध्यर्थं षड्गुणं स्तौति माधवम् ॥(६)॥

टिप्पणी

इन्द्रस्तुत्याभासे, **दशभिः प्राणश्लोकैरि**ति. भगवदपराधैराधिदैविक-

लेखः

दृष्टेत्यस्याभासे **आरेभे** इति इत्याहेति शेषः. व्याख्याने एतादृशस्य **कृष्णस्येन्द्र** इत्यन्वयमभिप्रेत्याहुः **भगवदधिकारी**ति ॥३॥

योजना

इन्द्रस्तुतिश्लोकसङ्ख्यातात्पर्योक्तौ **दशभिः प्राणश्लोकैरि**त्यस्यार्थष्टिप्पण्यां स्फुटः. **क्रियाशक्तिप्रधान** इत्यस्य **बाह्यश्चायमि**त्यस्य **तथाविध** इत्यस्य चार्थष्टिप्पण्यां स्फुटः. **पुरुषार्थप्रसिद्ध्यर्थमि**त्यस्य **षड्गुणं स्तौती**त्यस्य चार्थष्टिप्पण्यां स्फुटः. **पुरुषार्थानां** धर्मादीनां **प्रकर्षेण सिद्ध्यर्थम्** ऐश्वर्यादि**षड्गुणयुक्तं** भगवन्तं **स्तौती**त्यर्थः. तथा च पुरुषार्थसिद्धिसूचनार्थं चत्वारः श्लोकाः षड्गुणसिद्धिसूचनार्थं षट् श्लोकाः— एवं दश श्लोका भवन्तीति ज्ञेयम् (६).

---

१. पातित°. २. °न्तीति.

निर्दुष्टा भगवद्गुणा इति वक्तुं प्रथमं दण्डकरणेन प्राप्तं क्रोधं निवारयति द्वाभ्यां हेतुफलाभ्याम्. तत्र प्रथमं भगवतः क्रोधे हेतुर्नास्तीत्याह **विशुद्धसत्त्वमि**ति.

॥ इन्द्र उवाच ॥

विशुद्धसत्त्वं तव धाम शान्तं तपोमयं ध्वस्तरजस्तमस्कम् ।

टिप्पणी

सर्वतिरोधाने तादृशाः प्राणा अपि तिरोहिता इत्ययं मृत इवाधुनेत्याधिदैविकतत्प्रास्या स्वजीवनसिद्ध्यर्थं तत्समानसंख्याकैः श्लोकैः स्तुतिमाहेति संख्यातात्पर्यमुक्तम्. ननु "गोवर्धने धृते शैल" इतिवाक्यात् क्रियाशक्त्याविर्भावं कृत्वा यथायं बोधितस्तथा पूर्वमेव ज्ञानशक्तिमेवाविर्भाव्य कुतस्तथा न कृतवान्, तदा प्रभुमाहात्म्यज्ञानान्नापराधं कुर्याद्, अधुनाग्रेऽपि चेत्यत आहुः **क्रियाशक्ती**ति. इन्द्रादीनां बाहुरूपत्वादिति भावः. ननु प्रयोजनमस्तीति कुतस्तथा नाकरोदित्याशङ्क्य तदनधिकारमाहुः **बाह्यश्चायमि**ति. [1]हेतुककर्मसम्बन्धित्वेन वेदबाह्य इत्यर्थः. अत एव गवादिद्रोहार्थमाज्ञप्तवानिति भावः. एतदेवाहु**स्तथाविध** इति. अतः परं क्रियाशक्तिर्यावत्प्रयोजनार्थं स्वस्मिन्यावती च दत्तास्ति तदुपयोगिज्ञानमपि दत्तमस्तीति भगवदपराधेन चतुर्विधपुरुषार्थानां भगवद्दत्तगुणानां च तिरोधानं ज्ञात्वा तत्सिद्ध्यर्थं स्तौतीति तावत्संख्याकैः श्लोकैः स्तुत्या ज्ञाप्यत इत्याहुः **पुरुषार्थप्रसिद्ध्यर्थमि**ति (६).

कारिकार्थः

विशुद्धसत्त्वमित्यस्याभासे **क्रियाशक्ती**ति. ननु "गोवर्धने धृते शैले" इतिवाक्यात् क्रियाशक्त्याविर्भावं कृत्वा यथायमिन्द्रो बोधितस्तथा पूर्वमेव ज्ञानशक्तिमेवाविर्भाव्य कुतो न बोधितः, तदा प्रभुमाहात्म्यज्ञानात् नापराधं कुर्यादित्यत आहुः **क्रियाशक्तिप्रधानोऽयमि**ति, इन्द्रादीनां बाहुरूपत्वादिति भावः. **बाह्यश्चायमि**ति, हैतुककर्मसम्बन्धित्वेन वेदबाह्य इत्यर्थः. दशभिः श्लोकैः स्तुतौ तात्पर्यमाहुः **पुरुषार्थप्रसिद्ध्यर्थं षड्गुणं स्तौती**ति, भगवदपराधेन चतुर्विधपुरुषार्थानां भगवद्दत्तगुणानां च तिरोधानं ज्ञात्वा तत्सिद्ध्यर्थं तावत्सङ्ख्याकैः श्लोकैः स्तौतीत्यर्थः. पुरुषार्थसिद्ध्यर्थं चत्वारः, ऐश्वर्यादिगुणसिद्ध्यर्थं च षट् (६).

---

१. हैतुक° मू. पा.

मायामयोऽयं गुणसम्प्रवाहो न विद्यते ते ग्रहणानुबन्धः ॥४॥

परमार्थतस्तु सर्वात्मा सर्वकर्ता सर्वप्रेरकोऽतः क्रोधः सम्भावित एव न. आविर्भावप्रकारेणापि लीलापि क्रोधे हेतुर्नास्तीत्युच्यते. तत्र क्रोधे रजस्तमसी हेतू, ते त्वयि न स्त इत्याह [1]**विशुद्धसत्त्वं तव धामे**ति, **शुद्धं** रजस्तमोभ्यामसम्पृक्तं **विशे**षेण शुद्धं सत्त्वेनाप्यसम्पृक्तं, तत् **तव धाम** स्थानं "सत्त्वं विशुद्धं वसुदेवशब्दितमि"ति, तत्र भगवानाविर्भवतीति वासुदेवः. किञ्च **धाम** तेजोपि, सात्त्विकमेव भगवत्तेजः सत्त्वमेव वा. किञ्चेदं सत्त्वं शुद्धसत्त्वान्तरेणाप्यमिश्रितं, तद् जीवस्थं तरतमभावापन्नं भवत्यत इदं सत्त्वं परमकाष्ठापन्नमेव, तदाह **शान्तमि**ति. परमा शान्तिः सत्त्वोत्कर्षो, ज्ञानादयोऽवान्तरभेदा अल्पविक्षेपरूपाः. **अन्यथा कथं** बोधयेत् कथं वा त्यजेत् कथं वा भजेत्? अतः शान्तिरेव [2]परमकाष्ठा. नन्वज्ञानस्यापि शान्तिः [2]परमकाष्ठा भवति वृक्षादिषु सुषुप्तौ च तथोपलम्भादतस्तद्व्यावृत्त्यर्थमाह **तपोमयमि**ति, तपस्तु विहितज्ञानात्मकं तेजो-

लेखः

विशुद्धसत्त्वमित्यत्र. ननु शुद्धसत्त्वं धाम त्ववतारे अतो मूलरूपे क्रोधाभावः केन साध्य इत्याशङ्क्याहुः **परमार्थतस्त्वि**ति. **सत्त्वेनापि असम्पृक्तमि**ति

योजना

विशुद्धसत्त्वमित्यत्र ज्ञानादय इत्यारभ्य **भजेते**त्यन्तम्. ननु परमशान्तेरेव सत्त्वोत्कर्षत्वमुक्तं तत् न युक्तं ज्ञानादीनामेव सत्त्वोत्कर्षरूपत्वस्योचितत्वादित्याशङ्क्याहुः **ज्ञानादयस्त्वि**त्यादि. **ज्ञानादय** इति **आदि**शब्देन "मुक्तसङ्गोनहंवादी"तिगीतोक्ताः सङ्गत्यागानहङ्कारधैर्योत्साहनिर्विकारत्वादयो ग्राह्याः. तेऽपि सत्त्व**स्यावान्तरभेदा** न तु सत्त्वोत्कर्षरूपाः किन्तु परमशान्तिरेव सत्त्वोत्कर्षरूपा, अतो यस्य शान्तिर्नास्ति तस्य ज्ञानादयोऽपि **विक्षेपरूपाः.** अत इन्द्रस्य सात्त्विकत्वेन "सत्त्वात् सञ्जायते ज्ञानमि"तिवाक्याद् जायमानं विक्षेपरूपं ज्ञानं शान्त्यभावात् न कार्यक्षमं भवतीत्याहुः **अन्यथे**ति. इन्द्रो भगवत्स्वरूपं बोधयति, क्वचिद् भगवन्तं त्यजति अन्यथा वृष्ट्याद्युपद्रवं न कुर्यात्. क्वचिद् भगवन्तं भजति अन्यथा "विशुद्धसत्त्वं तव धामे"त्यादिना स्तोत्रं न कुर्यात्, अत इन्द्रकृतं बोधनं भगवत्त्यागो भजनं च विक्षेपरूपमेव, अस्थिरत्वात्. तदेतदाहुः **अन्यथा कथं बोधयेत् कथं वा**

१. °द्धं. २-२. परमा.

रूपम्. अत एव तेजोव्यतिरिक्तं सन्तापयति, सुतरां भगवत्तपस्तु ज्ञानमयं "यस्य ज्ञानमयं तप" इतिश्रुतेरतो मौढ्याद् या शान्तिरुपरतिरूपा सा नात्र ग्राह्या. अत एव "शमु उपशमे" इति आत्मसमीपे यः शान्तस्तिष्ठति स उक्तो न तु शान्तिमात्रे निरोधेनाज्ञानसमीपे वाऽत**स्तपोमयमि**त्युक्तम्. ननु "रजस्तमश्चाभिभूय सत्त्वं भवति भारते"ति यथा सत्त्वं प्रबलमेवं "रजः सत्त्वं तमश्चैव तमः सत्त्वं रजस्तथे"त्यपि, "न तदस्ति पृथिव्यां वे"ति च केवलसत्त्वस्य बाधः, तत्राह **ध्वस्तरजस्तमस्कमि**ति, **ध्वस्ते रजस्तमसी** येन, लोकानामपि रजस्तमसी यो नाशयति तं को वा नाशयेत्? आधिदैविक एव तादृशस्य नाशको भवति. स च व्यवस्थया स्थापितस्ते गुणाश्चाप्राकृताः सच्चिदानन्दधर्मरूपाः प्राकृतेभ्यो

लेखः

तरतमभावापन्नेनेति शेषः. **तपोमयमि**त्यत्र सामीप्यस्य भेदसहिष्णुत्वादात्मसामीप्यं न सम्भवतीति पक्षान्तरमाहुः **निरोधेने**ति, सर्वेन्द्रियनिरोधेनेत्यर्थः. तेन सुषुप्तिनिषेधः, तथा च परमात्मसामीप्यमुक्तम्. परमात्मा तु "ज्ञाज्ञौ द्वावजावि"तिवाक्याद् ज्ञ एवेत्यज्ञानसामीप्यनिषेधः. सुषुप्तौ परमात्मनि लय एव न तु तत्सामीप्यमिति भावः. **अत** इति मौढ्यकृतशान्ते रूढाया अग्राह्यत्वादित्यर्थः. इयं तु यौगिकीति ज्ञेयम्. **लोकानामि**ति, "सत्त्वं न चेद् धातरिदं निजमि"त्यादौ साधितत्वात् पूर्वोक्तवाक्यानि प्राकृतसत्त्वपराणीतिव्यवस्थया न बाध इति भावः. **आधिदैविक एवे**ति गुण इति शेषः. **सती**ति, सच्चितोः सत्त्वरजसी तिष्ठतः

योजना

त्यजेत् कथं वा भजेदिति. अतः शान्त्यभावाद् विज्ञानादिकं विक्षेपरूपम् अस्थिरमेव. अत एव पुनः पारिजातप्रसङ्गे शक्रस्य मोहो भविष्यतीति बोध्यम्. **तपोमयमि**त्यस्य विवरणे **न तु शान्तिमात्रे निरोधेने**ति. इन्द्रिय**निरोधेन शान्तिमात्रे** सति 'अयं पुरुषः शान्त' इति **न** शास्त्राभिप्रायः किन्तु 'शमु उपशमे' इतिधातुपाठात् 'उप' समीपे आत्मनः समीपे अवस्थितौ सत्याम् 'अयं शान्त' इति शास्त्रव्यवहारः. आत्मसमीपेऽवस्थितिस्तु ज्ञानेन भवति, अत**स्तपोमय**मितिविशेषणेन अज्ञानशान्तिर्व्यावर्तिता. **अज्ञानसमीपे वे**ति, "शमु उपशमे" इत्यत्र सामीप्यमात्रं न ग्राह्यं किन्त्वात्मसामीप्यमतो नाज्ञानसामीप्यं 'शान्ति'शब्दवाच्यमित्यर्थः. न चात्र मानाभावः, **तपोमयमि**तिविशेषणस्य मानत्वात्, "यस्य ज्ञानमयं तपः" इतिश्रुतेस्तपसो ज्ञानरूपत्वात्. तथा च लोके 'शान्ति'शब्देन शान्तिमात्रग्रहणेऽपि प्रकृते ज्ञानशान्ति-

भिन्ना अन्यथा "प्रकृतिजैस्त्रिभिर्मुक्तं सत्त्वं पृथिव्यादिषु नास्ती"ति न वदेत्, तस्यैवाप्रसिद्धत्वाद्. गुणावताराश्च भगवतोऽप्राकृता न भवेयुः. किञ्च सत्त्वस्य सत्त्वसम्बन्धः कथं भवेद् भेदाभावेऽतस्ते त्रयो गुणा ब्रह्मविष्णुशिवेष्वेव प्रतिष्ठिता. अतः सच्चिदानन्दधर्मत्वाद् यदा ब्रह्मादिष्वितरापेक्षा तदेतरभजनं[1] सति सत्त्वं चिति रज आनन्दस्तमसीति. भगवांस्तु कदाचिद् विष्णोः सत्त्वमाधारत्वेन गृह्णाति यदि न केवलः समायाति. प्रकृते तु केवलोपीन्द्रेण भ्रमात् तथा ज्ञायतेऽन्यथा "प्रागयं वसुदेवस्य क्वचिज्जात" इति न वदेत्, सर्वदैव वसुदेव एव जायमानत्वादत इदानीं

लेखः

अतस्तत्तद्धर्मावित्यर्थः. तमस आनन्दधर्मत्वं सन्दिग्धमिति व्युत्पादनपूर्वकमाहुः **आनन्द** इति, **तमसि** सति तेन सर्वविस्मृतौ सत्या**मानन्दो**ऽनुभूयते, तत्स्वरूपस्य विगलितवेद्यान्तरत्वात्, **इति**हेतोस्तम आनन्दधर्म इति शेषः. **भगवांस्त्व**ति, गुणावताराणां त्रयाणां नैवं सामर्थ्यमिति तुशब्दः. **आधारत्वेने**ति देहत्वेनेत्यर्थः. अप्राकृता गुणास्त्रयाणां स्वरूपं, प्राकृता गुणास्त्रयाणां गुणा इति विभागः.

योजना

रेव ग्राह्येति भावः. **यदा ब्रह्मादिषु इतरापेक्षे**ति, ब्रह्मणः सत्त्वापेक्षा यदा तदा विष्णुं भजते, तमोऽपेक्षा यदा तदा शिवं भजते; एवं विष्णुशिवावपि. अत एव "शिवस्य हृदयं विष्णुर्विष्णोश्च हृदयं शिव" इत्यादिवाक्यानि पुराणेषु दृश्यन्ते. सेयं गुणावतारयोर्विष्णुशिवयोः परस्परं भजनव्यवस्था. पुरुषोत्तमः श्रीकृष्णस्तु गुणावताराणां ब्रह्मविष्णुशिवानां त्रयाणामप्यवतारीति परब्रह्मरूपः परमकाष्ठापन्न एव. तदेतदाहुः **भगवांस्तु कदाचिदि**त्यादि. **प्रकृते तु केवलोऽपी**ति, निरावरणपरब्रह्मपूर्णपुरुषोत्तमत्वेन आधाररूपशुद्धसत्त्वरहितोऽपीत्यर्थः. नन्वत्र विशुद्धसत्त्वसाहित्यं कुतो नाङ्गीक्रियत इति चेत्, तत्राहुः **अन्यथा "प्रागयं वसुदेवस्य क्वचिद् जात" इति न वदेद्** इति. "वसुदेवस्य क्वचिद् जात" इत्युक्त्या क्वचिद् जातः क्वचित् नेति सिध्यति. यदि सर्वदैव शुद्धसाहित्यं स्यात् तदा 'क्वचिदि'ति न वदेत्, 'वसुदेव'शब्दस्य विशुद्धसत्त्ववाचित्वात् "विशुद्धसत्त्वं वसुदेवशब्दितमि"तिवाक्यात्. ननु 'वसुदेव'शब्दोऽत्र शूरपुत्रवसुदेववाचको न विशुद्धसत्त्ववाचकस्तथा च वसुदेवस्य क्वचिदेव पुत्रो जात इति लापनं युक्तमिति

---

१. °भजने.

केवलोऽपि सत्त्वाश्रित उच्यते. पूर्वभ्रमापेक्षयायं भ्रम उत्तम इति स्तुतित्वमन्यथा व्यापिवैकुण्ठे सर्वान् नेतुं न शक्नुयात्. सत्त्वं त्वाधारत्वेनैव गृहीतमिति विष्णोरपि तथा सामर्थ्यं क्वचिदुच्यते. "ब्रह्मेव सगुणं बभावि"त्यत्रापि विष्णुरेव गृह्यतां[1] तदवतारा भगवान् वा क्वचिदन्यथा 'कृष्णवद् बभावि'त्येव वदेदत इन्द्रो विष्णुं भगवन्तं जानातीति स्वज्ञानानुसारेणाह. यदा भगवत्सत्त्वं सर्वरजस्तमोनाशकं तदा तदाश्रित्य स्थिता माया तत्र दूरापास्तेत्याह **मायामयोऽयमिति, अयं सर्वो**ऽपि **गुणानां सम्यक्प्रवाहो** देवतिर्यङ्मनुष्यादिरूपो **मायामयो** मायाप्रचुरो, गुणानां कारणभूतत्वात् मायायाः. तत्र प्रमाणमा**हायमि**ति, अन्यथा कथं दृश्यः स्यात् ?

लेखः

आधारत्वेनैवेति, आवेशिदेहत्वेन न तु भेदेनेत्ये**व**कारः. विष्णोः सत्त्वात्मकत्वेन गुणत्वमेव न तु सगुणत्वमित्यत आहुः **तदवतारा** इति. गृहीतसत्त्वदेहा **अवतारा** मत्स्यादयोंऽशावतरणे **भगवान्** कृष्णश्च, एते **वा गृह्यतामि**त्यन्वयः. नन्वत्र तु तथा नास्तीत्यत आहुः **अत इन्द्र** इति, इन्द्रबुद्धिमनुसृत्येदमुक्तम्. **तदाश्रित्य स्थिते**ति रजस्तमश्चाश्रित्य स्थितेत्यर्थः. **अत्र प्रमाणमि**ति मायामयत्वे इत्यर्थः. **अन्यथे**ति मायाप्राचुर्यभावेन केवलब्रह्मत्वे इत्यर्थः. अत्र **माया**शब्देन प्रकृतिः. **तस्मादि**ति

योजना

चेत् न, वसुदेवस्याधिदैविक-विशुद्धसत्त्वात्मकत्वेन तत्र च सर्वदैवाविर्भावाङ्गीकारे 'क्वचिदि'तिपदस्य वैयर्थ्यात्. अतोऽत्र "विशुद्धसत्त्वं वसुदेवशब्दितमि"तिवाक्य-सिद्धं विशुद्धसत्त्वमेव 'वसुदेव'शब्देन ग्राह्यम्. तथा च कदाचिद् विशुद्धसत्त्वे आविर्भवति यदा तु पूर्णावतारस्तदा विशुद्धसत्त्वे नाविर्भवतीत्यर्थो भवति. एवं च प्रकृते पूर्णावतारत्वात् न सत्त्वे आविर्भावस्तथापीन्द्रस्योक्तिस्तु भ्रमादिति हार्दम्. **भगवान् क्वचिदि**ति, यदा कृष्णावतारो न पूर्णस्तदा सत्त्वव्यवधानात् सत्त्वाधारत्वाद् वा 'सगुण'पदेन कृष्णो ग्राह्य इत्यर्थः. **अन्यथा कृष्णवद् बभावित्येवे**ति. "ब्रह्मेव सगुणं बभौ" इत्यत्र 'सगुणं' विशुद्धसत्त्वसहितं 'ब्रह्म' विष्णुरूपं यथा तथा 'बभावि'त्यर्थो ग्राह्यः, **अन्यथा** यदि विष्णुर्न गृह्येत तदा **कृष्णवद् बभौ इत्येव वदेत्** 'सगुण'पदं न वदेत्. अतः 'सगुण'पदाद् विष्णुर्गुणावतारो गृह्यतां तदवतारा इति. **प्राकृतमेवैतत् सर्वमि**ति, एतत् परिदृश्यमानं प्रकृतिसम्बन्धयुक्तं न तु प्रकृतिसम-

---

१. °तामिति.

तस्मात् प्राकृतमेवैतत् सर्वमप्राकृतं तु न दृश्यत इति. तस्माद**यं** प्राकृतोऽपि प्रपञ्च**स्ते ग्रहणस्य** ज्ञान**स्यानुबन्धरूपो न** भवत्यतः प्राकृतदृष्ट्यायमपकारं कृतवानयमुपकारं कृतवानिति तव न सम्भवति ॥४॥

यद्येषा वैषम्यबुद्धिरेव नास्त्यन्येषामपि तादृशबुद्धिनाशकत्वात् तदा वैषम्यबुद्धिकृतानि कार्याणि क्रोधादीनि न भवन्तीति किं वक्तव्यमित्याह **कुत** इति.

कुतो नु तद्धेतव ईश मन्युलोभादयो येऽबुधलिङ्गभावाः ।

तथापि दण्डं भगवान् बिभर्ति धर्मस्य गुप्त्यै खलनिग्रहाय ॥५॥

न्विति वितर्के— **तद्धेतवो** ग्रहणहेतवो मायाहेतवो वा **कुतो** भवेयुः ? किञ्च हे **ईश,** यदि तवापि ते स्युस्तदा तत्पारवश्यादीशत्वं नोपपद्येत. यद्यपि बहव एव दोषा निराकर्तव्यास्तथापि प्रकृते[1] द्वयं प्रतिभात्यपकारिणि कोपो द्रव्ये लोभश्चेत्यत आह **मन्युलोभादय** इति. **मन्यू** राजसो **लोभ**स्तामस इति वा. नन्वेते दृष्टाः कथं निराक्रियन्ते ? तत्राह**ाबुधलिङ्गभावा** इति, **अबुधानाम**ज्ञानां **लिङ्गभावो** लिङ्गत्वं

लेखः

दृश्यत्वाद्धेतो**रयं प्राकृतो** बन्धकस्वभावोऽपि **प्रपञ्चस्ते ज्ञानस्या**नुबध्नातीत्यनुबन्ध-स्तादृश**रूपो न विद्यते** त्वद्ज्ञानं स्वविषयकं कर्तुं न शक्नोति, प्राकृतवत् तव क्रोधादिकं न भवतीत्यर्थः. न हि त्वद्ज्ञानं प्राकृतवद् वैषम्यरीत्या तद्विषयकं भवति. तत्र हेतुमाहु**रन्येषामपी**ति ॥४॥

कुतो न्वित्यत्र **ग्रहणे**ति **माये**ति ग्रहणं हेतुर्येषां मायाहेतुर्येषामिति समासो

योजना

वायिकारणकम्, अत एव प्राकृतैरिन्द्रियैर्दृश्यते. तथा च दृश्यस्य प्रपञ्चस्य प्रकृतिसम्बन्धित्वेन द्रष्टुरिन्द्रियाणामपि प्रकृतिसम्बन्धसत्त्वाद् यक्षबलिन्यायः. न तु परिदृश्यमानस्य मायिकत्वमिति सारम्. यत्र लीलाप्रपञ्चे प्रकृतिसम्बन्धो नास्ति तत्र इन्द्रियग्राह्यतापि नास्तीत्याहुः **अप्राकृतं तु न दृश्यत इती**ति, प्राकृतैश्चक्षुर्भिर्न दृश्यत इत्यर्थः. **प्राकृतमेवैतत् सर्वमि**तिसुबोधिन्यां **प्राकृत**शब्दः शैषिकेण अणप्रत्ययेन सिद्धः. 'उपनिषदा ज्ञायते', 'औपनिषदः पुरुषः चक्षुषा गृह्यते', 'चाक्षुषं रूपमि'तिवत् प्रकृत्या सम्बध्यत इति प्राकृतमिति बोध्यम् ॥४॥

१. प्रकृतेर्.

येषां; ते ह्यज्ञानिनं ज्ञापयन्ति न तु 'सर्वज्ञा धीरास्तज्ज्ञापका[1] वातः श्रुतिविरोधात् न तेऽङ्गीकर्तव्याः. न हि क्रोधादयो भगवति कैश्चिदनुभूताः. कार्येण कल्पनं त्वन्यथाप्युपपद्यते— ये प्राकृतेषु क्रोधादिभिर्जायन्ते ते भगवतीति **स्वत एव. न हि** दोषेणैव कार्यं भवति गुणेन न भवतीति वक्तुं शक्यं, दुःखादप्यश्रूण्यानन्दादप्यश्रूणि. तथा प्रकृतेऽपि क्रोधादपि निग्रहोऽनुग्रहादपि निग्रह इत्यतः प्रमाणयुक्तिबाधात् न भगवति क्रोधादयः. एव**मपि** सति **भगवान् दण्डं बिभर्त्य**तो ज्ञायते **धर्म**रक्षार्थं **खलानां निग्रहार्थं** च तत् करोतीति. लौकिकभगवतोरेतावान् विशेषः— एकत्र फलाभावोऽपरत्र लौकिकसाधनाभाव इति साधनं भगवानेव तत्र साधनं स्वरूपमेवेति सिद्धान्तः. फलं भ्रमप्रतिपन्नमन्यथा प्रवृत्तिर्न स्यात्. यदि भगवान् एवं न कुर्यात् पाषण्डप्रवृत्त्या धर्मनाशः स्यात्. स च सर्वेषां श्रेयोरूपः. किञ्च यदि

लेखः

ज्ञेयः. **फलाभाव** इति, दण्डफलं धर्मरक्षा तदभाव इत्यर्थः. **लौकिके**ति, दण्डे **लौकिकं साधनं** कोपस्त**दभाव** इत्यर्थः. राजदण्डादिनापि धर्मरक्षा जायते तदर्थमाहुः **फलमि**ति, परं न नियतमिति भावः. **अन्यथे**ति, कदाचिदपि फलाभावे **प्रवृत्तिर्न स्या**दित्यर्थः. **यदी**ति, यागभङ्गो धर्मरक्षार्थं गोवर्धनोद्धरणं खलनिग्रहार्थमित्यर्थः.

योजना

कुतो नु तद्धेतव इत्यत्र **अनुग्रहादपि निग्रह इती**ति, "क्रोधोऽपि देवस्य वरेण तुल्य" इत्यादिवाक्यात्. **लौकिकभगवतोरेतावान् विशेषः एकत्र फलाभावोऽपरत्र लौकिकसाधनाभाव इती**ति. **एकत्र** लौकिके **फलाभावः**— क्रोधे जातेऽपि दण्डरूपं फलं कर्तुं न शक्यते दण्डकरणेप्सोरसमर्थत्वादित्यर्थः. **अपरत्र** भगवति **लौकिकस्य** दण्ड**साधनस्य** क्रोध**स्याभावः,** क्रोधं विनैव अनुग्रहेण दण्डदानादित्यर्थः. ननु यस्मै भगवता दण्डो दीयते तस्य सम्पत्त्यादिनाशो मरणं वा जायते, कंसादौ तथा दृष्टत्वात्, अतः फलेन साधनेऽनुमीयमानेऽनिष्टफलस्य क्रोध एव साधनमित्याशङ्क्याहुः **फलं भ्रमप्रतिपन्नमि**ति. सम्पत्त्यादिनाशो मरणं वा दण्डस्य न फलं किन्त्वग्रे दास्यमानं मुक्तिरूपमेव फलं फलत्वेन बोद्धव्यम्, अतो मरणादिकं भ्रमेण फलत्वेन **प्रतिपन्नं** ज्ञातमित्यर्थः. ननु यदि मुक्तिफलं दित्सितं तदा भक्तेभ्य इव कुतो न दीयते मारयित्वा कुतो दीयत इत्याशङ्क्याहुः **अन्यथा प्रवृत्तिर्न स्यादि**ति, यदि निषिद्धकर्मकर्तृभ्योऽपि भक्तेभ्य इव मुक्तिं दद्यात् मारणादि न कुर्यात्

१. सर्वज्ञारास्त°, सर्वज्ञाधारास्त°.

स्वानुभावं न प्रकाशयेद् गोवर्धनोद्धरणादिना तदा खला न निगृहीताः स्युः. अत्र दण्डद्वयं पूर्वस्थितस्य नाशोऽधिकताडनं च. एकस्तु दण्डत्वेन न व्यवह्रियत इत्येकवचनम्. एवं कृत एवैतद् भवतीति तवैव ज्ञानं नान्यस्येति **भगवानित्युक्तम्**. अतस्तस्य फलसाधकत्वेन प्रमाणान्तरं न मृग्यम् ॥५॥

एवं श्लोकद्वयेन दण्डः कृतः परं प्रयोजनार्थमिति निरूपितमिदानीं शिक्षैवैषा न तु दण्ड इत्याह **पितेति**.

पिता गुरुस्त्वं जगतामधीशो दुरत्ययः काल उपात्तदण्डः।
हिताय चेच्छातनुभिः समीहसे मानं विधुन्वन् जगदीशमानिनाम् ॥६॥

पुत्रा हि पितृभिस्ताड्यन्ते, गुरुभिश्च शिष्या, राजभिश्च प्रजाः, कालादिभिश्च पुरुषा; न चैते दण्डं कुर्वन्ति किन्तु शिक्षामेव. **त्वं** तु—सर्वेषां सर्वरूपो, जनकत्वात् **पिता,** वेदकर्तृत्वाद् **गुरुः,** सर्वेषामेव **जगतामधीशः** स्वामी ब्रह्मादीनामप्यधिकारसम्पादकोऽतोऽधीशो, **दुरत्ययः कालो** मृत्युः कालमृत्युर्हि न केनाप्यतिक्रान्तो भवति, **उपात्तो दण्डो** येन स यमः, परलोकेऽपि दुःखदाता तवैवाधिकारिणस्त इति कर्मकारणात् प्रेरणाद्वा. अतः सर्वत्राधिकृतो भवानेवे**तीच्छातनुभी** राजादिशरीरैर्लोकानां **हितायैव** दण्डं **समीहसे जगदीशमानिनां मानं च विधुन्वन्.** इच्छातनवो मत्स्यादयोऽपि— पुरुषः पिता,

लेखः

एवमिति यागभङ्गमित्यर्थः. **पूर्वे**ति, यागस्वामित्वनाश इत्यर्थः. **अधिके**ति, गोवर्धनोद्धरणेन मानभङ्ग इत्यर्थः. **एकस्त्वि**ति पूर्व इत्यर्थः ॥५॥

योजना

तदा सन्मार्गे प्रवृत्तिरेव न स्याद्, आर्याणां दुष्कृतीनां तुल्यत्वादित्यर्थः. **यदि भगवानेवं न कुर्यादित्यादि.** भक्तानामिव सुखेनैव मुक्तिं दद्यात् दुष्कृतीनां सम्पद्भ्रंशं मारणं वा न कुर्यात् तदानिष्टफलाशङ्काभावात् सर्वे निषिद्धकर्माणि कुर्युस्तदा **पाषण्डप्रवृत्त्या धर्मनाशः स्यादित्यर्थः. स च सर्वेषां श्रेयोरूप** इति **स च** धर्मः सर्वेषां श्रेयोरूप इत्यर्थः. इह **स चे**त्यनेन **धर्मनाश**शब्दान्तर्गतो **धर्मः** परामृश्यते, "पटोलपत्रं पित्तघ्नं नाडी तस्य कफापहे"त्यत्र 'तस्ये'त्यनेन पटोलवत् ॥५॥

मत्स्यो गुरुः, अधीशः कूर्मो वराहश्च, मृत्युदण्डधारिणौ नृसिंहवामनौ. तथान्यत्रापि ज्ञेयम्. चकारात् मोक्षाय च तेषां जगतश्च ॥६॥

तत्र हितं सन्दिग्धमिति स्वदृष्टान्तेन विवृणोति **ये मद्विधा** इति.

ये मद्विधाज्ञा जगदीशमानिनस्त्वां वीक्ष्य काले भयमाशु तन्मदम्।
हित्वार्यमार्गं प्रभजन्त्यपस्मया ईहा खलानामपि तेऽनुशासनम् ॥७॥

अहमिन्द्रो यथैवमेव वरुणादयोऽ**ज्ञा** मूर्खा, अन्यथा कथं नन्दं नयेयुः ? तेषामज्ञानस्थानमाह **जगदीशमानिन** इति, यद्यपि "भगवदाज्ञा क्रियत" इतिबुद्ध्यभावे सर्वमेव मौढ्यकृतं तथापि जगदीशा वयमित्यभिमानः स्पष्टः. मोहकार्यत्वेन तादृशाः. **काले** स्वावसरेऽन्तकाले **भय**रूपं **त्वां वीक्ष्याशु** शीघ्रं वयमीश्वरा इति **तन्मदं** परित्य**ज्यार्यमार्गं** नामस्मरणादिकं तुलसीगोपीचन्दनादिधारणं च प्रपद्यन्ते. यथेदानीमहं नमस्कारे प्रवृत्त एवमपि केचित् प्रपद्यन्ते. यावत् पुनर्भयात्मकमपि त्वां न प्रपश्यति तावन्नार्यमार्गं प्रपद्यन्त इति धर्मरक्षार्थं दण्ड उपपादितः. प्रकर्षेण **भजनं** पुनः पूर्वावस्थानं न गृह्णन्ति. **अप**गतः **स्मयो** गर्वो येषाम्, आर्यमार्गस्य गर्व एव बाधकः. अतो यद्यपि कौतुकार्थमेव गोवर्धनोद्धरणं कृतं तथापि **खलानामनुशासन**रूपं जातमतस्तव चेष्टामात्रमपि सफलमेव ॥७॥

एवं शिक्षार्थतामुपपाद्य कदाचिद् ज्ञानवत्त्वेन कृतं कर्म चित्तेऽपराधत्वेनैव भासेतातस्तन्निषेधार्थं प्रार्थयति **स त्वमिति**.

स त्वं ममैश्वर्यमदप्लुतस्य कृतांहसस्तेऽविदुषः प्रभावम्।
क्षन्तुं प्रभोऽथार्हसि मूढचेतसो मैवं पुनर्भून्मतिरीश मेऽसती ॥८॥

ऐश्वर्यमदेन प्लुतस्यात एव **कृतांहसः** कृतापराधस्य; उभयत्रापि हेतु**स्ते प्रभावमविदुषः, क्षन्तुमर्हसि. अथ** भिन्नप्रक्रमेण मदीयानधर्मानविचार्य 'केवलोऽयं दीन' इति 'भ्रान्त' इति, यतस्त्वं **प्रभुः,** न हि प्रभोश्चेतसि क्षुद्रकृता भासन्ते. **मूढचेतसो म**[1] इतिवचनात् मौढ्यं सिद्धमेव. नन्वज्ञानं निवर्तितं शिक्षा च कृता कातः परं क्षमा [2]या कर्तव्येति चेत् तत्राह **मैवं पुनर्भूदि**ति,एतादृशी **मतिः** पुनर्माभूदिति. यदि भगवान् क्षमां न कुर्यात् मदपराधं स्मरेत् तदा सत्यसङ्कल्प इति नित्यविषयज्ञान इति मदाश्रयोप्यपराध उत्पद्यते. स्मरणे तु नोत्पद्यते, साधनाभावात् पूर्वसाधनस्य

१. न, भव, मत्त. २. लुप्तम्.

निवृत्तत्वाच्च. यत इयं **मतिरसती** सम्बन्धिनमप्यसति योजयत्यतस्तन्निवृत्तिप्रार्थनोचितैव ॥८॥

किञ्चैतदर्थमेव तवावतारो; दुष्टा निराकर्तव्या, अशक्यनिराकरणदोषाः स्वरूपतोऽन्ये तु दोषसम्बन्धादतो वयं निवार्यदोषा इत्यस्मद्दोषा एव निराकार्या न तु वयमित्यभिप्रायेणाह **तवावतारोयमिति**.

तवावतारोयमधोक्षजेह भुवो भराणामुरुभारजन्मनाम् ।
चमूपतीनामभवाय देव भवाय युष्मच्चरणानुवर्तिनाम् ॥९॥

विशेषेणा**यमवतारो भुवो भार**रूपाणां **चमूपतीनामभवाय युष्मच्चरणानुवर्तिनां भवाय.** अन्ये त्ववतारा एकमेव कार्यं साधयन्ति— भारनिराकरणं वा सद्रक्षां वा. कालभेदेन यद्येक एवोभयात्मकः स्यात् तदा द्वयमपि कर्तव्यम्. इदानीमहं प्रपन्न इत्युद्धवोऽपि कर्तव्यो, निग्रहस्तु कृत एवान्यथोभयार्थमवतारो न भवेत्. उभयार्थत्वे हेतु**रधोक्षजे**ति, अधोऽक्षजं ज्ञानं यस्मादेतादृशो यः प्रकटो जातः स उभयसम्पादनार्थमेव[1], एकैकं तु पूर्वमपि क्रियत इति. तत्रा**पीह** गोकुले **भुव उरुभारार्थमेव जन्म** येषां, जन्मकारणेषु भुवो दुःखार्थं जन्म स्वस्य तु नाशार्थम्. स्वयमेव भारभूता अधिकं च भारं जनयन्ति, नौकारूढेष्वेतद् द्वयं पृथक् प्रसिद्धम्. **उरुभारस्य** वा **जन्म** येषु. एतेन दोषत्रयमुपपादितं— भाररूपा, उच्छृङ्खला भारजनका इति, तादृशा अपि सेनापतयः. जननमात्रेणैव तन्नाश इत्य**भवाये**त्युक्तं, यथान्धकारस्य सूर्योदये. **देवे**ति सम्बोधनमतः परं [2]पूजार्थं, **युष्मच्चरणमेवानुवर्तितुं** शीलं येषां तेषामुद्भवाय मुक्तये वा संसाराभावाय वा संसाराय वा भवानेव तथा भवतीति ॥९॥

एवं प्रार्थनामुक्त्वा क्षमापनार्थमेव नमस्यति **नम** इति भगवदीयत्वाय वा.

नमस्तुभ्यं भगवते पुरुषाय महात्मने ।
वासुदेवाय कृष्णाय सात्वतां पतये नमः ॥१०॥

लेखः

तवावतारोयमित्यत्र कालभेदेनेति, एक एव पुरुषः पूर्वं दुष्टः पश्चात् चरणानुवर्ती चेत् स्यादित्यर्थः ॥९॥

---

१. ०र्थ ए०. २. पूज्यार्थं.

भक्तिमार्गं प्रकटीकुर्वन् सामान्यतो दशविधलीलायुक्तमाह **नमो भगवत** इति. आवेशादिपक्षव्यावृत्त्यर्थं **तुभ्यमि**ति, योऽयं दृश्यते स एव भगवानिति. अनेनैव षड्विधा लीला निरूपिता स्थानादिनिरोधान्ता. **पुरुषाय महात्मन** इति कार्यकारणरूपाय— पुरुषः प्रथमतो, महान् महत्तत्त्वम्; अन्तर्बहिर्वा [1]साधकाय. **वासुदेवाये**ति मोक्षदाता. **कृष्णाये**ति फलं सदानन्दरूपत्वादाश्रयश्च. किञ्च न केवलं

लेखः

नमो भगवत इत्यत्र **अनेनैवे**ति **भगवत्पदेने**त्यर्थः. **पुरुषाय महात्मने** इति पदद्वयेन सर्गविसर्गयुक्तत्वम्. इदं पूर्वं नागपत्नीस्तुतौ विवृतमिति नात्र विव्रियत इति भावः. द्वितीयं व्युत्पादयन्ति **महानि**ति, महत्तत्त्वरूपत्वेन चतुर्मुखत्वाद् विसर्गतेति भावः ॥१०॥

योजना

नमो भगवते तुभ्यमित्यस्याभासे भगवदीयत्वाय वेति. **क्षमापनार्थं नमस्यतीति** पूर्वमुक्तं, पक्षान्तरेण नमनप्रयोजनमाहुः **भगवदीयत्वाय वे**ति, भगवदीयत्वसिद्धये **नमस्यती**त्यर्थः. नम्रत्वेनैव भगवदीयत्वसिद्धिः, दैन्यबोधकत्वात् नमनस्य. **अनेनैव षड्विधा लीला निरूपितेति, अनेन भगवत** इतिचतुर्थ्यन्तेन **षड्विधा लीला निरूपिता** भगवत्पदेनैश्वर्यादिषड्गुणाभिधानादित्यर्थः. कास्ताः षड्विधा इत्याकाङ्क्षायामाहुः **स्थानादिनिरोधान्ता** इति. **कार्यकारणरूपाये**ति, **पुरुष**शब्देन कार्यं पुरुषशरीरमुच्यते, तच्च महत्तत्त्वादीनां कार्यम् अतो महत्तत्त्वादिकार्यरूपाय विराड्विग्रहायेत्यर्थो भवति. अनेन सर्गलीला उक्ता, "अशरीरस्य विष्णोः पुरुषशरीरस्वीकारः सर्ग" इति टिप्पण्यां लक्षणस्योक्तत्वात्. **महात्मने**इत्यनेन कारणरूपमहत्तत्त्वादि गृह्यते तद्रूपायेत्यर्थः. अनेन विसर्गलीलोक्ता, महत्तत्त्वस्य चतुर्मुखरूपत्वात् चतुर्मुखस्य विसर्गरूपत्वात् "पुरुषाद् ब्रह्मादीनामुत्पत्तिः विसर्ग" इति लक्षणाङ्गीकारात्. **पुरुषाय महात्मने** इति पदद्वयस्यार्थान्तरमाहुः **अन्तर्बहिर्वा सर्वसाधकाये**ति. पुरि शेते इति पुरुष इति व्युत्पत्त्या पुरुषस्यान्तरत्वादन्तःसर्वसाधकत्वम्. **महात्मने** इत्यनेन बहिःसर्वसाधकत्वं, महांश्चासौ आत्मेत्यर्थाद् व्यापकत्वेन बहिरपि सत्त्वात्. एवं

---

१. सर्व०.

दशविधामेव लीलां करोत्यवतीर्णस्त्वधिकमपि करोतीत्याह **सात्वतां पतये नम** इति, यादवानामयं स्वामी. दशविधलीलावद् भक्तिरेकैव स्वतन्त्रेति पृथङ् नमस्कारः ॥१०॥

एवं परमार्थतो नमस्कारं कृत्वा मोहकलीलासहितमपि भगवन्तं लौकिकरसार्थं नमस्यति **स्वच्छन्देति**.

स्वच्छन्दोपात्तदेहाय विशुद्धज्ञानमूर्तये ।
सर्वस्मै सर्वबीजाय सर्वभूतात्मने नमः ॥११॥

स्वा भक्तास्तेषां **छन्द** इच्छा तदर्थं तेषामिच्छापूर्त्यर्थ**मुपात्तो देहो** येन– ते हि यथा भावयन्ति तथा रूपं करोति, नटवदेव रूपं तु, विशेषेण शुद्धं चिद्रूपमेव तदाह **विशुद्धज्ञानमूर्तय** इति. ननु विशुद्धस्याभिलषितरूपत्वं कथं ? तत्राह **सर्वस्मा** इति, सर्वरूप एव जातस्तत्राभिलषितरूपभवने कः प्रयास इत्यर्थः. किञ्च **सर्वबीजाय** सर्वेषां कारणभूताय, अतोऽनन्तप्रकारेण भवति. अनेन सद्रूपतानन्दरूपताप्युक्ता– सत् सर्वम्, आनन्दो बीजमिति. **सर्वभूतानामात्मने** चिद्रूपाय **नमः**.

टिप्पणी

स्वच्छन्दोपात्तदेहायेत्यत्र, नटवदेव रूपमित्यादिग्रन्थः पूर्वोक्तरूपेन्द्रस्तुत्यभिप्रायेणेति ज्ञेयम् ॥११॥ ॥ इति चतुर्विंशोध्यायः ॥

लेखः

पदद्वयेन सर्गविसर्गलीले उक्ते, **भगवत्पदेन** षडित्येवमष्टलीला उक्ताः. **वासुदेवायेत्यनेन** मुक्तिलीलोच्यत इत्याहुः **वासुदेवायेति मोक्षदातेति. कृष्णायेत्यनेन** आश्रयलीलोक्तेत्याहुः **सदानन्दरूपत्वादाश्रयश्चेति. भक्तिरेकैव स्वतन्त्रेति पृथङ् नमस्कार** इति, **नमो भगवते** इति पूर्वमुक्तेन **नमः**शब्देन निर्वाहेपि पुनः **सात्वतां पतये नम** इति यदुक्तं तेन भक्तेः दशविधलीलावद् उद्धारकरणे स्वातन्त्र्यं बोधितम्. यद्यपि **भगवत्पदेन निरोधान्ताः षड् लीला** उक्तास्तन्मध्ये 'ईशानुकथा'शब्दवाच्यभक्तिरप्यागता तथापि सर्वलीलातुल्यत्वपरिहारपूर्वकं स्वातन्त्र्यसूचनाय पुनर्भक्तिर्वर्णिता. प्रथमस्कन्धे तृतीयाध्याये सर्वेष्ववतारेषु कृष्णावतारमप्युक्त्वा अंशित्वेन पूर्णत्वसूचनार्थं "कृष्णस्तु भगवान् स्वयमि"ति पृथङ्निर्देशः कृतस्तद्वदत्रापीत्यर्थः ॥१०॥

योजना

स्वच्छन्दोपात्तदेहायेत्यत्र ते हि यथा भावयन्ति तथारूपं करोति नटवदेवेत्यादिग्रन्थस्यार्थष्टिप्पण्यां स्फुटमुक्तः. **अनेन सद्रूपता आनन्दरूपता-**

अतः– सच्चिदानन्दरूपाय भक्तेच्छापूरकाय हि ।
शुद्धज्ञानस्वरूपाय फलसाधनरूपिणे ॥(७)॥

नम इत्युक्तं भवति ॥११॥

स्वापराधं प्रकटीकरोति **मयेदमिति**.

मयेदं भगवन् गोष्ठनाशायासारवायुभिः ।
चेष्टितं विहते[1] यज्ञे मानिना तीव्रमन्युना ॥१२॥

को वेद भगवान् न विचारयतीत्यन्यथा कालान्तरे विशेषपर्यालोचनायामपराधं भावयेदतः कथयति **इदं** वृष्ट्यादिरूपं **गोष्ठनाशायासारवायुभिर्मया चेष्टितम्. यज्ञे विहत[1]** इति निमित्तं, वस्तुतस्त्वस्मिन्नेव यज्ञे मया भुक्तं न पूर्वं कदापि भगवता भुक्तमिति हस्तेन

योजना

प्युक्तेति, सर्वस्मै इत्यनेन **सद्रूपतोक्ता,** सद्रूपेणांशेन सर्वरूपत्वात्; **सर्वबीजायेत्यनेनानन्दरूपतोक्ता,** आनन्दस्य सर्वबीजत्वात्, "आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्त" इति श्रुतेः. **सर्वभूतात्मने** इत्यनेन चिद्रूपतोक्ता. तदेतत् सङ्गृह्णन्ति कारिकया **सच्चिदानन्दरूपायेत्या**रभ्य **फलसाधनरूपिण** इत्यन्तया ॥११॥

मयेदं भगवन्नित्यत्र न पूर्वं कदापि भवता भुक्तमिति हस्तेन भुक्तमितीति. श्रीनन्देन युक्त्यैवेन्द्रयागस्य कृतत्वाद् वेदविहितत्वाभावाद् व्रजराजकृतेन्द्रयागे भगवता न भुक्तम्, अतो हस्तरूपेणेन्द्रेणापि न भुक्तम्. अस्मिन्नेव अन्नकूटोत्सवे भगवतोक्तत्वेन वेदविहितत्वाद् भगवता भुक्तम्. भोजनं तु हस्तकार्यम्, अतो हस्तरूपेण मया इन्द्रेण भुक्तम्. तथा चास्मिन्नेव यागे मया भुक्तमित्युपपन्नम्. **अतो**

कारिकार्थः

स्वच्छन्दोपात्तदेहायेत्यत्र सच्चिदानन्देति– सर्वस्मै इतिपदेन सद्रूपता, **सर्वबीजायेत्या**नन्दरूपता, **सर्वभूतात्मन** इति चिद्रूपता. **भक्तेच्छापूरकायेति स्वच्छन्दोपात्तदेहायेत्य**स्यार्थः. **शुद्धज्ञानस्वरूपाये**ति मूलस्थद्वितीयपादार्थः स्पष्ट एव. **फलसाधनरूपिणे** इति– आनन्दः फलं, चित् साधनम्. एतादृशाय नम इत्युक्तं भवति (७).

---

१. °हि°.

भुक्तमित्यतो यज्ञे विहित[१] एव. तथाप्यभिमानादन्यथाङ्गीकृत तदाह **मानिनेति**. ननु तृप्तिः कथं न प्रतिबन्धिका जाता ? तत्राह **तीव्रमन्युनेति**, शीघ्रमेव [२]क्रोध उत्पन्नोऽतो जातापि तृप्तिर्विस्मृतेति. अन्यथा गोष्ठनाशे कश्चित् किं प्रवर्तेत? गवामुपजीव्यत्वात् सुतरां ममोपजीव्याः. **भगवन्निति** सम्बोधनं स्वस्य दासत्वख्यापकम्, इदानीं निर्दुष्टत्वख्यापकं वा ॥१२॥

तथापि स्वामिनानुग्रहः कृत एवेत्याह **त्वयेति**.

त्वयेशानुगृहीतोऽस्मि ध्वस्तस्तम्भो हतोद्यमः।
ईश्वरं गुरुमात्मानं त्वामहं शरणं गतः ॥१३॥

ईशत्वादनुग्रहकरणं; न ह्युपजीवकेषु क्रुद्धेषूपजीव्योऽपि क्रुध्यति, तथा सति तेषां नाश एव स्यादत **एवानुगृहीतोऽस्मि.** गोवर्धनधारणेन मान एव हतो न त्वहं हत इति मानहतिमेवाह **ध्वस्तस्तम्भ** इति, **स्तम्भो** गर्वोऽनम्रता **ध्वस्तो** यस्य. तत्र हेतु**र्हतोद्यम** इति. तथापि न मम लज्जा **यतस्त्वमीश्वरो गुरुरात्मा** च लोकतो वेदतोऽनुभवतश्च. त्वच्छिक्षायां नापमानं भवतीत्यत**स्त्वां शरणं गतः**. यथोचितं विधेयमिति भावः ॥१३॥

तदा प्रसन्नो भगवांस्तस्य मनःपीडां दूरीकृतवानित्याहै**वमिति** चतुर्भिः—

उपक्रमः कृतं चैव हेतुश्चापि[३] तथाकृतौ।

योजना

यज्ञ अविहत एवेति, यद्यपि भगवतेन्द्रयागभङ्गः कृतस्तथापि तस्यावैदिकत्वाद् यज्ञत्वाभावेन तद्विघाते यज्ञस्याविहतत्वमेवेत्यर्थः. तर्हि **चेष्टितं विहते यज्ञे** इति कथमुक्तमिति चेत्, तत्राहुः [४]**अभिमानादन्यथाङ्गीकृतमिति**. इन्द्रस्य युक्तिकल्पितेऽपि स्वयागे **यागत्वाभिमानात्** तादृशयागविघाते **अन्यथाङ्गीकृतं** यज्ञनाशनमङ्गीकृतमिति यज्ञविघातोक्तिरिति भावः ॥१२॥

एवं सङ्कीर्तित इत्यादीनां चतुर्णां श्लोकानामर्थमाहुः **उपक्रमः कृतं चैवेति** कारिकया. "एवं सङ्कीर्तित" इत्यनेन **प्रसादोपक्रमः**. "मया तेऽकारि मघवन्नि"त्यनेन **कृतं** भगवत्कृतं मखभङ्गादिरूपं निरूपितम्. "मामैश्वर्यश्रीमदान्ध" इत्यनेन **तथाकृतौ** मखभङ्गकृतौ **हेतुरुक्तः**, "गम्यतां शक्र भद्रं व" इत्यनेन **प्रसाद** इति बोद्धव्यम् (८).

---

१. °ह°. २. मन्युः. ३. °श्चैव. ४. °नात् तथा°. इति पाठः.

प्रसादश्चेति भृत्याय भगवान् स्वयमुक्तवान् ॥(८)॥

॥ श्रीशुक उवाच ॥

एवं सङ्कीर्तितः कृष्णो मघोना भगवानमुम्।
मेघगम्भीरया वाचा प्रहसन्निदमब्रवीत् ॥१४॥

एवं पूर्वोक्तप्रकारेण **सङ्कीर्तितः कृष्णः** फलात्मा **मघोने**न्द्रेण पूर्णः सर्वतो **भगवान् मेघगम्भीरया वाचा** तस्य तापं शमयन् **प्रहसन्** मोहय**न्निदं** वक्ष्यमाण**मब्रवीत्**. अत एवाग्रेऽपि तस्य मोहः ॥१४॥

स्वकृतमाह **मयेति**.

॥ श्रीभगवानुवाच ॥

मया तेऽकारि मघवन् मखभङ्गोऽनुगृह्णता।
मदनुस्मृतये नित्यं मत्तस्येन्द्रश्रिया भृशम् ॥१५॥

काकतालीयव्यावृत्त्यर्थं स्वकृतं ज्ञापयति— हे **मघवन्ननुगृह्णता मया मखभङ्गोऽकारि**. अनुग्रहमेवाह **मदनुस्मृतय** इति, ममानुस्मृतिरेवानुग्रहः, यागभङ्गाभावेऽनुस्मृतिर्न स्यादिति. हेतुमाह **नित्यमिन्द्रश्रिया मत्तस्येति** ॥१५॥

नाप्येतत् त्वया प्रार्थनीयं, ममैवायं सहजो धर्म इत्याह **मामैश्वर्येति**.

मामैश्वर्यश्रीमदान्धो दण्डपाणिं न पश्यति।

लेखः

एवमित्यत्र उपक्रम इति शुकेनोक्त इति शेषः. अग्रिमत्रयं **भगवानुक्तवानित्यन्वयः** (८).

कारिकार्थः

एवं सङ्कीर्तितः कृष्ण इत्यादि श्लोकचतुष्टयार्थानाहुः **उपक्रम** इत्यादि. "एवं सङ्कीर्तित" इत्यनेन स्तोत्रो**पक्रमः**. "मया तेऽकारि मघवन्नि"तिश्लोकेन भगवता **कृतं** इन्द्रयागभङ्गात्मकं कार्यमुक्तम्. "मामैश्वर्यश्रीमदान्धो य" इत्यनेन **वितथाकृतौ** इन्द्रयागभङ्गकरणे ऐश्वर्यश्रीमदरूपो **हेतुरुक्तः**. "गम्यतां शक्र भद्रं ते" इत्यनेन **भृत्याय** इन्द्राय भगवता स्व**प्रसाद** उक्तः (८).

तं भ्रंशयामि सम्पद्भ्यो यस्य चेच्छाम्यनुग्रहम् ॥१६॥

ऐश्वर्यं श्रीश्चान्यतराभावे [१]न मदः पुष्टो भवतीतरसापेक्षत्वात्, न ह्येकाक्षिविकलोऽन्धो भवत्यत **ऐश्वर्येण श्रिया** च यो **मदस्तेनान्धः**[२]. **दण्डपाणिं** घातकमपि **मां न पश्यति**, अतस्तं **सम्पद्भ्यो भ्रंशयामि**. शिक्षार्थमवश्यं मारणीयः, तदैव मारणे शिक्षा भवति यदि जानीयादतो ज्ञानार्थं सम्पद्भ्यो भ्रंशयाम्यन्यथानुग्रहो न भवेद्. इयं साधारणी व्यवस्था. विशेषमप्याह **यस्य चेच्छाम्यनुग्रहमि**ति, यस्य चानुग्रहमिच्छामि "अयमनुग्रहं प्राप्नोत्वि"ति. विषयैर्बुद्धिभ्रंशो भवतीत्यतिवाते दीपवद् विषयैरनुग्रहोऽपि न स्थिरो भवति. अल्पेनैव कार्यसिद्धौ महाननुग्रहो न कर्तव्योऽतो यथाल्पेनैव कार्यं भवति तदर्थं सम्पद्भ्यो भ्रंशयामि. तदनन्तरमनुग्रह इति पूर्वमिच्छैवोक्ता. अत्रत्यः क्रमोऽग्रे वक्तव्यो "यस्यानुग्रहमिच्छामी"त्यत्र. अतः शिक्षार्थं प्रसादार्थं चैश्वर्यभ्रंशः कार्यते. अत एकदेश एव स कृतो यागमात्रैश्वर्यनिराकरणात् ॥१६॥

अतस्त्रैलोक्यमवशिष्टमस्तीति तदर्थं गच्छेत्याह **गम्यतामि**ति.

गम्यतां शक्र भद्रं वः क्रियतां मेऽनुशासनम् ।
स्थीयतां स्वाधिकारेषु युक्तैर्वः स्तम्भवर्जितैः ॥१७॥

अत्र[३] शिक्षामात्रमेव [४]ज्ञापनीयं, तदल्पेनापि भवतीति न सर्वैश्वर्यभङ्गः, तदाह **शक्र भद्रं व** इति, इन्द्रत्वमग्रे स्वास्थ्यं च प्रयच्छति. अन्यथा भक्तिर्वा तन्नाशयेत् भक्तापकारित्वात्. भगवद्वाक्यात् तु[५] न नाशः. अग्रे मोहाभावायाह **क्रियतां मेऽनुशासनमि**ति, मदाज्ञाकरणे न मोहः स्यादिति. इन्द्रद्वारा [६]सवनिवाज्ञापयति, प्रधानत्वात्— **स्वाधिकारेषु स्थीयतां वो** युष्माकमेव सम्बन्धिषु यत्र यस्याधिकारः स तत्र तिष्ठत्वित्यर्थः. **युक्तैरि**त्याज्ञायां योजितैः; परं तत्रापि

लेखः

गम्यतामित्यत्र भक्तिर्वेति, भक्तनिष्ठा **भक्तिस्त**दपकारिण**स्तन्नाशयेदि**त्यर्थः ॥१७॥

योजना

गम्यतां शक्रेत्यत्र भक्तिर्वा तन्नाशयेद् इति गोपानां भगव**द्भक्तिः**. सा भक्तापकारिण इन्द्रस्य ऐश्वर्यादि नाशयेदित्यर्थः ॥१७॥

१. °न. २. °न्धीकृतः. ३. °तः. ४. °नाय. ५. लुप्तम्. ६. °नेव ज्ञा°.

स्तम्भो मास्तु, अनम्रतयाज्ञापि न कर्तव्या, न हि कृतिमात्रेण भगवांस्तुष्यत्यपि तु नम्रत्वसहितया. एवमाज्ञापितोऽपि पूजां कर्तुं विलम्बमानो जातः ॥१७॥

एवमिन्द्रप्रसादमुक्त्वा कामधेन्वाः प्रसादार्थं तदभिषेकः प्रस्तूयते**ऽथे**ति. अयमभिषेको नेन्द्राद्यभिषेकवत् स्वतन्त्रतया कर्तुं शक्यते, भगवतो हीनभावात्. प्रार्थनया तु कर्तुं शक्यो, हीनभावेनैव लीलायाः क्रियमाणत्वादतः प्रार्थनार्थमादौ स्तोत्रं कृतवतीत्याह**अथे**ति.

॥ श्रीशुक उवाच ॥

अथाह सुरभिः कृष्णमभिनन्द्य मनस्विनी ।
स्वसन्तानैरुपामन्त्र्य गोपरूपिणमीश्वरम् ॥१८॥

अथेन्द्रवाक्यानन्तरं **सुरभिः** कामधेनुः **कृष्णमभिनन्द्य**— साधु गोरक्षा कृतेन्द्रश्च साध्वनुगृहीतो, अयमप्यस्मत्पुत्रप्राय इति. स्वयमपि **मनस्विनी** महामानवती सम्माननपात्रमतो भगवांश्चेन्न मानयेत्, मत्क्रियमाणमभिषेकं नाङ्गीकुर्यात्, तदा न जीविष्यामीतिनिर्बन्धयुक्ता सर्वैरत्रार्थे निर्बन्धः [१]कारणीय इति **स्वसन्तानै**र्गोभिः स**हो**पामन्त्र्य निकटे सम्मन्त्रणं कृत्व**ाह**. य इन्द्रोऽपकरोति सोऽस्माकमिन्द्रो मा भवतु. न हि वयं भवानिव निरभिमाना यतो वयं मनस्विन्यः. ननु कथमेवं धार्ष्ट्यं कर्तुमिच्छसि? न हि सर्वेश्वर इन्द्रो भवितुमर्हति! तत्राह **गोपरूपिणमि**ति, स ह्यस्मान् पाति लोकवत्, पालकास्तूपसर्जनीभूताः. यत्र स्वत एतावदवलम्बते तत्रास्मदुक्तमैश्वर्यं कथं न स्वीकरिष्यति?[२] किञ्च पूर्वमप्ययं इन्द्र **ईश्वरो** यज्ञ इन्द्रो जात इत्यैश्वर्यमेतदीयमेवेत्यतो नास्माभिरलौकिकं किञ्चित् सम्पाद्यते किन्तु विद्यमानमेव लोके प्रकटीक्रियते ॥१८॥

लेखः

गोपरूपिणमित्यत्र पालकानां पाल्योपसर्जनत्वे दृष्टान्तमाहुः **लोकवदि**ति. सप्तम्यर्थे वतिः, यथा लोके पालकाः पाल्यानुगास्तथा लीलायामपीत्यर्थः. **एतावदि**ति उपसर्जनीभूतं पालकत्वमित्यर्थः. **ऐश्वर्यमि**ति स्वामित्वमित्यर्थः ॥१८॥

योजना

अथाह सुरभिरित्यस्य विवृतौ **मनस्विनी**पदतात्पर्यमाहुः **मत्क्रियमाणमभिषेकमि**त्यारभ्य **निर्बन्धयुक्ते**त्यनेन ॥१८॥

१. कर°. २. °तीति.

अतो युक्तमेवाभिषेचनमिति विज्ञापयितुं स्तुतिमाह **कृष्ण कृष्णेति** द्वाभ्याम्.

॥ सुरभिरुवाच ॥

कृष्ण कृष्ण महायोगिन् विश्वात्मन् विश्वसम्भव ।
भवता लोकनाथेन सनाथा वयमच्युत ॥१९॥

आदरे वीप्सा. योग्युपायवित्, **महायोग्य**लौकिकोपायकर्तान्यदेव करोत्यन्यत् सम्पद्यत; इन्द्रेण क्लेशं प्रापित एवं ज्ञातोऽपीन्द्रमेव क्लेशं प्रापितवान्. अथ वा **महायोगिनो** लीलार्थं प्रवृत्तस्य न किञ्चिदनुचितमुचितं वा, अत इन्द्रत्वमपि गृह्यतामित्यभिप्रायः. किञ्च **विश्वात्मा** त्वम्. अनेन प्रमेयोत्कर्ष उक्तः, पूर्वेणैव साधनोत्कर्षः. **विश्वस्यापि सम्भवो** यत्रेति प्रमाणोत्कर्षः. फलोत्कर्षं वक्तुं तस्य स्वस्मिन् पर्यवसानमाह, [1]**भवतैव लोकनाथेन** सर्वलोकरक्षकेण[2] **वयं सनाथा** न

लेखः

कृष्ण कृष्णेत्यस्याभासे **इति विज्ञापयितुमिति**, **इति**हेतो**र्विज्ञापयितुमि**त्यर्थः. व्याख्याने **प्रमाणोत्कर्ष** इति, विश्वाधारस्य श्रुतिप्रतिपाद्यत्वादिति भावः. **न त्विन्द्रेणे**ति लोकनाथेनेति शेषः. **भवत्पदं लोकनाथ**विशेषणं; **भवता लोकनाथेन, न त्विन्द्रेण** लोकनाथेनेत्यर्थः. **लोकनाथ**पदस्य **भवत्**पदविशेषणत्वेन व्याख्यानमपि सम्भवतीत्याहुः **किञ्चे**ति. यतो भवानेव लोकनाथो न त्विन्द्रादिरतो **भवतैव सनाथा** इति हेतुगर्भं विशेषणं ज्ञेयम् ॥१९॥

योजना

कृष्ण कृष्ण महायोगिन्नित्यस्य विवृतौ **अनेन प्रमेयोत्कर्ष** इति, **विश्वात्म**पदेन **प्रमेयोत्कर्ष उक्त** इत्यर्थः. **पूर्वेणैवे**त्यादि, **महायोगिन्नि**त्यनेन **साधनोत्कर्षः** साधनेषु योगस्य मुख्यत्वात्. **विश्वस्यापि सम्भ**व इत्यादि. **विश्वसम्भवे**त्यनेन **प्रमाणोत्कर्षः** विश्वमध्ये वेदस्यापि सत्त्वाद् विश्वोत्पादकत्वेनैव वेदोत्पादकत्वेन प्रमाणोत्कर्ष इत्यर्थः. **फलोत्कर्षमि**त्यादि, **भवता लोकनाथेन वयं सनाथा** इत्यनेन फलोत्कर्ष उक्तः ॥१९॥

१. भग°. २. °णेन.

त्विन्द्रेण, घातकत्वात्. किञ्च प्रतिमन्वन्तरं भिन्न एवेन्द्रोऽतोऽव्यवस्थितत्वात् कालपरिच्छेदात् स्वभावतस्तस्य जीवस्यापि नियम्यत्वात् [1]भवानेव लोकनाथः. अत एव वयं सनाथाः, यो हि जीवयति स एव नाथः "स वै पतिः स्यादि"तिन्यायेन. भवानच्युतश्च ॥१९॥

एवं नाथत्वमुपपाद्य देवत्वमुपपादयति **त्वं न** इति.

त्वं नः परमकं दैवं त्वं न इन्द्रो जगत्पते ।
भवाय भव गोविप्रदेवानां ये च साधवः ॥२०॥

त्वमेव नोऽस्माकं गवां **परममुत्कृष्टं दैवम**स्माकं भाग्यरूपोऽपि त्वमेवास्माकं नियामकश्च. अस्मासु क्रीडतीन्द्रात् पृथक्कृत्यास्मान् विजयतेऽस्माभिर्व्यवहरत्यस्माकं कान्तिस्तत एवास्माभिः स्तूयते चास्माकं च तत एव सौन्दर्यं गतिरपि सर्वाऽतो भवानेव देवः. किञ्च न केवलं देवमात्रं किन्तु[2] देवेन्द्रोऽपि भवानेव— **त्वं न इन्द्र** इति. परमैश्वर्यं नान्यस्यास्ति, जगत्पतित्वाभावात्. यो ह्यन्तर्बहिर्नियामकः स पतिरतो **जगत्पतित्वात् त्वमेवेन्द्रो**ऽतो **गोविप्रदेवानां** हविर्मन्त्रहविर्भुजां **भवायो**द्भवाय **भव** यज्ञपरिपालको भव. एवं पूर्वकाण्डानुवर्तिनां तत्प्रतिपाद्यधर्मस्योद्भवजनकत्वं प्रार्थयित्वा निवृत्तिपराणां भगवद्भक्तानां चोद्भवाय भवेति प्रार्थयति **ये च साधव** इति. तेषामपि **भवाय भवे**ति योजना ॥२०॥

इन्द्रं नस्त्वभिषेक्ष्यामो ब्रह्मणा नोदिता वयम् ।
अवतीर्णोऽसि विश्वात्मन् भूमेर्भारापनुत्तये ॥२१॥

किञ्चानभिषिक्तः शाश्वत इन्द्रो न भवत्यभिषेकस्य संस्काररूपत्वात्.

लेखः

इन्द्रं न इत्यस्याभासे **किञ्चे**ति स्वभावत इन्द्रोऽसीति पूर्वमुक्तम्, अभिषेकेणापि तथा सम्पादयिष्याम इति समुच्चयः ॥२१॥

कारिकार्थः

त्वं नः परमकं दैवमित्यत्र **अतो गोविप्रदेवानां हविर्मन्त्रहविर्भुजामि**ति कारिकार्थम्. **भवाय भव गोविप्रदेवानां ये च साधव** इतिमूले गवां हविर्धानीत्वात् विप्राणां मन्त्राधारत्वात् देवानां हविर्भोक्तृत्वात् तेषामेव कुशलप्रार्थना कृतेति भावः ॥२०॥

१. भग°. २. लुप्तम्.

अभिषेके तु कृते नान्यः पतित्वं मन्यते, अन्यथा मोहाद् यः कश्चित् मन्येत. नन्विन्द्राधिकाराभिषेके ब्रह्माऽधिकृतः, कथमन्येनाभिषेक इति चेत्, तत्राह **ब्रह्मणे**ति. ब्रह्मा स्वयं लज्जते– "कथं स्वस्वामिनं गवामिन्द्रपदेऽभिषेक्ष्यामी"ति. अयुक्तश्च भवत्यस्माकं तु युक्तं, हीनोऽपि महान्तं पतित्वेन वृणुते. सम्मत्यर्थं ब्रह्मप्रार्थना. तेन च प्रेरिता वयं, भगवदधिष्ठितासु गोषु सर्वोत्कृष्टं हविर्भवेदित्यतः शीघ्रं प्रेरितवान्. शीघ्रप्रेरणायां हेतु**रवतीर्णोऽसी**ति, **भूभार**हरणार्थ**मवतीर्णः** शीघ्रं भूभारं हृत्वा तिरोभवेदतः शीघ्रं गवामिन्द्रः कर्तव्य इति. हीनतादूषणं तु नास्ति, **विश्वात्म**कत्वाद्[1] व्यापिवैकुण्ठादधः समागतः पदान्तरं च प्राप्नोत्यत इन्द्रत्वमुचितम् ॥२१॥

एवं प्रार्थनां कृत्वाभिषेकं कृतवतीत्याह**ैवमि**ति.

॥ श्रीशुक उवाच ॥

एवं कृष्णमुपामन्त्र्य सुरभिः पयसात्मनः ।

जलैराकाशगङ्गाया ऐरावतकरोद्धृतैः ॥२२॥

फलरूपमपि देवतात्वे**नोपामन्त्र्या**ङ्गीकृते भगवत्य**भ्यषिञ्च**दिति सम्बन्धः. भगवतोऽङ्गीकारे दया हेतुरिति वदंस्तस्या अभिषेकावश्यतामाह **सुरभिरि**ति. सुराद् बिभेतीति सुरभिः, देवा एव तां भक्षयन्ति किं पुनर्देवेन्द्रोऽतो भगवन्तं शरणं गच्छन्ती व्याजेनेन्द्राभिषेकं कृतवत्यत एव. ततः प्रभृति सर्ववेदसिद्धोऽपि गोवधो निवृत्तः; उपपातकत्वं तद्वधे महापातकादप्यधिकविगानं च. प्रथमत **आत्मनः पयसा** दुग्धे**नाभ्यषिञ्च**दत एव तदिन्द्रियं जातमिन्द्रं यातीति. ततो जलाभिषेकोऽपि जात इत्याह **जलैरि**ति. **आकाशगङ्गा** नित्या या शिशुमारे प्रसिद्धा. तन्नित्यं जलं तत्तरणादेव [2]तारकात्वम्. आकाशगङ्गा चोदरत [3]इत्युपपादितम्. **ऐरावतो** गजस्तस्य करोऽभिषेके प्रशस्तः, तथा सति पुष्करजलत्वमापद्यते. तत्सम्बन्धेऽपि जलं नोपहतं भवति प्रत्युत पवित्रमेव. अन्यस्य तत उद्धारोऽशक्य इति तथोक्तम् ॥२२॥

लेखः

पुष्करं तीर्थविशेषः, करिहस्तोऽपि, तथा च श्लेषेण तीर्थ**जलत्वमित्यर्थः**. करपदतात्पर्यमाहुः **तत्सम्बन्धेऽपी**ति. अन्यान् विहायैरावतकथने हेतुमाहुः **अन्यस्ये**ति ॥२२॥

---

१. °त्मत्वात्. २. °रक°. ३. लुप्तम्.

एवं [1]तस्याभिषेकसमय एकदेशभूतास्ते[2] देवा ब्राह्मणा अप्यभिषेकं कृतवन्त इत्या**हेन्द्र** इति.

इन्द्रः सुरर्षिभिः साकं प्रहितो देवमातृभिः ।

अभ्यषिञ्चत दाशार्हं गोविन्द इति चाभ्यधात् ॥२३॥

सुरर्षिभिर्नारदादिभिः सहित **इन्द्र**स्तैर्वा यथेष्टं प्रेरितो **देवमातृभिः** सहितोऽदित्यादिभिः श्रद्धादिभिर्वा. सर्वसम्मत्या[3] सर्वैरेव सहिता **सुरभिरिन्द्रश्च दाशार्हं** सेवकरक्षणक्षमं[4] रक्षणपरं **वाभ्यषिञ्चत्**. नामान्तरं च धारितवतीत्याह **गोविन्द इति चाभ्यधा**दिति, गवामिन्द्रः, अत्रामृतबीजस्य बकारस्य मध्य उपादानं 'भूवादय' इतिवत्. 'रन्'प्रत्ययो नात्रोपात्तः, रूढिजनकत्वेन धात्वर्थस्य गौणत्वापादकत्वादतोऽप्रत्ययान्त एव निर्दिष्टः. स तु धात्वर्थपर[5] एव भवतीति **गोविन्द** इत्येव शब्दः साधुर्न तु 'गवेन्द्र' इति. **च**कारादिन्द्रेन्द्रो देवेन्द्रः सुरभीन्द्र इत्यादिनामान्यपि स्वस्वनामपुरःसरं सर्वैर्धृतानि. तेन व्रजेन्द्रो गोपेन्द्र इत्याद्यपि [6]भवति ॥२३॥

एवं भगवतोऽभिषेक उत्सववाद्यानि जातानीत्याह **तत्रागता** इति.

तत्रागतास्तुम्बुरुनारदादयो गन्धर्वविद्याधरसिद्धचारणाः ।

जगुर्यशो लोकमलापहं हरेः सुराङ्गनाः सन्ननृतुर्मुदान्विताः ॥२४॥

तुम्बुरुर्मध्यमः पूर्वमुभयात्मको निरूपित इति **तुम्बुरुर्नारदश्चादि**र्येषाम्. **गन्धर्वा** गायका **विद्याधरा** वादकाः **सिद्धा** अद्भुतप्रदर्शका**श्चारणाः** पुरुषनर्तका, एते सर्व एव भगवतो **यशो जगुः**. ननूत्सवे सर्वेभ्योऽभीष्टं देयं, किं गानमात्रेणेति चेत्, तत्राह **लोकमलापहमि**ति, सर्वेषां सर्वदुःखे निदानभूतं मलमेव दूरीकरोति.

लेखः

इन्द्र इत्यत्र **यथेष्टमि**ति. "सुरभीन्द्रो देवेन्द्र" इत्याद्यग्रे वक्ष्यमाणं, यथा यस्येष्टं तथा स प्रेरितवानित्यर्थः. अदित्यतिरिक्तानां देवमातृत्वाभावादरुच्या पक्षान्तरमाहुः **श्रद्धादिभिरि**ति. तथा च शुभादयो धर्मपुत्रत्वेन सत्त्वपरिणामत्वाद् देवा इत्यर्थः ॥२३॥

मुदान्विता इत्यत्र 'मुदे'त्यस्यानन्दवाचकत्वेन कृष्णपरत्वमभिप्रेत्याहुः **ता** इति. तथा च पूर्वमपि कृष्णेन सह स्थिताः; अतोऽधुना भयस्य निवृत्तत्वात्

---

१. तस्या अभि°. २. °भूता सेति. ३. °सम्मत्त्या. ४. °णे क्षमं. ५. धात्वर्थ एव परे. ६. सम्भ°.

सुराङ्गनाश्च हर्षेणान्विताः सम्यङ्ननृतुस्ता हि कृष्णेन सह [1]रमणौत्सुक्यो देवादिन्द्राच्च भीताः स्थिता. अधुनेन्द्रत्वे सम्पन्ने भयान्निवृत्ता आगमनं चावश्यकं जातमिति **मुदान्विता** जाता भावपूर्वकं च नृत्यं कृतवत्यो यथा च भगवान् वशे भवति ॥२४॥

तं तुष्टुवुर्देवनिकायकेतवो व्यवाकिरंश्चाद्भुतपुष्पवृष्टिभिः।

लोकाः परां निर्वृतिमाप्नुवंस्त्रयो गावस्तदा गामनयन् पयोद्रुताम् ॥२५॥

इन्द्रत्वे जाते सर्व एव स्वर्गलोकः समागतस्तदा **देवसमूहे ये केतव** इवोन्नता देवोत्तमा[2] [3]ब्रह्मादयो मन्त्रा वेदा वा **तं** भगवन्तमिन्द्रं **तुष्टुवुः**. अत एव वेद इन्द्रो महान् स्तूयते, भगवानिन्द्रो जात इति. ननु[4] प्राकृतानामिन्द्रत्व आधिदैविके- "प्यर्धेन्द्राणि जुहोती"ति नोपपद्यत. इन्द्रत्वे नार्धता भगवत्त्वेन तु सर्वत्वम्. **अद्भुतपुष्पवृष्टिभिश्च विशेषेणावाकिरन्** पुष्पवृष्टिं कृतवन्तः. एवं दिविष्ठानां वाचनिकं कायिकं चोक्तं, मानसिकमाह सर्वे **लोकाः परां निर्वृतिमाप्नुवन्नि**ति,

लेखः

सन्ननृतुरित्यर्थः. कृष्णसाहित्यं विवृण्वन्ति **कृष्णरमणौत्सुक्य** इति, तथा च मनसि कृष्णसाहित्यं स्थितमेवेत्यर्थः. तथा च **मुदे**त्यस्यावृत्तिरभिप्रेतेति ज्ञायते. **सन्ननृतुरित्यत्र समित्यस्यार्थद्वयमाहुः भावेति, यथेति** ॥२४॥

योजना

तं तुष्टुवुरित्यस्य विवरणे **आधिदैविकेऽपि अर्धेन्द्राणि जुहोतीति नोपपद्यत** इति. आधिदैविकेऽपि इन्द्रे "अर्धेन्द्राणी"ति नोपपद्यते. "अर्धेन्द्राणि जुहोती"त्यत्र इन्द्रस्य सर्वदेवतापेक्षयाधिको भागो निरूपितः, हविषः अर्धभागे मध्ये अन्ये बहवो देवाः अर्धमध्ये एक इन्द्र इति. सोऽयं विभागाधिक्यज उत्कर्षो भगवन्तं श्रीकृष्णम् इन्द्रमवगत्य श्रुत्या कृतस्तत्रैव श्रुतितात्पर्यात्, न तु इन्द्रं (इन्द्रे इन्द्रस्य वा!), तदाहुः **इन्द्रत्वे नार्धते**ति. **इन्द्रत्वे** इति सप्तमी, इन्द्रस्य इन्द्रत्वे भागस्य अर्धता नास्तीत्यर्थः, अर्धो भागो नास्तीति फलितम्. तथा च इन्द्रस्य इन्द्रत्वे "अर्धेन्द्राणि जुहोती"ति न सङ्गच्छत इत्यर्थः. **भगवत्त्वेन तु सर्वत्वमि**ति, यदि भगवानेवेन्द्रो जातस्तदा तु सर्वमेवोपपन्नम् अर्धेन्द्रत्वं पूर्णेन्द्रत्वं च, सर्वरूपत्वात् सर्वसामर्थ्ययुक्तत्वात् विरुद्धसर्वधर्माश्रयत्वाच्च ॥२५॥

१. कृष्णरमणौ°, रमणौ°. २. लुप्तम्. ३. ब्राह्मणा°. ४. न तु.

त्रयोऽपि **लोकाः** परमानन्दं प्राप्ताः. तदा गावोऽन्ता रसपूर्णा बहिरपि[1] रसं त्यक्तवत्य इत्याह **गावस्तदा गां** पृथिवीं **पयोद्रुतां** पयसा पिच्छिलाम**नयन्** कृतवत्यः ॥२५॥

नानारसौघाः सरितो वृक्षा आसन् मधुस्रवाः।

अकृष्टपच्यौषधयो गिरयो व्यसृजन् मणीन् ॥२६॥

सरितश्च नानारसानां [2]घृतक्षीरादीना**मोघो** यासां तादृश्यो जाता. **वृक्षाश्च मधुच्युत औषधयो** व्रीह्यादयः कर्षणव्यतिरेकेणैव पक्का जाताः. **अकृष्टपच्यश्च**[3] ता **औषधयश्च गिरयः** पर्वताश्च[4] [5]स्वाभ्यन्तःस्थितान् **मणीन् व्यसृजन्**. एवं स्थावरजङ्गमानां सर्वेषामेवोत्सवो निरूपितः ॥२६॥

तमुपसंहरन् पूर्वेन्द्रेभ्यो भगवतीन्द्रे[6] वैलक्षण्यमाह **कृष्णेऽभिषिक्त** इति.

कृष्णेऽभिषिक्त एतानि सर्वाणि कुरुनन्दन।

निर्वैराण्यभवंस्तात क्रूराण्यपि निसर्गतः ॥२७॥

सदानन्दे**ऽभिषिक्ते** सति; स[7] हि सर्वानभिषिञ्चति स्वानन्देन, यदि सोप्यभिषिक्तः सर्वैस्तदा महदाश्चर्यं जातमिति. **एतानि** परिदृश्यमानानि **सर्वाण्येव निसर्गतोऽपि क्रूराणि** शाश्वतिकविरोधयुक्तान्यपि **निर्वैराण्यभवन्**. तदा शुकस्तामवस्थां प्राप्तः पशून् पश्यन्नाह**ैतानी**ति. **कुरुनन्दने**ति सम्बोधनं विश्वासार्थं, सद्वंशोत्पन्नस्यैव विश्वासो भवतीति. **ताते**ति सम्बोधनं स्नेहसूचकं, तेनाप्रतारणापि सूचिता ॥२७॥

एवमभिषेकमहोत्सवमुक्त्वाभिषेककर्तुः स्वर्गप्राप्तिमा**हेती**ति.

इति गोगोकुलपतिं गोविन्दमभिषिच्य सः।

अनुज्ञातो ययौ शक्रो वृतो देवादिभिर्दिवम् ॥२८॥

पूर्वं **गो**[8]**गोकुलपतिमि**[9]त्यमुना प्रकारेण **गोविन्दं** कृत्**वाभिषिच्य स** प्रसिद्धो भगवदनुगृहीतो वा भगवतै**वानुज्ञातो** "देवादयोऽत्र स्थास्यन्ती"ति सन्दिह्य तै**र्वृतः** सन् **दिवं ययौ**. भगवांस्तु स्वस्थान एव वर्तत इति नात्र प्रत्यापत्तिः कर्तव्या ॥२८॥

॥ इति श्रीमद्भागवतसुबोधिन्यां श्रीमद्वल्लभदीक्षितविरचितायां दशमस्कन्धविवरणे द्वितीये तामसप्रकरणेऽवान्तरसाधनप्रकरणे वैराग्यनिरूपक-षष्ठाध्यायस्य स्कन्धादितश्चतुर्विंशाध्यायस्य विवरणम् ॥

॥ इति चतुर्विंशोध्यायः ॥

१. लुप्तम्. २. घृतादी°. ३. °पच्याश्च ते. ४. लुप्तम्. ५. °न्तर°. ६. °तीन्द्र°. ७. लुप्तम्. ८. गोकु°. ९. रि°.

॥ सप्तमः स्कन्धादितः पञ्चविंशोऽध्यायः ॥

पञ्चविंशे तु वरुणात् नन्दं मोचयिता हरिः ।
ततः सर्वान् स्ववैकुण्ठे नेष्यतीत्युच्यते फलम् ॥(१)॥
अभिषेकश्च तैर्दृष्टो [1]देवस्तोत्रादिकं श्रुतम् ।
ज्ञाते देवोत्तमत्वे तु द्रष्टव्यं पौरुषं परम् ॥(२)॥

लेखः

पञ्चविंशाध्यायप्रथमकारिकायां **मोचयितेति** तृन्नन्तम्. **स्ववैकुण्ठे नेष्यतीति**. अधुनापि व्यापिवैकुण्ठ एव लीला, "रमाक्रीडमभूदि"ति पूर्वमेवोक्तेस्तथापि भगवतो मानुषभावस्वीकारे व्यापिवैकुण्ठस्यापि प्राकृतभावस्वीकारः. अधुना अर्जुनस्य मानुषभावरहितं स्वरूपमिवैतेषां प्राकृतभावरहितं वैकुण्ठं प्रदर्शयिष्यतीत्यर्थः. **देवा** इति 'दृष्टा' इति वचनविपरिणामेन पूर्वेणान्वयः. **पर्यवसायीति**, अंशत्वे एव पर्यवसन्नं भवेत् न तु पुरुषोत्तमत्वे इत्यर्थः (१-३).

योजना

पञ्चविंशाध्यायार्थोक्तौ **नेष्यतीत्युच्यते फलमिति**, वैकुण्ठे गोपान् **नेष्यतीति फलमवान्तरफलमित्यर्थः**. **पर्यवसायीति**, स्तुतीन्द्रकृताभिषेक-देवदर्शनादिना श्रीकृष्णो **देवोत्तम** इति **ज्ञाते** सति **परं पौरुषं द्रष्टव्यम् अन्यथा** इन्द्रदमनादिमात्रं

कारिकार्थः

पञ्चविंशेऽध्याये **पञ्चविंशे** **त्वित्यादि**. अत्राध्याये वैकुण्ठनयनात्मकमवान्तरफलमुच्यत इत्यर्थः (१). **अभिषेक** इत्यादि. **देवा** इन्द्रादयः, **स्तोत्रं** तत्कृतम्, **आदिपदेन** भगवत्कृतेन्द्रशिक्षा, एवमिन्द्रदमनादिना **देवोत्तमत्वे ज्ञाते** सति वरुणैश्वर्यतद्दास्यनन्दानयनलक्षणं **परं पौरुषं** पुरुषोत्तमत्वेन ज्ञानजनकं **द्रष्टव्यम्** (२). **अन्यथा नन्दविज्ञानमिति**, यदि वरुणकृतस्तुत्यादिकं नन्देन दृष्टं न स्यात् तदा **नन्दविज्ञानं तदेव** नारायणांशत्व**पर्यवसायि** पर्यवसानशीलं स्यात् न तु पुरुषोत्तमत्वपर्यवसायीत्यर्थः. **अत** इति, "मन्ये नारायणस्यांशमि"ति वाक्योक्तं नारायणांशत्वेन ज्ञानं हि भक्तिमार्गविरुद्धमतः कारणात् **तन्निग्रहो**

१. देवाः.

अन्यथा नन्दविज्ञानं भवेत् पर्यवसायि तत् ।
अतस्तन्निग्रहो वाच्यो वरुणस्तेन सेवकः ॥(३)॥
कालाद्युपासकश्चेत् स्याद् भगवत्सेवकः क्वचित् ।

टिप्पणी

[1]पञ्चविंशेऽध्याये तात्पर्योक्तौ, **अन्यथा नन्दविज्ञानमिति**. यदि वरुणैश्वर्य-तद्दास्यस्वानयनलक्षणं **पुरुषसम्बन्धि यत्परं** माहात्म्यं, पुरुषोत्तमत्वेन ज्ञानजनकमिति यावत्, तद्दर्शनं न स्यात्तदा तत्तदेव पूर्वोक्तं नारायणांशत्वेन **देवोत्तमत्वेन** यज्ज्ञानं; वस्तुतस्तु पुरुषोत्तमविषयकमेवं ज्ञानं भक्तिमार्गविरुद्धं, **पर्यवसायि** पर्यवसानशीलं स्यादित्यर्थः. तथा सत्यग्रे भजनानन्दानुभवो न स्यात्, तद्विरुद्धज्ञानवत्त्वाद्. अतो निरवधिमाहात्म्यवत्त्वेन पुरुषोत्तमत्वेन ज्ञानं जननीयं भक्तिमार्गविरुद्धज्ञानवत्त्वेन **निग्रहश्च** कार्यः. वरुणद्वारा भगवानुभयं कारितवानिति **वरुणं सेवकत्वेन** प्रभुर्मनुत इत्यर्थः (२-३).

योजना

पौरुषं श्रीकृष्णेऽस्तीति ज्ञाते तावन्मात्रत्वे ज्ञानस्य पर्यवसानं स्यादित्यर्थः. **अतः** श्रीनन्दस्य **निग्रहो वाच्यः**. तथा सति वरुणलोके वरुणवैभवं दृष्ट्वा भूमौ तादृग्वैभवस्य कदाप्यदृष्टत्वात् तादृग्वैभववतो वरुणस्य भगवति प्रपत्तिं दृष्ट्वा "अयं भगवान् सर्वश्रेष्ठ" इति ज्ञानमभूदित्यर्थः. **तेन सेवक** इति, यतो वरुणेन श्रीनन्देऽपहृते श्रीनन्दस्य वरुणवैभवदर्शनेन भगवत्परमवैभवदिदृक्षाभूत् ततो भगवान् वैकुण्ठं प्रदर्शितवान्, एतावानुपकारो वरुणकृतनिग्रहेण जात इति भक्तोपकारकरणं वरुणस्येति **तेन** हेतुना नन्दनिग्रहरूपेण **वरुणस्य सेवक**त्वमित्यर्थः (१-३). ननु श्रीनन्दस्य परमभक्तस्य क्लेशप्राप्तिः कथमित्याशङ्क्याहुः **कालाद्युपासकश्चेदि**त्यारभ्य **क्लेशमवाप्नोती**त्यन्तेन. **भगवत्सेवकः** श्रीनन्दो द्वादशीरूपकालविशेषोपासको जातस्ततो दुःखमन्वभूदित्यर्थः (४).

कारिकार्थः

नन्दनिग्रहो वाच्यः. **वरुणस्तेन सेवक** इति. भगवानुभयं कारितवान्—निरवधिमाहात्म्यज्ञानं भक्तिमार्गविरुद्धनारायणांशत्वज्ञानहेतुकनिग्रहं च, तेन **वरुणं सेवकत्वेन** मनुते इत्यर्थः (३). **कालाद्युपासक** इत्यादि. **भगवत्सेवकश्चेद्**

१. पञ्चविंशाध्याये मू. पा.

ततः क्लेशमवाप्नोति कृष्णादेव च मुच्यते ॥(४)॥
ततो माहात्म्यविज्ञानं पूर्णं तस्य भविष्यति ।
ततश्चिन्तनमात्रेण भगवान् स्वपदं नयेत् ॥(५)॥

भगवतः सम्पूर्णमाहात्म्यज्ञानार्थं निरुद्धानां वैकुण्ठे गमनमुच्यते. तदर्थं प्रथमं धर्मबुद्ध्या मर्यादायां प्रवृत्तस्य सर्वथा भगवन्तमभजतो नन्दस्यानर्थसम्बन्धमाह**ैकादश्या**मिति.

॥ श्रीशुक उवाच ॥

एकादश्यां निराहारः समभ्यर्च्य जनार्दनम् ।
स्नातुं नन्दस्तु कालिन्द्या द्वादश्यां जलमाविशत् ॥१॥

स हि विष्णुव्रतपरायणो धर्मनिष्ठश्चान्यस्य माहात्म्यज्ञानं न स्यादिति तथोच्यते. माहात्म्यज्ञापनार्थमेव नयनमतो न वरुणो निगृहीतः. **एकादश्यां निराहारः** सन् **जनार्दनं** मोक्षदातारं **सम्यगभ्यर्च्य नन्दो** व्रते स्वधर्ममपि कर्तुं वैष्णवं पक्षमाश्रित्य वैदिकपक्षं त्यक्त्वार्धरात्रसमये **द्वादश्यां** जातायां **कालिन्द्यां** प्रवाहमध्ये **जलमाविशत्**. "मुहूर्तार्धावशिष्टायां द्वादश्यां पारणं प्रति निशीथात् सम्यगुत्थाय क्रियाः[१] कुर्याद् यथोचितम्[२] अग्निहोत्रादिकर्माणि तथा नैमित्तिकानि च आ मध्याह्नात् क्रियाः सर्वाः कर्तव्याः शम्भुचोदनादि"ति वैष्णवधर्मविश्वासात् स्नातुं प्रवृत्तः ॥१॥

लेखः

एकादश्यामित्यस्याभासे **अनर्थसम्बन्ध**मिति, नन्दे अनर्थं सम्बध्नाति तादृशं जलप्रवेश**माह**ेत्यर्थः ॥१॥

कारिकार्थ

द्वादश्यादिकालसाधनपरो भवेत् तदा नन्दवत् **क्लेशमवाप्नोति कृष्णादेव च मुच्यते** (४). **तत** इति, **ततो** मोचनात् **माहात्म्यज्ञानं ततश्चिन्तनमात्रेण** मनोरथमात्रेण **स्वपदं** वैकुण्ठं **नये**दित्यर्थः (५).

एकादश्यां निराहार इत्यत्र **मुहूर्तार्धावशिष्टाया**मिति, एतच्च स्मृत्यन्तरे द्वादशीव्रतप्रकरणस्थवचनं स्पष्टार्थकम् ॥१॥

---

१. क्रियां. २. °चिताम्.

[१]तद्रक्षको वरुणस्य सेवकोऽन्यायं करोतीति मत्वा वैष्णवधर्मापरिज्ञानात् तं बद्ध्वा नीतवानित्याह **तं गृहीत्वे**ति.

तं गृहीत्वानयद् भृत्यो वरुणस्यासुरान्तिकम् ।
अविज्ञायासुरीं वेलां प्रविष्टमुदकं निशि ॥२॥

वरुणस्यैव भृत्यो वरुणस्यान्तिकमनयत्. तस्य नयनेऽभिप्रायमाह**ाविज्ञाये**ति, [२]**सासुरी वेला** यस्तत्र धर्मं करोति तदसुरगामि भवती[३]ममर्थं नन्दोऽज्ञात्वा जलं **प्रविष्ट** इति विज्ञाय**ानयत्**. वस्तुतोऽयमपि न जानाति, तदग्रे वक्ष्यति वरुणो"ऽजानते"ति ॥२॥

चुक्रुशुस्तमपश्यन्तः कृष्णरामेति गोपकाः ।
भगवांस्तदुपश्रुत्य पितरं वरुणाहृतम् ॥
तदन्तिकं गतो राजन् स्वानामभयदो विभुः ॥३॥

ततस्तं मोचयितुं सर्वे गोपालाश्चुक्रुशुः **कृष्णरामे**ति. अकस्माज्जले प्रविष्टः पश्चान्न दृष्ट इति **तं** नन्द**मपश्यन्तः** सर्वावस्थासु सर्वकार्येषु चोपायान्तरमलभमाना भगवन्तमेव विज्ञापयन्ति यतो **गोपका** अल्पा गोपास्तदा भगवान् गृह एव स्थितः शयानो दूरादेव **कृष्णरामे**ति वचनमाकर्ण्य **पिता वरुणेन हृत** इति ज्ञात्वेत एव **वरुणान्तिकं गतः**, प्रायेणोक्त्वा गतो, अन्यथा महद् भयं स्यात्. भगवान् निरोधलीलामेतदर्थं कृतवान् यत् सर्वकर्मसु स्वयं प्रविष्टस्तानि [४]कर्माणि स्वकर्माणि

लेखः

तदन्तिकमित्यत्र निरोधलीलामिति अनुशयनलीलामित्यर्थः. **साधनेति**

योजना

तदन्तिकं गत इत्यत्र. ननु व्रजपतेरानयनार्थं भगवता वरुणसमीपे गतं तत् न कर्तव्यं, वरुणस्य सेवकत्वात् सेवकगृहे स्वामिगमनस्यानुचितत्वादित्याशङ्क्याहुः **भगवान् निरोधलीलामेतदर्थं कृतवान् यत् सर्वकर्मसु स्वयं प्रविष्ट** इति. एतदर्थं नन्दादीनां प्रयोजनसिद्ध्यर्थं **निरोधलीलां** प्रपञ्चविस्मृतिपूर्वकस्वासक्तिसम्पादकलीलां भक्तानामर्थे स्वसेवकवरुणगृहगमनलीलां **स्वयं कृतवान्** यया वरुणगृहगमनलीलया श्रीनन्दादीनामेतादृशं ज्ञानमभूद् यदयं श्रीकृष्णोऽस्मदर्थे स्वायोग्यमपि कार्यं श्रमबहुलं करोति. ततश्च तादृशज्ञानात् श्रीकृष्ण एव तेषां

---

१. तदा. २. सा ह्या°. ३. °तीती°. ४. लुप्तम्.

कृत्वा तेभ्यस्तान् मोचयत्यन्यथैवं न कुर्यात्. तत् साधनदशायां फलदशायां च

योजना

परमासक्तिरभूदिति भावः. नन्वेतेषां निरोधसिद्ध्यर्थं वरुणगृहे गतमिति कुतो ज्ञायते इत्याकाङ्क्षायामाहुः **यत् सर्वकर्मसु स्वयं प्रविष्टस्तानि कर्माणि स्वकर्माणि कृत्वा तेभ्यस्तान् मोचयतीति**. **यद्** यस्माद्धेतोः **सर्वकर्मसु** कुमारिकाकर्तृकव्रतकर्म-यजमानकृतयागकर्मश्रीव्रजेन्द्रकृतेन्द्रयागकर्मसु **स्वयं प्रविष्टस्**तत्र तत्र तदीय-पदार्थानां स्वस्मिन् विनियोगं कारितवानतो निरोध्यानां भक्तानां कर्मसु स्वयं पूज्यत्वेन प्रविष्ट इत्यर्थः. तथा चान्यत्र विनियुक्तान् स्वकीयान् कर्तुम् एतावताग्रहेण स्वयं पूज्यो भवत्यतो ज्ञायते प्रकृतेऽपि वरुणगृहगमनं निरोध्यानां निरोध-सिद्ध्यर्थमेवेति. **तानि कर्माणि स्वकर्माणि कृत्वेति**, अन्यार्थं क्रियमाणानि कर्माणि भगवत्कर्माणि कृत्वेत्यर्थः. तद् यथा कुमारिकाप्रसङ्गे कात्यायनीपूजने कात्यायनीस्वरूपेण स्वयं प्रविष्टः स्वपूजां कारितवान्. तदुक्तं "भगवानेव वा गुणातीत" इति तत्रत्यसुबोधिन्याम्. यजमानयज्ञप्रसङ्गे यजमानपत्नीद्वारा तदीयपदार्थानां स्वस्मिन् विनियोगं कारितवान्. इन्द्रमखभङ्गप्रसङ्गे श्री-गोवर्धनस्थरूपेण सर्वसामग्रीस्वीकारं कृतवान्. यतः सर्वकर्मसु स्वयं प्रविष्टः अतः प्रकृतेऽपि श्रीनन्दानयनार्थं स्वयं गत इति ज्ञेयम्. **तेभ्यस्तान् मोचयतीति**, **तेभ्यः** अन्योद्देश्यककर्मभ्य**स्तान्** भक्तान् **मोचयती**त्यर्थः. अन्यथा यदि स्वकीयकरणरूपं प्रयोजनं न स्यात् तदा अन्योद्देश्यककर्मसु विघ्नमेव कुर्यात् न तु पूज्यत्वेन स्वप्रवेशं, तदाहुः **अन्यथा एवं न कुर्यादि**ति, अर्थस्तु– **एवं** स्वप्रवेशेन कर्मभ्यो मोचनं **न कुर्या**दित्यर्थः. विघ्नमात्रकरणे तु कालान्तरे पुनरपि कुर्युः, अन्यदेवस्थाने स्वप्रवेशे तु तदेव भगवत्कर्म सर्वदा कुर्युर्यथान्नकूटोत्सवमिति भावः. **तत्साधनदशायां फलदशायां च वक्तव्यमि**ति, **तत्** कर्मभ्यो मोचनं **साधनदशायां फलदशायां च** श्रीनन्दस्य **वक्तव्यं**, मुख्यद्वारा सर्वेषां बोधसम्भवादित्यर्थः. साधनदशायां द्वादशीव्रते वरुणकृतोपद्रवं निवर्त्य तत्कर्मतो नन्दस्य मोचनम्. फलप्रकरणे अम्बिकावन-गमनप्रसङ्गे सुदर्शनसर्पतो नन्दं मोचयित्वा अन्यदेवतोद्देश्यककर्मभ्यो मोचितवान्. एतादृशसुदर्शनसर्पजन्यदुःखस्यानुभूतत्वात् तत्प्रभृति देवतान्तरभजनं न कृतं, भगवता मोचितत्वाद् भगवत्तोषजनकमेव कर्म कृतमिति भावः. ननु शक्रयागभङ्ग इव प्रकृतेऽपि पूज्यत्वेन स्वयमेव कुतो न प्रविष्टस्तत्राहुः **आवश्यकफले** इत्यारभ्य

वक्तव्यम्. आवश्यकफले पूर्वं कृते कर्मणि सति कर्मणो निवृत्तत्वान्न प्रवेशः सम्भवतीत्यतो वरुण**स्यान्तिकं** स्वयमपि **गतः**, अन्यथा वरुणमेवाकारयेत् नन्दं वा कर्षेत्. माहात्म्यं च ज्ञापनीयमतः स्वयमेव गतः. **राजन्नि**ति सम्बोधनं राजधर्म एतादृश इति ज्ञापयितुमनुपेक्षणीयाः सेवका इति. किञ्च **स्वानामभयदो** यदि शीघ्रं न गच्छेदिदानीं भक्तानां भयं न निवर्तेत. **विभुरि**ति सर्वप्रकारेणापि सर्वं कर्तुं समर्थः. न हि भूमावतीर्णोऽत्रैव किञ्चित् करोति नान्यत्रेति, अन्यथा लीलाया अन्ते तान् वैकुण्ठे न नयेदवतारान्तरवदतः कृष्णः सर्वत्र सर्वसामर्थ्ययुक्तः ॥३॥

ततो यद् जातं तदाह **प्राप्तं वीक्ष्येति**.

प्राप्तं वीक्ष्य हृषीकेशं लोकपालः सपर्यया ।
महत्या पूजयित्वाह तद्दर्शनमहोत्सवः ॥४॥

ननु पूजात्र न वक्तव्या, मोचयितुमेव गतोऽपकारिगृहे च पूजा न ग्राह्यातः कथं पूजां कृतवानित्याशङ्क्याह **प्रकर्षेणाप्तं** समागतं भगवन्तं **वीक्ष्य** पूजयामास. तत्र हेतु**र्हृषीकेशमि**ति, इन्द्रियाधिपतिरयं, यदि न पूजयेत् तल्लोकभोगः पश्चात् तस्य न स्याद्, अनिवेदितभोगे दोषश्च स्यात्. यथा देवेष्विन्द्र एवं दैत्येषु वरुणः;

लेखः

यागदशायामित्यर्थः; **फलेति** वृष्टिदशायामित्यर्थः. अत्र साधनदशायामप्रवेशने हेतुमाहुः **आवश्यकेति**. पूर्वं तु प्रयोजनाभावात् न प्रवेशः, पश्चात् तु कर्म निवृत्तमेव, अतो वरुणहरणरूपफलदशायामेव प्रवेश इत्यर्थः. **लीलाया अन्ते** इति वरुणनिग्रहलीलान्ते इत्यर्थः ॥३॥

योजना

सम्भवतीत्यन्तम्. द्वादशीव्रतलक्षणं कालप्रधानं कर्म पूर्वमेव जातं, ततो निवृत्तं कर्मेति कर्मणि न भगवतः प्रवेशः सम्भवतीत्यर्थः. एवं सति भगवत्प्रवेशाभावादस्मात् कालप्रधानकर्मणो निवृत्तिर्न भविष्यत्यतः कर्मतो निवर्तयितुं तत्कर्मणि वरुणकृते उपद्रवे श्रीनन्दं मोचयितुं स्वयं गतस्तथा च कर्मण्यनादरो भविष्यति दुःखानुभवस्य जातत्वात्, भगवत्यादरो भविष्यति दुःखमोचकत्वात्. ततश्च भगवत्तोषजनकं भक्तिमार्गसरणिसिद्धं कर्मैव करिष्यन्तीत्यन्यकर्मभ्यो मोचनमेवम्प्रकारेण सिद्धमिति भावः ॥३॥

यद्यत्रैव तां श्रियं गृह्णीयाद् दैत्या न हता भवेयुरतस्तत्रैव गत्वा गृहीतवानन्यथा भिन्नसत्ताके जाताः पदार्था भगवद्भक्तानां शुद्धिहेतवो न भवेयुः. जीवास्तु त्रिविधा एव "देवमानुषदानवा" इति, तत्र मानुष्याकृत्या देवोऽभिषेकेण दैत्येश्वरपूजां च गृहीतवानतस्तस्मिन् समये सर्वमेव पुष्ट्युपयोगि फलसाधकं च भवति. तस्य सर्वस्वनिवेदनपूर्विकां पूजामाह **लोकपालः सपर्यये**ति. स हि सर्वेषामेव दैत्यानां लोकान् पात्यतः स्वस्य यावती **सपर्या** पूजासामग्री ततोऽप्यधिका कृताग्रे जायमानभोगमपि मध्ये निवेश्य पूजां कृतवान्, तदाह **महत्ये**ति. न केवलं

लेखः

प्राप्तं वीक्ष्येत्यत्र **दैत्या न हता** इति, अत्रागमने प्रपन्ना एव भवेयुरित्यर्थः. **अन्यथे**ति, तत्र गमनाभावे तद्देशस्य शुद्ध्यभावादिति भावः ॥४॥

योजना

प्राप्तं वीक्ष्य हृषीकेशमित्यत्र **हृषीकेश**पदतात्पर्यमाहुः **इन्द्रियाधिपतिरयं, यदि न पूजयेत् तल्लोकभोगः पश्चात् तस्य न स्यादि**ति. भोगमात्रस्य चेन्द्रियसाध्यत्वादिन्द्रियाणां च हृषीकेशनियम्यत्वाद् हृषीकेशपूजनाभावे हृषीकाणां भोगो न स्यादिति हार्दम्. **यद्यत्रैव तां गृह्णीयाद् दैत्या न हता भवेयुरि**ति. **अत्रैव** व्रज एव स्थित्वा सपर्यां श्रियं गृह्णीयात् तदा दैत्यानामत्रागमने पूजादर्शने सत्सङ्गेन प्रपत्तिरेवोदियात् ततश्च न हता भवेयुरिति भावः. **अन्यथा भिन्नसत्ताक** इति, यदि वरुणपूजां न गृह्णीयात् तदा वरुणदेशे भगवत्सम्बन्धाभावजन्याशुद्ध्या तत्रोत्पन्नाः पदार्था **भगवद्भक्तानां** वरुणादीनां **शुद्धिहेतवो न** भवन्तीत्यर्थः. **तत्र मानुषा(ष्या!) आकृत्ये**ति अङ्गीकृता इति शेषः; **मानुषा(ष्या!) आकृत्या** स्वरूपसौन्दर्येणाङ्गीकृता इति भावः. **देवोऽभिषेकेणे**ति, **देव** इन्द्रः **अभिषेकेण** हेतुना इन्द्रकर्तृकेन भगवता अङ्गीकृतः. **देव**पदेन इन्द्रं गृहीत्वा मुख्यत्वात् सर्वे देवा गृहीता इति बोध्यम्. **दैत्येश्वरपूजामि**ति, **दैत्येश्वरस्य** वरुणस्य **पूजां गृहीतवान्,** पूजाग्रहणेन सोऽप्यङ्गीकृतः, तदङ्गीकृत्यैव ये भक्ता दैत्येषु ते सर्व एव. एवं मानुषदेवदैत्या ये भक्तास्ते सर्वे निरुद्धा इति बोधितम्. **महत्या पूजयित्वाहे**त्यस्याभासे **अग्रे जायमानभोगमपि मध्ये निवेश्ये**ति. सर्वेषां स्वकीयपदार्थानां शुद्ध्यर्थं पूजा, यतः पूजया सर्वं भगवदुच्छिष्टं विधाय उच्छिष्टेन भोगः कर्तव्य इति मार्गमर्यादा. एवं सति जनिष्यमाणभोगान् पदार्थान् पूर्वं समर्प्य

कायिकीमेव सेवां कृतवान् किन्तु वाचनिकीमपि, "मनः पूर्वरूपं वागुत्तररूपमि"ति मानसिकं तत्रैव प्रवेक्ष्यतीति. वक्ष्यमाणमाह किञ्च **तस्य दर्शनेनैव महानुत्सवो** यस्य, समागते महानाह्लादो मानसिकी पूजा. स्तुतियोग्यः स्तुतिं कुर्याद् भगवद्गुणवर्णनम् ॥४॥

अशक्तौ स्वोपकारमात्रं वक्तव्यमतस्तदेवाह**अद्य मे विधृतो देह** इति.

॥ वरुण उवाच ॥

अद्य मे विधृतो देहोऽद्यैवार्थोऽधिगतः प्रभो।
यत्पादभाजो भगवन्नवापुः पारमध्वनः ॥५॥

यद्यपि देवयोनिः प्राप्ता तथाप्याधिपत्यं दैत्येष्वतस्तत्सङ्गान्न भगवत्परता भवत्यतः प्राप्ताप्युत्तमा योनिरप्राप्तप्राया. तदिदानीं स्वामिदर्शनाद् जाते फले साधनाभावेऽपि सफलजन्मत्वं, तदाह**अद्यैव मे** मया **विशेषेण धृतो देह** इति. साधनपरत्वं निराकुर्वन् हेतुमाह**अद्यैवार्थः** पुरुषार्थः प्राप्त इति. ननु साधनाभावेन कथं फलं भवेत् ? साधने च पुनरङ्गीक्रियमाणेऽ**द्यैवे**तिवचनं बाधितं स्यात्, तत्राह **प्रभो** इति, समर्थो भवान् साधनाभावे फलं दातुं, साधनतापि स्वकृतैवेति. ननु कथमेवमलौकिकं भवेत्? तत्राह **यत्पादभाज** इति, त्वत्सेवकानामेवालौकिककर्तृत्वं

योजना

सर्वैर्भगवदीयैर्भुज्यन्ते. वरुणेन तु जायमानभोगा अपि पदार्थास्तद्भोगं निवार्य भगवते समर्प्यन्ते "भगवदुच्छिष्टाः पुनर्भोक्ष्यन्ते" इत्याशयेन, तदेतदाहुः मूले **महत्ये**त्यनेन. **किन्तु वाचनिकीमपी**ति, वाचनिकीमपि पूजां स्तुतिरूपां कृतवानित्यर्थः. तदुक्तं मूले **महत्या पूजयित्वाहे**त्यनेन. मानसिकी पूजा कुतो नोक्तेत्याकाङ्क्षायां मानसिक्याः पूजाया वाचनिक्यां पूजायामन्तर्भावमाहुः **मनः पूर्वरूपं वागुत्तररूपमिति मानसिकं तत्रैव प्रवेक्ष्यतीत्यनेन**. वाचः उत्तररूपत्वादुत्तररूपस्य पूर्वरूपं विनाऽसम्भवादुत्तररूपेण वाचनिकेन तत्पूर्वरूपं मानसिकं आक्षिप्यत इति वाचनिकेन पूजनेन मानसिकं उक्तमेव. तदेतदाहुः **मानसिकं तत्रैव प्रवेक्ष्यतीति, मानसिकं** पूजनं **तत्रैव** वाचनिके पूजने एव **प्रवेक्ष्यतीत्य**र्थः. प्रकारान्तरेण मानसिकीपूजामाहुः **किञ्चेत्यारभ्य मानसिकी पूजे**त्यन्तेन. तथा च **तद्दर्शनमहोत्सव** इत्यनेनोक्तो महोत्सवो मानसिकी पूजेत्यर्थः ॥४॥

यत्र त्वयि[१] तत्र किं वक्तव्यमिति. **यस्य** भगवतश्चरणारविन्दं ये **भजन्ति** तेऽ**ध्वनः पारमवापुर्नातः** परं गन्तव्यमस्ति. लोके चरणसमागता गच्छन्ति यथा पादुकादयः, अन्यथा तांश्चरणे नानयेदतो यथैतद् विपरीतमेवं फलमपि. अत एव स्वामिदर्शनं भक्तिः पूजेत्यपि साधनं भवतीति निराकृतमानन्दनिधेरन्यस्य प्राप्तव्यत्वाभावात् ॥५॥

अतः सफलजन्मवता प्राप्तफलेन भगवति यत् कर्तव्यं तदाह **नमस्तुभ्यमिति.**

नमस्तुभ्यं भगवते ब्रह्मणे परमात्मने ।

न यत्र श्रूयते माया लोकसृष्टिविकल्पना ॥६॥

नमस्कारो न जीवानां कर्तव्यस्तुल्यत्वाद् देहादेरागन्तुकत्वादतो भगवानेव नमस्कर्तव्यः. सोऽपि सर्वसिद्धान्तसिद्धश्चेद्, विवादे[२] सत्सु विषय[३]दौर्बल्यमे[४]व कल्पनीयमतः[४] [५]श्रुतिस्मृतिपुराणेषु यत्रैकवाक्यता स नमस्कर्तव्यः. तत्रापि यदि

टिप्पणी

नमस्तुभ्यं भगवत इत्यत्र, **विवादे सत्स्वित्यादि.** ननु "यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहुयादि"त्यादिकर्मकाण्डेन "यदहरेव विरजेत्तदहरेव प्रव्रजेद्" "यामिमां पुष्पितां वाचमि"त्यादिना च विरोधात् कथं तत्तदुपास्यानां न[६] नमस्यतेत्याशङ्क्य तत्र विषयव्यवस्थामाहुः **विवाद** इति. **विषयस्य** विवादविषयस्येत्यर्थः. देहाद्यध्यास-कृताधिकारकत्वेनाज्ञानमूलकत्वेन कर्मणो जघन्यत्वात् "तस्मान्मद्भक्तियुक्तस्य योगिनो वै मदात्मनः न ज्ञानं न च वैराग्यं प्रायः श्रेयो भवेदिहे"ति प्रभुवचनाद्भक्ति-मार्गान्मार्गान्तरस्य दौर्बल्यम्. तत्रोपास्यरूपाणां भक्तिमार्गसेव्यपुरुषोत्तमरूपाद् दौर्बल्यमिति भावः. भक्तिमार्गाज्ञानदशायामेव कार्यता तेषां दौर्बल्यम्. अत एव "मत्कथाश्रवणादौ वा श्रद्धा यावन्न जायत" इति भगवतोक्तम्. ननु चार्वाकादि-

योजना

त्वत्पादभाज इत्यत्र **लोके चरणसमागता गच्छन्तीति**, चरणस्य गतिमत्त्वात् **चरणे** ये **समागताः** पादुकादयो गतिमन्तो भवन्तीत्यर्थः. **अतो यथैतद्विपरीतं एवं फलमपीति**, भगवच्चरणे समागतस्य तु परिभ्रमणशीलस्यापि सर्वगतिराहित्यं भवतीति विपरीतत्वम्, एवं फलमपि विपरीतं यद्गतिरहितस्याध्वपारप्राप्तिरिति ॥५॥

१. तत्र त्वयि. २. °षु. ३. विषम°. ४. लुप्तम्.
५. सर्वविदवेदान्तश्रुतिपुराणसिद्धो वैष्णवसिद्धान्तसिद्ध एव नम°. ६. °पास्यानां नमस्य° मू. पा.

तथानुभवो न भवेत् तदा "महतामप्यन्तःकरणं प्रमाणमि"ति नमस्कर्तव्यो न भवेदतश्चतुष्टयमाह, **तुभ्यमिति** साक्षात्कृताय **भगवत** इति वैष्णवसिद्धान्तसिद्धाय **ब्रह्मण** इति श्रौताय **परमात्मन** इति स्मार्ताय. श्रुतिव्यतिरिक्तपक्षेषु मायायाः सृष्ट्युपयोगः करणत्वेन प्रधानत्वेन वा, पाषण्डेषु निमित्तत्वेनापि. सा चेद् भगवति नास्ति तदा तत्कृता दोषाः कामादयः सुतरामेव न भवन्ति. तत आत्मन आत्मत्वस्य सिद्धत्वाद् दोषाणामभावाच्च ते[१] न किञ्चिद् विज्ञाप्यमित्यभिप्रायेणाह **न यत्र श्रूयते मायेति. लोकानां सृष्ट्यर्थं सृष्टिरूपेण** वा **विशेषेण कल्पना** यया सा कार्यकारणरूपिणी सर्वा चेन्निषिद्धा तदा न किञ्चिद् विज्ञाप्यम् ॥६॥

तथापि स्वापराधो निवेदनीयोऽन्यथा स्वकृतादेव नश्येदत आह**ाजानतेति.**

टिप्पणी

भिरीश्वरो नाङ्गीक्रियतइति ईश्वरोऽपि न सर्वसिद्धान्तसिद्धः. किञ्च ईश्वरवादिनामपीदं स्वरूपं शुद्धं ब्रह्मरूपमिति न सर्वेषां सम्मतमित्यत आहुः **सत्स्विति.** मोहकशास्त्रजमोहरहिताः सन्तः, तेषु परस्परं यस्मिन्विषये विवादस्तत्र तथेत्यर्थः. अत एवाग्रे श्रुत्यादिकमेवोक्तम्. **न यत्र श्रूयते मायेत्यत्र, लोकानामित्यादि.** मायया मोहिता एव तथा कल्पयन्तीति तथा. कार्यो मोहः, कारणं सा. [२]एतदेवाहुः **कार्यकारणरूपिणीति** ॥६॥

लेखः

नमस्तुभ्यमित्यत्र प्रधानत्वेनेति प्रकृतित्वेनेत्यर्थः. **निमित्तत्वेनेति** कर्तृत्वेनेत्यर्थः ॥६॥

योजना

नमस्तुभ्यं भगवत इत्यत्र **चतुष्टयमाहेति**, श्रुतिस्मृतिपुराणानुभवानां चतुष्टयमित्यर्थः. **तुभ्यं भगवते ब्रह्मणे परमात्मने** इति विशेषणचतुष्टयेन. तदेतदाहुः **तुभ्यमिति साक्षात्कृतायेत्यारभ्य स्मार्तायेत्यन्तेन. साक्षात्कृताय** अनुभवसिद्धायेत्यर्थः. **वैष्णवसिद्धान्तसिद्धायेति** पुराणसिद्धायेत्यर्थः. **ब्रह्मण इति श्रौतायेति** श्रुतिसिद्धायेत्यर्थः. **स्मार्तायेति** स्मृतिसिद्धायेत्यर्थः. **प्रधानत्वेन वेति** प्रकृतित्वेनेत्यर्थः. **पाषण्डेष्विति** मायावादादिमार्गेष्वित्यर्थः. **निमित्तत्वेनापीति** कर्तृत्वेनेत्यर्थः, मायावादिमते मायाया एव कर्तृत्वस्वीकारात् ॥६॥

१. लुप्तम्. २. एतदाहुः मू. पा.

अजानता मामकेन मूढेनाकार्यवेदिना।
आनीतोऽयं तव पिता तद् भवान् क्षन्तुमर्हति ॥७॥

मामकेन सेवकेन धर्मतत्त्व**मजानता** भवत्सम्बन्धं [१]चाजानता**यं तव पिता** लीलायां पितृत्वेन कृतः **समानीतः**. यदि स्वरूपतोऽस्मिन्नुत्कर्षः स्यात् तदाज्ञोऽपि नानयेत्. सम्बन्धस्तु न ज्ञातस्तदज्ञानादेव वैष्णवधर्मोऽप्यज्ञातः. [२]अज्ञापने हेतु**र्मामकेने**ति, अयं दैत्यो यदि भगवद्धर्मान् जानीयात् तदा दैत्यत्वमेव गच्छेत् ततः कोऽपि सेवको न भवेत्. स्वतस्तु अस्य न ज्ञानं तदाह **मूढेने**ति. ननु तथापि सेवकेन स्वाम्युक्तमेव कर्तव्यं ततः कथमानीतवान्? तत्राहा**कार्यवेदिने**ति, [३]नास्य कार्यविदनं कार्यज्ञानमस्ति किं कार्यं किमकार्यमित्यतः सामान्यत उक्तमपि कर्त्रा विशेषा-कारेण कर्तव्यमतोऽस्य स्वाभाविक [४]एव दोषः. **अयं च तव पिता** वेपमानः [५]पुरो वर्ततेऽतः स्वामिन्(नः!) लीलायामपराधः कृतो वर्तते, **तद् भवान् क्षन्तुमर्हति. तव पिते**ति वचनादपराधः सोढव्यो[६] लीलायां प्रविष्ट इति, न हि लीलाप्रविष्टानाम-पराधो भवति. अतो **भवानि**त्यप्युक्तम्. **भवानेव क्षन्तुमर्हति** न त्वहं क्षमापयितुं योग्यः. "गोविन्द नीयतामि"ति विगीतं, तथा चेद् वदेदपराधी स्यात् ॥७॥

एवं प्रार्थनायां कृतायां तत्सिंहासन उपविष्टस्तं कृतार्थीकृत्य तत आगत इत्याहै**वमि**ति.

टिप्पणी

आनीतोऽयं तव पितेत्यत्रेदंप्रयोगं विनापि चारितार्थ्ये तत्प्रयोगात् तत्तात्पर्यमुक्तं **वेपमानः पुरो वर्तत** इत्यनेन. तत्र भगवदैश्वर्यदर्शनजसात्त्विकभावात्तथेति ज्ञेयम् ॥७॥

योजना

आनीतोऽयं तव पितेत्यत्र **वेपमानः पुरतो वर्तत** इत्यस्यार्थष्टिप्पण्यां स्फुटः. **आनीतोऽयं तव पिते**त्यस्य विवरणे **तव पितेतिवचनादपराधः सोढ** इति. वरुणेन लीलाया एव मुख्यत्वं स्वीकृतं, लीलायामेव नन्दे पितृत्वं **तव पिते**त्यनेनोक्तं; केवलब्रह्मधर्माङ्गीकारे तु भगवतो जन्मराहित्यात् न पितृत्वं व्रजपतौ सम्भवति. लीलायां पितृत्वेनाङ्गीकारात् तस्य भगवदङ्गीकृतपितृत्वस्यैव वरुणेनोक्तत्वात् सन्तुष्टो भगवानतोऽपराधः सोढ इति हार्दम् ॥७॥

---

१. वा°. २. आ°. ३. नान्यस्य. ४. लुप्तम्. ५. पुरतो. ६. सोढो.

॥ श्रीशुक उवाच ॥
एवं प्रसादितः कृष्णो भगवानीश्वरेश्वरः।
आदायागात् स्वपितरं बन्धूनां [१]चावहन्मुदम् ॥८॥

प्रसादितो भृत्यापराधेनातो दण्डमकृत्वैव **कृष्णः** सदानन्दस्तस्याप्यानन्दमुत्पाद्य ततः समागमने समानयने वा प्रार्थनी[२]यरहितो **भगवान्** सर्वशक्तिः **स्वपितरमादायागात्.** भगवत्स्पर्शेन दैत्यसम्बन्धकृतो दोषो निवर्तितः. ननु तथापि वरुणेनागन्तव्यमनुवृत्तिश्च कर्तव्या तत् कथं नागत इति चेत्, तत्राहे**श्वरेश्वर** इति, **ईश्वराणाम**पि वरुणादीना**मीश्वरो** नियन्ताऽतोऽनुल्लङ्घ्यशासनत्वात् स्वामिलीलास्थाने न गन्तव्यमिति नीतिशास्त्रात् नागतः, साधनादिकं तु नापेक्षते[३], एवं स्मरणमात्रेणैव गोकुलप्राप्तेः. आगत्य **बन्धूनां मुदं चावहद्, आवहन् वा** समागतः ॥८॥

यथैकं वचनं बहु कार्यं करोति तथेयं कृतिरपि बहु कार्यं कृतवतीत्यग्रिमं वृत्तान्तमाह **नन्दस्त्वि**ति.

नन्दस्त्वतीन्द्रियं दृष्ट्वा लोकपालमहोदयम्।
कृष्णे च सन्नतिं तेषां ज्ञातिभ्यो विस्मितोऽब्रवीत् ॥९॥

नीतोऽपि नन्दः पूर्वं तत्रैव स्थापितोऽपि न किञ्चित् दृष्टवान्, पश्चाद्

टिप्पणी

नन्दस्त्वतीन्द्रियमित्यस्याभासे, यथैकं वचनमिति. गोसवकर्तव्यताबोधकं वचनं व्रजानन्यतेन्द्रमानभङ्ग-गोवर्धनोद्धरण-व्रजजनाप्यायन-तन्माहात्म्य-ज्ञानेन्द्रप्रणति-गोविन्दनामधारणाद्यनेककार्यं करोति तथेत्यर्थः ॥९॥

लेखः

नन्दस्त्वित्यत्र. तल्लोके स्थितस्य पूर्वं दर्शने लौकिकसन्निकर्षेणैव दर्शनं भवेत् तथा चातीन्द्रियत्वं न स्यादतो भगवदागमनानन्तरं भगवद्दृष्ट्या दर्शनमित्याशयेनाहुः **नीतोऽपी**ति ॥९॥

योजना

नन्दस्त्वतीन्द्रियं दृष्ट्वेत्यस्याभासे **यथैकं वचनमि**त्यादेरर्थष्टिप्पण्यां स्फुटः ॥९॥

---

१. वाव°. २. °ना°. ३. °क्षत एव.

भगवदागमनानन्तरं सर्वं दृष्टवानतोऽतीन्द्रियदर्शनो[1]तीन्द्रियत्वे हेतुं वदन् सर्वमेवातीन्द्रियमित्याह. **लोकपालस्य महान् उदयो** यत्रेति. किञ्च योऽस्माभिः **कृष्णो** यथाकथञ्चिद् व्यवह्रियते तादृशे ते **सम्यङ् नतास्तद्गर्भदासा** इव. इदं च तत्रत्यानां स्त्रीपुरुषाणां सर्वेषामेव सेवनं दृष्ट्वा **ज्ञातिभ्य** उपनन्दादिगोपेभ्यो**ऽब्रवीत्**. नन्वतीन्द्रियं भगवता स्वार्थमेव प्रदर्शितं नान्येभ्यो वक्तव्यं, तत् कथमुक्तवानिति चेत्, तत्राह **विस्मित** इति, तस्याश्चर्यरस एवोत्पन्नोऽतो भगवन्तं पुत्रत्वेन नाङ्गीकृतवान्. नायं सर्वथा पुत्रो गर्गश्छलवादी भ्रान्तो वात एवं सति किं कर्तव्यमिति विचारणीयं— किञ्चित् प्रार्थनीयमाहोस्विदधिका प्रतिपत्तिः कर्तव्येति. तत्र प्रतिपत्त्यर्थं फलार्थं वादौ भगवतो निर्णीतं स्वरूपं ज्ञातव्यमवान्तरभेदा एवैत उत्कर्षा अतः परमोत्कर्षो ज्ञातव्यस्ततः फलप्रार्थना प्रतिपत्तिर्वा कर्तव्येति निश्चित्य प्रथमतो भगवदुत्कर्षदर्शनार्थमुत्सुका जाताः ॥९॥

ते त्वौत्सुक्यधियो राजन् मत्वा गोपास्तमीश्वरम् ।
अपि नः स्वगतिं सूक्ष्मामुपाधास्यदधीश्वरः ॥१०॥

ततो निःसन्दिग्धं तं[2] परमेश्वरं ज्ञात्वा यावन्न दृश्यते तावत् सम्यक् प्रतीतिर्न भवतीति **गोपा** विशेषज्ञानरहिताः किञ्चित् प्रार्थितवन्त इत्याह **ते त्विति**. तुशब्देन न तेषामन्यः पक्ष उद्गतो नाप्यसम्भावना किन्त्वौ**त्सुक्यधिय** [3]एव दर्शनार्थं जाताः. **राजन्निति** तथोत्सुका राजानोऽपि भवन्तीति ज्ञापयितुम्. अय**मीश्वरो** भवतीति निश्चितम्. तथा सति, **अपीति** सम्भावनायामीश्वरे मित्रे जाते, स्वकीयं(यां!) प्रदर्शयिष्यत्यथ यद्यस्मान् न मन्यते तदा दण्डं करिष्यतीति निश्चित्य **सूक्ष्मां स्वगतिं**[4] वैकुण्ठाख्या**मधीश्वरः** स्वामी **नो**ऽस्मभ्य**मुप** समीप **एवाधास्यद्** धास्यति किम् ? अस्मन्निकट एव तं किं प्रकटीकरिष्यतीति मनोरथं कृतवन्तः. स्वस्य तथासाधनाभावेऽपि फलं भविष्यतीत्यत्र भगवदैश्वर्यमेव हेतुः ॥१०॥

एवं तेषां चिन्तनानन्तरं यद् भगवांश्चकार तदाहे**ती**ति.

लेखः

ते त्वौत्सुक्येत्यस्याभासे **प्रार्थितवन्त** इति मनसीति शेषः. **अपीति** सम्भावनोक्तेस्तात्पर्यमाहु**रथ यदी**ति ॥१०॥

---

१. 'नम'. २. लुप्तम्. ३. एवं. ४. 'तिवै'.

इति स्वानां स भगवान् विज्ञायाखिलदृक् स्वयम् ।
सङ्कल्पसिद्धये तेषां कृपयैतदचिन्तयत् ॥११॥

स्वा भक्ताः, भक्तेष्टं पूरणीयं यतः **स** तेषामेवार्थे समागतो. नापि तस्याशक्यं किञ्चिद् यतो **भगवान्**. ते तु स्वमध्य एव सङ्कल्पं कृतवन्तो न तु प्रार्थितवन्तस्तथापि भक्तकामनापूरक इति तद् **विज्ञायैतद्** वक्ष्यमाण**मचिन्तयदि**ति सम्बन्धः. ज्ञाने उपायान्वेषणादौ च सामर्थ्य**मखिलदृगि**ति. सर्वमेव सर्वदैव **स्वयमेव** पश्यति न तु करणाद्यपेक्षाप्यत**स्तेषां सङ्कल्पसिद्धये** सङ्कल्पनिर्वाहार्थ**मेतद्** वक्ष्यमाण**मचिन्तयत्—** किमेते साधने योजनीया आहोस्वित् मर्यादामुल्लङ्घ्य फलमेव देयमिति. तत्र साधनप्रवृत्तौ तेषां क्लेशः स्यादिति **कृपया** द्वितीयमेव पक्षं कर्तव्यत्वे**नाचिन्तयदि**त्यर्थः ॥११॥

चिन्तामेवाह **जन** इति.

जनो वै लोक एतस्मिन्नविद्याकामकर्मभिः ।
उच्चावचासु गतिषु न वेद स्वां गतिं भ्रमन् ॥१२॥

एतस्मिंल्लोके यो जायते स सामान्यत एव न स्वगतिं जानाति. स्वगतिज्ञानानन्तरं दोषनिवृत्तिपूर्वकं तत्प्राप्त्युपायज्ञानं, ततः क्रमेण यथाशास्त्रं साधनानुष्ठानं तत आत्मप्राप्तिस्ततो ब्रह्मात्मभावस्ततो भक्तिस्ततो भगवज्ज्ञानं ततो मत्स्थानदर्शनमित्येतावदेतेषां जन्मकोटिभिरपि न भवति यतः प्रथम एव पक्षे एतेऽनधिकृता इति. तदेवाह **वै** निश्चयेनास्मिं**ल्लोके**ऽतितामसे जातोऽमेध्यपर्यवसायी **न स्वां गतिं** जानाति. तत्र हेतु**रविद्याकामकर्मभिः**, प्रथमतः पञ्चपर्वाविद्या जीवमावृत्य तिष्ठति ततस्तत्सम्बन्धात् कामस्ततो नानाविधानि कर्माणि तैरयं जायते; तेन मूलाशुद्धः कथमुत्कृष्टां गतिं गच्छेत् ? [1](यद्वा ननु स्वरूपानन्दमनुभवतो व्रजजनस्यानुभूयमानवस्तुस्वरूपज्ञाने कथमन्यविषयकोऽभिलाषः सङ्गच्छते ? गृहादिस्थितिरिव चेत् सापि कथं सङ्गच्छते, अनुभूयमानवस्तुनः सर्वतोऽधिकत्वात्? किञ्च यदि तस्य तथाभिलाषस्तर्हि "ये यथा मां प्रपद्यन्त" इतिवाक्याद् भगवतापि

लेखः

जनो वै इत्यत्र. "ते तु ब्रह्महृदमि"त्यत्र टिप्पण्यां द्वितीयव्याख्याने साधारणरीतिप्राकट्यमुक्तमत एवं कथनम् ॥१२॥ ॥इति पञ्चविंशाध्यायव्याख्या॥

---

१. अयं श्रीमत्प्रभुचरणानां स्वतन्त्रः कचन.

स एव पूरणीयः किं तत उद्धृत्य स्वतो दीयमानेन भजनानन्देनेत्याशङ्कामपनेतुं मनोरथस्य प्रासङ्गिकत्वेन व्रजस्थस्य सर्वस्यापि स्वातिरिक्तं गत्यभावं प्रभुः प्रतिजानीते **जन** इति. **एतस्मिन्** काले व्रजे स्थितो **जनः स्वां** स्वकीयां **गतिमै**हिकीमामुष्मिकीं वा मत्तोऽन्यां **वै** निश्चयेन **न वेदा**पि तु मामेव तथात्वेन जानातीत्यर्थः. न"न्वपि नः स्वगतिं सूक्ष्मामुपाधास्यदि"ति गत्यन्तराभिलाषस्योक्तत्वात् कथमेवमुच्यत इत्यत **आहोच्चावचासु गतिषु भ्रमन्नि**ति. **उच्चा** गतिर्वैकुण्ठाख्या मनोरथरू**पावचा**स्तु लीलानवसरे निर्वाहार्थं गृहादिसम्बन्धिन्यः. **उच्च**त्वं मनोरथाभिप्रायेण न तु वस्तुत इति ज्ञेयम्. अथ **वोच्चः** पुरुषोत्तमोऽ**वचम**क्षरं क्षरं च, "यस्मात् क्षरमतीतोहमक्षरादपि चोत्तम" इतिवाक्यात्. तस्मा**दुच्चात्** पुरुषोत्तमा**दवचाः** सर्वा एव वैकुण्ठाद्या गतयः, वैकुण्ठस्याप्यक्षरात्मकत्वात्. तासु **भ्रमन्** वैकुण्ठे मानसिकं गृहादिषु कायिकं भ्रमणं कुर्वन्नपि पुष्करपलाशवन्निर्लेपतया तत्र तत्र **स्वां गतिं न वेदे**ति भावः. ननु हेत्वभावात् कथं भ्रमणमित्याशङ्क्या**हाविद्याकामकर्मभिरि**ति. **अविद्या**पदेनात्र माहात्म्यज्ञानाभावो निरूप्यते न तु शक्तिरज्ञानं वा स्वरूपसम्बन्धि. अविद्याशक्तिस्तु मायया निर्मिता, माया च भगवच्छक्तिरतोऽपि "विलज्जमानया यस्य स्थातुमीक्षापथेमुये"ति वाक्याद् यत्र मायया भगवदीक्षापथेऽपि स्थातुं न शक्यते तत्र तत्सम्बन्धिनमविद्या कथं व्यामोहयेत् ? तथा सति तत्कार्यमज्ञानं तु नोपपद्यत एव. माहात्म्यज्ञानाभावस्य तु स्वेच्छया कृतत्वात् लीलोपयोगित्वाच्च नाज्ञानता. वस्तुतस्तु यथा ब्रह्मज्ञाने तदितरज्ञानाभावोऽपि ज्ञानस्वरूपमेवमत्रापि स्वरूपभजने माहात्म्यज्ञानस्य प्रतिबन्धकत्वात् तदभावोऽपि स्वरूपज्ञानांश एवेति मन्तव्यम्. तस्माद**विद्यया** माहात्म्यज्ञानाभावेन **कामो** लोकान्तराभिलाषः **कर्माणि** लोकजात्यादिविहितानि गृहसम्बन्धीनि **तैः** प्रत्येकमुक्तरीत्योभयत्र भ्रमणमित्यर्थः. माहात्म्यज्ञाने तु न लोकान्तरकामो **न** वा लौकिककर्माणि न वा लीलारसानुभवः किन्तु मुक्तिरेव स्यादतस्तदज्ञानं विधाय सर्वमेतावत् प्रभुरेव कृतवानिति निश्चीयतेऽन्यथा स्वातिरिक्ताभिलाषपूरणे स्वयं यत्नं न कुर्यात् प्रत्युत दीयमानस्वरूपानन्दमपि **न** प्रयच्छेदग्रे भजनानन्दस्य का वार्ता! अतो भ्रमणं न व्रजजनस्य दोषः किन्तु स्वकृतमिति मत्वा तत्कामितप्रदर्शने तत उद्धरणे च करुणातिशययुक्तो जात इति वक्तुं श्रीशुकोऽनेन श्लोकेन भगवदभिप्रायमुक्तवानिति सर्वमुपपद्यते) ॥१२॥

किञ्चोच्चावचासु गतिषु परिभ्रमन्नपि वर्तते न तूत्तमं प्राप्य ततोऽप्यग्रे गच्छति किन्त्वधमतामेव प्राप्नोत्यतः[1] कारणविचारेण कार्यविचारेण वा न कोऽप्यस्याधिकार आत्मज्ञाने तस्माद् यदेते वाञ्छन्ति तदेतेषामयोग्यमेवेति निश्चित्यापि प्रमेयबलमाश्रित्यापि किञ्चित् प्रदर्शितवानित्या**हेतीति**.

इति सञ्चिन्त्य भगवान् महाकारुणिको विभुः ।
दर्शयामास लोकं स्वं गोपानां तमसः परम् ॥१३॥

एवमनधिकारं **सञ्चिन्त्य भगवान्** सर्वकरणसमर्थोऽपि मर्यादारक्षकस्ततो **महाकारुणिकश्च** करुणायां परम[2]काष्ठामापन्न उभयोरन्यतरनाशमाशङ्क्योभयमपि कर्तुं समर्थो **विभुः स्वलोकं दर्शयामास** एतादृशं वैभवं ममास्तीति ज्ञापयितुम्. तत्रैव स्थित्वा न तु क्वचिद् गत्वा यतस्ते **गोपा**[3] मित्राणि धर्मपराश्च. यत्र ते भगवन्तमेव पश्यन्ति तत्र किमाश्चर्यं तस्य लोकं द्रक्ष्यन्तीति. भगवतो बहवो लोकाः सन्तीति तद्व्यावृत्त्यर्थमाह **तमसः परमि**ति. प्रकृतेरप्युपरि, "तम आसीत् तमसा गूढमग्रे प्रकेतमि"तिश्रुतेः. तस्यापि तमसो वस्तुविचारेण भगवत्त्वमुक्तम्. ततोऽप्यग्रे व्यापिवैकुण्ठाख्यं, तत् प्रदर्शितवान् ॥१३॥

मायोद्घाटनेन तस्य [4]स्वरूपमाह.

सत्यं ज्ञानमनन्तं यद् ब्रह्म ज्योतिः सनातनम् ।
यद्धि पश्यन्ति मुनयो गुणापाये समाहिताः ॥१४॥

सत्यमिति. अक्षररूपं तत्. यदा भगवानीश्वरत्वेन तेषां हृदये जातस्तदाक्षरमपि लोकत्वेनाविर्भूतमन्यथा तस्य कृत्रिमत्वं स्यात्. स्वरूपं च तस्य **सत्यं ज्ञानमनन्तं** देशकालापरिच्छिन्नमबाधितज्ञानरूपतापरिच्छिन्नता चोक्ता. अन्यानपि तत्रत्यान् गुणान् वक्तुं प्रमाणमेवातिदिशति **यद् ब्रह्मे**ति, यद् वैकुण्ठाख्यं "सर्ववेदान्तप्रत्ययं"

योजना

इति सञ्चिन्त्येत्यत्र उभयोरन्यतरनाशमाशङ्क्येति, मर्यादारक्षकत्वमहाकारुणिकत्वयोरन्यतरस्य नाशमाशङ्क्येत्यर्थः. यदि साधनराहित्येऽपि फलं स्यात् तदा मर्यादारक्षकत्वं भज्येत, यदि साधनाभावे फलं न दद्यात् तदा महाकारुणिकत्वं भज्येतेति शङ्का ॥१३॥

---

१. °ति ततः. २. परमां. ३. गोपाला. ४. रूप°.

यद् **ब्रह्मै**व. अनेन बृहत्त्वं बृंहणत्वं चोक्तं प्रामाणिकत्वं च; गुणोपसंहारन्यायेन सर्वे गुणाश्च. दोषाभावार्थमाह **ज्योतिरि**ति, तत् स्वप्रकाशं कोटिसूर्याधिकप्रकाशरूपम्. न चैतदिदानीमेवैवं जातमिति शङ्कनीयं, यतः **सनातनम**नादिसिद्धमिदमेतादृशमेव. ननु तर्हि सगुणं भवतु, वैलक्षण्यप्रतीतेरविकृतेऽनुच्चावच एकरसे ब्रह्मणि लोकत्वानुपपत्तेरित्याशङ्क्याह **यद्धि पश्यन्ती**ति. तत् तादृशं स्वभावत एवेति मन्तव्यम्. गुणेष्वागतेषु यत् सामर्थ्यं यानुपपत्तिश्च परिहृता भवति सा स्वरूपेणैव परिहर्तव्या, सर्वभवनसमर्थं स्वरूपमेवेति. ननु कोयं निर्बन्धो ? गुणेन वा तथास्तु विनिगमनाभावादिति चेत्, तत्राहुर्**यद्** वैकुण्ठाख्यं भगवत्स्थानं **मुनयो** मननशीला अपि **गुणापाय** एव पश्यन्ति– मनने क्रियमाणे यदावस्थात्रयं गुणकार्यं बुद्ध्यादयोऽपि स्वभावगुणा अपि यदा विलीना भवन्ति तदा निर्गुणावस्थायां प्राप्तायां पश्चादाविर्भूतं तत् पश्यन्ति. तत्रापि सावधाना अतस्तद्द्रष्टारोऽपि यदा गुणातीतास्तदा का वार्ता तस्य सगुणत्वे! ॥१४॥

ततो दर्शनानन्तरं सर्वत्रैव तत् प्रकटं जातमिति गोकुलस्य सर्वस्यापि विलय एवाभूद[1]तोऽग्रे लीला बाधिता स्यादिति पुनस्तेषां प्रत्यापत्त्यर्थं यत्नमाह **ते त्वि**ति.

टिप्पणी

ते तु ब्रह्महृदमित्यस्याभासे, **विलय एवाभू**दिति. अयमर्थः– लोकस्याक्षरात्मक[2]त्वेनानन्दरूपस्य सर्वत्राविर्भावेन सर्वेषां देहेन्द्रियप्राणान्तःकरणात्मस्वप्याविर्भावे प्रकटाग्निसम्बन्धात् काष्ठान्तर्गताग्निप्रादुर्भावे

योजना

सत्यं ज्ञानमनन्तं यद् ब्रह्मेत्यस्य विवृतौ **यद् वैकुण्ठाख्यं सर्ववेदान्तप्रत्ययं यद् ब्रह्मैवे**ति. "अव्यक्तोक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिं यद् गत्वा न निवर्तन्ते तद् धाम परमं ममे"ति भगवद्गीतासु अक्षरब्रह्मणः धामत्वोक्तेः, "तदाहुरक्षरं ब्रह्म सर्वकारणकारणं विष्णोर्धाम परं साक्षात् पुरुषस्य महात्मन" इत्यत्राप्यक्षरब्रह्मणः धामत्वोक्तेः, "ब्रह्मानन्दमयो लोको व्यापिवैकुण्ठसञ्ज्ञकः" इतिबृहद्वामनपुराणे वैकुण्ठस्य ब्रह्मानन्दमयत्वोक्तेश्च ॥१४॥

ते तु ब्रह्महृदं नीता इत्यस्याभासे **गोकुलस्य सर्वस्य विलय एवाभू**दित्यस्यार्थष्टिप्पण्यां स्फुटः, पुनः **प्रत्यापत्त्यर्थ**मित्यस्याप्यर्थः स्फुटः. **ते तु**

---

१. °त्ततो°. २. °त्मत्वेन मू. पा.

ते तु ब्रह्महृदं नीता मग्नाः कृष्णेन चोद्धृताः ।
ददृशुर्ब्रह्मणो लोकं यत्राक्रूरोऽध्यगात् पुरा ॥१५॥

लोकस्य तिरोभावेऽपि तदात्मकांशस्य [1]लोकस्य न तिरोभावः काष्ठाग्निवत्. तेषां पुनः काष्ठतार्धज्वलितानामपि सम्पादनीयान्यथाग्रे लीला नोपपद्येत. तच्च वेदात्मके ब्रह्मणि योजिते भवति, तद्धि तस्य जलात्मकम्. अत एव शब्दब्रह्मणो

टिप्पणी

तस्याप्यग्निरूपतापत्त्या काष्ठताविलयवदेतद्देहादीनामप्यानन्दतापत्त्या देहादिभावविलयोऽभूदिति. **प्रत्यापत्त्यर्थमि**ति पूर्वभावसम्पत्त्यर्थमित्यर्थः. **तदात्मकांशस्ये**ति, सर्वत्राविर्भावात् तत्तद्देहादिष्वप्याविर्भूतांशस्येत्यर्थः. **काष्ठाग्निव**दिति, काष्ठान्तर्गताग्निप्राकट्यार्थं योऽन्योऽग्निस्तत्र प्रविष्टस्तस्यापि तदतिरोधाने तिरोधानं न यथा, तथेत्यर्थः. **अर्धज्वलितानामि**ति, अत्रैवं ज्ञेयम्– व्रजवासिमनोरथपूर्त्यर्थं ब्रह्मानन्दाद् भजनानन्दे तारतम्यज्ञापनार्थं च स्वलोकस्य हि प्रदर्शनम्. तारतम्यज्ञानं चाग्रे नैतत्स्मृतिं विना संभवति. सा चाधुनैतदनुभवं विना तथेत्यधुनैतदानन्दानुभवोऽपि वाच्यः. स च स्वस्मिंस्तद्भिन्नत्वाज्ञानं विनानुपपन्नः. एवं सत्यानन्दात्मकत्वं स्वस्य भेदज्ञानपूर्वकमक्षरानन्दानुभवश्चेत्यर्धज्वलितत्वम्. पुनः काष्ठता तु पूर्वोक्तदेहादिष्वाविर्भूतलोकस्य तिरोधानेन तत्सम्बन्धजनितानन्दात्मकत्वभानतिरोधानेन च यथापूर्वं स्थितिः. एवं करणस्यावश्यकतामाहुः **अन्यथे**ति. तद्धेतुमाहु**स्तच्चे**ति. अत्रायं भावः– ज्वलितांशस्य पुनः काष्ठतावदानन्दात्मकतामापन्नस्य देहादेः पुनर्जडभावो ह्यशक्यः. प्रकृते तु लीलोपयोगित्वात्सर्वेषां देहादिभावे सत्येव च तथात्वसम्भवाद्देहादिभावः प्रकृतिः, मुक्त्यवस्था विकृतिरेव. एवं सति विकृतिमपास्य प्रकृतिसम्पादकमेतादृशानां वेदब्रह्मैव भवितुमर्हति. [2]कार्यस्यामर्यादत्वादेतदपि न मर्यादामध्यपाति तथा भवितुमर्हत्यतो यथा ह्रदो नद्यन्तर्गत एव प्रवाहाद् भिन्नः सन् सदातिनिर्मलः स्रवन्मकरन्दारविन्दोदयहेतुः सततमतिगभीरतया स्वान्तःपतितपदार्थपूरणपटुस्तथा वेदान्तःपात्येव मर्यादामार्गीयाद् भिन्नं सद्ब्रह्मत्वेन निर्दोषभजनानन्दानुभवहेतुविचित्रभावजनकं पुष्टिमार्गीयमेवेति ज्ञापनाय मूले वेदस्य ब्रह्मत्वं ह्रदत्वं चोक्तम्. एतदेवोक्तं **तद्धि तस्य जलात्मकमि**त्यनेन. न

---

१. लुप्तम्. २. °देहादिभावप्रकृतिप्राप्त्या भजनानन्दानुभवरूपस्येत्यर्थः.

जलरूपता क्वचित् प्रकटीकृता. तत्कार्यमिदमग्रे च वक्ष्यति. [१]अतोऽक्षरात्मकानेतान् **ब्रह्महृदे नीत्वा** स्नानं कारितवान्. तदैतेषु स्थितोऽपि लोकस्तिरोहितस्तत्रापि **नीताः** पुनर्मग्ना जाताः. उत्तमाधिकारिणो हि ते [२]शब्दब्रह्मात्मका एव जाताः. क्रमश्चायं— **परब्रह्म तदुत्थं**[३] शब्दब्रह्म तदुत्थं जगदिति, अत एवादूरविप्रकर्षेण ज्ञापकम्. ततोऽपि

टिप्पणी

चाक्षरात्मकत्वेन लोकस्य तदानन्दवाचकं **ब्रह्महृद**पदमिति वाच्यम्, ब्रह्मानन्दस्य महत्त्वेन हृदस्याल्पत्वेन तत्त्वोक्त्यनुपपत्तेः. 'आनन्द'पदं हित्वा **हृद**पदोक्तावश्यं तात्पर्यं वाच्यं, तत्तूक्तरूपमेव संभवति. एतेनैवाक्षरपरत्वं **ब्रह्म**पदस्य निरस्तं, तत्त्वस्य पूर्वमेवोक्तेश्च. मध्ये शब्दब्रह्मयोजनायां हेतुमग्रे वक्ष्यन्ति **प्रमाणतो ज्ञानमि**त्यादिना. एवं सत्यत्र हृदत्वमज्जनोक्तिभ्यां जलरूपतापि शब्दब्रह्मणोऽस्तीति मन्तव्यं, तदाहु**रत एवे**ति. एतस्यापि व्यापकत्वात् **क्वचिद्** गोकुलनिकटे प्रकटीकृत्येत्यर्थः. एवं कृतेरावश्यकतामाहुः **तत्कार्यमिदमि**ति. एतादृशानां पूर्वभावसम्पादनलक्षणं कार्यं प्रमाणतो ज्ञानं च तदेकसाध्यमित्यर्थः. अत्रोपपत्तिमाहु**रग्रे चे**ति, **यत्राक्रूरोऽध्यगात् पुरे**त्यनेन. तत्र हि शब्दब्रह्मात्मके जले भगवत्स्वरूपं स ज्ञातवानिति. 'मज्जन'पदार्थमाहुः **शब्दब्रह्मात्मका एव जाताः**. तत्र हेतु**रुत्तमाधिकारिण** इति. नन्वस्मादप्युद्धरणस्यावश्यकत्वे पूर्वस्मादेव किमिति नोद्धृत्य प्रकृतिभावं सम्पादितवानित्याशङ्क्य तत्र हेतुमाहुः **क्रमश्चायमि**त्यादिना. स्वकृतमर्यादास्थापनार्थं तथाकृतिरित्यर्थः. तमेवाहुः **परब्रह्मे**ति, परब्रह्मणा पूर्वं स्वस्मिन् स्थितं पश्चात् स्वस्माद् विभक्तं यद् वस्तु तच्छब्दब्रह्मात्मकं भवति. ततस्तेन तथाकृतं जगद्रूपं भवतीत्यर्थः. इदमत्राकूतम्— साक्षाल्लीलोपयोगि जगद्धि सच्चिदानन्दात्मकं स्वस्मिन् स्थितं क्रीडेच्छया स्वस्माद्विभक्तं करोति प्रभुः, यतोऽन्तःस्थितं न बहिःकार्यक्षमम्. तच्चानन्दस्वरूपाद्वियुक्तं सत् [४]स्वरूपमलभमानमिव न किञ्चित्कार्यक्षमं भवति. तदा प्रवृत्तिनिवृत्तिभ्यामलौकिकीभ्यामलौकिकार्थ-सम्पादनक्षमं शब्दब्रह्मेति तदात्मकतायां लीलोपयोगि प्रवृत्तिनिवृत्तिक्षमं भविष्यतीति ज्ञात्वा तथा सम्पाद्योक्तसामर्थ्ये सम्पन्ने तस्य प्रमाणरूपत्वाल्लीलायां प्रवृत्तिनिवृत्ती स्नेहाधीने इति

---

१. लुप्तम्. २. शब्दात्मका°. ३. °त्तम्. ४. स्वस्वरूप° मू. पा.

भगवता **त उद्धृताः, च**काराद् वेदैरपि भगवदाज्ञया, अन्यथा प्रमाणगृहीता लीलायां नोपयुक्ता भवेयुः. तर्ह्येतावत् कृतं व्यर्थमेवासीदित्याशङ्क्य प्रयोजनार्थं जातमित्याह **ददृशुरि**ति. शब्द**ब्रह्मणो लोकं ददृशु**र्यतस्तदार्द्रनयनास्तस्य न

टिप्पणी

न तदुपयोग इति तस्मादप्युद्धृता इति. एतदेवोक्त**मन्यथा प्रमाणगृहीता** इत्यादिना, लीला हि स्वतन्त्रा, एते प्रमाणाधीनत्वे विहितमेव कर्म कुर्युर्नेतरदपीति तत्रानुपयुक्ता भवेयुरित्यर्थः. यद्वा. प्रमाणमार्गगृहीतत्वं प्रमाणैकवशचित्तत्वम्, तच्च पुष्टिलीला-प्रवेशानधिकाररूपमेवेति तथेत्यर्थः. **तदार्द्रनयना** इति, जले निमग्नानामार्द्रे ते भवत एव. प्रकृते च तस्य शब्दब्रह्मात्मकत्वेन यादृशं श्रुतिसिद्धं भगवत्स्वरूपं तादृशमेव दृष्ट्यापि पश्यन्तीत्येतदेवार्द्रत्वम्. तदानन्दाश्रुभिरपि तथात्वं ज्ञेयम्. सर्वस्यापि प्रघट्टकस्य तात्पर्यरूपं गूढाभिसन्धिमुद्घाटयन्ति **ब्रह्मानन्दादि**ति.

यद्वा. ते तु **ब्रह्महृदं नीता** इत्यस्याभासः **ततो दर्शनानन्तरमि**त्यादि. अत्रायं भावः— अक्षरानन्दाल्लीलात्मकानन्दस्याधिकत्वेप्येतेषां तद्रूपत्वेन

योजना

ब्रह्महृदमित्यस्य विवृतौ **तदात्मकांशस्य लोकस्ये**त्यस्यार्थः, **काष्ठाग्निवदि**त्यस्यार्थः, **तेषां पुनः काष्ठता अर्धज्वलितानामपि सम्पादनीये**त्यस्यार्थः, **अन्यथाग्रे लीले**त्यस्यार्थः, **तच्च वेदात्मकब्रह्मणी**त्यस्यार्थः, **तद्धि तस्य जलात्मकमि**त्यस्यार्थः, **अत एव शब्दब्रह्मणः जलरूपते**त्यस्यार्थ**स्तत्कार्यमिदमे**तस्यार्थः, **अग्रे चे**त्यस्यार्थः, **उत्तमाधिकारिणो हि ते शब्दात्मका एवे**त्यस्यार्थः, **क्रमश्चायमि**त्यादेरर्थः, **अन्यथा प्रमाणगृहीता** एतस्यार्थष्टिप्पण्यां स्फुटः. **ददृशुर्ब्रह्मणो लोकमि**त्यस्य विवृतौ **तदार्द्रनयना** इत्यस्यार्थष्टिप्पण्यां स्फुटः. सुबोधिन्यां शब्दब्रह्मणो जलरूपतोक्ता सा तु युक्तैव, जलस्य शब्दात्मकतायाः स्फुटमभिधानात्. तथा चोक्तं पद्मपुराणे प्रयाग-माहात्म्ये श्रीयमुनायास्त्रिंशन्नामात्मकस्तोत्रे "त्रयी रसमयी सौरी ब्रह्मविद्या सुधावहे"ति. अनेन श्रीयमुनाजलस्य वेदत्रयीरूपतोक्तेति जलशब्दब्रह्मणोरभेदो ज्ञातव्यः ॥१५॥

॥ इतिश्रीमद्गोवर्धनधर-श्रीवल्लभाचार्यवर-श्रीविट्ठलेश्वरचरणानुचर-सेवकेन लालूभट्टोपनामदीक्षितबालकृष्णेन विरचिता दशमस्कन्धपञ्चविंशाध्याय-सुबोधिनीयोजना सम्पूर्णा ॥

टिप्पणी

तन्मध्यपातित्वेऽप्यक्षरानन्दस्येयदवध्यननुभवेन तारतम्याज्ञानाद् भगवता च लोकमध्य एव लीलाकरणात् स्वस्येतरलोकसाधारण्यं मन्यमानानां स मनोरथोऽभूत्. तत्पूर्त्यर्थं स्वलीलात्मकत्वांशं हस्तपिहितमिव कृत्वा साधारणीं रीतिं प्रकटितवान्. तस्यां तु सच्चित्प्राकट्यमेव जीवेषु, नानन्दांशस्य. तत्प्राकट्ये च ब्रह्मभावः सम्पद्यते. स चाक्षरानन्दांशभूतः. अक्षरानन्दाविभवि च जीवस्वरूपात्मकानन्दोऽपि तथाभूत्, बाह्याग्निसम्बन्धे दार्वन्तःस्थवह्निरिव. इदमेव **विलय**शब्देनोच्यते. अन्तरार्द्रदारुणो यथा बाह्यांश एवाग्नित्वं, तथैतेष्वग्रे लीलायाश्चिकीर्षितत्वेन तदात्मकत्वमार्द्रतास्थानीयमतो नाक्षरानन्दात्मकत्वसम्पत्तिः. बाह्यांशस्थानीयो जीवत्वांश एव. इदमेवार्धज्वलितत्वम्. अक्षरानन्दानुभवार्थं लीलात्मकत्वं यल्लीलात्मककार्यानुन्मुखं कृतवानासीत् साधारणीं च रीतिमप्रकटयत्तद्दूरीकृत्य पुनर्लीलाकार्योन्मुखत्वसम्पादनमेव काष्ठतासम्पादनम्. लोके ज्वलितांशस्य काष्ठता त्वशक्या कर्तुम्, अतस्तादृशमग्नितिरोधायकमपेक्षितं येन तत्तिरोधानं पुनः पूर्वरूपता च सम्पद्यते. तादृशं शब्दब्रह्मैव. अतो देहाद्यध्यासवत एव विषयीकृत्य देहधर्मरूपवर्णाश्रमधर्मान् कर्मज्ञानोपासनारूपान् निरूपयति. तत्सम्बन्धेऽक्षरानन्दाविर्भावाविर्भूतजीवस्वरूपात्मकानन्दतिरोभावेन जीवभावः सम्पद्यते. स चात्र पूर्ववल्लीलोपयोगित्वमेव. मूले ब्रह्मणो ह्रदत्वोक्त्या तस्य च जलरूपत्वेनैतस्य जलात्मकत्वमुच्यते. जलनिर्वाप्योऽग्निरिति तदपनेयस्याक्षरात्मकत्वस्याग्नित्वमुच्यते. अतः **क्वचिद्** गोकुलनिकट एव शब्दब्रह्म जलात्मकं प्रकटितवान्. अक्षरात्मकतातिरोधानमेव तत्कार्यम्. उक्तेऽर्थे प्रमाणमाहु**रग्रे च वक्ष्यती**ति, **यत्राक्रूरोऽध्यगात्पुरे**ति शेषः. तस्य जलमध्य एव तदवगमादेतद्वचनेन तदभेदोक्त्या ह्रदत्वोक्त्या च जलरूपत्वं शब्दब्रह्मणो निष्प्रत्यूहं मन्तव्यमिति भावः. सर्वांशेन तत्सम्बन्धज्ञापनार्था स्नानोक्तिः. **शब्दात्मका एव जाता** इति, ह्रदनयनोक्त्यैव तत्सम्बन्धप्राप्तावपि मज्जनोक्तेस्तदात्मकत्वमेव तस्यार्थ इति भावः. एवंकरणे हेतुमाहुः **क्रमश्चायमि**ति, पुष्टिमार्गप्रवेशनक्रम इत्यर्थः. शब्दब्रह्मणः सकाशात्परत्वेनाक्षरब्रह्मैव **परब्रह्म**शब्देनोच्यते. तथा च "मुक्तोपसृप्यव्यपदेशादा"दौ ब्रह्मभावाद्वैकुण्ठाद्वा पृथक्कृत्वा "न स पुनरावर्तत" इत्यादिवाक्यैस्तादृशानां पुनर्देहादिसम्बन्धस्य मर्यादाश्रुतिविरुद्धत्वात् ततोऽपि पृथक्कृत्वा पुष्टिलीलात्मकजगत्त्वसम्पादनमित्यर्थः. **अत एवे**ति, पुरुषोत्तमस्वरूपं

तावन्मात्रपर[1]त्वमिति ज्ञापयितुं राजानं प्रति शुक आह **यत्रैव** स्थानेऽ**क्रूरः पुरा पूर्वमध्यगाद्** भगवत्स्वरूपमधीतवान् ज्ञातवानित्यर्थः. प्रमाणतस्तत्रैव परिज्ञातवानत एतेषामपि प्रमाणतो ज्ञानं कारणीयमिति तथा कृतवान्—

> ब्रह्मानन्दाद् महानन्दो भजने वर्तते स्फुटः।
> तारतम्यं च विज्ञातुं प्रदर्श्योद्धृतवांस्ततः ॥(६)॥ ॥१५॥

टिप्पणी

साक्षाद्वक्तुमशक्तं कार्यद्वारा स्वानुभवज्ञापनद्वारा वा शक्तमित्यर्थः. यथा चैतत्तथा "मनोरथान्तं श्रुतयो यथा ययुरि"ति दृष्टान्तव्याख्यानविवरणे प्रपञ्चयिष्यते. **चकारादि**त्यादि, वेदास्तु मर्यादानिरूपकाः, ब्रह्मानन्दनिमग्नानां ततः पृथक्करणं न तत्सम्मतम्. अतः [2]श्रीकृष्णाज्ञारूपपुष्टिश्रुतिसम्मत्या पुष्टिलीलापरिगृहीता नास्मद्विषयाः किन्तु मर्यादामार्गीया एवेति स्वस्माद् भिन्नाः कृताः. तदेतदुक्तं **वेदैरपि भगवदाज्ञयोद्धृता** इति. एतस्यावश्यकत्वायाहु**रन्यथे**ति, मर्यादामार्गीयत्वे पुष्टावप्रवेशः स्यादित्यर्थः. **यतस्तदार्द्रनयना** इति, "नन्दादयस्तु तं दृष्ट्वा परमानन्दनिर्वृता" इत्यनुपदमेव वक्ष्यमाणत्वात्तदानन्दाश्रुभिस्तथेत्यर्थः. अथवा अग्रिमपदेनैतेषां प्रमाणतो ज्ञानकरणार्थं लोकं प्रदर्शितवानिति वक्ष्यमाणत्वाल्लोकदर्शनेन माहात्म्यज्ञानपूर्वकः स्नेह **आर्द्रनयनत्वोक्त्या** सूच्यते.

[3]नन्वेवं व्याकृतौ को हेतुः, यथाश्रुतव्याकृतेरपि साधीयसीत्वेन प्रतीयमानत्वात्[3]? तथाहि— अतिगभीरत्वेन [4]शुद्धत्वेन तापहारकत्वेन[4] ब्रह्मानन्द एव **ब्रह्मह्रद**पदेनोच्यते. यथा ह्रदे मग्नो बाह्यमर्थं न जानाति, तथा तदानन्दभरेण देहाद्यनुसन्धानरहिता जाता इति ज्ञापनाय मज्जनोक्तिः. ततः कृष्णेन पूर्णानन्देन ततो[5]गणितानन्दात्पृथक्कृताः देहाद्यनुसन्धानयुताः कृताः. तदा तल्लोकं ददृशुः. अत एव **ब्रह्मण** इति व्यस्तं पदमुक्तम्, दर्शनक्रियायाः पूर्वमसम्भवात्. एवं साधारणानां

कारिकार्थः

ते तु ब्रह्मह्रदं नीता इत्यत्र **ब्रह्मानन्दादि**ति स्फुटार्थकम् (६).
॥ इतिपञ्चविंशाध्यायकारिकाव्याख्या ॥

---

१. परम°. २. मूले 'श्रीकृष्ण' इति नास्ति. ३-३. नन्वेवमाचार्यैः कुतो व्याकृतम्, यथाश्रुतार्थस्यापि सुवचत्वात्. मू. पा. ४-४. तापहारकत्वेन शुद्धत्वेन च मू. पा. ५. 'ततो' इति नास्ति मूले.

ततो यद् जातं तत्पर्यवसितमाह **नन्दादय** इति.

नन्दादयस्तु तं दृष्ट्वा परमानन्दनिर्वृताः।
कृष्णं च तत्र च्छन्दोभिः स्तूयमानं सुविस्मिताः ॥१६॥

तं ब्रह्मलोकं **दृष्ट्वा नन्दादयः** प्राप्तस्वरूपाः **परमानन्देन निर्वृता** जाताः. तद्धि सर्वविघ्नानाशकमावरणनिवारकमतः प्रमाणेन तदनुभूय निर्वृताः, पूर्वं त्वेकरसतामापन्नाः. किञ्च **तत्रापि** मध्ये **कृष्णस्तं च** वेदाः स्तुवन्ति, अत आह **छन्दोभिः स्तूयमानं कृष्णं दृष्ट्वा** परमाश्चर्यं प्राप्ताः. तस्याप्येतत् फलं वैकुण्ठस्याप्येतत् फलमिति ज्ञात्वेतराभिलाषं परित्यज्य परमाश्चर्यरसे निमग्ना जाताः ॥१६॥

॥ इति श्रीमद्भागवतसुबोधिन्यां श्रीमद्वल्लभदीक्षितविरचितायां दशमस्कन्धविवरणे द्वितीये तामसप्रकरणेऽवान्तरसाधनप्रकरणे धर्मिनिरूपकसप्तमाध्यायस्य स्कन्धादितः पञ्चविंशाध्यायस्य विवरणम् ॥

टिप्पणी

व्यवस्थामुक्त्वा श्रीनन्दादीनां विशेषत आह **नन्दादय** इति. किञ्च, "दर्शयामासे"ति पूर्वं भगवत्कार्यमुक्त्वैतत्कर्तृकदर्शनं **ददृशुरि**त्यनेनोक्तम्. [1]एवं सति तावत्पर्यन्तमेकवाक्यतैवोचिता, न तु वाक्यभेद इति चेत्, स्यादेतदेवं यदि "दर्शयामासे"त्युक्त्वा विषयस्वरूपं चोक्त्वानुपदमेव **ददृशुरि**त्युक्तं स्यात्. उच्यते च [2]ब्रह्महृदप्रापणं तत्र मज्जनं तत उद्धृतिश्चेति क्रियान्तरसमुदायः[2], तत्रापि **तु**शब्देन पूर्वार्थव्यवच्छेदपूर्वकम्. त्वदुक्तरीत्या तु दर्शनात्पूर्वमेव तदानन्दे मज्जनमुक्तं भवति;. तच्च नोपपद्यते, हेत्वभावात्. किञ्च "दर्शयामासे"त्यनेनैवैतद्दर्शनस्य प्राप्तेस्त्वदुक्तरीत्या पुनस्तस्यैव दर्शनं **ददृशुरि**त्यनेन न वदेत्. तस्मादाचार्योक्त एव ग्रन्थार्थ इति ज्ञेयम् ॥१५॥ पञ्चविंशत्यध्यायविवरणं समाप्तम् ॥ ॥ इति साधनप्रकरणम् ॥

॥ इति पञ्चविंशोध्यायः ॥

॥ समाप्तं तामससाधनप्रकरणम् ॥

---

१. 'एवं सति' इति मूले नास्ति. २-२. ब्रह्महृदप्रापणादिः मू. पा.

॥ परिशिष्टम् ॥

॥ श्रीसाधनप्रकरणसुबोधिनीकारिकानुक्रमणी ॥

	अ. / श्लो.
अ	
अतो यागोपदेशश्च	२२/१९
अतो हेतूक्तिरप्येषा	२४/१
अतः सप्तभिरध्यायैर्	१९/१
अन्तःस्थानां कुमाराणां	१९/१
अन्यथा नन्दविज्ञानं	२५/१
अभिषेकश्च तैर्दृष्टो	२५/१
अज्ञानमन्यथाज्ञानं	२३/१
इ	
इतीन्द्रस्य महामोह-	२२/१
उ	
उपक्रमः कृतं चैव	२४/१४
उभयोर्हैतुकत्वार्थ-	२२/१
ए	
एकविंशे हैतुकस्य	२१/१
क	
कर्मज्ञाने वैदिके तु	२०/१
कालाद्युपासकश्चेत् स्यात्	२५/१
क्रियाशक्तिप्रधानोयं	२४/४
क्रोधोद्यमौ च वाक्यानि	२२/१
ग	
गोरक्षा चेद्धरिकृता	२४/१
च	
चतुर्विंशे भगवतो	२४/१
त	
ततो माहात्म्यविज्ञानं	२५/१
तथात्वसाधनं तस्य	२०/३७
तामसान् राजसांश्चैव	२१/१
न	
निरूप्यते गोपिकानां	१९/१
प	
पञ्चविंशे तु वरुणान्	२५/१
पश्चात्तापो विगर्हा च	२०/३७
पूर्वपक्षश्च सिद्धान्तः	२३/१
पूर्वानुवादस्तत्रैव	२०/२५
प्रथमं क्लेशसम्बन्धः	२२/१९
ब	
ब्रह्मानन्दाद् महानन्दो	२५/१६
ब्राह्मणानामयं धर्मः	२०/३७
म	
मर्यादास्थापनार्थाय	२२/१९
माहात्म्यदर्शनं हेतुः	२३/१
य	
यथा प्रबोधिता विप्रा	२१/१
यथा रक्षा सुसंसिद्धा	२१/१
व	
विद्यापञ्चकमत्रापि	१९/१
विरोधात् प्राकृतत्वेन	२३/१
व्रजं गोवर्धनं धृत्वा	२२/१

	अ. / श्लो.
श	
शरणागतसंरक्षा	२२/१८
स	
सङ्ग्रामे च प्रपन्नानां	२२/१८
सच्चिदानन्दरूपाय	२४/११
संस्काराणामहेतुत्वं	२०/३७
साक्षाद् भगवतोक्तं हि	२०/१
स्तुतियोग्यः स्तुतिं कुर्यात्	२५/४
स्त्रीणां वस्त्राणि जगृहे	२१/१
स्त्रीपुंसोः सहभावेन	१९/१
स्वयं वा स्वामिभावेन	२४/१
ह	
हेतुशास्त्रमिदं यस्माद्	२२/१
हैतुके फलभोक्ताय-	२२/१
हैतुकं शास्त्रमाश्रित्य	२१/८
क्ष	
क्षमापनं नमस्कारैः	२०/३७
ज्ञ	
ज्ञानं कर्म च विद्यायां	१९/१

॥ श्रीसाधनप्रकरणश्लोकपादानुक्रमणी ॥

	अ. / श्लो.
अ	
अजानता मामकेन	२५/७
अत्यासारातिवातेन	२२/११
अत्रागत्याबलाः	१९/१०½
अथ गोपैः परिवृतो	१९/२९½
अथानुस्मृत्य विप्रास्ते	२०/३७
अथापि ह्युत्तमश्लोके	२०/४२
अथाह भगवान् गोपान्	२२/२०
अथाह सुरभिः कृष्ण-	२४/१८
अद्य मे विधृतो देहो	२५/५
अनांस्यनडुद्युक्तानि	२१/३४
अन्यथा पूर्णकामस्य	२०/४४
अन्येभ्यश्च श्वचाण्डाल-	२१/२८
अपर्तावुल्बणं वर्ष-	२२/१५
अस्तस्वपरदृष्टीनां	२१/५
अस्ति चेदीश्वरः कश्चित्	२१/१४
अहो एषां वरं जन्म	१९/३३½
अहो पश्यत नारीणा-	२०/४०अ
अहो वयं धन्यतमा	२०/४८
अहो श्रीमदमाहात्म्यं	२२/३
अहं चैरावतं नाग-	२२/७
आ	
आजीव्यैकतरं भावं	२१/१९
आप्लुत्याम्भसि कालिन्द्या	१९/२
आशीविषं तमाहीन्द्रं	२३/१२
इ	
इति गोगोकुलपतिं	२४/२८
इति ते भगवद्याच्ञां	२०/९
इति नन्दवचः श्रुत्वा	२३/२४
इति प्रवालस्तबक-	१९/३६½
इति मन्त्रं जपन्त्यस्ताः	१९/४½
इति विज्ञापितो गोपै-	२०/२
इति सञ्चिन्त्य भगवान्	२५/१३
इति स्वाधमनुस्मृत्य	२०/५१
इति स्वानां स भगवान्	२५/११
इत्यच्युतेनाभिहिता	१९/२०½
इत्थं मघवताज्ञप्ता	२२/८
इत्यद्धा मां समादिश्य	२३/२३
इत्यद्रिगोद्विजमखं	२१/३८
इत्यादिष्टा भगवता	१९/२८½
इत्यादिष्टा भगवता	२०/५
इत्युक्ता द्विजपत्न्यस्ता	२०/३३
इत्युक्त्वैकेन हस्तेन	२२/१९
इन्द्रस्तदात्मनः पूजां	२२/१
इन्द्रं नस्त्वाभिषेक्ष्यामो	२४/२१
इन्द्रः सुरर्षिभिः साकं	२४/२३
उ	
उपहृत्य बलीन् सर्वा-	२१/३३
उषस्युत्थाय गोत्रैः स्वैः	१९/६½

अ. / श्लो.

ए

एकहायन आसीनो २३/६
एकादश्यां निराहारः २५/१
एतद् ब्रूहि महान् कामो २१/४
एतावद् जन्मसाफल्यं १९/३५ १/२
एतन् मम मतं तात २१/३०
एवं कृष्णमुपामन्त्र्य २४/२२
एवं प्रसादितः कृष्णो २५/८
एवं ब्रुवति गोविन्दे १९/१३ १/२
एवं मासं व्रतं चेरुः १९/५ १/२
एवं लीलानरवपुर् २०/३६
एवंविधानि कर्माणि २३/१
एवं सङ्कीर्तितः कृष्णो २४/१४
एष वः श्रेय आधास्यद् २३/१९
एषां श्रियावलिप्तानां २२/६
एषोवजानतो मर्त्यान् २१/३७

क

कथ्यतां मे पितः कोऽयं २१/३
कर्मणा जायते जन्तुः २१/१३
कात्यायनि महाभागे १९/४
कालात्मना भगवता २१/३१
किमिन्द्रेणेह भूतानां २१/१५
कुतो नु तद्धेतव ईश तत्कृता २४/५
कृषिवाणिज्यगोरक्षा २१/२१
कृष्ण कृष्ण महाभाग २२/१३
कृष्ण कृष्ण महायोगिन् २४/१९
कृष्णयोगानुभावं तं २२/२४
कृष्णस्त्वन्यतमं रूपं २१/३५

अ. / श्लो.

कृष्णेऽभिषिक्त एतानि २४/२७
कच्चिद्वैयङ्गवस्तैन्ये २३/७
क सप्तहायनो बालः २३/१४

ख

खं व्यभ्रमुदितादित्यं २२/२५

ग

गणं संवर्तकं नाम २२/२
गत्वाथ पत्नीशालायां २०/१५
गन्धैर्माल्यैः सुरभिभिर् १९/३
गम्यतां शक्र भद्रं वः २४/१७
गाश्चारयन्तावविदूर ओदनं २०/७
गाश्चारयन् स गोपालैः २०/१७
गृह्णन्ति नो न पतयः २०/३०
गोवर्धने धृते शैल २४/१

च

चतुर्विधं बहुगुण- २०/१९
चुक्रुशुस्तमपश्यन्तः २५/३

ज

जनो वै लोक एतस्मिन् २५/१२

त

तच्छेषेणोपजीवन्ति २१/१०
ततस्ते निर्ययुर्गोपाः २२/२७
ततो जलाशयात् सर्वा १९/१७ १/२
ततोनुरक्तैः पशुपैः २२/३३
तत् तात वयमन्ये च २१/९
तत्र गत्वौदनं गोपा २०/४
तत्र गाः पाययित्वापः १९/३७ १/२
तत्र तावत् क्रियायोगो २१/७

अ. / श्लो.

तत्र प्रतिविधिं सम्यक् २२/१६
तत्रागतास्तुम्बुरुनारदादयो २४/२४
तत्रैका विधृता भर्त्रा २०/३४
तथा च व्यदधुः सर्वं २१/३२
तथानिर्विविशुर्गर्तं २२/२२
तदभिज्ञोऽपि भगवान् २१/२
तदुपाकर्ण्य भगवान् २०/१३
तद् ब्रह्म परमं साक्षाद् २०/११
तद् यात देवयजनं २०/२८
तं गृहीत्वानयद् भृत्यो २५/२
तं तुष्टुवुर्देवनिकायकेतवो २४/२५
तं प्रेमवेगान् निभृता २२/२९
तवावतारोयमधोक्षजेह २४/९
तस्मात् सम्पूजयेत् कर्म २१/१८
तस्माद् गवां ब्राह्मणानां २१/२७
तस्मान् नन्द कुमारोयं २३/२२
तस्मान् मच्छरणं गोष्ठं २२/१८
तस्मै नमो व्रजजनैः २१/३६
तस्य तत् क्ष्वेलितं दृष्ट्वा १९/१२ १/२
तस्या उपवने कामं १९/३८ १/२
तासां वासांस्युपादाय १९/९ १/२
तासां विज्ञाय भगवान् १९/२४ १/२
तास्तथा त्यक्तसर्वाशाः २०/२४
तास्तथावनता दृष्ट्वा १९/२१ १/२
ते तु ब्रह्महृदं नीता २५/१५
ते त्वौत्सुक्यधियो राजन् २५/१०
तोकेन मीलिताक्षेण २३/४
त्वं नः परमकं दैवं २४/२०

अ. / श्लो.

त्वयेशानुगृहीतोऽस्मि २४/१३

द

दिवि देवगणाः साध्याः २२/३१
दीक्षायाः पशुसंस्थायाः २०/८
दुस्त्यजश्चानुरागोऽस्मिन् २३/१३
दृढं प्रलब्धास्त्रपया च हापिताः १९/२२ १/२
दृष्टश्रुतानुभावस्य २४/३
दृष्ट्वा स्त्रीणां भगवति २०/३८
देवे वर्षति यज्ञविप्लवरुषा २३/२५
देशः कालः पृथग् द्रव्यं २०/१०
देशः कालः पृथग् द्रव्यं २०/४६
देहानुभावचान् जन्तुः २१/१७

ध

धिग् जन्म नस्त्रिवृद्विद्यां २०/३९

न

नते यदोमिति प्रोचुर् २०/१२
न त्रास इह वः कार्यो २२/२१
नद्यां कदाचिदागत्य १९/७ १/२
ननु स्वार्थविमूढानां २०/४३
न नः पुरो जनपदा २१/२४
नन्दस्त्वतीन्द्रियं दृष्ट्वा २५/९
नन्दादयस्तु तं दृष्ट्वा २५/१६
नन्वद्धा मयि कुर्वन्ति २०/२६
न प्रीतयेऽनुरागाय २०/३२
न मयोदितपूर्वं वा १९/११ १/२
न मय्यावेशितधियां १९/२६ १/२
नमस्तुभ्यं भगवते २०/४९

	अ. / श्लो.
नमस्तुभ्यं भगवते	२४/१०
नमस्तुभ्यं भगवते	२५/६
नमो वो विप्रपत्नीभ्यो	२०/१६
नहि मद्भावयुक्तानां	२२/१७
नानारसौघाः सरितो	२४/२६
नासां द्विजातिसंस्कारो	२०/४१
निदाघार्कातपे तिग्मे	१९/३० १/२
निर्यात त्यजत त्रासं	२२/२६
निषिध्यमानाः पतिभिः	२०/२०
नूनं भगवतो माया	२०/४०
प	
पच्यन्तां विविधाः पाकाः	२१/६२
पतयो नाभ्यसूयेरन्	२०/३१
पत्रपुष्पफलच्छाया	१९/३४ १/२
परिधाय स्ववासांसि	१९/२३ १/२
पर्जन्यो भगवानिन्द्रो	२१/८
पश्यतैतान् महाभागान्	१९/३२ १/२
पिता गुरुस्त्वं जगतामधीशो	२४/६
पुरानेन व्रजपते	२३/२०
प्रयात देवयजनं	२०/३
प्रलम्बं घातयित्वोग्रं	२३/११
प्रागयं वसुदेवस्य	२३/१७
प्राणबुद्धिमनःस्वात्म-	२०/२७
प्राप्तं वीक्ष्य हृषीकेशं	२५/४
प्रायः श्रुतप्रियतमोदय-	२०/२३
ब	
बहूनि सन्ति नामानि	२३/१८
बालकस्य यदेतानि	२३/२

	अ. / श्लो.
भ	
भगवानपि गोविन्दः	२०/३५
भगवानपि तत्रैव	२१/१
भगवानपि तं शैलं	२२/२८
भगवानाह ता वीक्ष्य	१९/१८ १/२
भगवांस्तदभिप्रेत्य	१९/८ १/२
भवत्यो यदि मे दास्यो	१९/१६ १/२
म	
मया तेकारि मघवन्	२४/१५
मयेदं भगवन् गोष्ठ-	२४/१२
मानयं भोः कृथास्त्वां तु	१९/१४ १/२
मामैश्वर्यश्रीमदान्धो	२४/१६
मां ज्ञापयत पत्नीभ्यः	२०/१४
मैवं विभोऽर्हति भवान्	२०/२९
य	
य एतस्मिन् महाभागाः	२३/२१
य एवं विसृजेद् धर्मं	२१/११
यथादृढैः कर्ममयैः	२२/४
यमुनोपवने शोक-	२०/२१
यशोदा रोहिणी नन्दो	२२/३०
यः सप्तहायनो बालः	२३/३
याताबला व्रजं सिद्धा	१९/२७ १/२
यूयं विवस्त्रा यदपो	१९/१९ १/२
ये मद्विधाज्ञा जगदीशमानिनः	२४/७
र	
रजसा चोदिता मेघा	२१/२३
राम राम महावीर्य	२०/१

	अ. / श्लो.
व	
वचो निशम्य नन्दस्य	२१/१२
वत्सेषु वत्सरूपेण	२३/९
वने सञ्चारयन् वत्सान्	२३/८
वर्णास्त्रयः किलास्यासन्	२३/१६
वर्तेत ब्रह्मणा विप्रो	२१/२०
वाचालं बालिशं स्तब्धं	२२/५
विद्योतमाना विद्युद्भिर्	२२/९
विविक्त उपसङ्गम्य	२४/२
विशुद्धसत्त्वं तव धाम शान्तं	२४/४
श	
शिरः सुतांश्च कायेन	२२/१२
शिलावर्षनिपातेन	२२/१४
शङ्खदुन्दुभयो नेदुर्	२२/३२
श्यामसुन्दर ते दास्यः	१९/१५ १/२
श्यामं हिरण्यपरिधिं	२०/२२
श्रुत्वाच्युतमुपायान्तं	२०/१८
श्रूयतां मे वचो गोपा	२३/१५
स	
स एष भगवान् साक्षात्	२०/४७
सङ्कल्पो विदितः साध्व्यो	१९/२५ १/२

	अ. / श्लो.
सत्त्वं रजस्तम इति	२१/२२
स त्वं ममैश्वर्यमदप्लुतस्य	२४/८
सत्यं ज्ञानमनन्तं यद्	२५/१४
स वैष आद्यः पुरुषः	२०/५०
स्थूणास्थूला वर्षधाराः	२२/१०
स्वच्छन्दोपात्तदेहाय	२४/११
स्वभावतन्त्रो हि जनः	२१/१६
स्वलङ्कृता भुक्तवन्तः	२१/२९
स्वागतं वो महाभागाः	२०/२५
ह	
हत्वा रासभदैतेयं	२३/१०
हित्वान्यान् भजते यं श्रीः	२०/४५
हित्वतोधःशयानस्य	२३/५
हूयन्तामग्नयः सम्यग्	२१/२७
हे कृष्ण स्तोक हे अंशो	१९/३१ १/२
हे भूमिदेवाः शृणुत	२०/६
हेमन्ते प्रथमे मासि	१९/१
क्ष	
क्षुत्तृड्व्यथां सुखापेक्षां	२२/२३
ज्ञ	
ज्ञात्वाज्ञात्वा च कर्माणि	२१/६

॥ प्रथमं परिशिष्टम् ॥

॥ स्वतन्त्रलेखाः ॥

१. श्रीमत्प्रभुचरणानां लेखाः ।

(१)

गोप्यः किमाचरदयं कुशलं स्म वेणुः
दामोदराधरसुधामपि गोपिकानाम्।
भुङ्क्ते स्वयं यदवशिष्टरसं ह्रदिन्यो
हृष्यत्त्वचोऽश्रु मुमुचुस्तरवो यथार्याः॥
(१०।१८।९).

यद्वा अयं वेणुः **किं कुशलं** कीदृशं कौशलम् आचरत्? तद् दृष्टं युष्माभिः नवा इति पृच्छन्त्यः इव आहुः **कुशलम्** इति, भावप्रधानो निर्देशः. तेन भावस्य अस्य अनिर्वचनीयत्वम् अन्यावेद्यत्वं च द्योतितम्. अतः तादृशानाम् अस्माकं सर्वासाम् इति बोधयितुं सम्बोधनं **गोप्यः** इति. तर्हि कथं द्रष्टव्यम् इति अपेक्षायाम् आहुः **स्म** इति, विचारतः स्फुटमेव इति अर्थः. यो अस्माभिः अचेतनत्वेन सर्वदा व्यवहृतः सोऽयं चेतनादपि अधिकं कृतवानिति अत्याश्चर्येण आहुः **अयम्** इति. निःसारस्य ततोऽपि आश्चर्यं तद् इति आहुः **वेणुः** इति. ननु किं तत्कौशलम्? इत्यतः आहुः **दामोदरसुधाम्** इति, या सुधा अस्माभिः कियता साधनेन सम्भूय भुज्यते तां स्वयम् एको भुङ्क्ते अद्वितीयो असाधनः च इति अर्थः. इदम् अस्य कौशलमेव. अन्यच्च तां भुक्त्वापि तल्लक्षणं पुलकम् आर्द्रतां च न प्रकटयति. यदि प्रकटयेत् तदा पल्लवितः आर्द्रः च भवेत्. तथा सति वादयितुम् अयोग्यत्वाद् आत्मानं प्रभुः त्यक्ष्यति इति ज्ञात्वा. यस्याः स्वल्पपानेऽपि अस्माकं तल्लक्षणं निवारयितुम् अशक्यं, ताम् अयं यथेष्टं भुञ्जानोऽपि न तल्लक्षणं प्रकटयति. अतो रसस्वभावमपि अन्यथाकृत्वा स्वस्वभावप्रकटनं च अस्य कौशलम्. अतएव अस्माकम् आर्द्रतां दृष्ट्वा कियत्कालविरहेण एताः न नङ्क्ष्यन्ति इति मन्वानो अस्मत्प्राणनाथो अस्मान् व्रजे विहाय वेणोः अनार्द्रतां च दृष्ट्वा— "मां विना अयं क्षणमपि स्थातुं न शक्ष्यति" इति मन्वानः तं करे गृहीत्वा वने विजयम् अकृत, तद् अस्माकम् अकौशलादेव इति भावः. ननु अस्य भोगाभावएव कुतो

न उच्यते तल्लक्षणाभावाद् इत्यतः आहुः **यदवशिष्टरसम्** इति. अयं भावः— यदि अस्यैव भोगो न स्यात् तदा कथं ह्रदिन्यादीनाम् अवशिष्टभोगः स्यात्? तेषां च पुलकादिकं जातमेवेति न भोगः सन्दिग्धः इति. नच अयं रसिको न भविष्यति इति मन्तव्यं, यत्र परम्परासम्बन्धेऽपि रसस्वभावाद् जड़ानामपि ह्रदिन्यादीनां रसिकत्वं जायते, तत्र साक्षादधरसम्बन्धे अस्य तथात्वे किं वाच्यम्! इति उपपत्तेः. अतः स्वकौशलम् अस्य भोगहेतुः अस्माकं स्वाकौशलम् अतद्धेतुरिति किम् अस्य उपालम्भनेन! इति हृदयम्.

यद्वा **अयं वेणुः** अस्माकं **किं कुशलं** क्षेमम् **आचरत्!** न किमपि इति अर्थः. ननु किम् अस्माभिः उपकृतं यद् अयमपि उपकरिष्यति? इत्यतः आहुः **अयम्** इति, यो अस्मत्प्राणवल्लभेन रसपारवश्याद् विस्मृतो अस्माभिः स्मारितः कदाचिद् वादयितुमपि उक्तः, सो अयम् इति अर्थः. तदैव चेद् अन्यथाकृतः स्यात् कथम् अधुना अयं सुधाभोगं कुर्यात्? अतः तथाकरणाभावाद् महान् उपकारः कृतः इति भावः. अथवा ननु रासाद्यर्थम् अनेन वयम् आहूताः, तत् कथं कुशलं न कृतम्? इति अपेक्षायाम् आहुः **अयम्** इति, सम्प्रति वाद्यमानो अयं तथा उच्यते नतु तदानीन्तनः इति अर्थः. ननु कथम् इयदवधि तदज्ञानम् अस्माकम्? इति आशङ्क्य स्वमौग्ध्यादेव इति आहुः **गोप्यः** इति. ननु कियद् अस्य सामर्थ्यं येन अस्मदुपकारको भविष्यति? इति चेत्, तत्र आहुः **वेणुः** इति, एतावद् अस्य सामर्थ्यं येन ब्रह्मानन्दविषयानन्दावपि अणूकरोति, तस्य किम् अन्यद् असामर्थ्यम् इति भावः. ननु तथा सामर्थ्ये अस्य को हेतुः? इति आशङ्क्य आहुः **दामोदरसुधाम्** इति, या सुधा सर्वतो अधिका दुर्लभा च ताम् अयं भुङ्क्ते अतः किम् आश्चर्यम् इतरानन्दतुच्छीकरणे इति भावः. ननु कुशलं न कृतं चेद् अकुशलं किं कृतं यद् एवम् उच्यते? इत्यतः आहुः **गोपिकानाम्** इति, इयं सुधा अस्माकमेव, सर्वतः तदपहरणाद् अन्यः को वा अपकारो भविष्यति! इति भावः. यद्वा ननु यथा एतावतीभिः अस्माभिः भुज्यते तथा तेनापि! इत्यतः आहुः **गोपिकानाम्** इति, यदा इयं सुधा अस्माभिः भुज्यते तदा अस्मदीयापि अधरसुधा प्रियेण भुज्यते. एवं सति तदधरसुधायाम् अस्मदीयापि सा तिष्ठतु, निरन्तरं भोगाभ्यासात्. अतः तस्या भोगे इतरस्यापि भोगः सम्भवति. तदस्य पुरुषत्वाद् अस्माकम् अकुशलं महदेव इति सर्वम् **अपिशब्देन** ध्वन्यते. ननु अस्य

को दोषः प्रियएव चेत् प्रयच्छति? इत्यतः आहु **स्वयम्** इति, दामोदरत्वात् स एवं न करोति इत्यतः स्वयमेव तथा इति अर्थः. ननु स्वार्थपरस्य किम् अस्मत्कुशलेन वा? इत्यतः आहुः **यदवशिष्ट**...इत्यादि. वस्तुतः स्वार्थोऽपि न अनेन साधितः परार्थो वा. स्वार्थपक्षे स्वयमेव भुञ्जीत परार्थपक्षे यदीया सुधा ताभ्यएव दातव्या स्यात्. अनेन द्वयमपि न कृतं यो ह्रदिन्यादिभ्यो दत्तवान्. तथा सति तदज्ञाने अस्माकमपि खेदो न स्याद् इति आशयेन आहुः **हृष्यत्त्वचोश्रु मुमुचुः** इति. अपिच एतद्रसभोक्तुः अवश्यं लज्जा अपेक्षिता, विशेषतः स्त्रीणाम्. अतः तरूणां पुरुषत्वाद् अलज्जता युक्तापि; परं ह्रदिन्यः स्त्रियो भूत्वा कथम् एवं जाताः! इति आशयेन दृष्टान्तम् आहुः **यथार्याः** इति, यथा शास्त्रीयभक्ताः कुर्वन्ति तथा चक्रुः इति **आर्यपदेन** सूचितम्. किञ्च— "यस्य यो अर्थो अपेक्षितः तस्मै स देयः" इति दानव्यवस्था. एवं सति नद्यः तरवः च स्वभावतएव आर्द्राः तेषां न पुनः आर्द्रता अपेक्षिता. साम्प्रतम् अनार्द्रत्वाद् अस्माकञ्च सा अपेक्षिता. तस्माद् अस्मान् विहाय नदीं तरूं च आर्द्रयति — इति महती अनौचिती दर्शिता.

यद्वा अलं तावद् अस्मत्कुशलाकुशलवार्तया; यतो वयं स्त्रियो व्रजस्थाः च, अयं पुरुषो वनस्थः च; इति न कोऽपि सम्बन्धो अस्माकम् अनेन! परम् एतद् विचार्यतां— किम् अयं स्वस्यापि कुशलम् आचरत्! नैव आचरद् इति काकूक्तिः. **कथम्**? इति अपेक्षायाम् आहुः **अयं वेणुः** इति, यतः पुरुषो वाद्यविशेषः **च** इति अर्थः. अयम् अभिप्रायः — योहि यत्फलार्थं साधनं करोति स तेनैव साधनेन तत्फलयोग्यतामपि प्राप्नोति, नतु तदर्थं साधनान्तरम् अपेक्ष्यते. तथाच यथा पूर्वं श्रुतयो वयम् एतद्रसभोगार्थं किञ्चित् कुशलं कृतवत्यः, तेनैव कुशलेन एतद्रसयोग्यतारूपं गोपीत्वमपि प्राप्तवत्यः, तथा अनेनापि चेद् एतद्रसार्थं तत् कृतं स्यात्, तदा अस्मदादिवद् एतदनुभवयोग्यतापि प्राप्येत. अतः **तदभावात्** कुशलं न कृतमेव इति लक्ष्यते. किञ्च वयं शब्दात्मिकाअपि भूत्वा गोपीत्वम् अन्तरेण न एतद्भोगे अधिकृताः. अयं तु शब्दब्रह्मोत्पत्तिस्थानभूतो नतु तदात्मकत्वमपि प्राप्तः. अतो अयं तावद्, अपि कुशलं न अकरोद् येन अस्मत्पूर्वरूपशब्दब्रह्मतामपि प्राप्नुयात्, कुतस्तराम् एतद्रसप्रापकं कुशलम् अस्य? अपिच वाद्येन हि रसो न भुज्यते किन्तु उद्बोध्यते, भोगस्तु रसालम्बनानाम् अस्माकमेव

सिध्यति इति रसशास्त्रसिद्धान्तः; परं साक्षात् तदधररस-सम्बन्धमात्र-सम्पादकं किञ्चित् कुशलं वेणुत्वाद् अस्य प्रसिद्धम् इति आहुः **स्म** इति. अन्यथा वंशान्तरेषु कथम् अयमेव वेणुभावम् आपद्यते इति भावः. ननु रसो अनेन भुज्यते अस्माभिरपि दृश्यते ततः किम् अस्मत्कथनेन? इति चेत्, तत्र आहुः **गोप्यः** इति, स्वमौग्ध्यादेव भोगप्रतीतिः वस्तुतो न तथा इति भावः. ननु प्रियेण अस्मिन् सुधा पूरितेति भोगे किम् अवशिष्टम्? इत्यतः आहुः **दामोदरसुधाम्** इति. सत्यं पूरणाभिप्रायेण ताम् अयं भुङ्क्ते तथापि किम् अयं स्वयं भुङ्क्ते! स्वयं न भुङ्क्तएव इति काकूक्तिरपि अत्र **अपि**शब्देन ध्वन्यते, पूरणस्य अन्यार्थकत्वात्. यथा श्रीयशोदया पूर्वम् उलूखले बद्धः ततो भीत्यनुकरणं दृष्ट्वा स्नेहातिशयाद् अधरे चुम्बितः च — इति चुम्बनमात्रेण न तत्सुधाभोगः तस्याः वक्तुम् उचितः, तथा अधिकाराभावाद्; एवम् अत्रापि इति तात्पर्येण **दामोदर**पदम् उक्तम्. अपरञ्च यो बाल्येऽपि रोषभावेन मात्रा वशीकृतः सो अस्मद्भोगदशायाम् अस्मद्रसभावेन वशीभवन् कथम् अस्मत्प्रतिकूलम् आचरिष्यति इति च **दामोदर**पदध्वनिः, यो दाम्ना बद्धः सो अस्मत्प्रणयेन किं न बद्धो भविष्यति इति च ध्वनिः. तेन स्वरूपतो अस्य तदप्राप्तिः इति सूचितम्. लोभात्मकत्वाद् अधरस्य स्थानतोऽपि न तत्प्राप्तिः. **अधर**पदेन नीचदेशोऽपि उच्यते. तथाच यथा उच्चदेशस्थितो रसः, स्वतोऽपि पतन्, मुखे समायातीति नीचस्थितस्तु तदाहरणक्रिययैव गृहीतो भवति नतु अन्यथा, तथा अयमपि रसः स्वप्रयत्नादेव अनुभूतो भवति, अनुभवसाक्षिकत्वात्. अतो वेणोः क्रियाराहित्यात् कथम् एतद्रसानुभवः स्याद् इति भावः. स्त्रियाः स्वरूपप्रकटनं स्त्रीणामेव अग्रे सम्भवति, नतु रसभरदशाम् अन्तरेण स्वस्य पत्युरपि, किं पुनः पुरुषान्तरस्य! अतो रसस्वभावतो न अस्य तत्प्राप्तिः इति **सुधा** इति स्त्रीलिङ्गनिर्देशेन द्योतितम्. ननु एवं सति पूरणस्य अन्यार्थकत्वेन यदर्थे पूरणं सो अन्यः कः? इति अपेक्षायाम् आहुः **गोपिकानाम्** इति, अस्माकम् अर्थे पूरिताम् इति शेषः. **गोपिका**पदेन तात्पर्यान्तरम् अभिव्यज्यते. तथाहि — चातुर्यानभिज्ञः पतिमत्यः च वयम्. अतो दिवसे तत्र गन्तुम् अशक्ताः. तद् अस्मत्प्राणपतिः स्वयं विदित्वा अस्मद्भोग्यसुधाम् अस्मासु प्रापयिष्यन् अस्मत्पूर्वरूपशब्दब्रह्मणि ताम् अपूरयत्. अतः पूरणसमये यथा अस्माभिरेव सा भुक्ता नतु अनेनेति सर्वम् उपपन्नम्. अस्तु वा पूरणान्यथानुपपत्त्या अस्य भोगः, तथापि स्वयं

तदधरसुधां भुङ्क्ते, नतु अस्मान् इव स्वाधरसुधां तं पाययति. तथा सति अस्मद्भोगे महानेव विशेषः. अतः किम् अस्य तद्भोगेनापि इति भावः. किञ्च भुङ्क्ते नतु पिबति. तथाच पेयो रसः पानादेव रसत्वम् आपद्यते. तच्च रसनेन्द्रियसापेक्षत्वाद् अस्य अनुपपन्नम्, अतो **भुङ्क्ते** इति उक्तम्. यद्यपि भोजनमपि तत्सापेक्षं तथापि गिलनेन उदरपूर्तिमात्रम् अत्र 'भोग'पदार्थो नतु रसस्वरूपं ज्ञात्वा तदास्वादपूर्वकं ग्रहणम्. गिलनमपि न स्वप्रयत्नतः, तथा सति रसज्ञानं रसस्पर्शो वा सम्भाव्येत. अतः प्रभुप्रयत्नएव. तेन श्रीशुकोऽपि भगवत्कर्तृकमेव तत्पूरणं न्यरूपयद् "अधरसुधया पूरयन्" इति. तस्माद् आतृप्तेः स्वरुच्या पीतो रसो न उद्गीर्णो भवति न अपकारं वा जनयति, परेच्छया पीतस्तु स्वल्पोऽपि तथा भवति. अतो अस्य तदुद्गीरणम् इति आशयेन आहुः **यदवशिष्ट**...इत्यादि. भुक्तस्यैव उद्गीरणं नतु अंशान्तरस्य इति मन्तव्यम्. अन्यथा अयञ्च अन्येषां रसः पेपीयमानः स्वस्यैव तृप्तिं न भावयति कुतस्तराम् अवशेषः तत्पानम्! अपिच यदि भुक्तसुधांशो अत्रैव तिष्ठेत् तदा अयमपि तज्जनितपुलकादिकम् अवश्यम् आविष्कुर्याद्, अस्माकं तथा अनुभवाद् एतदवशिष्टरसपातृणां च तथादर्शनात्. अतो अस्य भोगक्रिया उक्ता — अन्येषां तद्धर्मप्रकटनक्रिया उक्ता. अन्यच्च — भगवतोऽपि न एतद्रसस्थैर्यम् अस्मिन् अभिप्रेतं किन्तु अन्यत्र प्रेषणमेव. अन्यथा एकेन रन्ध्रेण पूरणसम्भवे "रन्ध्रान् वेणोरधरसुधया" इति वाक्ये 'रन्ध्रान्' इति बहुवचनेन प्रवेशनिर्गमनरन्ध्राणां युगपत्पूरणं न सङ्गच्छेत. तथाच अत्र स्थित्यभावात् प्रवेशनिर्गमनयोः एककालीनत्वेन यदा एकरन्ध्रे प्रविष्टा तदैव रन्ध्रान्तरेषु निस्सरन्ती सुधा सर्वत्र युगपत् पूरिता भवति इति सिद्धम्. यथा पात्रे पूरितो रसः तेन भुक्तो न भवति; तथा मार्गत्वेन अस्मिन् पूरिता सुधापीति न अस्माकं कापि हानिः प्रत्युत ह्रदिन्यादीनां सुधासंवलित-नादमार्गीभूयः अस्मत्सम्बन्धि-लीलोपयोगित्वं सम्पादयति. अन्यथा तत् न स्यात्. अतः सुतराम् इष्टापत्तिरेवेति सर्वम् अवदातम्.

भावोऽयं गोकुलाधीशप्रियाणामनुवर्णितः।
साधिकारं स्वविषयं तनोतु मयि वर्णके॥

(२)

तामसा राजसाश्चान्ये गुणातीताश्च रूप्यते।
वृन्दावनं गुणातीतं मुनयश्चापि पक्षिणः॥
गोवर्धनश्च त्रितयं गुणातीतमिह स्थितम्।
तद्रताश्चापि लोकेऽस्मिन् गुणातीता भवन्ति हि॥
(१०।१८।११ इत्यत्र कारिका).

पक्षिणां मुनित्वेन मननशीलतया सात्त्विकत्वम् आशङ्क्य निर्गुणत्वं वक्तुं तत्प्रकारम् आहुः **वृन्दावनम्** इति. **वृन्दावनम्** आधिदैविक-भगवच्चरणात्मकतया **गुणातीतं**; तथा गोवर्धनोऽपीति पक्षिणामपि "यो यच्छ्रद्धः सएव स" इति वाक्याद् वृन्दावनरतत्वेन गुणातीतत्वमेव इति अर्थः. ननु एवं गोवर्धनरतत्वेन पुलिन्दीनामपि तथात्वं स्याद् इति चेन्न, तासु 'तद्दर्शनज-स्मररुज्'-उक्त्या कारणविशेषेण राजसभावस्य तत्र स्पष्टम् उक्तत्वात्. ननु मौनादिना पक्षिष्वपि सात्त्विकत्वं स्पष्टमेव उक्तम् इति चेन्न, सत्त्वस्यतु ज्ञानजनकत्वेन तेषु तद्भावोक्त्या न तथात्वम् इति अर्थः. अतएव अन्याननुसन्धानात् पतनशङ्कया द्रुमभुजारोहणं, ज्ञानजनक-दृङ्निमीलनम्, इतरवागुपरमः च उक्तः इति भावः. एवंसति अन्यत्र सात्त्विकेन उक्ताअपि अत्र गुणातीताएव अवगन्तव्याः. अतएव पूर्वम् उक्तं तामसाः राजसाः **च** अन्ये इति. ननु वृन्दावनस्य "वनचर..." इत्यत्र सत्त्वभूमित्वम् उक्तं, तत् कथम् अत्र निर्गुणत्वोक्तिः इति चेत्, सत्यं, परन्तु तत्र सात्त्विकभावापन्नत्वं वक्तुं भूमेः तथात्वम् उक्तम् अतएव भगवतोऽपि तत्र तथाभाववत्त्वेन तत्सम्बन्धाद् भूमेरपि तथात्वम् उक्तम्; स्वरूपन्तु गुणातीतमेव. वृन्दावनस्य लीलासृष्टिस्थानां सर्वेषामेव गुणातीतत्वेऽपि एवं विवेको गुणकृतो ज्ञेयः. यथा हरिण्यः तामस्यो मूढमतित्वाद् मुख्य-सजातीय-भाववत्त्वात् च; तथा अप्सरसो राजस्यः, कामभाववत्त्वात्. पक्षिणस्तु गुणातीताएव. नद्यो राजस्यः, तासु मनोभवसत्तोक्तेः. मेघाः तामसाः, एतत्सजातीयभाववत्त्वाद् भगवदर्थ-सर्वपरित्यागवत्त्वात् च. पुलिन्द्यस्तु राजस्यः, कामिनीत्वात्. गोवर्धनो गुणातीतः, पूर्वमेव उक्तत्वात्. एवमेव सर्वत्र लीलास्थानां तादृग्भाववत्त्वे तादृशत्वं बोध्यम् इति दिक्.

(३)

धन्यास्तु मूढमतयोऽपि हरिण्य एता
या नन्दनन्दनमुपात्तविचित्रवेषम्।
आकर्ण्यवेणुरणितं सहकृष्णसाराः।
पूजां दधुर्विरचितां प्रणयावलोकैः॥
(१०।१८।११).

अथवा पीठिकां निरूप्य वेणुनादतत्कार्यनिरूपणे प्रथमं हरिणीषु तत्कार्यं निरूपयन्ति **धन्याः स्म** इति. एता हरिणो धन्या इति हरिणीषु धन्यत्वं निरूपितम्. तत्रच तत्कृतपूजायाः हेतुत्वं निरूपितम्. तत्र मध्ये तुशब्द उक्तः. सच सर्वत्र पूर्वपक्षव्यावर्तकत्वेन निरूपितः. अत्रच पूर्वपक्षस्य अश्रूयमाणत्वात् तुशब्दस्य कुत्र उपयोग इति चेत्, सत्यम्. यद्यपि साक्षात् पूर्वपक्षश्रवणं नास्ति तथापि "पाक्षिकोऽपि दोषः परिहरणीयः" इति न्यायेन यदि कश्चित् पूर्वपक्षं सम्भावयेत् सोऽपि तुशब्देन निवार्यते. ननु एतत्पूजायां पूर्वपक्षस्यैव असम्भवात् पाक्षिकदोषस्यापि असम्भवइति कथं तन्निवारणार्थमपि तुशब्दः? सत्यम्, निर्दुष्टत्वेऽपि अतिदुष्टमनसा दोषस्फूर्तेः. मनोदुष्टत्वेऽपि कं प्रकारम् आश्रित्य दोषस्फूर्त्तिसम्भवः?

तत्र प्रकारः— तत्कृतपूजायाः शास्त्रोक्ताङ्गराहित्येन तस्याः पूजात्वस्यैव असम्भवात् कथं तया धन्यत्वसिद्धिः? तत्र शास्त्रीयपूजाङ्गानि गणयति. तत्र— १.पूजकस्य स्वस्वरूपज्ञानं, २.स्वस्मिन् च दासत्वं, ३.पूजोद्देश्यफलानुसन्धानं, ४.ततः सर्वेश्वरत्वेन पूज्यस्वरूपज्ञानं, ५.ततः तत्पूजायां परमश्रद्धा, ६.पूजासाधन-पदार्थ-सम्पादनं; तथा ७.देशकालमन्त्रादीनामपि अङ्गत्वम् इति पक्षं तुशब्दो व्यावर्तयति. ननु तुशब्देन कथम् एतद्व्यावृत्तिः? तत्रोपपत्तिः— एतेषाम् अङ्गानां मर्यादामार्गीयत्वाद् तत्कृतपूजायाः च शुद्धपुष्टिमार्गीयत्वात् मर्यादामार्गधर्माभावो अत्र भूषणं नतु दूषणं, मार्गभेदात्. अन्यथा मार्गभेदो न स्यात्. तस्मात् पुष्टिमार्गीयधर्माणां पुष्टिमार्गे भूषणत्वं नतु दूषणत्वं मर्यादामार्गे दूषणत्वं तथा मर्यादामार्गीयाणाम् अस्मिन् मार्गे दूषणत्वम् इति तुशब्देन मर्यादापक्षव्यावृत्तौ इयम् उपपत्तिः. ननु तथापि तासां पशुत्वाद् मूढत्वेन शुद्धपुष्टिमार्गाज्ञानात् कथं तत्कृतपूजायाः धन्यहेतुत्वम्? यद्यपि त्वन्मते मूढमतित्वं तथापि **अपिशब्देन** शुद्धपुष्टिमार्गे अमूढमतित्वं ज्ञाप्यते. तेन अयम् अर्थः सिद्धः— मर्यादामार्गे मूढमतयः पुष्टिमार्गे अमूढमतय इति. अन्यथा **अपिशब्दवैयर्थ्यापत्तिः**. ननु किम् एतासां 'पुष्टिमार्गीयामूढमतित्वम्'? मर्यादामार्गीय-स्वस्वरूपज्ञान-विरुद्धज्ञानवत्त्वम्. 'विरुद्धत्वं' = पशुत्वविस्मरणपूर्वकं

नायिकात्वम्. प्रभावपि तन्मार्गाप्रसिद्धधर्मवत्त्वज्ञानाद् अमूढमतित्वम्. ननु कथम् एवं ज्ञायते एतासां स्वस्मिन् प्रभावपि एतादृशं ज्ञानम्? अन्यथा वक्ष्यमाणकार्यं न उपपद्येत. कथं न उपपद्येत इति चेद्, यदि स्वस्मिन् पशुत्वज्ञानमेव भवेत् तदा तज्जातेः अतिभीरुत्वात् प्रभुसमीपे स्थितिः न स्यात्, भीरुत्वस्य बाधकत्वात्. कदाचित् नादाधीनतया स्थितावपि प्रभुसौन्दर्य-विचित्रवेषानुसन्धान-पूर्वकं दर्शनं न कुर्युः. एतावति भावाधीना बाह्यकृतिः निरूपिता वेणुनादजन्या; पुनः वेणुनादजन्यम् आन्तरं भावं निरूपयन्ति **आकर्ण्य वेणुरणितं सहकृष्णसारा** इति. यद्यपि पूर्वं **नन्दनन्दनम्** इति कथनाद् इदानीम् **आकर्ण्य** इति कथनात् 'नन्दनन्दनं निरीक्ष्य'— 'वेणुरणितमाकर्ण्य' इतिक्रियाद्वयम् अपेक्षितं तथापि उभयत्रापि एकक्रियानिरूपणस्य अयम् आशयः— **नन्दनन्दनम्** इति निरूपणेन दर्शनस्य अनुक्तसिद्धत्वाद् दर्शनस्य न पृथङ्निरूपणम्. वेणुनादश्रवणे क्रियानिरूपणेन दृष्टमपि स्वरूपं वेणुनादश्रवणद्वारैव हृदि आगतमिति एकक्रियानिरूपणम्. ननु कथम् एतद् ज्ञायते नादाकर्णनद्वारैव हृदि आगतम् इति? तत्र आगमनज्ञापनं कार्यम् आहुः **सहकृष्णसारा** इति. अयमर्थः— **सह** = नादप्रवेशेन सहैव, यतः **कृष्णसाराः** जाताः, कृष्णएव सारो यासाम्. अतः स्वरूपम् अनुभूय तादृश्यो जाताः. एतादृक्त्वम् अन्तःस्वरूपानुभवं विना न सम्भवतीति **आकर्ण्य** इत्येव क्रिया. ननु कथम् एतासाम् अन्तःस्वरूपानुभवो जातः इति ज्ञायते? तत्र तज्ज्ञापकम् आहुः **पूजां दधुर्विरचितां प्रणयावलोकैः** इति. यदि अन्तःस्वरूपानुभवो न स्यात् तदा भगवति परमस्नेहो न स्यात्, स्नेहकार्यञ्च भावपूर्वकं कटाक्षैः भगवत्पूजनञ्चनं न स्यात्. ननु एतासां पुष्टिमार्गीयभाववत्त्वात् निरूपिकाणामपि पुष्टिमार्गीयत्वात् तन्मार्गे सेवायाएव मुख्यत्वात् पूजायाश्च गौणत्वात् कथम् एतन्मार्गीयकृतेः पूजात्वम्? तत्र हेतुः— यद्यपि अत्रापि भावाधीनकार्यत्वेन सेवात्वसम्भवेऽपि पुष्टिमार्गीयसेवात्वाभावात् स्वामिनीनाञ्च तस्याएव सेवात्वात् एतत्कृतसेवायाः साक्षात् प्रभुसम्बन्धराहित्येन न पुष्टिपुष्टिरूपत्वं; परन्तु एतत्कृतेः भावाधीनत्वेऽपि पूज्यपूजकयोरिव परस्परं मनस्तोषजननात्, तस्याः कृतेः पूजासाम्यात् पूजात्वम् उक्तम्. तथापि अत्र एतावान् विशेषः— तत्र पूज्यतोषज्ञानस्य ज्ञातुम् अशक्यत्वात् तोषसन्देहएव. अतएव भगवतोऽपि तत्प्रतिपूजनेन तासु तोषनिश्चयेन ततोऽपि आधिक्यम् एतत्कृतपूजायाः. प्रतिपूजनञ्च **पूजां दधुर्विरचितां प्रणयावलोकैः** इत्येतस्य अन्योऽन्यपूजाप्रकारेणैव आचार्यैरेव व्याख्यातमिति भगवत्कृत-प्रणयावलोकन-रूप-पूजायाः प्रतिपूजनरूपत्वं स्पष्टम् इति सर्वम् अनवद्यम्॥

२. *श्रीहरिरायाणां लेखाः।*

(४)

स्त्रीभावो गूढः पुष्टिमार्गे तत्त्वमिति 'कृष्ण'पदार्थः क्वचिद् विवृतः. अतः सर्वमेव उपसर्जनीभूतं वेणुनादएव मुख्यइति तमेव वर्णयितुम् आरेभिरे गोप्यः इति आह 'इति वेणुरवम्' इति.

(सुबो.१०।१८।५-६).

स्त्रीभावो गूढ इत्यत्र. ननु आसक्तिहेतुकं वर्णनं तु यद्विषयिणी आसक्तिः तद्विषयकमेव उचितमिति, कथम् अत्र प्रभुस्वरूपं विहाय वेणुरववर्णनम्! इति आशङ्क्य आहुः **स्त्रीभावो गूढ** इति. **पुष्टिमार्गे** = यत्र प्रभुणैव सर्वसम्पत्तिः तादृशे प्रमेयमार्गे— मर्यादायां सर्वात्मकत्वात् लोकवेदप्रथित-पुरुषोत्तम-स्वरूपवद्— अत्र, **स्त्रीणां** = स्वामिनीनां, **गूढो** = रसात्मा **भावः** = स्थायिभावएव, सर्वेषां भावात्मकभगवदात्मकत्वात्. **तत्त्वं** = वास्तवं रूपं भावात्मको भगवानेवेति अयं **'कृष्ण'पदार्थ** = एतद्हृदयदेशमात्रवर्ति-सत्तानन्दरूपः, **क्वचिद्** = इदानीं कृष्णतांगतो, "ब्रह्मा विष्णू रुद्रश्च भूत्वा पुनः कृष्ण एव जात" इत्यादिषु **विवृतो** = नतु सर्वत्र इति. यतः कृष्णो भगवान् भावात्मा, स्वस्वरूपानन्दसारत्वात्, सुधारूपम् एतासु परोक्षे प्रवेशयितुं वेणुनादएव स्थापितवानिति सदा तत्संवलितम्. **अतः सर्वमेव** = पूर्वं हर्षात् लीलादिषु अनुभूतं स्वरूपमपि, **उपसर्जनीभूतं** = सुधाप्रवेशेन कामस्य सर्वात्मभावरूपत्वसम्पत्तेः, **(वेणु)नादएव** = इदानीं प्राप्तः स्वरूपात्मकः, साम्प्रतम् अनुभूयमानत्वाद् (**मुख्यः इति** =) मुख्यः अतः कामाभावेन पूर्वानुभूतं विस्मृत्य, साम्प्रतम् अनुभूयमानं (**तमेव** =) नादमेव सर्वात्मभावेन **वर्णयितुम् आरेभिरे** — इति उक्तम् अस्मदाचार्यैः इति भावः.

मयैतच्चित्ततोषाय तात्पर्यं विनिरूपितम्।
तेनाचार्याः प्रयच्छन्तु स्वपदाम्भोजरेणुताम्॥

॥ इति श्रीहरिरायविरचितः "स्त्रीभावो गूढ" इत्यत्र स्वतन्त्रलेखः समाप्तः॥

(५)

सदानन्दो वाच्यः. मुखं वागधिपतिः. निर्गमनं वाक्. वेणुः इतरविस्मारकः. गीतं षड्गुणात्मकम्.
(सुबो.१०।१८।१३).

ननु वेणुनादस्य भगवद्भावोद्बोधकत्वं सहजो धर्मइति कथं तच्छ्रवणे अप्सरसां कामभावोदयेन मोहोत्पत्तिः इति चेद्, अत्र तत्कृपया इदं प्रतिभाति :—

वेणुनादो हि उत्सर्गतः सर्वेषां कामोद्बोधकएव हि उत्सः, "मन्मथस्याग्रदूत" इति वाक्यात्. अतएव पूर्वं स्वामिनीनामपि तच्छ्रवणे सएव भाव उत्पन्नः, "वेणुगीतं स्मरोदयं नाशकन् स्मरवेगेन" इत्याद्युक्तेः. अतो यत्र स्वामिनीषु इव तद्द्वारा प्रवेष्टुं, यत्रच सरिद्वृक्षलतादिषु स्वामिनीभिः सह विहर्तुं, तान् तन्मात्रलीला-सम्बन्धि-कार्योपयोगिनो विधातुं, यत्रवा हरिण्यादिषु दृष्टिसाम्यात् स्वामिनीभावेन पश्यन् प्रवेष्टुं, वेणुनादं करोतिच तत्रैव भगवद्भावोदयः स्वाधिकारानुसारेणैव भवति. अतो अप्सरसां द्वितीयगीते ब्रह्मादीनां च तच्छ्रवणे कामेन मोह एवाभूत् न रसानुभवः. ननु तर्हि तासां श्रवणसम्पादनं किम्प्रयोजनकं भगवता निष्प्रयोजनककार्याकरणाद् इति चेत्, न, वेणुनादवीर्यबोधनस्यैव तत्प्रयोजनकत्वात्. एतदेव उक्तं प्रभुभिः विवृतौ "वीर्यं देवेषु" इत्यादिना. एवं सति गवामपि पूर्वं तच्छ्रवणे कामेन देवस्त्रीवत् मोहएव. तदेव विवृतं "गावश्च" इति 'च'कारार्थकथनेन.

पश्चाद् भगवदीयत्व-स्वसंगतत्वादिधर्मैः कृपाविशेषेण स्वामिनीषु इव तासु वेणुनादद्वारा प्रवेष्टुं यां सामग्रीम् अत्र प्रकटितवान् भगवान् तद्बोधाय पूर्वस्माद् विशिष्टो "बर्हापीड..." इति पद्यनिरूपितः स्वरूपात्मको वेणुनादो निरूप्यते **सदानन्दो वाच्यः** इत्यादिना. अत्र अयं भावः— अत्र "कृष्णस्य गीतम्" इति दूरान्वयएव अभिप्रेतः इति ज्ञायते, "अन्यथा कृष्णगीतपीयूषम्" इति अग्रिमग्रन्थ-पर्यालोचनया तदवगमात्. तथाच वाच्यतासम्बन्धेन गीते कृष्णे इति तस्य सदानन्दो वाच्यः. सच गूढभावः स्वामिनीनामिति गवाम् आन्तरस्वानुभवार्थं तद्भावएव भगवता वेणुगीतद्वारा ताभ्यो दत्त इति बोध्यम्. किञ्च तापभावोऽपि आन्तरतदनुभवे हेतुः, कामभाव इव बाह्यानुभवे, —इति सोऽपि देयइति गीते परम्परया मुखसम्बन्धोऽपि निरूपितः. साक्षात् तत्तत्सम्बन्धे तस्य बाह्यसम्बन्धाभावेन अत्यसह्यतया शरीरस्थितिरेव न स्यात्. अतएव स्वामिनीनामपि सङ्गानुभवं पञ्चाध्याय्यां कारयित्वैव पश्चात् केवलान्तरानुभवः कारितः.

विवृतौ मुखे वागधिपतित्वोक्तिस्तु वाक्प्रेरकत्वकथनाय. अन्यथा तदप्रेरणे वेणौ तदसञ्चारात्. वाग्द्वारैव तापभावस्य वेणौ सम्बन्धात्. ननु वाग् अत्र न कापि निरूपिता यद्द्वारा वेणौ तत्सम्बन्धः किन्तु नादमात्रमेव उक्तम् इति चेत्, तत्र आहुः **निर्गमनं वाग्** इति. गीतस्य मुखनिर्गतत्वेन तद्विशेषणीभूत-निर्गमन-क्रियायाएव वाग्रूपत्वाद्, भगवद्वाचो लोक इव ताल्वोष्ठपुटव्यापाराजन्यत्वात्. अतएव भगवन्निःश्वसनक्रियारूपाणां वेदानां वाग्रूपोक्तिः. अतएव "प्रजापतिर्हि वाग्" इति श्रुतौ तस्य वेदात्मकत्वेन वाग्रूपत्वम् उच्यते.

किञ्च आन्तरानुभवे बहिःसंवेदनाभावोऽपि अपेक्षितइति तदर्थं वेणुसम्बन्धोऽपि उक्तः, तस्य इतरविस्मारकत्वात्. ननु एवमपि योग्यशरीरसिद्ध्यभावे सर्वापि इयं सामग्री व्यर्थेति तदर्थम् आहुः **गीतं षड्गुणात्मकं,** भगवद्वाचकत्वाद् गुणैरेव असाधारणैः षड्भिः भगवतो वाच्यत्वात् "भगवानिति शब्द्यते" इति वचनात्. वेदानामपि गुणद्वारैव सर्वात्मकतद्वाचकत्वं, "बन्दिनस्तत्पराक्रमैः" इति वाक्यात्. तथाच भगवद्वाच-कत्वेन अस्य गीतस्य असाधारणषड्गुणरूपतैवेति तेनैव अत्र योग्यतासम्पादनम् इति अर्थः. अतएव गवां स्वशरीरस्मृत्या स्वात्मनि स्वामिनीत्वस्फूर्तिः इति भावेनैव भावात्मकास्य आन्तरो अनुभवो निष्प्रत्यूहम् उपपन्नः. इदञ्च यशोरूपवेणुगीतकार्यम्, एतादृशायोग्य-योग्यतासम्पादन-रूपासाधारणकार्याकरणे यशोरूपत्वं न स्याद् इति भावः.

वेणुनादसुधापूर्णा हृदयस्थहरिप्रियाः।
गावो गूढतमाः स्वीयरजोभिः स्नपयन्तु माम्॥

३. *केषाञ्चित् लेखाः।*

(६)

पूर्णाः पुलिन्द्य उरुगायपदाब्जराग-
श्रीकुङ्कुमेन दयितास्तनमण्डितेन।
तद्दर्शनस्मररुजस्तृणरूषितेन।
लिम्पन्त्य आननकुचेषु जहुस्तदाधिम्॥
(१०।१८।१७).

यद्वा स्वस्य भगवन्मनोऽभिलषित-दिवा-रस-पूर्त्यभावेन अपूर्णत्वं मन्यमानाः पुलिन्दीषु ताम् आहुः **पूर्णाः** इति. **पुलिन्द्यः पूर्णाः** सत्यः **तदाधिं** = भगवदाधिं **जहुः** इति भावः. **उरुगायो** भगवान् = उरुभिः गीयतएव नतु उपभुक्त इति अर्थः. तस्य यत् **पदाब्जद्वयं तत्र यो रागो** अनुरागः तेन यत् सम्पादितं श्रियाः **कुङ्कुमं** तेन **आननकुचेषु लिम्पन्त्यः**. ननु तल्लिम्पनेन कथं तादृग्भावोत्पत्तिः? तत्र आहुः **दयितास्तनमण्डितेन** इति, दयितायाः अत्यन्तप्रियायाः विरह-सामयिकोत्कट-ताप-निवृत्तिम् अनुभावयता प्रियेण स्थापितं यत् पदद्वयं तत्स्पर्शतो रसभरवशेन सात्त्विक-स्वेद-युक्त-स्तनेषु मण्डितेन इति भावः. ननु तत्रत्य कुङ्कुमप्राप्तिः तासाम् असम्भाविता! इत्यतः आहुः **तृणरूषितेन** इति, दयिता-स्तन-सम्बन्धित्वेन, चरणद्वये सात्त्विकत्वेन सार्द्रतया तृणेषु रूषितम् इति अर्थः. अतएव तत्सजातीय-कुङ्कुम-लिम्पनेन तत्सजातीयभावोत्पत्त्यर्थं स्वस्वरूपं भगवान् प्रदर्शितवान्. तदेव आह **तद्दर्शन...** इति. **तस्य** = भगवतो यद् **दर्शनं** तेन **जाता** या **स्मररुक्** तादृश्य इति अर्थः. ननु एतासां तादृग्भावोत्पत्त्या तादृक्त्वं भगवान् दत्तवान् इति वक्तुम् उचिततरं नतु भगवदाधिहरणकथनम्? इति चेत्, न, स्वदर्शन-जनित-रिरंसा-भर-वश-ताप-क्लिष्टानां स्वस्यापि भवति तापः. तद् उचिततरम्, अन्यथा "ये यथा माम्" इति प्रतिज्ञाहानिः इति भावः॥

(७)

॥ श्रीहरये नमः॥

अतः सप्तभिः...इहोच्यते (सुबो.कारि. १०।१९।१-५) इत्यत्र **अत** इति, यतो निरोधसहितं प्रमेयप्रकरणं निरूपितम्, **अतः सप्तभिः अध्यायैः**, **अत्र** = साधनप्रकरणे, भगवत्प्रापकत्वात् **निरोधो निरूप्यते**, इतरविस्मृतिपूर्वकं भगवदासक्तिः निरोधः. **अत्रापि** इति साधनप्रकरणेऽपि. **इहैव** इति, **इहैव** = श्रीगोकुलएव. **ज्ञानम्** इति, अग्रे गोपालेषु निरूप्यमाणं ज्ञानम्. **स्त्रीपुंसोः सहभावेन** इति, **स्त्रियः** = कुमार्यः **पुमांसः** = कुमारीपुंस्त्वाख्यधर्मरूपाः भगवद्वयस्याः. एतदतिरिक्तानां गोपानां कुमारीभिः सहभावो नास्ति तुल्यत्वमपि नास्ति. गोपाः इमां लीलां जानन्त्यपि न. कर्मात्मिका पुरा निरूप्यते कुमारीषु; पश्चाद् ज्ञानात्मिका निरूप्यते गोपालेषु. **ज्ञानमिहोच्यते** इति,

कुमारीणां ऋषित्वदशायां ये पुंस्त्वाख्यधर्माः ते व्रजे उत्पन्नाः पूतनया भक्षिताः, तान् तत्प्राणैः सह स्वान्तः निनाय ते वयस्याः जाताः भगवतः. "वयं कुमारी-पुंस्त्वाख्य-धर्मरूपाः कुमाराः" तेषाम् इति ज्ञानं; लीलोपयोगित्वेन कुमारीषु प्रवेशात् स्वकृतार्थताज्ञानं च 'ज्ञान'शब्देन उच्यते. पञ्चात्मकं पञ्चसु अध्यायेषु, सुरेक्षणं षष्ठाध्याये.

हेमन्ते प्रथमे मासि(१०।१९।१) इत्यस्य सुबोधिन्युत्थानिकायाम्. **पूर्वं निरूपिता** इति "प्रायो बताम्ब विहगा" इति श्लोके निरूपिताः.

कात्यायनि महाभागे(१०।१९।४) इत्यस्य सुबोधिन्यां **नाज्ञापयेद्** इति, "गच्छ देवि व्रजं भद्रे" इति. **नमनम्** इति, नमस्कारस्तु नमस्करणीयात् स्वस्य अपकर्षज्ञाने सति भवति. नमस्कारेण स्वापकर्षज्ञानाद् अहंकारो गच्छति. अतएव अत्र नमनेन तस्यै अहंकारो दत्तः. **सएव** इति, स भगवानेव भविष्यति पतिरिति शेषः. पतिः स्वयमेव भविष्यति तथापि त्वया वक्तव्यः सः. **अयनम्** इति प्रसादरूपशक्तिप्रवेशस्थलं, शक्तिप्रवेशं विना भगवत्सम्बन्धानुपपत्तेः. ननु तत्स्थितिः चेत् तदा अवश्यं फलं भविष्यति, तत्स्थितौ सत्यामपि एताः न जानन्तीति व्रतारम्भः! इत्यतः आह **तथापि** इति, तादृग्वयःसम्पत्त्यर्थं व्रतारम्भो न, प्रमाणाभावात्. स्वस्मिन् यदि तत्स्थितेः अज्ञानाद् व्रतारम्भः तदीयतत्स्थितेः अज्ञानाद् व्रतारम्भइति आगतम् अज्ञानमेव फलम्. ननु भवतीनां रमणे मम रमणे कः पुरुषार्थ इत्यतः आह **एतदेव** इति, 'दिव्'धातोः क्रीडावाचकत्वादिति टित्वाद् ङीपि प्राप्तेऽपि उपसर्जनत्वाद् अप्राप्तेः छान्दसो ङीप्. **नित्य** इति व्रतसमाप्तिपर्यन्तं प्रत्यहं कर्तव्यत्वात्. ननु भगवान् कथं शक्त्यधीनः? इत्यतः आह **पक्षद्वयेऽपि** इति.

एवं मासं व्रतं चेरुः(१०।१९।५) इत्यत्र **कात्यायन्यामेव** इति, "भद्रः कालः भगवत्सम्बन्धलक्षणः यया इति भद्रकाली" इति व्युत्पत्त्या कात्यायन्यामेव — क्वचित् पतित्वकरणेन, क्वचित् भद्रकालसम्पादकत्वेन, क्वचिद् दूत्यकरणेन — **अवस्थाविशेषो वर्तते**; प्रसादरूपा(प!)शक्तित्वेन गुणातीतभगवत्त्वेन च **देवताविशेषो वा वर्तते. पूजायाम् अशेषत्वाद्** इति, यथारुचिमन्त्रं जपन्त्यः पूजां चक्रुः. अत्र पूजायां करणत्वेन मन्त्रस्य पूजाशेषत्वम्. **'इति'शब्दप्रयोगे** इति, द्वितीयमन्त्रे 'इति'शब्दप्रयोगो नास्ति, इतिशब्दप्रयोगे अनेन मन्त्रेण पूजां चक्रुरिति पूजाशेषत्वं स्यात्.

उषस्युत्थाय(१०।१९।६) इत्यत्र **यज्ञ...** इति व्रते.

तासां वासांस्युपादाय(१०।१९।९) इत्यत्र (**नितराम् इं = कामं**) पि-

बति इति 'नीपः' इति, रसपानेन स्वयं रसपूर्णः अत्रत्यानां रसदाता.

अत्रागत्याबला(१०।१९।१०)इत्यत्र **सर्वस्य** इति, सर्वस्य कामस्य आधिदैविकं रूपम् **अत्र**=भगवति. **बहुव्रीहावपि** इति, **याभ्यः** इत्यनेन भगवद्व्रतराहित्ये यद्यपि पक्षद्वयेऽपि बहुव्रीहिरेव— "न विद्यमानं बलं यासां/याभ्यः ताः अबलाः" इति. **निमित्ततायाम्** इति कुमारीनिमित्ततायाम्.

न मयोदितपूर्वम्(१०।१९।११) इत्यत्र **'वा' इति अनादर** इति, मदुक्ते अनृतसम्भवता(वना!) कुत्रत्या! इति, अनृते अनादरः. **समुच्चयार्थं (च मया) वा** इति, पूर्वोदितं ऋषित्वदशायाम् उदितम्. अधुना उदितञ्च, पूर्ववरः स्वजातीयः यस्य वाक्यस्य, तद्वाक्यम्. **त्यक्ताधिदैवत्वाद्** इति, आधिदैविकाः एतासां पुंस्त्वाख्यधर्मरूपाः भगवद्वयस्याः. **तन्माया** इति, तेषां वयस्यानां मायाकापट्यम्. कापट्यम् अत्र ते स्वात्मानं "वयं भगवदीयाः धर्माः" इति ताभ्यो न ज्ञापयन्ति..

(८)

॥ श्रीकृष्णाय नमः॥

श्रीवल्लभकरुणायाः लवतस्तरुणायते बोधः॥
तस्य चमत्कृतिवशतो मत्कृतिरेषापि रोचते सुधिये॥१॥

अष्टमाध्याये सुबोधिन्यां **सा गृहीत्वा करे**(१०।८।३३) (इत्ये!)तस्य व्याख्याने "भगवति क्रियाशक्तिरेव लौकिकी. तस्याः दृढेति **करे गृहीत्वा** इति तावानेव अंशः तया गृहीतः" इत्यत्र एवं प्रतिभाति— "यः सर्वज्ञः सर्वशक्तिः" इति ज्ञानक्रियाशक्ती भ(ग)वति वर्तेते. तत्र ते उभे अपि लौकिकालौकिकभेदेन द्विधा क्रियाशक्ती करयोः वर्तेते. तत्र एकैव क्रिया भगवति श्रीमातृचरणैः बुद्धेति एकएव करो गृहीतो, अन्यथा द्वावपि गृहीतौ स्याताम्. ज्ञानांशस्तु गृहीतः तदंशः ज्ञातएव, न ज्ञाते तु उदरस्थितबालार्थे मृद्भक्षणं नतु स्वार्थमिति उपालम्भे प्रवृत्तिरेव न भवेत्.

श्रीवल्लभकरुणा(णा!)या माया नायाति मोहिनी जगतः॥
निकटमनायासेन व्रजपतितनुजः समायाति ॥२॥

सुबोधिन्यां नवमाध्याये **नायं सुखाप** (भा.१०।९।२१) इत्यस्य व्याख्याने "इह अस्मिन् अवतारे **भक्तिमताम्** इति भक्तेः विशेषणम् उक्तं नतु भक्तानां", भक्तानां विशेषणत्वे श्रीकृष्णभक्तानां पुंसां न इतरेषाम्

इति फलति—भक्तेः विशेषणत्वे श्रीकृष्णैकभक्तानाम् इति भाति. विशेषणं हि व्यावर्तकं, भक्तानां विशेषणत्वे अभक्तव्यावृत्तिः भक्तेः विशेषणत्वेतु श्रीकृष्णेतर-विषय-भक्ति-व्यावृत्तिः. तथाच सर्वसाधारणभक्तानां न भवति इति अर्थः.

श्रीवल्लभतनुजातः सदर्थो(!) मम कल्पपादपो भातः॥
यः स्मृतिपथमायातः वा(ग!)र्थजातमातनुते॥३॥

दशमाध्याये **न ह्यन्यो जुषतो**(भा.१०।१०।८) इत्यत्र **यत्र आभिजात्यस्य आदिः** धनमदः तत्र **स्त्री-द्यूतम्-आसवः** एवं **तत्र**पदम् अध्याहार्यम्.

श्रीविठ्ठलपदशरणं जनु(ह)रवत्वान(त्वाद्!)स्य जायते गमकम्॥
मम मनस्त्वं निश्चिन्तं भव भवतरणे परिश्रमं जहिहि॥४॥

दरिद्रस्यैव(भा.१०।१०।१७) एतस्य सुबोधिन्यां **साधवः समदर्शिनः तत्रापि विश्वासार्थं सदाचारएव मुख्यः तदाह** अत्र उच्यमानः सदाचारो **मुकुन्दचरणैषिणाम्**(भा.१०।१०।१८) अनेन पादेन बोध्यते. मुकुन्दचरणान्वेषणं सदाचारः. अनेन आचारेण तेषु विश्वासो भवति. साधवः कर्मकुशला समचित्ताः ज्ञानिनः. भगवदन्वेषिणः गुणत्रयविशिष्टाः महापुरुषाः येषां संगेन मम कार्यं सेत्स्यति इति विश्वासः.

श्रीवल्लभपदकमलं चिन्तनमात्रेण मानसं शमलम्॥
सद्यः शमयति स(वि!)मलं मानसं पुनः कुरुते॥५॥
तामसान्यचि...तानवगत्या दूरगान् सुकृतिसम्मतमत्या॥
पातुमाविरभवद् वसुमत्यां नन्दसूनुरिव लक्ष्मणसूनुः ॥६॥

गृह्यमाणैः(भा.१०।१०।३२) इत्यस्य सुबोधिन्यां—**गुणक्षोभात् पूर्वमेव ज्ञात्वा उत्तरत्रापि तदनुवृत्तिः कथं न क्रियते!** अस्य अयम् अर्थो—गुणोत्पत्तेः पूर्वन्तु आवरणाभावाद् ज्ञानं भवतु, पुनः आवरणेऽपि ज्ञानं यथास्थितमेव तिष्ठतु. **तादृशस्य भक्तिमार्गप्रवर्तकत्वम्** इत्यत्र, जीवाः यदा भगवता(तो!) निःसृताः तदा आवरणोत्पत्तिः नास्ति ततो ज्ञानम् अपेक्षितम्; अथच यदा महाप्रलये सर्वस्य लये आवरणस्यापि लयः तदा(पि!) ज्ञानम् अपेक्षितं, सृष्टिदशायान्तु आवरणभावेन ज्ञानं न सम्भवति तेन भक्तिमार्गप्रवर्तितो भवति. भक्तौ सत्यां सृष्टिसमयेऽपि आवरणनाशे कृतार्थता भक्त्यभावे सत्त्वरजस्तमो-गुण-कृतावरणासम्भवेऽपि भगवतो यथार्थज्ञानं न भवति इति अर्थः.

कल्याणं कृतवन्तः श्रीमत्कल्याणरायसद्गुरवः॥
मन्मानस आविश्य प्रकटितवन्तः सुगुप्तमप्यर्थम्॥७॥

गृह्यमाणैः(भा.१०।१०।३२) इत्यत्र टिप्पण्यां **तेषां धर्माणाम्** इत्यादि, "भगवद्ग्रहणहेतौ सति अग्रहः" इति वक्तुं तद्धेतुम् आहुः **तेषाम्** इत्यादि. "**तेषां**=घटादीनां त्वदाश्रयत्वाद् आश्रयस्य च सहभाननियमात् तद् भवितुं युक्तम् इति आद्यपक्षे" इत्यारभ्य "**तत्र हेतुः**" इत्यन्तम्. **गृह्यमाणैः** इत्यारभ्य **न गृहीतो भवसि** इत्यन्तः आद्यः पक्षः. **न वा तैः सह** इति द्वितीयपक्षः. तत्र प्रथमपक्षे : घटादिग्रहणे तव ग्रहणं न भवति. घटादयो धर्मा भवन्ति भगवान् धर्मी. धर्मधर्मिणोः उभयोः (अ!)पृथग्भाननियमाद् धर्मरूपेण भानं न भवति. द्वितीयपक्षे : "विकारैः घटादिभिः आच्छन्नः" इति तव ग्रहणं भवति.

तद् गच्छतम्(भा.१०।१०।४२) इत्यस्य सुबोधिन्यां **नलकूबरसादनं, सर्वथा समानत्वाद् एकशेषः.** नलकूबरमणिग्रीव अत्र विरूपाणामपि समानार्थानाम् अनेन एकशेषः. एकवचनम् आर्षम् एकरूपभक्तिमत्त्वेन उभयोः एकत्वाद् द्वित्वाभावेन द्विवचनाप्रवृत्तेः अत्र एकवचनम्.

एकादशाध्याये टिप्पण्यां(सुबो.कारि.१०।११।७) **मूले भक्तानिष्टनिवर्तने लोकवेदयोः अगणना च** इति, वत्साकारो यद्यपि असुरः; तथापि लोके वेदे च अयुक्तं मारणं भाति. तत्र समाधानम् इदं— मूलस्वरूपः पुरुषोत्तमो लोकवेदमर्यादावशो न भवति. अवतारान्तरेतु अंशादिरूपत्वेन मर्यादानुसारेणैव क्रीडां करोति.

श्रीमद्वल्लभदेवं श्रीविट्ठलनाथमप्यहं वन्दे॥
भक्तिं प्रकटितवन्तं विदधतमत्र प्रचारमेतस्याः॥८॥

उलूखलम्(भा.१०।११।६) इत्यस्य सुबोधिन्यां "**स्वम्** इति व्याकुलतापरिज्ञानार्थम्", अस्य अयम् अर्थः— 'स्वीयम्' इति वक्तव्ये 'स्व'पदं स्वीयापेक्षया स्वस्मिन् व्याकुलता महती.

दर्शयन्(भा.१०।११।९) इत्यस्य सुबोधिन्यां **तत्तदनुसारिणोऽपि** = भगवत्स्वरूपविदनुसारिणः इति अर्थः. टिप्पण्यां "**तदपि** इत्यादि, करणस्य व्यापारवत्त्वेन बालचेष्टितानामेव तथात्वम्", अत्र **तथात्वं** = करणत्वम् इति अर्थः. व्यापारस्तु बालचेष्टित-जन्या व्रजस्थानां चेष्टा.

प्रक्षिप्तद्वितीयाध्याये **यावद्वत्सक**...(भा.१०।१३।१९) इति श्लोकसु-

बोधिन्यां "**सर्वं विष्णुमयम्**" **इत्येवंरूपा या गीः तस्याः अंगवत्.** अत्र **अंगवद्** इति मतुबन्तं क्रियाविशेषणम्. **अंगपदेन** अर्थवाक्यस्य यथा शब्दो अङ्गं तथा अर्थोऽपि. एवं सर्वरूपेण भाने "सर्वं विष्णुमयं जगद्" इति वाक्यं सार्थकं भवेत्.

ब्रह्मस्तुतौ **नारायणस्त्वम्**(भा.१०।१४।१४) इति श्लोकस्य सुबोधिन्यां **यतो जलवासस्य प्रदर्शनमात्रपरत्वाद्** इत्यत्र मार्कण्डेय-माया-दर्शन-समयो ज्ञातव्यः.

तच्चेज्जलस्थम्(भा.१०।१४।१५) इत्यस्मिन् श्लोके **तद्वपुः चेत् सद्** इत्यत्र सर्वदा तत्रैव विद्यमानम् इति बोध्यम्.

द्वादशाध्याये टिप्पण्यां(सुबो.कारि.१०।१२=१५।२)"**मध्यमोऽयम्** इति, वयस्यानां स्वामिनीनां च अग्रे अस्माद् निरोधाद् अधिकस्य व्यसनरूपस्य वक्ष्यमाणत्वाद् एतत्प्रकरणोक्तं तं व्यसनरूपम् अवेक्ष्य स तयोरपि मध्यमएव इति अर्थः". अत्र गोपालानाम् **अयम्** उच्यमानो निरोधो **मध्यमो;** वयस्यानां स्वामिनीनाञ्च गोपान्(नां!) एतदपेक्षया अधिकः उत्तमः. वयस्यानां स्वामिनीनां च अधिको व्यसनरूपो यो निरोधः तदपेक्षया तु एतत्प्रकरणोक्तो निरोधो वयस्यानां स्वामिनीनामपि मध्यमएव.

तन्मञ्जुघोषालि...(भा.१०।१५।३) इत्यस्य सुबोधिन्याम् **उभयाधिपतिः वायुः** इत्यत्र वायुः(योः!) अन्तरिक्षस्य अधिपति(त्व!)श्रुतेः उभयाधिपतिः वायुः इति ज्ञेयम्.

त्रयोदशाध्याये **विलोक्यदूषिताम्**(भा.१०।१३=१६।१) इत्यस्य सुबोधिन्यां **सारूप्यं प्राप्तेनच दोषो न अन्येन निवारणीयः** इत्यत्र **सारूप्यं प्राप्तेनच** इत्यनन्तरं 'कृतः' इति अध्याहारः. अस्यैव सुबोधिन्यां **प्रकृतोपयोगिसारूप्यादेव न मारणम्,** अत्र **प्रकृतोपयोगी** इत्यत्र निरोधोपयोगी इति अर्थः.

न्याय्यो हि दण्डः(भा.१०।१६।३३) इत्यस्य सुबोधिन्यां **न्याय्यं न्यूनम् अधिकं च प्रसादमर्यादेश्वरत्वधर्माः तत्र प्रयोजकाः,** अत्र प्रसाद... इति द्वन्द्वसमासो, लघ्वक्षरं पूर्वमिति **प्रसादशब्दस्य** पूर्वनिपातः. मर्यादायां न्याय्यः प्रसादे न्यूनः ऐश्वर्ये अधिक इति अर्थः.

अनुग्रहोऽयम्(भा.१०।१६।३४) इत्यस्य सुबोधिन्यां **सर्पत्वमपि जातं तदपि गच्छति चेद्, दन्दशूकत्वमपि गच्छेद्** इत्यत्र गर्हितं दशतीति

दन्दशूकः, तस्यैव दन्दशूकत्वं यस्मिन् कृते अवश्यं मरणम्; अप्रतीकार्यो दंशः इति अर्थः.

नमोऽनन्ताय(भा.१०।१६।४३) इत्यस्य सुबोधिन्यां **सर्वैरेव यथा निरूप्यते तथा भगवान् भवति तत्र उपपत्तिम् आह** 'वाच्य...' इत्यारभ्य **ऊतिः अत्र स्पष्टैव.** अत्र निरूपकाणां यादृशी वासना तादृशमेव तैः निरूप्यते. ऊतयः कर्मवासनाः इति अर्थः.

परावरगतिज्ञाय(भा.१०।१६।४८) इत्यस्य सुबोधिन्यां **'विश्वाय'...- 'तद्द्रष्ट्रे'...'अस्यच** हेतवे'...**एवं निरोधमुक्त्याश्रयाः क्रमादेतैरेव उक्ताः.** अत्र **विश्वाय** इत्यनेन निरोधो, "निरोधोऽस्यानुशयनमात्मनः सह शक्तिभिः" इति श्रीशुकोक्तरीत्या विश्वरूपताकथनेन विश्वस्मिन् क्रीडारूपः; पुनः "शक्तिभिर्दुर्विभाव्याभिः प्रपञ्चे क्रीडनं हरेः" इति श्रीमदाचार्योक्तेरपि सएव निरोधः उक्तः. **तद्द्रष्ट्रेअनेन** पदेन "मुक्तिर्हित्वान्यथारूपं स्वरूपेण व्यवस्थितिः" इति, श्रीशुकोक्तेः, कार्याभिनिवेशं परित्यज्य साक्षिरूपेण स्थितिरूपा मुक्तिः उक्ता. **अस्य हेतवे** अनेन पदेन "आभासश्च निरोधश्च यतश्चाध्यवसीयते स आश्रयः" इति श्रीशुकोक्तः आश्रयः उक्तः इति अर्थः.

अनुगृह्णीष्व(भा.१०।१६।५२) इत्यस्य सुबोधिन्यां "**'पन्नग' इति जीवमात्रम्** इति, आपन्नं = पतितं गच्छतीति **पन्नगः** = उपवेशनोत्थानासमर्थः प्राणावशेषः इति अर्थः.

विधेहि ते किङ्करीणाम्(१०।१६।५३)) इति श्लोके **विधेहि** इत्यस्य धातूनाम् अनेकार्थत्वात् 'कथय' इति अर्थः.

प्रतिलब्ध...(१०।१६।५५) इति श्लोके सुबोधिन्यां **मूर्छितस्य अर्धसम्पत्त्या** इत्यत्र "मुग्धेऽर्धसम्पत्तिः परिशेषाद्"(ब्र.सू.३।२।१०) इति वेदान्तसूत्रं, "मूर्छाणां(यां!) प्राणादीनाम् अर्धलयः" इति सूत्रार्थः, तेन "अर्धलयात् प्राणादीनां पुनरागमनं, कार्त्स्न्येन लये पुनरागमनं न स्याद्" अयम् अर्थो ज्ञेयः.**प्रतिलब्धेन्द्रियप्राणः** = प्रतिलब्धानि इन्द्रियादीनि येन (सः), अलब्धस्य प्राप्तिः = लाभो — गतस्य प्राप्तिः प्रतिलम्भः.

उपहार्यैः(भा.१०।१७।२) इत्यत्र **उपहाराः समर्प्यन्ते यैः ते उपहार्याः** इति फलितार्थकथनम्.विग्रहस्तु — बलिः(लिम्!) उपहरन्ति सर्पाः यैः = स्वसेवकैः ते उपहार्याः इति "कृत्यल्युटो बहुलम्"(पा.सू.३।३।११३) इति करणार्थे 'यत्'.

तं **कालियः**(भा.१०।१७।१२) इति श्लोके **लेलिहः** इति,

'यङ्लुग'न्ताद् 'लिह'धातोः पचाद्यच्. "यङोऽचि च"(पा.सू.२।४।७४) इति 'यङो' लुक्.

अत्र प्रविश्य(भा.१०।१७।११) इत्यस्य सुबोधिन्याम् **'अत्र'** = हृदे **प्रविश्य जलं तथा भवेद् इति एकः शापः,** अत्र **तथा भवेत्** = सद्यः प्राणैः वियुज्येत इति अर्थः. **तत्रापि...** इत्यारभ्य **...अपरः** इत्यन्तो द्वितीयः. **तेन** इत्यारभ्य **न स्याद् इति भावः** इत्यन्तं, समग्रस्य अयम् अर्थः — "अत्र प्रविश्य यदि गरुडो मत्स्यान् खादति तदा प्राणैः वियुज्येत !" इति विशिष्टे एकस्मिन् शापे कालियो मरणभयाद् अत्र न आगच्छेत्. शापद्वये तु निर्भयं स्थलं बुद्ध्वा अत्र आगमनं सम्भवेत्.

पञ्चदशाध्याये **स च वृन्दावन...**(भा.१०।१५=१८।३) इति श्लोके सुबोधिन्यां **चकाराद् अन्येऽपि दोषा वातादयः,** अत्र **वसन्तः** इति प्रथमान्तः सप्तम्यन्तः कर्तव्यः. **लक्षितः** इति बहुवचनान्तः कर्तव्यः इति बोध्यम्.

सरिद्(भा.१०।१८।५) इति श्लोके सुबोधिन्यां 'दव'शब्दो द्वेधा बोध्यः — तापार्थको भावार्थ-'अप्'प्रत्ययान्तः "ऋदोरप्"(पा.सू.३।३।५७) अनेन. अरण्यार्थकः कर्त्रर्थपचादि-'अच्'प्रत्ययान्तः. "टुदु(दु!) उपतापे धातुः" तस्माद् 'दुनोति' इति दवः = उरस्यं दवनं दव इति 'दवः' = ताप इति अर्थः.

पशूंश्चारयतोः(भा.१०।१८।१७) अस्य सुबोधिन्यां **संभवति अविरोधव्याख्याने विरुद्धं न व्याख्येयम्** इति तत्र 'तज्जिघांसया' इत्यस्य 'प्रलंबोऽगाद्' अ(इत्य!)नेन संबंधो वा 'दाशार्हः तज्जिघांसया तत्सख्यम् अन्वमोदत' इत्यनेन? तत्र प्रलम्बेन सम्बन्धो असंगतो नवा इति विचारस्य हतत्वात् भगवता समं संगतो भगवतो घ(घा!)तकत्वाद् इत्यर्थः.

षोडशेऽध्याये **ततः समन्ताद्**(भा.१०।१६=१९।७) इति श्लोके **विलेलिहान** इति 'वि'पूर्वकयङ्लुगन्ते 'लिह्'धातोः "व्यत्ययो बहुलम्" इति शतृप्रसंगे शानच्.

अष्टादशाध्याये **कृष्णं निरीक्ष्य**(भा.१०।१८=२१।१२) इत्यस्य सुबोधिन्यां **वनितोत्सवचारुवेषम्** इत्यत्र — **वनम् इताः=वनिताः** अत्र पृषोदरादित्वाद् **वनिताशब्दसिद्धिः; वनं यौवनम्** इताः = वनिताः. अत्र 'यौवन'शब्दे तत्पुरुषसमासः. 'यु'शब्दः क्विबन्तो मिश्रणार्थः मिश्रणं = संयोगः,

सप्तम्याः अलुक्. एवं निष्पन्ने 'यौवन'शब्दे "लोपः पूर्वपदस्य च" इति पाणिनिशासनात् भामेतिवत् 'यौ' इति सप्तम्यन्तस्य लोपः.

गावश्च(भा.१०।२१।१३) इति श्लोके सुबोधिन्यां **मुखं वाग् अधिपतिः अग्निः**, "मुखमग्निरिन्द्र" इति वाक्याद् आधिदैविकं रूपं वाचः इति अर्थः.

प्रायो बताम्ब(भा.१०।२१।१४) इति श्लोके टिप्पणी—**'तेषां शर...' इति, पल्लवैरेव आवृतत्वेन अन्यदर्शनाभावात् शरादिभयाभावाद् इति केचित्.** अत्र एवं भाति—**रुचिर...** इति पल्लवविशेषणेन पल्लवशोभानिरीक्षणेन प्रासक्तचित्तत्वेन शरधारिणां शरप्रक्षेपे मनो न भवति तेन शरभयाभाव इति सिद्धान्तः. तत्र आवरणं प्रयोजकं न इति अस्वरसः.

---

*अशुद्धिबहुला हि एकैव मातृका एतावत्येव उपलभ्यते. नूनं कस्यचन प्राचीनलेखकस्यैव कृतिरियम् इति स्वगुरुत्वेन श्रीमत्कल्याणराय इति नाम्नः उल्लेखाद् अनुमीयते. सेयं, व्याख्या वा टिप्पणी वा भवतु, भवति तु ग्रन्थाशयोद्घाटने भृशं सुरुचिरेति प्रकाश्यते (गो.श्या.म.).

॥ द्वितीयं परिशिष्टम् ॥

श्रीवेणुगीतस्य श्रीसुबोधिनीटिप्पण्युपरि श्रीपीताम्बरजित्कृतो लघुप्रकाशः

अष्टादशेऽध्याये सामान्यविशेषभावः सङ्गतिरित्यभिप्रायेणाहु**रष्टादश** इत्यादि. विशेषमेवाहुः **स्फुटेति**. अत्र तृतीयपादो देहलीदीपवदुभयत्रोपकरोति. गोपानामासक्तिर्न स्फुटेति टिप्पण्यां तामुपपादयन्ति **बालका ही**त्यादिना. **एतद्गानकथनेने**ति, "अन्ये तदनुरूपाणी"त्यत्र गोपकर्तृकगानकथनेनेत्यर्थः (१).

सुबोधिन्यां नन्वासक्तिवर्णनप्रस्तावे वृन्दावनप्रवेशकूजनयोर्वर्णनस्य किं प्रयोजनमत आहुः **प्रवेशे**त्यादि. **उद्बोधाये**ति आसक्त्युद्बोधाय. मूले गुणवर्णनाद् गुणासक्तिरेव स्फुटा न तु भगवदासक्तिरिति प्रथमं श्लोकद्वयमेव न सङ्गच्छत इत्याशङ्कायां टिप्पण्यामाहु**रासक्ती**त्यादि. **ज्ञाप्यत** इति स्फुटीक्रियत इत्यर्थः (२).

नन्वेवं सति गुणेष्वेव मुख्यासक्तिरायाति न तु भगवतीतिशङ्कायामाद्यपद्य-द्वयोक्तप्रवेशबोधनाभ्यां भगवदासक्तेरेव मुख्यत्वं बोध्यत इत्याहु**रासक्तिः प्रेमपूर्वे**त्यादि. तद् विवेचयन्ति टिप्पण्या**मासक्तिः प्रेमोत्तरे**त्यादिना. तथा च यदि भगवतस्तासु प्रेमा न स्यान्न वृन्दावने प्रविशेत् प्रविश्य वा न बोधयेत्. यतः प्राविशदबोधयच्चातस्तासु भगवतः सोस्तीति निश्चीयते. तेन भगवतः स्वस्मिन् प्रेमावगत्यैतासामासक्तिरुद्बुद्धेति सैव मुख्या न तु गुणासक्तिरिति भावः (३).

आसक्त्येति भगवदासक्त्येत्यर्थः. एतदुपष्टम्भाय परिचायकान्तरमाहु-**र्विद्यान्त** इति. "भक्त्या मामभिजानाती"तिवाक्यात् तया भगवज्ज्ञानं भवति. यद्यत्र भगवदासक्तिर्न स्याद् "बर्हापीडे"त्यनेन **विद्या** नोच्येत. तथा **चान्ते विद्या वर्ण्यते तस्मादासक्त्या वर्णनं स्फुटमित्यन्वयः**. नन्वेवं सति "यमेवैष" इतिश्रुति-विरोध इत्याशङ्कायां **विद्यान्त** इत्यादेस्तात्पर्यं टिप्पण्यामाहु**रासक्ता**वित्यादिना. **वर्ण्यत** इति शुकेन वर्ण्यत इत्यर्थः. तथा च न श्रुतिविरोध इति भावः. **विद्यापदस्य** तात्पर्यान्तरमाहुः **पूर्वमि**त्यादिना. **विद्यान्त** इत्यत्र विद्याया अन्त इति समस्त-षष्ठीकं पदमङ्गीकृत्य पक्षान्तरमाहु**र्यद्वे**त्यादि. एवं च "बर्हापीडे"तिश्लोकोक्त-भगवत्स्वरूपानुभवो ब्रह्मभावोत्तरभाविभक्त्या भवति "भक्त्या मामभिजानाती"-त्यभिज्ञारूपः. स चाग्रे"ऽक्षण्वतामि"त्यादौ स्फुटस्तेनात्रासक्त्यैव वर्णनं निश्चीयत

इति भावः. अभिज्ञास्वरूपं प्रकटयन्ति **श्लोके**त्यादिना. सार्धकारिकायां **वर्ण्यत** इति क्रिया सर्वत्रानुषज्यते (४ $\frac{1}{2}$).

इत्थमित्यत्र सुबोधिन्याम्, **विशेषणधर्माणामिति** विशेषणोक्तानां धर्माणामित्यर्थः ॥१॥

बर्हापीडेत्यस्य स्वतन्त्रे. ननु चकाराद्यभावे कथमावृत्तिः शक्यवचनेति शङ्कायाम**श्रुत्ये**त्यस्यावृत्तौ बीजमाहु**र्गीतं ह्री**त्यादि. तथा च श्रोतव्यभेदादेवार्थादावृत्तिः प्राप्यत इत्यर्थः. तदेव विवृण्वन्ति **यच्छ्रवणे**त्यादिना. सङ्गतिसिद्धये **कूजितवेणुगीत**पदाभ्यां यद्वेणुगीतं कूजितातिरिक्तमङ्गीकृतं तत्र बीजमाहु**स्तारतम्येने**त्यादि. यद्यपि श्रीमदाचार्यचरणोक्तेनैवाभासेन सङ्गतिः सिध्यति तथापि यदसङ्गत्युद्भावनतत्समाधी प्रभुभिः कृतौ तौ सङ्गतिबीजाविष्करणाय. तत्राप्येकवारं सङ्गतिबीजमुद्घाट्य यत्पुन**र्भावोद्दीपके**त्यादिना समर्थितं तन्नादस्वरूपपरिचायनायेति ज्ञेयम्. एवं सत्यशक्त्युत्पादके नादे प्रभोरेव प्राधान्येन हार्दानुभवान्नादस्य गुणभावात् **स्मरोदयः.** वर्णनीये च नादे प्रभोः सर्वत्राविर्भावः परं न नादगुणभावेनेति नादस्य प्राधान्यमिति तयोर्नादयोः स्वरूपं फलति.

धर्मसहित इति, स्वसमानाधिकरणा या स्वप्रयुक्ता क्रिया तद्विशिष्ट इत्यर्थः. **केवल** इति स्वव्यधिकरणतादृक्तद्विशिष्टः. **कनककपिशमित्यत्र सेति** कनककपिशतेत्यर्थः.

रन्ध्रा वेणोः सप्तेति, तेन षड्गुणसहितधर्म्यनुभावका इति भावः. प्रस्तुतसुधायाः सर्वोत्कृष्टत्वायाहुः **सुधा त्रिविधे**त्यादि. **देवभोग्या** दिव्यस्त्र्यादि-निष्ठा ज्ञेया. टिप्पण्यां **तर्ही**ति, जाते निरोधे तेनैव भगवत्कारितसुधानुभवे च सिद्ध इत्यर्थः. **ये मुक्ता** इत्यादि, तथा च "मुक्तिर्हित्वान्यथारूपं स्वरूपेण व्यवस्थितिरि"तिमुक्तिलक्षणेनान्यथारूपत्यागपूर्वकस्वरूपव्यवस्थानस्य मुक्तित्वाल्लीलार्थं सृष्टानां लीलोपयोगित्वेनैव रूपेण व्यवस्थानस्य मुक्तित्वेन स्वान्तःस्थितत्वरूपमुक्तत्वभावान्मोचनमेकादशार्थः. "आभासश्चे"तिवाक्यात् सृष्टिस्थितिप्रलया यतो जायन्ते ज्ञायन्ते च स आश्रयः, आधिभौतिकादिरूप-त्रयवेत्ता वाश्रयः. स च भगवानेवेति लीलानुभावनोत्तरं पुनर्भगवद्रूपता या सा **प्रत्यापत्ति**र्द्वादशार्थ. इति न स्कन्धद्वयवैयर्थ्यं नापि प्रस्तुतस्य परमफलत्वहानिर्नापि लक्षणवाक्यवैरूप्यं लक्षणापत्तिर्वेत्यर्थः. **सृष्टिरि**ति लीलासृष्टिरित्यर्थः. ननु

यद्येतदप्राप्तौ सृष्टिवैयर्थ्यं तदा सृष्टौ सर्वेषामेवैतद्भोगः कुतो न दृश्यत इत्याकाङ्क्षायामस्यातिदुर्लभत्वं सुबोधिन्यामाहु**रयमि**त्यादि. ननु यद्येवं तदा ब्रह्मानन्दप्राप्त्यभावान्महिष्यादीनामेतद्भोगो न स्यादित्यत आहु**स्तदंशे**त्यादि. तथा च तेषामपि केनचिद् नाट्यद्वारेण ब्रह्मानन्दोत्तरमेव स इत्यर्थः. फलितमाहु**रत** इत्यादि. गमकमाहु**रतोत्रे**त्यादि. ननु निरोध एव जाते चन्महाफलप्राप्तिस्तदा भ्रमरगीते वक्ष्यमाणा ज्ञानोपदेशलीला न युज्यत इत्यत आहुः **परं ज्ञात्वे**त्यादि.

गोपवृन्दैरिति, अन्यथा व्यासङ्गेन कार्याधीनत्वे स्वच्छन्दता न स्यादितिभावः. भगवत्प्राकट्यं हि "तथा परमहंसानां" "यदा यदा हि धर्मस्ये"त्यादिवाक्यैर्भक्त्याद्यर्थमुक्तमिति तदस्थापने कृतकार्यत्वमसम्भावित-मित्याशयेनाहु**र्नन्वि**त्यादि. **स्त्रीभाव** इत्यादि– **स्त्रीभावो गूढ** इति **पुष्टिमार्गे तत्त्वमिति क्वचित्** स्वसमानशीलासु **कृष्णपदार्थो विवृतो** व्याख्यातस्तेन मुख्यानां कामार्थमोक्षाणां स्थापनं कीर्त्यैवेति सिद्धमिति गौणानामपि स्थापनं तयैव तथेति भावः ॥५॥

अग्रिमाभासे **अत** इति वेणुनादस्य "बर्हापीडे"तिवाक्यार्थानु-भावकत्वादित्यर्थः. **सर्वमि**ति पुरुषार्थपञ्चकम्; **एव**कारोऽप्यर्थे ॥६॥

अक्षण्वतामित्यत्र त्रयोदशस्य पद्यस्य तात्पर्यमाहु**र्वैपरीत्यादि**त्यादि. कारिकार्थस्तु टिप्पण्यामेव स्फुटः. सुबोधिन्यां **रोमोद्गम** इति, पायुफलमिदं ज्ञेयम्, तृतीयस्कन्धे "पुलकोद्भिन्नसर्वाङ्ग" इत्यत्र प्रक्षिप्ताध्याये "एतद्धृषीकचषकैरि"त्यत्र चाचार्यचरणैर्विवरणात्. **मोक्षोपि नान्यथे**ति, केवलानां फलरूपत्वान्न तथेत्यर्थः. नन्वेकत्वस्य सर्वाधिकत्वात् तस्य कथं न फलत्वमित्याकाङ्क्षायां दृष्टान्तेनाहु**र्यथे**त्यादि (७-११).

नन्विन्द्रियवैफल्यान्मोक्षस्य फलत्वं मास्तु परं स कुतो न भवतीत्यत-ष्टिप्पण्यामाहुः **सेन्द्रियाणामि**त्यादि. **तदफलन** इति, मोक्षो फलं नेत्यर्थः. **प्रतिबन्धकाभावेने**त्यादि, मुख्यफलानधिकारे हि मोक्षो भगवता दीयते, प्रकृते च मुख्यफलप्रतिबन्धकस्य सर्वात्मभावाभावस्य गतत्वेन मुख्यफलमेव सेन्द्रियाणां भवतीति न मोक्ष इति भावः. नन्वस्त्वेवं तथापि साधारणाधिकारिणां कुतो न मोक्षः फलतीत्याशङ्कां हृदिकृत्य कारिकायां **साधकानामि**त्यस्य पदस्याभावेऽ-प्यर्थसिद्धेरेतद्वैयर्थ्याशङ्काञ्च हृदिकृत्याहु**र्मुमुक्षूणामि**त्यादि. पुष्टिमार्गीय-मोक्षेच्छूनां **तथापि** मुख्यफलबाधकापरित्यागे **न तथात्वं** न मोक्षमार्गित्व**मि-**

त्याशङ्क्य तत्साधनं मुख्यफलसाधनं तेष्वस्तीत्या**हु**रित्यर्थः. **उपदिश्यत** इति भगवतोपदिश्यत इत्यर्थः (११$\frac{१}{२}$).

सुबोधिन्यां **चक्षुष्मत्पदपरमि**ति चक्षुष्मत्पदार्थकमित्यर्थः. **भगवतो वा सहभाव** इति, वयस्यैस्सह निवेशयतीति तेषां भगवत्सहभाव इत्यर्थः. इममेवार्थं विवरीतुं सहभावप्रयोजनमाहु**स्तथा सती**त्यादि. **अन्तःप्रवेशितमि**ति, साधारणपक्षे तदेव फलमित्यर्थः. **ईश्वरत्वेने**ति स्वग्रामाधिपतित्वेनेत्यर्थः. **अनादर** इति फलत्वेनानादरे. तथा च ते व्रजेशसुतत्वेन पश्यन्ति न तु स्वफलत्वेनातस्तथेत्यर्थः. मुखस्यैकत्वोपपादनायाहु**र्नही**त्यादि. **सापेक्ष**पदं विवृण्व**न्त्यनादरे**त्यादिना. **वा**शब्देऽन्विते सति गीताभिज्ञत्वफलस्य साधारणत्वं कथमायास्यतीत्यत आहुः **स्वरा-दि**ति, काकोरित्यर्थः. **निर्गुणसगुणभेदा** इति निर्गुणसहिताः सगुणभेदाः सात्त्विकाद्या इत्यर्थः. अनेनानुभूतवाक्यार्थावयवभूतो **वर**पदार्थो विवृत इति ज्ञेयम् ॥७॥

चूतप्रवालेत्यत्र **वर**पदातिरिक्तं पूर्वार्धमनेन विव्रीयत इत्याशयेनाहु**श्चूतानामि**त्यादि. तेन कर्णिकारोपरि पल्लवा अपि स्थापिताः सन्तीति बोध्यम्. वैजयन्ती च कमलानां बोध्या. **अवतारव**दित्यादि; यथावतारे भूभारहरणादिना भगवत्प्रियकर्तृत्वेनोपयोगस्तथा **रसाभिनये** सहस्थितिप्रशंसादिभिः प्रियकर्तृत्वा**दुपयोग** इति तथेत्यर्थः. ननु केवले रसे निरूपणीये पल्लवादीनां कुत्रोपयोग इत्यत आहु**र्गुणा माया चे**त्यादि. अत्रैवं ज्ञेयं— "'नाट्य'शब्दो रसे मुख्यो रसाभिव्यक्तिकारणं चतुर्धाभिनयोपेतं लक्षणावृत्तितो बुधैः नर्तनं नाट्यमित्युक्तमि"ति सङ्गीतरत्नाकरे **नाट्य**शब्दार्थकथनात् तन्मूलभूतार्षग्रन्थेष्वप्ययमेवार्थ इति ज्ञायते. तत्र यदा रूढत्वेन मुख्यता तदा"प्यन्यायश्चानेकशब्दत्वमि"ति जैमिनीयस्मृत्यैकस्यार्थस्यैकशब्दवाच्यत्व-नियमावधारणाद् धर्मविशेषपर्यवसानस्यैव ज्यायस्त्वेन नर्तनाभिव्यङ्ग्यत्वदृश्यापन्नत्वविशिष्टरसवाचकत्वमिति सिध्यति. नर्तनेऽपि यदा नटस्य भावः कर्म वा नाट्यमिति योगो विचार्यते तदापि ष्यञो भावे कर्मणि च विधानाद् योगतौल्यं तथापि रससत्तां विना तथा कर्मणः प्रयोक्तुमयुक्तत्वात् तत्प्रयोजको भाव एव मुख्यः. कर्मणि तु सामान्यतः प्रवृत्तः प्रत्ययो योगविशेषवत्तया रसाभिव्यञ्जके तस्मिन् कर्मणि सङ्कोच्यत इति नतेव्येऽर्थे **नाट्य**शब्दो लक्षणागर्भ एव. एवमुभयथापि **नाट्य**शब्दविचारे रसस्य नृत्याभिव्यङ्ग्यत्वं सिद्धम्. किञ्च नटकथितवाक्यार्थपदार्थभिनयात्मकं

नाट्यम्"आङ्गिकाभिनयैरेव भावानेव व्यनक्ति यत्, तन् नृत्यं **मार्ग**शब्देन प्रसिद्धं नृत्यवेदिनां, गात्रविक्षेपमात्रं तु सर्वाभिनयवर्जितम्, आङ्गिकोक्तप्रकारेण नृत्तं नृत्तविदो विदुरि"ति नर्तनस्य भेदत्रयं तत्रोक्तम्. तथा "स त्वत्राभिनयो भवेदि"त्युपक्रम्य "काव्यबद्धं विभावादि व्यञ्जन् योऽर्थो नटे स्थितः सामाजिकानां जनयन् निर्विघ्नरससंविदमि"त्यभिनयं लक्षयि"त्वाङ्गिको वाचिकस्तद्वदाहार्यः सात्त्विकोऽपरः, चतुर्धाभिनयस्तत्राङ्गिकोऽङ्गैः सम्प्रदर्शितः, वाचा विरचितः काव्यनाटकादिस्तु वाचिकः, आहार्यो हारकेयूरकटकादिविभूषणं, सात्त्विकः सात्त्विकैर्भावैर्भावुकेन विभावित" इति च तत्रोक्तम्. तेनैवम्प्रयोगे रसस्याभिव्यक्तिः. रसश्च विभावादिभिः प्रकृष्यमाणः स्थायिभावात्मामूर्तो नालम्बनविभावमन्तरेणाभिव्यक्तुमर्हति. एवं सति तस्मिन् धर्माविर्भविणैव कैवल्यं त्यजन् नाट्यरूपतां जहातीत्युभयसामञ्जस्याय नटवेषात्मकैराहार्याभिन-यैरालम्बनत्वारोपणेनाङ्गिकादिभिस्त्रिभिः सामाजिकानां रससंविज्जननम्. यत्र पुनरालम्बनस्यैव नटत्वं तत्रापि नाट्यदशायां मुख्यानां रसधर्माणामनाविष्कारेण न्यग्भूतैवालम्बनता, तादृशत्वमजानतः प्रत्यारोपिता च. एवं प्रकृते ब्रह्मात्मकस्य रसस्य पूर्वोक्तरीत्या स्वप्रतिष्ठत्वालम्बनतयोरविरोधेपि यथा रसत्वं न्यग्भाव्यालम्बनताया एव क्वचित्प्रकटनं तथात्र तां न्यग्भाव्य नटत्वं प्रकटीकृत्य "रसो वै स" इतिश्रुत्युक्तं हि स्वस्वरूपात्मकं रसं सङ्गीतशास्त्रोक्तप्रणाड्या-भिनयतीति तत्र गुणाद्युपयोगस्तेनैते पल्लवादयोऽर्था उक्ता इत्यर्थः (१२$\frac{१}{२}$).

तर्हि गुणा एव निरूप्या न गुणिन इत्यत आहू **रसे**त्यादि. **धर्म्याच्छादनबोधाये**ति, **धर्मी** रसस्तस्य गुप्ततावोधनाय. तथा च पल्लवादिषु तेषां **प्रतिष्ठा निश्चिते**ति ते **निरूपिताः**. केवलगुणनिरूपणे तेषामागन्तुकता स्यादिति तथेत्यर्थः. उक्तार्थबोधनाय **मायापि निरूप्यत** इत्यर्थः (१३$\frac{१}{२}$).

ननु रसप्रतिष्ठा चूतस्य फले न तु पल्लव इति नास्योपयोगः, कथञ्चिदुपयोगे वा हस्तकेन पल्लवादिरप्यभिनेयो न तु वेषेऽपि स्थाप्य इत्यत आहु**र्वस्तुनिर्देशे**त्यादि. नाट्ये हि न रासन आस्वादः किन्तु काव्येन शब्दद्वारेवात्र चाक्षुषद्वारा मानस आस्वादः; तथा च चूतपल्लवेन रसवत्फलं भावीति स्रग्द्वारा बोध्यत इति तेन मानसिकास्वादसिद्धिरिति रसप्रतिष्ठा तत्रापि न दुर्घटेति पल्लव उचित एव. तस्य हस्तेनाभिनय उक्तरीत्या मानसमात्रं न तु रसवत्फल-पर्यवसायित्वबोधनमपीत्यतस्तत्स्थापनमित्यर्थः. भगवान् हि स्वरूपात्मकमेव हि

रसमभिनयादिना यत्र स्थापयति ततः कदापि न गच्छति किन्तु बीजत्वात् फलं प्रयच्छतीति वस्तुस्थितिः. तथा च भाववतामनया प्रणाड्या प्राप्तरसानामग्रे फलप्राप्तेरवश्यम्भावाय प्रथमं पल्लवस्थापनोक्तिरिति भावः (१४$\frac{१}{२}$).

ननु भवत्वेतदेवं तथापि रसशास्त्र इष्टदर्शनादिभिस्तत्तद्धेतुभिर्जनितः प्रमोदात्मा स स्थायिभावस्तत्तदनुकूलदेशकालकलावेषभोगादिसेवनप्रभृतिभिस्तत्तद्धेतुभिः प्रकृष्यमाणः स स रसः इत्युच्यते. स च मनोविकार एवान्तरश्चानेकरूपश्चानित्यश्च. भगवांस्तु न तथा. किञ्च पूर्वश्लोके **वर**त्वमुपपादितमत्र च **नट**दृष्टान्तेनाभिनेतृत्वं, तथैव विव्रीयमाणश्लोकेऽपि. एवं चालम्बनत्वमभिनेतृत्वं च स्फुटति न तु सर्वरसत्वमतः कथं प्रतिज्ञापूर्तिरित्याकाङ्क्षायामाहुः कारिकायां **शास्त्रार्थस्ये**त्यादि. अयमर्थः. "रसो वै स" इतिश्रुत्या "ह्यसद्वा इदमग्र आसीदि"त्यादिनोपक्रान्तस्य ब्रह्मण एव रसत्वं बोध्यते. **रस**शब्दश्च रसनाग्राह्ये गुणे द्रवद्द्रव्ये सारभूतेऽर्थ आस्वाद्यानन्दजनके च तत्र तत्र प्रसिद्धः. तेषु प्रकृते कोऽर्थो विवक्षित इत्याकाङ्क्षायां "रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दीभवति को ह्येवान्यात् कः प्राण्यात् यदेष आकाश आनन्दो न स्यादेष ह्येवानन्दयाती"त्यनेन रसस्यानन्दत्वं प्राणधारणप्रयोजकत्वं हृदयाकाशस्थत्वमानन्दजनकत्वं च तस्यैवोच्यते. तेन हृदयस्थः प्राणिनामानन्दजनको य आनन्दः स रस इति सिध्यति. तत्र यद्यप्यानन्दोत्पत्तिरूपस्य कार्यस्य तत्तदवयवेष्वनुभूयमानत्वेनानन्दस्य सर्वशरीरव्यापित्वं तथाप्युक्तश्रुत्या "स मानसीन आत्मा जनानामि"तिश्रुत्यन्तरेण च मनस्येव तस्य विशेषतः स्थितिरिति निश्चीयते. एवं सति रसशास्त्रप्रणाड्या जायमानो यो मानसो विकारः प्रमोदात्मा स रसात्मनो भगवत एव कार्यभूत, "एष ह्येवानन्दयाती"ति सावधारणश्रुतेस्तथा तदंशभूत- "श्चैतस्यैवानन्दस्ये"ति श्रुतेः. अत एव च प्रकृष्यमाणे तस्मिन् रसत्वप्रतीतिर्लोकानां तथाप्रयोगश्च ब्रह्मादिषु पुरुषपदप्रयोगवद् भाक्तः. न चैवं सत्यानन्दमात्रस्यैव तथात्वात् प्रणाड्यामेव कुतो विशेष इति शङ्क्यं, रसस्वरूपस्यैव तथात्वात्. न च मानाभावः, लौकिकस्य प्रणाड्यभिव्यङ्ग्यत्वे सिद्धे तद्दृष्टान्तेनालौकिकेपि तथानुमातुं शक्यत्वात्, कारणतद्धर्माणामेव कार्येऽभिव्यक्तेः सन्देहनिरासाच्च. न चानित्यत्वापत्तिः, ब्रह्मत्वादेव तन्निरासात्. अत एव न मनोविकारत्वमपि. नाप्यनेकरूपत्वं दोषाय, तस्य प्रणाडीकृतत्वेन वास्तविकरूपत्वाबाधकत्वा"दनन्तरूपमि"ति श्रुत्या वास्तविकत्वाच्च.

तेनेदं सिद्धम्– परं ब्रह्मैव रसशास्त्रोक्तप्रणाड्या हृद्याविर्भूतं सत् स रस इति. तत्र च चिदंशो न्यग्भूत एव. अत एव "कृषिर्भूवाचक" इति श्रुतौ सदानन्दत्वमेवोक्तम्. न च भूशब्दस्य सत्तावाचकत्वात् सत्तानन्द इति भवति न तु सदानन्दइति शङ्क्यं, तत्सत्ताया आत्मरूपत्वेन धर्मत्वाभावस्य व्याकरणमते सिद्धत्वात् सत एव सिद्धेः. अतः परब्रह्मणस्तथात्वेन प्रणाड्याविर्भूतेऽपि तथात्वमेव. नन्वस्त्वेवं तथाप्युक्तश्रुतौ ब्रह्मणो रसत्वमुच्यते न तु रसस्य ब्रह्मत्वं तथा सति बहिराविर्भूतस्य भगवतो रसत्वाभावात् कथं प्रतिज्ञायाः पूर्तिरिति चेदित्थम्. यत्रेदं वर्ण्यते न तत्र भगवान् बहिः प्रकटः किन्तु हृद्येवेत्युपपादितं "बर्हापीडे"त्यस्य स्वतंत्रे. यदापि बहिस्तदाप्यासक्तिभ्रमन्यायेन 'मानसीन' एवेति तत्पूर्तेः. नन्वेवं सति वृत्तिविशेषरूपत्वान्न भगवानिति चेन्न, लोके वृत्त्या ग्राह्यस्य देशकालपरिच्छिन्नत्वेन तत्र तदभावेपि विरहादौ संस्कारप्राबल्यादिना वृत्तिनिर्गमात् ख्यातिः स्वीक्रियते; न तथा प्रकृते, देशकालापरिच्छिन्नत्वात्. किन्त्वनन्यभक्तिलभ्यत्वाद् यादृशी सा तथा तत्राविर्भवति. सा च मनोधर्म इति तदभिव्यङ्ग्यत्वेन बहिराविर्भूतस्य मानसीनत्वेन वृत्तित्वाभावान्मायावादिमते वृत्त्यवच्छिन्नविषयावच्छिन्नयोश्चैतन्ययोरेकत्वाभावे बहिःष्ठस्य वृत्त्यवच्छिन्नत्वेपि वृत्तित्वाभाववत्. नन्वस्त्वेवं तथापि प्रकृतानुरोधाच्छृङ्गारात्मकत्वमेवात्र वक्तव्यं तस्य च परस्परसाकाङ्क्षस्त्रीपुंव्यक्त्यात्मकालम्बनद्वयाधीनस्थितिकत्वादत्रापि तथात्वमङ्गीकर्तव्यं; तच्च भगवतो रसत्वे विरुध्येतैकालम्बनकत्वेन रसाभासत्वप्रसञ्जकत्वादिति चेन्न, आलम्बनत्वस्यापि सत्त्वात्, "कामिनां दर्शयन् दैन्यमि"त्यस्य टिप्पण्यां "रसात्मको रसवांश्च भगवानि"ति कण्ठरवेणोक्तत्वात्. न च विरोधः, स्वप्रतिष्ठत्वस्य श्रौतत्वेन सर्वसम्मतत्वात्. यथान्येषां कामेन कामवत्त्वं कामस्य तु स्वत एव तथान्येषां रसेन रसवत्त्वं रसस्य तु स्वत इत्यस्यापि सुवचत्वाच्च तदप्रसङ्गात्. तस्माद् बहिराविर्भूतस्यापि भगवतो रसत्वमबाधमेव.

तथा चैवम्प्रकारकस्य **शास्त्रार्थस्य** श्रुत्यर्थस्य **परिज्ञानाद्** विचारपूर्वकान्निश्चयाद् **भावस्य कलिका** स्थायिभावात्मिका विचारयतां **भवेत्**. बीजाङ्कुरादिकं तु पूर्वमनुग्रहात्मकं सिद्धमेवास्तीति भावः. **ततस्तस्य** स्थायिभावस्य **वैचित्र्यं** भावादिव्यभिचारिभावादिकृतं **भवेत्. तदिहा**स्मिन् श्लोके **पुष्पस्थानमुच्यते विचित्रवेषावि**त्यनेन कथ्यते. ततो**ऽहोरात्रं वासना** तत्तद्भावनारूपा **स्यात्**. तथा सति प्रसिद्ध्या रसत्वाद्धीयेते**त्याच्छादनं** विवरणे.

अन्यथा प्रयोजनाभावात् परिकरं न स्मरेयुः. इममर्थं सङ्गृह्य साधकशिक्षार्थमाहू **रसे**त्यादि. **एतावदर्ध**श्लोकोक्तम्. सिद्धदशायां फलानुभवप्रकारमुत्तरार्धेन बोधयन्तीत्याशयेनाहु**राविरि**त्यादि. तथा च तदा 'मानसीन'स्य बहिराविर्भावि स्वधर्मप्राकट्यं करोतीत्यर्थः. सिद्धमाहु**रत** इत्यादि. तथा चोक्तप्रणाड्यान्तराविर्भूतो रसो बहिराविर्भूतस्तु धर्मसाहित्यात् तदुद्बोधकत्वाच्च साधनमतः स्थानभेदेनोभयमप्यविरुद्धमिति भावः (१५-१७$\frac{१}{२}$). **त्रयाणामि**त्यादेरर्थं टिप्पण्यामाहुः **स्थायी**त्यादि. **तदेवोक्त**मिति गोष्ठीमध्ये विराजनमेवोक्तमित्यर्थः ॥८॥

गोप्य इत्यत्र टिप्पण्यां **सहज**मित्यादि. तथा च मनोधर्मरूपं तं दूरीकृत्य भगवद्धर्मरूपं तं तथा करोति. तथा चासन्थ इन्द्रियाणीव भगवदीयसुधा कार्यं करोतीत्यर्थः. एतेन लौकिकसाधर्म्याल्लौकिकत्वशङ्कापि निरस्ता ज्ञेया. सुबोधिन्यां **पूर्वरसाभिज्ञापक**मिति श्रुतिवरदानसामयिकरसाभिज्ञापकम्. वेणौ सुधापूरणं वक्तुं विचारबीजभूतामुत्कटां कोटिमाहु**र्यद्यपी**त्यादि. **लक्ष्यत** इति सम्भाव्यते. ननु लक्ष्म्या अपि तद्धोत्कृत्वात् कथं गोपिकामात्रसम्बन्धित्वमित्याकाङ्क्षायां तामपि स्वान्तराहु**र्बहुवचनेने**त्यादि. **तत्रापि वेणुरि**ति स्थावरः सदंशः. **आहुरि**ति भोजनमाहुरित्यर्थः. **येने**ति विचाररूपेण. **साधनविरोधाभाव** इति, स्वरूपयोग्यत्वादित्यर्थः. वैदिकविचारत्वादधिकरणरीत्याहु**स्तर्ही**त्यादि. अत्र वेणुकृतभोगो विषयः, स सम्भवति न वेति संशयः. सङ्गति प्रसङ्गः, भुज्यमानस्य स्वीयत्वेन तद्विचारस्योपेक्षानर्हत्वादिति ज्ञेयम्. **साधने**त्यादि, स्वरूपयोग्यतासम्पादकं साधनबलं ज्ञेयम्. **निश्चीयत** इति स्वरूपयोग्यताभावेपि तत्सत्तानुमीयत इत्यर्थः. उभयसमाधानार्थं सिद्धान्तमाहु**स्तथापी**त्यादि. तर्हि तत्रापि किं साधनं येन स्वयं तथेत्यत आहुः **पुष्टी**त्यादि. टिप्पण्यां **न्यूनता**मिति. येन भगवान् वशे भवति तादृक् साधनं मर्यादायां नास्तीति तथेत्यर्थः ॥९॥

वृदावनमित्यत्र "वृन्दारण्यमि"त्यादेरयं विमर्शइति ज्ञापनाय तत्स्वरूपं विवरीतुमाहु**र्देवाना**मित्यादि. तात्पर्यं तु टिप्पण्यामेव स्फुटम्. **ईर्ष्यये**त्यादि, एतेनेयं तामसभक्तोक्तिरिति सिद्धान्तो ज्ञापितः. तेन प्रथमे निर्गुणोक्तिर्ज्ञेया. **नित्यस्थिति**मिति स्वहृदीत्यर्थात्. नन्वेतद् वृन्दावनेपि तुल्यमिति नात्रेर्ष्यावकाश इत्यत आहुः **पदानी**त्यादि. नन्वेवं सति प्रदर्शनस्य कादाचित्कत्वस्य वृन्दावने तौल्यान्नेर्ष्यावकाश इति तद्बीजं व्यक्तीकर्तुमाहुः **प्रतिष्ठाया** इत्यादि

ख्यापयतीत्यन्तम्. मूले **पदशब्द**स्यैव सत्त्वाद् विमर्शेऽम्बुजपदं चरणचिह्न मात्रोपलक्षकमित्याशयेनात्र बहुवचनम्. समासस्तु सप्तमीतत्पुरुषः. तथा च **पदे** प्रतिफलिते **यान्यम्बुजानि लक्ष्माणी**त्यर्थः. यद्वात्र मयूरव्यंसकादिसमास इत्याशयेनाहु**र्भूमिर्यदी**त्यादि. एतेन स्वस्य तथाभावाभावात् तदस्थापनमिति दैन्यद्यौतनान्निर्गुणत्वोक्तित्वमपि साधितम्. **किञ्चे**त्यादिनापीर्ष्या दैन्य एव सूच्यत इति विभावनीयम् ॥१०॥

धन्या इत्यत्र कारिकासु **ततो महदि**ति उत्तैश्वर्यान्मर्यादामार्गीयवीर्याच्चेत्यर्थः. **अन्य** इति सात्त्विकाः. पक्षिनिरूपकप्रसङ्गतो वृन्दावनगोवर्धननिरूपकाणां गुणातीतत्वे हेतुमाहू **रूप्यत** इत्यादि. **हि**र्हेतौ; यतो हेतो**र्वृन्दावनादित्रयमिह व्रजे स्थितं गुणातीतं रूप्यते** क्षोभादासक्तिभराच्चेत्यर्थादतो हेतो**स्तद्गता अप्यस्मिंल्लोके** भक्तसमाजे **गुणातीता भवन्ती**त्यर्थः, समानशीलत्व एव रत्युदयादिति भावः (२१-२३$\frac{१}{२}$).

उत्कर्षश्चापि वैराग्य इति **तदेव स्यादि**ति पूर्वेणान्वयः. ननु सर्वदुःखहर्तरि दुःखस्यासम्भवदुक्तिकत्वादसङ्गतमिदमित्याशङ्कायामाहु**र्भक्त्ये**त्यादि. **च**स्त्वर्थेऽवधारणे. **तादृशत्वं** **चे**त्यनेन **स्वसर्वस्वनिवेदनं** समुच्चीयते. तदत्र 'कुसुमावली'पदात् सिद्धं भक्तिश्च 'सखि'पदादिति ज्ञेयम् (२६).

विवृतौ **पूर्वपक्ष**मिति **ज्ञानं ही**त्यारभ्य **व्यर्थ**मित्यन्तोक्तमित्यर्थः. **स्त्रीणा**मित्यादि; मूढमतित्वादिकं कृष्णसारेष्वपि तुल्यमिति तद्वारणायेदमुक्तम्. **हरिणानां स्त्रिय** इति, न तु नायिकाविशेषाः. भगवतः पूजाधारणे गमकमाहु**र्या** इत्यादि. **पूर्व**मिति द्वादशाध्याये "नृत्यन्त्यमी"त्यादिश्लोके. **तत्कार्यकर्तृत्व**मिति उद्धारानुकूलरसकार्यकर्तृत्वम्. **तत्रे**ति हरिणीष्वित्यर्थः. **नन्दनन्दनं** [१]**निरीक्ष्ये**ति यदुक्तं तन्मूले नास्तीत्याशङ्क्याकर्ण्येत्यस्य तात्पर्यार्थमाहु**राकर्ण्येत्येवे**त्यादि. तथापि साक्षात्कारः कथमायातीत्यत आहुः **पश्चि**त्यादि ॥११॥

कृष्णं निरीक्ष्येत्यत्र. **उपाय उक्तः** दिव्यदृष्ट्या दूरादवगत्य भगवदर्थमागमने स उक्त इत्यर्थः. दिव्यदृष्टेः सार्वदिकत्वादिदानीमेव कुत आगमनमित्याकाङ्क्षायां विशेषहेतुं स्फुटीकुर्व**न्त्यनुभावक**मित्यादि. **यद्यपी**त्यादिना व्याख्यातस्य तात्पर्यमाहु**र्नापी**त्यादि. तर्हि किमित्यागता इत्यत आहु**स्तथापी**त्यादि. अपहारं कार्यद्वारा विवृण्वन्ति **भूमावि**त्यादिना. **देवसहिता अपी**ति, केवलानां तासां विमानगतिप्रसिद्ध्यभावात् तथेत्याशयः. तथापि मूले

१. वीक्ष्येत्यपि पाठः.

'देवता'पदाभावादरुच्या पक्षान्तरमाहुः **प्रायेणे**त्यादि. अस्मिन् पक्षेऽवतीर्णानां गोपानामेव पुरुषत्वं बोध्यं, तेन न कारिकाविरोधः. **अस्माकमि**ति तदर्थमेवावतीर्णानामित्यर्थः ॥१२॥

गाव इत्यत्र **तथा जाता** इति मोहिता जाता इत्यर्थः. मोहे हेतुमाहु**रुत्तमाधमयोरि**त्यादि, सात्त्विकतामसयो राजसदेहाभिलाष इत्यर्थः. नन्वयं मोहो नोक्तहेतुकः किन्तु हेत्वन्तरादित्याशङ्कते **ता** इत्यादि. तर्हि 'कृष्णगीतपीयूषमि'त्येव वाच्यं न त्वधिकमित्याकाङ्क्षायामाहुः **सदानन्दे**त्यादि. **निर्गमनं वागि**ति, पूर्वमासन्यरूपस्य निर्गमदशायामेव वैखरीत्वेन तदेव सेत्यर्थः. **मुखं वागि**त्यादेस्तात्पर्यं टिप्पण्यां स्फुटम्. नन्वेवं प्रतिक्षणनूतनत्वे रसस्य नित्यत्वहानिरिति तत्परिहारायाहु**र्व्यवस्थे**त्यादि. "चूतप्रवाले"तिश्लोक एव कारिकाभिः स्फुटीकृतेति प्रणाडीविशेषेणाविर्भावप्रकारभेदेऽपि न नित्यत्वहानिरित्यर्थः. नन्विदं सर्वमाविर्भावे सङ्गच्छते तत्रैव किं मानमित्याकाङ्क्षायां मूलाशयमाहु**र्भगवन्तमि**त्यादि, तथा च स्पर्शान्यथानुपपत्त्यैवाविर्भावसिद्धिरिति भावः. उपचारव्युदासाय कार्यद्वारापि परिचाययन्**त्यन्यथे**त्यादि. उक्तमोहप्रयोजिका स्वस्य भगवत्तुल्यतेत्यर्थः ॥१३॥

प्रायो बताम्बेत्यत्र **अत** इति ऋषित्वादित्यर्थः. **रसान्तरमि**ति विजातीयं लौकिकं वा. **मधुर एवे**त्यनेन विजातीयनिवृत्तिरुक्ता **भगवदुक्ते**त्यादिना च लौकिकतन्निवृत्तिः ॥१४॥

नद्य इत्यत्र **भवतीति** ज्ञाता भवतीत्यर्थः ॥१५॥

आतपेति. **सामग्री**त्यस्यैव विवरणं **देवतावेदे**त्यादि. **दृष्ट्वे**त्यत्र **अनेने**ति छायादिकरणकथनेन, तस्यासाधारणलक्ष्मीचिह्नत्वादिति प्रतिभाति. उपष्टम्भाय गमकान्तरमाहु**रत एवे**त्यादि ॥१६॥

पूर्णा इत्यत्र. नन्वन्तर्भगवत्प्राकट्यस्य सत्त्वात् कथमपूर्णत्वं वदन्तीत्याकाङ्क्षायामाहुः **कामस्त्वि**त्यादि. तथा च तन्नैतन्निवर्तकम् अपितूद्बोधकमतस्तथेत्यर्थः. स्वतन्त्रे **जहुरि**त्यस्यान्तर्भावितण्यर्थत्वं ज्ञेयम्. नन्वाभासेन पुलिन्दीनामेतद्विषयकभगवदाधिहारकत्वं स्फुटमेव स्पष्टीकृतमिति समाप्तौ **ननु भगवती**त्यादिपूर्वपक्षो न प्राप्तावसरः; समाहितौ च पुलिन्दीतापजन्यभगवत्तापहारकत्वं पुलिन्दीनामुक्तमित्याभासविरोधश्चेति चेदुच्यते– एतद्विषयकभगवदाधिहारकत्वं न यादृशतादृशां किन्तु

भगवद्दर्शनजनितरिरंसाभरतापक्लेशदर्शनजन्यभगवदाधिप्रयोजिकानामेव. तथा च पुलिन्दीनां तादृशत्वाभावात् कथं तथात्वमिति पूर्वपक्षाशयः. तद्वतां तथेति समाहित्याशयः. तथा च पूर्वोक्ताधिहारकत्वयोग्यतानिरूपकोऽयमग्रिमग्रन्थः. वस्तुतस्तु तद्विषयकोऽप्याधिरेतद्विषयक एव, लक्ष्मीप्रवेशानन्तरमेव रमणात्. अतोऽपि पूर्णात्वमाननं युक्तमेवेति भावः ॥१७॥

गागोपकैरित्यत्र टिप्पण्याम्– **अत्रापि तथे**ति वनेपि क्रियानिवृत्तिः. सा "चाद्रिसान्वि"त्यादिना वृन्दावन एवोक्तेत्यतो**ऽस्पन्दनं गतिमतामि**त्यनेन सर्वत्रोच्यत इत्यर्थः. **वेणुस्वने**त्यादिना च कुलवधूत्वं तेषु **पुलक** इति च वैपरीत्यस्यैव पोषकमिदमपीति ज्ञापितम्. सुबोधिन्यां **तामवस्थामि**ति गति-मदस्पन्दजनिकामित्यर्थः. स्वतन्त्रे **अस्पन्दनादिकमि**ति, अन्येषामिति शेषः. **तथा कुर्वन्ती**ति तरवइति शेषः. इदमेव प्रपञ्च्य समर्थयन्ति **आदावि**त्यादिना ॥१९॥

एवंविधा इत्यत्र **आसक्तिभ्रमन्याये**नेति, "त्रिभुवनमपि तन्मयं विरह" इत्यादौ प्रसिद्धेनेत्यर्थः. **यद्वासक्तौ** सत्यां यो **भ्रम** आसक्तिभ्रमस्तन्न्यायेन. यथा समुद्रावर्तपतितो नावर्तते तथासक्तिभ्रमपतितोऽपीत्यासक्ते रससमुद्रत्वं भ्रमस्य चावर्तत्वं युज्यते. अत एवोक्तमभिज्ञेन केनचि"दावर्ते रससिन्धोः प्रत्यावर्तेत किं मग्न" इति. तथा चैतास्तन्न्यायेन तद्ययुर्न तु मिथ्याभ्रमपतिता इत्यर्थः, सर्वात्मभावस्य ब्रह्मसाक्षात्कारहेतुत्वात्. तदुपपादितं भाष्यतृतीयाध्याये "विद्यैव तु निर्धारणादि"त्यत्र ॥२०॥

॥ इति श्रीपीताम्बरविरचिताष्टादशाध्यायस्य
सुबोधिनीटिप्पण्योः प्रकाशः समाप्तः ॥

(हाल ही में हमें एक शोधपत्र सामयिक 'अनुग्रह'के सं. १९९७के ११वे (भाद्रपदमासके) अंकमें प्राप्त हुआ है, जिसे हम यहां दे रहे हैं. ये अशुद्धियां हमारे द्वारा प्रकाशित प्रमाणप्रकरणसुबोधिनीमें रह गई एतदर्थ हम पाठकोंसे क्षमा मांगते हैं. वे अपनी प्रतियां इस शुद्धिपत्रके अनुसार सुधार लेनेका कष्ट करें.

यह शोधपत्र अपूर्ण ही है और इसके बादके अंकोंमें इसका शेष भाग छपा भी होगा, पर हमारे पास यह अंक ही है और संप्रदायकी दुर्दशावश अन्य अंक नहीं मिले हैं. पाठकगणमेंसे किसीके पास वे हों तो हमें भेजनेकी कृपा करें —सम्पादक).

।दशमस्कन्ध–तामसप्रमाणप्रकरण–शोधपत्रम्।

મુંબઈમાં શ્રીગોકુલાધીશજીના મંદિરમાં માધવભટ્ટ કાશ્મીરીનું લિખિત અને શ્રીમહાપ્રભુજી તથા શ્રીગુસાંઈજીના હસ્તાક્ષરથી કોઈ કોઈ સ્થલે સુધારેલું **તામસપ્રમાણપ્રકરણ** બિરાજે છે. મારા પરમ મિત્ર શાસ્ત્રી મગનલાલ ગણપતિરામે લીલાસ્થ ગોસ્વામી શ્રીઅનિરુદ્ધલાલજીની સહાયથી ચૈત્ર સુ. ૧૦ થી ૧૫, સં. ૧૯૮૪માં પોતાની પ્રતિ તેની સાથે સરખાવી સુધારી લીધી હતી, અને આષાઢ મહિનામાં પોતાની સુધારેલી પ્રતિ મને કૃપા કરી આપી હતી, તે પરથી મેં મારી પ્રતિ આષાઢ સુ. ૯ સુધીમાં સુધારી હતી. સાંપ્રદાયિક વિદ્વાનોને પોતાની પ્રતિઓ તે પ્રમાણે સુધારવાની. તક મળે, તે માટે તે સુધારા અહીં આપ્યા છે. ધ્યાનમાં રાખવાનું એટલું છે કે આ અસલ પ્રતિ પ્રમાણે સુધારેલા પાઠો લેતાં વિવેક કરવાનો છે, કે જેવી કોઈક વાર માધવભટ્ટથી થયેલી ભૂલો પાછળથી સુધરી હોય, તે પાછી આવી જાય નહિ. શ્રીટિપ્પણીજી શ્રીગુસાંઈજીના હસ્તાક્ષરની ટિપ્પણી સાથે સરખાવી સુધારા શ્રીટિપ્પણીજીમાં પાછળ આપતાં આ બાબત અમે સ્પષ્ટ કરી છે.

ધીરજલાલ વ્ર. સાંકળીઆ

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१२	२	चोच्यते	सूच्यते
१४	१	सर्वेषु यदासीत्	सर्वेषु ज्ञापितेषु यदासीत्
१४	१	नन्दस्त्वात्मज इति	नन्द इति
१८	१	जाताल्हाद	जाताह्लाद
१८	५	विधिपूर्वकं	विधिपूर्वकः
२१	६	आधिदैविकस्य सं-	आधिदैविकस्य च सं-
२२	११	संगीतशास्त्रप्रसिद्धं	संगीतशास्त्रसिद्धं
२३	८	तोरणा इति	तोरणा अपि
२३	१४	वर्तन्ते	ते वर्तन्ते
२३	१६	गोपानां शोभामाह	गोपानामाह
२४	७	-स्याकस्मादुद्द्रवं	-स्याकस्मात्तदुद्भवं

२५	२	ब्रह्मानन्दानुभवात्	ब्रह्मानन्दानुभावात्
२५	५	कृत्वा गता	कृत्वा प्रचलिता
२६	१	सो लौकिको	स अलौकिको
२८	५	व्रजतीविरिजुर्वि	व्रजतीर्विशेषेण
२८	८	हाराश्च तैः शोभा यासां	हाराश्च यासां
२८	१२	ताः	(नोपलभ्यते)
२८	१२	सवलया	(नोपलभ्यते)
२९	६	तत्र जात	तत्र न जात
३०	७	विश्वेश्वर	(नोपलभ्यते)
३१	४	बालकान्तरवच्छङ्का	बालकान्तरवदन्यथाशङ्का
३१	६	व्रजेल्पगृहे	व्रजेल्पस्य गृहे
३२	७	नवनीतैः	नवनीत-
३२	८	घृतेनाम्बुभिश्च	घृतेनाम्बुभिः
३२	१४	च स्त्रीणां च	स्त्रीणां च
३३	१	वस्त्रालङ्कारपूर्वकमेकैकस्मा	वस्त्रालङ्करणपूर्वकमेकैकस्मा
३४	२	प्रार्थनार्थम्	प्रार्थनार्थश्च
३५	५	सर्वसमृद्धय-	समृद्धय-
३६	१	प्यानुषङ्गिकमेव तत्	प्यानुषङ्गिकमेतत्
३६	६	तदभूत्, हरे-	तदभूत्, तत्र हेतुः हरे-
३७	६	वेतिसंशये	वेतिसंशयेन
३७	१५	सर्वाभिः प्रजाभि-	प्रजाभिः सर्वाभि-
३९	३	भ्रातरमिति	भ्रातरं नन्दमागतमिति
३९	४	तदा	(नोपलभ्यते)
३९	६	यत्र	(नोपलभ्यते)
४०	२	परमार्थश्च	परमार्थतश्च
४०	७	मुच्यमानमस्मिन्	मुच्यमानं तस्मिन्
४०	११	पृष्ट्वा	पृष्टः
४१	४	साधारणं रूप-	साधारणरूप-
४१	११	यद् दिष्ट्या	यदेतद् दिष्ट्या
४१	१२	अप्रजस्येति	अप्रजस्य
४२	३	ज्ञापनायोभयं	ज्ञानायोभयं
४३	१	दर्शनं	स्वदर्शनं
४३	३	वर्तमाने	वर्तमानेन
४३	१२	सदा	सर्वदा
४३	१३	हेतुमाहुर्दुर्लभं	हेतुमाह दुर्लभं

४४	१	नैकत्रेति	नैकत्र प्रियसंवास इति
४४	९	उह्यमानाः	ऊह्यमानाः
४४	१४	विरुजं	निरुजं
४४	१३	देवगुह्यप्रकारेण	देवगुह्ये प्रकारेण
४४	१७	कच्चित्	कच्चिदिति
४५	१	विरुजं	निरुजं
४५	१४	रक्षामात्रमेव	मात्रासहितवचनात् रक्षा-
४६	१०	मोक्षः किल	मोक्ष एव
४६	१२	त्रिवर्गफले	त्रिवर्गयत्ने
४७	३	——	'नन्द उवाच' इत्यधिकम्
४७	३	संभावनामाह	सम्माननामाह
४७	६	परमार्थज्ञाने	परमार्थाज्ञाने
४७	८	कुशलिनोपि	कुशलिनोथापि
४८	२	त्ववशिष्टावरजा	त्वविशिष्टावरजा
४८	४	सिद्धापि	प्रसिद्धापि
४९	१	यथार्थरूपं	यथार्थं रूपं
४९	१	प्रवर्तकनिवर्तकं	प्रवर्तकनिरूपकं
४९	२	-पालम्भोपि	-पालम्भ्योपि
४९	३	कोप्युपालभ्यो	कोप्युपालम्भ्यो
४९	४	शोकापनोदनार्थं	शोकापनोदार्थं
४९	१०	सृहदो	सुहृदो
४९	१९	स्वगृहं	स्वगृहे
५०	२	श्रीमद्भागवत-	श्रीभागवत-
५०	२	श्रीमद्वल्लभ-	श्रीमल्लक्ष्मणभट्टात्मज श्रीमद्वल्लभ-
५०	३	द्वितीये...स्कन्धादितः	(नोपलभ्यते)
५०	४	-ध्यायस्य विवरणम्	-ध्यायविवरणम्
५६	७	सात्त्वतां	सात्वतां
५९	२	सात्त्वतां	सात्वतां
६०	३	यत्र	(नोपलभ्यते)
६०	४	समागमनमाह	समागममाह
६१	२	प्रतिपादितं	प्रतिपादनं
६२	२१	सर्गा	सर्गो
६३	१३	चचार, विचयन	विचारे
६५	११	स्वतः	(नोपलभ्यते)

६६	१३	निवारयितुं वाशक्ते	निवारयितुं निर्भर्त्सयितुं चाशक्ते
६८	७	स्पृशन्त्युत्तोलयन्ती ततो	स्पृशन् उत्तोलयन्ती भग-
६८	१०	यथा	यथा सा
६८	१०	भगवान् स्तन्यमप्यदत्वा	भगवान् अप्यदत्वा
७०	२	क्षुन्निवृत्तेति	क्षुन्न निवृत्तेति
७०	४	लौकिकभाषोक्ता	लौकिकभाषा
७४	९	-मधस्तल-	मधस्तन-
७६	४	पुनरुत्थानं भवेदिति	पुनरुत्थायागच्छेदिति
७६	८	राक्षसं रूपं	राक्षसरूपं
८१	५	ईषा	इषा
८१	१५	भीषिका	विभीषिका
८३	४	वाधिकमिति	चाधिकमिति
९०	९	भगवतोङ्गेषु बीजै-	भगवतो बीजै-
९२	१	भवन्	भवत्
९२	२	भवन्ति	(नोपलभ्यते)
९३	२	उदरं	उदरे
९४	११	(मधुहा)	(नोपलभ्यते)
९४	१४	-त्वोरुगायश्चावतु	त्वोरुगायोवतु
९५	५	चक्षूरूप-	चक्षुरूप-
९५	१२	सर्ववंशकर्ता प्रथमं	वंशकर्ता स प्रथमं
९६	३	यस्तु सदा गवामिन्द्रो	यस्तु सतामिन्द्रो
९६	७	शनैर्बाल-	शनैः शनैर्बाल-
९६	७	स हि गतिदाना-	स हि गतिप्रदः गतिदाना-
९७	२	यज्ञादीनां	यज्ञानां
९७	७	भगवन्नामो-	भगवन्नाम्ना नामो-
९८	२०	विनियोगमाहुः	विनियोगमाह
१०१	५	कलेवरं परशुभिश्छित्वा	कलेवरं छित्वा
१०१	६	(निरदहन्)	(नोपलभ्यते)
१०१	१८	पाप्म	पापं
१०२	१५	वोपेक्ष्यन्ते	चोपेक्ष्यन्ते
१०३	८	अत्यन्तविस्मिता	अत्यन्तं विस्मिता
१०३	१०	तदिदानीं	तदानीं

१०४	१६	श्रीमद्भागवत-	श्रीभागवत-
१०४	१७	द्वितीये...स्कन्धादितः	(नोपलभ्यते)
१०४	१८	षष्ठाध्यायस्य वि-	षष्ठाध्यायवि-

एतावदेव शुद्धिपत्रम् उपलब्धं —सम्पा.

। दशमस्कन्धतामसप्रमाणप्रकरण–मुद्रणाशुद्धिपत्रम् ।

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
८	३	चतस्त्रः	चतस्रः
८	४	कार्य	कार्यं
१८	१	जाताल्हाद	जाताह्लाद
१८	१०	अलङ्ककरणं	अलङ्करणं
२३	११	..वस्रकाञ्चन..	..वस्त्रकाञ्चन..
३१	१	निर्वृत्तिवाचक	निर्वृतिवाचक
३२	८	दघ्ना	दध्ना
३५	३	सर्वकार्यकत्री	सर्वकार्यकर्त्री
३५	३	..सम्वधादयं	..सम्बन्धादयं
३९	५	..मोचनमुक्तचरण..	..मोचनमुत्तारण.. (पाठभेदः)
४५	३	भूरिण्यम्बूनि	भूरीण्यम्बूनि
५२	३	कार्य	कार्यं
५६	७	भर्तृर्भगवतो	भर्तुर्भगवतो
५६	८	हन्यते	हन्यन्ते
५७	१	चेति''वाक्यात्	चे''तिवाक्यात्
६७	१४	रोषसमान्वितो..	रोषसमन्वितो..
६८	१६	वैराग्ययुक्तत्वाद	वैराग्ययुक्तत्वाद्
७०	७	निष्पीडयमानेति	निष्पीड्यमानेति
७०	११	कृतवानित्याभिप्रेतोर्थः	कृतवानित्यभिप्रेतोर्थः
८२	११	भगवन्त	भगवन्तं
८९	२	करयो	करयोः
९३	११	क्रियाभुजयोरेव	क्रिया भुजयोरेव
९४	१५	दर्पहर्न्ता	दर्पहन्ता
९६	३	शृङ्गचग्नादिष्वपि	शृङ्गचग्न्यादिष्वपि
१०६	६	सात्विकानां	सात्त्विकानां
१०८	३	आनुषङ्गिमन्येषां	आनुषङ्गिकमन्येषां
१११	१२	गुणदोषाभावारूपावेतौ	..भावरूपावेतौ

१२९	६	बहुदोग्घ्र्यः	बहुदोग्ध्र्यः
१४०	२३	पूर्ण	पूर्णं
१४१	२३	गृहित..	गृहीत..
१४४	२	विद्धिमिति	विद्धमिति
१४७	१४	पित्रादिन्	पित्रादीन्
१५९	१५	चतुर्भजं	चतुर्भुजं
१६४	२०	नोत्सवप्रधान्येन	नोत्सवप्राधान्येन
१७८	१	गृहितो	गृहीतो
१७८	९	..नायासेन[1] सर्व	..नायासेन सर्व[1]
१८१	१	गुणेरेव	गुणैरेव
१८४	२	विस्मरेण	विस्मरणेन
१८९	५	तत्रादावुपशिष्टस्य	तत्रादावुपविष्टस्य
१९३	११	नुपुर..	नूपुर..
१९५	१३	लीलाभावासश्चासंख्याताः	लीलाभावाश्चासंख्याताः
१९७	३	दन्तपङ्क्तिरुक्ता	दन्तपङ्क्तिरुक्ता
२१५	७	पुरीषादीकरणं	पुरीषादिकरणं
२२४	९	मन्यधर्म्	मन्यधर्मः
२५०	१२	नान्ववविन्देतामिति	नान्वविन्देतामिति
२९१	८	रज्ज्वादिनां	रज्ज्वादीनां
३०२	९	कश्चित्	कश्चित्
३१२	१२	वस्त्रपरिधाने नाभयं	वस्त्रपरिधानेनाभयं
३२५	१६	..भंग	..भंग
३५९	३	कुरुश्रष्ठेति	कुरुश्रेष्ठेति
३६५	२	क्वचिदाज्ञप्तः	क्वचिदाज्ञप्तः
३६५	४	क्वचि..	क्वचि..
३६५	५	तूत्थापायितुं	तूत्थापयितुं
३६९	१०	ज्ञानवयोधिक	ज्ञानवयोधिकः
३८०	२	सज्जातावित्युक्तम्	सञ्जातावित्युक्तम्
३८०	१५	क्वचि..	क्वचि..
३८०	१६	क्वचि..	क्वचि..
३८०	१७	क्वचि..	क्वचि..
३८१	४	क्वचि.	क्वचि..
३८१	५	क्वचि..	क्वचि..
३८१	८	क्वचि..	क्वचि..

卐